मूल्य १०)

प्रथम संस्करण, संवत् २०११

प्रकाशक—ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस।

मुद्रक—ओम् प्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, बनारस ४५४६-११

कृष्ण कुमार

को

(जिनकी सहायता बिना मेरे लिए यह पुस्तक
समाप्त करना असम्भव हो जाता)

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक, जैसा कि उसके नामसे विदित है, पिछले १०० वर्षोंकी भारतीय राजनीतिका इतिहास है। इन १०० वर्षोंमें भारतका राजनीतिक मंच बहुधा संघर्षमय और रक्तरंजित रहा। अनेक दलों और व्यक्तियोंने अपने-अपने ढंगसे राष्ट्रीयताको, स्वराज्य सम्बन्धी संघर्षको तथा अपने जाति-हितोंको प्रोत्साहन दिया।

अंग्रेजी राज्य स्थापित होते ही लोग उसके विरुद्ध सशस्त्र विद्रोहकी तैयारी करने लगे। प्रायः सदैव ही भारतके किसी न किसी कोनेमें अंग्रेजी राज्यको उखाड़ फेंकनेकी योजनाएँ बनती रहीं। वे विद्रोह न व्यापक थे और न सुसंघटित; इसीलिए वे असफल रहे। दूसरी ओर प्रायः आरम्भसे ही अंग्रेजी शासनके प्रभावमें आये शिक्षित वर्गने वैधानिक संघर्षका रास्ता अपनाया। दोनों ही प्रकारके संघर्षोंसे अंग्रेज शासक परेशान रहे। जबसे वैधानिक संघर्ष उनके लिए चिन्ताका कारण बना तभीसे उन्होंने भारतके रहनेवालोंमें आपसी मतभेदोंको प्रोत्साहन देना शुरू कर दिया। इसके फलस्वरूप साम्प्रदायिकताकी राजनीतिका एक नया अध्याय खुल गया। ज्यों-ज्यों संघर्ष आगे बढ़ता गया त्यों-त्यों नयी-नयी राजनीतिक पेचीदगियाँ पैदा होती गयीं।

यदि हम इस कालके राजनीतिक इतिहासपर एक सरसरी दृष्टि डालें तो देखेंगे कि १८५७-५८ के राष्ट्रीय विद्रोहके बाद भी वहाबी मुसलमान अंग्रेजी शासनको उखाड़नेके लिए संघटन और सशस्त्र संग्राम करते रहे। दूसरे प्रकारके संघर्षका आरम्भ, जिसका रूप वैधानिक था, १८३७ में जमींदारी एसोसिएशनकी स्थापनाके साथ हुआ। इसके बाद नयी-नयी संस्थाएँ बनती और बिगड़ती रहीं। संघर्षका स्थायी सिलसिला १८७६ में शुरू हुआ जब सुरेन्द्रनाथ बनर्जीने राजनीतिमें पदार्पण किया और इण्डियन एसोसिएशनकी नींव डाली। अंग्रेजों द्वारा भारतका आर्थिक शोषण और भारतीयोंका अपमान अधिकाधिक बढ़ रहा था, जनता परेशान थी। अतः एक बार फिर लार्ड लिटनके शासनकालमें सशस्त्र विद्रोहकी तैयारी होने लगी। ऐसी स्थितिमें स्वयं वाइसराय डफरिनने सोचा कि कांग्रेस जैसी संस्थाका जन्म होना चाहिये जिससे सम्पूर्ण देशके शिक्षित लोगोंका ध्यान वैधानिकताकी ओर आकृष्ट हो जाय। पर जिस वेगसे कांग्रेस आगे बढ़ी वह अधिकारियोंके लिए असह्य हो गया और उन्होंने मुसलिम सम्प्रदायवादको जन्म दिया। बंगभंग, आतंकवाद, हिन्दू-मुसलिम दंगे, मुसलिम लीगकी स्थापना, ये सब उसी नीतिके फलस्वरूप अस्तित्वमें आये। प्रथम महायुद्धके कालमें तो विदेशोंसे प्राप्त हथियारोंसे अंग्रेजी सत्ताको समाप्त करनेके कई प्रयत्न किये गये। वास्तवमें इस प्रकारकी तैयारी तो भारतीयों द्वारा इंगलैण्ड, अमेरिका, जर्मनी आदि देशोंमें १९वीं शताब्दीके अन्तसे ही हो रही थी। परन्तु प्रथम महायुद्धके बाद गान्धीजीके नेतृत्वमें राष्ट्रीय संग्रामकी गति पहाड़से उतरती हुई नदीकी भाँति सहसा तेज हो गयी और अगस्त १९४७ तक उसमें सर्वदा नया बल आता गया।

जब मैंने देखा कि भारतकी इस रोमांचकारी राजनीतिका वर्णन कहीं एक स्थानपर प्राप्त नहीं है, तो मैंने सोचा कि समय मिलनेपर मैं बिखरी हुई सामग्रीको एक पुस्तकके

रूपमें एकत्र करूँगा। मैंने दो वर्षतक परिश्रम किया और प्रस्तुत पुस्तक उसीका फल है। मैंने विभिन्न भाषाओं, विशेषकर अंग्रेजीकी सैकड़ों पुस्तक-पुस्तिकाओं और पत्र-पत्रिकाओंसे यह सामग्री लेकर निष्पक्षतापूर्वक पाठकोंके सामने रख दी है, जिससे गत १०० वर्षोंकी राजनीतिकी गतिविधि आसानीसे समझमें आ जाये। मैंने प्रस्तावनामें १८५७ के विद्रोहके ३५० वर्ष पूर्वके इतिहासकी एक झलक भी पृष्ठभूमिके रूपमें दे दी है। यह तो राजनीतिके विद्वान् ही बता सकते हैं कि मैं अपने प्रयत्नमें कहाँतक सफल हुआ हूँ।

इस पुस्तकके तैयार करनेमें मुझे श्री कृष्णकुमार मिश्र, श्री सुरेशचन्द्र मिश्र व कुमारी मिसला मिश्रसे असाधारण सहायता मिली है। इनके सिवा श्री मुकुन्दीलाल श्रीवास्तवने भी पुस्तकके सम्पादनमें विशेष परिश्रम किया है। मैं इन सब मित्रोंका अति आभारी हूँ।

विषय-सूची

प्रस्तावना

विक्टोरियासे पूर्वके इतिहासकी एक झलक

पिछले सौ वर्षोंकी भारतीय राजनीतिका उचित मूल्यांकन, उसके विकासका पूरा ज्ञान, उसके ठीक पहलेकी परिस्थितिके समझे बिना सम्भव नहीं। मुगल साम्राज्यका उत्कर्ष और पराभव तथा ईसाई ताकतोंका उदय और अस्त वे बुनियादें हैं, जिनपर इस कालकी भारतीय राजनीतिकी इमारत खड़ी है। और ये दोनों बुनियादें लगभग साथ ही साथ पड़ीं। मुगलोंके पैर जमनेके लगभग चौथाई शताब्दी पहले ही दक्षिणमें पुर्तगाली आ चुके थे। उस समय देशकी जो हालत थी उसने इन दोनोंका स्वागत ही किया—एकका व्यापारमें, दूसरेका शासनमें। इन दोनोंके सत्तासम्पन्न होनेके लिए देशकी परिस्थिति आश्चर्यजनक रूपसे अनुकूल थी।

१६वीं सदीके आरम्भमें यहाँ एक वैसी ही उथल-पुथल चल रही थी जैसी केन्द्रीय शासन-शक्तिके ह्रासके बाद इस देशमें कई बार हुई। तुगलक खानदानके पतनके बाद, तुगलक साम्राज्य भी छिन्न-भिन्न होकर ऐसी इकाइयोंमें बँट गया था जिनमेंसे हर इकाई एक स्वतन्त्र देशकी तरह व्यवहार करती थी। दिल्लीका बादशाह अपने आसपासके सिर्फ एक छोटेसे इलाकेपर राज्य करता था। आपसी लड़ाइयाँ, द्वेष, और वैमनस्य उस समयके राजनीतिक दृश्यका मुख्य अंग था। इस आपसी ईर्ष्या, द्वेष, भय और वैमनस्यसे उत्पन्न परिस्थिति लालची विदेशियोंके लिए बड़ी सुविधाजनक थी। सिर्फ कुछेक हजार दिलेर, बेहतर हथियारोंसे लैस विदेशियोंने आसानीके साथ एकके बाद दूसरा क्षेत्र जीतना शुरू किया। यदि ये इकाइयाँ संयुक्त होतीं तो उनका मुकाबला करना असंभव हो जाता; चूँकि वे विभाजित थीं, वे बालूके घरोंदोंकी तरह अरअरा कर गिरती गयीं। विदेशियोंने उनके पारस्परिक भय और द्वेषका फायदा उठाकर उन्हें एक दूसरेके खिलाफ भड़का कर एक दूसरेसे मिलने नहीं दिया। भारतको एक शासनसत्तामें संगठित करनेके प्रयास एक हजार सालसे विफल होते आ रहे थे। कभी कभी कोई कुशल राजा अपनी महत्त्वाकांक्षाकी पूर्त्तिके लिए अपना साम्राज्य देशके बड़े भागपर फैला लेता। इस साम्राज्यमें देशके विभिन्न भागोंको एकेके आधारपर एक राजनीतिक सूत्रमें बाँधनेकी इच्छा नहीं होती थी। साम्राज्यका अस्तित्व उक्त महत्त्वाकांक्षी राजाके गुणोंपर निर्भर रहता था। जब कोई कमजोर युवराज गद्दी सम्हालता, साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो जाता। मुगलों और पुर्तगालियोंके आनेके समय देशकी यही हालत थी।

१५वीं सदीके आखिरी दिनोंमें पुर्तगालियोंने भारत आनेका एक समुद्री रास्ता ढूँढ निकाला। पश्चिमी तटके निवासियोंने देखा कि ये विदेशी अरब व्यापारियोंका जहाजी बेड़ा

नष्टभ्रष्ट किये डाल रहे हैं क्योंकि वे भारतीय निर्यात व्यापारकी इजारेदारी अरब व्यापारियोंसे छीन लेना चाहते हैं। छः सौ वर्षोंसे यह इजारेदारी अरबोंके पास थी। वे मक्का जाने आने वाले तीर्थयात्रियोंके यातायातका प्रबन्ध भी करते थे। वे यात्रियोंको जद्दा और व्यापारके मालको स्वेजमें उतारते थे। स्वेजसे ऊँटोंपर लदकर यह माल सिकन्दरिया जाता और वहाँसे वेनिस और जैनेवाके व्यापारी उसे भूमध्यसागरके तटीय देशोंमें अपनी नावोंमें पहुँचाते। दक्षिण भारतके बहुतसे राजा इस व्यापारमें दिलचस्पी रखते थे क्योंकि इन्हें हर बिक्रीपर कर मिलता था। उन दिनों बाहर भेजी जानेवाली चीजोंके व्यापारका सबसे बड़ा अड्डा कालीकट था। कालीकटमें उन दिनों अरबोंकी बस्तियाँ थीं। अरब लोग मक्कासे कीमती सामान लाकर यहाँ उतारते और यहाँसे कालीमिर्च, मसाले, व दूसरी चीजें अपने साथ ले जाते और तुर्की व पूरे यूरोपमें ये चीजें बिकतीं। अरबोंके धन और प्रभावके कारण देशी जनतामें उनकी अधिक प्रतिष्ठा थी।

पुर्तगालियोंने भारतीय समृद्धि और व्यापारकी कहानियाँ सुनी थीं। इस दौलतकी खोजमें वे साहसिक यात्रापर निकल पड़े। वास्कोडगामाने होपकी खाड़ी (अफ्रिकाके दक्षिणमें) होकर भारतके लिए एक समुद्री रास्ता खोज निकाला, और वह करनेमें सफल हो गया जो कोलम्बस करना चाहता था पर न कर सका। ९ अगस्त सन् १४९८ को वास्कोडगामाने सामान और हथियारोंसे भरा अपना बेड़ा कालीकटके किनारे लगाया। पुर्तगाली एक हाथमें बन्दूक और दूसरेमें बिक्रीकी चीजोंका झोला लेकर आये थे। अरब उनसे भिन्न थे। वे भारतीय राजनीतिमें नहीं पड़ते थे और देशी राजाओंसे उनके मैत्री व सदभावना-पूर्ण सम्बन्ध थे। पुर्तगालियोंने अरबोंको प्रतिद्वन्द्वी माना और अरबोंने पुर्तगालियोंको। पुर्तगाली लेखकोंके अनुसार अरब व्यापारियोंने राजाओं और राजदरबारोंमें अपने प्रभावका इन नवागन्तुकोंके विरुद्ध प्रयोग किया। उस जमानेमें राजाओं और उनके अहलकारोंको दी गयी भेंटों और सौगातोंका बड़ा महत्त्व था। इनसे बड़े काम निकलते थे। वास्कोडगामाको अपने विरुद्ध हो रही साजिशोंका आभास हुआ और वह होशियार हो गया। अपने आगमनके उद्देश्योंको छिपानेके लिए उसने यह कहानी गढ़ी कि हमारा बेड़ा तो बहुत बड़ा था पर हम मुख्य बेड़ेसे बिछुड़ गये और उसीको ढूँढते हुए यहाँ आये हैं[1]। लेकिन कालीकटके राजा जमोरिनने पुर्तगालियोंका स्वागत ही किया। जमोरिन उनसे प्रभावित हुए। पर अरब व्यापारियोंने जमोरिनके कर्मचारियोंको समझाया कि बहुत दूरके एक देशसे आये ये पुर्तगाली सिर्फ व्यापार करनेकी दृष्टिसे यहाँ नहीं आये हैं। वे देशको देख समझकर लौट जायेंगे और फिर हथियारोंसे लैस होकर बड़ी संख्यामें लौटेंगे और ताकतसे देशपर कब्जा कर लेंगे तथा उसे लूटेंगे।

यह चेतावनी जमोरिनतक पहुँचायी गयी, पर वह असमञ्जसमें ही पड़े रहे और सोचते रहे कि पुर्तगालियोंको व्यापारकी अनुमति देनेमें कोई बुराई होनेकी आशंका नहीं है। वास्कोडगामाने पूरी परिस्थितिको परखा, उसे अपने विरुद्ध पाया और उसने तय किया कि देश लौटकर ऐसा बेड़ा भेजूँगा जो कालीकटके राजा और अरब व्यापारियों, दोनोंसे निबट सके। अगले वर्ष पेड्रोअलवरेज कबरालके नेतृत्वमें भयानक तोप-बन्दूकोंसे लैस तेरह जहाजोंका एक शानदार बेड़ा, १२०० पुर्तगालियों और साथ ही राजाके लिए सौगात लेकर कालीकट

१. एफ० सी० डैन्वर्स : दि पुर्चगीज इन इण्डिया, भाग १, पृ० ४८

पहुँचा। इन १२००में पुर्तगालके उस जमानेके सबसे बहादुर और मशहूर मल्लाह भी थे। कबरालको हुक्म था कि वह जोर-जबरदस्तीसे अरबोंका व्यापारप्रभुत्व नष्ट कर दे और राजाको कीमती सौगातें देकर शान्तिपूर्ण तरीकोंसे व्यापारकी अनुमति हासिल कर ले। जैसे ही यह बेड़ा भारतीय समुद्रमें पहुँचा उसने अरब बेड़ेपर डटकर हमला बोल दिया। अरब जहाज नष्ट-भ्रष्ट हो गये और उनके व्यापारकी कमर टूट गयी। पुर्तगाली हमले और नौ-सैनिक शक्तिकी खबर कालीकटके राजाके पास पहुँची और उसने फौरन उनसे मैत्री-संधि कर ली।

पुर्तगालियोंने देशकी अर्थव्यवस्थामें अपना महत्त्व आते ही समझ लिया। वे समझ गये कि बढ़िया हथियारों और अनुशासनबद्ध अपने सिपाहियोंकी मददसे अपना व्यापार और इलाकोंपर अपना प्रभुत्व हम बेड़े मजेमें बढ़ा सकते हैं। और इसमें वे चूके नहीं। कुछ ही वर्षोंमें पूरे पश्चिमी तटपर थोड़ी थोड़ी दूरपर उनके किले दिखाई पड़ने लगे।

हिन्दू राजाओंको उन्होंने समझा लिया था कि हम आपकी रक्षा और सहायता करेंगे। ये राजा तबतक खतरा न समझ सके जबतक इन किलोंसे तोपें न चमकने लगीं।

सन् १५०० में उन्होंने कालीकटमें कारखाना खोला। तीन साल बाद उन्होंने वहीं एक किला बनाया जिसका प्रधान मशहूर पुर्तगाली अलफोंसो डि अलबुकर्क था। सन् १५०६ में अलबुकर्कने गोआपर कब्जा कर लिया। अब राजा लोग पुर्तगालियोंकी शक्ति समझने लगे थे। अरब व्यापारका अन्त हो ही चुका था; राजाओंने पुर्तगालियोंको दरबारोंमें बुलाना शुरू किया। कोचीनका राजा भी इनमें शामिल था। कोचीनमें पुर्तगालियोंने अपने राजनीतिक षड्यन्त्रके लिए उचित वातावरण पाया। उन्होंने राजासे कहा "कालीकटपर आपका कब्जा करवानेके लिए हम आपको हथियार और सिपाही देंगे।" भारतीयोंको तबतक बन्दूक आदि आग्नेयास्त्रोंका प्रयोग नहीं मालूम था। पुर्तगाली यह प्रयोग जानते थे। इसलिए पुर्तगालियों-का सशक्त मित्रकी भाँति कृतज्ञतापूर्वक स्वागत हुआ। कोचीन और पुर्तगालियोंकी संयुक्त फौजने कालीकटपर हमला बोल दिया। कई बार इन लोगोंको मुँहकी खानी पड़ी पर अन्तमें ये लोग विजयी हुए। कालीकट खूब लूटा गया और राजाका महल जला दिया गया। "भारत पहुँचनेके बाद पुर्तगालियोंका हर कृत्य ऐसा था जिससे यूरोपीय देशोंके प्रति बुरी भावना बनती थी। उनके प्रसिद्ध सेनानी अलबुकर्कका बिना किसी झगड़ेके ओरमंजपर हमला बोल देना, जमोरिनसे संधि करनेके फौरन बाद कालीकटके एक जहाजपर कब्जा कर लेना, बराबर समुद्री डाकुओं जैसा व्यवहार करना और जो नाव, बजरा, जहाज मिले उसपर कब्जा कर लेना—ऐसी बातें हैं जिनसे पता चलता है कि पुर्तगाली राष्ट्रोंके अधिकारोंकी अवहेलना और उल्लंघन करनेकी एक सुनिश्चित योजना बनाये हुए थे। उनकी ये करतूतें इतिहासमें बेमिसाल थीं।"[१]

जिन नये देशोंका पता लगाएँ उनमें कैथोलिक (ईसाई) धर्मका प्रचार करनेके लिए पुर्तगाली पोपसे वचनबद्ध थे। पोपकी इस आज्ञाका उन्होंने स्फूर्ति व कड़ाईसे पालन किया। जहाँ उनका प्रभुत्व या प्रभाव था वहाँ लोग जबरदस्ती ईसाई बनाये गये। देशी जनताके धर्ममन्दिर "नष्ट कर दिये गये। ऐसा लगता है कि उन्होंने आग और तलवारके जरिये

१. रिपोर्ट आव दि सिलेक्ट कमेटी आन दि अफेयर्स आव दि ईस्ट इण्डिया कम्पनी, भाग ६, अपेण्डिक्स २०, पृ० ३०० (१८३२).

प्रचार करनेका प्रयत्न किया।"[१] पुर्तगालियोंको हुगलीमें रहने और एक कारखाना बनानेकी इजाजत मिल गयी थी। वहाँ उन्होंने "पड़ोसके मुसलमानों और यात्रियोंको परेशान करना और सताना शुरू किया...समुद्रतटके जिन बन्दरगाहोंपर वे प्रभुत्व रखते थे वहाँ वे धन-जनको हाथ नहीं लगाते थे, पर जब कोई व्यक्ति नाबालिक बच्चोंको छोड़कर मरता था तो उसकी सम्पत्ति और बच्चोंको वे अपने कब्जेमें ले लेते थे। ये बच्चे चाहे सैय्यदके हों, चाहे ब्राह्मणके हों, उन्हें ईसाई और गुलाम बना लिया जाता था।"[२]

धीरे-धीरे पुर्तगालियोंने चीन जापानसे होनेवाले व्यापारको भी हथिया लिया, पश्चिमसे होनेवाला व्यापार तो पहले ही उनके अधिकारमें आ चुका था। कुछ समुद्री रास्ते पुर्तगालके राजाकी इजारेदारी घोषित कर दिये गये। पूर्वी अफ्रीका, चीन और मसालेके द्वीपोंको जानेवाले भारतीय जहाज रोके जाते और सिर्फ पुर्तगाली परमिट पाने पर ही आगे बढ़ पाते। "उनकी इस नीतिका उद्देश्य था भारतीय मालके अरब और फारसकी खाड़ी होकर यूरोप पहुँचनेमें बाधा डालना और इस पुराने रास्तेको तोड़कर पूरा माल अपने लम्बे रास्ते ले जाना। इस लम्बे रास्तेको किफायतसे चलानेके लिए ज्यादासे ज्यादा माल ले जाना जरूरी था, और उसके लिए दूसरे व्यापारियों और दूसरे रास्तोंपर रोक जरूरी थी। इस प्रकार वे पूरे व्यापारको अपने उस राजनीतिक प्रभावके मातहत लाना चाहते थे जो उन्हें भारतीय द्वीपों और प्रायद्वीपके किनारेकी रियासतोंपर अपने हथियारों और युद्धप्रणालीके कारण मिला था।"[३]

पुर्तगाली व्यापारकी एक बड़ी मद थी गुलामोंकी बिक्री। "दुर्भाग्यवश पुर्तगाल और यूरोपके अन्य देश गुलामी और गुलाम व्यापारके अन्यायके प्रति अभी सचेत नहीं हुए थे। अफ्रीकामें पुर्तगाली युद्धोंके समय हबशी और मूर लोग युद्धबन्दियोंकी तरह पकड़े जाते थे और गुलामोंके रूपमें लिसबनमें बेच दिये जाते थे। भारतमें पुर्तगालियोंने गुलामोंकी खरीदके लिए अड्डे बना रखे थे। गोआमें हर पुर्तगाली परिवारमें गुलाम स्त्रियाँ पायी जाती थीं। इन गुलाम स्त्रियोंको कभी-कभी मिठाई बेचने और दूसरे तरीकोंसे अपने स्वामियोंके लिए रुपया कमानेके लिए बाजार भी जाना पड़ता था।"[४]

बादमें तो यह गुलाम व्यापार नैतिक पतन और अत्याचारकी पराकाष्ठापर पहुँच गया था। हुगलीमें कारखाना बनानेकी इजाजतके बाद वहाँ उन्होंने किला बनाकर तोपें लगा दी थीं। "तभी गोआ तथा अन्य पुर्तगाली शहरोंके पतित बादशाहों और गुण्डों, फौजी भगोड़ों और मठोंसे निकाले गये महन्तोंने गंगाके मुहानेके टापुओंपर छोटी-छोटी डोंगियाँ लेकर समुद्री डाकुओं, लुटेरों और बुर्दाफरोशोंकी तरह रहना शुरू किया था। ये लोग सुन्दरवनमें महामारीकी तरह छाये हुए थे। ये लोग डेल्टापर बसे गाँवोंपर छापा मारते और पूरे गाँवकी आबादीको गुलाम बनाकर पकड़ ले जाते। बारातें पकड़ ले जानेका इन्हें विशेष शौक था। उसमें गहना, कपड़ा भी हाथ लगता था। हुगलीके पुर्तगाली इतने नीच थे कि डाकुओंसे इन अभागोंको खरीद लेते और गोआ भेज देते थे। गोआमें रोज गुलामोंके नीलाम होते।

---

१. वही पुस्तक, (रिपोर्ट आव दि सिलेक्ट कमेटी...) भूमिका, पृ० ३६

२. इलियट और डासन, दि हिस्टरी आव इण्डिया ऐज़ टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स, भाग ७, पृ० २११

३. ऐनल्स आव दि आनरेबिल ईस्ट इण्डिया कम्पनी, भाग १, पृ० ४१

४. जे. टालबॉयज़ व्हीलर, इण्डिया अण्डर ब्रिटिश रूल (१८८६) पृ० १९

सुन्दरवनके बदमाश लुटेरे और हुगलीके पवित्र व्यापारी दोनों अपनी आत्माकी शान्तिके लिए अपने इन शिकारोंको ईसाई बना लेते। वे शानसे कहते, हमने इनकी आत्माको नर्कसे बचाया है।"[1] लेकिन इसी जमानेमें मुगलोंने शासनसूत्र अपने हाथमें ले लिया था और उन्होंने गुलामोंकी बिक्रीपर रोक लगा दी।

१६वीं शताब्दीके शुरू होते-होते तैमूरलंगका भारतीय साम्राज्य खत्म हो चुका था और देशकी अराजकता बाहरी संगठित शक्तियोंको यहाँ धावा बोलनेके प्रलोभन दे रही थी। तैमूरका वंशज बाबर तुर्की तोपोंकी मददसे काबुल और समरकन्दपर कब्जा जमा चुका था। सन् १५२५ में वह भारतके उत्तरी मैदानपर उतर आया। कुछ भारतीय मुस्लिम राजाओंने उसे भारतपर आक्रमण कर उसे फतह कर लेनेकी दावत भी दी थी। इससे बाबरकी जीत आसान हो गयी। उसे दिल्लीके कुछ अमीरोंने भी सहायताका वचन दिया था। पानीपतके मैदानमें एक बहुत बड़ी फौज उसके मुकाबलेके लिए आयी, पर अधिक अच्छे हथियारों और भारतीय मददसे बाबरकी विजय हुई और उसने दिल्लीपर कब्जा कर लिया। भारतमें वह एकके बाद दूसरी लड़ाई जीतता गया और उसने मुगल साम्राज्यकी नींव डाली। अकबरके जमानेमें (१५५६-१६०५) मुगल साम्राज्य अपने चरम उत्कर्षपर पहुँचा। न्याय, माल और शासनकी सुगठित प्रणालियाँ प्रचलित हुईं। अकबरमें राज्य चलानेकी विलक्षण प्रतिभा थी। इतिहासमें वह इस कालका सबसे शानदार, आकर्षक और विशिष्ट व्यक्ति माना जाता है। "उन सभी पक्षपातोंसे मुक्त जिनसे समाजमें झगड़े और भेद पैदा होते हैं, दूसरे धर्मोंके प्रति सहिष्णु, दूसरी जातियों और देशोंके लोगोंके प्रति निष्पक्ष, अकबर ही ऐसा था जो अपने साम्राज्यके परस्पर विरोधी तत्वोंको एक सूत्रमें बाँधकर उसे सशक्त और समृद्ध इकाई बना सकता था—उसकी प्रतिभा चतुर राजनीतज्ञकी तरह एकीकरणकी प्रतिभा थी। उसका साम्राज्य मुगल, मुस्लिम, आर्य, द्रविड़, हिन्दू सवर्ण, अछूत या राजपूत साम्राज्य नहीं, भारतीय साम्राज्य था।"[2] विभिन्न शासकोंसे वैवाहिक या राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर उसने अपने राज्यकालमें शान्ति कायम रखी।

रैयतकी तरफ मालगुजारी वसूल करनेवालोंका क्या रवैया हो, इस सम्बन्धमें जारी किये गये एक आदेशसे अकबरके दृष्टिकोणकी झलक मिलती है।—"वे अपनेको काश्तकारका सबसे बड़ा दोस्त समझें, उन्हें बीचके दलाल रखनेकी जरूरत नहीं होनी चाहिये, जरूरत पड़नेपर जरूरतमन्द किसानको वे रूपया उधार दें और उसकी वसूली सहज और छोटी किस्तोंमें करें, कुशल प्रबन्धके लिए वे इनाम दें, मालगुजारी हमदर्दी और सद्भावनासे वसूल की जाये, परेशान करनेवाले कर न लगाये जायें, जितनेपर तय हुआ हो उससे ज्यादा कर न वसूल किये जायँ।"[3]

पुर्तगाली अकबरके कृपापात्र हो गये थे, पर बादमें अकबरने अनुभव किया कि विदेशी नागरिकोंको देशकी अर्थ और नीतिकी व्यवस्थामें हस्तक्षेप करने देना बुद्धिमानी नहीं है। वह उन्हें निकाल बाहर करना चाहता था, लेकिन दूसरे कामोंमें व युद्धोंमें व्यस्त रहनेके कारण वह ऐसा न कर सका। उसकी आशंका सत्य निकली जब सन् १५९५ में पुर्त-

---

१. वही पुस्तक, पृ० २०
२. एच० जी० वेल्स
३. ई० एस० होल्डन, दि मुगल एम्परर्स आव हिन्दुस्तान, पृ० १५३

गालियोंने उसके बेटे सलीमको इलाहाबादका स्वतंत्र राजा बननेके लिए सहायता दी। पुर्तगाली और बादमें आनेवाले अन्य विदेशी व्यापारी मुगल बादशाहोंके क्रोधसे सिर्फ इस कारण बचे रहे कि वे नगण्य शक्तिवाले थे और दूर-दूर बस्तियोंमें रहते थे। उन्हें खत्म करनेके लिए एक बड़ी फौज भेजना बड़े खर्चका काम था और साथ ही बीचमें पड़नेवाली अन्य रियासतोंसे मुफ्तकी लड़ाई होती।

अकबरके जमानेमें ही यूरोपके दो अन्य देशों (हालैण्ड और इङ्गलैण्ड) के नागरिक भारत आये। इनका आगमन पुर्तगालियोंकी लगभग १०० सालकी व्यापारिक इजारेदारीके बाद हुआ। जबतक हालैण्ड स्पेनके अधीन था, वह भारतीय माल लिस्बनसे खरीदता रहा। लेकिन स्पेनसे स्वतन्त्र होने और सन् १५८० में स्पेन और पुर्तगालके मिल जानेपर लिस्बनके बाजार उसके लिए बन्द हो गये। डच व्यापारियोंके जहाज पुर्तगाली सरकारने छीन लिये थे और उनके मल्लाहोंको कैद कर लिया था। एक कैदी डच कप्तानने जेलमें ही भारतीय समृद्धि और व्यापारका वर्णन पुर्तगाली नाविकोंसे सुना। उसने पहली बार डच-भारत व्यापार सम्बन्धोंकी कल्पना की। यह कप्तान जेलसे भाग निकला, अपने देश आया और उसने भारतीय व्यापारसे अर्जित पुर्तगाली समृद्धिका वर्णन किया। डच लोग उत्साहित होकर आठ जहाजोंका एक बेड़ा बनाकर पूर्वके लिए रवाना हो गये। इनमेंसे चार जहाज होपकी खाड़ी होकर चले और चार उत्तरी पूर्वी रास्तेसे। होपकी खाड़ी आनेवाले जावा जा निकले। उन्होंने पूर्वसे डच व्यापारका सूत्रपात किया। सन् १५९८ तक डच पूर्वी द्वीप-समूहमें अच्छी तरह जम चुके थे। भारतमें उन्होंने कालीकट और मद्रासमें कारखाने खोले। धीरे-धीरे उनके और कारखाने भी बनने लगे।

यह पुर्तगाली व्यापारका पराभव-काल था। इस अवनतिके कारण बताते हुए उनके भारत-स्थित गवर्नर अलफाँजो डी सोजाने लिखा है—"पुर्तगाली एक हाथमें तलवार और दूसरेमें सलीब (सूली) लेकर भारत आये। यहाँ उन्होंने सोना देखा, और सलीब फेंककर सोना भरने लगे। जब जेबें इतनी भर गयीं कि एक हाथसे सम्हल न सकीं, तो उन्होंने तलवार भी फेंक दी। बादमें आनेवालोंने उन्हें इसी हालतमें पाया और आसानीसे हरा दिया।"

डचोंने पुर्तगालियोंके जहाज जला दिये, उनकी बस्तियोंपर कब्जा कर लिया, उन्हें खदेड़ दिया। विदेशी व्यापार बढ़ानेकी दृष्टिसे अकबरने पुर्तगालियोंको प्रोत्साहित किया था। उसे विदेशी बहुमूल्य धातुओं, घोड़ों और ऐशो-आरामकी दूसरी चीजोंकी जरूरत थी। पर जब पुर्तगाली उत्पात देखे तो उसने डचोंसे दोस्ती कर ली। अकबरके बेटे जहाँगीरने नूरजहाँके कारण अँगरेजोंको अधिक पसन्द किया। नूरजहाँ नील और कढ़े हुए कपड़ोंका व्यापार करती थी जो अँगरेजी व्यापारियोंके द्वारा निर्यात होते थे।

पुर्तगाली वैभवकी गाथाएँ इङ्गलैण्ड भी पहुँचीं। अँगरेज व्यापारी जल्दीसे जल्दी पूर्वके लिए कूच करना चाहते थे। पचास वर्षतक अँगरेज नाविक उत्तरी पश्चिमी रास्तेसे हिन्दुस्तान पहुँचनेकी असफल कोशिश करते रहे। सन् १५७८ में सर फ्रांसिस ड्रेकने भारतसे लौट कर तिब्बत जाते हुए एक पुर्तगाली जहाजको पकड़ लिया। उस जहाजपर मिले नक्शोंसे होप अन्तरीपके रास्तेका पता ड्रेकको लग गया।

सन् १५९९ में कुछ व्यापारियों, लुहारों, बजाजोंने ३०१३३३ पौंड पूर्वसे व्यापार करनेके लिए इकट्ठे किये और एक संघ बनाया। अगले वर्ष उन्हें महारानीसे एक चार्टर

(अधिकार-पत्र) मिल गया, जिसके अनुसार (यदि राष्ट्रहितमें हुआ तो) वे १५ वर्षके लिए पूर्वके साथ व्यापार करनेका एकाधिकार पा गये। यदि यह व्यापार इंगलैंडके लिए लाभदायक न हुआ तो चार्टर दो सालकी नोटिसपर खत्म किया जा सकता था। वैभव-सम्पन्न व शक्तिशाली मुगल साम्राज्यकी उत्तराधिकारिणी ईस्ट-इंडिया कम्पनीकी बुनियाद इस प्रकार पड़ी। कम्पनीके डायरेक्टरोंने तय किया कि "जिम्मेदारीके किसी भी कामपर किसी भलेमानुसको नियुक्त न किया जाय।" उन्होंने यह भी इच्छा प्रकट की कि हमें अपने ढंगके आदमियोंकी मददसे ही व्यापार करने दिया जाय, नहीं तो यह आम धारणा बन जाने पर कि यह भलेमानुसोंकी कम्पनी है, बहुतसे साहसिक और दुर्दमनीय व्यक्तियोंका सहयोग कम्पनीको न मिल सकेगा।

भारत पहुँचनेवाले पहले बेड़ेकी कमान कप्तान हॉकिंसके हाथमें थी जो सन् १६०८ में सूरतके बन्दरगाहमें आकर लगा। हॉकिंस इंगलैंडके बादशाह जेम्स प्रथमका एक पत्र भारतके नाम लाया था। तब जहाँगीर बादशाह था। हॉकिंसको अच्छा सत्कार और सम्मान मिला। पर मुगल दरबारमें पुर्तगाली पादरियोंको अंग्रेजोंके खिलाफ साजिश करते देखकर वह सूरत लौट गया। इतिहासकी पुनरावृत्ति हुई और सन् १६१२ में कप्तान टामस बेस्टके अधीन चार अंग्रेजी जहाजोंका बेड़ा पुर्तगालियोंसे मोर्चा लेने आ धमका। जैसे १०० साल पहले पुर्तगालियोंने अरब बेड़ेको खत्म किया था, वैसे ही अंग्रेजोंने पुर्तगालियोंके बेड़ेपर कब्जा कर लिया। पुर्तगालियोंके व्यवहारसे जनता पहलेसे ही खिन्न थी। डच पहले ही बादशाहकी, विशेषकर नूरजहाँकी निगाहसे गिर चुके थे। अंग्रेज डच-पुर्तगालियोंकी खाली जगहोंपर व्यापारकी इजारेदारी करने आ पहुँचे और उनका स्वागत हुआ। ६ फरवरीको ईस्ट इंडिया कम्पनी और बादशाहके बीच संधि हुई जिसके अनुसार एक अंग्रेज राजदूत मुगल दरबारमें रहने लगा।

कोई ३०–४० सालमें ईस्ट इंडिया कम्पनीके कारखानोंका एक जाल-सा भारतीय समुद्रके किनारोंपर बिछ चुका था। सन् १६२२ में अंग्रेजोंने ईरानके शाहसे दोस्ती कर फारसकी खाड़ीमें आधिपत्य जमा लिया। इससे पुर्तगाली प्रतिष्ठाको बड़ा धक्का लगा, और अगले ४० वर्षोंमें पुर्तगाल अव्वल दरजेसे गिरकर तीसरे दरजेकी व्यापारिक शक्तिके रूपमें रह गया।

सूरत उन दिनों मुगल व्यापारका महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। मुगल व्यापारियोंके जहाज फारसकी खाड़ी और लालसागरके लिए यहींसे रवाना होते थे। ब्रिटिश नाविक और बद-दिमाग अंग्रेज कभी-कभी एशियावासियोंके लिए नफरत जाहिर करते......कुछ बाहरी अंग्रेज कम्पनीके चार्टरकी अवज्ञा कर मनमाना व्यापार करते, मुसलमान तीर्थ-यात्रियोंके जहाज लूट लेते, उनके साथ दूसरे अत्याचार करते। मुगल अधिकारी इसके लिए कम्पनीके कर्मचारियोंको दोषी ठहराते। उन्होंने बड़ी संख्यामें अपने सिपाही भेजकर अंग्रेज बस्तीपर घेरा डलवा दिया और काफी जुर्माना न मिलनेतक खाना, पानी, व्यापार सब बंद करवा दिया।

सन् १६३९ में डे नामक एक अंग्रेज व्यापारीने कारोमंडल तटपर एक हिन्दू राजासे ५०० पौंड सालाना किरायेपर ६ मील लम्बी और एक मील चौड़ी जमीनकी पट्टीको पट्टेपर ले लिया। यहाँ एक किला बना जिसमें तोपें चढ़ायी गयीं। किलेका नाम था फोर्ट सेण्ट

जार्ज। इसीके आसपास एक व्यापारिक केन्द्र बन गया और बादमें यही केन्द्र मद्रासके नामसे मशहूर हुआ।

शाहजहाँकी बादशाहतके जमानेमें हुगलीमें और उसके आसपास पुर्तगालियोंके उत्पात और अत्याचार एकदम बढ़ गये। बादशाहने बंगालके सूबेदारको पुर्तगालियोंको सजा देनेका आदेश दिया। शाही फौजने हुगलीको घेर लिया। पुर्तगाली मारे गये, कैद हुए और हुगलीसे उनका नाम निशानतक मिट गया। अंग्रेजोंने इनकी जगह बंगालमें व्यापार करनेकी अनुमति माँगी और प्राप्त भी कर ली। लेकिन उन्हें भारी कर देने और हुगलीतक अपने जहाज न लानेकी शर्त माननी पड़ी।

तभी अंग्रेजोंके सौभाग्यसे शाहजहाँकी पुत्री बीमार पड़ी। शाहजहाँ उन दिनों अपनी बेटीके साथ दक्षिणमें ही था। वजीरने सूरतसे एक अंग्रेज डाक्टर बौटनको बुलाया जिसने शाहजादीका इलाज कर उसे चंगा कर दिया। शाहजहाँने डाक्टरको मुँहमाँगा इनाम देनेका वादा किया। उसने देशभक्तिकी एक बहुत ऊँची मिसाल पेश करते हुए कहा कि अंग्रेजोंको बंगालमें बिना कर दिये व्यापार करने और कारखाने खोलनेकी इजाजत दी जाये। डाक्टरको शाही फर्मान मिल गया जिसे लेकर वह शाहजहाँके बेटे शाहशुजाके, जो उन दिनों बंगालमें सूबेदार था, दरबारमें पहुँचा। उन्हीं दिनों शुजाके हरममें एक महिला बहुत ज्यादा बीमार थी। डाक्टर बौटनने उसे भी चंगा कर दिया और शाहशुजाने कृतज्ञतापूर्वक डाक्टरको हर सम्भव सहायता बंगालमें स्थायी रूपसे अंग्रेजी व्यापारप्रभुत्व कायम करनेके लिए दी।

जहाँगीरके दरबारमें आये ब्रिटिश राजदूत सर टामस रोने सन् १६१६ में लिखा था—"यहाँ १०० से अधिक जातियाँ और धर्म हैं, पर वे अपने सिद्धान्तों या पूजाविधिपर झगड़ते नहीं। हर एकको अपने ढंगसे अपने ईश्वरकी आराधना करनेकी पूरी छूट है। धर्मके कारण सताया जाना यहाँ अज्ञात है।"[१]

सारी शासनसत्ता मुगल बादशाहोंमें केन्द्रित थी। उनका कथन ही कानून था और बादशाहका विरोध अधिक सबल हथियार ही कर सकते थे। शासनकाममें वे अमीरोंसे मदद लेते थे।

शाहजहाँका राज्य जनताके लिए बड़ा समृद्धिशाली बताया जाता है। मालगुजारी बादशाहकी आमदनीका मुख्य स्रोत थी। यह शाही खर्चके लिए काम आती थी; जनताके हितमें, उसे सुविधाएँ देनेके लिए नहीं।

हजारों वर्षोंसे मालगुजारीपर बादशाहका न्यायोचित अधिकार माना जाता था। बड़े-बड़े धर्मभीरु और नैतिक लोग भी स्वीकार करते थे कि यह तो राजाका अंश है, उसे वह चाहे जैसे खर्च करे। किसानोंका भी यही दृष्टिकोण था। इस अधिकारके बदलेमें राजाका क्या कर्त्तव्य है, यह प्रश्न ही नहीं उठता था। जो बादशाह मालगुजारीकी दर न बढ़ाता, किसानोंको जिसके नौकर परेशान न करते और जो गाँवके जीवनमें हस्तक्षेप न होने देता, उसे ही जनता अच्छा शासक मानती थी। किसान लोग बस उतनी ही उपजको अपना हक मानते जो मालगुजारीसे बच रहती। युद्धमें विजयी राजा विजित राजासे जो जुर्माना, चौथ आदि वसूल करता था वह किसानोंकी गाढ़ी कमाईसे ही आता।

---

१. जान पिंकरटन : ए जेनरल कलेक्शन आव दि बेस्ट ऐण्ड मोस्ट इण्टरेस्टिंग वायजेज, पृ० ३२१, ४१५ (१८११)।

इन खर्चोंसे जो कुछ बचता उसीसे ग्रामीण जीवनकी अर्थव्यवस्था चलती। इस आर्थिक ढाँचेसे जो जीवनस्तर बना वही जनताके सुख और सन्तोषका मापदण्ड हो गया। इसी बचतमेंसे गाँव अपनी रक्षाका भी बन्दोबस्त करते। इसीमें अपने सामाजिक, सांस्कृतिक व स्वायत्तशासन सम्बन्धी काम पूरे करते। सरदार, सूबेदार और लड़ाकू राजा युद्धके समय भी ग्रामीण अर्थव्यवस्था और शान्ति भंग न करना चाहते। कुछ विजयी राजाओंने तो फौजों द्वारा हुए गाँवके नुकसानोंको पूरा करनेके लिए क्षतिपूर्तिके रूपमें रकमें भी दीं। "उस जमानेमें राज्यतन्त्र या राजा मालगुजारी वसूल करने और पुलिसका काम करनेके बाद अपने कर्त्तव्यकी इतिश्री समझ लेते। निर्माणकार्य या सामाजिक व आर्थिक विकासके कोई काम राज्य अपने हाथमें न लेता। जबतक बादशाहकी आज्ञा-उल्लंघन या कोई दूसरा बड़ा जुर्म न हो जाय, राज्य ग्राम्य जीवनमें हस्तक्षेप न करता। अगर गाँव सरकारको परेशान न करता तो सरकार गाँवको न छेड़ती। गाँव सदियों पुराने जीवनका ढर्रा शान्तिमय ढंगसे चलाते जाते।"[1]

मुगलकालके इतिहासमें इस बातके उदाहरणोंकी कोई कमी नहीं है कि बादशाह फसलमें अपना हिस्सा वसूल कर लेनेके बाद जनताको शेष भागका उपयोग करनेकी पूर्ण स्वतन्त्रता ही न देते बल्कि इसके लिए भी सचेष्ट रहते कि इस स्वतन्त्रताका कोई अपहरण न करने पाये। इस सम्बन्धमें वे ऊँची नैतिकता और उत्तरदायित्वकी भावना रखते। कर्मचारियोंको आदेश थे कि वे शाही नीतिको ईमानदारीके साथ अमलमें लायें। मालगुजारीका बकाया छोटी-छोटी किस्तोंमें वसूल किया जाता। एक बार जमीनके एक खित्तेका दरसे ज्यादा लगान शाही खजानेमें जमा देखकर शाहजहाँ इतना क्रोधित हुआ कि उसने उस अफसरको बरखास्त कर दिया और ज्यादा जमा हुई रकम काश्तकारको लौटा दी।

"शाहजहाँ और औरंगजेबके जमानेके कई ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि रैयतकी शिकायत बादशाहतक पहुँचने पर, कड़ाईसे ज्यादा मालगुजारी इकट्ठी करनेवाले अफसर और कभी कभी तो सूबेदारतक बरखास्त कर दिये गये।" मुगलकालमें हर नये सूबेदारको हुक्म मिलता था कि "रैयतको खेती और पैदावार बढ़ानेमें बढ़ावा दो ताकि वे पूरे दिलसे खेतीमें लग सकें। उनसे कुछ ऐंठनेकी कोशिश न करो। याद रखो कि रैयत ही आमदनीका स्थायी साधन है...... यह देखना तुम्हारी जिम्मेदारी है कि ताकतवर गरीबको दबाने न पायें।" यदुनाथ सरकारकी तरह ही स्टेनले लेनपूलने लिखा है—"इस बातका ख्याल रखा जाता था कि जिनसे ज्यादा अनुचित कर वसूल कर लिया गया हो, उन्हें अपनी शिकायत ऊपरतक पहुँचानेमें मुश्किल न पड़े, जो ज्यादा रकम वसूल कर लें उन अफसरोंको कड़ीसे कड़ी सजा दी जाती थी।"[2] इतने लम्बे-चौड़े और फैले हुए साम्राज्यमें बादशाहका हुक्म कड़ाईसे पालन कराना, उसके अनुसार कार्य कराना बड़ा कठिन था, और इसलिए इधर उधर अनेक भ्रष्टाचार इत्यादिके मामले बने रहते थे।

एक जमानेसे मालगुजारीकी दर धीरे-धीरे बढ़ायी जा रही थी। हिन्दू राज्यकालमें यह कर कुल उत्पादनका छठाँ हिस्सा था। मुसलिम शासनकालमें कर बढ़ता ही गया। अकबरके

---

१. यदुनाथ सरकार, दि मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ० १३-१४

२. मिडीवल इण्डिया अंडर मुहम्मडन रूल, पृ० २६३-६४

कालमें 'मालगुजारी' उत्पादनका एक तिहाई हो गयी, और औरंगजेबके कालमें उपजका ५० प्रतिशत हो गयी।

कहा जाता है कि शाहजहाँ-कालीन भारतकी धन-दौलत और समृद्धि दूर देशोंके लोगोंको आश्चर्यमें डाल देती थी। विशेष त्यौहारों और अवसरोंपर तख्त ताउसपर बैठे कोहनूर व जवाहरातसे सजे हुए शाहजहाँके व दरबारके ठाट-बाट देखकर बुखारा, (ईरान) फारस, तुर्की, इटली, फ्रांस आदिके विदेशी राजदूतोंकी आँखें चौंधिया जाती थीं। परन्तु उस ऐश्वर्य और खुशहालीको जनताकी खुशहालीका प्रमाण नहीं समझना चाहिये। फिर भी बँधे हुए कर अदा कर देनेके बाद जनताको कोई परेशान न करता था और लोग बेफिक्री, शान्ति और स्वतन्त्रतासे जीवनयापन करते थे। गाँव स्वावलम्बी और स्वतन्त्र आर्थिक इकाई होते थे। प्रत्येक गाँवमें एक बड़े-बूढ़े लोगोंकी सभा होती थी जिसे पंचायत कहते थे। स्थानीय आवश्यकतानुसार यह पंचायत न्याय, कानून और शासनका सब कार्य देखती थी। गाँवके कामगर इत्यादि उस आर्थिक जीवनका अंग होते थे। उन्हें या तो पैदावारका एक भाग मिलता था, या मालगुजारीसे मुक्त जमीन। गाँवकी इस संघटित व्यवस्थाका एक बड़ा लाभ यह था कि कोई भूखों नहीं मरता था। किसीके पास यदि किसी फसलमें कोई काम न होता तो भी संघटित प्रणालीसे उसे भोजन तो मिल ही जाता था! राजसिंहासन-पर बादशाह आते रहते और राजवंश बदलते रहते पर जनताके जीवनमें कोई उलट-फेर न होता था।

चाहे कूटनीतिके कारण हो या वास्तवमें जनताकी भावनाओंके आदरके लिए, मुगल सम्राटोंने अपने व्यवहारसे लोगोंको विश्वास दिला दिया था कि उनके धार्मिक मामलोंमें कोई हस्तक्षेप न किया जायगा और इस नीतिसे दिल्ली-सम्राटोंको भी विश्वास हो गया था कि जनता राजनीतिक मामलोंमें उदासीन रहेगी। इस प्रकार संघर्षकी परिधि महत्त्वाकांक्षी पदाधिकारियों व पड़ोसी राज्योंतक ही सीमित रहती थी।

परन्तु जहाँगीर और शाहजहाँ वह पक्षपातरहित व्यवहार और दृष्टिकोण न निभा सके जो उनके प्रख्यात पूर्वज अकबरकी नीति थी। कुछ अवसरोंपर ऐसा प्रतीत होता है कि वे हिन्दू और सिक्खोंके प्रति अनुदार थे।

सिखधर्मकी नींव गुरु नानकने पन्द्रहवीं शताब्दीमें डाली थी। गुरु नानक वास्तवमें एक सुधारक थे। उनके अनुयायी राजनीतिके प्रति उदासीन रहते थे। वे हिन्दू मुसलमान दोनोंसे कहते थे कि "हम न हिन्दू हैं न मुसलमान; हम सब एक ही मालिकके बन्दे हैं।" सिखोंके गुरु वास्तवमें अपने विश्वासके प्रति निष्ठा व साहसके इतिहासमें ज्वलन्त उदाहरण हैं।

चौथे गुरुके समयतक सिख लोग नितान्त धार्मिक और सुधारक समुदायकी तरह रहे। परन्तु पाँचवें गुरु अर्जुनदेवसे जहाँगीर नाराज हो गया। उनका अपराध सिर्फ यही था कि उन्होंने जहाँगीरके विद्रोही पुत्र खुसरोको शरण और सहायता दी थी। गुरु अर्जुन-देवको इस "विद्रोह व धृष्टता" के लिए मृत्यु-दण्ड मिला।

शाहजहाँके समयके इतिहासमें कई मन्दिरोंके मस्जिदमें परिवर्तन किये जानेका विवरण मिलता है। हो सकता है कि इसकी जिम्मेदारी औरंगजेबपर हो क्योंकि ये घटनाएँ दक्षिणकी हैं जहाँ इस समय औरंगजेब सूबेदार था। मुल्ला लोग भी कभी-कभी कुचक्रों

और गन्दी हरकतोंमें भाग लेते थे, पर यह सब अपवाद मानकर नजरअन्दाज कर दिया जाता था और इस तरह हिन्दू मुसलमानोंके आपसी सम्बन्ध सद्भावपूर्ण बने रहते थे।

मुस्लिम दरबारोंमें और हिन्दू राजाओं, दोनोंके यहाँ हिन्दू व मुसलमान दोनों ही शासकीय एवं सैनिक पदोंपर नियुक्त होते थे और अवसरानुसार अपने प्रभुओंकी खातिर हिन्दू मुसलमानोंके और मुसलमान हिन्दुओंके कंधेसे कंधा भिड़ाकर अपने धर्म-भाइयोंसे रणक्षेत्रमें लोहा लेते थे। उनको भाड़ेके सिपाही कहना अन्याय होगा। हिन्दू और मुसलमान एक ही जन-कुटुम्बके थे। यह तो बहुत बादमें हुआ कि मुसलमान लोग इस्लामी राज्योंके धार्मिक रूपसे समर्थक बन गये। उन दिनों हिन्दू मुसलमान जनसाधारण मेल-मिलाप और सौहार्दके साथ आपसमें मिलकर रहते थे। ब्रिटिश शासनकालकी तरह हिन्दू मुस्लिम दंगे उस समय कभी नहीं हुए।

गुरु अर्जुनदेवके प्रति जहाँगीरके निर्दय व्यवहारने सिखोंको सैनिक रूपसे संघटित होनेके लिए प्रेरित किया। स्वयं अर्जुनदेवने भी ऐसा ही अनुभव किया और अपने पुत्र और उत्तराधिकारी हरगोविन्दको यथासंभव एक बड़ी और संघटित सेना रखनेका आदेश दिया। शहीद गुरुका यह आदेश उनकी अन्तिम इच्छा बन गया और प्रतिशोधकी भावनासे प्रेरित गुरु हरगोविन्दने अपने शिष्योंमें सैनिक उत्साह भरा जिससे थोड़े ही समयमें उनके पास एक सुसज्जित और दृढ़ सेना तैयार हो गयी। इस सेनाकी प्रायः ही शाही सेनासे मुठभेड़ होती, और बहुधा जीत भी सिखोंके हाथ रहती। एक बार गुरु गोविन्दको पकड़नेमें जहाँगीर सफल भी हुआ पर वे किसी प्रकार निकल भागे।

शाहजहाँके बाद उत्तराधिकारका फैसला लगभग सदैव ही तलवारने किया। विजयी युवराज खूनकी नदी पार करके ही गद्दीतक पहुँचता था। स्वयं शाहजहाँने अपने भाइयों व रिश्तेदारोंके खूनसे हाथ रंगकर ही तख्त प्राप्त किया था। इन अभागोंके कटे सिर जनताको आतंकित करनेके लिए शहरमें घुमाये जाते थे। अकबरके बाद प्रायः प्रत्येक युवराजने सिंहासन-प्राप्तिके लिए पितासे विद्रोह किया। जहाँगीरने पिताके सबसे अधिक प्रिय सहायक अबुल-फजलको मरवा डाला और स्वयं अकबरके खिलाफ विद्रोह किया। शाहजहाँने भी जब वह शाहजादा था, पिताके विरुद्ध विद्रोह किया था। उसे तभी क्षमा किया गया जब उसने जमानतके रूपमें अपने दो पुत्रोंको, जिनमें एक औरंगजेब था, नूरजहाँके पास रख दिया।

जिस समय मुगल खानदान आपसी वैर और युद्धोंमें लगा हुआ था, यूरोपीय व्यापारी भारतमें अपनी स्थिति मजबूत बनानेमें लगे थे, पर शाही सैनिक शक्ति फिर भी बहुत मजबूत थी और यह कल्पना भी न हो सकती थी कि यूरोपवाले भारतमें अपना सिक्का जमा सकेंगे। औरंगजेबके शासनकालमें फ्रांसके व्यापारी भी भारतमें आये, और स्वभावतया, डच, पुर्तगाली और अंग्रेज व्यापारियोंके साथ देशके बाहरी व्यापारमें हिस्सा बटाने लगे। सन् १६६४में फ्रांसीसी मन्त्री कोलबर्टने "कम्पनी-डी-इण्डीज" नामक एक व्यापारिक संस्था संघटित की जिसे फ्रांसके राजा चौदहवें लुईने ५० वर्षतक भारतसे व्यापार करनेका एकाधिकार दे दिया। उसने इस कम्पनीको सभी प्रकारके करोंसे मुक्त कर दिया, और दस वर्षोंतक उसके सारे घाटे और हरजाने सरकार द्वारा भरे जानेका वचन भी दे दिया।

अन्य यूरोपीय व्यापारियोंकी भाँति फ्रांसीसी भी पहले सूरतमें आये और उन्होंने १६६८ में वहाँ एक कारखाना कायम किया। वे भी काफी तौरपर सशस्त्र थे। फ्रांसीसी व्यापारियोंके

भारतमें आनेसे पहले ही एक भारतीय सरदारने एक पुर्तगाली किले, सेण्ट टोमको जीत लिया था। फ्रांसीसी बेड़ेने सन् १६७०में इस किलेपर धावा बोल दिया और उसे जीत लिया। कुछ ही काल बाद एक डच बेड़ेने इस किलेको फ्रांसीसियोंसे छीनकर फिर गोलकुण्डाके भारतीय सुल्तानके हवाले कर दिया।

अकबरके बादके तीन मुगल बादशाहोंके कालमें अंग्रेज व्यापारियोंने अपनी जड़ें मजबूतीसे जमा ली थीं और सत्रहवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें उनका व्यापारिक केन्द्र मद्रास एक स्वतन्त्र उपनिवेश बन गया। अंग्रेजोंके इस केन्द्रके पास एक भारतीय बस्ती भी पनपने लगी जिसपर अंग्रेज हुकूमत करने लगे। कम्पनीके हाथों बम्बई प्रायः बिना प्रयास ही आ गया। सन् १६६१में पुर्तगालके राजाने इंगलैण्डके राजा चार्ल्स द्वितीयको बम्बईका इलाका अपनी पुत्रीके दहेजमें दे दिया और चार्ल्सने बम्बईको कम्पनीके हाथ बेच डाला। कम्पनीने अपना सूरतका केन्द्र बन्द करके बम्बईमें नया केन्द्र जमानेका निश्चय किया जो टापू होनेके कारण अधिक सुरक्षित बन्दरगाह था और जहाँसे लाल सागर व अरबकी खाड़ीका व्यापार भी सुगम था। इसके अलावा सूरतका व्यापारिक महत्त्व भी राजपूतों और औरंगजेबकी शत्रुता, हमलों, और नित्यके झगड़ोंके कारण घट रहा था। इन युद्धों और लूटमारके कारण आगरा और सूरतके बीच व्यापार कठिन हो गया था। दक्षिणमें शिवाजीके उत्थानके फलस्वरूप कुछ मुगली इलाकोंकी व सूरतकी स्थिति बहुत अरक्षित हो गयी थी।

ऐसा लगता है कि सूरतमें ईस्ट इण्डिया कम्पनीकी ख्याति अच्छी न थी। एक अंग्रेज लेखकने लिखा है—"अंग्रेजोंकी हिंसा और बेईमानीके कारण हिन्दू और मुसलमान दोनों ही अंग्रेजोंको उन बड़े कुत्तोंसे भी अधिक जंगली व भयानक समझते थे जिन्हें अंग्रेज रखवालीके लिए अपने साथ लाये थे। वे अपने बापको भी धोखा दे सकते थे और उसी तत्परतासे बन्दूकें चला सकते थे जिस प्रकार वे माल या रुपया लूट सकते थे[1]।" एक दूसरे स्थानपर वही लेखक कहता है—"परन्तु टेरीके अनुसार ईसाई धर्मको भारतके लोग बहुत ओछा समझते थे।" टेरीने यह भी स्वीकार किया है कि "भारतीय स्वयं बहुत ईमानदार और वादेके पक्के होते हैं। अगर किसी वस्तुके लिए दूकानदार द्वारा बतायी हुई कीमतसे बहुत कम दामपर देनेको कहा जाता तो अक्सर वे जवाब देते—क्या हमें ईसाई समझ लिया है जो तुम्हें धोखा देंगे।"

बंगालमें जहाँ अंग्रेजोंने अपना एक कारखाना खोल दिया था, व्यापार बहुत ही लाभदायक था। कम्पनी सिर्फ बंगालके लाभसे बम्बई, मद्रास तथा अन्य कारखानों व किलेबन्दीका खर्च पूरा कर लेती थी। इसी समय औरंगजेबकी शक्तिशाली सत्ता कम्पनीके रास्तेका रोड़ा बन गयी। उस समय शोरा, कच्चा रेशम, अफीम और ढाकेकी मलमल ही व्यापारकी मुख्य वस्तुएँ थीं। "यह मलमल इतनी बारीक और बढ़िया बनती थी कि हाथकी अँगूठीके बीचसे एक पूरा थान निकाला जा सकता था। सभी सुन्दरियोंकी यह अभिलाषा होती थी कि उनके विवाहकी पोशाक इस हल्के मलमलकी बनी हुई हो।" औरंगजेबने, जो राजनीतिक कारणोंसे अन्य मुस्लिम देशोंसे मित्रता बनाये रखना चाहता था, शोरेका व्यापार इसलिए रोक दिया कि यही शोरा युद्धोंमें मुसलमानोंके विरुद्ध इस्तेमाल किया जाता

---

१. रेवरेण्ड फिलिप ऐण्डरसन—दि इंगलिश इन वेस्टर्न इण्डिया, पृ० ८९

था। सम्राटका यह कार्य कोई अनोखा न था; पर अंग्रेज अपनी शक्ति और महत्त्वके घमण्डमें फूले हुए थे, अतः उन्होंने इस आदेशके विरुद्ध झगड़ा करनेकी ठान ली।

उनको क्रुद्ध करनेकी एक बात और हो गयी। कम्पनीको व्यापारिक रिआयतें उदार शाहजहाँने एक भावुकतापूर्ण अवसरपर दे डाली थीं। ये रियायतें भारतीय व्यापारियोंके लिए तथा राज्यकी करवसूलीमें अत्यन्त हानिकर सिद्ध हो रही थीं। कोई भी इस प्रकारकी रिआयत सदैवके लिए नहीं दी जा सकती। औरंगजेबके जमानेमें शाइस्ताखाँने, जो उन दिनों बंगालका सूबेदार था, कम्पनीके मालपर एक नया कर लगा दिया।

अंग्रेज क्रोधसे भर गये। उन्होंने खोयी हुई रिआयतोंको अपनी सैनिक शक्तिके जोरसे फिर प्राप्त करनेका इरादा किया। उनके पास आधुनिकतम हथियार थे, जिन्हें वे शिक्षित सिपाहियों सहित मराठों तथा औरंगजेब तकको दिया करते थे। मौका अच्छा था, क्योंकि उस समय औरंगजेबकी फौजें युद्धके अन्य मैदानोंमें फँसी हुई थीं। इसीसे अंग्रेजोंने बंगालपर हमला करनेकी हिम्मत की।

सर जोसियाह चाइल्डको जो कम्पनीके डाइरेक्टरोंके अध्यक्ष थे, कम्पनीके घाटेकी रिपोर्ट भेजी गयी। उन्होंने इंगलैण्डके सम्राट्की आज्ञासे मुगल फौजपर हमला करनेका आदेश दे दिया। तुरन्त ही "यथासम्भव सबसे बड़ा लड़ाकू बेड़ा जमा करके भारत रवाना कर दिया गया। यह बेड़ा ब्रिटेनसे पूर्व आनेवाले बेड़ोंमें सबसे बड़ा था। बेड़ेकी कमान एडमिरल निकलसनको दी गयी। बेड़ेमें १२ सामरिक जहाज, २०० तोपें और ६०० सैनिक थे। ४०० सैनिकोंकी एक टुकड़ी उन्हें मद्राससे मिलनेवाली थी। निकलसनको आदेश था कि वह फौरन घेरा डालकर चटगाँवको जीत ले और फिर आस-पासकी भूमिपर कब्जा हासिल करे। जमींदारोंको बहला-फुसला ले, एक टकसाल चालू करे और अराकानके राजाके साथ सन्धि कर ले, अर्थात् संक्षेपमें इसका अर्थ यह हुआ कि निकलसन वहाँ अंग्रेजी राज्य स्थापित करे।"[१]

चाइल्डने यह भी आदेश दिया था कि चटगाँवके घेरेके अतिरिक्त मक्का जानेवाले जहाज भी पकड़ लिये जायँ। चाइल्डने सोचा कि औरंगजेब तंग होकर समझौतेके लिए बाध्य हो जायगा। उसका ख्याल था कि अति धार्मिक होनेके कारण सम्राट् मक्काका रास्ता बन्द होनेसे घबड़ा जायगा। परन्तु "सर जोसियाह चाइल्ड औरंगजेबकी चालाकी और योग्यताका ठीक अन्दाज न लगा पाया। उस तीक्ष्ण बुद्धिवाले सम्राट्के जासूस सब ओर फैले हुए थे। कभी-कभी तो वह अनेक घटनाओंका आभास इतना सही और पूर्ण रूपसे लगा लेता था कि लोग सोचने लगते थे कि शायद सम्राट्का किसी दैवीशक्तिपर अधिकार जरूर है।"[२]

ज्योंही अंग्रेजी जहाजोंने मुगली जहाजोंको पकड़ना शुरू किया, औरंगजेबने सूरतके कारखानेके कर्मचारियोंको पकड़वा लिया और धमकी दी कि यदि मुगली जहाज छोड़े न जायँगे और साथ ही एक बड़ी रकम हरजानेके रूपमें न दी जायगी तो सब कर्मचारियोंको मौतके घाट उतार दिया जायगा। अंग्रेजोंके सामने झुकनेके सिवा कोई चारा न रहा।

ऐडमिरल निकलसन तो अपने उद्देश्यमें असफल रहा, परन्तु अपनी महत्त्वाकांक्षा

---

१. मार्शमैन, हिस्ट्री आव इण्डिया, जिल्द १, पृ० २११

२. जे. टालबॉयज व्हीलर, इण्डिया अण्डर ब्रिटिश रूल, पृ० २६

पूरी करनेके लिए दृढ़प्रतिज्ञ डाइरेक्टरोंने कप्तान हीथके नेतृत्वमें नयी कुमक भेजी। हीथने आते ही हुगली कारखानेके संचालक जॉब चारनॉक और सभी कर्मचारियोंको व्यापारिक माल सहित हटा लिया और फिर तमाम मुगल जहाजोंको पकड़कर उनपर अधिकार कर लिया। हुगली नदीके मुहानेपरके एक नगरपर गोलाबारी की। शाइस्ता खाँ घबड़ाया; जलयुद्धका उसे बिलकुल अनुभव न था। उसने डरकर समझौतेकी शर्तें अंग्रेजोंके सामने पेश कर दीं। अंग्रेजी बेड़ा तब अराकानकी ओर बढ़ा और उसने वहाँके राजाको हराया; किन्तु अन्तमें अंग्रेजी बेड़ा हार गया और अंग्रेजोंको मुगलोंके सभी जहाज वापस करने पड़े। उन्हें एक बड़ी रकम हरजानेके रूपमें भरनी पड़ी।

अचम्भेकी बात है कि सूरत और हुगलीकी हारके बाद ही अंग्रेजोंने बंगालमें दृढ़ताके साथ अपनी नींव डाली। अंग्रेजों द्वारा भविष्यमें शान्तिपूर्वक रहने और सभ्य व्यवहारकी प्रतिज्ञा करने पर उन्हें हुगली नदीके किनारे जमीनकी एक पट्टी खरीदनेकी इजाजत दे दी गयी। धरतीका यह टुकड़ा तीन मील लम्बा था और उसमें तीन गाँव भी थे। यही स्थान बादमें कलकत्तेके रूपमें विकसित हुआ और यहाँ एक किला बना लिया गया।

तत्कालीन इतिहासकी एक बड़ी भारी भूल यह हुई कि औरंगजेबने अंग्रेजी हमलेको नगण्य समझकर उसकी उपेक्षा की। उसको यह विश्वास ही न होता था कि अंग्रेजी व्यापारी किसी समय मुगल साम्राज्यके लिए वास्तविक खतरा बन सकते हैं। जब कभी अंग्रेजी षडयन्त्रों और उनके बुरे इरादोंकी उसके सामने शिकायत की जाती तो वह घृणात्मक हँसी हँसकर उसे टाल देता था। जब उसे यह समाचार दिया गया कि अंग्रेज व्यापारी हुगलीके किनारे खरीदे हुए अपनी तीन गाँवोंकी किलेबन्दी कर रहे हैं तो उसने हँसकर कहा "संभव है मेरे भारतीय प्रजाजन उनसे झगड़ते हों। वे व्यापारी जो अपनी मातृभूमिसे इतनी दूर अकेले पड़े हैं क्यों न अपनी रक्षाका प्रबन्ध करें। मैं कोई भी हस्तक्षेप न करूँगा।"

इस खतरनाक आत्म-विश्वासने वह बीज बो दिया जो कालान्तरमें अंग्रेजी साम्राज्यके एक विशाल वृक्षके रूपमें विकसित हुआ।

औरंगजेबको अपनी शक्तिपर बड़ा विश्वास था किन्तु उसकी धार्मिक असहिष्णुता एवं हठधर्मीका यह परिणाम हुआ कि अपने-अपने इलाकोंमें राजपूत, जाट, मरहठे व सिख बादशाहतके खिलाफ उठ खड़े हुए और औरंगजेब जिन्दगी भर लगातार उनसे लड़नेमें फँसा रहा।

दक्षिणमें शिवाजीकी शक्ति बढ़ती गयी। उन्होंने पूरे २० वर्षतक औरंगजेबको हैरान रखा। शिवाजीके विरोधी इतिहासकार खफी खाँ के अनुसार "शिवाजीने अपने राज्यमें अपनी प्रजाकी इज्जत और मान बनाये रखनेका सदैव प्रयत्न किया, और अपने हाथ पड़े मुसलमान-स्त्रियों, बच्चोंकी इज्जतकी सदा रक्षा की। इस सम्बन्धमें उसके आदेश बड़े कड़े थे, और जब कभी किसीने उन आदेशोंकी अवज्ञा की, शिवाजीने उसे कड़ा दण्ड दिया।

उसने यह नियम बना लिया था कि युद्ध-कालमें जब उसके सिपाही लूट मार करें तो मस्जिद, पवित्र कुरान और धार्मिक पुस्तकों और स्त्रियोंकी कोई हानि या अपमान न करें। जब कभी पवित्र कुरानकी कोई प्रति उसके हाथ पड़ती, वह उसे श्रद्धा और सम्मानसे रख देता और अपने किसी मुसलमान अनुयायीको दे देता।"

शिवाजीने कर लगानेकी प्रणालीको नियमित रूप दिया। मालगुजारी किसी अटकल-पर न लगाकर हर फसलकी उपजके अनुपातमें लगायी जाती थी। भूमिका वर्गीकरण किया जाता था, और लगान हर फ़सलके बाद नियत किया जाता था।

औरंगजेबके कालमें ही मुगलोंके प्रति सिखोंकी घृणा भी पराकाष्ठापर पहुँच गयी। गुरु तेगबहादुरको, जिन्होंने शाही फौजसे मुठभेड़ ली थी, पकड़कर दिल्ली लाया गया। उनसे कहा गया कि उनकी सजा धर्म-परिवर्तन या मौत है, वे इन दोनोंमेंसे एक चुन लें। उन्होंने मृत्यु अधिक श्रेयस्कर समझी। इस गुरुके बलिदानने सिखोंको मुगलोंके खिलाफ सैनिक ढंगसे संघटित होनेके लिए प्रेरित किया। गुरु गोविन्दसिंहने जो तेगबहादुरके पुत्र और उत्तराधिकारी थे, इसका जिम्मा लिया और एक इलाका जीत लिया। अबतकके सीधे-सादे धार्मिक सिख अब लड़ाकू हो गये और मुगलोंके लिए काँटा बन गये।

औरंगजेबके कठमुल्ले दरबारियोंको छोड़कर कोई भी उससे प्रसन्न नहीं था। उसने अपने पिताको कैदमें डाला और अपने लड़कोंको भी विद्रोहके अभियोगमें जेलमें बन्द कर दिया। वह शिया मुसलमानोंसे हिन्दुओंसे भी अधिक घृणा करता था, यद्यपि शिया फिरकेके मुसलमानोंमेंसे ही उसे योग्यतम उच्चाधिकारी और बहादुर सेनापति मिले थे।

लेकिन फिर भी औरंगजेबको अपनी फौज और शासकीय विभागोंमें हिन्दू, शिया तथा गैरमुस्लिम रखने पड़ते थे। वह उन लोगोंका विश्वास सुन्नी अफसरोंकी भाँति ही करता था। इसका सबूत यह है कि कभी-कभी ऐसी फौजका सेनापति भी हिन्दू ही होता था, जो किसी हिन्दू राज्यपर धावा करने जाती थी। इसका सबसे अच्छा उदाहरण दक्षिणके एक युद्धसे मिलता है। औरंगजेबका पुत्र मुअज्जम दक्षिणकी फौजका, जो शिवाजीके इलाकेपर हमला करनेके लिए भेजी गयी थी, सेनापति था। मुअज्जम असफल रहा। तब औरंगजेबने उसे हटाकर जयसिंहको सेनापति नियुक्त किया। जयसिंह शाहके प्रति अपनी निष्ठा दिखानेमें एक उचित सीमाको भी लाँघ गया। उसने शिवाजीके अफसरोंको बहुत सी स्वर्ण मुद्राओंका लालच देकर फोड़नेकी कोशिश की। पर वह इस कार्यमें बुरी तरह असफल रहा। दोके सिवा सोनेके लोभमें कोई भी न आया, और ये दो भी मराठे नहीं थे।

यद्यपि औरंगजेबके जमानेमें प्रथम बार हिन्दुओंने बहैसियत हिन्दूके अपना संघटन शुरू किया, पर मिली-जुली सेनाओंकी प्रथा जारी रही। शिवाजीकी सेना और कार्यालयोंमें मुसलमान भी थे, और इसी प्रकार औरंगजेबकी सेना और कार्यालयोंमें हिन्दू भी थे। इस विशाल देशके विभिन्न क्षेत्रोंमें, लगभग प्रत्येक गाँव और प्रत्येक नगरमें, हिन्दू और मुसलमान पड़ोसियोंकी भाँति शताब्दियोंसे प्रेमपूर्वक रहते आ रहे थे। कुछ हिन्दू-विरोधी मुस्लिम शासकोंकी नीति दोनों सम्प्रदायोंके बीच कोई भेदभाव नहीं पैदा कर सकी। हिन्दू व मुस्लिम जनताने दर्जनों अच्छे और बुरे शासक गद्दीपर बैठते और हटते देखे थे, और अनुभव-से समझ लिया था कि किसी मुस्लिम शासकको हिन्दू-विरोधी नीतिसे मुस्लिम जनताका कोई लाभ नहीं होता।

लगातार विद्रोह, क्रांति, युद्ध और हिन्दू राष्ट्रीयताके उदय होनेके बावजूद औरंगजेब साम्राज्यके ढाँचेको कायम रखनेमें समर्थ रहा। "वह दुर्गुणों, काहिली और ऐशो-आरामसे अपनेको दूर रखता था। उसकी बुद्धि-प्रखरता अद्वितीय थी। वह राज-काज उतनी ही लगन और उत्साहसे करता था जितनी साधारण व्यक्ति ऐश करनेमें बर्तते हैं। कोई भी साधारण

अहलकार सार्वजनिक कार्योंमें, उसके समान परिश्रम नहीं कर सकता था और न उतनी तवज्जहसे काम कर सकता था। उसका धैर्य और सहनशक्ति उतनी ही बढ़ी-चढ़ी थी जितनी उसकी अनुशासन-प्रियता। उसका संयम संतों जैसा था। फौजी मार्च या युद्धकी कठिनाइयोंका वह एक अति अनुभवी प्यादेकी भाँति चुपचाप मुकाबला करता था। कोई भय उसे निरुत्साह नहीं कर सकता था, न कोई दया या दुर्बलता उसके हृदयको पिघला सकती थी। धार्मिक और नैतिक पुस्तकोंके अध्ययनसे जो ज्ञान अर्जित किया जा सकता है उसका वह सम्पूर्ण अधिकारी था।"[१]

औरंगजेब अपने समयका एक महान् सुधारक था। जनसाधारणका नैतिक स्तर ऊँचा उठानेके लिए उसने अनेक कानून और नियम जारी किये थे। उसने तमाखू, भंग और शराबका उत्पादन, बिक्री और प्रयोग कानून द्वारा बन्द करवा दिये। वेश्याओं और नर्तकियोंको शादी कर गृहस्थ बननेकी या देश छोड़ देनेकी आज्ञा दी। अश्लील गानोंका गाना जुर्म घोषित कर दिया। हिन्दुओंमें प्रचलित सती प्रथापर रोक लगा दी।

परन्तु ऐसे सुधारक बादशाहके ५० वर्षके राज्यकालका परिणाम असफलता और अराजकता हुआ। उसके जीवनकालमें ही साम्राज्यके ढाँचेमें दीमक लग गयी, और वह भरभराकर गिर पड़नेकी स्थितिपर पहुँच गया। यह दृढ़ पुरुष जो भय और दण्डके जोरसे सूबेदारों व अन्य अफसरोंसे अनुशासन और सम्मान हासिल करता था, १७०७ में इस संसारसे उठ गया। अब प्रांतीय सूबेदार लोग एक-एक करके अपनेको दिल्ली-शासनसे स्वतन्त्र घोषित करने लगे, और उनकी इस नीतिने साम्राज्यका विनाश आसान कर दिया। एक बार फिर इतिहासने भारतको उसी राजनीतिक अराजकतामें देखा जो तुगलक साम्राज्यके भंग होनेके बाद बाबरके हमलेके समय पैदा हो गयी थी।

औरंगजेबके बाद मुगल खानदानमें कोई ऐसा योग्य बादशाह न हुआ जो साम्राज्यके छिन्न-भिन्न टुकड़ोंको फिरसे एकत्र कर सकता। लगभग ३० वर्षमें ही मुगल सम्राट् केवल दिल्लीके आस-पासकी भूमिका ही शासक रह गया।

औरंगजेबके उत्तराधिकारियोंमेंसे कुछमें उसका हिन्दू-विरोध पाया जाता है। परन्तु शासकोंकी मनोवृत्तिका हिन्दू-मुसलमानोंके आपसी सम्बन्धपर कभी कोई प्रभाव न पड़ा। इस समय ब्रिटिश शासनकाल जैसे दंगे कभी नहीं हुए। मुसलमानोंके दो वर्गोंमें एक हिन्दूके ऊपर एक बार दंगा अवश्य हो गया था। वह इस प्रकार हुआ—

"८ मार्च, १७२९ की शामको मुंशी शुभकरण, जो दरबारके जौहरी थे, अपने घर जा रहे थे। उनके रास्तेमें जूते बेचनेवालोंकी दूकानें पड़ती थीं। ये लोग सब पंजाबी कट्टर मुसलमान थे। उस समय वहाँ, मौसमकी प्रथाके अनुसार, हिन्दू मुसलमान सभी पटाखे छोड़ रहे थे। पटाखेकी एक चिनगारी जौहरीकी पालकीमें जा गिरी और उससे शुभकरणकी दरबारी पोशाकमें छेद हो गया। इसपर पालकीकी बगलमें चलनेवाले सिपाहियोंने विरोध किया; बात बढ़ी और उनमें और जूतेवालोंमें झगड़ा हो गया। सिपाहियोंके पास हथियार थे, और जूतेवाले अपने डंडोंसे लड़ रहे थे। पर क्योंकि जूतेवालोंकी संख्या बहुत अधिक थी, उन्होंने एक सिपाहीको पकड़कर उसकी ढाल-तलवार छीन ली। क्षुब्ध शुभकरणने घर पहुँच अपने आदमियोंको जूतेवालोंसे बदला लेनेके लिए भेजा। शामको सिपाही अपने मित्रोंको

१. यदुनाथ सरकार, हिस्टरी आव औरंगजेब भाग १, भूमिका, पृष्ठ १४

साथ लेकर जूतेवालोंके मोहल्लेमें पहुँच गया। इन लोगोंने जाते ही एक लड़केको पीटना शुरू कर दिया और इतना मारा कि वह मरणासन्न हो गया। वहाँके लोग इस लड़केको मुंशीके घर ले गये। मुंशी घबड़ा गया और उसने शाही खानसामा, शेर अफगन खाँ पानीपतीके महलमें जाकर शरण ली, जो रुतबेमें उससे बड़ा था। उसके बाद एक भीड़ बादशाहके पास गयी और न्यायकी माँग की। बादशाहने अपराधीको गिरफ्तार करनेकी आज्ञा दी, पर शेर अफगनने आज्ञापालन करनेसे इनकार कर दिया। फिर शुक्रवारके दिन मसजिदमें भीड़ इकट्ठी हुई। शान्ति बनाये रखनेके लिए वजीरको घटनास्थलपर भेजा गया। शेर अफगन भी अपने अफगान साथियोंके साथ वहाँ पहुँच गया। भीड़ काफी उत्तेजित हो चुकी थी। एक दूसरेपर हमला शुरू हो गया, बहुतसे व्यक्ति घायल हुए।"[1] परन्तु इस झगड़ेमें किसी हिन्दूका बाल बाँका न हुआ।

जब दिल्ली-दरबार षड्यंत्रोंमें व्यस्त था, पंजाबमें सिख और दक्षिणमें मराठे अपनी-अपनी शक्ति संघटित कर रहे थे। शिवाजीसे मिली राष्ट्रीयताकी भावना एवं सैनिक संघटनके कारण मराठे एक प्रबल शक्ति बनते जा रहे थे। कुछ समयतक तो ऐसा लगा कि मुगल विजेताओंका सूर्य अस्त होकर उसकी जगह मराठा भाग्य-सूर्य उदय होनेवाला है। वे प्रायः समस्त भारतमें, तंजौरसे बंगाल और दिल्लीतक हर सूबेदार व राजासे चौथ वसूल करते थे। मुगल सूबेदार जो अपनी स्वतंत्रता घोषित कर चुके थे, मराठोंसे बहुत डरते थे।

मुगल राज्यके पतनके समय अंग्रेजी व फ्रांसीसी कम्पनियोंकी स्थिति एक-सी ही थी। बंगालमें फ्रांसीसियोंके पास चन्द्रनगर था और अंग्रेजोंके पास कलकत्ता। कर्नाटकमें फ्रांसीसियोंके पास पांडिचेरी था और अंग्रेजोंके पास मद्रास। पश्चिमी घाटपर अंग्रेजोंका व्यापारिक केन्द्र बम्बई था और फ्रांसीसियोंका माही। अंग्रेजोंकी शक्ति व वैभवका आरम्भ हुआ दक्षिणसे, और वह अपनी पूर्णावस्थाको पहुँचा बंगालमें। दक्षिणमें उस समय वही दृश्य उपस्थित हो गया था जो बहुधा दिल्लीमें देखनेको मिलता था अर्थात् आपसी झगड़े और खूनखराबी।

सन् १७१७ में मध्य भारतके दक्षिणी भागका एक बड़ा इलाका दिल्ली सम्राट्ने एक गवर्नरके मातहत, जो 'निजामुल मुल्क' कहलाता था, कर दिया था। दिल्ली दरबार-की दुर्बलताका लाभ उठाकर निजामने प्रायः समस्त दक्षिणी भारत अपने कब्जेमें कर लिया, और सूबेदारकी जगह स्वतन्त्र शासक बन बैठा। कर्नाटकका नवाब उसके मातहत था। इस निजामने प्रायः ३१ वर्ष राज्य किया और उसका शासन पुराने सशक्त मुगलोंकी तरह अत्यंत संघटित था। उसकी मृत्यु (१७४८) के पश्चात् दक्षिणमें अराजकता फैल गयी। अंग्रेज तथा फ्राँसीसी अलग अलग राजाओंका पक्ष लेकर झगड़ोंमें सम्मिलित हो गये। असलमें इन विदेशियोंने अपनी स्वार्थसिद्धिके लिए झगड़ेकी आग और भड़का दी। यूरोपमें ब्रिटेन-फ्रांस युद्धके कारण भारतमें भी दोनों जातियाँ, एक दूसरेको निकालकर अपना प्रभुत्व जमानेके लिए, लड़ने लगीं। कुछ समय बाद यूरोपमें शान्ति हो गयी, तब अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियोंमें भारतमें भी सन्धि हो गयी और उन्होंने एक दूसरेके जीते हुए स्थान वापस कर दिये।

इतिहासकार राबर्ट ऑर्मके अनुसार अंग्रेज भलीभाँति जानते थे कि भारत राजनीतिक हलचल और अरक्षित दशामें पड़ा हुआ है। वे अपनी शक्ति, कूटनीति और तिकड़मका

१. विलियम इरविन, लैटर मुगल्स, भाग २, पृ० २५७-२५८

वल समझते थे। इसलिए वे स्थानीय चुंगीके नियमों आदिकी परवाह न करते और मनमाने ढंगसे व्यापारिक व्यवहार करते थे। किसी राजा या नवाबकी परवाह न करते थे।

सन् १७५६में १९ वर्षीय युवक सिराजुद्दौला अपने नाना अलीवर्दीखाँकी मृत्युके पश्चात् बंगालकी गद्दीपर बैठा। मुगल साम्राज्यके पतनके कालमें बंगालका सूबेदार, बंगाल, बिहार और उड़ीसाका स्वतन्त्र शासक बन बैठा था। "बंगालका सूबा उन दिनों संसारके सबसे अधिक उपजाऊ सूबोंमें समझा जाता था। इसकी भूमि मिस्रसे भी अधिक उपजाऊ मानी जाती थी।"[1]

सिराजुद्दौलाने बंगालमें अंग्रेजी इलाकोंपर हमला बोलनेका विचार किया। वह मुख्यतया तीन कारणोंसे हमलेके लिए प्रेरित हुआ। (१) देशके निर्धारित नियमोंके विरुद्ध अंग्रेजोंने नवाबके इलाकेमें बड़ी मजबूत किलेबन्दी की है; (२) उन्होंने दस्तकके अधिकारका दुरुपयोग किया है—उन्होंने ऐसे लोगोंको दस्तक देना शुरू कर दिया जो उसके हकदार नहीं हैं। इसके फलस्वरूप नवाबकी चुंगीकी आयमें काफी घाटा हो गया। (३) अंग्रेज ऐसे लोगोंको अपने यहाँ संरक्षण प्रदान करते हैं जो नवाबके नौकर थे और जो कुछ अभियोगोंके लिए अदालतके सामने पेश किये जानेवाले थे। कम्पनीने उनको वापस करनेसे इनकार कर दिया।

इन कारणोंसे सिराजुद्दौलाने अंग्रेजोंको निकाल देनेका बीड़ा उठाया, और जून १७५६में अंग्रेजी किलेपर हमला बोल दिया। अंग्रेजोंने बिना किसी मुकाबलेके आत्मसमर्पण कर दिया। कलकत्ता उनके हाथोंसे निकल गया और अंग्रेजी व्यापार प्रायः नष्ट हो जानेकी स्थितिपर पहुँच गया।

अब बंगालके इतिहासमें धोखा, जालसाजी, दमन और देशद्रोहका अध्याय आरम्भ हुआ; इन्हीं चार "साधनों" की सहायतासे भारतमें अंग्रेजी राज्यकी नींव पड़नेवाली थी। सिराजुद्दौला द्वारा पराजित होनेके पश्चात् अंग्रेजोंने फुल्टा नामक स्थानमें जाकर शरण ली। उन्होंने सिराजुद्दौलासे प्रार्थना की कि उन्हें उस स्थानमें कुछ दिनोंतक रहने दिया जाय और वादा किया कि जब समुद्री यात्राके लिए मौसम ठीक हो जायगा तो वे तुरन्त मद्रास चले जायँगे। इस बहाने उन्होंने गड़बड़ी करनेके लिए समय हासिल कर लिया। उन्होंने मद्रासमें कम्पनीके उच्च अधिकारियोंके पास अपनी पराजय और वर्तमान स्थितिकी सूचना भेज दी। मद्रासके अधिकारियोंने ९०० यूरोपीय और १५०० भारतीय सिपाहियोंकी फौज राबर्ट क्लाइव और वाटसनके नेतृत्वमें बंगाल भेज दी। यह छोटी-सी फौजी टुकड़ी सिराजुद्दौलाकी ५०,००० मजबूत सिपाहियोंकी सेनाके सामने कुछ भी नहीं थी। इस समय फ्रांस और इङ्गलैण्डमें पुनः युद्ध शुरू हो गया था और भारतमें भी इसकी प्रतिक्रिया होनेकी आशंका थी। परन्तु कुछ भी हो भारतमें अंग्रेजी व्यापार और प्रतिष्ठा फिरसे कायम करना लाजमी था और यह काम बिना धूर्ततापूर्ण तरीकोंके सम्भव नहीं था।

सिराजुद्दौलाने एक हिन्दू राजा मानिकचन्दको कलकत्तेका कब्जा दे दिया था। मालूम होता है कि सिराजुद्दौला जिम्मेदारीके लिए हिन्दुओंपर अधिक विश्वास रखता था। जब पुर्नियाके नवाब शौकतजंगने उसके विरुद्ध विद्रोह किया तो सिराजुद्दौलाने नवाबी पदके लिए एक हिन्दू युगलकिशोरको नियुक्त किया।

---

१. रैमजे म्योर, दि मेकिंग आव ब्रिटिश इण्डिया (१९२३) पृ० २९

क्लाइव अपनी फौजके साथ २२ दिसम्बर, १७५६ को हुगली नदीके दहानेपर आ पहुँचा और उसने शीघ्र ही नवावकी एक विशाल सेनाको हराकर कलकत्ता फिरसे जीत लिया। रेवरेन्ड लांगकी पुस्तक, "सिलेक्शन फ्रॉम दि गवर्नमेंट रेकार्ड्स" के अनुसार अंग्रेजोंने मानिकचन्दको खरीद लिया था। कुछ वर्षों बाद जब कम्पनीने मानिकचन्दके पुत्रको एक अच्छी जगहपर नियुक्त किया तो सिफारिशमें यह कहा गया कि मानिकचन्दने पिछले ३० वर्षोंमें कम्पनीकी बहुत सहायता की है।

सिराजुद्दौला सन्धिकी शर्तें तय करनेके लिए ४ फरवरी १७५७ को कुछ संरक्षक और एक छोटी-सी फौजी टुकड़ीके साथ कलकत्ता पहुँचा। उसके साथ उसका सेनापति मीर जाफर भी था जो अपने दिलमें स्वयं नवाब बननेकी कामना छिपाये हुए था। कलकत्ता पहुँचने पर सिराजुद्दौलाको अपने कुछ मुख्य अफसरों, विशेषकर मीर जाफरमें, शत्रुभावके चिह्न दिखाई पड़े। उसे मीर जाफरका वर्ताव बहुत आश्चर्यजनक लगा[1]।" अंग्रेजी अधिकारियोंने नवाबके मुख्य अफसरोंकी साजिशसे उसकी फौजको अचानक रातमें घेरनेकी और नवाबको गिरफ्तार कर लेनेकी योजना बना ली थी। परन्तु नवाबको इन साजिशोंका कुछ भास हो गया और अपने एक विश्वासपात्र समर्थककी सलाह मानकर वह चुपकेसे शिविरसे निकल भागा। अंग्रेजोंको इस बातका पता न लगा, और जब योजनाके अनुसार रातमें हमला हुआ तो नवाबका कहीं पता न चला। एक बार फिर सिराजुद्दौलाने फौज एकत्र करके अंग्रेजोंसे मुकाबलेकी सोची, पर उसके मुख्य सलाहकारोंने जो कम्पनीसे रिश्वत ले चुके थे, उसे अंग्रेजोंके साथ सन्धि करनेकी सलाह दी। जो सन्धि हुई उसकी दो शर्तें इस प्रकार थीं—(१) अंग्रेजी कम्पनीका सम्पूर्ण माल बिना किसी प्रकारकी चुंगी या अन्य करके मुक्तरूपसे बंगाल, बिहार व उड़ीसामें कहीं भी भेजा जा सकेगा। (२) कम्पनीको बिना किसी रोक-टोकके अपनी रक्षाके लिए कलकत्तेकी किलेबन्दी करनेका अधिकार होगा।

नवाबको यह शर्त भी स्वीकार करनी पड़ी कि उसके मुर्शिदाबाद-स्थित दरबारमें कम्पनीका रेजीडेण्ट रहा करेगा। वाट्स इस पदपर नियुक्त कर दिया गया। वाट्सका असल काम दरबारके आकांक्षी तथा असन्तुष्ट व्यक्तियोंको स्वयं उनके तथा कम्पनीके हितके लिए फोड़ना था।

अब क्लाइवपर संधिकी शर्तें न पूरी करनेका अभियोग लगाया गया। वाटसनने शिकायत की कि नवाब शर्तोंका पालन नहीं कर रहा है। परन्तु स्वयं क्लाइवने स्वीकार किया है कि "सिराजुद्दौलाने सन्धिकी प्रायः सभी शर्तें पूरी कीं।" असलमें अंग्रेज चाहते थे कि सिराजुद्दौला फ्रांसीसी उपनिवेश उनके हवाले कर दे। सिराजुद्दौलाने उत्तर दिया कि "यह काम मेरी प्रतिष्ठाके विरुद्ध है। मैं ऐसा न करूँगा।" इस उत्तरसे अंग्रेज क्रुद्ध हो गये।

इसी बीच एक ऐसी घटना हुई जिसके कारण सिराजुद्दौला मुसीबतमें फँस गया। उसे खबर मिली कि दिल्ली-सम्राट, बंगाल, बिहार व उड़ीसाको अपने प्रभुत्वमें लानेके लिए बंगालकी ओर बढ़ रहा है। भयभीत नवाबने कम्पनीसे सहायता माँगी। कम्पनीने सहायता देनेका तुरन्त वादा कर लिया—वादा पूरा करनेके लिए नहीं किया गया था। बंगालके नवाबपर काबू पा लेनेके बाद अंग्रेजोंकी बस एक परेशानी बाकी रह गयी—वह थी फ्रांसीसी प्रतिद्वन्द्वियोंको निकाल भगानेकी। क्लाइव और वाट्सन अब इसी दिशामें काम कर

१. स्क्रेफ्टन, रिफ्लेक्शन्स, पृ० ६६

रहे थे। वाट्सके सहकारी स्क्रैफटनके लेखानुसार, वाट्सने, मुर्शिदाबाद दरबारके अफसरोंको रिश्वत देकर एक जाली चिट्ठी तैयार की। उस चिट्ठीमें नवाबकी ओरसे लिखा गया कि अंग्रेजोंको फ्रांसीसी उपनिवेश चन्द्रनगरके विषयमें कोई भी काररवाई करनेकी पूरी आजादी है।[१] सिराजुद्दौलाको शाही हमलेके विरुद्ध सहायता देनेके बहाने अंग्रेजोंने चन्द्रनगर पर हमला कर दिया और उसे जीत लिया। चन्द्रनगरमें कुछ नवाबी फौज भी थी, जिसकी कमान नन्दकुमारके हाथमें थी। स्क्रैफटनका कहना है कि नन्दकुमारको भी रिश्वत दी गयी थी और इसीलिए उसने अपनी फौज चन्द्रनगरसे हटा ली थी।

अंग्रेजोंने चन्द्रनगर तो ले लिया, पर उन्हें सिराजुद्दौला बुरी तरह खटक रहा था; वे समझते थे कि सिराजुद्दौला अब भी उनके रास्तेमें बाधक होता है। वाट्सने सिराजुद्दौलाको हटानेकी तरकीब निकाल ली। उसने मीर जाफर (जो अंग्रेजोंसे मिला हुआ था) और एक पूँजीपति अमीचन्दका अपनी तरकीबको सफल बनानेके लिए प्रयोग किया। एक दिन वाट्स अचानक मुर्शिदाबाद दरबारसे गायब हो गया। इस अनोखी घटनाने सिराजुद्दौलाके दिलमें सन्देह पैदा कर दिया। उसने अपनी फौजको तैयारीका हुक्म दे दिया, और स्वयं मीर जाफरके पास जाकर वफादारी और प्रीतिभावके लिए प्रार्थना की। मीर जाफरने कुरान हाथमें लेकर कसम खायी कि मैं सदैव नवाबके प्रति वफादार रहूँगा। उसने इसी प्रकारकी कसम क्लाइवके प्रति खायी थी। सिराजुद्दौलाको अब मीर जाफरपर सन्देह न रह गया और उसने उसे उस फौजकी कमान सौंप दी जो अंग्रेजोंसे लड़नेके लिए तैयार की गयी थी। अंग्रेजी फौज चन्द्रनगरसे १३ जून १७५७ को रवाना हुई। लड़ाई शुरू हो गयी परन्तु ज्यों ही नवाबकी फौजें निर्णयात्मक हमला करने जा रही थीं, मीर जाफरने उन्हें लौट पड़नेका आदेश दे दिया। सिराजुद्दौला अब सब राज जान गया और अपनी जान बचाकर भाग गया।

२५ जून १७५७ को मीर जाफरने मुर्शिदाबादके शाही महलका कब्जा प्राप्त कर लिया। परन्तु क्लाइव नगरसे ६ मीलकी दूरीपर ही ठहरा रहा। वह नगरमें प्रवेश करते हुए डर रहा था। इसकी वजह उसने बादको पार्लमेण्टरी कमेटीके सामने गवाही देते हुए बतायी; "उस समय वहाँके निवासी दर्शकोंकी संख्या कई लाख थी; यदि वे चाहते तो डण्डों और पत्थरोंसे ही यूरोपीय लोगोंको खत्म कर सकते थे।"

जब लोग अपने-अपने काममें लग गये और वायुमण्डल शान्त हो गया तो क्लाइवने २०० यूरोपीय और ३०० भारतीय सिपाहियोंके साथ नगरमें प्रवेश किया। उसी दिन संध्या समय वह मीर जाफरसे मिला। मीर जाफर लिहाजके मारे गद्दीपर न बैठा, और तभी बैठा जब क्लाइवने स्वयं उसे बैठाया। तब क्लाइवने नये नवाबको सलाम किया।

खजानेका रुपया गिना गया—१ करोड़ ५० लाख था। मीर जाफरने अपनी सन्धिमें १ करोड़ ७० लाख रुपये कम्पनीको देनेका वादा किया जिसका आधा तुरन्त दे दिया, और शेष आधा तीन वार्षिक किश्तों द्वारा। ६ जुलाई १७५७ तक कम्पनीके डाइरेक्टरोंकी समितिको ७२,७१,६६६ नकद रुपये मिल गये। इस धनको ७०० बक्सोंमें बन्द कर नदी मार्ग द्वारा सिपाहियोंकी संरक्षतामें नदिया भेज दिया गया। इससे पहले कभी भी ब्रिटिश राष्ट्रको इतनी बड़ी रकम एक मुश्त नहीं मिली थी।[२]

---

१. रिफ्लेक्शन्स, पृ० ७०

२. ऑर्म्स हिस्टरी आव इन्दोस्तान, भाग २, पृ० १८७-८८

सन्धिकी निम्नलिखित शर्तोंसे स्पष्ट है कि नया नवाब कम्पनीके हाथकी कठपुतली बन गया —

(१) सिराजुद्दौलाने जो शर्तें स्वीकार की थीं, मैं उन सबका पालन करूँगा।

(२) अंग्रेजोंके दुश्मनोंको मैं अपना दुश्मन समझूँगा चाहे वे भारतीय हों या यूरोपीय।

(३) 'राष्ट्रोंके स्वर्ग' बंगालमें तथा बिहार और उड़ीसामें फ्रांसीसियोंका जो भी सामान और फैक्टरियाँ हैं वे अंग्रेजोंके कब्जेमें रहेंगी और इन सूबोंमें मैं फ्रांसीसियोंको कभी भी बसने न दूँगा।

(४) कलकत्ताकी विजय और लूटसे अंग्रेजी कम्पनीको जो भी हानि हुई और उसकी फौजपर जो खर्च हुआ उसके हरजानेके रूपमें मैं एक करोड़ रुपया दूँगा।

(५) कलकत्तेके अंग्रेज निवासियोंका जो सामान लूटा गया था उसकी क्षतिपूर्त्तिके लिए ५० लाख रुपया दूँगा।

(६) कलकत्तेकी हिन्दू, मुसलमान तथा अन्य प्रजाका जो सामान लूटा गया था उसकी क्षतिपूर्तिके लिए मैं २० लाख रुपया दूँगा।

(७) इसी प्रकार अमेरिकनोंके सामानके लिए मैं ७ लाख रुपया दूँगा।

इन रकमोंको वितरण करनेका पूरा अधिकार वाट्स, क्लाइव तथा कौंसिलके अन्य सदस्योंको होगा।

(८) कलकत्तेकी सीमाके चौतरफाकी खाईमें स्थित जमींदारोंकी भूमि तथा खाईके बाहर ६०० गज भूमि मैं कम्पनीको दूँगा।

(९) कलकत्तेके दक्षिणकी भूमि तथा कालपीतक सब भूमि कम्पनीकी जमींदारी हो जायगी, और उस इलाकेके सभी अफसर कम्पनीके मातहत होंगे। कम्पनी इन क्षेत्रोंसे जमींदारकी भाँति मालगुजारी वसूल करेगी।

(१०) जब कभी मुझे अंग्रेजी सहायताकी जरूरत होगी, मैं उसका खर्चा बरदाश्त करूँगा।

(११) ज्यों ही मैं तीनों सूबोंकी सरकारका कार्यभार संभाल लूँगा, उक्त वर्णित रकमें अदा कर दी जायँगी।

संधिमें दर्ज रकमोंके अलावा, मीर जाफरने गद्दीपर बैठनेके बाद कम्पनीके मुख्य नौकरोंको लम्बी लम्बी भेंटें भी दीं। सन् १७७२ की सिलेक्ट कमेटीने ऐसी रकमोंका अनुमान १२ लाख ५० हजार पौण्ड लगाया था जिसमेंसे अकेले क्लाइवको २ लाख ३४ हजार पौण्ड मिले थे। परन्तु ये ऐसी भेंटें थीं जिनका या तो "सबूत मिल गया या लेनेवालोंने मंजूर कर लिया था।" शायद इनके अलावा और भी रकमें प्राप्त की गयी होंगी। सन् १७५९ में कम्पनीने क्लाइवको सन्धिकी ९ वीं शर्तमें वर्णित चौबीस परगनेकी आय प्राप्त करनेका अधिकार दे दिया। मीर जाफरने ५ लाख रु० की एक और रकम उसको दी जिससे उसने अपंग सिपाहियोंके लिए एक कोष खोल दिया।

कहा जाता है कि कुछ समय बाद सिराजुद्दौला पकड़ा गया और मीरजाफरके पुत्रने, नवाबकी मंशाके विरुद्ध, उसे मौतके घाट उतार दिया।

दक्षिणमें फ्रांसीसी फिरसे अंग्रेजोंके मुकाबलेमें खड़े हो गये। उन्होंने दिसम्बर १७५८ में मद्रासपर घेरा डाल दिया और उसे १६ फरवरी १७५९ तक जारी रखा। आंग्ल-फ्रांसीसी

कशमकश १७६० तक चलती रही, लेकिन अन्तमें फ्रांसीसी हार गये। उनका मुख्य इलाका पाण्डिचेरी उनसे अंग्रेजोंने छीन लिया। यद्यपि यूरोपके सतवर्षीय युद्धके बाद पाण्डिचेरी और चन्द्रनगरके इलाके फ्रांसीसियोंको लौटा दिये गये, परन्तु उनका प्रभाव भारतमें खत्म हो गया।

इसी तरह अन्य यूरोपीय प्रतिद्वन्द्वी, डच लोगोंका भी प्रभाव क्लाइवने खत्म कर दिया। हुगलीमें डच लोगोंकी एक फैक्टरी थी। कहा जाता है कि मीर जाफरके आमन्त्रणपर वे कई युद्धके जहाजों और सात आठ सौ यूरोपीय सैनिकोंके साथ हुगलीमें प्रकट हुए। अंग्रेजोंने एक भारी फौजसे उनका मुकाबला किया और उन्हें हरा दिया। डचोंको इस युद्धका हरजाना देना पड़ा और उनकी फैक्टरी कायम रहने दी गयी। इस प्रकार अंग्रेजोंके प्रतिद्वन्द्वियोंकी कहानी समाप्त हुई और अंग्रेज भारतीय रंगमंचके निष्कण्टक मालिक हो गये।

मीर जाफर जब गद्दीपर बैठा तब बंगालका सूबा कम्पनीके कर्मचारियोंकी लूट और उनके करमुक्त व्यापारके कारण निर्धन हो चुका था। बेचारा मीर जाफर क्लाइवके जालका निस्सहाय शिकार हुआ था। "यदि संधिकी शर्तें नवाबसे जबरदस्ती पूरी न करायी जातीं, तो संधिमें दी हुई बड़ी बड़ी रकमें वसूल हो ही नहीं सकती थीं। हजारों हीले हवालोंसे यह साफ हो चुका था कि नवाबके पास यदि जरा भी शक्ति होती तो वह एक भी शर्त पूरी न करता[1]।" सेना मीर जाफरके काबूके बाहर हो रही थी क्योंकि उसके पास सेनाको वेतन देनेतकके लिए पैसा नहीं था। सरकारी व्ययके लिए रुपया एकत्र करनेके लिए उसे प्रजाका शोषण करना पड़ता था। सूबा अस्त-व्यस्त और अरक्षित दशामें था। नवाबके कुछ प्रमुख हाकिमोंको यह देखकर क्षोभ व दुःख होता था कि नवाब अंग्रेजोंकी कठपुतली बन गया है। ये लोग नवाबकी खोई हुई प्रतिष्ठा और शक्तिको पुनः प्राप्त करानेके लिए बहुत इच्छुक थे।

परन्तु तभी एक ऐसी घटना हुई जिससे क्लाइवको अपनी महत्ता और बढ़ानेका अवसर मिला। १७५८में मुगल शाहजादा अलीगौहरने जो दिल्ली दरबारमें बंगाल, बिहार और उड़ीसा तीनों सूबोंका युवराज माना जाता था (हालाँकि व्यावहारिक रूपमें उसका इन सूबोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं था) बिहारपर हमला कर दिया। यह हमला उसने नवाबको दबाकर उससे मालगुजारीका शाही हिस्सा वसूल करनेके अभिप्रायसे किया था।

मीर जाफर अपने पूर्वजोंकी भाँति इन सूबोंका स्वतन्त्र शासक था। वह इस हमलेसे भयभीत हो उठा। उसने कम्पनीसे भारतीय और अंग्रेजी सेनाकी सहायता माँगी। और क्लाइवकी ओरसे उसे तुरन्त सहायताका आश्वासन मिल गया। बंगाल, बिहार और उड़ीसासे मुगल युवराजको दूर रखनेमें स्वयं अंग्रेजोंकी भी भलाई थी। यदि मुगल प्रभुत्व हो जाता तो अंग्रेज इतने बड़े भूखण्डके मालिक बनकर नहीं रह सकते थे। इसलिए उन्होंने तुरन्त ही अपनी कूटनीतिक चालें और सेना-संचालन आरंभ कर दिया। उन्होंने मुगल युवराजसे गुप्त लिखा-पढ़ी शुरू की जिसका मीर जाफरको पतातक न चला। क्लाइवने युवराजसे वादा कर दिया कि भविष्यमें मालगुजारीका शाही हिस्सा उसे मिला करेगा। अंग्रेजोंके सैनिक प्रदर्शनसे अलीगौहर इतना प्रभावित और उनके व्यवहारसे इतना संतुष्ट हो गया कि वह हमलेका

१. हालवेलका १७६०का स्मृतिपत्र (वंसीटार्ट्स नैरेटिव आव दि ट्रांजेक्शन्स इन बेंगाल १७६०–६४) भाग १, पृ० ४६

इरादा छोड़कर अवध लौट गया। मुगल युवराजको जो इन सूबोंसे हाथ धो बैठा था, क्लाइवका यह वादा अति सुविधाजनक प्रतीत हुआ। क्लाइवकी इस नीति और चातुर्यने युवराजकी नजरोंमें अंग्रेजोंकी महत्ता, आवश्यकता और सैनिक शक्तिकी धाक जमा दी। ७ जनवरी १७५९ को क्लाइवने विलियम पिटको जो पत्र लिखा था उसके अनुसार मुगल युवराजने क्लाइवसे कहा था कि वह बंगाल, बिहार व उड़ीसाकी दीवानी कम्पनीको ही इस शर्तपर दे देगा कि कम्पनी मालगुजारीका एक निश्चित भाग सम्राटको देती रहेगी और बाकी आय सूबोंमें ही रोक लेगी। कम्पनीको इन सूबोंपर अपना प्रभुत्व जमानेका यह अनोखा सुअवसर मिला। अब कम्पनीको बाजाब्ता वह सब काम करनेका मौका मिला जो उसके अफसर वास्तवमें वहाँ पहलेसे ही कर रहे थे।

जब अंग्रेजोंने समझ लिया कि मीर जाफरको काफी निचोड़ा जा चुका है; अब वह उन्हें कुछ न देगा तब उन्होंने सोचा कि अब कोई नया नवाब गद्दीपर बैठाया जाय। उनकी नजर मीर जाफरके दामाद मीर कासिमपर पड़ी। उससे बातचीत की गयी और वह फौरन राजी हो गया। अंग्रेजों और मीर कासिममें एक गुप्त सन्धि हुई जिसके अनुसार प्रकटमें मीर जाफर ही नवाब रहे पर उसके सारे अधिकार मीर कासिमको दे दिये जायँ। जब मीर जाफरसे कहा गया कि वह मीर कासिमको अपना नायब बनाकर सारी शक्ति उसे सौंप दे तो उसने इनकार कर दिया। परन्तु उसके अस्वीकार करनेसे होता ही क्या; अंग्रेज तो अन्तिम निर्णय कर ही चुके थे। एक रातको अंग्रेज सिपाहियोंने मीर जाफरका महल घेर लिया। पहले तो मीर जाफरने सोचा कि उसे अंग्रेजोंका मुकाबला करना चाहिये, पर तुरन्त ही उसकी समझमें आ गया कि उसकी स्थिति ऐसी नहीं है कि वह सामना कर सके। उसने आत्म-समर्पण कर दिया और मीर कासिम नवाबी गद्दीपर आसीन हो गया। नये नवाबने दो लाख पौंड कम्पनीके प्रमुख अधिकारियोंको नकद दिये। यह धन कम्पनीकी कौंसिलके आठ सदस्योंने आपसमें बाँट लिया। इसके अलावा उसने बंगालके तीन जिले—बर्दवान, मिदनापुर और चिटगाँव कम्पनीको दे दिये।

परन्तु मीर कासिम और अंग्रेजोंकी मित्रता अधिक दिन नहीं चली। मीर जाफरके मुकाबलेमें मीर कासिम कहीं अधिक योग्य और दूरदर्शी शासक था। उसने शासनमें कुछ सुधार भी किया। परन्तु मीर कासिमको पूरा मौका ही नहीं दिया गया। शुरूसे ही कलकत्ता कौंसिलके अधिकतम सदस्य उसे शक और सन्देहकी दृष्टिसे देखते थे। उन्हें मीर कासिमका योग्य शासन खटकने लगा क्योंकि अब उन्हें लूटने खसोटनेका मौका कम मिलता था।[1]

सूबेमें अराजता फैल रही थी। मीर कासिम अंग्रेज गवर्नर वंसीटार्टका ध्यान बहुधा इस परिस्थितिकी ओर आकृष्ट करता था। उसका कहना था कि "कासिम बाजारसे पटना, ढाका व कलकत्तेतक पूरे इलाकेमें अंग्रेज अफसर और उनके गुमाश्ते बहैसियत तहसीलदार, जमींदार और ताल्लुकदारके काम करते हैं, कम्पनीका झंडा लगाते हैं, और उन्होंने मेरे अफसरोंको बिल्कुल शक्तिहीन कर दिया है। कोई पहले सोच भी नहीं सकता था कि कम्पनीके गुमाश्ते नवाबी अफसरोंको गिरफ्तारतक किया करेंगे।"[2]

वंसीटार्टको स्वयं भी इन उत्पातोंका ज्ञान था। वह अंग्रेज व्यापारियोंकी लूटपाट

१. रैमजे म्यूर, वही पुस्तक पृष्ठ ६७-६८

२. वही पुस्तक, पृष्ठ ६८

और अत्याचारोंको रोकना चाहता था। पर कौंसिलमें उसे अपने विरुद्ध बहुमतका भय था। इसलिए वह लाचार था।

स्वयं क्लाइवने, जब वह सन् १७६५ में दुबारा भारत आया, लिखा था—"ऐसी अव्यवस्था, अराजकता, गड़बड़ी, रिश्वतखोरी, लूटखसोट और आचारभ्रष्टता बंगालके अलावा किसी देशमें देखी-सुनी न गयी होगी, और न ऐसे अनुचित और लूटखसोटके उपायोंसे इतनी सम्पत्ति और धन जमा किया गया होगा। बंगाल, बिहार और उड़ीसाके तीन सूबे, जिनसे ३० लाख पौंडकी आय है, मीर जाफरके कालसे कम्पनीके नौकरोंके प्रभुत्वमें हैं। इन नौकरोंने (जिनमें सैनिक और नागरिक दोनों ही हैं) नवाबसे लेकर छोटे जमींदारोंतक सभीसे, जबरदस्ती रुपया ऐंठा है। कम्पनीके नौकरोंके कारनामे इतने पतित हैं कि हर हिन्दू व मुसलमान उनके नामतकसे नफरत करता है।"[१]

मीर कासिम मीर जाफरसे भिन्न था। वह अंग्रेजोंके प्रत्येक अन्यायके सामने झुकनेको तैयार न था। उसकी जिदपर कम्पनी अपने करहीन व्यापारमें कुछ नियमोंका पालन करनेके लिए तैयार हो गयी। उसने यह भी शर्त मान ली कि कुछ वस्तुओंपर कम्पनी भी ९ प्रतिशत कर देगी जब कि भारतीय २५ प्रतिशत कर देते थे। परन्तु इस समझौतेके बाद भी अंग्रेज व्यापारी नियमविरुद्ध काम करते थे और नियत किया हुआ कर नहीं देते थे। अन्तमें हारकर मीर कासिमने व्यापारको सब प्रकारके कर और चुंगीसे मुक्त कर दिया। इस आज्ञाके परिणामस्वरूप भारतीय व्यापारी भी अंग्रेजोंके समान करमुक्त व्यापार करने लगे। इस परिस्थितिके तीन परिणाम हुए—

(१) करमुक्तिके कारण भारतीय व्यापारी भी अंग्रेजोंसे प्रतियोगिता करने लगे—पहले करके कारण वे अपना माल अंग्रेजोंके समान सस्ता नहीं बेच सकते थे। (२) अंग्रेजी व्यापारको इससे बहुत धक्का लगा क्योंकि उनका एकाधिकार समाप्त हो गया। (३) नवाबकी आमदनी बहुत घट गयी।

इस न्याय और समताके कार्यने अंग्रेजोंको मीर कासिमका दुश्मन बना दिया और वे उसे भी गद्दीसे उतारनेकी साजिश करने लगे। नवाब उस समय बिहारमें था। अंग्रेजी सेनाओंने पटनापर हमला कर दिया। पहले हल्लेमें अंग्रेजोंकी करारी हार हुई और सैकड़ों सैनिक खेत रहे। वे हतोत्साह हो गये, पर भाग्यने उनकी मदद की।

मीर कासिमकी सेनामें एक अंग्रेज सिपाही था जो अंग्रेजी सेनाका ही भागा हुआ अपराधी था। एक रात वह चुपचाप अंग्रेजी सेनासे आ मिला। उसने नवाबके गुप्त इरादों और सैनिक कार्यक्रमोंका सब हाल अंग्रेजोंको बता दिया। फौरन ही अंग्रेजी सेनाको तैयारीका हुक्म दिया गया और रातमें ही उस दगाबाज अंग्रेज सिपाहीके बताये हुए तरीकोंसे नवाबकी सेनापर हमला कर दिया गया। मीर कासिम बेखबर था, उसे ऐसी स्थितिमें घेर लिया गया कि वह कुछ भी न कर सकता था। वह छिपकर अवधकी ओर भाग गया। अंग्रेजोंने अब योग्य मीर कासिमके मुकाबलेमें दब्बू मीर जाफरकी कीमत पहचानी और उसे फिर नवाब बना दिया। एक बार फिर मीर जाफरको जो कुछ भी अंग्रेजोंने माँगा देना पड़ा। उसने भारतीयोंपर फिर २५ प्रतिशत व्यापार-कर लगा दिया और अंग्रेजी व्यापार बिल्कुल करमुक्त कर दिया। अंग्रेजोंने नवाबसे ६७॥ लाख रुपया लड़ाईका हरजाना वसूल किया।

१. मैलकम, लाइफ आफ क्लाइव, भाग २, पृष्ठ ३७९

उसे ५ लाखकी एक और रकम उस घाटेकी पूर्तिके रूपमें देनी पड़ी जो अंग्रेज व्यापारियोंको भारतीय-व्यापारसे कर हटानेके फलस्वरूप हुआ था। कहा जाता है कि अंग्रेजोंने ५ लाख की जगह ५३ लाख वसूल किये! जनवरी, १७६५ में मीर जाफरकी मृत्यु हो गयी। कहते हैं कि "अंग्रेजोंकी बेजा माँगों और वसूलीके बेजा दबावने उसकी मौतको नजदीक ला दिया[1]।"

अठारहवीं शताब्दीके अन्तिम चरणमें उत्तर भारतमें कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटीं, उनका विवरण जाननेके लिए हमें पिछले इतिहासके पन्ने उलटने पड़ेंगे। मराठोंने अहमद शाह अब्दालीके अफसरोंसे पंजाब छीन लिया था और अब उनका आधिपत्य समस्त उत्तरी भारतमें दिल्ली तक फैल गया था। जब इस घटनाका समाचार अब्दालीको मिला तो उसने भारतपर फिर एक बड़ी सेना लेकर हमला किया। इसी समय भारतीय इतिहासका एक महत्त्वपूर्ण अध्याय लिखा गया। मराठोंने भारतकी बिखरी हुई शक्तियोंको (जिनमें हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे) शत्रुके विरुद्ध इकट्टा किया। भारतीय शासकोंकी नसोंमें देशभक्तिका अपूर्व उत्साह हिलोरें ले रहा था। पानीपतमें शत्रुसे दृढ़तापूर्वक लड़नेके लिए उन्होंने अपने आपको एक सूत्रमें संघटित किया। परन्तु जो एका मराठोंने स्थापित किया था, उन्होंने स्वयं ही उसे तोड़ दिया। दिल्लीका सिंहासन उस समय खाली था—मुगल बादशाह अवधमें अपनी रक्षाके लिए छिपा हुआ था। मराठोंके रंग-ढंगसे उनके अन्य साथियोंको सन्देह हो गया कि वे दिल्लीका राज्य हड़पना चाहते हैं। इस सन्देहका परिणाम भयंकर हुआ। मराठोंके कुछ मित्र राजे दूसरोंको अकेला छोड़कर मैदानसे चले गये। बाकी लोग अपनी शक्तिभर अब्दालीका मुकाबला करते रहे; किन्तु वे हार गये। फिर भी अब्दाली-की विजय उसके पुराने इलाकोंतक ही सीमित रही। १७६१ की इस पानीपतकी लड़ाई ने मराठोंका मुगलोंके उत्तराधिकारी बननेका स्वप्न छिन्न-भिन्न कर दिया। कुछ समयतक तो ऐसा लगा कि उत्तरी भारतसे मराठोंके पैर उखड़ गये, पर केवल थोड़े समयके लिए। दक्षिणमें वे अब भी बड़ी सैनिक शक्ति थे और अंग्रेज उनसे डरते थे। १८ वीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें भारतीय राजनीतिक रंगमंचपर तीन बड़ी शक्तियाँ थीं—मराठे, हैदरअली (बादमें उसका बेटा टीपू सुल्तान) और अंग्रेज। अंग्रेजोंके पास अपने प्रतियोगियोंको कमजोर करनेका एक ही तरीका था—भारतीय नरेशोंको एक दूसरेके विरुद्ध लड़ाकर स्वयं लाभ उठाना।

उधर मीर कासिमने अवधके नवाब शुजाउद्दौलाको सलाह दी कि वह दिल्ली सम्राटके नामसे बंगालके इलाकोंपर हमला करके उन्हें जीत ले। मराठोंने भी इस योजनाको पसन्द किया और शुजाउद्दौलाको मदद करनेका वचन दिया। शुजाउद्दौला मुगल सम्राट, मीर कासिम, और मराठोंको साथ लेकर बंगालकी ओर बढ़ा। सम्मिलित सेनाकी संख्या ५०,००० थी और उसके पास काफी मजबूत तोपोंकी एक बड़ी संख्या थी। अंग्रेजोंको अबतक जितनी सेनाओंका सामना करना पड़ा उन सबसे यह अधिक मजबूत थी।[2] अंग्रेजी सेनामें केवल १२०० यूरोपीय और ८००० भारतीय सिपाही थे। इसी समय अंग्रेजी सेनाके भारतीय सिपाहियोंने विद्रोह कर दिया, जिससे अंग्रेजी सेनापतिको एक बहुत बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ा। परन्तु उसने अत्यन्त निर्दयतापूर्वक उसका दमन किया। पूरी अंग्रेजी सेना

---

१. सर विलियम हन्टर, स्टेटिस्टिकल अकाउण्ट आव बंगाल, भाग ९, पृ० १९१।

२. ब्रिटिश रूल इन इण्डिया, पृ० ३९

शुजाउद्दौलाकी सम्मिलत सेनाके मुकाबलेमें कुछ भी नहीं थी और वह अंग्रेजोंको आसानीसे हरा सकती थी। परन्तु अंग्रेजोंके पाँचवे कालमने अवधकी सेनामें फूट डाल दी। प्लासीवाली चालाकियाँ यहाँ भी चली गयीं। उनका स्वाभाविक परिणाम अंग्रेजोंकी विजय हुई। मुगल सम्राट आतंकित हो गया। उसे सलाह दी गयी कि यदि वह अपना सिंहासन कायम रखना चाहता है तो अंग्रेजोंकी शरणमें आ जाय। भयभीत बादशाहने ऐसा ही किया। बक्सरकी यह लड़ाई अंग्रेजोंने १७६४ में जीती। शुजाउद्दौला और अंग्रेजोंकी संधि हो गयी जिसके अनुसार नवाबने अंग्रेजोंको ५० लाख रुपया युद्धके हरजानेमें दिये और इसके साथ ही गाजीपुर तथा उसके आस-पासका इलाका भी दे दिया।

बक्सर-युद्धके पश्चात् अंग्रेजों और बादशाहमें भी एक सन्धि हुई जिसके अनुसार सम्राट् शाहआलम द्वितीयने बंगाल, बिहार और उड़ीसाकी दीवानी कम्पनीको प्रदान कर दी और कम्पनीने सम्राट्को २६ लाख रुपयेकी वार्षिक पेन्शन देना स्वीकार किया। एक दूसरे शाही आदेश द्वारा सम्राट्ने बर्दवान तथा अन्य जिलोंपर कम्पनीका कब्जा मान लिया, और उन सभी जागीरोंके निमित्त जो कम्पनीने कर्नाटकके नवाबसे प्राप्त की थीं, शाही स्वीकृति प्रदान कर दी। सम्राट्ने कम्पनीको उत्तरी सरकारके जिले भी दे दिये। परन्तु आश्चर्यजनक बात तो यह थी कि ये सब शर्तें ऐसे व्यक्तिके साथ की गयी थीं जिसका दिल्ली सिंहासनसे कोई शारीरिक सम्बन्ध नहीं रह गया था। दिल्लीके बाहर वह नाममात्रका सम्राट् था।

औरंगजेबकी मृत्यु (१७०७) के बाद १८०६ तक केवल दो ही सम्राट् ऐसे हुए जिन्होंने ६ वर्षसे अधिक राज्य किया। एक था मोहम्मदशाह (१७१९–१७४८) और दूसरा था शाहआलम (१७५९–१८०६)। शाहआलम असलमें बराबर उन शक्तियोंका कैदी या पेंशन-भोगी रहा जो तख्त और ताकतके परस्पर-विरोधी दावेदार थे। वे लोग शाह-आलमका नाम अपने-अपने स्वार्थोंके लिए इस्तेमाल करते थे।

भारतीयोंपर कम्पनीकी प्राथमिक विजयका एकमात्र उद्देश्य धन-प्राप्ति था, साम्राज्य-विस्तार नहीं। साम्राज्य-विस्तारको क्लाइवने व्यापारके लिए हानिकारक बतलाया था। १७६५ में उसने कहा था—"अगर हम लोग साम्राज्यके चक्करमें पड़ जावँगे तो हमें एकके बाद दूसरा इलाका जीतना पड़ेगा। इसका परिणाम हमारे लिए बहुत खतरनाक होगा क्योंकि तब पूरा साम्राज्य हमारे विरुद्ध हथियार लेकर खड़ा हो जायगा और हमारा कोई भी मित्र न रह जायगा। इसलिए, अति आवश्यकता पड़नेके अतिरिक्त, हमें कभी भी उन इलाकोंसे अधिक अपना साम्राज्य नहीं बढ़ाना चाहिये जो कासिमअली खाँसे हमें प्राप्त हुए हैं।"

उपर्युक्त कथनसे यह बात आसानीसे समझमें आजाती है कि बंगाल, बिहार और उड़ीसापर कम्पनीका एकच्छत्र आधिपत्य होनेपर भी क्लाइवने नवाबीका ढोंग कायम रखा। दीर्घकाल तक क्लाइवके उत्तराधिकारियोंने उसकी नीतिका पालन किया। उन्होंने बड़े-बड़े राज्योंपर कब्जा प्राप्त किया, पर कठपुतली नवाबों या राजाओंको कायम रखा। ऐसा मालूम होता है कि उन नवाबों और राजाओंके प्रति जनताकी निष्ठा जरूर रही होगी। उसी नीतिके अनुसार क्लाइवने मरते हुए शाहआलमके भीतर कृत्रिम सांस डालकर उसे सम्राट्के रूपमें जीवित रखा और उसकी आड़में वह कम्पनीका प्रभुत्व बढ़ाता रहा। मुगल सम्राट्का नाम

अब चालू सिक्केकी भाँति इस्तेमाल किया जा सकता था क्योंकि उसके स्थानपर कोई अन्य व्यक्ति गद्दीपर न बैठा था। उसके नामसे बिना किसी रोकटोकके कम्पनी मालगुजारी वसूल कर सकती थी। यह एक बड़ी भारी मनोवैज्ञानिक चाल थी क्योंकि बादशाहके नामपर लोग कर या मालगुजारी देनेमें आनाकानी नहीं करते थे। कम्पनीके निजी स्वार्थके लिए यह जरूरी था कि वह बादशाहको २६ लाख रुपये सालानाकी पेंशन देती रहे, और इसीलिए उसने अवधके नवाबसे बादशाहको इलाहाबाद और कौड़ाके सूबे दिलवा दिये जिससे उसकी शाही शान बनी रहे।

कुछ वर्षोंतक कम्पनीने बंगालमें भी नवाबी प्रथा कायम रखी, हर नये नवाबसे वह लम्बी-लम्बी रकमें वसूल करती रही। पर जब अंग्रेजोंने समझ लिया कि अब उनकी स्थिति मजबूत हो गयी है तो उन्होंने नवाबको पेंशन देकर हटा दिया। हैस्टिंग्सके जमानेमें कम्पनीने बंगाल, बिहार और उड़ीसाके शासनकी बागडोर स्वयं बाजाब्ता संभाल ली। इसी बीच शाहआलम अपना सिंहासन और प्रतिष्ठा फिरसे प्राप्त करनेके प्रयत्नमें लगा हुआ था। जब उसने देखा कि उसकी मनोकामनाकी सिद्धिमें अंग्रेज कोई मदद नहीं दे रहे हैं तो उसने मराठोंकी सहायतासे गद्दी प्राप्त कर ली। पानीपतकी पराजयके दस वर्ष बाद मराठोंका प्रभाव उत्तरमें फिर बढ़ रहा था। अंग्रेज अपनी मजबूती समझकर पहले ही शाहआलमकी पेंशन बन्द कर चुके थे।

कम्पनीके शासनने बंगालके धनधान्यपूर्ण सूबेको बरबाद और कंगाल बना दिया। स्वयं क्लाइवने यह बात अपने एक पत्रमें जो उसने ३० सितम्बर १७६५ को कम्पनीके डाइरेक्टरोंके नाम लिखा था स्वीकार की है—"निर्दयता और अत्याचारोंका जो सिलसिला कम्पनीके कर्मचारियों व उनकी आड़में यूरोपीय एजेण्टों व भारतीय उप-एजेण्टोंने शुरू किया है, वह इस देशमें अंग्रेजोंके नामपर स्थायी कलंक रहेगा।"

बंगालकी दीवानी जो नवाबीके अन्तिम वर्ष १७६४-६५ में ८ लाख १८ हजार पौण्ड थी, अंग्रेजी शासनके प्रथम वर्ष १७६५-६६ में ही १४ लाख ७० हजार हो गयी। इस रकममें वह धन शामिल नहीं है जो कम्पनीके अफसरोंने अपने व्यक्तिगत लाभके लिए वसूल किया। सन् १७८७ में विलियम फुलर्टनने (जो ब्रिटिश पार्लमेण्टके एक सदस्य थे) बंगालकी दशाका वर्णन करते हुए लिखा था—"पहले जमानेमें बंगालके प्रदेश पूर्वी राष्ट्रोंके अन्नके भण्डार और व्यापारके केन्द्र माने जाते थे। हमारे शासनके कुप्रबन्धसे २० वर्षोंमें ही उनके बहुतसे भाग उजाड़ दिखाई पड़ने लगे हैं। खेत अब जोते बोये नहीं जाते; बड़े-बड़े भूखण्डोंपर अब जंगली झाड़ियाँ खड़ी हुई हैं; किसान लूटा जाता है, कारीगर सताये जाते हैं, अकालका आगमन बार-बार होता है; जनसंख्या घटती जा रही है।"

वारेन हेस्टिंग्सके शासनकालमें राजाओंसे रुपया वसूल करनेके निर्दय तरीके अपनाये गये। आमतौरपर हेस्टिंग्सकी नीति यह थी कि वह एक राजाको दूसरेसे लड़ाया करता था और इसमें रुपया बना लेता था, साथ ही विजयी राजाको अपने इलाकेमें ब्रिटिश सेना रखनेको बाध्य करता था। बनारसके राजा चेतसिंह भी हेस्टिंग्सके शिकार हुए और उसकी एकके बाद दूसरी इच्छा पूरी करते गये, पर अन्तमें हेस्टिंग्स उनसे नाराज भी हो गया क्योंकि उन्होंने पाँच लाख रुपये देनेकी माँग नामंजूर कर दी थी। इसपर हेस्टिंग्सने जुर्मानेके तौरपर पाँच लाखकी माँग बढ़ाकर ५० लाखकी कर दी और यह रकम वसूल करने

के लिए बनारसपर हमला बोल दिया। वहाँ हेस्टिंग्सको अकस्मात् चेतसिंहकी प्रजाका भी सामना करना पड़ गया जो सुशासनके कारण चेतसिंहकी भक्त हो गयी थी। प्रजाने अंग्रेज अफसरों व उनके हिन्दुस्तानी सिपाहियोंको बेकाबू कर दिया और मार डाला। इसपर हेस्टिंग्सने बहुत बड़ी सेना भेजकर जनताके विद्रोहका दमन किया।

अवधकी बेगमोंसे रुपया ऐंठनेके हेस्टिंग्सके तरीके और भी निंद्य थे। खुद बेगमके लड़के व नातीको गवर्नर-जनरलने गुप्त धनमेंसे १२ लाख पौंड हेस्टिंग्सके लिए देनेको बाध्य किया। अवधका नवाब रुहेलोंसे लड़नेमें आना-कानी कर रहा था पर हेस्टिंग्सने उसे पट्टी पढ़ाकर लड़ाया। अंग्रेजी भेदियोंके कारण रुहेले हार गये और अवधका नवाब जीत गया। रुहेलोंका इलाका अवधकी नवाबीमें शामिल हो गया पर असली जीत अंग्रेजोंकी रही, कम्पनीको ४० लाख रुपया इनाम और २ लाख १० हजार लड़ाईके खर्चके तौरपर मिला। एक अंग्रेजी फौज नवाबके खर्चपर अवधमें रहने लगी। इसके कारण नवाब कम्पनीकी कठपुतली बन गया। पर तो भी क्लाइवकी नीतिका अनुसरण करते हुए हेस्टिंग्सने रुहेलखण्डको कम्पनीके कब्जेमें न लेकर नवाबके अधीन ही रहने दिया।

बंगालमें हेस्टिंग्सका शासन उसके अत्याचारोंके लिए मशहूर है। कम्पनीके कर्मचारी विलियम बोल्ट्सने लिखा है—"देशके असंख्य गरीब कारीगर और बुनकर वगैरह कम्पनीके गुलामोंकी तरह उसकी इजारेदारीमें हैं जिनपर ऐसी-ऐसी मुसीबतें और अत्याचार किये जाते हैं, जिनकी कल्पना भी मुश्किल है। उनपर जुर्माने होते हैं, उन्हें बेंत लगते हैं, उन्हें कैदमें सड़ाया जाता है, उनसे जबरदस्ती पट्टे लिखाये जाते हैं...इन अत्याचारोंके कारण देशमें बुनकरोंकी संख्या बहुत घट गयी है...।"

ईस्ट इण्डिया कम्पनीका राजनीतिक प्रभाव अब कलकत्तेसे दिल्लीतक फैला हुआ था और ताज्जुबकी बात तो यह है कि इस प्रभावको जनता या राजे महसूस भी नहीं करते थे। पर तब दक्षिण काफी मजबूत था—शायद उतना ही मजबूत जितना शुरूके मुगल बादशाहोंके जमानेमें उत्तर मजबूत था। मैसूरका राजा हैदरअली बड़ा शक्तिशाली था और एक बड़े इलाकेपर मरहठोंका राज्य था। वहाँ प्रभुत्व जमाना अंग्रेजोंके लिए आसान न था। अंग्रेजोंको डर था कि अगर कहीं ये दोनों निजामसे मिल गये तो हमारे इरादे मिट्टीमें मिल जायँगे। बस, उन्होंने इनमें फूट डालनेका फैसला कर लिया। उन्होंने निजामसे सन्धि की और कुछ मरहठे सरदारोंसे मिलकर हैदरअलीके खिलाफ लड़ाईकी घोषणा कर दी। अंग्रेजोंकी पहली बार मात हुई। हैदरअली अधिक होशियार और साधनसम्पन्न था; उसने अंग्रेजोंके इन दोनों साथियोंको फोड़ लिया। अंग्रेज लौट गये और हैदरअलीकी मौतके बादतक यथास्थिति बनी रही।

हैदरअलीका पुत्र टीपू सुल्तान भी अपने बापकी तरह बहादुर और अंग्रेजोंका पक्का दुश्मन था। उसे हराये बिना अंग्रेजोंकी बन नहीं सकती थी। अंग्रेज उसे अगर सीधे नहीं हरा सकते थे तो प्लासी और बक्सरकी चालबाजियोंसे ही बाज क्यों आते? उन्होंने निजामको मरहठोंके विरुद्ध संरक्षण दिया था और इसलिए वह उनके प्रभावमें था। उनके मातहत दोस्त था। मरहठोंको अंग्रेजोंने इस वादेपर तोड़ लिया कि टीपूकी हारके बाद मैसूरका एक भाग उन्हें दे दिया जायगा। मैसूरके पुराने दोस्त अब अंग्रेजोंके साथ थे। रहा बचा काम भेदियों और गद्दारोंने पूरा कर दिया। "टीपूके यूरोपीय कर्मचारी अब अपना कौशल और ज्ञान उसे

ही नष्ट करनेके लिए प्रयोग करनेको कटिबद्ध थे—वही कौशल और ज्ञान जो वे अभीतक टीपूकी रक्षामें लगा रहे थे।[1] अंग्रेजों, निजाम और मरहटोंने मिलकर टीपूके खिलाफ लड़ाई शुरू कर दी—या जैसा कि कुछ इतिहासकारोंका कहना है टीपू द्वारा घोषित लड़ाईमें हिस्सा लेना शुरू कर दिया। तीन सालतक लड़ाई चली। पहली बार तो गद्दारों और दुश्मनोंके मजबूत जमावके बावजूद टीपूने उन्हें करारी शिकस्त दी पर बादमें उसे हार माननी पड़ी। संधिके शर्तनामेके अनुसार टीपूको अपना आधा राज विजेताओंको देना पड़ा और ३६ लाख पौंड "लड़ाईका खर्च" भी उसपर लगाया गया जो किस्तोंमें अदा होना था। "संधिके अनुसार ही टीपूको रकमकी अदायगी और इलाकेके तबादलेकी गारण्टीमें अपने दो बेटोंको अंग्रेजोंके पास शरीरबन्धकके रूपमें रख देना पड़ा।"[2] इस प्रकार सन् १७९२ में अंग्रेजोंके इलाकेमें २० हजार वर्गमील और जुड़ गये।

सात वर्ष बाद झूठे आरोप लगाकर टीपूपर फिर हमला किया गया। टीपूने जमकर मुकाबला किया पर इस बार वह कमजोर तो था ही, खुद उसके सेनापति-पूर्णियाको अंग्रेजों-ने इस वादेपर खरीद लिया था कि टीपूके राज्यका कुछ हिस्सा उसे दे दिया जायगा और वह स्वतंत्र राजा बना दिया जायगा। उसके कुछ और वफादार नौकरोंको भी रुपये या बेहतर नौकरियोंके लालचने गद्दार बना दिया था। टीपू लड़ाईके मैदानमें मारा गया और उसके लड़के कैद कर लिये गये। मैसूरका २६ हजार वर्गमीलका नया इलाका अंग्रेजी प्रभुत्वमें आ गया लेकिन क्लाइवकी नीतिका अनुसरण करते हुए हैदरअलीके पहलेवाले राज-वंशका एक पंचवर्षीय बालक गद्दीपर बैठा दिया गया। नया मैसूर राज्य पुरानेकी छायामात्र था, फिर भी उससे प्रजाकी धारणा बनती थी कि पुरानी व्यवस्था ही चल रही है और अंग्रेज देशके भीतरी शासनमें दिलचस्पी नहीं लेते।

१९ वीं सदीके पहले सालमें ही वेलेस्लीने बिना रक्तपात, तंजोर, कर्नाटक, सूरत और अवध अंग्रेजी कब्जेमें ले लिये। तंजोर और कर्नाटकके युवराज "अंग्रेजी संरक्षणमें राजा" थे। उनपर कम्पनीके दुश्मनोंसे साँटगाँठ करनेका अभियोग लगाया गया और उनके प्रतिवादोंके बावजूद उन्हें गद्दीसे हटाकर पेंशनें दे दी गयी। अंग्रेजोंका सितारा दक्षिणमें बुलन्द हो रहा था अतः वे इन प्रतिवादोंकी परवाह क्यों करते?

सन् १७९८ में वजीर अली अवधका नवाब था। अंग्रेज उससे खुश नहीं थे, और सआदत अलीको गद्दी देना चाहते थे। सआदत अलीने अंग्रेजी फौज अवधमें रखनेके लिए कम्पनीको ७६ लाख रुपये सालाना देनेकी शर्त कबूल कर ली, और अंग्रेजोंने उसे गद्दीपर बैठाकर वजीर अलीको कैद कर लिया। पर बंगालके नवाबोंकी तरह सआदत अली भी बहुत दिनों तक अंग्रेजोंका कृपापात्र न रह सका। अंग्रेजोंने उससे अपनी भारतीय फौजमें भारी छटनी करने और अंग्रेजी फौजको बढ़ानेके लिए कहा, और जब उसने यह प्रस्ताव माननेमें अनाकानी की तो उसपर मुसीबत आ गयी। अंग्रेज उससे चिढ़ गये। उसके सामने दो ही रास्ते थे—या तो गद्दी छोड़ दे या कम्पनीको खुश करे। उसे अवधका आधेसे अधिक हिस्सा (करीब ३० हजार वर्गमील) कम्पनी को देना पड़ा। इस इलाकेमें निचले दोआबका पूरा हिस्सा (गंगा और यमुनाके बीचका क्षेत्र), इलाहाबाद और गंगा व घाघराके किनारे

१. विलियम मेलबोर्न जेम्स—पृष्ठ ८८
२. थार्नटन हिस्टरी आव ब्रिटिश इंडिया

बनारसकी सीमातकका सब भूखण्ड शामिल था। अंग्रेजोंने अवधके शासकोंसे जो वादे और संधियाँ की थीं उनके बिल्कुल विरुद्ध यह इलाका लिया गया था। इंगलैण्डके भारतीय दफ्तरके राजनीतिक व गुप्त विभागके मन्त्री, सर जॉन के ने लिखा है—"ऐसा प्रतीत होता था मानो ब्रिटिश सरकारने वादे तोड़नेकी इजारेदारी ले ली थी। अगर अहदनामोंकी शर्तोंके भंग करनेके दण्डमें अंग्रेजोंकी जमीनें जब्त हो जातीं, तो ब्रह्मपुत्रसे सिन्धुतक ब्रिटिश सरकारके पास भूमिका एक टुकड़ा भी न बचता।"

उन्नीसवीं शताब्दीमें केवल मराठे ही अंग्रेजोंके (भारतीय) प्रतिद्वन्द्वी रह गये थे। मराठे मुगल साम्राज्यके उत्तराधिकारी होनेवाले थे, और १८ वीं शताब्दीमें तमाम भारतमें फैल गये थे। उनकी स्थिति १८१८ तक मजबूत रही, लेकिन फिर अंग्रेजोंने धीरे-धीरे उनकी शक्ति समाप्त कर दी। अपने समकालीन अन्य शासकोंसे भिन्न, मरहठे देशभक्ति और राष्ट्री-यताकी भावनासे ओतप्रोत थे। कुछ मराठे शासक अत्यन्त उदार और प्रजापालक थे। उन्होंने कृषिमें सुधार किये, सार्वजनिक कार्योंका निर्माण किया, और सिंचाईके साधनोंका प्रसार किया। लेकिन जैसा कि जवाहरलाल नेहरूने कहा है, मरहठोंने उत्तरी और मध्य भारतके उन विशाल क्षेत्रोंमें, जिनमें वे फैले हुए थे, अपनी शक्तिको संगठित नहीं किया। वे आये और गये, पर उनकी शक्तिने जड़ें नहीं पकड़ीं!...उन्होंने अपने व्यवहारसे वीर राजपूतोंको क्रुद्ध कर दिया, अतः इन्हें अपना मित्र और सहायक समझनेके बजाय मराठोंको इनका प्रतिद्वन्द्वी या असंतुष्ट जागीरदारोंकी तरह मुकाबला करना पड़ा। मरहठोंमें आपसमें भी गहरी प्रतिद्वन्द्विता थी, और पेशवाके नेतृत्वमें एकताके बावजूद वे आपसमें झगड़ा करते थे। प्रायः महत्वपूर्ण अवसरोंपर वे एक दूसरेकी मदद न करते थे, और इसीलिए अलग-अलग हरा दिये जाते थे।"

पेशवा मरहठा राजाका प्रधान मंत्री होता था। परन्तु कालान्तरमें उस परिवारके लोग स्वयं राजा बन बैठे। स्वतन्त्र मरहठे शासकोंने पेशवाकी छत्र-छायामें एक राज्य-संघ कायम कर लिया। बड़ी-बड़ी रियासतोंके प्रमुख ये थे—ग्वालियरका सिंधिया, इन्दौरका होल्कर, बड़ौदाका गायकवाड़ और नागपुरका भोंसला। पेशवाका इन सरदारोंपर वैसा दबाव या आधिपत्य न था जैसा ब्रिटिश पार्लमेण्ट और कम्पनीके डाइरेक्टरोंका भारत स्थित अंग्रेजोंपर था। पेशवाका आधिपत्य और अधिकार उसके व्यक्तित्वपर निर्भर करता था। भारतीय राजनीतिमें व्यक्तित्वका सदा ही बड़ा महत्त्व रहा है; दुर्बल उत्तराधिकारी होनेसे बड़े-बड़े राजनीतिक उथल-पुथल हो जाते थे। मरहठा राज्योंको एक दुर्बल सूत्र आपसमें बाँधे हुए था; अपने तरीकोंसे अंग्रेजोंके लिए उस सूत्रको तोड़ना आसान था। मुगल साम्राज्यके उत्तराधिकारी बननेका मरहठा स्वप्न किस प्रकार व्यक्तित्वकी शिलापर टकराकर चूर हो गया, इसका एक उदाहरण महादाजी सिंधियाके व्यक्तित्वसे मिलता है। एक मजबूत सेना लेकर वह सन् १७८४ में दिल्लीमें दाखिल हुआ, और दुर्बल सम्राट शाहआलमकी सारी शक्ति अपने हाथमें ले ली। उसने शाहआलमके हस्ताक्षरसे पेशवाको मुगल साम्राज्यका डिप्टी नियुक्त करवा दिया और अपनेको पेशवाका डिप्टी नियुक्त करवाकर मुगल फौजकी कमान हासिल कर ली। अपने इस नये पदसे उसने छोटे-छोटे जाट और राजपूत राज्योंको भी जीतना शुरू कर दिया। लेकिन जब वह उत्तर भारतमें साम्राज्य-विस्तार

में लगा हुआ था, उसे पूना जाना पड़ा और वहीं उसकी मृत्यु हो गयी। उसके बाद उत्तरमें मरहठोंका कोई नामलेवा तक न रह गया।

जब कि अंग्रेज उन दिनों बड़ी आसानीसे भारतीय शासकोंपर अपनी फौजें लाद रहे थे, मरहठे उस फौजको लेनेसे इनकार करते रहे। अंग्रेज चाहते थे कि बिना युद्धके मरहठे भी उनके प्रभुत्वमें आ जायँ परन्तु मरहठोंके अंग्रेजी फौज न रखनेके दृढ़ निश्चयने अंग्रेजी योजनाको बेकार कर दिया। अंग्रेज मरहठोंसे कई टक्करें ले चुके थे और उनकी वीरता परख चुके थे। परन्तु भाग्यवश उन्हें जल्दी ही एक अवसर मिल गया, या यों भी कहा जा सकता है कि उन्होंने खुद अपने लिए सुअवसर पैदा कर लिया। सन् १८०२ में जसवन्तराव होल्कर और पेशवा बाजीराव द्वितीय गृहयुद्धमें व्यस्त थे। पेशवाकी स्थिति कमजोर थी, अतः उसने अंग्रेजोंकी सहायक फौज रखना स्वीकार कर लिया। पेशवा और कम्पनीमें संधि हो गयी जिसकी शर्तोंके अनुसार पेशवाको कम्पनीकी सेना मिली, उसने कुछ इलाके अंग्रेजोंको दे दिये, और कम्पनीको उसकी बाह्यनीति निर्धारित करनेका भी अधिकार मिल गया। पेशवाके घुटने टेक देनेसे मरहठा संघके जहाजमें छेद हो गया; उसे डुबानेका अंग्रेजोंका काम सरल हो गया।

सन् १८०३ में अंग्रेज फिर मुगल बादशाहको अपने प्रभावमें ले आये और १२ लाख सालानाकी पेंशन उसके लिए बाँध दी। उन्होंने अन्य शासकीय कामोंके साथ-साथ मालगुजारी वसूल करनेका जिम्मा ले लिया। इसी मालगुजारीमेंसे वे बादशाहको पेंशन देते थे। पेशवाके टूट जानेके बाद अंग्रेजोंने अन्य मरहठा सरदारोंको भी, उन्हें आपसमें लड़ाकर, उनके शासन व फौजोंके मुख्य व्यक्तियोंको भ्रष्ट करके, शाहआलमको सम्राटकी वास्तविक शक्ति और प्रतिभा प्रदान करनेका वादा करके (जो कभी पूरा नहीं हुआ), छोटे छोटे राजाओं व सरदारोंको अस्पष्ट आश्वासनके बूतेपर फोड़कर, और मरहठा दरबारोंमें फूट डालकर, या तो हरा दिया या अपने वशमें कर लिया। पेशवाके आत्मसमर्पणके बाद उसे आठ लाख रुपये सालानाकी पेंशन उसकी मालगुजारीसे ही बाँध दी गयी, जो १८१८ से १८५१ तक बराबर चलती रही। परन्तु जब पेशवा बाजीराव मर गया तो उसके बेटे नानासाहबसे कह दिया गया कि पेंशन अब बन्द कर दी जायगी। नानासाहबने पेंशन पानेके तमाम शान्तिमय उपाय किये, परन्तु सफल न हुआ। अन्तमें वह अंग्रेजोंका भयानक शत्रु हो गया। वह १८५७ के गदरके प्रमुख संगठन-कर्त्ताओंमें था।

भारतीय रियासतोंमें पंजाब और अवध सबसे आखिरमें ब्रिटिश राज्यमें मिलाये गये। १८ वीं सदीके उत्तरार्धमें सिख लोगोंने पंजाबमें बहुत-सी छोटी-छोटी रियासतें बना ली थीं। ईरानी आक्रमणकारी, अहमदशाह अब्दालीने पटियालाके शासकको पहले अपने मातहत राजा स्वीकार किया, फिर पाँच वर्ष बाद उसे महाराजा मान लिया। सन् १७६४ के करीब सिख राजाओंने भी मरहठोंकी तरह संघ बना लिया। सतलज नदीके दोनों ओर सिख रियासतें थी। नदीके एक ओरकी रियासतोंने, मरहठोंकी पराजयके बाद, अंग्रेजी संरक्षण स्वीकार कर लिया था। दूसरी ओरकी रियासतोंपर महाराजा रणजीतसिंह हुकूमत करते थे। रणजीतसिंहकी मृत्युके पश्चात् अंग्रेजोंने एक-एक करके पंजाबकी समस्त रियासतोंको जीतकर कम्पनीके राज्यमें मिला लिया। इन युद्धोंमें जीतके मुख्य साधक स्वार्थी देशद्रोही ही थे। सन् १८५६ में अचानक ही अवधमें कम्पनीकी फौजें घुस पड़ीं। बेबस होकर नवाबको आत्म-समर्पण करना पड़ा।

सन् १८१८ में मराठोंके दमनके बाद कम्पनी अपनेको देशकी प्रमुख राजनीतिक शक्ति मानने लगी। इसलिए उस वर्षसे उसने मुगल बादशाहको नजरें (भक्ति सूचक भेंट) देना बन्द कर दिया। सन् १८०६ में शाहआलमकी मृत्युके बाद कम्पनीने बादशाहके सीमित शासन अधिकारोंमें भी हस्तक्षेप आरम्भ कर दिया था। बादशाहकी मृत्युके बाद नया उत्तराधिकारी भी कम्पनीका ही नामजद व्यक्ति होता था। परन्तु लगता है कि इस प्रकारके नाममात्रके बादशाहके प्रति भी जनताकी काफी भक्ति थी क्योंकि सन् १८३५ तक कम्पनी अपने सिक्के बादशाहके नामसे ही चलाती रही। अंग्रेजोंकी शक्ति अब इतनी बढ़ चुकी थी कि बादशाहको गद्दीसे उतारनेके लिए उनका बस उँगली उठाना काफी था। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि बादशाहके गद्दीसे हटाये जानेके परिणामस्वरूप उन्हें विद्रोहकी आशंका थी—वे इस खतरेके लिए तैयार नहीं थे। इसलिए उन्होंने बहादुरशाहको गद्दीपर कायम रहने दिया। निदान सन् १८५७ के गदरके बाद बादशाहके पदकी पूर्ण रूपसे समाप्ति कर दी गयी।

भारतीय राज्योंमें स्थित अंग्रेज रेजीडेन्ट वहाँके लोगोंको भ्रष्ट करते थे। नेहरूने लिखा है—"इन रेजीडेण्टोंका दरबारोंमें खास काम रिश्वतें देना और मन्त्रियों तथा अन्य अफसरोंको भ्रष्ट करना था। एक इतिहासकारका कथन है कि कम्पनीका जासूसी विभाग अत्यन्त कुशल तथा पूर्णरूपेण संघटित था। उसे प्रत्येक दरबारी प्रतिद्वन्द्वी या सरदारकी गतिविधि और राजाओंकी सेनाकी पूरी खबर रहती थी। परन्तु भारतीय शासक अंग्रेजी गतिविधिसे पूर्णतया अनभिज्ञ रहते थे। कम्पनीके भेदिये निरन्तर अपने काममें लगे रहते थे। संकट या घमासान युद्धके समय ये लोग अपने स्वामीको धोखा देकर अंग्रेजोंसे आ मिलते थे। यही कारण था कि अधिकतर लड़ाइयोंमें अंग्रेजोंकी विजय वास्तविक युद्ध आरम्भ होनेके पहले ही हो जाती थी। प्लासीके युद्धमें यही हुआ। सिख युद्धोंतक इस नीतिकी बार-बार पुनरावृत्ति हुई।"[1]

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वेलेस्ली (१७९८–१८०५) भारतमें साम्राज्यकी योजनाएँ पूरी करनेकी भावनासे प्रेरित होकर आया था। "शुरूसे ही उसका सिद्धान्त यह था कि अंग्रेज भारतमें सर्वोच्च शक्ति बन जायँ, और सब भारतीय नरेश अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता अंग्रेजोंको सौंपकर नाममात्रके राजा रह जायँ।"

राज्योंकी आन्तरिक स्वतन्त्रता खण्डित हो चुकी थी, और उनकी दुर्बलतापर ही अंग्रेजोंकी सर्वोच्च सत्ताकी नींव पड़ रही थी। सहायक संधि प्रथाने, जहाँ देशी राजाओंको बाहरी खतरेसे और स्वयं उनकी प्रजाके सम्भावित विद्रोहसे सुरक्षित कर दिया था, वहाँ उनको कर्तव्यच्युत भी कर दिया—शासनकी दशा खराब होती जाती थी।

सहायक सन्धि प्रथाकी बुराइयों पर टिप्पणी करते हुए टामस मनरोने लिखा है—"जहाँपर भी यह प्रथा लागू होती है वहाँकी सरकारोंको निकम्मा, कमजोर और अत्याचारी बना देती है, कुलीन वर्गोंकी स्वाभिमानकी भावनाको खत्म कर देती है और समस्त जनताको पतन और गरीबीकी ओर ले जाती है। भारतमें कुशासन या बुरी सरकारको खत्म करनेके दो ही तरीके रहे हैं—शाही घरानेमें क्रांति या जनताका सशस्त्र विद्रोह। परन्तु अंग्रेजी सेनाकी उपस्थितिके कारण इन दोनों तरीकोंमें से एक भी प्रयोगमें न लाया जा

१. जवाहरलाल नेहरू, डिस्कवरी आव इण्डिया, पृ० ३२७-२८

सकता था। यह प्रथा राजाओंको काहिल बना देती थी क्योंकि वे अपनी रक्षाके लिए अजनबी शक्तिपर भरोसा करने लगे थे; इस प्रथाने उन्हें निर्दयी और लालची बना दिया था क्योंकि अंग्रेजी फौजके बलपर वे अपने प्रति प्रजाकी घृणाकी परवाह न करते थे। जहाँ भी सहायक संधि प्रथा चली, थोड़े ही दिनोंमें उजड़े गाँव और गिरती हुई जनसंख्या इस प्रथाके सबूतके तौरपर मिलने लगे।"

सन् १८१३ से १८५७ तकके दूसरे चरणमें कम्पनीके एजेन्टोंने साम्राज्य-विस्तारकी बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनायीं। वे अपनेको केन्द्रीय भारतीय सरकारका उत्तराधिकारी मानने लगे। लार्ड हैस्टिंग्स (१८१३–१८२३) के चले जानेके बाद अंग्रेजी रेजीडेन्टोंका देशी राज्योंमें प्रभाव ऐसी तेजीसे बढ़ा कि वे शासनाधिकारी या प्रबन्धककी हैसियतसे काम करने लगे और स्वयं राजा लोग उनके घर हाजिरी देने लगे। ऐसे राजाओंकी रियासतें विलयनसे बच गयीं और ब्रिटिश शासनके अन्ततक कायम रहीं। सन् १८५७ के विद्रोहमें उनमेंसे बहुतोंने अंग्रेजोंकी धन-जनसे मदद की।

हैस्टिंग्सके बाद प्रत्येक गवर्नर-जनरल अधिकाधिक देशी रियासतोंको अंग्रेजी राज्यमें मिलाता रहा, परन्तु लार्ड डलहौजी (१८४८-५६) ने इस रफ्तारको बहुत तेज कर दिया, जिसके फलस्वरूप असन्तोषके बीज उगने लगे जो शीघ्र विद्रोहके रूपमें प्रकट हुए। सतारा, नागपुर, कुर्ग, झाँसी और अवधके एकके बाद एक किसी न किसी बहाने मिलाये जानेके कारण जनता, राजाओं व सिपाहियोंमें प्रतिहिंसाकी आग भड़क उठी।

अंग्रेजोंने कई रियासतें तो उनके राजाओंकी मृत्युके पश्चात् गद्दीके उत्तराधिकारकी गड़बड़ीमें हड़प लीं। इस गड़बड़में अंग्रेज गद्दीके दावेदारोंमेंसे किसी एककी मदद करने लगते और उसके सफल होने पर उस महत्त्वाकांक्षीसे पहले ही तय की गयी शर्तोंके अनुसार खुद राजनीतिक शक्ति हथिया लेते जिससे नया राजा कठपुतली मात्र बनकर रह जाता।

भारतीय इतिहासमें युद्ध कोई आश्चर्यजनक बात न थी, पर उनका परिणाम ऐसा आर्थिक संकट या नैतिक पतन कभी नहीं हुआ जैसा कि अंग्रेजी जीतके बाद हुआ। जनरल नेपियरके शब्दोंमें, जो सिन्धपर अंग्रेजी कब्जेके बाद १८४३ में वहाँका प्रथम गवर्नर नियुक्त हुआ "अंग्रेज भारतमें आतंकवादी आक्रमणकारीकी हैसियतमें थे......उनसे बढ़कर जालिम और कमीनी शक्तिने शायद ही कभी भारत जैसे महाराष्ट्रपर शासन किया हो। भारत-विजय और हमारे सभी नृशंस कारनामोंका एकमात्र कारण था धन-लिप्सा। कहा जाता है कि पिछले साठ वर्षोंमें अंग्रेजोंने भारतीयोंसे एक अरब पौण्ड रुपये वसूल किये हैं। इस रकमका प्रत्येक शिलिंग खूनसे सना हुआ था जिसे पोंछकर हत्यारोंने अपनी जेबमें रख लिया। पर कितना ही उसे धोओ या पोंछो, उसका धब्बा तो कभी न मिटेगा। वह धब्बा हमेशा बना रहेगा और यदि स्वर्गमें ईश्वर है तो हमें उस खूनका जवाब देना होगा।"

कुछ इतिहासकारोंका मत है कि भारतमें ब्रिटिश राज पहला विदेशी शासन था क्योंकि इसके पहले इस देशका आर्थिक शोषण किसी दूसरे देशके लिए नहीं हुआ। यह भारतके लिए नया अनुभव था। "भारतने पहले कभी अपनी स्वाधीनता नहीं खोयी थी। वह कभी ऐसे वर्गके शासनमें नहीं आया था जो हमेशा विदेशी बना रहा।" इसके पहलेके सभी आक्रमणकारी विदेशी होते हुए भी भारतमें ही बस गये थे, और इस देशको उन्होंने

अपना घर बना लिया था। इसलिए खेतीबारी व उद्योगकी उन्नति और प्रजाकी भलाईके अन्य कार्योंको वे अपनी जिम्मेदारी समझते थे।

परन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनीका एकमात्र ध्येय था पैसा कमाना; इस देशको जीत लेनेके बाद भी उसका यही उद्देश्य बना रहा। धन कमानेकी शुरुआत हुई भारतके सुन्दर व बारीक कपड़े तथा मसालोंके इंगलैण्ड तथा अन्य यूरोपीय देशोंके लिए निर्यातसे। अंग्रेज व्यापारी यहाँसे सस्ते भावपर जबरदस्ती और निर्दयतासे माल वसूल करके बाहर भेजते थे। उस समय इंगलैण्डमें कपड़ेके कारखाने नहीं थे और भारतका कता व बिना कपड़ा इंगलैण्ड-के लोग बड़े चावसे खरीदते थे। परन्तु जब इंगलैण्डमें बिजलीकी शक्तिसे चलनेवाले करघोंका आविष्कार हो गया तो वहाँ कपड़ा बड़ी मात्रामें बनने लगा, और बजाय भारतसे वहाँ निर्यात होनेके कपड़ा वहाँसे उल्टा यहाँ आने लगा।

अब कम्पनीको यह धुन हुई कि इंगलैण्डका कपड़ा भारतमें बिके। भारतका चर्खा और करघा उद्योग नष्ट किया गया जिससे मजबूर होकर लोग इंगलैण्डका बना हुआ कपड़ा खरीदें। बुनकर और जुलाहोंका वर्ग समाप्त हो गया; उन्होंने यह काम छोड़ दिया। उन्होंने खेतीका सहारा पकड़ा और भूमिसे रोजी कमानेवालोंकी संख्या बढ़ गयी। जवाहरलाल नेहरूके अनुसार "लाखों बुनकर बेकारी और गरीबीसे भूखों मर गये।"[१] कहा जाता है कि १९वीं शताब्दीके मध्यमें ५५ प्रतिशत व्यक्ति जीविकाके लिए खेतीपर निर्भर रहते थे। ब्रिटिश कपड़ा उद्योगके विकाससे और भारतीय उद्योग चौपट होनेपर यह संख्या बढ़ती गयी। सन् १८३४ में गवर्नर-जनरल लार्ड विलियम बेन्टिकने लिखा था कि "भारतीयोंकी दयनीय दशा और मुसीबतकी मिसाल दुनियाके व्यापारमें कहीं नहीं मिलती। बुनकरोंकी हड्डियोंसे समस्त भारतीय मैदान भरे पड़े हैं।" मालगुजारीके बढ़ जानेसे इस गरीबी और मुसीबतमें और भी अधिक वृद्धि हो गयी। अंग्रेजी शासनमें मालगुजारीकी दर बढ़ती ही गयी। अंग्रेजी सरकारने शोषकोंका एक नया वर्ग (जमींदार) पैदा किया। इन्हें धीरे-धीरे धरतीका वास्त-विक मालिक बना दिया गया। इनका काम किसानोंसे मालगुजारी वसूल करना और उसका एक निर्धारित भाग अंग्रेजी सरकारके कोषमें जमा करना था।

सन् १८२९ में बेन्टिकने कहा था कि जमींदारोंकी एक बड़ी जमात पैदा करके अंग्रेजी सरकारने अपने शासनके ऐसे समर्थक बना लिये हैं जिनका जनतापर जोर और प्रभाव है।

"यह तथ्य बहुत महत्त्वपूर्ण है कि जो सूबे सबसे अधिक कालतक अंग्रेजी शासनमें रहे वे ही सबसे अधिक कंगाल हैं जैसे बंगाल, बिहार और उड़ीसा।"[२] पंजाब बहुत बादको अंग्रेजी शासनमें मिलाया गया। इसलिए वह तुलनात्मक दृष्टिसे अधिक सम्पन्न रहा। अतीतसे चली आयी पंचायत प्रथाको खत्म करके अंग्रेजोंने भारतीय ग्रामके धार्मिक और सामाजिक जीवनमें गड़बड़ी पैदा कर दी। सर टामस मनरोके अनुसार "प्रत्येक भारतीय गाँवमें नियमित रूपसे निर्वाचित म्यूनिसिपल समिति होती थी जो माल (दीवानी) व गाँवकी रक्षाका प्रबन्ध करती थी, और यही काफी हद तक न्याय प्रशासनका काम भी करती थी। राज बदलते रहते थे पर इन संस्थाओंमें कोई आक्रमणकारी हस्तक्षेप नहीं करता था।

---

१. नेहरू, डिस्कवरी ऑव इण्डिया, पृ० ३४८, ३४९,

२. नेहरू, वही पृष्ठ।

मरहठों और मुगलोंके शासनमें भी इन्हें वही मान्यता और सम्मान प्राप्त रहा। पर अंग्रेजी शासनने इन संस्थाओंकी अवहेलना की और इन्हें उखाड़कर फेंक दिया। देशी पंचायतोंकी जगह विदेशी जज नियुक्त कर दिये गये।"[1]

पंचायत प्रथाके अन्त और जमींदारी प्रथाके आरम्भने प्रजाके स्वाभिमान और अपनी रक्षा करनेकी योग्यतापर एक और कुठाराघात किया।

खैर, अच्छा बुरा जैसा भी हो और भारतीय उसे पसन्द करते हों या नहीं, अंग्रेजी राज कायम हो गया। परन्तु भारतीय जनताने उसे अंगीकार नहीं किया। सन् ५७ के विद्रोहसे पहले, ५० वर्षोंमें भारतीय सिपाहियों व जनताने कई बार ब्रिटिश शासनका मुकाबला किया। सन् १८०६ में मद्रासकी सेनामें एक गम्भीर विद्रोहका संगठन किया गया। सन् १८२४ में ४७ वीं बंगाल इनफैन्ट्री (पैदल सेना) ने हमलेके लिए बर्मा जानेसे इनकार कर दिया। इस सेनाका यूरोपीय तोपचियों द्वारा दमन करके उसे खारिज कर दिया गया। मेटकाफने १८२४ में लिखा था "समस्त भारत हर समय हमारे पतनकी प्रतीक्षा कर रहा है। भारतके प्रत्येक कोनेमें लोग हमारे नाशपर खुशियाँ मनायेंगे।" सन् १८१४ में उसने कहा था : "हमारी स्थिति भारतमें हमेशासे डाँवाडोल रही है। हम एक ही धक्केमें उखाड़े जा सकते हैं। हमारी जड़ें यहाँ जमी ही नहीं हैं।" सन् १८२० में मराठोंपर विजय प्राप्त होनेके बाद उसने इसी प्रकारका भय प्रकट किया था—"क्या कभी भी हम भारतीय जनतामें अपनी सरकारके प्रति लगन पैदा करनेका उपाय निकाल सकेंगे? और क्या हम भारतीय उच्च वर्गोंके हितोंको अपने हितोंके साथ मिलाकर ऐसा कर सकते हैं? क्या उनके और अपने हितोंको एक साथ मिलाना सम्भव है? यदि इन सब प्रश्नोंका उत्तर मुझसे पूछा जाय तो मैं कहूँगा 'नहीं'।"[2]

सन् १८५६में विद्रोहके ठीक पहले लार्ड कैनिंग भारतका गवर्नर-जनरल होकर आया। वह मजा हुआ राजनीतिज्ञ था। देशकी राजनीतिक नाड़ीकी उसे खूब परख थी। उसने आते ही कहा—"मैं चाहता हूँ कि मेरा शासनकाल शान्तिमय हो। परन्तु मैं यह कैसे भूल सकता हूँ कि यद्यपि भारतीय आकाश शान्त और उज्ज्वल दिखलाई पड़ता है, उसमें हथेली बराबर बादलका टुकड़ा कभी भी उठ सकता है और वह बढ़ते बढ़ते विशाल रूप धारण कर सकता है जो हमारे विनाशका कारण बन सकता है।" कैनिंगका सन्देह ठीक उतरा। अगले वर्षके भारतके उज्ज्वल आकाशमें बादलका एक छोटा सा टुकड़ा उठा और उसने एक विशाल रूप धारण कर लिया।

वैसे तो विद्रोहका संगठन बहुत दिनोंसे चल रहा था, परन्तु तात्कालिक कारण "चर्बी के कारतूस" बन गये। एनफील्ड राइफलोंमें जो कारतूस भरे जाते थे, उनपर चिकनाईवाले कागजका एक खोल मढ़ा रहता था जिसे कारतूस भरनेके पहले दाँतोंसे काटना पड़ता था। यह ख्याल था कि यह चिकनाई गाय और सुअरकी चर्बीसे बनायी जाती थी। इससे हिन्दू और मुसलमान दोनोंकी ही धार्मिक भावनाओंको ठेस पहुँचती थी। सिपाहियोंने उन कारतूसोंका प्रयोग करनेसे इनकार कर दिया।

१. मनरो, भाग १, पृष्ठ १०२, १०३
२. डबल्यू० डबल्यू० हंटरके "दि इण्डिया आव दी क्वीन ऐण्ड अदर एसेज्"में उद्धृत, पृ० ५४–५५

सिपाहियोंकी भावनाओंको ठेस पहुँचानेवाली दूसरी बात थी अंग्रेजोंका भारतीयोंको ईसाई धर्ममें दीक्षित करनेका प्रयत्न। ईस्ट इण्डिया कम्पनीके डाइरेक्टरोंके अध्यक्ष 'मेंगल्स'ने ब्रिटिश पार्लमेण्टमें कहा था "हिन्दुस्तान जैसे विराट देशका आधिपत्य ईश्वरने हमें इसलिए सौंपा है कि हम वहाँ एक कोनेसे दूसरे कोनेतक ईशुमसीहकी विजयपताका फहरा दें ताकि सारा भारत ईसाई हो जाय। इस काममें किसीको कोताही नहीं करनी चाहिये।" धर्म-परिवर्तनका काम खास तौरसे सेनामें चला। वहाँ पदोन्नति व दूसरे हित साधनोंके लिए धर्म-परिवर्तन एक प्रकारकी रिश्वत बन गया।

बंगालमें ब्रिटिश शासनको लगभग सौ साल तक बरदाश्त करनेके कारण लोग उसके आदी होते जाते थे। परन्तु उत्तरी सूबोंमें जोश बाकी था और विद्रोहकी भावना बढ़ रही थी। "गंगा पारके इलाकेमें ही नहीं, दोआबके जिलेमें भी ग्रामीण जनता उठ खड़ी हुई थी, और शीघ्र ही ऐसा कोई गाँव, नगर और मनुष्य न बचा जो अंग्रेजोंके विरुद्ध खड़ा न हो गया हो।"[1]

उन्नीसवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें कई बार समझदार अंग्रेजोंने चेतावनी दी कि जिस ढंगसे अंग्रेज भारतमें व्यवहार कर रहे हैं वह किसी भी दिन विद्रोहकी आगको भड़का देगा।

नानासाहब विद्रोहके प्रमुख संघटनकर्ता थे। वे पेशवा बाजीरावके गोद लिये हुए पुत्र थे और अंग्रेजोंने उन्हें पेशवाकी मौतके बाद पेन्शन देनेसे इनकार कर दिया था। नानासाहबने देशभरमें पूर्ण विद्रोहका संघटन करनेका निर्णय कर लिया, और इसके लिए ३१ मई १८५७ की तारीख निश्चित कर दी गयी। जान के लिखता है—"महीनोंसे, असलमें वर्षोंसे, लोग विद्रोहका जाल फैला रहे थे। देशके एक कोनेसे दूसरे कोनेतक, एक दरबारसे दूसरेतक, नानासाहबके आदमी रहस्यमय भाषामें विभिन्न राजाओं और नवाबोंके पास गुप्त रूपसे विद्रोहके निमन्त्रण पहुँचाते थे।"[2]

बड़ी बड़ी आमसभाएं की जाती थीं, जिनमें विद्रोही संगठनके नेता लोग भाषण करते थे और लोगोंको ब्रिटिश शासन उखाड़ फेंकनेके लिए आह्वान करते थे। जो लोग अबतक यह समझे बैठे थे कि भारतीयोंमें देशप्रेमकी भावना नहीं है, स्वाभिमान और राष्ट्रीयताकी इस लहरने उनकी आँखें खोल दीं।

अंग्रेजी सेनाके भारतीय सिपाही जिन्हें परम्परासे किरायेके टट्टू समझा जाता था जोशके साथ विद्रोहकी तैयारी करने लगे और विद्रोहके नेताओंके अनुशासनको सहर्ष मानने लगे। वे निर्धारित तिथि, ३१ मई को अंग्रेजोंके विरुद्ध विद्रोह शुरु करनेके लिए राजी हो गये। परन्तु कारतूसोंकी घटना और अंग्रेज अफसरोंके व्यवहारने दो रेजीमेन्टोंके सिपाहियोंको खिजाकर सहनशीलताकी सीमापर पहुँचा दिया। उन्होंने पहले दो अफसरोंके खिलाफ विद्रोह कर दिया।

इस प्रकार विद्रोह मेरठमें १० मई को ही आरंभ हो गया। बहादुरशाहको भारतका बादशाह घोषित कर दिया गया। दिल्लीको स्वतंत्र किया गया और फिर तो एकके बाद दूसरे इलाके स्वाधीन होते गये। स्वतंत्रता संग्रामकी सेना तेजीसे बढ़ रही थी। जो अंग्रेजी इलाका स्वतन्त्र किया जाता उसकी सेना विद्रोहियोंके साथ चल पड़ती। परन्तु इन छोटी-

१. जान के, इण्डियन म्यूटिनी, भाग २, पृ० १९५.

२. जान के, वही पुस्तक भाग १, पृ० २४.

छोटी जीतोंसे भारतीयोंमें यह गलतफहमी पैदा हो गयी कि शत्रु परास्त हो गया और देशका बहुत बड़ा भाग स्वतंत्र हो गया।

इस बीच अंग्रेजोंने अपनी बिखरी हुई शक्तिको इकट्ठा किया और देशी राजाओंसे कहा कि अंग्रेजोंको मदद देनेमें ही उनका कल्याण है। उनमेंसे बहुतसे टूट गये। अंग्रेजोंने सब्ज बाग दिखाकर सिखों और गोरखोंको भी अपनी ओर मिला लिया। फिर तो लड़ाईका रुख ही बदल गया। अंग्रेजोंके पैर पुनः जमने लगे और विजयके दौरमें उन्होंने अकथनीय प्रकारके दमन और अत्याचार किये। इनका थोड़ा-सा आभास नीचेके उद्धरणोंसे मिलता है—

सर चार्ल्स डिल्कने अपनी पुस्तक 'ग्रेटर ब्रिटेन'में लिखा है—"दमनके दौरानमें गाँवके-गाँव जला दिये गये। निर्दोष गाँववालोंका वह कत्लेआम किया गया कि मुहम्मद तुगलक भी उससे शर्मा जायगा।"

चार्ल्स बालने अपनी पुस्तक 'इण्डियन म्यूटिनी'में लिखा है—"जनरल हैवलाकने सर ह्यू व्हीलरकी मौतका भयंकर बदला लेना शुरू किया...झुंड-के-झुंड भारतीय फाँसीपर चढ़ाये गये। कुछ विद्रोही नेताओंने फाँसीके तख्तेपर चढ़नेके समय भी ऐसा महान् व्यवहार और शान्त चित्तता दिखलायी जो वे ही व्यक्ति दिखा सकते हैं जो सिद्धान्तपर मर मिटनेवाले होते हैं।"

माँटगोमरी मार्टिनने लिखा है—"जब हमारी सेनाने नगरके अन्दर प्रवेश किया तो जितने भी व्यक्ति उसे मिले उसने सबको तलवारसे मौतके घाट उतार दिया। उनकी संख्या बहुत बड़ी थी क्योंकि कुछ घरोंमें तीस-तीस चालीस-चालीस व्यक्ति छिपे हुए थे।"

रसेलकी डायरीके पृष्ठ २०८ पर लिखा हुआ है—"कुछ सिपाही जिन्दा बचे थे, उन्हें भी निर्दयतापूर्वक मार डाला गया। उनमेंसे एकको पैरोंसे घसीटकर बाहर रेतीले मैदानमें ले जाया गया। वहाँ कुछ अंग्रेजोंने उसके चेहरे और शरीरपर संगीनें भोंकीं। फिर ईंधन इकट्ठा करके एक छोटी-सी चिता बनायी गयी और जब सब सामान तैयार हो गया तो उसे जिन्दा चितामें ढकेल दिया गया। यह सब करनेवाले अंग्रेज थे। कई अफसरोंने भी यह काण्ड होते देखा। किसीने हस्तक्षेप न किया। इस नारकीय नृशंसताकी भयंकरता तब और बढ़ गयी जब उस अभागे सिपाहीने बड़ी कोशिशसे जलती चितामेंसे निकलनेकी कोशिश की। एकाएक वह उछलकर निकल आया। वह इतना जल चुका था कि उसका मांस हड्डियोंसे अलग लटक रहा था। वह कुछ ही कदम भाग पाया था कि उसे पकड़कर चितामें फेंक दिया गया और वहाँ संगीनोंसे उसे रोके रखा गया। वह अभागा उसी चितामें स्वाहा हो गया।"

इस प्रकारके अत्याचारोंके वर्णनोंसे इतिहासकी पुस्तकें भरी पड़ी हैं। लेयर नामक पार्लमेन्टके एक सदस्यने (२५ अगस्त १८५८) टाइम्स अखबारमें लिखा था कि इस प्रकारके अत्याचार गदरमें भारतीयोंने नहीं किये थे। उसने लिखा था—"हिन्दुस्तानियोंके ऊपर अंग्रेज औरतों और बच्चोंपर अत्याचार करनेके जो आरोप लगाये गये हैं वे सब गढ़ी हुई कथाएँ हैं।"

जब विद्रोहका दमन हो चुका तो अंग्रेजोंने बहादुरशाहकी खबर ली। उसके कुछ पुत्र और रिश्तेदार मार डाले गये। बहादुरशाह और उसकी बेगमको कैद करके रंगून जेलमें बन्द कर दिया गया जहाँ तैमूर वंशके अन्तिम बादशाहकी १८६२ में मृत्यु हो गयी।

भारतकी पुनर्विजयका युद्ध १८५८ के अन्त तक चलता रहा। अबवमें तो १८५९ जनवरीमें जाकर शान्ति और व्यवस्था कायम हो पायी।

अध्याय १

वहाबी क्रान्ति व कूका विद्रोह

सन् १८५७–५८ के सशस्त्र विद्रोह (गदर) के पश्चात् ईस्ट इण्डिया कम्पनीका राज्य समाप्त हो गया, और पहली नवम्बर, १८५८ को ब्रिटिश सम्राज्ञीने, एक शाही घोषणा द्वारा भारतका शासन अपने हाथोंमें ले लिया। घोषणामें कहा गया था कि महारानीकी "प्रजाके लोग चाहे वे किसी भी जाति, रंग व धर्मके हों बिना किसी रोक-टोक और भेद-भावके सरकारी नौकरियोंमें उनकी शिक्षा, योग्यता और कार्यक्षमताके अनुसार भरती किये जायँगे।" भले ही महारानीने यह घोषणा सच्चे हृदयसे की हो, परन्तु उनकी भारतीय और ब्रिटिश सरकारोंने इसके प्रत्येक शब्दका जानबूझकर उल्लंघन किया और भारतीयोंको बड़ी-बड़ी सरकारी नौकरियोंसे वंचित रखा। जिस समय यह घोषणा की गयी थी विद्रोहकी आग पूर्णतया न बुझ पायी थी, परन्तु स्थिति काबूमें आने लायक हो गयी थी और अंग्रेजोंमें फिरसे आत्म-विश्वास जाग्रत हो गया था। मुगल साम्राज्यका अन्तिम दीपक सदैवके लिए बुझ चुका था, और अज्ञानसे अज्ञान व्यक्ति भी अब समझ गया था कि भारत एक यूरोपीय कौमके अधीन हो गया है।

सन् १८५७–५८ के "स्वतंत्रता संग्राम" के बाद कुछ वर्षों तक भारतीय लोग अत्यन्त भयभीत रहे। विद्रोहके विफल होनेसे जो राष्ट्रीय अपमान हुआ उसे मन मारकर लोग सहन कर ही रहे थे, लेकिन उसके साथ अंग्रेजोंके घोर अत्याचारने जनताके दिल दहला दिये। जंगली जातियोंको भी शर्मिन्दा करनेवाले कत्ले-आम हुए, फांसियाँ, और अन्य यातनाएँ दी गयीं।

इतिहासका यह हृदय-विदारक अध्याय भी समाप्त हुआ और लोग धीरे-धीरे जीवनके धन्धोंमें फिरसे व्यस्त हो गये। लेकिन मुसलमानोंके एक धार्मिक सम्प्रदायने जिसे वहाबी कहते हैं विद्रोहकी मशाल जलाये रखी, और यही कारण था कि मुसलमानोंके मध्यमवर्गकी परेशानीका काल और बढ़ गया। असफल विद्रोह या क्रान्ति जनताके लिए दमनका कारण होती है, परन्तु इस वहाबी आन्दोलनके कारण मुसलमानोंपरसे अंग्रेजोंका विश्वास पूर्णतया उठ गया।

वहाबी लोगोंने तथा मुसलमानोंके अन्य मुल्लाओंने पहले मुसलिम जनताको अंग्रेजों-से असहयोग करनेका पाठ सिखाया। उन्होंने फतवों द्वारा मुसलमानोंको आज्ञा दी कि वे अंग्रेजी पढ़ना लिखना न सीखें, ऐसा करना पाप है। इस एक बातके कारण मुसलमान लोग साधारणतया हिन्दुओंसे शिक्षा, राजनीति और आर्थिक उन्नतिमें बीसों वर्ष पिछड़ गये। इस ऐतिहासिक घटनामें हमें हिन्दू और मुसलिम राजनीतिके दो विभिन्न सूत्रोंमें बहनेके आदि कारण मिलते हैं। ज्यों-ज्यों भारतीय राजनीतिका विकास हुआ, त्यों-त्यों इन सूत्रोंके बीचका फासला चौड़ा होता गया।

वहाबी आन्दोलन क्या था। उन्नीसवीं शताब्दीके मुसलिम इतिहास और राजनीतिमें दो नेताओंका प्रमुख स्थान है—सैयद अहमद और सर सैयद अहमद खाँ। सैयद अहमद

वहाबी आन्दोलनके नेता थे। १८३१ में उनकी मृत्यु हो गयी और उनके बाद आन्दोलन-का संचालन उनके शिष्य करते रहे।

सैयद अहमद मुसलमानोंके उन धार्मिक नेताओंकी परंपरामेंसे थे जो शाह वली-उल्लाहके काल (१७१९ ई०) से आरंभ होती है, और जो भारतमें फिरसे मुसलमानोंकी सत्ता जमानेके लिए धार्मिक और राजनीतिक आन्दोलन करती रही। सैयद अहमद राय-बरेलीके रहनेवाले थे। उनके जीवनकालमें पंजाबमें सिखोंका राज्य था। उन्होंने सुन रखा था कि सिख राजा रणजीतसिंहके राज्यमें सिख लोग "मुसलमानोंके साथ बुरा बर्ताव करते हैं, उन्हें धार्मिक कर्तव्य पूरे करनेसे रोकते हैं, और उनके इबादतके स्थानोंको अपवित्र करते हैं। इसलिए सैयद अहमदने उनके राज्यको दारुलहर्ब घोषित कर दिया और उसके विरुद्ध जिहाद करनेका निर्णय किया। यद्यपि मराठोंने भी तभी अपना राज्य स्थापित किया था, परन्तु वे मुसलमानोंके धार्मिक कामोंमें बाधा नहीं डालते थे। उनके राज्यमें मुसलमान लोग अपने धर्म, कर्ममें स्वच्छन्द थे। उन्होंने मुसलिम काजियोंको भी उनके स्थानोंपर कायम रखा। इसलिए मुसलमान लोग मराठों और राजपूतोंके राज्योंको दारुल हर्ब नहीं बल्कि दारुल-इसलाम मानते थे।"[1] दारुल-इसलाम उस राज्यको कहते थे जहाँ इसलाम धर्मके पालनमें कोई बाधा न थी; उसका विपरीत राज्य दारुल-हर्ब कहलाता था जिसके विरुद्ध शत्रुताका व्यवहार और जिहाद करना धर्म समझा जाता था।

रणजीतसिंह स्वयं मुसलिम-विरोधी न था। उसके अति विश्वासपात्र लोगोंमें उसका मुसलिम मन्त्री पीरजादा अजीजउद्दीन भी था। उसके तोपखानेका प्रधान अधिकारी भी इलाहीबख्श नामक एक मुसलमान था, जिसके नामसे तोपखाना इलाहीबख्श तोपखाना कहलाता था।[2]

मुसलमानोंके प्रति बुरा बर्ताव वहाबी आन्दोलनके जिहादका एक कारण हो सकता है, पर यह आन्दोलन बुनियादी तौरपर राजनीतिक था जिसका आरम्भ वलीउल्लाहकी "तहरीक" से हुआ था। मुसलिम धार्मिक और राजनीतिक नेता जानते थे कि भारतपर फिरसे विजय प्राप्त करनेका सशस्त्र आन्दोलन उत्तरमें अफगानिस्तानकी सहायतासे आरम्भ होना चाहिये, और स्वयं भारतमें मुसलमान लोग इस ध्येयकी ओर तैयारी करें। उन दिनों मुसलमानोंको, अथवा किसी भी जातिको, संघटित करनेके लिए धार्मिक नारे बहुत जरूरी होते थे। बस एक बार यह समझ लेनेके बाद कि सैयद अहमद इस्लामका एक बड़ा भारी पीर है, मुसलमान उन्हें पूजने लगे, उनके अन्धभक्त हो गये और हजारोंकी संख्यामें पंजाबके जिहादके लिए उनके पीछे हो लिये।

निम्नलिखित वर्णनसे पता चलता है कि मुसलमानोंपर उनका कितना प्रभाव था— "उनकी आध्यात्मिक शक्तिसे लोग इतने प्रभावित थे कि उनके चेले नौकरोंकी भाँति उनकी सेवा करते थे। विद्वान और उच्चपदके लोग साधारण नौकरोंकी भाँति नंगे पाँव उनकी पालकीके पीछे दौड़ते थे। पटनामें कुछ अधिक समयतक ठहरनेके कारण उनके अनुयायियों की संख्या इतनी बढ़ गयी कि प्रबन्धके लिए एक नियमित सरकार स्थापित करनेकी आव-श्यकता प्रतीत हुई। सैयद अहमदने बड़े-बड़े नगरोंमें, जो उनके रास्तेमें पड़ते थे, व्यापा-

१. राजेन्द्र प्रसाद, इण्डिया डिवाइडेड, पृष्ठ ८७

२. तुफैल अहमद, मुसलमानोंका रौशन मुस्तकबिल (उर्दू) पृष्ठ १०९

रियोंसे कर वसूल करनेके लिए गुमाश्ते नौकर रखे। कलकत्तेमें तो इतनी भारी संख्यामें लोग उनके पास आये कि उनके लिए अलग अलग हाथ फेरकर शिष्य बनानेकी रस्मको निभाना असम्भव हो गया। इसलिए अपने लम्बे चौड़े साफेको फेंकते हुए उन्होंने कहा कि जो व्यक्ति इसे छू भर लेगा मेरा शिष्य हो जायगा।"[१]

अपने अनेक अनुयायियोंको साथ लेकर सैयद अहमद सिंध होते हुये काबुलके लिए रवाना हुए। कन्धारके फाटकपर उस नगरके धनी लोगों और साधारण जनताने उनका शानदार स्वागत किया। इन दोनों नगरोंमें लोगोंने उनकी फौजमें भरती होनेके लिए काफी उत्साह दिखाया। धीरे-धीरे एक लाख व्यक्ति जिहादके लिए तैयार हो गये। यह विश्वास करना कठिन है कि अफगानिस्तानके बादशाहको उसके राज्यमें इतनी बड़ी सैनिक तैयारीका पता नहीं था जो पंजाबपर हमला करनेके लिए हो रही थी। संभव है कि वह पंजाब-विजय में दिलचस्पी रखता हो, उसमें परन्तु अपने उन पूर्वजोंकी शक्ति न थी जिन्होंने भारत-पर सदियों पहले सफलतापूर्वक हमले किये थे, इसलिए वह शायद चाहता था कि वहाबियों द्वारा या उनकी आड़में किसी तरह पंजाब अपने राज्यमें मिला लिया जाये।

दूसरी ओर अंग्रेज भी पंजाबको हड़पना चाहते थे और सोच रहे थे कि वहाबी आन्दोलन उनकी योजनाके लिए सहायक होगा। इसलिए जब कि वे हर रियासती झगड़ेमें हस्तक्षेप करते थे, वे वहाबी-सिख संग्रामकी ओरसे उदासीन रहे। "उन दिनों मुसलिम लोग मुसलमान जनतासे सरेआम सिखोंके विरुद्ध जिहाद करनेके लिए कहते थे। हजारों सशस्त्र मुसलमान और असंख्य हथियार जिहादके लिए जमा किये गये। लेकिन जब अंग्रेजी कमिश्नर और मजिस्ट्रेटको इस विषयकी सूचना दी गयी और उन्होंने सरकारको सूचित किया तो सरकारने उनसे साफ कह दिया कि वे इस मामलेमें हस्तक्षेप न करें।"[२] मुहम्मद जाफरने निश्चित रूपसे लिखा है कि "इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि सरकार (ब्रिटिश सरकार) सैयद अहमदके विरुद्ध होती तो उन्हें हिन्दुस्तानसे कोई सहायता न पहुँच पाती। लेकिन अंग्रेजी सरकार उन दिनों मनसे यही चाहती थी कि सिखोंकी शक्ति किसी प्रकार कम हो।"[३]

परन्तु जिहादके प्रति अंग्रेजोंकी उदासीनता, उन्हींके लिए पंजाब विजयके बाद मुसीबत साबित हुई। वहाबियोंने अंग्रेजी राज्यको भी दारुल-हर्ब घोषित कर दिया और मुसलमानोंसे कहा कि ऐसे राज्यके प्रति उनके सामने दो ही रास्ते हैं—जिहाद या हिजरत। हिजरतसे मतलब दारुल-हर्बका इलाका त्याग देनेसे था। इसलिए लोगोंने जिहादका रास्ता पसन्द किया। वहाबियोंने पहलेसे ही सीमान्तकी स्वात घाटीके सिताना नामक स्थानमें अपना स्थापित केन्द्र बना रखा था। वहाँ वे लगभग पच्चीस वर्षोंतक सिक्खोंके विरुद्ध धार्मिक युद्ध चलाते रहे थे। इस सुसज्जित युद्ध-मशीनको उन्हें केवल अपने नये शत्रुको अंग्रेजकी ओर घुमा देना था। हण्टरने अपनी पुस्तकोंमें सितानाके वहाबी केन्द्रको बागी कैम्प या

१. डब्लू. डब्लू. हण्टर, इण्डियन मुसलमान्स, पृ० १३
२. राजेन्द्रप्रसादके "इण्डिया डिवाइडेड" में उद्धृत, पृ० ३७
(सर सैयद अहमद खाँके इन्स्टीट्यूट गजट ता० ८ सितम्बर, १८७१ में प्रकाशित एक लेखसे।)
३. मुहम्मद जाफर "सवानत अहमद दिया", पृ० १३९

देशद्रोही कैम्प कहा है। इसके विषयमें सन् १८७१ में उसने लिखा था—"वर्षोंसे बागी कैम्पने हमारी सीमाको खतरेमें डाल रखा है। समय-समयपर धर्मान्ध लोगोंके झुण्डके झुण्ड हमारे कैम्पके ऊपर हमला करते हैं, हमारे गाँव जला देते हैं। हमारी प्रजाका कत्ल करते हैं और हमारी फौजोंको लड़ाइयोंमें फँसाते हैं। हर महीने यह विरोधी दल बंगालसे फौज भर्ती करता है। वहाबियोंके ऊपर लगातार चलाये गये अभियोगोंसे सिद्ध होता है कि षडयन्त्रका जाल हमारे समस्त सूबोंमें फैल गया है। पंजाबके ऊपरके पहाड़ोंसे लेकर उस स्थानतक जहाँ गंगा समुद्रमें गिरती है, जगह-जगहपर विद्रोहियोंने अपने अड्डे बना रखे हैं।

उनसे एक संघटनका पता चलता है जो नियमित ढंगसे धन-जनसे गंगाके डेल्टामें दो हजार मील दूर वहाबी कैम्पको भेजता है। बड़े बुद्धिमान और धनी लोग इस षड्यन्त्रका संचालन करते हैं। जिस कौशलपूर्ण ढंगसे रुपया भेजा जाता है, उसने देशद्रोहके एक बड़े खतरनाक व्यापारको सुचारु और सुरक्षित बैंक व्यवस्थाके रूपमें परिणत कर दिया है।"[1]

ब्रिटिश भारतीय प्रदेशोंमें पटना, वहाबी कारखाइयोंका केन्द्र था। वहाँ गुप्त कार्य इस सफाई और कुशलतासे किये जाते थे कि बहुत वर्षों तक अधिकारियोंको यह पता न लग सका कि विद्रोही कारखाइयोंमें पटनेका कितना महत्वपूर्ण स्थान है। जब पटना संघटन गुप्त रूपसे पक्का हो गया तो नगरके खास-खास निवासी खुले आम सरकार-विरोधी प्रचार करने लगे। ब्रिटिशराज्यको उखाड़ फेंकनेके लिए पटना नगरमें एक अभूतपूर्व उत्साह दिखाई देने लगा। मैजिस्ट्रेटने रिपोर्ट की कि बागियोंकी संख्या नित्यप्रति बढ़ती जा रही है। पुलिस भी बागियोंसे मिल गयी। बागी नेता लोग अंग्रेजी सत्तासे न डरते थे। उनमेंसे एकने जिसके घरमें ७०० आदमी जमा थे, घोषित कर दिया था कि अब मैजिस्ट्रेटकी कोई भी जाँच न होने देंगे और उसका मुकाबला शक्तिसे करेंगे। सन् १८५३ में, अंग्रेजोंके कई हिन्दुस्तानी सिपाहियोंको बागियोंके साथ पत्र-व्यवहार करनेके अपराधमें सजा दी गयी थी। सीमान्तपर बागी नेताओंने १८५२ में अंग्रेजोंकी भारतीय सेनाके साथ सम्पर्क स्थापित कर लिया था। इस विषयके कुछ पत्र पकड़े भी गये थे। इन वर्षोंमें अंग्रेजी प्रदेशोंसे भाग-भागकर लोग बागी कैम्पमें शामिल होते थे। सन् १८६२ में उनकी संख्या इतनी बढ़ गयी कि पंजाब सरकारने भारत सरकारको एक और सीमान्त युद्ध करनेका परामर्श दिया। सन् १८६३ में अंग्रेजों और बागियोंमें भयानक युद्ध हुआ। बागी पीछे ढकेल दिये गये और सरकारको कुछ समयके लिए चैन मिला। परन्तु वहाबी उत्साह अजेय रहा।

हण्टरका कहना है कि "वहाबी आन्दोलन दक्षिणी भारत तक असर पहुँचा चुका था। हम द्रोहियोंसे नहीं डरते, परन्तु डरका कारण हमारे साम्राज्यका राजद्रोही जनसमूह और सीमान्तके धर्मान्ध कबायली हैं जिन्हें बार-बार बागियोंने हमारे विरुद्ध उभारकर धर्म-युद्धके लिए अपनी ओर मिलाया है। सच तो यह है कि जब हम सीमान्त बस्तीको फौजी शक्तिसे उखाड़ फेंकनेकी कोशिश करते हैं तो हमारी मुसलिम रियायाके धर्मान्धवर्ग धन और जनके असीम भण्डारसे इसे और अधिक शक्तिशाली बना देते हैं। जिसे हम बुझी राख समझकर छोड़ देते हैं उसे वे मानो तेल डालकर फिर लपट बना देते हैं।"[2]

हण्टरके अनुसार सीमान्तके विद्रोह-शिविरमें केवल मुसलमान थे। परन्तु सर सैयद

---

१. हण्टर पृ० ९

२. हण्टर, पृ० ४२, ४३, ४४

अहमद खाँ इस विचारसे सहमत न थे। सन् १८५७-५८ के विद्रोहमें सर सैयद अंग्रेजोंकी तरफ थे, और उनके जीवनका बड़ा भाग मुसलमानोंको अंग्रेजोंका वफादार बनानेमें बीता था। उनके कथनानुसार सीमान्तके बागियोंमें हिन्दू-मुसलमान दोनों ही सम्मिलित थे। सन् १८७१ में हण्टरने अपनी किताब "इण्डियन मुसलमान" में लिखा था कि "भारतके मुसलमान बहुत कालसे ब्रिटिश सत्ताके लिये खतरा रहे हैं और मालूम होता है सदैव रहेंगे।" इस पुस्तकके प्रकाशनके बाद सर सैयदने एक छोटी-सी पुस्तिका लिखी जिसमें उन्होंने हण्टरके कथनका खण्डन किया। उनका कहना है कि "१८५७ के विफल होनेके बाद कुछ परेशान विद्रोही अंग्रेजी दमन और सजाके कारण मुल्का व सितानामें, नेपालकी तराईमें, और बीकानेर और राजपूतानाके जंगलोंमें बस गये। जो उत्तर-पश्चिम सीमान्तकी ओर भाग गये थे उनमें सब जातियोंके हिन्दू और विभिन्न फिरकोंके मुसलमान भी थे, और क्योंकि वे सब एक ही खतरेसे बचनेके लिए भागे थे स्वाभावतः साथ-साथ रहे। इन्हीं लोगोंने मुल्का तथा अन्य स्थानोंपर कब्जा कर लिया, परन्तु यह कहना जैसी कि हण्टरकी राय है, कि वे सरकारके विरुद्ध धार्मिक युद्ध करनेके लिए वहाँ इकट्ठा हुए थे, विश्वासके योग्य नहीं है क्योंकि इस जमावमें सब जाति-भाँतिके हिन्दू और मुसलमान थे।"[1]

सर सैयद ठीक कहते थे कि हिन्दू मुसलमान मिलकर कोई धार्मिक युद्धकी योजना कैसे बना सकते थे क्योंकि उनके धर्मोंमें बहुत अन्तर है। वास्तवमें उनका विद्रोह राजनीतिक था, और क्योंकि "जिहाद" शब्दका प्रयोग "पवित्र युद्ध" के लिए होता आया था, इसलिए वे सब ब्रिटिश शासनको उखाड़ फेंकनेके संग्रामको जिहाद ही कहते रहे। परन्तु आश्चर्यजनक बात यह है कि उन विद्रोहियोंमें जिनपर सीमान्त संबंधी कृत्योंके विषयमें अभियोग चलाये गये, एक भी हिन्दू न था। अगर वास्तवमें हिन्दू सीमान्तके उपनिवेशोंमें थे तो इस बातके दो ही कारण हो सकते हैं—(१) शायद उनकी संख्या बहुत कम थी और इसी लिए विद्रोहमें उनका हिस्सा नगण्य रहा; और (२) शायद अंग्रेज सरकार हिन्दू मुसलमान दोनोंको एक साथ शत्रु बनाना नहीं चाहती थी, क्योंकि यदि अभियोगोंमें कुछ हिन्दू भी शामिल कर लिये जाते तो सम्भवतः हिन्दू जनता भी उनके विरुद्ध हो जाती। उस समय अंग्रेजों की नीति हिन्दुओंको खुश रखनेकी थी।

विद्रोह (१८५७) के बाद वहाबी आन्दोलन बीसों वर्षोंतक ब्रिटिश सत्तासे मुठभेड़ लेता रहा। हण्टरने उस समयके खतरेका इस प्रकार वर्णन किया है—"स्वयं मुसलमानोंने जो कागजात प्रकाशित किये हैं उनसे प्रत्यक्ष हो जाता है कि भारतीय साम्राज्य एक भारी खतरेसे गुजर रहा है। उनको पढ़नेसे प्रत्येक निष्पक्ष व्यक्तिको विश्वास हो जायेगा कि जब कि अधिक साहसी मुसलमान खुल्लमखुल्ला देशद्रोहके कार्यमें लगे हुए थे, सम्पूर्ण मुसलिम जातिके दिमागमें इस बृहत् प्रश्नने उथल-पुथल मचा रखी है। शायद ही कभी इतने बड़े पैमानेपर लोग प्रभावित हुए हों। विद्रोह करना सब मुसलमानोंका कर्तव्य है, इस बातको बहुत सुन्दर और सार्वजनिक ढंगसे इस्लामी कानूनका रूप दे दिया गया है।"[2]

विद्रोहके नेताओंने बहुत-सा साहित्य प्रकाशित किया जिसमें विद्रोहियोंको निश्चयात्मक युद्ध करनेके लिए उत्साहित किया गया और भविष्यवाणी की गयी कि अंग्रेजोंका पतन

---

१. सी. ऐफ. आई ग्रहम, "दि लाइफ ऐण्ड वर्क ऑव सैयद अहमद खान" पृ० २२१

२. हण्टर, पृ० १०

समीप है। यह साहित्य गुप्त रीतिसे हाथोंहाथ इधर-उधर बेचा गया। इस प्रचारका प्रभाव साहित्यके पाठकोंतक सीमित न था, वरन् अनुभवी उपदेशकों द्वारा जो विद्रोहके संचालनमें बड़ी सावधानीसे शिक्षित किये गये थे, बंगालके प्रत्येक जिलेमें फैलाया गया। वहाबी प्रचारमें निरन्तर कहा जाता था कि यदि मुसलमान ब्रिटिश शासनके विरुद्ध युद्धमें भाग लेंगे, तो वे सदाके लिए नर्कसे छुटकारा पा जायेंगे।

महारानी विक्टोरियाके विरुद्ध विद्रोह फैलानेके लिए वहावियोंने सम्पूर्ण देहातोंमें एक स्थायी प्रचारसंघटन स्थापित कर रखा था। विद्रोहके जिलाकेन्द्र पटना प्रचार कार्यालय-से नियमित सम्पर्क रखते थे। प्रत्येक जिला इकाईका जनधन इकट्ठा करनेका अलग संघटन था। सन् १८७० में ऐसे दो जिलासंघटन अंग्रेज अधिकारियोंके हाथमें पड़ गये। उनके प्रधान प्रचारकोंको आजीवन कारागारकी सजा दे दी गयी और उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली गयी। उन दिनों कोड़े मारनेकी सजाका बहुत चलन था। जिन अपराधियोंको कोड़े मारे जाते थे उन्हींके साथ विद्रोहियोंकी भी गिनती होती थी। इस सजाकी नृशंसताका वर्णन बंगाल सिविल सर्विसके एक सदस्य, सर हेनरी काटनने इस प्रकार किया है—

"अपराधी हाथ पैरोंसे एक तिकोनी टिकटीपर नंगा बाँध दिया जाता है, जिससे वह हिल न सके। तब कमरसे नीचेके भागमें उसके खूब बेंत लगाये जाते हैं। मैंने अक्सर देखा है कि बेंत पड़नेसे उस स्थानकी खाल और मांस कट-कटकर टुकड़े हो जाती हैं। कभी-कभी मनुष्य असहनीय कष्टसे बेहोश हो जाते हैं, और मैंने अधिकृत रूपसे सुना है कि बहुतसे आदमी बेंत यातनासे मर जाते हैं। बंगालमें प्रत्येक दलके बाहर इस नृशंसताकी याद दिलाने वाली तिकोनी टिकटियाँ दिखाई देती हैं। मुझे यह सब स्वीकार करनेमें घोर वेदना हो रही है। मैं इस विषयपर अधिक लिखना नहीं चाहता, क्योंकि यह अति भयंकर है और मैं इसे न्यायके लिए दी गयी सजा नहीं मान सकता। इससे अधिक बर्बरतापूर्ण सजा विचारमें ही नहीं आ सकती और मैं शर्म और शोकसे स्वीकार करता हूँ कि मुझे भी इस हुक्मको देनेकी आदत पड़ गयी थी।[1] मैं लगातार अपने न्यायके निर्णयोंमें कोड़े लगवानेकी सजा देता था।"[2]

जिस समय इण्डियन व्हिपिंग ऐक्ट (कोड़े लगानेका कानून) पारित किया गया था (१८६४) उस समय वहाबी आन्दोलन जोरोंसे चल रहा था। आजीवन कारागार या मृत्यु—दण्ड इस सजाके सामने कुछ भी नहीं था, और यह सजा जेलकी चारदीवारीके अन्दर, जनताकी दृष्टिसे बहुत दूर, दी जाती थी। बाहर लोग अभियोगोंकी सुनवाईके विषयमें तो जानते थे लेकिन जो बर्बरताका व्यवहार जेलके अन्दर होता था उसका किसीको पता न चलता था। अंग्रेज जाति ही इस प्रकारकी सजा कानूनसे न्यायसंगत बना सकती थी।

अब हम फिर मुख्य विषयपर आते हैं। उन्नीसवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें १८६० से १८७२ तक बहुतसे वहाबी अपराधियोंपर मुकदमे चलाये गये। उनपर देश-द्रोह और महारानीके विरुद्ध युद्ध करनेके चार्ज लगाये गये और उनको आजीवन कारागारकी सजा दी गयी। सन् १८६४ के मुकदमेकी सुनवाईमें, जो कि सन् १८८३ के वहाबी युद्धसे संबंधित था, दूर-दूरके सूत्रोंमें फैले हुये एक सुसंघटित षडयन्त्रका पता लगा। लोगोंको अचम्भा होता था कि किस प्रकार वहावियोंने इस संघटनको गुप्त रखा और इसके द्वारा आत्मरक्षाका

१. सर हेनरी काटन, "इण्डियन ऐण्ड होम मेमोरीज", पृ० ८०

२. यही पुस्तक, पृ० ७९

सुचारू प्रबन्ध किया। इस मुकदमेमें ११ मुसलमानोंपर "घोर राज-द्रोह" का चार्ज लगाया गया था। "इनमें मुसलिम समाजके प्रत्येक वर्गके प्रतिनिधि थे, अर्थात् उच्च कुलोंके मौलवी, एक फौजका ठेकेदार भंगी, सिपाही, उपदेशक, खानसामा और किसान।"[१] ८ को आजीवन कारागार और ३ को फाँसीकी सजा दी गयी।

इस मुकदमेके मुख्य अपराधी याहिया अली थे, जो पटना प्रचार-केन्द्रके प्रधान अधिकारी थे। वे इस केन्द्रसे स्वयंसेवकोंको भरती करके सीमान्तके उस पार विद्रोही-शिविरमें भेजते थे। उनको फाँसीकी सजा दी गयी थी जो बादको कम करके आजीवन काला-पानी कर दी गयी थी। न्यायाधीश, सर हरबर्ट ऐडवर्ड्सने उनके बारेमें अपने फैसलेमें कहा था—"यहिया अलीने अपने सैकड़ों और हजारों देशवासियोंको राजद्रोह और विद्रोहके लिए बहकाया है। उन्होंने अपने षडयंत्रों द्वारा सरकारको सीमान्त-युद्धमें फँसाया जिसके कारण सैकड़ों मनुष्योंकी जानें गयीं। वह एक उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति हैं, और यह बहाना नहीं कर सकते कि उन्होंने यह सब काम नासमझीमें किया। जो कुछ भी उन्होंने किया है, विचार-पूर्वक, दृढ़प्रतिज्ञ होकर तथा कटु राजद्रोहकी भावनासे प्रेरित होकर ही किया। वह एक ऐसे धर्मान्ध कुलके हैं जो परम्परासे ही अराजभक्त रहा है।"[२]

पूर्वी बंगालके प्रत्येक जिलेमें विद्रोह-आन्दोलन जोरोंसे फैला हुआ था। पटनासे लेकर बंगालके समुद्रतक मुसलमान किसानोंकी यह हालत थी कि वे नियमित रूपसे प्रति सप्ताह विद्रोही शिविरके लिए कुछ दान निकाल देते थे। सन् १८६४ के अभियोगके बाद, जिसकी सुनवाई अंबालामें हुई थी, बागियोंकी करतूतें इतनी बढ़ गयीं और उनका क्षेत्र इतना व्यापक हो गया कि सन् १८६८ में सरकारको १८१८के रेगुलेशन ३ के अधीन बिना अभि-योग चलाये गिरफ्तार करनेकी शक्तिका प्रयोग करना पड़ा।

वहाबियोंपर किये गये अत्याचारोंका कुछ पता मुहम्मद जाफर थानेश्वरीकी उर्दू पुस्तक "कालापानी या तारीख अजीब" से चलता है। मुहम्मद जाफर २० वर्षका कालापानी काटकर घर लौटे थे। वह भी अंबाला अभियोगके एक अपराधी थे। दिसम्बर १८६३ में जब उन्हें पता चल गया कि वे शीघ्र ही गिरफ्तार कर लिये जाएँगे तो वे फरार हो गये। थानेश्वर और देहलीमें सैकड़ों मकानोंकी तलाशी ली गयी पर वे न मिले। उनके भाई और माताको उनका पता जाननेके अभिप्रायसे पुलिसने खूब पीटा। अन्तमें वह अलीगढ़में पकड़े गये। उनके साथियोंके विषयमें पूछा गया, और जब बार-बार वह यही कहते गये कि "मैं अपने साथियोंके बारेमें कुछ भी न बताऊँगा", तो उनको इतना पीटा गया कि वे बेहोश हो गये। इस पिटाईके दूसरे दिन फिर पारसन नामक पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट उनकी हवालातकी कोठरीमें प्रकट हुआ और उनसे कहा कि यदि वह सब हाल बता देंगे तो उनको एक बड़ी सरकारी नौकरी दे दी जायगी। "मेरे फिर इनकार करने पर पारसन साहब मुझे सुबह ८ बजेसे रातके ८ बजेतक पीटता रहा। मेरे सगे भाईको इतना मारा गया कि वह मेरे खिलाफ गवाही देनेके लिए तैयार हो गये।" मुहम्मद जाफरका कहना है कि वहाबियोंको पकड़नेकी आड़में पुलिसने "पेशावरसे बंगालके उत्तर-पूर्व भागतक शायद ही कोई इज्जतदार मुसलमान छोड़ा हो जिससे उसने रुपया वसूल न किया हो।"

१. हण्टर, पृष्ठ ८३
२. हण्टर, पृष्ठ ९३

सन् १८६८ में वहावी आन्दोलन फिर इतना जोर पकड़ गया कि उसका दमन करनेके लिए सरकारको पुनः बड़े पैमानेपर तैयारी करनी पड़ी। सरकारको अब अनुभव होने लगा कि केवल हिंसात्मक दमन, अभियोगों और कड़ी सजाओंसे आन्दोलन दबनेवाला नहीं है। इसलिये उसने उसकी जड़पर कुल्हाड़ी चलानेकी योजना बनायी। प्रत्येक जिलेमें विद्रोही नेताओंकी सूची तैयार की गयी। खास-खास उपदेशकोंको हिरासतमें ले लिया गया, और इस प्रकार जो जादू-सा असर वे जनतापर डालते थे वह खत्म किया गया। उनकी गुप्त कारखाइयोंके विषयमें गवाही इकट्ठा की गयी। यह पता लगानेके लिए कि विद्रोही कोषमें कौन लोग रुपया देते हैं काफी छान-बीन की गयी।

सन् १८६४ से १८७१ तक पाँच बड़े वहावी अभियोग चलाये गये। जिन जिलोंमें ये चलाये गये थे वे एक दूसरेसे सैकड़ों मीलकी दूरीपर थे, लेकिन षड्यन्त्रमें वे सब सम्बन्धित थे। सीमान्तके प्रत्येक युद्धके बाद भारतमें वहावी अभियोग चलाये जाते थे और प्रत्येक मामलेसे बहुतसे मामलोंका पता चलता था।

सन् १८७१ के वहावी अभियोगके जमानेमें अंग्रेजोंके विरुद्ध मुसलमानोंका रोष पराकाष्ठापर पहुँच गया था। उस वर्षके सितम्बर मासमें बंगालके मुख्य न्यायाधीश, जॉन पैक्सटन नॉरमैनको एक मुसलमानने कत्ल कर दिया। हण्टरका कहना है कि अंग्रेजोंका इतना विरोध १८५७ के विद्रोहके बाद कभी न था। सन् १८७३ में वाइसराय मेयोको शेरअली नामक एक वहावीने मार डाला। मेयो अण्डमन गये हुए थे और वहाँ जब वह नावपर चढ़ रहे थे तो शेरअलीने उनका काम तमाम कर दिया। मेयो मर तो गये, परन्तु वहावी आन्दोलनको एक मनोवैज्ञानिक ढंगसे खत्म करनेकी योजना वह पहले ही बना चुके थे और उसपर कारखाई भी शुरू हो गयी थी।

मेयोने वहावी आन्दोलनके फैलनेके आदि कारणोंपर, जो मजहबी थे, विचार किया। उसने सोचा कि यदि मुसलिम विद्रोही अपने मुल्लाओं द्वारा यह फतवा निकलवा सकते हैं कि अंग्रेजी राज्य दारुल-हर्ब है, तो कुछ ऐसे मुल्ला भी मिल सकते हैं जो इस राज्यको दारुल-इसलाम घोषित कर दें। ऐसे फतवेसे जिहादकी जरूरत ही नहीं रह जाती। यह काम हण्टरको सिपुर्द किया गया। उन्होंने वहावी आन्दोलनपर एक पुस्तक लिखी—"भारतीय मुसलमान—क्या वे धार्मिक दृष्टिसे महारानीके विरुद्ध विद्रोह करनेके लिए बाधित हैं?" वहावी आन्दोलनकी एक रूपरेखा देनेके बाद हण्टरने अपनी पुस्तकमें यह सुझाव दिया कि मुसलमान विद्रोहके लिए बाधित नहीं है। देशमें एक बहस खड़ी हो गयी कि भारत दारुल-हर्ब है या दारुल-इसलाम। कोई भी खुल्लमखुल्ला यह न कह सकता था कि अंग्रेजी राज्य दारुल-हर्ब है। जो कोई ऐसा कहता उसे जेलमें बन्द कर दिया जाता। प्रत्यक्ष है कि बहस एकतरफा थी। दकियानूसी और नीम-दकियानूसी मुल्ला 'दारुल-हर्ब' और 'दारुल-इस्लाम' शब्दोंकी नयी व्याख्या और विवेचना करने लगे। उन्होंने जोरदार शब्दोंमें कहना शुरू किया कि वहावियोंने जो मानी लगाये हैं वे भ्रामक हैं। उन्होंने घोषणा की कि, चूंकि भारतमें इस्लाम मजहबको सच्चे रूपमें माननेकी आजादी है, अंग्रेजी राजके खिलाफ जिहाद करना शरियतके खिलाफ होगा, मक्काशरीफके कुछ मुफ्तियोंके फतवे मँगवाये गये, जिनके अनुसार "जबतक देशमें इस्लामकी कुछ खास रिवायतें कायम हैं, वह 'दारुल-इस्लाम' है।" भागलपुरके कमिश्नरके निजी सचिवने उत्तर भारतके मुल्लाओंके पास जा-जाकर उनकी राय माँगी

जिन्होंने कहा कि "ईसाई यहाँ मुसलमानोंकी हिफाजत करते हैं और जहाँ मुसलमान महफूज हैं, वहाँ जिहाद नहीं हो सकता।" सन् १८६३ में वहावियोंके मुकदमोंके वक्त नवाब अब्दुल लतीफ द्वारा कलकत्तेमें स्थापित 'मुहमडन लिटरेरी सोसायटी' (मुस्लिम साहित्य गोष्ठी) वहावी आंदोलनका विरोध करती थी। यह सोसायटी अंग्रेजोंकी समर्थक थी और इसने भी इस व्याख्याका समर्थन किया कि भारत दारुल-इस्लाम है। सोसायटीने (जिसे उस वर्गके लोग चलाते थे, जिसका अस्तित्व अंग्रेजी कृपापर निर्भर था) मुस्लिम आलिमों (विद्वानों) की घोषणाएँ भी एकत्र कीं। खुद नवाब अब्दुल लतीफने वक्तव्य दिया कि "ब्रिटिश राज इतना मजबूत है कि उसका मुकाबला नहीं हो सकता, वह इतना फायदेमन्द है कि उसे दरगुजर नहीं किया जा सकता। जो मुसलमान तरक्की करना चाहते हैं, उन्हें अंग्रेजोंसे मिल-कर उन अवसरोंका फायदा उठाना चाहिये जो विदेशी मध्यमवर्गके लिए मिल रहे हैं।" सोसायटी अंग्रेजी शिक्षाको प्रोत्साहन देती थी। सर सैयद अहमदखाँने भी इस विवादमें भाग लिया था और ४ अप्रैल सन् १८७१ के "पायनियर"में सम्पादकके नाम पत्रमें लिखा था। "मुसलमान चाहे दारुल-हर्बमें रहते हों या दारुल-इस्लाममें, जो सरकार उनके दीन और इबादतमें दखल नहीं देती, उसके खिलाफ बगावत करना शरियतके खिलाफ है।" इससे लगभग दस साल पहले सर सैयदने एक पुस्तिका 'दि लायल मुहम्डैन्स आव इंडिया' (भारतके वफादार मुसलमान) लिखी थी, पर उन दिनों वहावियोंके विद्रोहकी तैयारियाँ जोरोंपर थीं, इसलिए उस किताबका मुसलमानोंपर असर न हुआ था। अब परिस्थिति बदल चुकी थी।

मुसलमानों—खास तौरपर वहावियोंकी कारस्वाइयोंने सरकारको इतना नाराज कर दिया था कि मुसलमान सरकारी नौकरियोंके अयोग्य समझे जाते थे। अंग्रेजीका ज्ञान न होना उनकी दूसरी अयोग्यता थी। मौलवियोंने फतवे निकाले थे कि फिरंगीकी भाषा सीखनेसे दोजख (नर्क) मिलेगा। अंग्रेजी न पढ़नेके कारण वकालत और डाक्टरी जैसे पेशे भी उनके लिए बन्द थे। छोटी सरकारी नौकरियाँ आसानीसे पा जानेवाले हिन्दुओंको मुसलमान ईर्ष्या करते थे। मुस्लिम प्रवक्ता इस भावनाको खुलेआम व्यक्त भी करते थे। कलकत्तेसे प्रकाशित फारसी अखबार 'दूरबीन'ने १४ जुलाई सन् १८६९ को लिखा था—"हर किस्मकी छोटी-बड़ी नौकरियाँ धीरे-धीरे मुसलमानोंसे छिनती जा रही हैं और दूसरी जातिवालोंको, खास तौर-पर हिन्दुओंको दी जा रही हैं। सरकारको अपनी प्रजाकी सभी जातियोंको एक ही आँखसे देखना है; पर आज वक्त यह है कि सरकार अपने गजटोंमें मुसलमानोंको ओहदोंसे दूर रखती है। हालमें, सुन्दरवनके कमिश्नरके दफ्तरमें कई जगहें खाली हुई थीं, पर हाकिमने उनके विज्ञापनमें ही लिख दिया था कि ये नौकरियाँ हिन्दुओंके अलावा और किसीको न मिलेंगी। संक्षेपमें, मुसलमान इतने गिर गये हैं कि सरकारी नौकरीकी योग्यता रखते हुए भी उन्हें इन नौकरियोंसे, हुक्म जारी कर, अलग रखा जाता है। मुसलमानोंकी इस असहाय दशापर कोई भी ध्यान नहीं देता और ऊँचे हाकिम तो मुसलमानोंका अस्तित्व भी स्वीकार नहीं करते।"[१]

नवाबी शासनमें मुसलमानोंको ऊँचे पद मिलते थे और हर फौजी व सिविल ओहदा उन्हें उपलब्ध था। अब इनके दरवाजे उनके लिए बन्द थे। उन्हें भौमिक सम्पत्ति भी प्राप्त

१. 'दि इण्डियन मुसलमान्स'में उद्धृत पृष्ठ १७५

न थीं। इस्तमरारी बन्दोवस्तके विशेषज्ञ जेम्स-ओ' किनीलीके अनुसार अंग्रेजोंने "हिन्दू परगना-हाकिमोंको (जो अवतक महत्वहीन नौकरियोंपर थे) जमीनके मालिकाना हक देकर जमींदार बना दिया और उन्हें दौलत इकट्ठी करनेका मौका दिया, नवाबी शासनमें यह दौलत मुसलमानोंको मिलती।"[1]

फारसी राजकाजकी भाषाके पदसे बहुत पहले ही हट गयी थी। अब बंगलाने उर्दूकी भी जगह ले ली थी। नये परिवर्तनोंने मुस्लिम कानूनके अवशेष भी मिटा दिये; इसे मुसलमान व्यक्तिगत और धार्मिक तिरस्कार समझते थे। हेनरी डडवेलके अनुसार "मात्र दृष्टिकोणसे आगे बढ़नेवाला पहला पहला असन्तोष मुख्यतः (यद्यपि पूर्णरूपेण नहीं) मुसलमानोंका था। उदाहरणार्थ, कहा जाता है कि सन् १८५९ में शिक्षा-विभागमें नियुक्त मुसलमान इस विवादमें तल्लीन थे कि ब्रिटिश सरकारकी नौकरी करना धर्म-विरुद्ध है या नहीं। पंजाबमें एक मुस्लिम फकीर राजद्रोहात्मक साहित्य बाँटते पकड़ा गया था और उसे फाँसी दे दी गयी थी। देशके इस या उस कोनेमें, हमेशा अंग्रेजी शासन पलट देनेकी साजिशें कुछ लोग किया करते। जिनका असन्तोष सबसे प्रत्यक्ष था वे मुसलमान थे।"[2]

अंग्रेजी दृष्टिकोणसे मुस्लिम समस्याका हल सीधा व साफ था—'उन्हें नयी व्यवस्थाके प्रति निष्ठावान बनाना चाहिये; अपनी शिक्षाप्रणालीकी मुस्लिम माँगको स्वीकार करना चाहिये; उन्हें अंग्रेजोंसे ज्यादा अच्छा व्यवहार मिलनेकी आशा होनी चाहिये; और उनकी शक्ति अंग्रेजी राजके अन्तर्गत 'रचनात्मक' ढंगसे आनी चाहिये।' मेयोने अपने एक नोटमें लिखा था—"इसमें कोई संशय नहीं है कि जहाँतक मुस्लिम जनताका सम्बन्ध है, हमारी वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली अधिकांशतः असफल रही है। हम न केवल मुस्लिम समाजके बड़े और महत्त्वपूर्ण अंगका विश्वास और सहानुभूति प्राप्त करनेमें ही असफल रहे हैं, बल्कि इस बातकी भी आशंका है कि हमने उनमें अभक्तिके भाव पैदा कर दिये हैं। तो, वर्षोंके अनुभवके बाद यह मानते हुए कि हम मुस्लिम समाजको अपनी शिक्षा-प्रणालीकी ओर आकर्षित करनेमें असफल रहे हैं और यह भी मानते हुए कि उनमें हमने इतनी अभक्ति पैदा कर दी है कि हिन्दुओंको हमारी शिक्षासे प्राप्त होनेवाली भौतिक सुविधाओंके प्रति वे उदासीन हैं, यह देखना रह जाता है कि इस मुश्किलका हल क्या है। मुसलमान तबतक शिष्ट नहीं होता जबतक उसे अरबी व उर्दूकी कुछ शिक्षा न मिल जाय। वह पण्डितसे पढ़ने हिन्दू स्कूल जायगा नहीं। इसलिए हमें उसके जातीय पक्षपातके सामने कुछ झुकते हुए अपने काफी स्कूलों व परीक्षाओंमें, उर्दू, फारसी व अरबीको अधिक स्थायी और महत्त्वपूर्ण स्थान देना चाहिये। हमें बंगला स्कूलोंकी तरह उर्दू स्कूलोंकी भी आर्थिक सहायता करनी चाहिये, अपने कालेजोंमें मुस्लिम छात्रोंके लिए दर्जे और वजीफे खोलने चाहिये और हर तरहसे उन्हें उन लाभदायक सरकारी नौकरियोंमें आनेका समान मौका देना चाहिये, जो आज हिन्दुओंकी एक तरहसे इजारेदारी बनी हुई हैं।"[3]

मेयोकी नयी नीतिका खुले दिलसे स्वागत हुआ। सर सैयद अहमदखाँके रूपमें इस नीतिको लागू-करानेके लिए एक साहसी और संकल्पबद्ध सहायक मिला ही हुआ था। वह

---

१. अशोक मेहता व अच्युत पटवर्धन द्वारा 'दि कम्यूनल ट्रायंगिल' में पृष्ठ ८३ पर उद्धृत।

२. 'ए स्केच आव दि हिस्टरी आव इण्डिया फ्रौम १८५८ टु १९१८" पृष्ठ २५१-२

३. बी० डी० वसु द्वारा 'इण्डिया अण्डर दि ब्रिटिशक्राउन'में पृष्ठ १२९-३० पर उद्धृत।

साहसके साथ, कभी-कभी जानका खतरा मोल लेकर भी, उन मौलवियोंके फतवोंका विरोध करते रहे जिन्होंने अंग्रेजी शिक्षाको गैरमजहबी घोषित किया था। मेयोकी नीतिने सर सैयद्‌को ब्रिटिश अनुयायी नहीं बनाया था; वे हमेशासे ब्रिटिश सरकारके प्रति निष्ठावान् थे—संभवतः ईमानदारीसे निष्ठावान् थे क्योंकि वे समझते थे कि अंग्रेजी राजकी जड़ें इस देशमें स्थायी रूपसे जम गयी है। सन् ५७ के महान् विद्रोहके समय भी, जब अंग्रेजी सत्ताकी जड़ें हिल गयी थीं, तब भी उनका विश्वास अटूट रहा। अपनी इस अंग्रेज-भक्तिको उन्होंने पराकाष्ठापर तब पहुँचा दिया, जब उन्होंने अंग्रेजोंकी आलोचना इस बातपर की कि वे हिन्दू-मुस्लिम भेदभावका फायदा उठाकर भारतीय सेनाकी वफादारीकी गारण्टी नहीं कर लेते। उन्होंने कहा कि "भारतमें अंग्रेजी सैन्य संघटन सदैव दोषपूर्ण रहा है; उसका एक बड़ा दोष यह रहा है कि उसमें काफी अंग्रेज सिपाही नहीं रहे। जब नादिरशाह खुरासान जीतकर फारस और अफगानिस्तान दोनोंका मालिक बना, वह हमेशा दो बराबर-बराबर शक्तिकी सेनाएँ रखता था। एकमें ईरानी व कजलबाश होते थे, दूसरीमें अफगान। जब ईरानी फौजमें बगावत होनेका अन्देशा होता अफगान फौज उसे दबानेके लिए मौजूद रहती; इसी तरह ईरानी अफगान सेनाके विद्रोह दमनके साधन रहते। अंग्रेजोंने भारतमें इस दृष्टान्तके अनुसार काम नहीं किया। इसमें सन्देह नहीं कि सिपाही वफादार थे और सरकारी काम अंजाम देते थे। पर सरकारको इसका विश्वास कैसे हुआ कि वे कभी भी सरकारी आदेशोंके खिलाफ काम नहीं करेंगे? सरकारने यह जरूर किया था कि एक ही सैनिक टुकड़ीमें दोनों जातियोंके सिपाही रख दिये थे; बराबर हेल-मेल रहनेसे टुकड़ीकी दोनों 'जातियाँ' लगभग एक हो गयीं।' यह होना अपेक्षित और स्वाभाविक ही है कि बराबर साथ रहनेसे एक रेजिमेण्टके सिपाहियोंमें दोस्ताना और भाईचारा हो जाय। वे अपनेको एक इकाई समझने लगते हैं। इसीलिए हिन्दू मुस्लिम भेद इन रेजिमेण्टोंमें मिट गये। अगर रेजिमेण्टके कुछ सिपाही कोई काम करते, तो बाकी भी उसीमें लग जाते। अगर हिन्दू और मुसलमान सिपाहियोंके अलग-अलग रेजिमेण्ट बनाये जाते, तो उनमें भाईचारेकी भावना पैदा न होने पाती।"[१]

सर सैयदका बचपन और जवानी मुगल दरबारमें कटी थी और वहाँ उन्होंने 'बादशाहकी स्थितिका खोखलापन, उसकी छायाशक्तिका झूठ और अंग्रेजी शक्ति' देखी थी। सन् १८३७ में २० वर्षकी उम्रमें ही अपने रिश्तेदारोंको नाराजकर बादशाहकी नौकरी छोड़कर अंग्रेजोंकी नौकरी कर ली थी।' पहले वे क्लर्क थे, पर बादमें मुंसिफ हो गये। वे अंग्रेजी नहीं जानते थे, पर अन्यथा विद्वान् थे और कई बहुमूल्य पुस्तकें लिखी थीं। उनकी दूसरी पुस्तक 'आर्क्यालोजिकल हिस्टरी आव दि रुइन्स आव डेलही' पर उन्हें रायल एशियाटिक सोसायटी' की सदस्यता (फैलोशिप) मिली। वह इतने अंग्रेजपरस्त थे कि उन्हें उनकी तुलनामें भारतीय जानवर मालूम पड़ते थे। सन् १८५७ के विद्रोहमें उन्होंने अंग्रेजोंकी मदद की थी और इससे मुसलमान उनसे क्रुद्ध हो गये थे। विद्रोहमें इस सहायताके लिए उन्हें अंग्रेजोंसे ढेरों प्रशंसा और काफी माली इनाम मिले। उत्तरी-पश्चिमी सूबेके एक लेफ्टिनेण्ट गवर्नरने उनके बारेमें लिखा था—"सन् ५७ में अंग्रेज सरकारके

---

१. सर सैयद अहमद खाँ—'दि कौजेज आव दि इण्डियन रिवोल्ट' (उर्दूमें), ग्रेहम द्वारा अनूदित और उद्धृत, पृष्ठ ५४-५५

प्रति भक्ति और अदम्य साहसका ऐसा महान् परिचय किसी औरने नहीं दिया जैसा सर-सैयदने; जैसी लगन और निष्ठा उन्होंने दिखायी उसका वर्णन करना कठिन है।"[1] उन्हें अपने और अपने बड़े लड़केकी उम्रभरके लिए २००) माहवारकी खास पेंशन मिली और कुछ दूसरे इनाम मिले। सन् १८६९ में तीसरे दर्जेका 'स्टार आव इण्डिया' का खिताब मिला। उसी साल उन्हें दो सालके लिए २५० पौंड सालाना की एक पेंशन 'गदरमें की गयी सेवाओंके लिए' और मिली। सन् १८६४ में उन्होंने गाजीपुरमें (जहाँ वे सबजज थे) अंग्रेजी किताबोंका उर्दूमें अनुवाद करने और मुसलमानों व अंग्रेजोंके बीच अधिक निकटके सम्बन्ध स्थापित करनेके लिए एक सोसायटी बनायी। इस सोसायटीमें सरकारी ओहदोंपर नौकर मुसलमान शामिल थे और कुछ स्थानीय अंग्रेज अफसर भी दिलचस्पी लेते थे। बादमें इस सोसायटीका नाम हुआ 'अलीगढ़ साइण्टीफिक सोसायटी'।

सन् १८७० में सर सैयदने उर्दूमें एक साहित्यिक व राजनीतिक अखबार निकालना शुरू किया, जो आठ साल चला। अखबार मुख्यतः अंग्रेजी शिक्षा और अंग्रेजोंसे सहयोगका प्रचार करता था। मक्काके मौलवियोंके फतवे सर सैयदके खिलाफ गरज उठे। उन्हें अनेक गुमनाम पत्र मिले, जिनमें अज्ञात लेखकोंने लिखा था कि हमने कुरान हाथमें लेकर कसम खायी है कि तुम्हें मार डालेंगे। उनमेंसे एकने लिखा था कि 'लार्ड मेयोको मारनेवाला शेर अली मूर्ख था; सर सैयदको मारकर वह बहिश्त जाना पक्का कर सकता था।'[2] इन धमकियोंकी परवाह किये बिना वे अपना काम करते रहे। सन् १८७० में ही उनके प्रयत्नोंसे भारतीय मुसलमानोंमें शिक्षा-प्रसारके लिए एक कमेटी बनी। जब उन्होंने शिक्षा-प्रचार शुरू किया उस समय भारतमें कुल २६ मुसलमान ग्रेजुएट थे, जब कि हिन्दू ग्रेजुएटोंकी संख्या १६२५ थी। सन् १८७१ में बंगालमें 'जिम्मेदारीके पदों' पर ७७३ भारतीय थे, जिनमें बंगालकी जनसंख्यामें बराबरी करनेवाले मुसलमानोंको कुल ९२ पद मिले हुए थे। इससे स्पष्ट हो जायगा कि सरकारी नौकरियों और शिक्षामें मुसलमान जितने पिछड़ गये थे उसे सर सैयदके प्रयत्न भी पूरा नहीं कर सकते थे।

धीरे-धीरे मुसलमानोंने अंग्रेजी शिक्षाका महत्त्व समझा और मुस्लिम कालेजकी स्थापनाके लिए चन्दा इकट्ठा करने लगे। सन् १८७५ में सर सैयदने मुसलमानोंके लिए एक हाई स्कूल स्थापित किया। सन् १८७८ में यह स्कूल दूसरे दर्जेका कालेज हो गया और कलकत्ता विश्वविद्यालयसे सम्बद्ध हो गया। कालान्तरमें यह कालेज मुसलमानोंके सामाजिक, धार्मिक, शिक्षा-सम्बन्धी व राजनीतिक कार्योंका केन्द्र बन गया। शिक्षाका माध्यम उर्दू था, पर अंग्रेजी भाषाके ज्ञानपर बहुत जोर दिया जाता था। प्रिंसिपल व अधिकतर अध्यापक अंग्रेज थे। यह कालेज कई बातोंमें अंग्रेजी शिक्षा संस्थाओंकी नकल करता था। नमाजके लिए छात्र मस्जिद जाते थे। सुन्नी और शिया छात्र अलग-अलग नमाज पढ़ते थे।

कालेजके संस्थापकने सन् १८७७ में लार्ड लिटनको एक मानपत्र देते हुए कहा था—"देशवासियोंको शिक्षित करना ताकि वे अंग्रेजोंकी उदाराशयता समझ सकें, भारतीय मुसलमानोंको ब्रिटिश सरकारकी योग्य और उपादेय प्रजा बनाना; उनमें ऐसी निष्ठा जाग्रत

१. ग्रेहम द्वारा उद्धृत, पृष्ठ १९
२. वही पुस्तक पृ०, २०४

करना जो विदेशीसत्ताकी दासतामूलक अधीनतासे नहीं, सदाशय सरकारकी उदारताके ज्ञानसे उत्पन्न होती है—कालेजके संस्थापकोंके ये ही उद्देश्य हैं।"

यह बात अजीब जान पड़ेगी, पर हिन्दुओं और मुसलमानोंके पृथक रेजिमेण्ट बनानेकी सलाह देनेवाले सर सैयद अहमदखाँ सम्प्रदायवादी नहीं थे। उन्होंने मुसलमानोंको 'राष्ट्र' और 'राष्ट्रीयता'का ज्ञान कराया था और इन शब्दोंकी परिधिमें वे हिन्दुओं व मुसलमानों दोनोंको शामिल करते थे। वे कहते—"कौम, वह जो एक मुल्कमें रहे......याद रहे कि हिन्दू और मुसलमान धार्मिक शब्द हैं; अन्यथा इस मुल्कमें रहनेवाले सभी हिन्दू, मुसलमान, ईसाई इस देशके होनेके नाते एक कौम हैं। जब ये सब समूह एक हैं तो जिससे उन सबके देशका फायदा होगा, उससे उन सबका भी फायदा होगा...... । अब वह वक्त गुजर चुका है जब धर्ममें भेद होनेके कारण किसी देशके वासी दो कौमें गिने जाते थे।"[1]

पंजाबके हिन्दुओंके बीच भाषण करते हुए एक बार उन्होंने कहा था—"आप अपने लिए जिस 'हिन्दू' शब्दका इस्तेमाल करते हैं वह मेरी रायमें सही नहीं है, क्योंकि यह किसी धर्मका नाम नहीं है......हिन्दुस्तानका हर रहनेवाला अपनेको हिन्दू कह सकता है। इसलिए मुझे दुःख है कि आप मुझे हिन्दू नहीं मानते, हालाँ कि मैं भी हिन्दुस्तानका एक बाशिन्दा हूँ।"[2]

हिन्दू भी उनको राष्ट्रीय नेता मानते थे। उन्हें वे मानपत्र देते थे। वाइसरायकी कार्यकारिणीके सदस्यकी हैसियतसे उन्होंने मुसलमानोंके साथ कोई पक्षपात नहीं किया। अंग्रेज सरकारसे जब कभी वे राजनीतिक अधिकार या सरकारी नौकरियाँ माँगते, तब भारतीयोंके लिए, सिर्फ मुसलमानोंके लिए नहीं। आगरेके दरबारसे वे उठकर चले आये थे क्योंकि अँग्रेजोंकी बैठनेकी जगह मंचपर बनायी गयी थी और भारतीयोंकी नीचे। 'तहजीबुल अखलाक' में उन्होंने लिखा था—"कोई कौम इज्जत और सम्मान तबतक नहीं पा सकती जबतक वह शासक जातिकी बराबरीपर नहीं पहुँच जाती और अपने मुल्ककी सरकार चलानेमें हिस्सा नहीं बँटाती। क्लर्की या ऐसी छोटी नौकरियाँ करनेके लिए दूसरे देशोंके लोग हिन्दुओं और मुसलमानोंकी इज्जत नहीं कर सकते। किसी कदर, जो सरकार अपनी प्रजाकी इज्जत नहीं करती, उसकी भी इज्जत नहीं होती। मेरे देशवासियोंका सम्मान तो तभी होगा जब वे शासक जातिके बराबरके दर्जेपर आयेंगे"[3]।

लेकिन भारतमें अँग्रेजी राज तो "लड़ाओ और राज करो" की नींवपर कायम होना था। अगर सर सैयद जैसे उसके समर्थकोंकी इच्छा थी कि वह कायम रहे तो उन्हें भी ऐसा व्यवहार करना चाहिये था जो इस नीतिके अनुकूल हो। सर जॉन सीलीने अपनी पुस्तक 'दि एक्सपेंशन आव इंगलैण्ड' में लिखा था—"आप देखें, गदर तो काफी हद तक दबाया गया, भारतकी जातियोंको एक दूसरेसे लड़ाकर। जबतक यह किया जा सकता है और जनताकी सरकार (वह चाहे जो भी सरकार हो) की नुकताचीनी करने और उसके खिलाफ उठ खड़े होनेकी आदत न पड़ जाय, इंगलैण्डमें बैठकर भारतपर शासन किया जा सकता है और

१. तुफैल अहमद 'मुसलमानोंका रौशन मुस्तकबिल' पृ० २८३
'मजमुआ-ए-लेक्चर्स सर सैयद अहमद' के पृ० १६७ से उद्धृत
२. वही पुस्तक पृ० २८३। सर सैयदके 'सफरनामा पंजाब' के पृ० १३९ से उद्धृत
३. डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद द्वारा पृष्ठ ९३ पर 'इंडिया डिवाइडेड' में उद्धृत

इसमें अचम्भेकी कोई बात नहीं है। लेकिन अगर स्थिति बदले और जनता किसी तरह एक राष्ट्रीयताके सूत्रमें बँध जाय तो हमें साम्राज्यके खतरेकी बात नहीं सोचना चाहिये बल्कि साम्राज्यकी उम्मीद करना ही छोड़ देना चाहिये[1]।

इसलिए यह साफ है कि अंग्रेजोंको यह समझानेके लिए किसी सर सैयदकी जरूरत नहीं थी कि सेनाका संघटन ऐसा हो कि मौका पड़नेपर भारतीयोंको भारतीयोंसे लड़ाया जा सके। अंग्रेज एक व्यापारिक कम्पनीकी हैसियतसे भारत आये थे और यहाँ मालिक बन बैठे थे और इसके लिए उन्होंने हर उचित अनुचित तिकड़म लगायी थी। सन् ५७के विद्रोहने साबित कर दिया था कि हिन्दू और मुसलमान मिलकर अंग्रेजोंके कठोर दुश्मन हो सकते थे। "फूट डालो और राज करो"की नीति सबसे पहले फौजमें चलायी गयी। सर जॉन (बादमें लार्ड) लारेंसने जो विद्रोहको दबानेवालोंमें था और बादमें वाइसराय हुआ था, सर सैयद अहमदकी तरह ही कहा था कि "गदरके पहलेकी फौजके दोषोंमें जो सबसे खराब और हमारे लिए घातक सिद्ध हुआ वह था बंगाल फौजकी एकता और भाईचारा। इसकी दवा पहले तो भारतीय और यूरोपीय फौजका संतुलन है और फिर भारतीय जातियोंकी फौजोंका संतुलन है।"

सन् १८५९ में फौजके संघटनकी जाँचके लिए एक शाही कमीशन—पील कमीशन बैठाया गया। कमीशनके सामने हुई गवाहियोंमें इसी ऊपर लिखी रायका प्रतिपादन किया गया। कमीशनकी रिपोर्टके आधारपर सन् १८६१ में फौजका पुनर्संघटन हुआ। जैसा कि 'डिफेंस आव इंडिया' के लेखक नीरदचन्द्र चौधरीने लिखा है, फौजमें विभिन्न जातीय व साम्प्रदायिक तत्त्वोंको "इस प्रकार संघटित किया गया है कि उनकी जाति या सम्प्रदायके प्रति भक्ति तो कायम रहती है, साथ ही वे एक दूसरेकी शक्ति और विशेषताओंका संतुलन करते रहते हैं।"[2]

अँग्रेज किस तरह हर मौके, यहाँतक कि हर संकटका इस्तेमाल जातीय भेदभाव बढ़ानेके लिए करते थे, इसका उदाहरण सन् १८७४ के पारसी-मुसलमान दंगेमें मिलता है।

हाकिमोंकी उपेक्षासे बम्बईमें एक मामूली झगड़ेने बढ़कर भीषण साम्प्रदायिक दंगेका रूप ले लिया। हाकिम बेशर्मीसे अलग खड़े यह दंगा देखते रहे, मानों जिस देशपर वे राज करते हैं, वहाँ शान्ति व सुरक्षा कायम करनेसे उनका कोई सरोकार न हो!

सन् १८७३ के अन्तमें, जब मुसलमानोंको खुश करनेकी अँग्रेजी नीति चालू थी, टीके लगानेवाले एक पारसीने गुजरातीमें एक किताब लिखी, जिसपर कुछ मुसलमानोंको यह आपत्ति हुई कि किताबमें हजरत पैगम्बरके सम्बन्धमें एक अपमानजनक इशारा है। उन्होंने पुलिसको इत्तिला दी और उसने फौरन किताब जब्त कर ली। पारसी लेखकने 'अनजानेमें हुए अपराध' के लिए क्षमा भी माँग ली। पर कुछ मुसलमान इससे सन्तुष्ट न हुए और उन्होंने खूनसे बदला लेनेकी ठानी। वे पारसी पूजाघरोंमें घुस गये, प्रार्थनाकी किताबें फाड़-डालीं और पवित्र अग्नि बुझा दी। कुछ पारसी परिवारोंको सताया भी गया। दोनों सम्प्रदायोंमें खुले आम बलवा हुआ, जिसमें कई जानें गयीं। इस बलवेकी सूचना पुलिसको पहले

१. 'दि एक्सपेंशन ऑव इंगलैण्ड,' पृष्ट २७०
२. दि कम्युनल ट्रायंगिल' में पृष्ठ ५४ पर उद्धृत

ही दे दी गयी थी पर तब भी, ऐन मौकेपर पुलिस नदारद थी। हाकिमोंने हालत बिगड़ते देखी और स्थिति काबूसे बाहर जाते देखकर भी फौज न बुलायी।

संख्यामें कम होनेके कारण पारसी मुसलमानोंका मुकाबला नहीं कर सकते थे। उन्होंने बम्बईके गवर्नर सर फिलिप वुडहाउसके पास एक प्रतिनिधिमंडल भेजा। पर उनके साथ सहानुभूति प्रकट करनेकी जगह गवर्नरने कहा—"तुम पारसियोंको सरकारपर निर्भर रहनेकी जगह अपनी रक्षा अपने आप करना सीखना चाहिये।" इस सलाहका मतलब यही था कि अगर मुसलमान पारसियोंपर हमला करें तो पारसी मुसलमानोंपर जवाबी हमला बोल दें। पुलिस कमिश्नर फ्रैंक सूटर तो एक कदम और आगे बढ़ गया। पारसियोंका अपमान करते हुए उसने उनकी एक भीड़को संबोधित करते हुए कहा—जहन्नुममें जाओ, तुम पारसी लोग; तुम्हींने झगड़ा उकसाया है। मैं तो चाहता हूँ कि एक-एक पारसी मार डाला जाय। मैं पूरी पुलिस हटा लूंगा और तुम लोगोंकी कोई मदद न करूँगा।" दूसरे दिन पारसियोंकी एक सार्वजनिक सभामें उनके नेता फीरोजशाह मेहताने गर्वनरकी सलाहपर क्षोभ प्रकट किया; अँग्रेजी राजके वफादार होनेके नाते, असहाय होकर कहा—"सज्जनो! मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं है कि हमने जो उपचार माँगा है, वह हमें मिलेगा, क्योंकि अँग्रेज सरकार और महारानी विक्टोरिया स्वयं जानती हैं कि पारसी जाति सबसे अधिक स्वामिभक्त और शान्तिप्रिय जाति है।"

भारतमें तब साम्प्रदायिक दंगे शुरू हो गये थे। सन् १८७१-७२ में जब वहाबी आन्दोलन अपनी चरम सीमापर था, संयुक्त प्रान्तमें बरेली व कुछ और जगहोंपर हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए थे मानों अंग्रेज-विरोधी मुसलमानोंका ध्यान बटानेके लिए हुए हों।

लेकिन अंग्रेज सरकार अभीतक निराश थी। हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध अच्छे थे। छिट-फुट दंगोंका सामान्य वातावरणपर ज्यादा असर न हुआ था। यहाँ एक और विद्रोही वर्गका जिक्र कर देना असामयिक न होगा। सन् १८७२ में नामधारी सिख (जिन्हें कूका भी कहते हैं) सरकारके कोपका भाजन बने और उनमेंसे बहुतसे या तो तोपके मुँहसे बाँधकर उड़ा दिये गये, या कालेपानीमें डाल दिये गये। नामधारी सम्प्रदाय बाबा बालकराम और उनके शिष्य भाईराम सिंहने (जो महाराज रणजीतसिंहकी फौजमें थे) चलाया था। खालसा फौजके विघटनके बाद भाई रामसिंहका दृष्टिकोण धार्मिक हो गया और वह साधु-बाबा बालक रामसे मिले। भाई रामसिंहकी आत्मा दुखी थी क्योंकि सिखोंने "विलासी जीवन अपना लिया था"[1]। उन्होंने सिख जातिके सुधारका व्रत ले लिया। उनके पवित्र और परोपकारी जीवनकी ओर बहुतसे सिख आकर्षित हुए। उनके अनुयायियोंकी संख्या बढ़ी और नामधारी या कूका सम्प्रदायकी नींव पड़ी। इस सम्प्रदायमें मुसलमान भी शामिल हो सकते थे, पर अधिकतर हिन्दू व सिख इसमें शामिल होते थे। नामधारियोंका एक बार अमृतसरके कुछ बूचड़ोंसे झगड़ा हो गया और कई बूचड़ मार डाले गये। नामधारियोंपर मुकदमा चला और उनमेंसे कुछको फाँसी मिली।

कूका सम्प्रदाय सामान्यतः अंग्रेजोंसे सहयोग नहीं करता था। नामधारी न्यायके लिए अदालत भी नहीं जाते थे। वे सरकार या उसके मुहकमोंसे कोई सरोकार नहीं रखते थे। लोग जानते थे कि 'कूका अंग्रेजी राजसे अप्रसन्न हैं'। भाई रामसिंहने उन्हें सिखोंके

---

१. गोकुलचन्द नारंग—'ट्रांसफर्मेशन आव सिखिज्म' पृष्ठ ३२२

विगत वैभवकी याद दिलायी। सन् १८७२में उनकी एक मजबूत टुकड़ीने मलेरकोटला रियासतपर हमला किया। टुकड़ी हरा दी गयी, विद्रोह शान्त कर दिया गया, लेकिन उसके बाद जो कुछ हुआ वह इस बातका ही उदाहरण है कि अंग्रेज सिविलियन कैसे जानवरकी तरह व्यवहार करने लगते थे। सर हेनरी काटनने लिखा है—"१४ जनवरी सन् १८७२को लगभग १०० कूकाओंका (सिखोंका एक सम्प्रदाय जो ब्रिटिश राजसे अप्रसन्न थे) एक गिरोह मालोधपर हमलाकर खुली हिंसापर उतर आया और सतलजपारकी मलेरकोटला नामक रियासतकी राजधानीपर उसने आक्रमण कर दिया। जमकर लड़ाई हुई और दोनों ओर काफी लोग हताहत हुए। आक्रमण विफल हुआ और बाकी बचे ५६ कूका (जिनमें २२ घायल थे) पटियाला रियासतमें भाग गये। वहाँ १५ जनवरीको उन्होंने हथियार डाल दिये और एक रात उन्हें शेरपुरके किलेमें रखा गया। उनके हथियार डाल देनेसे ही कूका-विद्रोह खत्म हो गया।

"१६ जनवरीको लुधियानाके डिप्टी कमिश्नर कोवनने कैदियोंको मलेरकोटला बुलवाया। वह भी वहाँ पहुँच गया। उसी शामको उसने अपने अफसर-कमिश्नरको लिखा कि शान्ति स्थापित हो चुकी है और 'मैं कल सवेरे कैदियोंको तोपसे उड़ा देने या फाँसी देनेका प्रस्ताव करता हूँ।'

"अगले दिन (१७ जनवरी) को कमिश्नर फोरसाइथका जवाब कोवनको दोपहरतक मिल गया; जिसमें कहा कया था कि लुधियानासे फौजी पहरा भेजनेतक कैदियोंको शेरपुरमें ही रखा जाय। कोवनका कहना है कि मैंने यह चिट्ठी जेबमें रख ली और फिर उसके बारेमें सोचा भी नहीं। शामको ४ बजे कूका बन्दी कोटला लाये गये और उसी वक्त किसी मुकदमें, सफाई, सुनवाई, सबूत वगैरहका बहानातक किये बगैर कोवनने उनमेंसे ४९ को तोपके मुँहसे बँधवाकर उड़वा दिया। शामको ७ बजे जब ४९ में से आखिरी ६ कूका तोपसे बाँधे जा रहे थे, कमिश्नर फोरसाइथका हुक्म आया कि कैदी मुकदमेके लिए भेजे जायँ। सरकार-को अपनी सफाई देते हुए कोवनने लिखा—फोरसाइथका पत्र पढ़कर मैंने कर्नल पर्किंसको दे दिया और कहा कि जो कैदी तोपसे बाँधे जा चुके हैं, उनकी सजा स्थगित करना असम्भव है, इससे हमारे आसपास मौजूद लोगोंपर बहुत बुरा असर पड़ेगा'। तोपसे बँधे छः कूका भी उड़ा दिये गये। ५० वाँ कूका पहरेसे छूटकर भागा और उसने कोवनकी दाढ़ी पकड़कर उसपर हमला करनेकी कोशिश की, पर उसे वहीं मौजूद देशी अफसरोंने तलवारसे फौरन काट डाला।

"इस घटनामें कोवनकी कारगुजारी यह थी। कमिश्नर फोरसाइथने बार-बार उससे कहा था कि जाब्तेकी कानूनी खानापूरी जरूर कर लो। १७ को ही उसने सरकारको तार दिया था—'मैं घटनास्थलपर हूँ और मामलेको कायदेसे और जल्दी निपटा दूँगा। असा-धारण कारवाईकी कोई जरूरत नहीं है क्योंकि इससे उत्तेजना बढ़ेगी जो न हो तो ही अच्छा है।' लेकिन जब १८ तारीखको कोवनके खतसे उसे इस भीषण दुखान्त घटनाकी सूचना मिली, उसने कोवनको लिखा—'प्रिय कोवन, जो कुछ तुमने किया मैं उसका समर्थन करता हूँ और उसके लिए अपनी स्वीकृति देता हूँ। तुमने प्रशंसात्मक ढंगसे काम किया है। मैं आ रहा हूँ।' वह आया और कानूनके मुताबिक १६ कैदियोंको फाँसीकी सजा दे दी। वे १६ भी लटका दिये गये।

"इस घटनापर भारत सरकारने एक विस्तृत प्रस्ताव स्वीकार किया। कहा जाता है कि इस प्रस्तावका मसविदा वाइसरायकी कार्यकारिणीके कानून-सदस्य जस्टिस स्टीफेनने तैयार किया था। 'वाइसराय महोदय व उनकी कार्यकारिणी यह दुखद घोषणा करनेकी आवश्यकता समझते हैं कि मिस्टर कोवनका तरीका गैरकानूनी था, उसके लिए कोई सार्वजनिक स्थिति या आवश्यकताका दबाव नहीं था; इस मामलेमें ऐसी घटनाएँ हुईं जो बर्बरतापूर्ण हैं'; इसलिए वाइसरायने 'खेदके साथ' आदेश दिया कि 'मिस्टर कोवनको नौकरीसे अलग कर दिया जाय।' फोरसाइथकी कड़ी आलोचना की गयी और एक दूसरे सूबेमें उसका तबादला हो गया जहाँ उसका ओहदा व तनख्वाह वही रही जो उसे लुधियानेमें मिलती थी। बादमें वह सर डगलस फोरसाइथ हुआ।"

सर डगलसने अपनी आत्मकथामें इस घटनासे अपना सम्बन्ध बताते हुए लिखा है—"देशी रियासतोंके सुपरिटेण्डेण्ट व कमिश्नर होनेकी हैसियतसे मुझे मौतकी सजा देनेका अधिकार था, जो कोवनको नहीं था। मैंने उसे लुधियानेसे लिखा कि विद्रोहियोंका मुकदमा करो, पर सजा तबतक न दो जबतक मैं न आ जाऊँ। पर कोवनने मनमानी की, मेरा खत जेबमें डालकर उसपर काररवाई करनेसे इनकार किया और कानून अपने हाथमें लेकर कैदियोंको मौतकी सजा दे डाली।...इसलिए मैंने कोवनको काररवाईकी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेनेका निश्चय किया और ऐसी परिस्थितिमें उसने जो कुछ किया उसका समर्थन करते हुए मैंने एक पत्र उसे लिखा...मैंने उसकी मददके लिए हर संभव कोशिश की और उसके नौकरीसे निकाले जाने पर भारतमें ही उसे एक बहुत अच्छी नौकरी दिला दी।"[1]

मलेरकोटला काण्ड यहीं खत्म नहीं हुआ। पंजाब भरके नामधारी-सम्प्रदायको आतंकित करनेका सरकारी आंदोलन चला। नामधारियोंके पंजाब भरके नेता एक रातमें एकाएक पकड़ लिये गये और कुछ रंगून व कुछ अण्डमान भेज दिये गये। अनुपाततः कम महत्वपूर्ण नेता पंजाबकी जेलोंमें भर दिये गये। गुरु-रामसिंह रंगून भेजे गये और उन्हें फिर कभी भारत न आने दिया गया। वे अपने अनुयायियोंमें अँग्रेजोंके खिलाफ विद्रोहकी भावना भरनेके लिए जिम्मेदार थे। वे धार्मिक नेता भी थे और राजनीतिक नेता भी। काफी दिनों बादतक नामधारियोंकी निगरानी होती रही।

सन् ५७ के विद्रोहमें सिख आमतौरपर अँग्रेजोंके साथ थे। जैसा कि सर गोकुलचन्द्र नारंगने लिखा है "दिल्लीमें मारे गये नवें गुरुका नाम ले लेकर और औरंगजेबके उत्तराधिकारियोंके उस मौतका बदला लेनेकी अपीलें निकालकर सिखोंको उभारनेकी चाल चली गयी।"[2] सिखोंका अंग्रेज-भक्त वर्ग अपने भाइयोंका कत्लेआम होते और वह भी अंग्रेजके हाथों होते देखकर अचम्भेमें पड़ गया। सिखोंके शान्तिमय जीवनमें एक लहर आयी—सिर्फ एक लहर। शीघ्र ही फिर सब कुछ शान्त हो गया।

---

१. सर डगलसकी आत्मकथा, पृ० ३६,३७,४२,४३

२. नारंग, पृष्ठ ३३६।

अध्याय २

हिन्दू सुधार आन्दोलन एवं राजनीतिक जाग्रति

सन् १८५७-५८के विद्रोहके पश्चात् हिन्दू समाजमें कुछ धार्मिक और सामाजिक सुधारकोंका प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने यह सोचकर कि अंग्रेजी राज तो अब कायम हो ही चुका है उसका यथाशक्ति उचित प्रयोग करनेकी कोशिश की। अंग्रेजी शिक्षाके अध्ययनसे वे आजादी, धर्म, राजनीति, और सामाजिक रीति-रिवाजोंकी पाश्चात्य विचारधाराके सम्पर्कमें आये। उन्हें एक नये प्रकारके जीवनका आभास और अनुभव हुआ और इसका उनपर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उनको हिन्दू समाजमें अनेक बुराइयाँ तथा दोष दिखाई देने लगे। अदम्य धार्मिक उत्साह व लगनके साथ वे उन बुराइयोंको दूर करनेके लिए समाज-सुधारके कार्यमें लग गये। वे जानबूझकर राजनीतिसे दूर रहे क्योंकि उन दिनों राजनीतिका मतलब था हिंसात्मक तरीकों द्वारा ब्रिटिश राज खत्म कर देना।

धीरे-धीरे उनका धार्मिक सुधारकार्य विस्तृत होता गया और उन्होंने अन्तमें उस क्षेत्रमें प्रवेश किया जिसे वैधानिक राजनीति कहा जाता था। उन्होंने जो मार्ग अपनाया उसे ५० वर्ष पहले राजा राममोहन राय (१७७४–१८३३)ने दिखला दिया था। हिन्दू दकियानूसीपनके विरुद्ध उन्होंने बड़ा त्याग करके वह रास्ता ग्रहण किया जिसके लिए उन्हें अपने नाते रिश्तेदारोंतकसे अलग होना पड़ा।

जैसा कि ऐंड्रूज और मुकर्जीने लिखा है हिन्दू समाज "उन दिनों दयनीय और मरणासन्न हालतमें था। सदियोंके मुसलिम प्रभुत्वने हिन्दुओंकी प्रेरणाशक्ति व कर्मठताको दबा दिया था। पूर्वी बंगालमें विशाल जन-संख्या मुसलमान हो गयी थी, यद्यपि उसके जीवन-दर्शन और रहन-सहनकी हिन्दू पृष्ठभूमिका लोप नहीं हुआ था। इस प्रकार ऐतिहासिक रूपसे जब ईस्ट इण्डिया कम्पनीने अपनी शक्ति जमाना आरम्भ किया, हिन्दू समाज दुर्बलताकी चरम सीमातक पहुँच गया था"।[१]

नवाबी शासनकालमें सरकारी नौकरियोंमें हिन्दू और मुसलमानोंका अनुपात विभिन्न शासकोंकी मनोवृत्ति व रुखपर निर्भर करता था। इस्लामके पक्षपाती शासकोंके जमानेमें सभी महत्त्वपूर्ण पद सिर्फ मुसलमानोंको ही दिये जाते थे, परन्तु कुछ शासकोंके जमानेमें हिन्दुओंको भी बड़ी-बड़ी जगहें मिलती थीं। धर्मान्ध मुल्लाओंकी प्रेरणासे चलनेवाली यह नीति हिन्दुओंको शासनके विरुद्ध कर देती थी। उसके फलस्वरूप हिन्दू मध्यम वर्गका एक भाग ब्रिटिश शासनमें अपनी उन्नतिका स्वप्न देखने लगा और सरकारने भी अपने हितसाधनके लिए हिन्दू-पक्षपातकी नीति अपनायी और मुसलमानोंका खुल्लम-खुल्ला विरोध किया। सरकारी नौकरियोंके इच्छुक हिन्दुओंने इसका हार्दिक स्वागत किया। उनके लिए यह केवल निजी आर्थिक प्रश्न था। पेट भरनेके खातिर सरकारी नौकरी करनेवाले व्यक्तिके लिए राष्ट्रीय समस्याएँ गौण हो जाती हैं विशेषकर जब उसके पूर्वजोंके साथ सरकारी नौकरीमें भेदभाव बरता गया हो।

---

१. सी. एफ. ऐंड्रूज व गिरिजा मुकर्जी, दि राइज ऐण्ड ग्रोथ आव दि कांग्रेस पृ० २२

अँग्रेजी राज्य स्थापित होनेके पहले हिन्दू और मुसलमान एक होकर बंगालतकमें अँग्रेजोंसे लड़े थे। धर्मान्ध शासकोंकी संकीर्ण नीति भी उन्हें अँग्रेजोंसे देशको बचानेकी बड़ी जिम्मेदारीसे विरत नहीं कर सकी थी। परन्तु अँग्रेजोंकी पूर्ण विजयके पश्चात् सरकारी नौकरीका प्रश्न पढ़े-लिखे मध्यमवर्गके दिमागमें प्रमुख हो गया।

हिन्दू समाजके इस रद्दोबदलके जमानेमें राजा राममोहनराय प्रकट हुए। उन्हें "भारतीय राष्ट्रीयताका पैगम्बर और आधुनिक भारतका पिता" कहा जाता है। इतिहासकारोंने उन्हें "अति स्पष्टदर्शी धार्मिक नेता और अग्रगामी राजनीतिक विचारक माना है।" वे प्रथम भारतीय थे जिन्होंने शासन और न्याय विभागोंको पृथक करनेकी आवाज उठायी, और वे ही प्रथम भारतीय थे जो पार्लमेण्टकी एक समितिके सम्मुख गवाही देनेके लिए इंगलैण्ड गये। समता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्वकी पाश्चात्य विचारधाराका प्रभाव उनपर इतना पड़ा कि इंगलैण्डके रास्तेमें जब उन्हें एक फ्रांसीसी जहाज दिखाई पड़ा, जिसपर आजादीका झण्डा फहरा रहा था, तब उन्होंने उसपर जाकर फ्रेंच राष्ट्रके प्रति, जिसने समस्त प्रकारकी गुलामीके विरुद्ध क्रांतिका झण्डा उठाया था, भारतकी श्रद्धांजलि देनेका निश्चय प्रकट किया। जब वे फ्रांसीसी जहाजपर चढ़ रहे थे तो वे फिसलकर गिर गये और उनके पैरमें ऐसी चोट आयी कि वे जन्मभरके लिए लँगड़े हो गये।

एक अत्यन्त प्राचीन परम्परा-भक्त ब्राह्मण परिवारमें पैदा होकर होश संभालते ही उन्होंने अपनेको मूर्तिपूजा और संस्कारके बीचमें पाया। उनकी शिक्षा-दीक्षा पटनामें हुई जो उस समय इस्लाम धर्मका केन्द्र था। शिक्षा समाप्त करके जब वे घर लौटे तो मूर्तिपूजा तथा परम्परागत रीति-रिवाजोंसे उनका विश्वास पूरी तरह उठ चुका था। उनका कहना था कि उपनिषद् अद्वैतवादकी शिक्षा देते हैं जिसमें मूर्तिपूजाका कोई स्थान ही नहीं है।

"कहा जाता है कि अपनी जवानीमें वे अँग्रेजोंको बहुत नापसन्द करते थे। परन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनीकी नौकरीमें अच्छे अनुभवसे और डिगबी जैसे योग्य अँग्रेजोंके सम्पर्कमें आनेके बाद वे अपनी राय बदलने लगे।"[1]

उनमें धीरे-धीरे परिवर्तन हो रहा था और १८०३ तक उनके सुधार सम्बन्धी विचारों की उनके जीवनपर इतनी गहरी छाप लग गयी कि उनकी स्त्री और माताने उनके साथ रहनेसे इनकार कर दिया। कम्पनीकी नौकरीसे वे १८१४में पृथक हो गये और १८१५में उन्होंने "आत्मीय सभा"की स्थापना की। उन्होंने कई पुस्तकें प्रकाशित, कीं जिनके द्वारा पढ़े-लिखे लोगोंमें विचारोंका आदान-प्रदान हुआ और विवाद शुरू हुआ। उनकी आत्मामें सती जैसी प्रथाओंके विरुद्ध विद्रोह-भाव था और उन्होंने उसके विरुद्ध आन्दोलन किया। मुख्यतः उनके प्रचारके फलस्वरूप ही लार्ड विलियम बैंटिंकने एक आज्ञा जारी करके सती प्रथाको निषिद्ध घोषित कर दिया।

सन् १८२८ और १८३३के बीचके कालमें उनके सुधार और सामाजिक कार्य पराकाष्ठापर पहुँच गये। इसी कालमें इंगलैण्डमें भी सुधार-आन्दोलन चल रहा था। ब्रिटिश उपनिवेशोंमें गुलामी प्रथापर रोक, नयी जनतांत्रिक पार्लमेण्ट, भारतमें धार्मिक और जातीय समानताका चार्टर, जैसे सुधारोंकी घोषणा इसी आन्दोलनके फलस्वरूप हुई थी। भारतीय चार्टरमें कहा गया था कि "धर्म, जन्मस्थान, जाति, रंगभेद आदिकी वजहसे किसी भी

१. ऐंड्रूज व मुकर्जी, वही पुस्तक; पृ० २४

भारतीयको किसी भी सरकारी ओहदे या नौकरीके लिए अयोग्य न समझा जायगा।" यह घोषणा कभी कार्यान्वित नहीं हुई, हमेशा इसका उल्लंघन किया गया। भारतीयोंको कोई भी बड़ी जगह नहीं दी गयी।

राममोहन राय नहीं चाहते थे कि भारत-शासनका भार ब्रिटिश सम्राट कम्पनीसे ले ले। उनके निजी सचिवके लेखानुसार "उनका तर्क यह था कि औपनिवेशिक मामलोंमें संबंधित मन्त्री सार्वभौम सत्ताका प्रयोग करता है और पार्लमेण्टके सदस्योंमेंसे अधिकतर उसके अधीनसे रहते थे। इसलिए प्रस्तावित तबदीलीके माने होंगे एक ऐसे शासकीय दर्रेको, जिसमें शक्तिके दुरुपयोगपर अनेक प्रतिबन्ध लगे हुए हैं, छोड़कर सार्वभौम सत्ताके अधीन हो जाना।

उन दिनों भारतमें ईसाई पादरियोंका बहुत जोर था। वे भारतीय धर्मोंको गलत रूपमें प्रदर्शित कर ईसाई धर्मको ही एकमात्र मुक्ति-मार्ग बताते थे। उनका प्रभाव मिटानेके अभिप्रायसे राममोहन रायने "ब्रह्मसमाज"की स्थापना की जिसका उद्देश्य हिन्दुओंको यह बताना था कि रीति-रिवाजोंके कुसंस्कारोंका पालन हिन्दू धर्म नहीं है, परन्तु हिन्दू धर्म उनसे भिन्न मानवको ऊँचा उठानेवाला है। राममोहन रायकी मृत्युके तीस वर्ष बाद जिस व्यक्तिने जोशके साथ ब्रह्मसमाजका आन्दोलन चलाया वह थे केशवचन्द्र सेन। उन्हींके प्रयत्नोंसे सिविल विवाह कानून बना जिसके अन्तर्गत कोई भी गैर ईसाई जो यह घोषित कर दे कि वह न हिन्दू है, न मुसलमान, न पारसी और न यहूदी, सिविल विवाह कर सकता था। उन्होंने एक विधेयक तैयार किया जिसमें यह उपबन्ध किया गया था कि विवाहके समय लड़कीकी उम्र कम-से-कम १४ वर्षकी होनी चाहिये।

बादको ब्रह्मसमाजके प्रमुख सदस्योंमें इस बातपर मतभेद होने लगा कि सुधारकी क्या सीमा और क्या तरीके होने चाहिये। मतभेद बढ़ा और नयी संस्थाओंका जन्म हुआ, जैसे प्रार्थना समाज, भारतीय ब्रह्मसमाज, साधना समाज। बादके वर्षोंमें इन संस्थाओंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसको कई बड़े बड़े नेता प्रदान किये। धीरे-धीरे ये सभी समाज अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगोंकी गोष्ठियाँ बनकर रह गयीं जिनके सदस्यों और जनतामें कोई सम्पर्क न था।

ब्रह्मसमाजके समान ही आर्यसमाज एक दूसरा धार्मिक आन्दोलन था जिसने भविष्यकी राजनीतिपर एक अमिट छाप डाली। आर्यसमाज बताता था कि ज्ञान और प्रकाशके लिए भारतको पश्चिमी दर्शन नहीं, वेदोंपर आश्रित होना चाहिये। ब्रह्मसमाजकी तरह आर्यसमाज भी ईसाई प्रचारके विरुद्ध चुनौती बनकर आया। उसके प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द कहते थे कि यदि भारतीय वेदोंके अनुसार अपने आचरण सँभाल लें तो उनकी हीनताकी भावना जाती रहेगी। जैसे-जैसे समय बीतता गया आर्यसमाज पढ़े-लिखे उत्साही युवकोंका केन्द्र बनता गया। इसने भी भविष्यकी राजनीतिको कई नेता दिये।

आर्यसमाजके कृत्योंके एक पहलूने मुसलमानोंको क्रुद्ध कर दिया—वह पहलू था अहिन्दुओंकी शुद्धि। आर्यसमाजियोंकी यह बहस थी कि यदि इस्लाम और ईसाईधर्ममें अन्य धर्मोंके अनुयायी प्रवेश पा सकते हैं, तो हिन्दूधर्मका दर्वाजा भी अन्य धर्मावलम्बियोंके लिये खुला होना चाहिये। यह तर्क अकाट्य था। वेदोंमें धर्म-परिवर्तनपर कोई रोक नहीं है। इस तर्कको ऐतिहासिक मजबूती भी प्राप्त थी। वैदिक धर्म प्राचीनतम था; अन्य धर्मोंका प्रादुर्भाव हजारों वर्ष बाद हुआ। अनेक पुस्तकें और पुस्तिकाएँ यह सिद्ध करनेके लिए निकाली गयीं कि अन्य सभी धर्मोंकी अच्छी बातोंका आधार वैदिक धर्म ही है। आर्यसमा-

जियोंके सम्मुख मुसलमान और ईसाई प्रचारकोंका उदाहरण था जो अपने धर्मावलम्बियोंकी संख्या-बढ़ानेमें बड़े जोशके साथ काम करते थे। लगभग ९० प्रतिशत भारतीय मुसलमान हिन्दू धर्मसे ही इस्लाममें गये; हिन्दुओंको मुसलमान बनानेका काम नित्य प्रति चलता रहता था। रीति-रिवाजोंके कारण हिन्दूधर्ममें अनेक बुराइयाँ आ गयी थीं, जैसे बालविवाह, जिसका परिणाम था युवती विधवाओंकी संख्यामें वृद्धि, विधवाविवाह निषेध, और अस्पृश्यता। और इन दोषोंसे मुक्त इस्लाम धर्म इन दुःखी व्यक्तियोंको शरण देता था। इस प्रकार हिन्दुओंकी संख्याकी कमीसे मुसलमानोंकी संख्या-वृद्धि होती जाती थी। स्वामी दयानन्दने इन बुराइयोंकी जड़पर कुल्हाड़ी चलायी। उनके अनुयायी यह प्रचार करते हुए घूमने लगे कि विधवाओंका पुनर्विवाह होना चाहिये, वेदोंमें अस्पृश्यता वर्जित है, हिन्दुओंके सब वर्गोंको (जिनमें तथाकथित अछूत भी शामिल हैं) आपसी व्यवहार और खान-पानमें कोई भेद-भाव नहीं करना चाहिये।

परन्तु आर्यसमाजका धर्म-परिवर्तनका कार्य कुछ अधिक सफल न रहा; इसका उल्टा परिणाम यह निकला कि मुसलमान आर्यसमाजको अपना शत्रु समझने लगे। क्योंकि अँग्रेज शासक हिन्दू-मुसलमानके आपसी भेदभावको बढ़ानेमें हर तरीकेका इस्तेमाल करते थे, धर्म-परिवर्तनका प्रचार भारतके राष्ट्रीय और राजनीतिक जीवनके लिए हानिकारक ही सिद्ध हुआ। उसके फलस्वरूप दोनों जातियाँ कमजोर होती गयीं और अँग्रेजी शक्ति बढ़ती गयी। लेकिन, जैसा कि श्रीमती एनी बेसेण्टने कहा है, "दयानन्द प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने सर्वप्रथम घोषणा की कि 'भारत भारतीयोंका है'।"

दूसरी धार्मिक संस्था जिसने अप्रत्यक्ष रूपसे भारतीय राजनीतिपर प्रभाव डाला, रामकृष्ण मिशन थी। रामकृष्ण बंगालके प्रायः अशिक्षित ग्रामीण पुरोहित थे। उनका मत था कि विभिन्न धर्म एक ही लक्ष्यपर पहुँचनेके लिए विभिन्न मार्ग हैं। स्वामी दयानन्दकी भाँति उन्होंने भी भारतीयोंको बताया कि उन्हें पाश्चात्य संस्कृतिकी नकल नहीं करनी चाहिये, और इस प्रकार उन्होंने राष्ट्रीयताकी भावना जाग्रत की। परन्तु दयानन्दके विपरीत वे परम्परागत हिन्दू पूजा-पद्धतिके पक्षपाती थे। उनके मतानुसार भगवानकी पूजा और प्राप्ति हिन्दुओंके प्राचीन ढंगसे हो सकती थी जिसकी ईसाई प्रचारक हँसी उड़ाते थे।

उन्नीसवीं सदीके उत्तरार्द्धमें भारतीय विद्वान् देशके प्राचीन गौरवका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए आध्यात्मिक क्षेत्रमें खोज कर रहे थे। वेदों और उपनिषदोंका देशकी प्रचलित भाषाओंमें अनुवाद किया गया; धर्म और दर्शनपर बहुतसे ग्रन्थ लिखे गये।

उधर विद्रोहके पश्चात् अनेक कवि और लेखक जनतामें आजादीकी भावना जाग्रत करनेका प्रयत्न कर रहे थे। सन् १८५९ में रंगलाल बनर्जीने 'पद्मिनी' नामक एक नाटक लिखा जिसका नायक अपना प्रभावशाली भाषण इस प्रकार करता है—"कौन ऐसा व्यक्ति है जो अपमानजनक गुलामीमें रहना चाहेगा? कौन ऐसा है जो गुलामीकी बेड़ियाँ पहनना पसन्द करेगा? युगोंतक गुलामीमें रहना नरक समान है, एक दिनकी भी आजादी सुखकी पराकाष्ठा है। उस व्यक्तिका जीवन और शक्ति धन्य है जो अपनेको उत्सर्ग करके देशको आजाद कराता है।"[१]

वैसे तो रवींद्र ठाकुरके प्रायः सभी कुटुम्बियोंने राष्ट्रीय भावनाओंको जाग्रत करनेमें योग

१. हेमेन्द्रनाथदास गुप्त द्वारा 'दि इण्डियन नैशनल कांग्रेस' में पृ० १६ पर उद्धृत

दिया, परन्तु उन सबमें देवेन्द्रनाथका स्थान उच्चतम है। वे अंग्रेजी चमकसे प्रभावित नहीं हुए और यह आरोप कभी स्वीकार नहीं किया कि भारतीय नीचे दर्जेके लोग हैं। कृष्णनगर कालेजके प्रिंसिपल, लौबने एक समाचार-पत्रमें देवेन्द्रनाथके विषयमें इस प्रकार लिखा था—"यह वयोवृद्ध गर्वीला पुरुष अंग्रेजोंकी प्रशंसात्मक स्वीकार नहीं करता।" देवेन्द्रनाथने "तत्वबोधिनी पत्रिका" नामक समाचारपत्रकी स्थापना की। उसके विषयमें प्रसिद्ध कवि और नाटककार ज्योतीन्द्रनाथ ठाकुरने लिखा है—"राष्ट्रीय भावनाका प्रचार 'तत्वबोधिनी'का आरंभ होनेके साथ बढ़ने लगा। अक्षयकुमार दत्तने भारतके प्राचीन गौरवपर कहानियाँ और लेख लिखकर लोगोंके हृदयोंमें देशभक्तिकी भावनाएँ जाग्रत कीं।"[१]

राजनारायण वसु और नवगोपाल मित्रने (जो आदि ब्रह्मसमाजी थे) देशभक्ति और राष्ट्रीय विचारोंका प्रचार करनेके उद्देश्यसे 'हिन्दू मेला' आरम्भ किया। नवगोपाल 'नैशनल पेपर' नामक पत्रके सम्पादक थे। अन्य राष्ट्रीय आन्दोलनोंसे भी उनका सम्बन्ध था। उन्हें 'नैशनल' (राष्ट्रीय) शब्द इतना प्रिय था कि उसके कारण उनका नाम ही 'नैशनल नवगोपाल' पड़ गया। रवीन्द्रनाथ ठाकुरने अपने "संस्मरणों"में लिखा है कि नवगोपालका "अटूट देशप्रेम एक आध्यात्मिक उत्साह था। देशके नामपर उनकी आँखें चमकने लगतीं, वे उत्साहसे उछल पड़ते, और चाहे उनकी आवाज सुरमें मिलती या न मिलती वे सबके साथ गाने लगते—

'हमने बाँधा है हजारों हृदयोंको एकताके सूत्रमें
'हमने समर्पित किये है हजारों जीवन बस एक कार्यके लिए"।[२]

'हिन्दूमेला' संघटित करनेके लिए एक समिति स्थापित की गयी। इसका एकमात्र उद्देश्य लोगोंको राष्ट्रीय गौरवका बोध कराना था।

इस मेलेके विषयमें राजनारायण वसुने लिखा है—"जब मैं एक अँधेरे तंग कमरेमें समितिका काम करता था तब सोच भी नहीं पाता था कि इसका फल विशाल चैत्र मेला या हिन्दुओंका इतना बड़ा संग्रह होगा।" प्रथम मेला सत्येन्द्रनाथ ठाकुरकी एक कविताके पाटसे शुरू हुआ जिसका रुपान्तर यह है—"हम सब भारतीय एक स्थानपर इकट्ठा होकर, एकचित्त और एक स्वरसे भारतकी गौरव-गाथाका गान करते हैं। भारत जैसा देश और कौन है जिसके पर्वत हिमालयके समान ऊँचे हों, जहाँकी भूमि ऐसी उर्वरा हो, जहाँ इतनी विशाल नदियाँ हों, जहाँ मणिमुक्ताकी सहस्रों खानें हों। आओ गायें मिलकर गायें भारतके विजय गान" इत्यादि।

उसके बाद तो जैसे राष्ट्रीय कविताका युग आ गया। बीसों नाटककारोंने देशभक्तिके नाटकोंकी रचना की। रंगभूमि राष्ट्रीय भावनाओंके प्रचारका इतना बड़ा शक्तिशाली माध्यम बन गयी कि सरकारको आशंका होने लगी और उसने रंगभूमिके दमनके लिए ड्रैमेटिक परफार्मेन्स ऐक्ट (नाटक नियन्त्रण कानून) बनाया।

शायद राष्ट्रीय लेखकोंमें सबसे उच्च स्थान बंकिमचन्द्रका था। उनके लेखोंमें से एक उद्धरण यहाँ दे देना ठीक होगा—"भारतका भविष्य अन्धकारमय रहेगा, जबतक सब भारतीय जातियाँ एक मत, एक नीति और एक ध्येयसे ओतप्रोत नहीं होतीं। यह एकता मिले

१. वही पुस्तक पृ० ३१
२. वही पुस्तक पृ० ३२

अंग्रेजी भाषाके माध्यमसे ही आ सकती है क्योंकि संस्कृत अब एक मृत भाषा है। अंग्रेजी ही एक ऐसी भाषा है जिसे बंगाली, पंजाबी, महाराष्ट्री इत्यादि सभी समझते हैं। इस भाषाकी डोरीसे हम सब एक सूत्रमें बँध सकते हैं। इसलिए अंग्रेजी भाषाका प्रचार यथा-सम्भव बढ़ाना चाहिये। परन्तु बिल्कुल अंग्रेज बन जाना अच्छा न होगा। बंगाली कभी भी अंग्रेज नहीं बन सकता।"[1]

"वन्दे मातरम्" बंकिम बाबूका रचा हुआ प्रसिद्ध राष्ट्रीय गीत है जो लाखों बार कांग्रेसकी सभाओंमें गाया गया और जिसने लाखों व्यक्तियोंको कांग्रेसकी ओर आकृष्ट किया। यह गीत बंकिम बाबूके उपन्यास 'आनन्द मठ'में (जो १८८२में लिखा गया था) आता है।

एक अन्य संघटन जिसने राष्ट्रीय उत्थानमें मंगलकारी और मूल्यवान योग दिया, समाज सुधार आन्दोलन[2] था। इस सुधार आन्दोलनका श्रीगणेश भी बंगालमें ही हुआ। शशिपद बनर्जी (१८४०-१९२४) इस आन्दोलनकी जान थे। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर (१८२०-१८९१) भी सामाजिक सुधारमें उत्साह और आत्मत्यागसे काम करते थे। वे विख्यात विद्वान थे, उनके संसर्गसे सामाजिक आन्दोलनको काफी प्रतिष्ठा मिली। महादेव गोविन्द रानडे, मलाबारी और नारायण चन्दावरकरने महाराष्ट्रमें राष्ट्रीय विचारोंका प्रसार किया। रामबाई सरस्वतीने भी सुधार आन्दोलनमें महत्त्वपूर्ण कार्य किया। दक्षिणमें आन्दोलनका संचालन रघुनाथ राव, वीरेसलिंगम और 'इण्डियन सोशल रिफार्मर'के संपादक नटराजनने किया। आन्दोलनका काम स्त्रियोंकी स्थितिमें सुधार करना और हिन्दू समाजके सभी बड़े और छोटे वर्गोंमें समानताकी मनोवृत्ति पैदा करना था।

---

१. हेमेन्द्रनाथदास गुप्त, 'दि इंडियन नेशनल कांग्रेस', पृ० ४१

२. Social Reform movement.

अध्याय ३

वैधानिक आन्दोलनका आरम्भ

बंगालमें वैधानिक राजनीतिका आरम्भ १८३७ में स्थापित जमींदारी ऐसोसियेशनसे माना जाता है। यद्यपि उसकी स्थापना मुख्यतः जमींदारोंके स्वत्वों और अधिकारोंकी रक्षाके लिए ही हुई थी, बादको उसके कार्यक्षेत्रका विस्तार बढ़ा और वह जनसाधारणके हितोंकी बातोंपर भी गौर करने लगी। उसकी पहली बैठकमें जो १२ नवम्बर १८३७ को हुई, निश्चय किया गया कि जमींदारी ऐसोसियेशन सब प्रकारके लोगोंकी संस्था होगी, जाति, रंग, देशका कोई भेद-भाव इसमें न होगा। पार्थक्यकी हर भावनाको त्यागकर यह संस्था व्यापक और उदार सिद्धान्तोंपर चलेगी। ऐसोसियेशनकी सदस्यताके लिए एक ही योग्यताकी जरूरत होगी; इसके सदस्य वही हो सकेंगे जो थोड़ी बहुत भूमिके स्वामी हों।"[१] इसके सदस्योंमें ब्रह्म-समाजके कतिपय प्रमुख नेता थे। राजा राजेन्द्रलाल मित्रके शब्दोंमें इस ऐसोसियेशनने ही "पहली बार लोगोंको वैधानिक ढंगसे लड़ना और प्रतिष्ठा व साहससे अपने अधिकारोंकी माँग करना व अपना मत प्रकट करना सिखाया।"

२० अप्रैल, १८४३ को एक दूसरी संस्था जिसका नाम "बंगाल ब्रिटिश इण्डिया सोसायटी" था, स्थापित हुई। इसका उद्देश्य सम्पूर्ण ब्रिटिश भारतमें बसनेवालोंकी असली दशा, देशके कानून, संस्थाओं और साधनोंके विषयमें जानकारी इकट्ठी करना और उसे प्रसारित करना तथा अन्य शान्तिमय और कानूनी उपायोंको काममें लाना था जिनमें समस्त प्रजाजनके हित और न्यायोचित अधिकार बढ़ें और उनकी भलाई हो।" सोसाइटीने निश्चय किया कि वह सिर्फ ऐसी कारखाइयोंको अंगीकार करेगी और ऐसी सिफारिशें करेगी "जो भारतके सम्राट और उनकी सरकारके प्रति पूर्ण निष्ठासे ओतप्रोत होंगे और जिनसे देशके कायदे-कानूनोंकी अवज्ञा न होगी। सोसायटी ऐसे प्रयत्नोंका विरोध करेगी जिनका उद्देश्य कानूनी प्रशासनके विरुद्ध कारखाई करना हो या समाजकी शान्ति या हितमें खलबली पैदा करना हो।"[२] परन्तु सोसाइटीने कुछ प्रगति नहीं की। इन दोनों संस्थाओंके सदस्य सिर्फ उच्चवर्गके भारतीय और गैरसरकारी अंग्रेज थे।

परन्तु अंग्रेजोंको जल्दी ही ये संस्थाएँ छोड़ देनी पड़ीं। इसके दो कारण थे। (१) सन् १८५० में भारत सरकारने केन्द्रीय विधानसभामें एक बिल उपस्थित किया जिसका उद्देश्य गरीब किसानोंको गैरसरकारी अंग्रेजोंके अत्याचारसे बचाना था। नील और चाय बागानोंके अंग्रेज मालिकोंका व्यवहार इन गरीब और असहाय किसानोंके साथ घोर अत्याचारपूर्ण था। और जब किसानोंके कष्ट सार्वजनिक आन्दोलनका रूप लेने लगे तो सरकारको हस्तक्षेप करना पड़ा। (२) उन दिनों भारतके किसी भी भागके रहनेवाले अंग्रेज अपराधीके

---

१. वही पुस्तक पृ० ९८

२. 'राजा राजेन्द्रलाल मित्रा'ज स्पीचेज', पृ० २५

विरुद्ध केवल कलकत्तेमें ही मुकदमा चलाया जा सकता था क्योंकि कानूनके अनुरूप कलकत्ता अदालत ही उसके मुकदमोंकी सुनवाई कर सकती थी। सरकारने महसूस किया कि कानूनमें ऐसा सुधार कर दिया जाय कि अंग्रेज अपराधीका मुकदमा भी भारतीयोंकी भाँति, उसके निवास-स्थानकी अदालतमें ही पेश हो सके। तदनुसार कौंसिलमें बिल उपस्थित कर दिया गया। अंग्रेज लोग बहुत चिढ़ गये और उन्होंने आन्दोलन करनेकी ठान ली। सरकारने मजबूर होकर बिल वापिस ले लिया। अंग्रेजोंके इस स्वार्थी और संकीर्ण दृष्टिकोणने भारतीय जनताको उनके विरुद्ध कर दिया। पहलेका सौहार्द्र विद्वेषमें बदलने लगा। इस परिवर्तित मनोवृत्तिका फल यह हुआ कि ३१ अक्टूबर, १८५१ को एक नितान्त विशुद्ध भारतीय संस्था—'ब्रिटिश इण्डियन ऐसोसियेशन'—कायम कर दी गयी।

उसी वर्ष जग्गोनाथ शंकरसेट और दादाभाई नौरोजीने बम्बई ऐसोसिएशनकी स्थापना की। इसने सर मंगलदास नाथूभाईके नेतृत्वमें काफी प्रगति की। बंगालके रामगोपाल घोष और कृष्णदास पालकी भाँति नाथूभाईको भी बम्बई कारपोरेशनमें अनेक संग्राम लड़नेके उपलक्ष्यमें, 'जनताके धर्माधिकारी' के नामसे पुकारा जाने लगा। परन्तु बम्बई ऐसोसिएशन दस वर्षसे अधिक न चल पायी, जब कि ब्रिटिश इण्डियन ऐसोसिएशन ५० वर्षोंतक कायम रही। बम्बई ऐसोसिएशनको नौरोजी फरदूनजीने १८७३में नया जीवन दिया, पर वह शीघ्र ही खत्म हो गयी।[१]

ब्रिटिश इण्डियन ऐसोसियेशनका उद्देश्य उसकी सर्वप्रथम सालाना रिपोर्टमें इस प्रकार बताया गया था—"भारतके स्थानीय प्रशासनमें और पार्लमेण्ट द्वारा निर्धारित शासनपद्धतिमें सुधार करवाना"। उस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनीका चार्टर बदलनेवाला था। जनताके नेताओंने यह निश्चय किया कि पार्लमेण्टके सामने सरकारी शासनपद्धतिमें परिवर्तन और सुधारकी माँग एकमतसे रखनी चाहिए। इस उद्देश्यके लिए एक संस्थाकी स्थापना करना आवश्यक था। इसलिये ब्रिटिश इण्डियन ऐसोसियेशनकी बुनियाद पड़ी। सन् १८५२ में ऐसोसियेशनने पार्लमेण्टके पास एक अर्जी भेजी जिसमें कहा गया था कि भारतीय इस निश्चयपर पहुँचे हैं कि उन्हें ब्रिटेनसे सम्बन्ध स्थापित होनेसे उतना लाभ नहीं पहुँचा जितने लाभकी आशा करना उनका अधिकार है।

अर्जीकी मुख्य माँगें ये थीं—(१) माल-व्यवस्थाकी कड़ाई दूर करना; (२) न्याय प्रशासनमें सुधार (३) जनसाधारणके जान-मालकी रक्षा; (४) ईस्ट इण्डिया कम्पनीके व्यापारिक एकाधिकारोंसे भारतीयोंको राहत दिलाना; (५) देशी उत्पादनको प्रोत्साहन, (६) जनताकी शिक्षाका उचित प्रबन्ध; (७) शासनके ऊँचे पदोंपर भारतीयोंकी नियुक्ति करना।

अर्जीमें निम्नलिखित सुझाव भी दिये गये (१) भारतीय शासन सम्बन्धी मामलोंके संचालनके लिए एक कमेटी नियुक्त की जाय। (२) केन्द्रीय सरकारका नियन्त्रण सिर्फ राजनीतिक और फौजी मामलोंमें, प्रेसीडेन्सियोंके गवर्नरोंके ऊपर तथा भारतीय विधायिका सभाओं द्वारा बनाये कानूनोंको रद्द करनेपर हो। (३) भारतीय विधायिका सभाएँ केवल उन लोगोंसे जिनको राजनीतिक और प्रशासनकी शक्ति दी गयी है, जुदा ही न हों वरन् उनमें जनप्रिय लोग भी हों जो भारतीय जनमतका प्रतिनिधित्व कर सकें और जिन्हें भारतके लोग अपना समझें। (४) कलकत्तेमें एक विधान परिषद स्थापित होनी चाहिये जिसमें १७

१. अम्बिकाचरण मजुमदार, इण्डियन नैशनल इवौल्यूशन, पृ० ६

सदस्य हों, अर्थात् तीन-तीन सदस्य हर प्रेसीडेंसीके जाने-माने प्रसिद्ध-प्रसिद्ध व्यक्तियोंमेंसे लिये जायँ, एक-एक सदस्य प्रेसीडेंसीके गवर्नरों द्वारा ऊँचे अफसरोंमेंसे नियुक्त किया जाय और एक सदस्य सम्राट द्वारा मनोनीत हो जो परिषदका अध्यक्ष हो और जिसपर सरकारका कोई दबाव न हो।[1]

ब्रिटिश इण्डियन ऐसोसियेशन ही प्रथम संस्था थी जिसने भारतमें अंग्रेजी राजके आर्थिक तथा राजनीतिक फलका अध्ययन किया। पार्लमेण्टको जो अर्जी ऐसोसियेशनने भेजी थी उसमें उसने समस्त शासन-विभागोंका सिंहावलोकन किया तथा सुधार सम्बन्धी अपने सुझाव दिये। उसने अंग्रेजी न्यायप्रणाली, पुलिस, दीवानीमें फौजदारी कानूनों और मैजिस्ट्रेटोंकी आलोचना की। आर्थिक क्षेत्रमें उसने कम्पनीके व्यापारिक एकाधिकारोंको समाप्त करनेकी माँग की, विशेषकर नमक व्यापारकी इजारेदारीको। माल व्यवस्थाके सम्बन्धमें अर्जीमें लिखा गया था कि यद्यपि जमीन व अन्य कर जो अंग्रेजी सरकार वसूल करती है मुसलमानी शासनकालसे कहीं अधिक हैं, परन्तु तब भी अंग्रेजी सरकार आने जानेके थल व जल मार्गोंके साधनोंपर बहुत छोटी रकम खर्च करती है। उसने पादरियों तथा अन्य बड़े-बड़े धार्मिक पदाधिकारियोंको सरकारी खजानेसे भारी वेतन दिये जानेपर कड़ी आपत्ति की, विशेषकर इसलिए कि कम्पनीकी सरकार हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाइयों की एक मिली जुली आबादीपर शासन करती थी।

ऐसोसियेशनकी स्थापनाके फौरन बाद ही इसके मन्त्री देवेन्द्रनाथ ठाकुरने मद्रासमें भी ऐसोसियेशनकी शाखा स्थापित करनेके विचारसे मद्रासके नेताओंसे लिखा-पढ़ी आरम्भ की। ११ दिसम्बर, १८५१ को उन्होंने मद्रासवालोंको सुझाव भेजा कि पार्लमेण्टके पास भेजी जानेवाली अर्जियोंका महत्त्व और भी बढ़ जायगा यदि कम्पनीके नये चार्टर बदलनेके समय सम्पूर्ण भारतके विभिन्न लोगोंकी ओरसे वे अर्जियाँ एक साथ भेजी जायँ या ऐसी संस्थाकी ओरसे भेजी जायँ जो समस्त भारतके प्रतिनिधित्वका दावा कर सके।"

इस पत्रका मद्रासमें असर हुआ और वहाँ ऐसोसिएशनकी शाखा खुल गयी जिसका उद्देश्य था—"समस्त वैधानिक और कानूनी उपायों द्वारा भारतके ब्रिटिश शासनमें उत्तमता और सुधार लानेका प्रयत्न करना ताकि भारत और ब्रिटेन दोनोंके हितोंकी रक्षा हो और भारतीय प्रजाकी दशा सुधरे।"

अवधमें इस ऐसोसिएशनकी शाखा खुल गयी। वहाँ यह उद्देश्य रखा गया—"महारानीकी भारत सरकारकी सहायताके लिए, विशेषकर अवधमें, हर वैधानिक व कानूनी उपायका प्रयोग करना ताकि यह सरकार भारत और ब्रिटेन दोनों देशोंकी जनताकी भलाईमें कारगर और कामयाब हो सके।" जमींदारोंकी बड़ी संख्या इस ऐसोसिएशनमें शामिल हो गयी।

परन्तु ऐसोसिएशनका अखिल-भारतीय रूप न बन सका। इस ऐसोसिएशनकी स्थापना और सन् ५७ के विद्रोहके बीचके कालमें अंग्रेजों और भारतीयोंका जाति-द्वेष अपनी पराकाष्ठापर पहुँच गया था।

विद्रोहके बाद ऐसोसिएशनमें परिवर्तन हुआ। इसका राजनीतिक रूप समाप्त हो गया; जमींदारोंके हितोंकी रक्षा करना ही अब इसका उद्देश्य रह गया। वह सरकारी खैर-

१. राजा राजेन्द्रलाल मित्रा'ज स्पीचेज पृ० १०२–३

ख्वाहोंकी जमात बन गयी। सन् १८५९ में इसने पार्लमेण्टसे देश भरमें इस्तमरारी बन्दोबस्त लागू करनेकी प्रार्थना की। अर्जीमें कहा गया था कि भारतमें विद्रोहके बादकी गड़बड़ने "बन्दोबस्तवाले जमींदार वर्गका राजनीतिक महत्त्व साबित कर दिया है। यह महत्त्व जमीनके उन मालिकोंके महत्त्वसे कहीं ज्यादा है जो विभिन्न नामों व उपाधियोंसे उन सूबोंमें जाने जाते हैं जहाँ इस्तमरारी बन्दोबस्त नहीं है। विद्रोहके अतिसंकट कालके खैरख्वाहों और गैर-खैरख्वाहोंकी तुलना करनेसे पता चल जायगा कि इस्तमरारी बन्दोबस्तसे वह शक्तिशाली वर्ग पैदा होता है जो अपने और शासकोंके हितोंको एक ही समझता है, और जो अपनी स्थितिसे संतुष्ट है। जो व्यवस्था इस्तमरारी बन्दोबस्तसे भिन्न है उसकी वृत्ति और परिणाम भी भिन्न है, यह साबित हो चुका है।"

इस्तमरारी बन्दोबस्त जमींदारोंके लिए अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुआ, परन्तु किसानोंका जैसा कि इस पुस्तकके एक अन्य अध्यायमें बताया गया है, इससे बहुत अहित हुआ। सन् १८६० में ऐसोसियेशनने फिर पार्लमेण्टको अर्जी भेजी जिसमें इस्तमरारी बन्दोबस्तकी माँगको दुहराया।

फिर भी, विद्रोहसे पहले ऐसोसियेशन देशकी प्रमुख संस्था थी। बंगालके कई प्रमुख नेताओंने इसी संस्थाके द्वारा सार्वजनिक जीवनमें पदार्पण किया और ख्याति पायी। इन नेताओंमें थे ऐसोसियेशनके मुखपत्र 'हिन्दू पैट्रियट'के संपादक हरिश्चन्द्र मुकर्जी, कृष्णदास पाल, प्रसिद्ध वक्ता रामगोपाल घोष, राजा दिगम्बर मित्र, महाराजा रामनाथ, सर ज्योतीन्द्र मोहन ठाकुर, महाराजा बहादुर सर नरेन्द्र कृष्ण, राजा राजेन्द्रनारायण देव, तथा राजा राजेन्द्रलाल मित्र।

ऐसोसियेशनमें अब भी कृष्टोदासपाल जैसे व्यक्ति थे जो आवश्यकता पड़नेपर जनताके हितोंके लिए बहादुरीसे लड़ सकते थे, परन्तु ऐसोसियेशन अपने पुराने जीवनकी छायामात्र रह गया था। अब किसी दूसरी संस्थाकी आवश्यकता थी। सन् १८७५ में शिशिरकुमार घोष तथा उनके भाई मोतीलाल घोषने 'इण्डियन लीग'की स्थापना की। डाक्टर शम्भूनाथ मुकर्जी इसके अध्यक्ष हुए। डाक्टर मुकर्जीका नाम उस समयके एक साहसिक कार्यके साथ जुड़ा हुआ है। सन् १८७६ में कलकत्तेके टाउनहालमें, बंगालके लेफ्टीनेण्ट गवर्नर सर रिचर्ड टेम्पलके सभापतित्वमें एक सभा की गयी। सभाका उद्देश्य इस प्रस्तावपर विचार करना था कि वाइसरायके नामपर (जो अवकाश प्राप्त करके इंगलैण्ड वापिस जा रहे थे) एक स्मारक बनवाया जाय। डाक्टर मुकर्जी तथा उनके नौ साथियोंने उस प्रस्तावमें एक संशोधन पेश किया जिसका अप्रत्यक्ष अभिप्राय था कि जनताको वाइसरायमें विश्वास नहीं है। संशोधन स्वीकार नहीं हुआ। उस समयके पढ़े-लिखे लोगोंमें वाइसरायके प्रति अत्यन्त क्षोभ था क्योंकि उन्होंने नाटकोंपर प्रतिबन्ध लगानेवाला कानून जारी किया था और उसके द्वारा रंगमंचको दबा दिया था। बादको मोतीलाल घोष 'अमृत बाजार पत्रिका'के संपादक हो गये, जिसने बादमें राष्ट्रीयताके विकासमें अच्छा हिस्सा ग्रहण किया।

इण्डियन लीग जनप्रिय न बन सकी। इसका एक कारण पदाधिकारियोंका आपसी मतभेद भी था। लेकिन यह मानना पड़ेगा कि इण्डियन लीग प्रथम संस्था थी जिसमें जमींदारोंका बोल-बाला नहीं था और जिसमें मुख्यतः मध्यम वर्गीय लोग ही थे।

इसी समय भारतीय राजनीतिक गगनमें एक नये सितारेका उदय हुआ। वे थे

सुरेन्द्रनाथ वनर्जी। सरकारी नौकरीके शुरूमें ही एक गलतीने उन्हें राजनीतिमें ला खड़ा किया। सन् १८७१ में सिविल सर्विसकी परीक्षा सफलतापूर्वक पास करनेके बाद, २२ नवम्बरको वे सिलहटके सहायक मजिस्ट्रेट नियुक्त हुए। परन्तु शीघ्र ही उनके एक क्लर्कने उन्हें मुसीबतमें डाल दिया। उस दफ्तरमें क्लर्कोंने कुछ ऐसी प्रथा चला रखी थी कि यदि किसी फौजदारीके मुकदमेको अधिक कामके कारण या किसी अन्य वजहसे स्थगित करवाना हो तो अभियुक्तको फाइलमें फरार दिखा देते थे और ऐसिस्टेण्ट मजिस्ट्रेटसे मुकदमा स्थगित करा लेते थे। परन्तु एक अभियुक्त युधिष्ठिरके मामलेमें उच्चाधिकारियोंने यह चालाकी पकड़ ली। सुरेन्द्र-नाथ वनर्जीकी ईमानदारीपर सन्देह हुआ और उन्हें वरखास्त कर दिया गया। राजनीतिक चेतनाका युग था; लोगोंने कहना शुरू कर दिया कि वनर्जी भारतीय हैं, बस इसलिए उनको वरखास्त कर दिया गया है। परन्तु वनर्जीकी हानिसे देशका बड़ा लाभ हुआ। वह एक ऐसी संस्था बनानेके प्रश्नपर गंभीरतापूर्वक विचार करने लगे जो शिक्षित मध्यम वर्गकी भावनाओंका प्रतिनिधित्व करे और जो उस वर्गमें सार्वजनिक कामोंकी लगन पैदा करे। वे सोचते थे कि जमींदारोंकी संस्था होनेके कारण ब्रिटिश इण्डियन ऐसोसियेशन किसी आन्दो-लनका नेतृत्व नहीं कर सकती। यह तथ्य स्वयं ऐसोसियेशनके नेताओंने भी स्वीकार किया। एक वर्षकी तैयारीके बाद इण्डियन ऐसोसियेशनके नामसे नयी संस्थाका जन्म २६ जुलाई १८७६ को हुआ। वनर्जीने उसके सिद्धान्तोंको इस प्रकार बताया। (१) देशमें स्वतन्त्र जन-मत तैयार करना; (२) समस्त भारतीयों व विभिन्न जातियोंमें राजनीतिक हितों और आकां-क्षाओंके आधारपर एकता पैदा करना; (३) हिन्दू और मुसलमानोंके बीच मित्रभाव बढ़ाना, और (४) जनसाधारणको राजनीतिक आन्दोलनोंमें शामिल करना।

वादमें इस ऐसोसियेशनके एक नेताने इसके सिद्धान्तोंकी व्याख्या करते हुए कहा—"ब्रिटिश नरेशके प्रति वफादारी और वैधानिक सरकारकी स्थापनाके लिए आन्दोलन करना ही ऐसोसियेशनके दो सिद्धान्त हैं जिनको हमने सदा बढ़ाया है।"

सरकारी नौकरीसे हटाये जानेके कारण क्रुद्ध होकर वनर्जीने राजनीतिमें प्रवेश नहीं किया था। देशसेवाकी उनमें तीव्र आकांक्षा थी। उनपर मैजिनीके लेखोंका भारी प्रभाव पड़ा था। उन्होंने लिखा है—"मैजिनीकी देशभक्तिकी पवित्रता, उनके सिद्धान्तोंकी उच्चता, मानवमात्रके लिए उनका व्यापक प्रेम, उनके हृदयोद्गार भरे शब्दोंने जैसा मुझे प्रभावित किया है ऐसा मैं कभी नहीं प्रभावित हुआ। मैजिनीने इटली निवासियोंको एकताका पाठ पढ़ाया। हम भारतीय एकता चाहते थे। मैजिनीने युवकों द्वारा काम किया। मैं चाहता था कि बंगालके युवक भी अपनी शक्ति समझें और अपनेको देशकी मुक्तिके लिए तैयार करें। जब कभी मैंने मैजिनीके ऊपर भाषण किये, मैंने सावधानीके साथ नवयुवकोंसे कहा कि वे उनके (मैजिनीके) क्रान्तिकारी विचारोंसे दूर रहें, परन्तु उनके त्याग तथा आत्म-बलिदानका अनुकरण वैधानिक प्रगतिके लिए करें"।[1]

इस ऐसोसियेशनकी स्थापनाके एक वर्षके भीतर ही वनर्जीको एक जनान्दोलन आरम्भ करनेका अवसर प्राप्त हो गया। भारतीयोंको इण्डियन सिविल सर्विसमें नौकरी मिलनेका प्रश्न था। आन्दोलनका तथा उसके उद्देश्यका वर्णन करनेके पहले इण्डियन सिविल सर्विसके सम्बन्धमें जान लेना जरूरी है। इससे आन्दोलनको समझना सरल हो जायगा।

१. सुरेन्द्रनाथ वनर्जी, ए नेशन इन दि मेकिंग, पृ० ४०

सन् १८३३ में ब्रिटिश पार्लमेण्टने यह घोषणा की थी कि "कोई भी भारतीय धर्म, जन्मस्थान, जाति, रंग, या ऐसे ही किसी अन्य कारणसे, ईस्ट इण्डिया कम्पनीके मातहत किसी नौकरीके लिए अयोग्य न ठहराया जायगा।" परन्तु जब कई युवकोंने ब्रिटेन जाकर सिविल सर्विसके लिए योग्यता प्राप्त कर ली और फिर भी उन्हें नियुक्त नहीं किया गया तो उन्हें भारी निराशा हुई। निराशाने कम्पनीके विरुद्ध क्रोध भड़का दिया और कम्पनीके नये चार्टरके विरुद्ध जो १८५३ में आनेवाला था, एक आन्दोलन संघटित किया गया। तीनों प्रेसीडेन्सी सूबोंके लोगोंके हस्ताक्षरोंसे पार्लमेण्टके पास अर्जियाँ भेजी गयीं जिनमें माँग की गयी कि कम्पनीका कार्यकाल आगे न बढ़ाया जाय। बंगालसे भेजी गयी अर्जी केवल विरोधात्मक ही नहीं थीं, उसमें कई रचनात्मक सुझाव भी दिये गये थे जैसे (१) दोहरी सरकार समाप्त करके एक भारतीय सचिव व एक भारतीय कौंसिलकी नियुक्ति हो; (२) भारतके लिए एक अलग विधान सभा बनायी जाय; (३) प्रेसीडेन्सी सूबोंको एक प्रकारका प्रांतीय स्वशासन दे दिया जाय; (४) निम्नश्रेणीके सरकारी नौकरोंके वेतन बढ़ाये जायँ और उच्च श्रेणीके कम किये जायँ; (५) सिविल सर्विसोंके द्वार समस्त ब्रिटिश प्रजाके लिए खोल दिये जाँय और नियुक्तियाँ प्रतियोगिताकी परीक्षाओंके फलके आधारपर हों।

इस अर्जीका असर हुआ और १८५४ में प्रतियोगिता परीक्षाका कायदा बना दिया गया। सन् १८५५ में दादा भाई नौरोजी (१८२५-१९१७) ने प्रतियोगिता परीक्षा दिल्लीमें भी किये जानेका इंगलैण्डमें आन्दोलन शुरू किया। नौरोजीने भारत और इंगलैण्डमें सब मिलाकर करीब ३० संस्थाओंका संघटन किया था। इनमेंसे बहुतोंका उद्देश्य भारतको राजनीतिक प्रगतिकी ओर अग्रसर करना था। कुछ शिक्षा सम्बन्धी सुधारोंके लिए और कुछ स्त्रियोंकी दशामें सुधार करनेके लिए कायम की गयी थीं। इंगलैण्डमें स्थापित 'ईस्ट इण्डियन ऐसोसियेशन' का काम भारतीय आकांक्षाओंको ब्रिटिश जनताके सामने रखना था।

भारतीयोंको सफलतापूर्वक प्रतियोगिता परीक्षाओंमें भाग लेता देख अंग्रेज अधिकारियों-को चिन्ता होने लगी। इसलिए १८६० में उम्मेदवारोंकी अधिकतम उम्र घटाकर २२ वर्ष कर दी गयी, लेकिन जब इस छोटी अवस्थामें भी भारतीय युवक इंगलैण्ड जाकर परीक्षामें उत्तीर्ण होते रहे, तो १८६६ में उम्र फिर घटा कर २१ वर्ष कर दी गयी। मानो प्रति-कारकी भावना काम कर रही हो, सन् १८६० में अधिकतम उम्र उस समय कम की गयी जब इण्डिया कौंसिलकी एक पाँच सदस्योंवाली कमेटीने यह सिफारिश की कि प्रतियोगिता परीक्षा भारतमें भी इंगलैण्डके साथ होनी चाहिये। नौरोजीके आन्दोलनके फलस्वरूप १८६१ में पार्लमेण्टने भारतके गवर्नर-जनरलको यह शक्ति प्रदान की कि वह बिना प्रतियोगिता परीक्षाके ही एक सीमित संख्यामें भारतीयोंकी भर्त्ती कर सकता है। परन्तु भारत सरकारने इस कानूनके विरोधी नियम बनाकर इसका प्रभाव खत्म कर दिया और इसके अन्तर्गत केवल एक या दो भारतीय भर्ती किये गये। सन् १८७७ में लार्ड लिटन ने (जो अति प्रतिक्रियावादी वाइसराय था) यह सिफारिश की कि सिविल सर्विस भारतीयोंके लिए बिल्कुल बन्द कर दी जाय। प्रकट रूपमें यह बन्द तो नहीं हुई, पर अधिकतम वय २१ से घटाकर १९ कर दी गयी।

यह उम्रका नया घटाव उस समय हुआ जब इण्डियन ऐसोसियेशन बन चुका था।

बनर्जीने इस प्रश्नपर आन्दोलन खड़ा कर दिया। ऐसोसियेशनने एक प्रस्ताव किया कि अखिल भारतीय आन्दोलनका संघटन किया जाय। शुरुवात कलकत्तेमें २४ मार्च १८७७ को एक सार्वजनिक सभासे हुई जिसकी अध्यक्षता सर नरेन्द्रकृष्ण बहादुरने की। सम्पूर्ण भारतसे इस आन्दोलनमें भाग लेनेकी अपील की गयी और सब सूबोंको इस प्रश्नपर एक हो जानेके लिए आमन्त्रित किया गया। ऐसा प्रयत्न पहले कभी नहीं हुआ था। सूबोंमें दौरा करनेका काम बनर्जीको सौंपा गया। वे बड़े उत्साह और कर्तव्यपरायणतासे धन इकट्ठा करने और प्रचार करनेमें जुट गये। बनर्जी उस समय मेट्रोपोलिटन इंस्टीट्यूटमें प्रोफेसर थे। गर्मीकी छुट्टी हो गयी थी। इसलिए वे नगेन्द्रनाथ चटर्जीको (जो उस समय बंगाली भाषाके ओजस्वी वक्ता थे) साथ लेकर उत्तरी भारतके दौरेके लिए निकल पड़े। पहले वे आगरा गये जहाँ सिविल सर्विस स्मृतिपत्रका उर्दू अनुवाद जनतामें बाँटा गया। लाहौरमें हिन्दू, मुसलमान और सिख सभीने उनका स्वागत किया। एक विराट सभा हुई जिसमें कलकत्ते-का प्रस्ताव और स्मृतिपत्र पारित किये गये। लाहौरमें उन्होंने इण्डियन ऐसोसियेशनकी शाखा भी स्थापित करवा दी जिसका नाम लाहौर इण्डियन ऐसोसियेशन रखा गया। बनर्जीका ख्याल है कि पंजाबमें यह पहला राजनीतिक संघटन था जिसने सब वर्गोंके लोगोंके लिए एक सामान्य कार्यक्षेत्र प्रस्तुत कर दिया। लाहौरके राजनीतिक जीवनको अंग्रेजी दैनिक 'ट्रिब्यून'से काफी योग मिला; बनर्जीके अनुरोधसे सरदार दयालसिंह मजीठिया-ने 'ट्रिब्यून'का प्रकाशन शुरु किया था।

अपने तूफानी दौरेमें बनर्जी अमृतसर, मेरठ, इलाहाबाद, दिल्ली, कानपुर, लखनऊ, अलीगढ़, बनारस, बम्बई, सूरत, अहमदाबाद और पूना गये। इन सब स्थानोंमें महती सभाएँ हुईं और कलकत्तेका प्रस्ताव व स्मृतिपत्र पारित हुए। मेरठ, इलाहाबाद, कानपुर और लखनऊमें ऐसोसियेशनकी शाखाएँ भी स्थापित हुईं। वे मद्रास भी गये थे, परन्तु वहाँ किसी वजहसे सभा नहीं हो सकी।

उत्तरी भारतके दौरेमें बनर्जीने प्रमुख भारतीयोंसे सम्पर्क स्थापित किये और भारतीय एकताका बीजारोपण किया। उनका कहना है कि जिन लोगोंसे वे मिले उन सबमें सर सय्यद अहमद खाँ "सबसे प्रसिद्ध" व्यक्ति थे। सर सय्यदने अलीगढ़की सभाका सभापतित्व किया और कलकत्ता प्रस्ताव पारित करनेके अलावा माँग की कि प्रतियोगिता परीक्षा भारतमें भी होनी चाहिये। बादमें इन्हीं सर सय्यदने साम्प्रदायिक कारणोंसे इस परीक्षाके भारतमें किये जानेकी माँगका विरोध किया।

ब्रिटिश शासनमें पहली बार देशने एक सूत्रमें बँधकर एक आवाज उठायी। सिवल सर्विस आन्दोलनने देशमें संघटित राजनीतिक कामके लिए पथप्रदर्शन किया। बंगाल इस जाग्रतिका नेता था। इसके विषयमें बंगाल सिविल सर्विसके सर हेनरी काटनने (जो बादको कांग्रेसके अध्यक्ष हुए) लिखा है—"पढ़े-लिखे लोग ही देशके मस्तिष्क और आवाज होते हैं। आज पेशावरसे चटगाँवतक बंगाली बाबू जनमतपर काबू किये हुए हैं। और यद्यपि उत्तरी-पश्चिमी भारतके लोग शिक्षा और राजनीतिक स्वाधीनताकी भावनामें अपने बंगाली भाइयोंसे कहीं ज्यादा पिछड़े हुए हैं, परन्तु धीरे धीरे वे भी दक्षिणी सूबोंकी भाँति उनके बौद्धिक नियन्त्रण और पथप्रदर्शनमें आ रहे हैं। चौथाई शताब्दी पहले इस बातकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि पंजाबमें किसी बंगालीका असर हो सकता है। लेकिन

यह सच है कि पिछले वर्ष एक बंगाली उपदेशकने अंग्रेजीमें भाषण करके अनोखी विजय प्राप्त की है। और आजकल सुरेन्द्रनाथ बनर्जीका नाम उठती हुई पीढ़ियोंमें मुल्तानमें भी उतना ही उत्साह जाग्रत करता है जितना ढाकामें।"[१]

सम्पूर्ण भारतमें एक मत स्थापित करके इण्डियन ऐसोसियेशनने इङ्गलैण्डमें आन्दोलन करनेकी ठानी। सिविल सर्विसके प्रश्नपर एक-अखिल-भारतीय स्मृतिपत्र ब्रिटिश लोकसभा-के पास भेजा गया और लालमोहन घोष भारतके प्रतिनिधि चुने गये। लालमोहन घोष अति उच्च कोटिके कुशल वक्ता थे। इंगलैण्ड पहुँचते ही उन्होंने बड़ी लगनसे काम शुरू कर दिया। जान ब्राइटकी अध्यक्षतामें एक बड़ी सभा हुई—ब्राइट उस समय ग्लैडस्टनके बाद सर्वोत्तम वक्ता समझे जाते थे। वे इंगलैण्डमें भारतके बड़े हितैषी मित्र थे—सन् १८४७ से १८८० तक वे पार्लमेण्टमें भारतके पक्षमें बराबर लड़ते रहे। घोषके भाषणकी प्रशंसा करते हुए ब्राइटने कहा कि "मैं अब न बोलूँगा, इस सुन्दर भाषणका प्रभाव मैं बिगाड़ना नहीं चाहता"। इस काररवाईका तुरत असर हुआ और २४ घण्टेके अन्दर ही लोकसभामें वे रूल पेश कर दिये गये जिनके द्वारा भारतीय स्टेट्यूटरी सर्विसकी स्थापना की गयी।

यह आन्दोलन चल ही रहा था कि भारतीय राजनीतिमें एक और जोरदार लहर आयी। यह थी सरकार द्वारा देशी पत्रोंका गला घोटना। लार्ड हेस्टिंग्जके कालमें, पत्रोंको काफी आजादी थी; उन दिनों अधिकतर यूरोपियन ही पत्रोंके मालिक थे। सन् १८२३ में अस्थायी गवर्नर जनरल जॉन ऐडमने एक आर्डिनेन्स (कानून) द्वारा भारतके पत्रोंपर कड़े प्रतिबन्ध लगा दिये। तमाम पत्रोंके लिए यह आवश्यक हो गया कि वे गवर्नर-जनरलसे लाइसेन्स (अनुज्ञापत्र) प्राप्त करें। इस आर्डिनेन्स (या अध्यादेश) के प्रथम शिकार कलकत्ता जरनलके सम्पादक, बकिंघम और उनके सहायक सैन्फोर्ड आरनौट हुए। बकिंघमको २ माहकी नोटिस देकर इंगलैण्ड रवाना कर दिया गया और आरनौटको गिरफ्तार करके इंगलैण्ड जानेवाले एक जहाजपर बैठा दिया गया। उनका दोष यह था कि वे सरकारकी आलोचना किया करते थे। राजा राममोहन राय उस समय इंगलैण्डमें थे। उन्होंने इस कानूनके खिलाफ पहले तो ईस्ट-इण्डिया कम्पनीके डाइरेक्टरोंके सामने अर्जी पेश की, फिर, इंगलैण्डके बादशाहसे अपील की, पर कुछ न हुआ। परन्तु १८३५ में अस्थायी गवर्नर-जनरल सर चार्ल्स मेटकाफने प्रेसको फिर मुक्त कर दिया। टामस मुनरोने (जो कम्पनीके एक मुलाजिम थे) यह सुझाव दिया था कि निरंकुश शासन और स्वतन्त्र प्रेस एक साथ नहीं चल सकते। वे कहते थे—"स्वतन्त्र पत्रोंका प्रथम कर्तव्य क्या है? देशको बाहरी जुएसे मुक्त कराना"।[२]

फिर भी मेटकाफने हिम्मतसे काम लिया और पत्रोंको बहुत आजादी दे दी। सन् ५७ के विद्रोहमें फिर पत्रोंने जोर पकड़ा। और उनपर एक नियत समयके लिए प्रतिबन्ध लगा दिये गये।

सन् १८७५ के बादके वर्षोंमें भारतीय भाषाओंके पत्रोंने सरकारपर ही नहीं वरन् अंग्रेजी राजपर आक्रमण करना शुरू कर दिया। इससे अधिकारीगण भयभीत हो गये। विद्रोहके जमानेके अंग्रेजी अत्याचारोंने कुछ वर्षों तक पत्रोंको चुप कर दिया था। परन्तु

---

१. हेनरी कॉटन, न्यू इण्डिया, पृ० १५-१६

२. सर जॉन कमिंग, पोलिटिकल इण्डिया, पृ० ३५

ज्यों ज्यों समय बीतता गया, भारतीयोंके प्रति अंग्रेजोंका रवैया सख्त होता गया—वे भारतीयोंकी आकांक्षाओंके साथ सहानुभूति रखनेके बजाय उनका अपमान करने लगे। इसलिए भारतीय पत्रोंने अंग्रेजोंके विरुद्ध शत्रुताका रवैया अख्तियार कर लिया। सन् १८७५ में 'अमृत बाजार पत्रिका'ने जो सदासे अंग्रेज-विरोधी पत्र था, बड़ौदाके गायकवाड़ द्वारा वहाँके अंग्रेज रेजीडेण्ट कर्नल फैयरको कत्ल करनेके कथित प्रयत्नपर लिखा कि "एक मामूलीसे कर्नलको जहर देना उतना भारी अपराध नहीं है जितना एक पूरे राष्ट्रको शक्तिहीन कर देनेमें है जिससे सरकार बिना किसी संकटके शासन कर सके।"[1]

भारत सरकारके कानून सदस्यके भाषणसे जो उन्होंने उस समय राजकीय विधान परिषद् (इम्पीरियल कौंसिल)में किया था, पता चलता है कि सरकारका भारतीय भाषाओंके पत्रोंके विषयमें क्या विचार था। उन्होंने उस भाषणके दौरानमें कहा था। "ऐसे देशी पत्रोंकी एक बड़ी और बढ़ती हुई संख्या है जिनका उद्देश्य उत्तेजक सिद्धान्तोंका प्रचार करना, सरकार और उसके यूरोपीय अफसरोंके प्रति घृणा पैदा करना, और शासक जाति तथा देशकी जनताके बीच विरोधी भावनाओंको उभाड़ना है। इस प्रकारके लेख कोई नयी चीज नहीं हैं परन्तु चार-पाँच वर्षोंसे उनमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है। पिछले बारह महीनोंमें तो यह गति बहुत ही तीव्र हो चली है, क्योंकि लेखक समझते हैं कि उन्हें कोई सजा तो मिलेगी नहीं। उनके लिखनेके मुख्य विषय ये हैं—अंग्रेजी सरकारका अन्याय, दमन और अत्याचार, उसमें भारतीयोंके प्रति सहानुभूतिका अभाव, भारतमें बसे हुए अंग्रेजोंकी उद्दण्डता और घमंड। इन लेखकोंकी रायमें कोई ऐसा पतित, निकृष्ट और धूर्ततापूर्ण अपराध नहीं है जो अंग्रेजी शासक आदतन न करते हों।"[2]

कानून सदस्यने आगे कहा—"हालमें इस रवैयेमें और प्रगति हुई है; अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष रूपसे लोगोंको उभाड़कर अंग्रेजी शासनको उखाड़ फेंकनेकी हिदायत दी जाती है। उनसे कहा जाता है कि दुर्बल डरपोक अंग्रेजोंमें अब भारतपर शासन करनेकी योग्यता नहीं रह गयी है।"[2]

देशी भाषाओंके पत्रोंके विरुद्ध कानून पास करनेके लिए गवर्नर जनरलने निम्न आशयका तार भारत-सचिवके पास भेजा था—

"राजद्रोहात्मक हिंसाकी ओर, जिसका आजकल देशी पत्र खुलेआम प्रचार कर रहे हैं, स्थानीय सरकारें हमारा ध्यान बराबर आकर्षित कर रही हैं। सिर्फ मद्रास सरकारको ऐसी कोई शिकायत नहीं है क्योंकि वहाँ देशी भाषाके पत्र नहींके बराबर हैं; बाकी सभी सरकारोंकी माँग है कि एक सख्त कानून बनाया जाय। परिषद् भी एक मतसे यही चाहती है। हम सब, गत कुछ महीनोंसे सख्त कदम उठानेकी बात सोच रहे थे, परन्तु मेरी और अन्य सूबाई सरकारोंकी रायमें देशी पत्रोंकी भाषा जो हमेशासे शरारत भरी रही है, अब बहुत खतरनाक हो गयी है, और भारतीय समाज समझता है कि अन्य स्थानोंकी घटनाओंके कारण हमारी शक्ति अब बहुत दुर्बल हो गयी है। इसलिए अब सार्वजनिक हितके कारण सरकारके लिए यह बहुत जरूरी हो गया है कि देशी पत्रोंके राजद्रोही कृत्योंको रोका जाय,

१. एडवर्ड टामसन, दि रिकान्सट्रक्शन आव इण्डिया, पृ० ५८
२. सर वरनी लवेट, ए हिस्टरी आव इण्डियन नैशनलिस्ट मूवमेन्ट, पृ० २२

अन्यथा, इस कालकी अजीब स्थितिमें उनका खतरा बढ़ता ही जायगा।"[1] इस "अजीब स्थिति"का वर्णन बादके अध्यायमें किया गया है।

देशी भाषा-पत्र कानून (वरनाक्यूलर प्रेस ऐक्ट) राजकीय विधान परिषद्‌की एक ही बैठकमें १४ मार्च १८७८ को पास कर दिया गया। एक दिनमें पास करनेके लिए कायदोंको अध्यक्षकी आज्ञासे मुअत्तल कर दिया गया। किसीने भी विरोधकी आवाज नहीं उठायी। भारतीय सदस्य, महाराजा सर ज्योतीन्द्रमोहन ठाकुरने भी बिलके पक्षमें राय दी। सुरेन्द्रनाथ बनर्जीके कथनानुसार, "ऐसा कहा जाता है कि ठाकुरसे वाइसरायने पक्षमें राय देनेके लिए बुलाकर कह दिया था।"

इस कानून द्वारा मैजिस्ट्रेटोंको यह अधिकार मिल गया कि वे भारतीय भाषाओंके पत्र-सम्पादकोंसे प्रान्तीय सरकारोंकी आज्ञासे, कह सकते थे कि वे या तो अपने पत्रोंमें छपनेवाली सामग्रीका प्रूफ सेन्सर करानेको भेजे या प्रतिज्ञा लिखकर दें कि वे कोई ऐसा लेख या खबर न छापेंगे जिससे सरकारके प्रति अविश्वास पैदा हो या जिससे विभिन्न जातियोंमें द्वेष भावना फैले। शरारती दफा १२४ ए ने जो भारतीय दण्ड विधानमें १८७० में जोड़ी गयी थी, सरकारको इस प्रकारकी काफी शक्ति दे रखी थी। परन्तु इस दफाका प्रयोग किसी अपराधके होनेके बाद ही हो सकता था; इसलिए वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्टकी जरूरत पड़ी। इस ऐक्टसे अपराधकी रोकथाम पहले ही की जा सकती थी। इस ऐक्टकी तात्कालिक प्रतिक्रिया यह हुई कि 'सोम प्रकाश', 'नव विभाकर', 'साधारणी' तथा ऐसे ही अन्य पत्रोंने, जिन्होंने राष्ट्रीय जाग्रतिमें काफी भाग लिया था, स्वतः प्रकाशन बन्द कर दिया। अमृतबाजार पत्रिका होशियारीसे इस ऐक्टके पंजेसे निकल गया; उसने अपना प्रकाशन बजाय बंगालीके अंग्रेजीमें शुरू कर दिया।

विद्रोहके बाद समाचारपत्रोंकी संख्या बढ़ने लगी। सन् १८७० में ब्रिटिश भारतमें ६४४ समाचारपत्र थे जिनमेंसे ४०० देशी भाषाओंमें निकलते थे। अभयचरण मजुमदारका कहना है कि "बंगालमें छोटे-छोटे बहुतसे बंगाली समाचारपत्र निकले, जिनमें हर प्रकारकी खबरें और टीका टिप्पणी होती थी। कभी-कभी ये खबरें और टिप्पणियाँ गलत भी होती थीं, पर इनका सम्बन्ध सदैव देशके नये जोशसे होता था। शामको दर्जनों अनपढ़ लोग इन पत्रोंको सुननेके लिए दूकानोंपर इकट्ठा हो जाते थे"।[2]

ब्रिटिश शासनके आरम्भसे ही भारतमें दो वर्गोंके राजनीतिक नेता थे। एक तो वे जो किसी भी प्रकार अंग्रेजी शासनको भारतसे उखाड़ फेंकना चाहते थे, दूसरे वे जिन्होंने उस शासनको स्वीकार कर लिया था, और धीरे-धीरे उसे स्वशासनमें विकसित कर लेना चाहते थे। उग्रदलवाले अखबारोंका पूरा लाभ उठाते थे। कभी-कभी उग्रदल और नरम दलवाले साथ-साथ भी काम करते थे। दोनों सोचते थे कि वे दूसरेकी सहायतासे अपनी विचारधाराको प्रोत्साहन दे रहे हैं। कभी-कभी नरम दलवालोंसे मिलकर उग्रदलवाले खुल्लम-खुल्ला काम करने लगते थे और नरमदलकी नीतिमें भी परिवर्तन करवा देते थे। कभी-कभी नरमदलवालोंमें उनका प्रभाव इतना बढ़ जाता था कि उस दलवाले उन्हींके विचारोंको अपना लेते थे, और उन्हींके नेताओंको अपने नेता मानने लगते थे। इस प्रकार नरमदलीय-

---

१. लार्ड लिटन्स, इण्डियन ऐडमिनिस्ट्रेशन पृ० ५०६-५०७

२. अभयचरण मजुमदार, इण्डियन नैशनल इवौल्यूशन पृ० २२

मतने सरकारी आशासे अधिक तेजीके साथ प्रगति की। और परिणामस्वरूप सरकार और नरमदलके मतमें काफी चौड़ी खाई बन गयी।

इन दोनों दलोंके कृत्योंने जो असन्तोष उत्पन्न कर दिया था वह समाचारपत्रोंमें परिलक्षित हो रहा था। सरकार परेशान थी। कुछ संवादक बम्बई तथा कलकत्तेसे निर्वासित कर दिये गये। वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट (जो गलाघोंटू कानूनके नामसे प्रसिद्ध हुआ) भारतीय राजनीति तथा राष्ट्रीय प्रगतिके रास्तेमें बाधक सिद्ध हुआ। शिक्षित वर्ग अत्यन्त विचलित तथा क्षुब्ध हो उठा। कुछ बड़े-बड़े नेता भयभीत से मालूम पड़ने लगे और उनकी पस्तहिम्मतीके कारण जनताका उत्साह भी ढीला पड़ने लगा।

इस कानूनके विरुद्ध इण्डियन ऐसोसियेशनने आन्दोलन उठाया और एक सार्वजनिक सभा करनेकी घोषणा की गयी। जिस शामको सभा होनेवाली थी उस दिन प्रातः के पत्रोंमें समाचार निकला कि रूसके साथ युद्धकी सम्भावनाके कारण ब्रिटिश प्रधानमन्त्री डिजरेली ने ६००० भारतीय सैनिक माल्टा भेज दिये हैं। नेताओंको आशंका होने लगी कि शायद सुरक्षाके विचारसे सभा करनेकी आज्ञा न मिले। परन्तु सभाके संयोजकोंने सभा करना निश्चय कर लिया और उसका जो कुछ भी परिणाम हो उसके लिए वे तैयार हो गये।" सभा बिना किसी रोक-टोकके हुई जिसमें वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्टके विरोधमें एक प्रस्ताव पारित किया गया।

सन् १८७८ में एक अन्य आपत्तिजनक कानून बनाया गया जिसने भारतीयोंको और भी क्रुद्ध कर दिया। वह था इण्डियन आर्म्स ऐक्ट (शस्त्र कानून)। इस कानूनने भारतीयोंको हथियारोंसे वंचित कर दिया। इसके अनुसार कोई भारतीय बिना लाइसेन्सके कोई घातक हथियार नहीं रख सकता था। इस कानूनका उल्लंघन करनेवालेके लिए ३ वर्षकी कैद या जुर्माना या दोनोंका उपबन्ध किया गया था। भारतीय नेताओंने इस कानूनका भी विरोध किया।

इन दोनों कानूनोंके विरोधमें ग्लेडस्टनका भी सहयोग प्राप्त था। उस समय वे विरोधी दलके नेता था। पर जब वे प्रधान मन्त्री हुए तो उन्होंने वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट तो रद्द कर दिया लेकिन आर्म्स ऐक्टको उन्होंने भी नहीं छुआ।

---

१. हेनरी डाडवेल, ए स्केच आव दि हिस्टरी आव इण्डिया फ्राम १८५८ टु, १९१८, पृष्ठ २५९

अध्याय ४

आर्थिक शोषणके राजनीतिक परिणाम

ब्रिटेन जिस ढंगसे भारतीय अर्थव्यवस्था संचालित कर रहा था, उसमें उसका मुख्य लक्ष्य था अधिकतम मुनाफा कमाना। महारानी द्वारा शासनकी बागडोर सँभालनेके पहले ही ईस्ट इण्डिया कम्पनीने भारतीय वस्त्र-उद्योग नष्ट कर दिया था और ब्रिटेन अपने यहाँ बना कपड़ा भारतको निर्यात कर रहा था। ब्रिटिश वस्त्र-उद्योगके लिए रूईकी जरूरत थी और वह रूई ब्रिटेन भारतसे प्राप्त करने लगा था। भारतीय-तट-कर नीति लगभग पूरी तरहसे ब्रिटिश पूँजीपतियों द्वारा निर्धारित होती थी। ब्रिटिश पार्लमेण्टमें उनका प्रभाव था और यह नीति ब्रिटिश व्यापार तथा उद्योगका हित देखकर तय होती थी। भारतीय वस्तुओंका यूरोपको निर्यात भारी कर लगाकर दबाया जाता था, ब्रिटिश वस्तुओंका भारतमें आयात नाममात्रके करों द्वारा प्रोत्साहित किया जाता था। इतिहासकार होरेस विल्सनके शब्दोंमें ब्रिटिश कारखानेदार अपने ऐसे प्रतियोगियोंके दमन और अन्ततः विनाशके लिए राजनीतिक अन्यायका सहारा लेता था, जिनसे बराबरीकी होड़में वह कभी टक्कर न ले पाता।"[1]

भारतसे बड़ी मात्रामें अन्न इंगलैण्ड भेजा जाता था, जिससे यहाँ दुर्भिक्ष पड़ने लगे। अन्नका यह निर्यात हर वर्ष बढ़ता ही गया। सन् १८५९में गेहूँ, चावल व दूसरे अनाजका २८ लाख पौंडका निर्यात हुआ और सन् १८७७में यही निर्यात बढ़कर ८० लाख पौंडका हो गया।" यदि भारतीय जनता पेट भर खाती होती तो अतिरिक्त अन्न बचता ही नहीं। अन्न का निर्यात भारतमें बहुतसे भूखे पेटोंका प्रतीक था"[2] किन्तु अन्नकी कमी इस निर्यातसे कहीं अधिक थी क्योंकि भारतमें बसे अंग्रेजोंने हजारों मील उपजाऊ भूमिमें गल्लेकी खेती बन्दकर रूई और जूटकी खेती शुरू कर दी थी। बंगालके बहुतसे चावल पैदा करनेवाले जिले अब जूट पैदा करने लगे थे। भारतके बड़े बड़े इलाकोंमें गेहूँ और चावलकी फसलोंकी जगह रूई ले रही थी। भारतीय किसान वही पैदा करनेको बाध्य था जो उसका साम्राज्यवादी मालिक चाहता था। भारतीय जनता भूखी रहे या अकालग्रस्त हो, अन्नका निर्यात जारी रहता था। दुर्भिक्षके दिनोंमें भी निर्यात बदस्तूर जारी रहता था।" सन् १८७६–७७में जब देशमें विकराल "दुर्भिक्ष आसन्न था अन्नका निर्यात पहले वर्षोंसे अधिक ही हुआ।"

ग्रामीण अर्थ-व्यवस्थाका ढाँचा ऐसा कर दिया गया था कि किसान अपनी उपज बेचनेको बाध्य थे, यद्यपि वे जानते थे कि वर्षके बड़े भागमें उन्हें भूखा रहना पड़ेगा। लगान बढ़ा दिये थे और उसे अदा करनेके लिए काश्तकारोंको उपजका बड़ा हिस्सा बेच देना पड़ता था। फिर ब्रिटेनसे आयी वस्तुओंका दाम भी देना होता था, जो यहाँसे अनाज और कच्चा माल भेजकर अदा किया जाता था।

---

१. रमेशचन्द्रदत्त 'इण्डियन ट्रेड, मैन्यूफेक्चर्स एण्ड फाइनेंस' पृष्ठ १

२. डब्लू डब्लू हण्टर 'इण्डिया आव दि क्वीन एण्ड आदर ऐसेज' पृष्ठ १४८

३. रमेशचन्द्रदत्त·········पृष्ठ १४३

बंगालमें इस्तमरारी बन्दोबस्तने एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी जिससे सन् १८५९ में किसान विद्रोह हो गया। यह बन्दोबस्त अंग्रेजी राजकी बड़ी देन गिना जाता था क्योंकि इससे जमींदार बार-बार मालगुजारी बढ़नेके खतरेसे बच गये थे। गल्लेके दाम बढ़ रहे थे और काश्तकारोंकी आमदनी बढ़ रही थी क्योंकि लगान नहीं बढ़ा था। किसानकी इस आपेक्षिक समृद्धिने जमींदारोंको लालची बना दिया और १९ वीं शताब्दीके मध्यमें इन्होंने लगान बढ़ाने शुरू किये। फल यह हुआ कि जमींदारको तो बँधी हुई मालगुजारी ही देनी होती थी परन्तु वे किसानोंसे बढ़े हुए भावोंके अनुपातसे भी अधिक लगान वसूल करने लगे। सन् १८५९ में सरकारने लगान-वृद्धि पर रोक लगानेकी एक हल्की-सी कोशिश की पर उससे काश्तकारोंका विशेष लाभ नहीं हुआ।

बंगालके दुखी किसानोंने ऐसी स्थितिमें, लगानबन्दी आन्दोलन करनेका निर्णय किया। वे सब उसका फल भोगनेके लिए भी तैयार हो गये। बंगालके सबसे शान्त जिले पाबनामें किसान-विद्रोहकी स्थिति पैदा हो गयी। लेकिन यह विद्रोह पूरी तरहसे वैधानिक था। आवेशके कुछ नगण्य उफानोंको छोड़ दें तो किसानोंकी सारी नीति यही मालूम पड़ती थी कि 'हम लड़ेंगे नहीं और हम लगान भी नहीं देंगे; हम दखिलकार काश्तकारोंके हक माँगेंगे; लगानकी हर रकम वसूल करनेके लिए तुम जमींदार लोगोंको मुकदमा लड़ना पड़ेगा; अर्जीदावेसे लेकर जमीनके नीलामतक, ये मुकदमें हम हर स्तरपर लड़ेंगे; कानूनके हर पेच, फेर और वाक् छलको अस्त्र बनाकर हम देर लगायँगे; तुम्हें आखिरकार डिगरी मिल जायगी, पर डिगरी पानेमें तुम तबाह भी हो जाओगे; हमारी हालत तो खराब है ही और तुम्हें लगान देनेके लिए अपनी आखिरी गाय बेचनेसे अच्छा है कि हम गाय बेचकर तुमसे अदालतमें लड़ लें।' बंगालके दो तिहाई—६० लाख—लोग १० शिलिंगसे कम ही सालाना लगान देते हैं। ऐसे छोटे किसानोंके देशमें मुकदमें लड़-लड़कर लगान वसूल करना असंभव है। और किसानोंकी एकता तथा संघटनने सचमुच ही बहुतसे जमींदारोंको बर्बाद कर दिया।"[1]

अगले साल, सन् १८६१ में बंगालके काश्तकारोंने फिर मोर्चा लिया। इस बार यह यह मोर्चा नीलके यूरोपीय प्लाण्टरोंके खिलाफ था। बिहार और बंगालमें कुछ उद्योगी यूरोपीयों द्वारा शुरू की गयी नीलकी खेतीके पीछे एक दर्द भरी, यातनाओंकी कहानी छिपी हुई है। किसानोंकी एक बहुत बड़ी संख्याको धोखा देकर इनसे लम्बी अवधिके लिए नीलकी खेती करनेके इकरारनामें लिखा लिये गये थे। बादमें बेचारोंको पता लगा कि नीलकी खेतीमें मुनाफा नहीं होता। पर इन इकरारनामोंके बलपर दमन और दबाव डालकर उन्हें नीलकी खेती करनेको मजबूर किया गया, यद्यपि वे यह खेती छोड़ना चाहते थे। बंगाल सरकारके कागजातसे पता चलता है कि प्लाण्टरोंके साथ पुलिस और मजिस्ट्रेटोंतककी मिली भगत थी। बंगालके लेफ्टिनेण्ट गवर्नर भी प्लाण्टरोंके पक्षमें थे। लेकिन अन्तमें, किसानोंकी दयनीय दशा और अमानुषिक अत्याचार देखकर अफसरोंको भी अपना रुख बदलना पड़ा।

काश्तकारोंकी सहनशीलता सीमातक पहुँच चुकी थी। आखिरकार उन्होंने साहस बटोरकर गोरे मालिकोंके खिलाफ विद्रोह कर दिया। इन इकरारनामोंके बावजूद उन्होंने नील बोनेसे इनकार कर दिया। कुछ जगहोंपर उन्होंने हिंसासे काम लिया, कुछ दूसरी जगहोंपर उन्होंने नील-कोठियाँ जला दीं; पर हिंसाकी ऐसी घटनाएँ कम ही थीं। विद्रोहका

1. डब्लू. डब्लू. हण्टर 'इण्डिया आव दि क्वीन एण्ड अदर एसेज' पृ० १४३

संघटन इतना अच्छा था कि अधिकारियोंको बिगड़ती हुई हालतसे परेशानी होने लगी। काश्तकारोंकी संघटित एकतासे लार्ड कैनिंग जैसे वाइसराय भी बेचैन हो उठे, जिन्होंने १८५७ के विद्रोहमें बड़ी-बड़ी घटनाएँ देखी थीं। आन्दोलनके बारेमें आपने लिखा—"एक हफ्तेतक तो मुझे इतनी चिन्ता रही जितनी दिल्ली-विद्रोहके बाद कभी नहीं हुई थी। मुझे लगता था कि किसी मूर्ख प्लाण्टर द्वारा क्रोध या भयसे चलायी गयी एक गोलीसे दक्षिणी बंगालके हर कारखानेमें आग लग जायगी।"[1]

भाग्यसे, इस वर्ष बंगालके लेफ्टिनेण्ट गवर्नर सर जॉन पीटर ग्राण्ट थे जिन्होंने काश्तकारोंकी माँगका न्याय देखकर उन्हें मदद पहुँचानेका निश्चय किया। जिलोंके अपने दौरमें सर जॉनने रैयतीकी भीड़ोंको सरकारसे यह हुक्म जारी करनेकी माँग करते देखा था कि उन्हें नील बोनेको विवश नहीं किया जाय। सर जॉनके अनुसार—"यह समझना भूल ही होगी कि दस-दस हजार स्त्री पुरुषों व बच्चोंके इन प्रदर्शनोंका कोई गम्भीर अर्थ नहीं है। इतने बड़े देशमें एक उद्देश्यसे एक साथ ऐसे स्मरणीय प्रदर्शन करनेकी शक्ति और संघटन गम्भीर विचार करने योग्य हैं।"[2]

जिन दो भारतीयोंने देशभरका ध्यान नीलकाण्डकी ओर आकर्षित किया वे थे दीनबन्धु मित्र व हरिश्चन्द्र मुखर्जी। दीनबन्धुने एक नाटक लिखा नीलदर्पण और शायद ही कभी किसी नाटकका इतना व्यापक प्रभाव पड़ा हो। उसमें यूरोपीय प्लाण्टरों द्वारा नीलके काश्तकारों और उनके परिवारोंपर किये गये अत्याचारों और नृशंसताओंका बड़ा मार्मिक चित्रण किया गया था। नील-प्रदेशका उसमें इतना सही वर्णन था कि नाटक सैकड़ों जगह खेला गया और जिसने भी उसे देखा वह इस अत्याचारके अन्तके लिए प्रेरित हो गया। प्लाण्टरोंके विरुद्ध और नील-किसानोंके पक्षमें विशाल जनमत तैयार हो गया।

किसानोंकी दुर्दशासे कई ईसाई पादरियों और अंग्रेज अफसरोंके मित्र भी पिघल गये। इनमें रेवरेण्ड जेम्स लॉंग भी थे जिन्होंने किसानोंके लिए जेल भी काटी। बंगाल सरकारके सेक्रेटरी सेटनकरके कहने पर माइकेल मधुसूदन दत्तने नील दर्पणका अंग्रेजीमें अनुवाद किया और पादरी लॉंगने उसमें अपनी भूमिका जोड़कर उसे प्रकाशित किया। करने सरकारी मुहरसे इस अनुवादकी २०० प्रतियाँ इंगलैण्ड भेज दीं। इससे प्लाण्टर क्रोधित हो उठे और उन्होंने 'इंगलिशमैन' के सम्पादक वाल्टर ब्रेटसे लॉंगके विरुद्ध मानहानिका दावा करवा दिया। लॉंगने अपनी भूमिकामें 'इंगलिशमैन' व एक दूसरे अंग्रेजी दैनिककी आलोचना करते हुए लिखा था—"चाँदीकी कितनी आकर्षक शक्ति है! घृणित जूडाने चाँदीके ३० टुकड़ोंके लिए ईशुमसीहको धोखा देकर भयावह पोंटियस पाइलेटके सिपुर्द कर दिया था। इसमें क्या आश्चर्य है कि दो सम्पादक चाँदीके एक हजार टुकड़े पानेके लिए निर्धन रैयतको तुम्हारे चंगुलमें डाल दें।"[3]

लॉंगको १०००) जुर्माने और एक मासकी कैदकी सजा मिली। उनके लिए जुर्माना फौरन अदा कर दिया गया और वह खुशी-खुशी जेल चल दिये। जेल जाते समय उन्हें कहते सुना गया कि ऐसे कामके लिए मैं हजार बार जेल जानेको तैयार हूँ।

---

१. डाक्टर हेमेन्द्रनाथदास गुप्तकी 'दि इण्डियन नेशनल कांग्रेस' के पृष्ठ १९ पर उद्धृत

२. वही पुस्तक पृष्ठ १९-२०

२. दासगुप्त द्वारा पृष्ठ २५ पर उद्धृत

हरिश्चन्द्र मुखर्जी ब्रिटिश इण्डियन ऐसोसियेशनके प्रभावशाली सदस्य थे और 'हिन्दू पेट्रिअट' के सम्पादक थे। उन्होंने अपने पत्रमें किसानोंकी हिमायत ही नहीं की, वे आन्दोलनके नेता भी हो गये। उन्होंने अपने लेखों और समझाने-बुझानेसे सरकारको राजी कर लिया कि नीलके किसानोंकी शिकायतोंकी जाँच करनेके लिए एक कमीशन बैठाया जाय। मुखर्जी ही नदिया और जैसोरसे किसानोंको लाये, जहाँ नील-कष्ट सबसे उग्र था और उनसे कमीशनके सामने गवाहियाँ दिलवायीं। नीलकी खेतीवाले फरीदपुरके भूतपूर्व मजिस्ट्रेट ई. डब्लू. एल. टेलरने कमीशनके सामने गवाही देते हुए कहा—"पादरियोंको यह कहनेपर काफी द्वेपका सामना करना पड़ा है कि 'इंसानके खूनसे रंगे बगैर नीलकी एक पेटी भी इङ्गलैण्ड नहीं पहुँचती'। इसे एक कथाका रूप दिया गया है। पर यह मेरा अपना कथन है और मैं इसके सबसे व्यापक अर्थमें भी इसे अपना स्वीकार करता हूँ। फरीदपुर जिलेमें मजिस्ट्रेट होनेके नाते मेरे पास बहुतसे रैयतोंको भेजा गया जिनके आरपार भाले छेद दिये गये थे। मेरे सामने उन रैयतोंके शरीर आये हैं, जिन्हें मिस्टर फोर्ड (एक प्लाण्टर) ने गोलीका शिकार बनाया। मैंने रिपोर्टें लिखीं हैं कि किस प्रकार दूसरे लोग भालोंसे घायल किये गये, फिर गायब कर दिये गये। इस तरह नीलकी खेती करनेको मैं रक्तपातकी प्रणाली ही मानता हूँ।"[1]

कमीशनने नील-किसानोंकी शिकायतोंको सही पाया। उसके अनुसार इस खेतीसे किसानोंका कोई फायदा नहीं था; प्लाण्टर उन्हें सबसे उपजाऊ भूमिमें नील बोनेको बाध्य करते थे, कारखानोंके कर्मचारी उन्हें तरह-तरहसे सताते थे। कमीशनने किसानोंके पक्षमें रिपोर्ट दी और बंगालके लेफ्टिनेण्ट गवर्नरने लगभग पूरीकी पूरी रिपोर्ट मान ली। नीलकी खेती खत्म हो गयी और किसानोंने राहतकी साँस ली।

बिहारमें भी किसानोंकी ऐसी ही हालत थी। लेकिन वहाँ हरिश्चन्द्र मुखर्जीकी तरह उनके लिए आन्दोलन करनेवाला कोई नहीं था। इसलिए वहाँ किसानोंके दुर्दिन कायम रहे। आखिरकार, १८६७ में जौकठिया (चम्पारन) के काश्तकारोंने नील बोनेसे इनकार कर दिया और दूसरी फसलें बो दीं। दूसरे गाँवोंके लिए यह एक इशारा था कि वे भी ऐसा ही करें। लालसरैयाके आस-पास किसानोंमें ऐसा उबाल आया कि वहाँकी नील-कोठी जला दी गयी। १८६७ के चम्पारन गजटमें लिखा है—एक बार तो रैयत और प्लाण्टरोंके झगड़ेके उग्ररूप धारण करनेकी आशंका पैदा हो गयी। इसका कारण एक ओर तो किसानोंकी नाकाफी आमदनी था और दूसरी ओर कारखानोंके नौकरों द्वारा उनपर किये गये अत्याचार, अनुचित रूपसे धन वसूल किया जाना तथा अन्य परेशानियाँ थीं।

पर किसानोंको नहींके बराबर ही सुविधाएँ मिलीं। १८७५ में पटनेके कमिश्नरने प्रस्ताव किया कि उनकी हालत जाँचनेके लिए एक कमीशन बैठा दिया जाय, पर प्रस्ताव नामंजूर हो गया। सरकारको आशंका थी कि इससे हलचल मच जायगी। १८७७ में कमिश्नरने फिर लिखा कि स्थानीय कर्मचारियोंको बहुत असन्तोष दिखाई पड़ रहा है। १८८५ में उसने फिर लिखा—"जनहितकारी कानून बनानेके प्रयत्नोंके बावजूद, वहाँ एक ऐसी प्रथा भी जन्म ले रही है, जिसमें रैयत अपनी पूरी जमीन और घरतक एक ऐसी अवधिके लिए रेहन रख देती है, जो उसकी मौतके बाद भी खत्म नहीं होती। इससे छुटकारा पानेके

1. डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद—'सत्याग्रह इन चम्पारन' पृष्ठ २३

लिए उसे कर्जकी अदायगी करनी पड़ती है। सामान्य शब्दोंमें रैयत अपनी आत्मा और शरीर बेचकर लाचार दासतामें बँध जाती है।"[1] पर बिहारके नील-किसानोंके दुख-दर्द तब तक जारी रहे जबतक १९१७ में गाँधीजीने आकर उनका समर्थन नहीं किया।

देशकी सत्ता कम्पनीके हाथसे निकलकर महारानी विक्टोरियाके हाथमें जानेके बाद प्रथम १२ सालोंमें "भारतका आर्थिक शोषण चौगुना हो गया था।"[2] विद्रोहके कारण और उसके बाद अन्य कारणोंसे सरकारी खर्च बढ़ गया था, जिसके लिए नये करोंकी जरूरत थी। और चूंकि व्यापारपर कर लगानेसे ब्रिटिश वाणिज्यपर कुप्रभाव पड़ता, भूमि-कर और लगान बढ़ा दिये गये। सरकारी आयका एक प्रत्यक्ष साधन आयात-निर्यात-कर बढ़ाना होता, पर इसका ब्रिटिश उद्योगपति विरोध कर रहे थे। आयातकरसे ब्रिटेनसे बनकर आये तैयार मालके दाम बढ़ जाते, निर्यातकरसे यहाँसे ब्रिटेन जानेवाला कच्चा माल मँहगा पड़ता।

विद्रोहके बादके १८ सालोंमें सरकारी आय ३ करोड़ ६० लाख पौंडसे बढ़कर ५ करोड़ १० लाख पौंड हो गयी। इसमेंसे ब्रिटेनमें खर्च होनेवाली रकम ७५ लाखसे बढ़कर एक करोड़ पौंड हो गयी। अपने १०० वर्षके राजमें कम्पनीने भारतपर ६ करोड़ ९५ लाख पौण्डका सार्वजनिक कर्ज लाद दिया था। लेकिन विक्टोरिया शासनके १९ वर्षोंमें कर्जकी यह रकम दुगुनी—१३ करोड़ ९० लाख पौंड हो गयी।

विक्टोरिया राजके पहले १२ वर्षमें कर बढ़ाकर ड्योढ़े कर दिये गये थे। २९ मार्च सन् १८७१ में बम्बई ऐसोसियेशनने ब्रिटिश लोकसभाको जो स्मृतिपत्र भेजा था उसमें लिखा था—"पिछले १२ सालोंमें नमक-कर मद्रासमें १०० फीसदी, बम्बईमें ८१ फीसदी और शेष भारतमें ५० फीसदी बढ़ गया है; शकरपर १०० फीसदी ड्यूटी बढ़ा दी गयी है; शराबपर आबकारी दुगुनी हो गयी है, स्टाम्प ड्यूटी बार-बार बढ़ायी गयी है और अब वह इतनी ज्यादा और परेशान करनेवाली है कि उसके कारण बहुधा न्याय नहीं मिल पाता। हालमें भारी कोर्टफीस और दो फीसदी उत्तराधिकार-कर भी लगा दिया गया है। जमीनपर ६॥ फीसदीकी सेस लग रही है; गाँवसेवा सेसकी दर भी इतनी ही ऊँची है; देहाती कस्बा सेस, व्यापार और पेशेवर कर, मकान टैक्स, चुंगी तथा बहुतसे दूसरे म्युनिसिपल व स्थानीय कर देशके विभिन्न हिस्सोंमें लागू हैं, जिनकी सम्मिलित रकम क्रूरता और निर्दयतापूर्ण रूपसे बढ़ी है। बहुतसे सूबोंको भारत सरकारसे मिलनेवाले अनुदान कम कर दिये जानेसे जो घाटा पड़ रहा है, उसे पूरा करनेके लिए अब फिर नये स्थानीय कर लगानेका प्रस्ताव है। हम आवेदकोंका मत है कि अंग्रेजी राजमें कई वर्षसे अत्यधिक कर ही भारतके लिए विनाशकारक साबित हो रहे हैं; अधिकारियोंने सरकारी खर्च कम करनेकी पूरी कोशिश नहीं की है। ये खर्च हर साल बढ़ते गये हैं यहाँतक कि सन् '५६-'५७ के मुकाबले वे १ करोड़ ९० लाख पौंड बढ़ गये हैं।"[3]

इस स्मृतिपत्रका ब्रिटिश सरकारपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, उल्टे आगे आनेवाले सालोंमें ये कर और बढ़ा दिये गये।

ब्रिटिश कम्पनियाँ बड़ी-बड़ी जमीनें लेकर उनपर चाय बागान लगा रही थीं।

---

१. डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद, 'सत्याग्रह इन चम्पारन' पृ० १७

२. रमेशचन्द्रदत्त इण्डियन ट्रेड, मेन्यूफेक्चर एण्ड फाइनेंस, पृ० १३८

३. दत्त······पृष्ठ १७६-१७७

ब्रिटिश हितमें यह ब्रिटिश पूंजी भारतमें लग रही थी। प्लाण्टरोंको इन बागानोंके लिए बड़ी संख्यामें मजदूर चाहिये थे और वे चाहते थे कि मजदूर प्राप्त होनेकी कानूनी गारण्टी मिल जाय। बागानके लिए मजदूरोंकी भरतीका एक विशेष कानून बना दिया गया, जिससे गरीब और निरीह लोगोंपर दमन और अत्याचारका एक नया तरीका शुरू हुआ। इस कानूनको गुलामीका कानून कहा जाता था। बच्चे और औरतें अक्सर फुसलाकर या भगाकर बागानमें पहुँचा दी जाती थीं। अपढ़ और अनजान लोगोंसे मजदूरीके इकरारनामे करा लिये जाते थे और उनके बागानसे भाग निकलनेकी कोशिश करने पर उन्हें गिरफ्तार कर सजाएँ दी जाती थीं। कानूनने उन्हें उन मालिकोंकी गुलामीमें बाँध दिया था। रमेशचन्द्र दत्तके अनुसार "बंगालकी फौजदारी अदालतोंमें, मजदूर प्राप्त करनेके लिए धोखाधड़ी, बेजा दबाव और जबरदस्ती भगा ले जानेकी घृणित घटनाओंका पता लगा है। आसामके चाय बागानोंके इतिहासमें इन स्त्री-पुरुषोंपर बहुधा हुए बलात्कारों व अत्याचारोंके धब्बे लगे हुए हैं। उत्तरदायी और उच्च पदासीन अधिकारियोंने इन कानूनोंके खत्म करनेकी इच्छा प्रकट की है और सिफारिश की है कि चाय बागानके मालिक मजदूरोंके बाजारमें माँग और खपतके साधरण नियमोंके अनुसार मजदूर भरती किया करें। लेकिन पूंजीपतियोंका प्रभाव बहुत मजबूत है, किसी वाइसराय या भारतके लिए 'सेक्रेटरी आव स्टेट'ने इन कानूनोंको खत्म करनेकी हिम्मत नहीं की है और न आज भी भारतमें मौजूद इस अर्द्धदासताकी प्रथाको खत्म करनेकी कोशिश हुई है।'[1] नृशंसता और अत्याचारोंकी अनेकों घटनाओंकी रिपोर्ट सरकारको दी गयी, लेकिन ब्रिटिश पूंजीपतियोंको नाराज न कर सकनेवाली सरकार इस मामलेमें अपनेको असहाय समझती रही।

भारतसे बाहर, ब्रिटिश हितोंमें लड़ी गयी लड़ाइयोंका खर्च भारतपर लाद दिया गया। देशके साधनोंके अनुपातमें फौजी खर्च कहीं ज्यादा बढ़ गया। ब्रिटिश साम्राज्य बढ़ रहा था। फौजी महत्वके स्थानोंको ब्रिटेनके लिए सुरक्षित रखनेके लिए लड़ाइयाँ लड़ी जा रही थीं, लेकिन इन सबका खर्च भारतको देना पड़ता था। ब्रिटिश राज्यको भारतमें स्थिर और स्थायी बनानेके लिए खर्च की गयी चार करोड़ पौंडकी रकम 'गदरका कर्ज'के रूपमें भारतसे वसूल करनेकी और क्या तुक हो सकती थी? इसी तरहसे चीन, अफगानिस्तान, ईरान, अबीसीनिया आदिमें लड़ी गयी साम्राज्यवादी लड़ाइयोंमें इस्तेमाल किये गये भारतीय सिपाहियोंका खर्च ब्रिटिश सरकारको देना था, न कि भारतको। पर भारत असहाय था।

कुछ अंग्रेज खतरा उठाकर भी सच बोलते थे। सन् १८६०में मद्रासके गवर्नर सर चार्ल्स ट्रेवेलियनको गवर्नरीसे हटा दिया गया क्योंकि वे बढ़े हुए खर्च और करोंका बार बार प्रतिवाद कर रहे थे। १८५९में उन्होंने तम्बाकूपर लगनेवाले करका विरोध किया। १८६०में उन्होंने तीन बार बढ़ते हुए करोंका प्रतिवाद किया। अपने चौथे प्रतिवादके लिए उन्हें गवर्नर पद छोड़कर कीमत चुकानी पड़ी। उन्होंने सिफारिश की थी कि "अपनी वर्तमान सुविधाओंकी शक्तिका प्रयोग कर यदि हमने अप्रिय और अनिष्टकर टैक्स जनतापर लाद दिये तो हम ऐसी स्थितिमें पड़ जाएँगे जो देशी फौज कम करनेके लिए उपयुक्त न होगी। हम एक साथ ही जनता और फौज दोनोंको असन्तुष्ट नहीं रख सकते।"[2]

---

१. दत्त, वही पुस्तक, पृष्ठ १४६

२. दत्त–इण्डियन ट्रेड, मेन्यूफेक्चर एण्ड फाइनेंस, पृष्ठ १७१

१८७६में लार्ड लिटन भारतके गवर्नर-जनरल होकर आये और उन्होंने फौरन ही साफ साफ बता दिया कि सरकार किसानोंकी हित-रक्षा क्यों नहीं करेगी। ११ मई १८७६को उन्होंने सेक्रेटरी आव स्टेट (भारत सचिव)को लिखा—"मेरा विश्वास है कि भारतमें आने वाले योग्य और अनुभवी अफसरोंकी बुनियादी राजनीतिक भूल यह है कि वे समझते हैं कि हम 'अच्छी सरकार' द्वारा भारतको अपने कब्जेमें रख सकते हैं, यानी रैयतकी हालत सुधार कर, सही और सच्चा न्याय कर और सिंचाई आदिके कामोंमें बड़ी-बड़ी रकमें खर्च कर, उनके अनुसार अच्छी सरकार भारतपर कब्जा कायम रख सकती है। राजनीतिक दृष्टिसे भारतीय किसान एक गतिहीन, निश्चल पिण्ड है, अगर वह कभी भी चलेगा तो अपने ब्रिटिश हित-चिन्तकोंके इशारे और अनुशासनमें नहीं, अपने देशी राजाओंके इशारेमें—वे राजा चाहे जितने जालिम क्यों न हों। भारतीय जनमतके अकेले राजनीतिक प्रतिनिधि वे बाबू हैं जिन्हें हमने शिक्षा देकर देशी अखबारोंमें अर्द्ध-राजद्रोहात्मक लेख लिखना सिखाया है और यह बाबूवर्ग अपनी गलत स्थितिके सिवा और किसीका प्रतिनिधित्व नहीं करता। अपने इतालवी प्रान्तोंके शासनमें अस्ट्रियाने जो गलती की, वह देखिये। वे प्रांत इटलीके सबसे सुशासित भाग थे। आस्ट्रियाने वहाँके किसानोंके हितोंकी रक्षा की, पर वहाँके 'कुलीन' जागीरदारसे डरकर उनका दमन और अपमान किया। जब इस कुलीनवर्गने समझ लिया कि अस्ट्रियाके शासनसे उसका हित नहीं सध रहा, तो उसने उसके खिलाफ साजिश की; किसान या तो इसमें उदासीन रहा और या फिर अपने देशी नरेशोंका अनुसरण कर विदेशी हितचिन्तकोंके विरुद्ध होकर उसपर हमला बोल दिया। पर भारतीय मुखिये और राजे सिर्फ कुलीन जागीरदार ही नहीं हैं। वे शक्तिशाली सामन्त हैं।

"आज हमारे सामने जो सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या है, वह है भारतीय सामन्तवर्गका कुशलतापूर्वक, पूर्णरूपेण अपने हितमें उपयोग। मैं स्वीकार करता हूँ कि यह समस्या शीघ्र और सरलतापूर्वक हल नहीं होगी। क्योंकि, एक ओर तो हमें उनकी स्वेच्छा-प्रेरित और सद्भावनापूर्ण निष्ठा चाहिये, जो किसी ढंगसे ब्रिटिश सत्तामें उनके हित और सहानुभूतिके समन्वयपर निर्भर है; और दूसरी ओर हम निश्चय ही, उन्हें ऐसी कोई राजनीतिक शक्ति नहीं दे सकते जो हमारी शक्तिसे स्वतंत्र हो। सौभाग्यवश, यह वर्ग भावनाओंसे बहुत आसानीसे प्रभावित होता है और उन 'प्रतीकों'के प्रभावको बड़ी जल्दी ग्रहण करता है, जो वस्तु-स्थितिमें कुछ भी नहीं हैं।"[1]

अपने वाइसराय रहनेके कालमें, लार्ड लिटनने इसी नीतिका अनुसरण किया। इतना ही नहीं, उनके बादकी सभी सरकारोंने छोटे-मोटे परिवर्तन कर इसी नीतिका पालन किया। लार्ड लिटनने उस वक्त भारतसे गेहूँ इंगलेण्ड भेजा, जब यहाँ अकाल पड़ रहा था और लाखों करोड़ों भारतीय कुत्तोंकी मौत मर रहे थे। सन् १८७७ में अपनी एक्जीक्यूटिव कांउसिल (कार्यकारिणी) के अधिकतर सदस्योंकी रायके विरुद्ध, उन्होंने सूती वस्त्रपर लगनेवाला आयात कर खत्म कर दिया और इस प्रकार भारत सरकारकी आयका काफी बड़ा साधन खत्म हो गया। कांउसिलके सदस्योंने इस प्रकार धौंसमें स्वीकृति लेनेका प्रतिवाद किया पर वाइसरायको उनकी राय ठुकरानेका अधिकार था। यह निर्यात कर उस समय तोड़ा गया

१. लेडी बेटी बालफर, लार्ड लिटन्स इंडियन ऐडमिनिस्ट्रेशन १८७६-१८८० पृष्ठ १०९-११०

था, जब दक्षिण भारत १८७७ के अकालके बाद उठकर खड़ा भी न हो पाया था और उत्तर भारतमें १८७८ का अकाल पड़ रहा था, लगानमें नये सेस हालमें ही बढ़ाये गये थे, बजटमें घाटा था; विशेष कर लगाकर बनाया गया 'अकाल बीमा कोष' न जाने कैसे गायब हो गया था और सीमान्त प्रदेशमें अशान्ति थी।

असलमें, लार्ड लिटनकी नियुक्ति ही वे सब अप्रिय और गन्दे काम करनेके लिए हुई थी, जिन्हें उनके पहले आनेवाले लार्ड नार्थब्रुकने करनेसे इनकार कर दिया था और जिस इनकारकी वजहसे उन्हें इस्तीफा देकर वापस जाना पड़ा था। नार्थब्रुककी जल्दी वापसी का कारण आयात-कर मिटानेका मामला ही था। लिटनकी नीति और शासन समझनेमें आसानी होगी अगर नार्थब्रुककी वापसीके कारणोंपर एक निगाह डाल ली जाय। १९ वीं सदीकी आठवीं दशाब्दीमें भारतमें कुछ सूती कपड़ेके कारखाने बन गये थे। ब्रिटिश मिल मालिकोंने उन्हें अपना प्रतिस्पर्द्धी माना। जनवरी सन् १८७४ में मैनचेस्टरके व्यवसायी मंडलने भारतमंत्रीको एक स्मृतिपत्र भेजकर भारत जानेवाले सूतपर ३। और कपड़ेपर ५ फीसदी आयात-करका विरोध किया और उसे खत्म करनेकी माँग की। इन व्यापारियोंका तर्क था कि भारतमें यह आयात-कर लगाना मानो इंगलैण्डके सूत और कपड़ेके व्यापारपर रोक लगा देना है। यह स्मृतिपत्र भी बड़े ठीक समयपर भेजा गया था। इंगलैण्डमें आम चुनाव होनेवाले थे और वहाँकी पार्लमेण्ट उस समय भंग की जा चुकी थी जब ग्लैडस्टनकी सरकार अपने अंतिम दिनोंमें जनतामें अप्रिय हो रही थी। लंकाशायरके वोटोंकी बड़ी कीमत थी और कोई भी राजनीतिक दल वहाँके उद्योगपतियोंको नाराज नहीं कर सकता था कंजरवेटिव (अनुदार) दल उद्योगपतियोंका विश्वासभाजन था, वही जीता और १८७४ में डिजरेलीने अपनी सरकार बनायी। १८७५ में डिजरेलीके भारतमंत्री लार्ड सेलिसबरीने अपने सचिवको भारत सरकारसे आर्थिक कानूनोंके संबंधमें बातचीत करनेके लिए यहाँ भेजा। सेलिसबरीका आग्रह था कि सूती मालपर लगनेवाला आयात कर धीरे-धीरे बिलकुल खत्म कर दिया जाय। नार्थब्रुक और उनकी कार्यकारिणीने फरवरी सन् १८७६ में इस आग्रहके उत्तरमें लिख भेजा कि यह कर हटाना उचित न होगा क्योंकि "आठ लाख पौंड सालानाकी आमदनीवाले इस करको खत्म कर भारतीय अर्थ-व्यवस्थापर ऐसा गंभीर प्रभाव डालनेवाले आदेशका कोई पूर्व दृष्टान्त नहीं है।"

इस घटनाके बाद नार्थब्रुकको इस्तीफा देना पड़ा और लिटनकी नियुक्ति हो गयी। १८७७ में ब्रिटिश लोक-सभाने एक प्रस्ताव द्वारा भारत सरकारको आदेश दिया कि वह सूती कर खत्म कर दे।

लार्ड लिटनने पूरे मनोयोगसे जमींदारों व सामन्तोंको सुविधाएँ देकर भारतीय किसानों और गरीबोंके दमनकी नीति लागू करनी शुरू कर दी। ३० अप्रैल सन् १८७६ को लिटनने प्रधानमन्त्री डिजरेलीको लिखा—भारतीय राजाओं, महाराजाओंसे भेंटमें मुझे जिस बातने सबसे अधिक आकृष्ट किया वह उनका वंशगत उपाधियों और पूर्वजोंके यशको महत्त्वपूर्ण मानना है। यहाँ यह बड़ा सामन्ती कुलीन वर्ग है, जिससे हम छुटकारा नहीं पा सकते, जिसे खुश करने और जिसपर शासन करनेको हम उत्सुक हैं, पर ब्रिटिश ताजके आसपास सामन्ती समूहकी तरह जिसे समेटने बटोरनेके लिए हमने अबतक प्रायः कुछ भी कोशिश नहीं की है। जिन राजाओंसे मेरी बातचीत हुई उनमेंसे हर एक अपने वंशकी प्राचीनता, पुराने

जमानेमें केन्द्रीयसत्ता द्वारा मिले उसके परिवारके महत्वका मुझे विश्वास दिलाना चाहता था। उनमेंसे बहुतोंने अपने खर्चपर, बड़े चावसे संपादन कर अपनी वंशावलियाँ और परिवारके लेख-प्रमाण छपवाये हैं और मुझे उनकी प्रतियाँ दी हैं। यह बड़ा विलक्षण और मनोरंजक है, लेकिन ध्यान देने योग्य बात यह है कि सलामीकी तोपोंकी संख्यामें वृद्धि, दरबारमें अधिक सम्मानित स्थान, वाइसराय द्वारा उनके यहाँ जाने आदिके ब्रिटिश सरकार द्वारा किये गये छोटे अनुग्रहों और सम्मानोंका वे सब उतना ही आदर करते हैं, जितना मालगुजारी या अधिकार क्षेत्रकी भूमिमें विस्तारके उन ठोस फायदोंका जो अकबर या औरंगजेबने उनके परिवारोंको कराये थे।"[1]

इन सामन्ती 'कुलीनों'को बेवकूफ बनानेका अवसर भी शीघ्र हाथ लग गया। इसी साल डिजरेलीने ("जो अचानक ही एक नये साम्राज्यवादकी ओर झुक पड़ा था"[2]) सुझाव दिया कि "इंगलैण्डकी महारानी भारतकी साम्राज्ञी कहलाये।" "विक्टोरियाको यह बात बहुत पसन्द आयी और आयेदिन वह अपने प्रधानमन्त्रीसे इस नयी उपाधिकी संगतिपर जोर देने लगी। डिजरेलीने असहमति प्रकट की पर विक्टोरिया नहीं मानीं। १८७६ में अपनी और अपने मंत्रिमंडलकी अनिच्छाके बावजूद डिजरेलीको ब्रिटिश लोक व लार्ड सभाओंके प्रचण्ड अधिवेशनमें नयी परेशानी मोल लेनी पड़ी। उन्होंने शाही उपाधिमें परिवर्तन करनेका बिल पेश किया और दोनों सदनोंमें उसके क्रोधमय विरोधका उन्होंने असीमित शक्तिसे सामना और बिलका समर्थन किया। महारानी विक्टोरिया डिजरेलीसे खुश हो गयीं।"[3] बिल पास होकर कानून बन गया।

लार्ड लिटनने इसका स्वागत किया और १८७७ में एक शाही दरबार लगाकर महारानी विक्टोरियाकी नयी उपाधियोंकी घोषणा की और उसका उत्सव मनाया। यह दरबार भी पिछले दरबारकी तरह उस समय हुआ जब देशमें अकाल पड़ रहा था जिसमें दक्षिण भारतके ५० लाख व्यक्ति मरे थे और राष्ट्रीय भारतने इसका विरोध किया। महाराष्ट्रमें भूखसे मरनेवालोंने तीव्र निराशामें जमीन्दारों, महाजनों और दूसरे आततायियोंपर हमला बोल दिया। एक बड़ी उथल-पुथल मच गयी जिसमें हजारोंने भाग लिया। यह एक पूरा पक्का कृषि-विद्रोह था। पुलिसने लगभग एक हजार व्यक्तियोंको पकड़ा, जिनमेंसे आधे सजा पा गये। पर लिटनको इसकी परवाह न थी। वह राजा महाराजाओंको खिताब बाँटकर उन्हें अपनी ओर मिलानेकी योजना पूरी करनेमें लगा था। "अभीतक जिन सेवाओं"को पूरी स्वीकृति नहीं मिली थी, अब वे पुरस्कृत हुईं; जिन प्राचीन परिवारोंको पेंशनें मिलती थीं और जिनकी असंदिग्ध निष्ठाने उनकी योग्यता बढ़ा दी थी, उनकी पेंशनोंकी रकमें बढ़ा दी गयीं; बहुतसे मुख्य-मुख्य देशी राजाओंको बढ़ी हुई आजीवन तनख्वाहें मिलने लगीं; और हर उस राजाको, जिसे सलामी लेनेका अधिकार मिला था, महारानीके नाममें एक-एक रेशमी झण्डा मिला जिसपर एक ओर शाही चिह्न और दूसरी ओर उस राजाका अपना चिह्न अंकित था। ये पताकाएँ राजाओंके रुतबेके अनुसार विभिन्न रंगोंकी थीं; हर सरकारी या राज्य उत्सवमें इन राजाओंके आगे ये पताकाएँ ले चलनेका नियम बन गया; दरबारकी

---

१. लेडी बेटी बालफर, लार्ड लिटन्स इंडियन एडमिनिस्ट्रेशन पृष्ठ १०८

२. लिटन स्ट्रेची 'क्वीन विक्टोरिया' पृष्ठ २१२

३. लेडी बेटी बालफर, वही पुस्तक पृष्ठ २१२

यादगारके तौरपर सोने और चाँदीके पदक भी महारानीकी ओरसे राजाओं व कुछ दूसरे चुने हुए लोगोंको दिये गये। लगभग २०० कुलीनों और सम्भ्रान्त नागरिकोंको सम्मानित उपाधियाँ भी दी गयीं जिनकी भारतीय बहुत कद्र करते हैं। आनरेरी मजिस्ट्रेटों, म्युनिसिपल कौंसिलोंके सदस्यों आदिको देशभरमें बहुतसे सम्मानके सर्टीफिकट बाँटे गये; भारतीय फौजके अफसरों, ओहदेदारों व जवानोंके वेतन व भत्ते बढ़ा दिये गये; बहुतोंको ओ. बी. आई. के खिताब बाँटे गये।"[1]

अब देशकी आम विद्रोहात्मक परिस्थितिपर एक नजर डाल लें। दो प्रमुख अंग्रेज अफसरोंने (जो बादमें भारतीय राजनीतिक जीवन और राष्ट्रीय अभिलाषाओंसे निकटरूपसे सम्बद्ध रहे) मिली सूचनाओंके आधारपर रिपोर्ट दी कि विद्रोह तेजीके साथ संघटित किया जा रहा है। उन्हें आशंका थी कि १८५७ की घटनाओंकी पुनरावृत्ति होगी। ये अंग्रेज अफसर थे एलन ऑक्टेवियन ह्यूम और विलियम वेडरबर्न। ह्यूम भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसके पिताकी तरह माने जाते हैं, वेडरबर्न कांग्रेसके प्रसिद्ध अध्यक्ष हुए। वेडरबर्नने ह्यूमकी जीवनीमें लिखा था—अपनेमें ही मगन, शिमलेकी पहाड़ियोंपर रहनेवाले विदेशी नौकरशाहों और मैदानोंकी कठिन परिश्रम करनेवाली करोड़ों जनताके बीच एक गहरी खाई थी। १८७८-१८७९ में देशभरमें आर्थिक और राजनीतिक कष्ट मिलकर असंतोष और अशान्ति पैदा कर रहे थे; जनताके भौतिक कष्ट, कुछ लोगोंके बौद्धिक असंतोषसे मिलकर इस अशान्तिको संकटकी सीमातक पहुँचा रहे थे। एक ओर गरीबी और अकाल, महामारीसे पीड़ित कृषक समुदाय निराश होता जा रहा था; उसकी बात नहीं सुनी जाती थी और स्थितिमें किसी सुधारकी आशा नहीं रह गयी थी; दूसरी ओर स्कूलों और कालेजोंमें पश्चिमी शिक्षाका परिवर्तनकारी प्रभाव बुद्धिजीवियोंमें घर कर रहा था; इस शिक्षामें राजनीतिक इतिहास उन्हें सिखा रहा था कि ब्रिटिश जनता स्वतन्त्रताका फल भोगनेमें केवल श्रम और विद्रोह द्वारा ही समर्थ हो सकी। नयी पीढ़ीका हृदय क्रान्तिकारी और हिंसात्मक परिवर्तनके स्वप्नोंसे प्रेरणा और स्फूर्ति पाने लगा। मिस्टर ह्यूम इस संकटापन्न स्थितिको अच्छी तरह समझ रहे थे। ऊपर शान्त सतहके नीचे जो धाराएँ प्रभावित हो रही थीं, उन्हें उनका असाधारण ज्ञान था; और वे जानते थे कि जनतामें उथल-पुथल होनेका संकट आसन्न है; और वे यह भी समझते थे कि यह उथल-पुथल उस शान्तिपूर्ण उन्नतिको नष्ट कर देगी जिसपर भारतकी भलाई निर्भर है। पुरानी बोतलोंमें नयी शराबका खमीर उठ रहा था, कभी भी यह बोतलें फट सकती थी और शराब बह निकल सकती थी।"[2]

लेकिन ह्यूमके पास (जिन्होंने १८५७-५८ के विद्रोहके दमनमें हिस्सा लिया था) इस बातके पक्के सबूत मौजूद थे कि एक और विद्रोह आसन्न है। ह्यूमकी जीवनीके 'धर्मनिष्ठ भारतीय' शीर्षक अध्यायसे उस समय की परिस्थिति सही तौरपर समझमें आ जाती है। वेडरबर्नने लिखा—"१८५७ के गदरमें मिस्टर ह्यूमके अनुभव, शौर्य और युक्तिसाधना देखनेके बाद, आसन्न संकटकी सत्यतामें उनके निजी विश्वासके महत्वपर शक नहीं किया जा सकता। विभिन्न सूत्रोंमें फैले उनके बहुतेरे मित्रोंका समर्थन भी स्थितिके उनके मूल्यांकनको प्राप्त था। लेकिन, इसके अलावा भी उन्हें सूचना और चेतावनी एक विशेष सूत्रसे—भारतभरमें फैले

१. लेडी बैटी बालफर पृष्ठ १११-११२

२. डब्लू. वेडरबर्न, एलन ऑक्टेवियन ह्यूम, पृष्ठ २

धर्मके भक्त नेताओंसे मिली थी। ह्यूमके कागजातमें भारतीय समस्याके सबसे महत्वपूर्ण अंग लाखों सदस्यवाले अर्धधार्मिक संघटनों सम्बन्धी एक स्मृतिपत्र भी है, जो स्थितिपर बहुत प्रकाश डालता है। धार्मिक जीवनयापन करनेवाले असंख्य साधुओं, फकीरों और वैरागियोंके सम्बन्धमें ह्यूमका विचार था कि उनमें अधिकांश बदमाश और ठग हैं। पर जहाँ तलछट है वहाँ सोना भी है और इन सम्प्रदायोंके गुरुओंमें प्राचीन यहूदी द्रष्टाओंकी तरह महान व्यक्ति भी हैं जो भौतिक आकांक्षाओंसे निर्लिप्त और निष्काम होकर अधिकतम भलाई करनेकी आकांक्षा रखते हैं। इन धार्मिक गुरुओं या नेताओंको अपने चेलोंके द्वारा ऊपरी शान्त सतहके नीचे बहनेवाली धाराओंकी पूरी सूचना प्राप्त रहती है, जनमत बनानेमें उनका बड़ा हाथ रहता है। लिटनके वाइसरायकालका जब अन्त हो रहा था, तभी मिस्टर ह्यूम इन गुरुओंके सम्पर्कमें आये। सहानुभूतिका आधार अंशतः धार्मिक रहा होगा, लेकिन इन लोगोंके ह्यूमसे मिलनेका व्यावहारिक कारण उनकी यह आशंका थी कि देशभरमें, समाजके निम्नतम स्तरतक पहुँची यह अशुभ अशान्ति ऐसा भयंकर उद्वेलन उत्पन्न कर देगी जो भारतके भविष्यके लिए विनाशकारी होगा; और उनका विचार था कि सरकारतक पहुँच रखनेवाले ह्यूम जैसे लोग यदि जनताकी नैराश्यकी भावना दूर करनेके लिए सक्रिय न हुए तो यह विपत्ति आकर रहेगी। उनका कहना था—'जंगल बिलकुल सूखा है; ठीक हवा चलनेपर ऐसे जंगलोंमें आग आश्चर्यजनक तेजीसे फैलती है; और यह हवा इस समय तेजीसे चल रही है।' ह्यूमने लिखा है—'स्थिति मुझे इन शब्दोंमें समझायी गयी। छोटे पैमानेपर, गदरमें इसी प्रकारकी घटनाओंके अनुभवने मुझे देश और जनताका परिचय करा दिया था; गरीब, सर्वहारा जनताकी सच्ची और विश्वसनीय स्थितिके पुष्ट प्रमाणोंपर मुझे विश्वास था; इन दोनोंके बाद मुझे इसमें न तब संशय था और न अब है कि एक भयंकर क्रान्तिके घोर संकटमें हम पड़े हुए थे।'

"और ये पुष्ट प्रमाण क्या थे, इसका उनके शब्दोंसे अच्छा वर्णन असम्भव है—'लार्ड लिटनके जानेके १५ महीने पहले, मुझे जिस प्रमाणने आसन्न क्रान्तिके संकटका विश्वास दिलाया, वह यह था। बर्मा, आसाम और कुछ छोटे हिस्से छोड़कर शेष सारे देशके सम्बन्धमें सात मोटी-मोटी पुस्तकें दिखायी गयीं जिनमें असंख्य इन्दराज थे; तरह तरहकी सूचनाओं, रिपोर्टोंके (जो जिलों, तहसीलों, कस्बों, शहरों, गाँवों आदिमें सिलसिलेवार बँटी हुई थीं, लेकिन ये जिले वर्तमान शासकीय जिलोंसे भिन्न थे) उद्धरणोंके अंग्रेजी अनुवाद भी पुस्तकोंके साथ थे। ये असंख्य इन्दराज ३० हजार संवाददाताओं द्वारा इकट्ठी सूचनाके आधारपर किये गये थे। मैंने उन्हें गिना नहीं, वे असंख्य थे; उत्तरी पश्चिमी सूबेके एक उपद्रवी जिलेके गाँवों और शहरोंकी मुझे गहरी जानकारी थी, और वहाँके सम्बन्धमें किये ३०० इन्दराजोंमेंसे काफीको मैं पूर्णतः या अंशतः पहचान सका; ये लोगोंके नाम आदि थे।' यहाँ जिस जिलेका जिक्र है, वह निर्विवाद रूपसे इटावा है, जहाँ मिस्टर ह्यूम कई साल तक मुख्य अधिकारीके रूपमें काम कर चुके थे। उन्होंने लिखा है कि ये पुस्तकें उनके पास सिर्फ एक सप्ताह रहीं; छः को उन्होंने सरसरी तौरपर पलट डाला; लेकिन एक किताबको जिसमें उत्तरी-पश्चिमी सूबे, अवध, बिहार और बुन्देलखण्ड व पंजाबके हिस्सोंका वर्णन था, उन्होंने सावधानीसे पढ़ा; जहाँतक सम्भव हो सका उन्होंने उन जिलोंके इन्दराजोंकी जाँच भी की, जहाँके सम्बन्धमें उन्हें काफी जानकारी थी। बहुतसे इन्दराज गरीब

और निम्न श्रेणीके लोगोंकी बातचीतकी रिपोर्टोंके रूपमें थे। "इन सबसे यही प्रकट होता था कि इन गरीबोंमें एक नैराश्यकी भावना घर कर गयी थी; वे समझते थे कि वे भूखों मर जायँगे और वे 'कुछ' करना चाहते थे...वे 'कुछ' करनेवाले थे और उसके लिए अपनेमें एकता बढ़ा रहे थे; और यह 'कुछ' थी हिंसा क्योंकि अनेक इन्दराज पुरानी तलवारों, भालों और टोपीदार बन्दूकोंके निकालनेसे सम्बन्धित थे। अनुमान यह नहीं था कि शुरू शुरूमें यह तैयारी हमारी सरकारके खिलाफ विद्रोहके रूपमें प्रकट होगी, या सही अर्थमें यह विद्रोह ही होगा। भविष्यवाणी यह थी कि अकस्मात् छिटफुट अपराध—महाजनोंके यहाँ डाके, बाजारोंकी लूट, घृणित व्यक्तियोंकी हत्या आदि—शुरू हो जायँगे। 'अधभूखे गरीब लोगोंकी वर्तमान हालत देखकर अनुमान लगाया गया था कि शुरूमें कुछ घटनाएँ, सैकड़ों नयी घटनाओंके लिए इशारेका काम करेंगी; इससे आम अराजकता फैलेगी और सरकार व सम्मानित वर्गोंका काम रुक जायगा। यह भी निश्चित माना गया था कि हर जगह छोटे छोटे जत्थे पत्तेपर पड़ी पानीकी बूँदोंकी तरह मिलकर बड़े गिरोहोंमें परिवर्तित हो जायँगे, देशभरके खोटे लोग भी इसमें शामिल हो जायँगे और शीघ्र ही ये गिरोह बड़े पैमानेपर संघटित होने लगेंगे; कुछ पढ़े-लिखे लोग सरकारसे कटुता (शायद अनुचित कटुता) के कारण निराशाके उन्माद—इस उथल-पुथलमें शामिल हो लेंगे, जहाँ तहाँ उसका नेतृत्व करेंगे, इस उथल-पुथलको सूत्रबद्ध आन्दोलनका रूप देंगे और इसे राष्ट्रीय विद्रोहके रूपमें संचालित करेंगे।'

"यह थी वह विशिष्ट चेतावनी जो मिस्टर ह्यूमको मिली थी। देशव्यापी उपद्रवकी यह भविष्यवाणी बादमें मेरी आँखोंके सामने हुई बम्बईकी घटनाओंसे सच साबित हुई; दक्खिनके दंगोंके नामसे ज्ञात कृषकविद्रोहकी शुरुआत छिटफुट डकैतियों और महाजनोंपर हुए हमलोंसे हुई। धीरे-धीरे डकैतोंके ये गिरोह मिलकर इतने मजबूत हो गये कि पुलिस उनका सामना न कर सकी और पूनाकी पूरी घुड़सवार, पैदल, तोपखाना आदि फौज उनके खिलाफ लगानी पड़ी। पश्चिमी घाटके पहाड़ी जंगलोंमें, फौजके सामने वे तितर-बितर हो जाते, पर फिर कहीं सुविधाजनक स्थानपर इकट्ठे हो जाते। महाबलेश्वर और मथेरनके पहाड़ोंसे रातमें हमें उनके शिविरोंकी रोशनी हरतरफ दिखाई पड़ती। उनका एक पढ़ालिखा नेता था जो अपनेको शिवाजी द्वितीय बताता और सरकारको चुनौतियाँ भेजा करता। उसने बम्बईके गवर्नर सर रिचर्ड टेम्पिलको मारनेवालेको ५००) के इनामकी घोषणा की थी और उसका दावा था कि वह उसी ढंगपर एक राष्ट्रीय विद्रोहका नेतृत्व कर रहा है, जैसे पहले मरहठा शक्ति संघटित हुई थी।"[1]

फिर १८७९ में मरहटा आन्दोलन शुरू हुआ जोकि १८६२ के आन्दोलनकी पुनरावृत्ति था। इतिहासकार हेनरी डडवेलके अनुसार यह आन्दोलन वहाबी आन्दोलनके ढंगका था; वहाबियोंकी कारवाइयोंका केन्द्र पटना था, मरहटोंका पूना। मरहटोंकी अपनी स्वतन्त्र सत्ताकी यादगार मुसलमानोंके मुकाबलेमें ज्यादा ताजी थी। असलमें, अगर अंग्रेज हस्तक्षेप न करते तो मुगलों और मुस्लिम सत्ताके अन्तके बाद मरहठे ही भारतके शासक हुए होते। डडवेलने लिखा है—यद्यपि मरहटे "धर्मोन्मादसे प्रेरित या उत्तेजित नहीं थे, लेकिन यह कमी मरहठा इतिहाससे उत्पन्न जातिगर्वकी भावनासे पूरी हो जाती थी। १८६१ में

१. विलियम वेडरबर्न...पृष्ठ ७८-८२

षड्यन्त्रोंका पता लगा था। वार्टिल फ्रेटने कैनिंगको लिखा था—"यह आन्दोलन उसी असन्तोषकी एक शाखा है, जिसके चुने नेता नाना, तात्या टोपे आदि थे और जो आज भी मरहठाप्रदेश और मध्य भारतमें सुलग रहा है।" जहाँतक मुझे मालूम हो सका है, यूरोप या अमेरिकामें युद्ध जैसी किसी एक चिनगारीसे विन्ध्याचल और तोधुन्भ्रके बीचके प्रदेशभरमें अलग-अलग किन्तु संघटित बलवे सुलग उठते। आन्दोलनकी खबर उसके भीषण रूप धारण करनेके पहले ही लग गयी, लेकिन यह आग पूरी तरह बुझी नहीं। १८७९ में अफगान युद्धसे प्रेरणा पाकर इसी भावनासे दक्षिणमें डकैतियोंकी भरमार हो गयी। आन्दोलनका नेता सरकारके खिलाफ घोषणाएँ जारी करता। लेकिन उसे चन्द हफ्तोंमें ही दबा दिया गया और उसे सिर्फ एक ही टोस सफलता मिल पायी—पूनामें पेशवाके प्रसिद्ध शीशमहलको जला डालनेमें।"[१] इसी वर्ष पूनामें रमोसियोंका (जो मरहठा सेनाके अंग थे) विद्रोह हुआ।

दक्षिणके ये उपद्रव किसानोंकी उपेक्षा और सरकारके प्रति कुलीनवर्गमें निष्ठा जगानेके लिए उन्हें सुविधाएँ देनेकी ब्रिटिश नीतिके ही फल थे। अदालतें महाजनोंकी रक्षा करती थीं, क्योंकि कानून उनके पक्षमें था, कर्जदार किसान अक्सर अपनी जोतोंसे बेदखल कर दिये जाते थे और अपना सबकुछ बेचकर उन्हें जमींदारोंका पेट भरना पड़ता था। महाजनोंका चंगुल किसानोंपर इस तरह जकड़ रहा था कि जमीन धीरे-धीरे सूदखोरोंकी सम्पत्ति बनती जा रही थी और किसान गुलामोंकी हीनावस्थाको पहुँच रहे थे। दमदूपत (मूल ऋणका दुगुनेसे ज्यादा न लेनेका नियम) खत्म हो गया। महाजन अदालतोंकी मददसे अपनी लूट जारी रखते। फल यह हुआ कि बम्बईमें १८७५ में किसानोंमें घोर असन्तोष पैदा हो गया और जनता एक कानूनी अन्यायको दूर करनेके लिए उठ खड़ी हुई। पूनाके ४५ और अहमदनगरके २२ गाँवोंमें उसने महाजनोंको रुक्के, पट्टे लौटा देनेको बाध्य कर दिया और इन दस्तावेजोंको खुलेआम जला डाला गया। १८७८ में फिर असन्तोष भड़का और सरकार किसानोंकी हालत सुधारनेके लिए कानून बनानेके लिए बाध्य हो गयी। इस कानूनसे सूदखोरीपर कुछ रोक लगी और कर्जके बदले जमीनोंपर कब्जा करनेको गैरकानूनी माना गया।

१८९७ में वजीरी उठ खड़े हुए। उनके दमनके लिए भेजी गयी ब्रिटिश फौजने टोकी घाटीपर कब्जा कर लिया। इसके बाद ही स्वातके कबीलोंने मलाकन्दपर और मोहमन्दोंने पेशावरके गाँवोंपर हमले किये और अफरीदियोंने खैबर दर्रेपर कब्जा कर लिया। "थोड़े ही दिनोंमें—टोकीसे बूनर तक सारे सीमाप्रान्तमें आग-सी लग गयी जिसे बुझानेमें ६० हजार सिपाही छः महीने तक व्यस्त रहे।"

लिटनके नृशंस और अत्याचारी शासनका अन्त इंगलैण्डमें सरकार बदलनेके साथ ही हुआ। २८ अप्रैल सन् १८८० को ग्लैडस्टन फिर ब्रिटेनके प्रधानमन्त्री हुए और नयी सरकारकी नीति भारतमें ठीक तरहसे लागू करनेके लिए लिटनको इस्तीफा देना पड़ा और उनकी जगह लार्ड रिपन नियुक्त हुए। रिपनका राज कुछ दर्शनीय या चमत्कारिक चीजोंके लिए मशहूर हुआ। सन् १८८२ मे रिपनने लिटनका वर्नाकुलर प्रेस ऐक्ट रद्द करवा दिया। भारत सरकारने घोषणा की कि हालात बदलते जानेके फलस्वरूप यह कानून रद्द किया

१. ए स्केच आव इण्डियन हिस्टरी १८५८ टु १९१८

जाता है। लेकिन आर्म्स ऐक्ट (शस्त्र कानून) जैसाका तैसा बना रहा। ग्लैड्स्टन भी उसे छूनेको तैयार नहीं थे।

रिपनने नर्म दलवालोंको खुश करनेमें सफलता पायी और उनका राज भारतीय जनताको लिटनके प्रतिगामी राजके बाद एक मुक्ति-सा मालूम पड़ा। सुरेन्द्रनाथ बनर्जीने इस सिलसिलेमें लिखा है—लिटनके राजने "जनताका उदासीनताका रुख बदल दिया था और सार्वजनिक जीवनको उससे एक स्फूर्ति मिली थी। राजनीतिक प्रगतिके विकासमें बुरे या क्रूर शासक बहुधा एक गुप्त वरदानके रूपमें आते हैं। उनके कारण समाजमें ऐसी जागर्ति आती है, जैसी वर्षोंके प्रचार और आन्दोलनसे भी न उत्पन्न हो।"[1]

राज्यकी बागडोर हाथमें लेते ही रिपनने यह चर्चा कर दी कि महारानीने मुझे भारतके म्युनिसिपल शासनको ठीक करनेको कहा है। नर्म दलवालोंको इसमें सरकारकी यह सच्ची इच्छा दिखाई दी कि सीमित क्षेत्रमें ही सही पर वह भारतीयोंको शासन चलानेमें लेना जरूर चाहती है। वे इसके लिए प्रचार और जनमत तैयार करनेमें जीजानसे लग गये। इण्डियन एसोसियेशनके प्रचार साधन इसी काममें लग गये। एक गश्ती चिट्ठी भेजी गयी; फिर छोटे कस्बोंके करदाताओंके पास प्रतिनिधि भेजे गये जो म्युनिसिपल संस्थाओंमें चुनाव और जन-प्रतिनिधि लानेके आधारपर म्युनिसिपल सुधारकी बातें इन करदाताओंको समझाते थे और उनसे कहते थे कि सरकारसे ये माँगें करो। इन प्रतिनिधियोंने बंगालके भीतरी जगहोंमें जा जा कर सभाएँ कीं। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी स्वयं स्वायत्त शासनके फायदे समझाते हुए बंगालके कस्बोंका दौरा करने लगे। उस जमानेमें खुफिया पुलिस नहीं थी, राजनीतिक कार्यकर्त्ताओंके पीछे भेदिये नहीं घूमते थे और सार्वजनिक सभाओंकी रिपोर्टें नहीं लिखी जाती थीं।

१८ फरवरी सन् १८८१ में कलकत्तेके टाउनहालमें एक सभामें प्रस्ताव द्वारा सुरेन्द्रनाथ बनर्जीने सिफारिश की कि स्वायत्त शासन संस्थाओंका विधान ऐसा हो जिससे इन संस्थाओंमें जनताके चुने हुए प्रतिनिधि आ सकें; उनका अध्यक्ष भी चुना हुआ हो, मजिस्ट्रेट या कलक्टर हरगिज नहीं; और, इन संस्थाओंके कार्यक्षेत्र व अधिकार बढ़ा दिये जायँ क्योंकि वे प्रस्तावित स्थानीय बोर्डोंमें शामिल होनेवाली हैं।

हालाँकि १८७० के पहले ही स्थानीय शासनमें स्वशासनका एक पुट दे दिया गया, रिपन इस दिशामें एक लम्बा डग भरना चाहते थे। भारत सरकारने १० अक्तूबर १८८१ को सूबा सरकारोंको गश्ती चिट्ठियाँ भेजकर प्रस्तावित सुधारोंपर उनकी राय माँगी। उनसे पूछा गया कि—"(१) गैरसरकारी और जहाँ सम्भव हो चुने हुए सदस्योंकी समितियोंको प्रान्तीय आमदनी और खर्चकी कौन-सी मदें दी जा सकती हैं; और जो मदें 'स्थानीय' खातेमें होते हुए भी प्रान्तीय सरकारके प्रशासकीय जिम्मे हैं, उनमें कौन-सी इन समितियोंके हवाले की जा सकती हैं; (२) मदोंका यह बटवारा किस तरह किया जाय ताकि वह जनताको अधिक ग्राह्य हो और स्थानीय व म्युनिसिपल संस्थाओंको अधिक लाभदायक हो; (३) अधिक और बेहतर स्थानीय स्वशासनके लिए कौन-कौनसे कानून बनाये जायँ, या दूसरे काम किये जायँ, (४) पूरे साम्राज्य भरमें स्थानीय व म्युनिसिपल

१. बनर्जी पृष्ठ ६३

करोंकी समान दरें निश्चित करने, अनुचित या कड़े कर रोकने और जनतामें प्रिय और उसे ग्राह्य तरीकोंको अपनानेके लिए क्या किया जाय।"[1]

१८८२ में भारत सरकारने एक प्रस्ताव द्वारा स्थानिक बोर्डोंके अधिकार और कार्यक्षेत्र बढ़ा दिये तथा देहातोंमें नये बोर्ड बनाये। इण्डियन एसोसियेशनका कहना था कि इस सरकारी प्रस्तावसे लगभग वे सभी माँगें पूरी हो गयीं जो टाउनहालकी सभामें पेश की गयी थीं।

रिपन सचमुच उन खराबियों और शैतानियोंको जहाँतक हो सके दूर करना चाहते थे, जो लिटनने भारतमें की थीं। पर रिपनकी अपनी सीमाएँ थीं। वे अंग्रेजी राजकी नीति तो बदल नहीं सकते थे जिसकी बुनियाद ही भारतको लूटकर ब्रिटेनका घर भरना थी। रिपनने किसानोंका बोझ कम करनेके लिए इस सिद्धान्तको उठाया कि सरकार लगान तो बढ़ा सकती है, पर यह लगान वृद्धि गल्लेकी कीमतोंके अनुपातमें होनी चाहिए। लगान तय करनेके लिए यह सिद्धान्त उचित ही था पर दिसम्बर सन् १८८४ में जब रिपन वाइसरायकी गद्दी छोड़कर ब्रिटेन वापस गये तो उसके एक महीनेके भीतर ही यह सिद्धान्त पलट दिया गया। रिपनके पहले आये अंग्रेजोंने आर्थिक क्षेत्रमें जो अनुचित रवैया अख्तियार किया था (जैसे आयात-निर्यात कर नीति) वह कायम रहा। भारतको ब्रिटिश उपनिवेश बनानेकी नीति जारी रही।

रिपनके शासनकालमें ही भारतमें रहनेवाले गोरे अंग्रेजोंने एक हलचल मचायी। सिरफिरे गोरोंको, जो रिपनको 'भारतका पक्षपाती' कहा करते थे, गोरे और कालेका भेद लेकर बावैला मचानेका मौका मिला। आई० सी० एस० (इण्डियन सिविल सर्विस) की प्रतियोगितामें बैठनेकी उम्र घटा देनेके बावजूद कुछ भारतीय उसमें आ गये थे। उन्हें ज्यादातर अदालती काम करनेके लिए जुडीशियल सर्विसमें रखा जाता था, प्रशासकीय कामके लिए गोरे अफसर ही रहते थे। सन् १८८३ तक कुछ भारतीय अफसर इतने पुराने हो गये थे कि उन्हें जिला व सेशन जजी मिलती। पर उस जमानेके कानूनके अनुसार कोई भी भारतीय जज बम्बई, कलकत्ता और मद्रास छोड़कर अन्यत्र कहीं भी किसी अंग्रेजका मुकदमा नहीं कर सकता था। आई० सी० एस० अफसरोंमें सर एशले ईडन व बी० एल० गुप्त जैसे लोगोंकी धारणा थी कि सरकारी नौकरोंमें भारतीय और अंग्रेजोंके बीच इस कानूनसे द्वेषपूर्ण भेदभाव होता है। दूसरा तर्क यह था कि "भारतीय अफसरोंको अंग्रेजोंके मुकदमें करनेका अधिकार न मिला तो यह गलत स्थिति पैदा हो सकती है कि यूरोपीय जौइण्ट मजिस्ट्रेटोंको वे मुकदमे करनेका अधिकार होगा, जो उनके अफसर, भारतीय जजोंको प्राप्त नहीं है। बम्बई, कलकत्ता व मद्रासके प्रेसीडेंसी शहरोंमें भारतीय मजिस्ट्रेटोंको जो अधिकार है, वह दूसरे शहरोंके भारतीय जजोंको भी नहीं है।"[2]

रिपनकी सरकारने यह गलत स्थिति दूर करनेका निश्चय किया। न्यायमन्त्री सर कोर्टने एक बिलका मसविदा तैयार किया। इस बिलका उद्देश्य जजोंमें रंग या जातिके आधारपर जो भेदभाव थे उन्हें दूर करना था। नील और चाय बागानोंके गोरे मालिक, जो अपने मजदूरोंपर हर तरहके जुल्म करते थे, इस बिलको अपनी निजी हानि मानने लगे।

१. मुखर्जी—इण्डियन कांस्टीट्यूशनल डौक्यूमेण्ट्स पहला भाग पृ० ६३९
२. लाइफ एण्ड वर्क्स आव रमेशचन्द्रदत्त पृ० ९४

इन गोरे मालिकोंने एक तरहसे भारतमें फिरसे दासप्रथा चालू कर दी थी। और वे अपनेको कानूनसे परे या ऊपर मानते थे। इसलिए डब्लू. ब्लण्टने इस बिलका दूसरा उद्देश्य बताया[1]—"उन गैरसरकारी अंग्रेजों—विशेषकर बागान मालिकोंकी दण्ड निवृत्तिका अन्त करना जो अपने देशी नौकरोंसे बुरा बर्ताव करते थे और कभी-कभी उन्हें मार तक डालते थे।"

कलकत्तेके अंग्रेज व्यापारियोंकी इस बिलमें प्रत्यक्ष या सीधी दिलचस्पी नहीं थी, पर उसके विरोधमें वे भी बागान मालिकोंकी तरह बहुत उग्र थे। उन्होंने रिपनका सत्कार करना बन्द कर दिया और अपमान भी किया। इस बिलको लेकर कलकत्तेका यूरोपीय समाज इतना उद्वेलित हो उठा कि कुछ अंग्रेजोंने यह षड्यन्त्र भी रचा कि "गवर्नमेण्ट हाउस (वाइसराय भवन) के सन्तरियोंपर काबूकर वाइसरायको जबरदस्ती पकड़कर चाँदपाल घाटसे जहाजपर चढ़ाकर इङ्गलैंड रवाना कर दिया जाय।" कलकत्तेके कुछ अंग्रेज पूरी गम्भीरताके साथ यह षड्यन्त्र पूरा करनेकी सोच रहे थे। बिलके विरोधमें आन्दोलन शुरू किया गया और एक 'रक्षा संघटन' भी कायम किया गया जिसका मुख्य दफ्तर कलकत्तेमें और शाखाएँ देशके विभिन्न भागोंमें थीं। आन्दोलन चलानेके लिए डेढ़ लाख रुपयेका चन्दा इकट्ठा किया गया। कलकत्तेके टाउनहालमें एक सभा की गयी जिसमें ऐसे भाषण किये गये जो "इतने असंयमित थे कि शिष्टाचारके विरुद्ध पड़ते थे। ऐसी सभाएँ बंगालभरमें की गयीं। अंग्रेजोंके अखबार—खास तौरपर 'इंगलिशमैन' तो बिलकुल बौखला गया। 'रक्षा संघटन' के स्वयंसेवकोंको सरकारी नौकरीसे सामूहिक इस्तीफे देनेके लिए उभारा गया। कुछ लोगोंने फौजी कैण्टीनोंमें जाकर उनकी राय भी ठोकी बजायी अर्थात् दूसरे शब्दोंमें फौजमें बगावत पैदा करनेकी कोशिश की।"[2]

इस बिलकी सीधी जिम्मेदारी लार्ड रिपनपर न थी। बंगाल सरकारने बिलका सुझाव दिया था, दूसरे सूबोंकी सरकारोंने उसका समर्थन किया था और ब्रिटिश सरकारके भारत-सचिव व उनकी परिषदने उससे रजामन्दी जाहिर की थी। पर इस वक्त हमलेके शिकार हुए लार्ड रिपन। वे व्यग्र हो उठे और बोले—"अगर मुझे यह मालूम होता कि मैकालेको हुगलीमें डुबो देनेकी धमकी देनेके समयसे अबतक अंग्रेजोंने न कुछ सीखा है और न वे कुछ भूले हैं, तो शायद मैं इस मामलेमें अभी हाथ न डालता।"[3] इस उपद्रवमें पड़नेका उन्हें दुःख था। उन्हें झुकना पड़ा। निदान भारत-सचिवकी स्वीकृतिपर भारत सरकारने अगस्तमें घोषणा की कि "बढ़े हुए अधिकार सिर्फ सेशन जजों और जिला मजिस्ट्रेटोंको मिलेंगे और हाईकोर्टोंको मुकदमा एक अदालतसे दूसरी अदालतमें हटा ले जानेका अधिकार होगा।"[4] यह प्रस्ताव दिसम्बरमें कौंसिलमें पेश हुआ पर अंग्रेज आन्दोलनकारियोंको इससे सन्तोष नहीं हुआ। सरकारको और झुकना पड़ा। सन् १८८४ में एक और कानून बना जिसमें भारतीय जजों व जिला मजिस्ट्रेटोंको यूरोपीय मुजरिमोंके मुकदमेका अधिकार इस

---

१. डब्लू. एस. ब्लण्ट इण्डिया अण्डर रिपन, पृ० ५

२. लूसियन वुल्फ 'लाइफ आव लार्ड रिपन' भाग दूसरा पृ० १२८

३. ,, ,, ,, ,, ,, ,, १२६

४. वही पुस्तक पृ० १२६

शर्त्तपर मिला कि अपराधी जूरी बैठलानेकी माँग कर सकता है और जूरियोंमें कमसे कम आधे यूरोपीय या अमरीकी होंगे।

यह कानून सरकारकी इज्जत रखनेकी तरकीब थी। बहुत से ऐसे जिले थे जहाँ जूरी बनानेके लिए काफी अंग्रेज या अमरीकी होते ही नहीं थे। ऐसे मुकदमे दूसरे जिलेंमें भेजे जाते थे। पर सरकार तो किसी तरह इस कठिन स्थितिसे छुटकारा चाहती थी और जब मामला इस तरह रफादफा हुआ तो उसने आरामकी साँस ली।

लेकिन इस सबके बावजूद इलबर्ट बिलने भारतस्थित अंग्रेजोंमें जो क्रोध पैदा कर दिया था वह पूरी तरह शान्त न हुआ। भारतीयोंके प्रति उनकी घृणा और अधिक उग्र और प्रत्यक्ष हो गयी। भारतीयोंको किसी भी ढंगके स्थानिक स्वशासन देनेकी वे खिल्ली उड़ाते थे। रिपनके स्वायत्त शासन सुधारोंको वे अव्यावहारिक और कुविचारपूर्ण बताते। उनका तर्क था कि देशी लोग स्वशासनके अयोग्य और असमर्थ हैं। उनकी खुदगर्जीने उनके विवेकको इतना अन्धा बना दिया कि वे ऊँचे सरकारी पदोंके लिए होनेवाली खुली प्रतियोगिताका भी विरोध करने लगे। उन्हें आशंका थी कि ऐसी प्रतियोगितासे 'बाबू' अफसर बन जायँगे। बाबुओंको वे किरानियोंकी हैसियतसे स्वीकार करते थे, पर अपने समान अफसर बनने देनेसे घृणा करते थे।

इलबर्ट बिलके मामलेमें सरकारको शिकस्त देकर अंग्रेज भारतीयोंका बेझिझक और बेशर्मीसे अपमान करनेकी छूट पा गये। 'इण्डिया अण्डर रिपन—ए प्राइवेट डायरी'के लेखक डब्लू. सी. ब्लण्ट सन् १८८४ में भारतमें थे। उन्होंने अपने अनुभव इस प्रकार लिखे हैं—

"इंगलैण्डमें लोग इसपर विश्वास नहीं करेंगे, पर आज सन् १८८४ में भी भारतमें ऐसा कोई होटलवाला नहीं है, जिसकी हिम्मत हो कि किसी देशी मेहमानको टिका ले। उन्हें देशी लोगोंसे कोई जाती घृणा नहीं है, पर वे अपने गोरे अतिथियोंके नाराज हो जानेके डरसे ऐसा नहीं कर पाते। जाड़ोंमें जब मैं बम्बईमें था, वहाँके देशी समाजके लोगोंने मेरा अत्यधिक सम्मान किया और मेरे साथ बड़ी मेहरबानीसे पेश आये। शहरके प्रमुख मुस्लिम मुहम्मदअली रोजेने भी मेरे साथ बड़ा आदरपूर्ण व्यवहार किया। वे यूरोप घूमे हुए थे, अंग्रेजी लिबासमें रहते थे और उन्होंने हमारा दृष्टिकोण और शिष्टाचार यहाँतक अपना लिया था कि वे चार घोड़ोंवाली टमटमपर बिना कोचवान चढ़ते थे और सभी सार्वजनिक कार्योंमें दान देते थे। लेकिन तब भी एक दिन उन्हें भोजनके लिए आमंत्रित करनेपर मुझे बताया गया कि यह नहीं हो सकता—कम-से कम खुले सार्वजनिक हालमें तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि इससे अंग्रेज मेहमानोंके नाराज हो जाने और होटल छोड़ जानेकी आशंका है।

"बंगाल और उत्तरी भारतमें दशा और अधिक खराब है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि कोई भी भारतीय, उसकी वेशभूषा अथवा पदवी कितनी ही उच्च क्यों न हो, उन जगहोंपर जहाँ अंग्रेज लोग घूमने जाते हैं बिना अपमानके भयके नहीं घूम सकता। अपमान और बेइज्जतीका खतरा रेलयात्रामें तो बहुत है। मेरी जान-पहचानके लगभग सभी भारतीयोंने अपने प्रति रेलयात्रामें हुए दुर्भावपूर्ण दुर्व्यवहारके कटु अनुभवोंकी कहानियाँ मुझे सुनायीं। इस कारण उच्च पदाधिकारियों व स्वाभिमानी लोगोंको लाचारीसे यात्राके लिए खास डिब्बोंका इन्तजाम करना पड़ता है या फिर वे तीसरे दरजेमें सफर करते हैं। उन्हें

विशेष-रूपसे दूसरे दर्जेके डिब्बेका भय लगता है। मैं ये बातें न कहता अगर इनकी सच्चाईमें मुझे जरा भी शक होता। लेकिन मुझे इनकी सच्चाईका पूरा विश्वास है और इसकी ताईद कलकत्तेकी सुप्रीम विधान सभाके दो सदस्योंने भी की, जिन्होंने अपने अनुभव मुझे बताये।"[1]

अपमानजनक भेदभावकी यह कहानी कोई नयी न थी! यह तो जबसे अंग्रेज भारतके निरंकुश शासक हुए, तबसे चला आरहा था।

भारतमें जो यूरोपीयन व्यापारी या शासककी हैसियतसे आये थे, उनके आचार विषयक नियम बड़े विचित्र थे! एक यूरोपीयनकी जिन्दगीकी कीमत कई भारतीयोंके बराबर थी! यूरोपीयनकी जिन्दगी पवित्र थी और भारतीयोंकी नगण्य। "अंग्रेजों द्वारा भारतीय लगातार पीड़ित और कत्ल किये जाते रहे पर अपराधीको या तो कोई सजा ही नहीं मिलती थी या फिर पूरे यूरोपीयन समाज द्वारा माँग की जानेपर हल्का-सा दण्ड दे दिया जाता था।" यहाँपर एक और लेखक सर थियो-डर मॉरीसनका हवाला दिया जा सकता है। वे लिखते हैं "यह एक महासत्य है जिसे छिपाया नहीं जा सकता कि अँगरेजों द्वारा भारतीयोंकी हत्या की जानेकी घटनाएँ अकेली दुकेली नहीं हैं। अमृतबाजार पत्रिकाके एक अंकमें (११ अगस्त १८९८) ऐसी तीन वारदातोंका जिक्र है जिनमें हत्यारोंको पूरी कानूनी सजा नहीं मिली। यूरोपीयनोंके मुकदमोंमें शहरोंसे जूरी बुलाये जाते हैं। उनमें विजेता जातिके होनेका अहंकार सबसे ज्यादा है; उनकी नैतिक भावना इस बातकी अनुमति नहीं देती कि एक अंग्रेजको किसी 'निगर' की हत्या करनेके अपराधमें अपनी जान देनी पड़े।"[2]

मॉरीसन के ही अनुसार तोपसेनाके तीन सिपाहियोंने डा० सुरेशचन्द्र नामी एक आदमीकी हत्या बड़े अमानुषिक ढंगसे की थी परन्तु उनको केवल सात-सात सालकी कड़ी कैदकी सजा मिली। एक फौजी अफसरने इस न्यायपर कहा था "भारतके अलावा संसारके किसी भी भागमें इन तीनों फौजियोंको फाँसी दे दी जाती।"[3]

परन्तु आश्चर्यकी बात है कि लार्ड कर्जनने जो अपने प्रतिक्रियावादी शासनके लिए बदनाम है, इन बातोंपर कड़ा रुख अपनाया, और अपराधियोंको कड़ी सजा दी। भारतमें आगमनके फौरन बाद ही लार्ड कर्जनको मालूम हुआ कि एक ब्रिटिश बटालियनके कई फौजी सिपाहियोंने एक औरतके साथ बलात्कार किया, यहाँतक कि उसकी मृत्यु हो गयी। वहाँपर जो फौजी अधिकारी मौजूद थे, उन्होंने मामलेको दबा दिया। मुकामी सरकारी अफसरोंने भी मामलेकी उपेक्षा की। बादमें अंग्रेजी सिपाहियोंका चालान किया गया, पर मुकदमा कानूनी दाँव-पेंचमें खतम हो गया। परन्तु कर्जनने इस बातपर विशेष जोर दिया कि अपराधियोंको यों ही नहीं छोड़ देना चाहिये! उनको फौजसे निकाल दिया गया। फौजके उच्चाधिकारियोंको सख्त चेतावनी दी गयी और कुछ लोगोंसे सेनाकी कमान छीन ली गयी। रेजिमेंटको दो सालके लिए अदन भेज दिया गया और रेजिमेंटकी दो सालकी छुट्टियाँ और सब आमोदप्रमोद बन्द कर दिये गये। सिविल सरकारी अफसरोंको भी चेतावनी दी गयी और आखीरमें......वाइसरायने एक विज्ञप्ति जारी की जिसमें सरकार द्वारा इस घटनापर क्षोभ और ग्लानि प्रकट की।[4]

१. 'इंडिया अंडर रिपन', पृ० २६३.
२. मॉरीसन—इम्पीरियल रूल इन इण्डिया पृ० २७-२९ ३. वही पुस्तक, पृ० २९
४. रोनाल्डशे—दि लाइफ आफ लार्ड कर्जन, जिल्द दो, पृ० ७२

लार्ड कर्जनने अदालतों द्वारा हत्यारोंको सजा न मिलनेपर बड़ा आश्चर्य प्रकट किया। ऐसी ही एक घटनाका जिक्र जिसमें दो भारतीयोंकी हत्या हुई थी, भारत-सचिवसे करते हुए उन्होंने लिखा था "मैं नहीं कह सकता कि आप इन घटनाओंके बारेमें क्या सोचते हैं परन्तु मेरे दिलमें इनसे सख्त चोट लगती है।"[1] परन्तु कर्जन भी अपने देशवासियोंके नैतिक स्तरको उठानेमें असमर्थ रहा। सन् १९०२ में, नवीं लांसर्स (सियालकोट) नामक एक फौजी रेजिमेंटके दो फौजियोंने एक देशी बावर्चीको केवल इस अपराधपर कि वह "उनकी कामवासनाकी तृप्तिके लिए औरत नहीं ला सका", इतना पीटा कि वह मर गया। फौजी अधिकारियोंने इसपर कोई काररवाई नहीं की। जब कर्जनको इस घटनाका पता लगा तो उसने जाँचका हुक्म दिया परन्तु अपराधियोंको विशेष सजा न मिली। कुछ अनुशासनकी काररवाई करके मामला खत्म कर दिया गया।

जब पंजाबमें राजनीतिक वातावरण अशान्त था तो लाहोरके आँग्ल-भारतीय दैनिक अखबार दी सिविल एण्ड मिलिटरी गजटने अपने कालमोंमें भारतीयोंको जी खोल कर गालियाँ दीं। पढ़े-लिखे भारतीयोंके लिए "बलबलाते बी० ए०" "वर्णसंकर बी० ए०" "गुलाम" "घुड़सवार भिखारी" "दास जाति", "कलंकी जाति" जैसे अपशब्दोंका व्यवहार किया गया! जब इस शर्मनाक बातका ध्यान नायब गवर्नरको दिलाया गया तो उसने "लेखोंके लहजेपर अफसोस जाहिर किया परन्तु उनपर कोई काररवाई करनेसे इन्कार कर दिया"। आँग्ल-भारतीय अखबारोंको गाली देनेकी पूरी छूट थी, जब कि इससे बहुत हलके कसूरोंपर हिन्दोस्तानी सम्पादकोंको कैदकी सजा हो जाती थी। आँग्ल-भारतीय अखबारोंने हत्याएँ करनेके लिए उकसाया परन्तु कानूनने इसका ख्याल न किया। कलकत्तेसे निकलनेवाले अखबार 'ऐशियन'का एक नमूना देखिये। एक बदनाम मैजिस्ट्रेट किंग्जफोर्ड एक क्रान्तिकारीकी गोलीसे बच गया और दो यूरोपीय महिलाओंकी उसी गोलीसे मृत्यु हो गयी। इसपर उक्त अखबारने लिखा—"मिस्टर किंग्जफोर्डको अब अच्छा अवसर मिला है। हमारा विचार है कि नजदीकसे उनका निशाना कभी नहीं चूकेगा। हम उन्हें सलाह देते हैं कि वे माउजर पिस्तौलका इस्तेमाल करें......हम आशा करते हैं कि मिस्टर किंग्जफोर्ड मन भरकर शिकार करनेमें कामयाब होंगे। हमें उनके इस अवसर पानेपर ईर्ष्या होती है। उन्हें हर अपने या अपने मकानके पास आनेवालेको मार डालनेका पूरा-पूरा हक हासिल है। और उनकी अपनी भलाईके लिये हम विश्वास रखते हैं कि बिना कोटकी जेबसे पिस्तौल निकाले ही वह सीधा निशाना लगानेमें क्षमता रखते हैं।"[2]

परन्तु कर्जनने भारतकी सबसे अधिक बेइज्जती की। कलकत्ता विश्वविद्यालयमें ११ फरवरी १९०५ को दीक्षान्त भाषण करते हुए कर्जनने कहा "निस्संदेह पश्चिमके नीतिशास्त्रमें सच्चाईका प्रमुख महत्व हो चुका था; जब पूर्वने इसको बहुत बादमें अपनाया। यहाँ तो चालाकी और दाँव-पेंच ही सदा आदर पाते रहे हैं।" इस भाषणकी प्रतिक्रियास्वरूप बंगालके नौजवान आतंकवादी बन गये। देशभरमें क्रोधकी लहर फैल गयी। अखबारोंमें इसके जवाब लिखे गये और इसके विरोधमें स्थान-स्थानपर सभाएँ हुईं।

---

१. वही पुस्तक, पृ० २४४

२. नेविंसन—दी न्यू स्पिरिट इन इण्डिया पृ० २२९

पाँचवाँ अध्याय

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

कुछ समयसे भारतीय नेता सोच रहे थे कि देशमें एक अखिल भारतीय राजनीतिक संस्था संघटित की जाय। विशेषकर १८७७ के दिल्ली दरबारके वक्तसे लोगोंके दिमागमें यह विचार उठने लगा था। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, जमशेदजी जीजीभाई, विश्वनाथ माण्डलिक, मंगलदास नाथूभाई, नौरोजी फरदूनजी जैसे लोग जब कभी आपसमें मिलते, तब वे एक दूसरेसे कहते—"अगर निरंकुश वाइसरायकी शान-शौकत बढ़ानेके लिए राजों-महाराजोंको एक तमाशा खड़ा करनेके लिए बाध्य किया जा सकता है, तो क्या जनताको संघटित कर वैधानिक उपायों द्वारा निरंकुश शासनकी भावनाको रोका नहीं जा सकता ?"[1]

पर जनताको संघटित करनेमें एक न एक बाधा आती रही। तभी, इल्बर्ट बिल आन्दोलनने भारतीय राजनीतिकी गति तेज कर दी। आखिरकार सन् १८८३ में एक अखिल भारतीय संस्था बनानेका विचार कार्यरूपमें परिणत हो गया और कलकत्तेमें भारतीय राष्ट्रीय कानफरेंस हुई। इसमें विभिन्न सूबोंके प्रतिनिधियोंने भाग लिया। अध्यक्ष आनन्दमोहन बसुने कहा—"राष्ट्रीय पार्लमेण्टके रास्तेकी पहली मंजिल हमने इस सम्मेलन द्वारा पार कर ली। इस सम्मेलनकी स्मरणीय बात सुरेन्द्रनाथ बनर्जी द्वारा की गयी—संभावित (कवेनेण्टेड) सिविल सर्विसोंकी तीव्र आलोचना थी। उनके भाषणके सम्बन्धमें विल्फ्रीड ब्लण्टने कहा—"मैंने अपने जीवनमें जो अच्छे-अच्छे भाषण सुने हैं, उनमेंसे एक यह था।' कानफरेन्समें तड़क-भड़कवाले कोई प्रस्ताव पास नहीं हुए।

लगभग इसी समय ह्यूमके दिलमें भी ऐसी संस्था बनानेके विचार उठे थे। वे एक राष्ट्रीय संस्था संघटित करनेमें लग गये जो जनताकी मानसिक, नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक भलाई करनेका काम करे। मार्च सन् १८८३ में कलकत्ता विश्वविद्यालयके ग्रेजुएटोंको एक गश्ती चिट्ठी भेजकर उन्होंने कामकी शुरुआत की। वे चाहते थे कि इन ग्रेजुएटोंमेंसे कमसे कम ५० ऐसे संस्थापक सदस्य निकल आवें जो राष्ट्रीयताके लहलहाते वृक्षके बीजका काम दे सकें। इस गश्ती चिट्ठीमें ह्यूमने लिखा था—"यदि देशके सार, आप पढ़े-लिखे लोगोंमें भी पचास ऐसे व्यक्ति नहीं निकलते जिनमें त्यागकी समुचित शक्ति हो, जिन्हें देशके लिए समुचित प्रेम और गर्व हो, जिनमें इतनी सच्ची, आत्मत्यागमूलक देशभक्ति हो कि देशको शेष जीवन अर्पण कर सकें, तो फिर भारतके लिए कोई आशा नहीं है। भारतमाताके पुत्र विदेशी शासकके हाथोंमें कठपुतली ही बने रहेंगे और बने रहना चाहिये……अगर आप अपने और अपने देशके लिए अधिक स्वाधीनता, अधिक निष्पक्ष प्रशासन, राजकाजमें अधिक हिस्सा पानेके लिए जमकर संघर्ष नहीं कर सकते तो हम आपके मित्र गलत साबित होंगे और हमारे प्रतिद्वन्द्वी सही।"

इस अपीलकी देशके हर हिस्सेमें बड़ी ही उत्साहवर्धक और अनुकूल प्रतिक्रिया हुई

---

१. ए. सी. मजूमदार इण्डियन नेशनल एवोल्यूशन, पृ० ३३

और शीघ्र ही 'इण्डियन नेशनल यूनियन' नामक संस्थाका जन्म हुआ। यूनियनकी पहली बैठककी रिपोर्टके इस उद्धरणसे उसके लक्ष्य और उद्देश्योंपर काफी प्रकाश पड़ता है—"यूनियनका जितना संघटन हुआ है, उसमें यह सर्वसम्मत भावना मालूम पड़ती है कि इस संस्थाका मूल मन्त्र ब्रिटिश ताजके प्रति अटूट श्रद्धा है। जब जरूरत पड़े, यूनियन सभी वैधानिक तरीके काममें लाकर उन सभी बड़े छोटे अफसरोंका विरोध करनेको तैयार रहेगी जो ब्रिटिश पार्लमेण्ट द्वारा भारतके शासनके लिए नियत और ब्रिटिशताज द्वारा अनुमोदित सिद्धान्तोंके विरुद्ध काम करते हैं, या उन सिद्धान्तोंको लागू नहीं करते। किन्तु साथ ही, यूनियनका विश्वास है कि भारतका ब्रिटेनसे सम्बन्ध भारतके राष्ट्रीय विकासके लिए अत्यावश्यक है। कमसे कम इतनी अवधितकके लिए तो आवश्यक है ही जितनी राजनीतिक दृष्टिसे देखी जा सकती है।"[१] यूनियनकी सदस्यताके लिए आवश्यक शर्तोंमें थीं—सार्वजनिक और वैयक्तिक जीवनमें सदा ईमानदारीका व्यवहार, भारतीय जनताके भौतिक, नैतिक, राजनीतिक और बौद्धिक स्तरको ऊँचा उठानेकी लगन, प्रखर बुद्धि जो शिक्षासे विकसित हुई हो, आवश्यकता पड़ने पर जनहित और परमार्थके कामोंमें स्वार्थ और व्यक्तिगत हितोंकी कुरबानीके लिए तत्परता और चरित्रकी स्वतन्त्रता व विवेककी गम्भीरता।

'एक ऐसा संघटन बनानेके लिए जो सभी सदस्योंको सबसे अधिक प्रिय हो सके' यूनियनके सदस्योंका एक सम्मेलन पूनामें विचार-विमर्शके लिए बुलाया गया। कराची, अहमदाबाद, सूरत, बम्बई, पूना, मद्रास, कलकत्ता, बनारस, इलाहाबाद, लखनऊ, आगरा व लाहौरमें स्थानीय समितियाँ बनीं और इन्होंने पूना सम्मेलनमें शामिल होनेके अश्वासन भेजे। यह सुझाव भी आया कि यूनियनकी केन्द्रीय समिति बननेके पहले एक जनरल सेक्रेटरी चुना जाय जो जगह जगह जाकर सम्मेलनके कार्यका निरीक्षण कर सके, विभिन्न स्थानीय समितियोंके अनुभव एक दूसरेको बता सके और यूनियनके कामका आम तौरपर निरीक्षण कर सके। ह्यूम पहले जनरल सेक्रेटरी बने।

एक राष्ट्रीय संस्थाके संघटनकी तैयारियाँ पूरी करके, ह्यूम इंगलैण्ड गये ताकि मित्रोंसे मन्त्रणा कर सकें कि भारतीय मसलों और आकांक्षाओंमें ब्रिटिश जनता और पार्लमेण्टको दिलचस्पी दिलानेके क्या तरीके हो सकते हैं? वहाँ उन्होंने सबसे पहले गैरसरकारी भारतीय समाचारोंके ब्रिटिश पत्रोंमें प्रकाशनका उचित प्रबन्ध किया। 'रायटर'के तारोंसे ही खबरें इंगलैंड पहुँचती थीं और आम शिकायत यह थी कि रायटरके तार भारतीय दृष्टिकोणको ठीक तरहसे पेश नहीं करते तथा उनमें हमेशा एक सरकारी रंग रहता है। ह्यूमने भारतीय 'टेली ग्राफ यूनियन'का संघठन किया। इसका काम यह था कि महत्वपूर्ण भारतीय मसलोंपर ब्रिटेनके ऐसे पत्रोंको तार भेजना जो उन्हें प्रकाशित करें। उन्होंने विभिन्न पत्रोंके सम्पादकोंसे बातचीत की और लगभग पौन दर्जन समाचारपत्र (जिनमें मैंचेस्टर गार्जियन जैसे प्रमुख पत्र भी थे) इस यूनियनसे आयीं खबरें छापनेको तैयार हो गये। लेकिन पैसेकी कमीसे यह यूनियन चल नहीं सकी।

ह्यूमने ब्रिटिश राजनीतिक जगतके प्रमुख लोगोंसे भी पूछा कि पार्लमेण्टके सदस्योंको भारतीय मामलोंमें दिलचस्पी कैसे दिलायी जाय। ब्रिटेनमें तब हालमें ही आम चुनाव होनेवाले थे। पार्लमेण्टके एक सदस्य रीड (बादमें लार्ड लोर बने) ने ह्यूमको एक पत्र लिखकर

---

१. वेडरबर्न—एलन ऑक्टेवियन ह्यूम, पृष्ठ ५२

सुझाव दिया कि हर निर्वाचन क्षेत्रके दो तीन मतदाता अपने उम्मीदवारोंसे वादा करा लें कि वे भारतीय मसलोंमें दिलचस्पी लेंगे। इन वादोंको अखबारोंमें छपवा दिया जाय। रीडका विश्वास था कि इतना आसान वादा सभी उम्मीदवार कर देंगे, उनमेंसे दस फीसदी इस वादेको पूरा भी करेंगे और इस प्रकार भारतीय मसलोंपर होनेवाले विवादोंके समय पार्लमेंटमें श्रोता तो मिलने लगेंगे। अखबारोंमें उनके वादे छप जानेके कारण वे उन्हें तोड़नेमें भी हिचकेंगे। ह्यूमका काम था हर निर्वाचन क्षेत्रमें ऐसे मतदाता इकट्ठे करना जो उम्मीदवारोंसे ये वादे ले सकें। ह्यूमने यह काम शुरू भी किया, पर उन्हें इसमें ज्यादा सफलता नहीं मिली।

वैधानिक राजनीतिकी एक अखिल भारतीय संस्था बनानेकी कठिन समस्याके लिए ह्यूमको प्रेरणा किससे मिली और उसके दिमागमें यह बात ऐसे घर क्यों कर गयी यह जानने के लिए ह्यूमके जीवनपर दृष्टिपात करना होगा। ह्यूमके पिता देशभक्त और सुधारक थे; वे बारह वर्षतक ईस्टइण्डिया कम्पनीमें थे और उसके बाद पार्लमेंटके सदस्य हो गये थे। ३० वर्षतक वे पार्लमेण्टके उग्रदलके नेता गिने जाते रहे। ह्यूम स्वयं कम्पनीकी नौकरीमें आये। पिताके बहुतसे गुण उनमें थे। वे उन इने-गिने अंग्रेजोंमें थे जो भारतमें अंग्रेजी राज कायम तो जरूर रखना चाहते थे, पर साथ ही यह भी चाहते थे कि यह राज भारतीयोंकी भलाईमें दत्तचित्त हो। सन् ५७ के विद्रोहके नौ वर्ष पहले वे बंगाल सिविल सर्विसमें भरती हुए थे। २६ वर्षकी अवस्थामें वे इटावा जिलेके सबसे बड़े हाकिम हो गये थे। इटावेका क्षेत्रफल १६९३ वर्गमील था, जनसंख्या ७ लाख २२ हजार थी और मालगुजारी १ लाख ३६॥ हजार पौंड थी। जब विद्रोह हुआ वे इटावेमें ही थे। इटावा भी दूसरे जिलोंकी तरह भारतीयोंके अधिकारमें आया। ह्यूमने इटावा खाली करने और बादमें फिर उसपर अधिकार करनेमें बड़े साहसका परिचय दिया।

इटावेके हाकिमकी हैसियतसे ह्यूमने वहाँकी जनताकी शिक्षा और भलाईमें बड़ी दिलचस्पी ली। आबकारीसे होनेवाली आमदनीको वे "पापकी कमाई" कहते थे। जब साल-बसाल जिलेकी यह आमदनी बढ़ती गयी, उन्होंने अपने ऊँचे हाकिमोंको लिखा— "अभूतपूर्व गरीबी और मुसीबतको देखते हुए, हालका बन्दोबस्त आर्थिक दृष्टिसे बहुत सफल माना जा सकता है। लेकिन मुझे आबकारीसे होनेवाली आयमें वृद्धिका दुःख है। प्रति वर्षमें इस पापी व्यवस्थाका असफल विरोध करता हूँ कि जिसमेंसे पहले ऐसे लोगोंका एक बड़ा वर्ग पैदा हुआ और अब जिसमे वह वर्ग पलता-पनपता है जिनका जीवनमें एकमात्र ध्येय यह है कि अपने साथियोंको शराबी और उसके अनिवार्य निष्कर्ष रूपमें दुराचारी व अपराधी बनायें। दुर्भाग्यवश, ये ललचानेवाले बराबर सफल होते रहते हैं, हर साल शराबियोंकी संख्या और शराबकी खपत बढ़ती जाती है। पिछले २० वर्षमें शराबखोरी कितने भयंकर रूपसे बढ़ गयी है, यह उन्हींको मालूम हो सकता है जो मेरी तरह देशी समाजकी गतिविधि जाननेकी फिक्र करते हैं ! और, हम अपनी प्रजाको तो पापाचारमें प्रवृत्त करते हैं, पर उनके विनाशसे हमें कोई आर्थिक लाभ नहीं होता। पापकी इस कमाईके संबन्धमें पुरानी कहावत चरितार्थ होती है कि पापसे इकट्ठी दौलत फलती नहीं। आबकारीसे अगर एक रुपयेकी आमदनी होती है तो तज्जनित अपराधोंके दमनमें सरकारको दो रुपये खर्च करने पड़ जाते हैं।"[1]

अपने सिद्धान्तों और विचारोंके लिए ह्यूमको दण्ड भोगना पड़ा। उनकी पदअवनति

१. वही पुस्तक पृष्ठ २०-२१

हुई और दूसरे कम-उम्र अफसरोंको उनके पहले तरक्की दी गयी। लेकिन ब्रिटिश ताजकी निष्ठावान् प्रजाकी हैसियतसे ह्यूमको भारतमें अंग्रेजी राजके लिए खतरा नजर आया और वे भारत और ब्रिटेन दोनों देशोंकी, अपने ढंगसे, सेवा करनेमें लगे रहे।

भारतीय राजनीतिमें तब दो मुख्य विचारधाराएँ थीं। एक मतके लोग हिंसा द्वारा अंग्रेजी राजका अन्त कर देना चाहते थे। दूसरे मतके लोग अंग्रेजी राजका अन्त नहीं चाहते थे। वे सिर्फ भारतीय शासनमें भारतीय प्रतिनिधित्व चाहते थे—जो बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ जाय कि ब्रिटिश ताजके अन्तर्गत भारत स्वशासन प्राप्त कर ले। ह्यूमको मिले प्रमाणोंसे और बादके किसान विद्रोहोंसे स्पष्ट है कि हिंसात्मक शक्तियोंने कई बार सुदृढ़ संघटन बनाकर ब्रिटिश शासनपर चोट करनेकी तैयारी की। पढ़े-लिखे लोगोंकी वैधानिक राजनीति मामूली बात थी और सरकार भी उससे विचलित नहीं थी। रिपनने किसी हद तक विद्रोहकी तलवारको कुण्ठित कर दिया था और क्रान्तिकारियोंका बढ़ाव रोक दिया था। पर यह प्रत्यक्ष था कि यह शान्ति अस्थायी है। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त मुट्ठी भर लोग ही वैधानिक राजनीतिकी प्रगतिसे परिचित थे और उनका प्रभाव भी शहरोंके थोड़ेसे लोगोंतक सीमित था। लेकिन हिंसात्मक शक्तियोंका एक देशव्यापी संघटित जाल अंग्रेजी सत्ताके अस्तित्वको चुनौती दे रहा था। ये शक्तियाँ जनतासे अपील करती थीं, उसे सुखमय भविष्यका आश्वासन दिलाती थीं और जनता उनका विश्वास करती थी। उनका आश्वासन था कि अंग्रेजी राजका तख्ता पलट दिया जायगा और देशमें फिर एक बार समृद्धि आ जायगी। अपनी अवस्था सुधारनेके लिए जनता और शिक्षित वर्ग हिंसा और विद्रोहसे खींचकर किस प्रकार वैधानिक राजनीतिमें लगाये जायँ, ह्यूमकी यही समस्या थी। इस समस्याका हल यही था कि एक ऐसी सुदृढ़ अखिल भारतीय संस्था बनायी जाय जिसे जनता अपनी प्रतिनिधि संस्था मानने लगे और जिसका अस्तित्व लोगोंको भरोसा दिलाये। इससे यह संस्था जोर पकड़ती जायगी और जनता हिंसासे विरत होकर इसी संस्थाकी ओर आकृष्ट होगी।

रिपनके उत्तराधिकारी लॉर्ड डफरिन भी ऐसी संस्था चाहते थे जो जनताकी भावनाओंको वैधानिक ढंगसे पेश कर सके। ह्यूमकी जीवनीके लेखकके अनुसार "ह्यूम स्वयं अपना सुधार प्रचार सामाजिक स्तरसे शुरू करना चाहते थे, पर लार्ड डफरिनकी सलाहसे उन्होंने राजनीतिक संघटनको प्राथमिकता दी। लगता है कि लार्ड डफरिनने उनसे कहा था कि शासनाध्यक्षकी हैसियतसे मुझे जनताकी सच्ची इच्छाएँ जाननेमें बड़ी कठिनाई होती है, और शासनकी दृष्टिसे, एक ऐसे उत्तरदायी संघटनकी स्थापना जनसेवाका काम होगा जिससे सरकार भारतीय जनमतके सम्बन्धमें जानकारी करती रह सके।"[१]

कांग्रेसके प्रथम अध्यक्ष डब्लू. सी. बनर्जीने अपनी पुस्तक 'इण्ट्रोडक्शन टु इण्डियन पौलिटिक्स' (भारतीय राजनीतिकी भूमिका) में (जो सन् १८९८में छपी थी) ह्यूम-डफरिन मन्त्रणाके सम्बन्धमें और भी स्पष्ट रूपसे लिखा था कि "सम्भवतः बहुतसे लोगोंके लिए यह नयी खबर होगी कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस—जैसी वह बनी और जैसे वह चल रही है, असलमें लर्ड डफरिनकी कृति है, जिसे उन्होंने अपने गवर्नर-जनरल रहनेके समयमें बनाया।' उनका सुझाव था कि भारतीय राजनीतिक नेता हर वर्ष एकत्र होकर सरकारको बताया करें कि शासन कहाँ दोषपूर्ण है और उसे कैसे सुधारा जा सकता है। उनका यह भी कहना

१. वेडरबर्न, ए० ऑ० ह्यूम पृ० ५९-६०

था कि ऐसे सम्मेलनोंमें गवर्नरको सभापति न बनाया जाय क्योंकि गवर्नरकी उपस्थितिमें लोग सम्भवतः खुलकर बातें न कर सकें। ह्यूम डफरिनके तर्कोंसे प्रभावित हुए और जब उन्होंने कलकत्ता, बम्बई, मद्रास आदिके राजनीतिज्ञोंके समक्ष अपनी व डफरिन दोनोंकी योजनाएँ रखीं तब सर्वसम्मतिसे डफरिनकी योजना स्वीकार कर ली गयी और उसीको कार्यान्वित किया जाने लगा। डफरिनने ह्यूमसे वादा करा लिया था कि जबतक मैं भारतमें हूँ, मेरा नाम इस सिलसिलेमें न लिया जाय। यह वादा पूरा हुआ। जिनसे ह्यूमने सलाह मशविरा किया, उन्हें छोड़कर और किसीको इस बातका पता भी नहीं चला।

कांग्रेसके जन्मकी कथा इस विवरणके साथ ही एण्ड्रूज व मुकर्जीके इस कथनको पढ़ लेनेसे स्पष्ट हो जायगी कि ह्यूमने "समझ लिया था कि जनताके दुख दूर करनेके लिए भारत सरकारको प्रेरित करना असम्भव ही है। आत्मतुष्टिके वातावरणमें सुपुप्तसे हाकिम अपनी मानसिक शान्ति भंग नहीं करना चाहते थे। उन्होंने सन् '५७ में विद्रोहका दमन कर दिया था और इससे उनमें सुरक्षाकी भावना व्याप्त थी। इतिहासकी पुनरावृत्ति बड़े विलक्षण ढंगसे होती है; क्योंकि सन् ५७ में जिस तरह हाकिम जनमत और जनभावनासे अनभिज्ञ थे, बिल्कुल उसी प्रकार अब थे। यह सन्तोषकी भावना ह्यूमकी सबसे बड़ी कठिनाई थी। वे हार कर शिमला गये और वहाँ सर्वोच्च अधिकारियोंको बताया कि परिस्थिति किस प्रकार विस्फोटक हो रही थी। सम्भव है, ह्यूमकी इस यात्राने वाइसरायको जो कुशल शासक और चतुर व्यक्ति थे स्थितिकी गम्भीरताका परिचय करा दिया हो और उन्होंने ह्यूमको कांग्रेसकी स्थापनाकी प्रेरणा दी हो। जैसा कि विदित है, अखिल भारतीय आन्दोलनके लिए समय बिल्कुल परिपक्व था। शिक्षित वर्गकी सहानुभूति व सहायता प्राप्त किसान विद्रोहके स्थानपर नयी विकासमान शक्तियोंको एक राष्ट्रीय मन्त्र मिल गया।"[१]

इस परिस्थितिमें, विशेष कर जब शिक्षित भारतीय वैधानिक आन्दोलन द्वारा भारतकी राजनीतिक प्रगतिमें व्यस्त थे, ह्यूमकी ग्रेजुएटोंको भेजी गयी गश्ती चिट्ठी कुछ अनोखी लगेगी। उसका एक वाक्य था—'यदि देशके सार, आप पढ़े-लिखे लोगोंमें भी पचास ऐसे व्यक्ति नहीं निकलते, जिनमें त्यागकी समुचित शक्ति हो, जिन्हें देशके लिए समुचित प्रेम और गर्व हो, जिनमें इतनी सच्ची, आत्मत्यागमूलक देशभक्ति हो कि शेष जीवन देशको अर्पित कर सकें, तो फिर भारतके लिए कोई आशा नहीं है।'

भारतीय राजनीतिक रंगमंच खाली नहीं था। देशकी उन्नतिकी लगन लगाये सैकड़ों देशभक्त उत्साहपूर्वक कार्य कर रहे थे। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। इलबर्ट बिल-विरोधी आन्दोलनसे भारतीयोंमें एक चेतना आ गयी थी और एक अखिल भारतीय संघटनका विचार सबके हृदयोंमें घर कर चुका था। मद्रासमें सन् १८७८ में स्थापित अंग्रेजी दैनिक 'दि हिन्दू' ने राजनीतिक चेतना जगायी थी और ६ साल बाद सन् १८८४ में मद्रास महाजन सभाका जन्म हो चुका था। शुरुआत कुछ सरकारी नौकरोंके एक छोटेसे सम्मेलनसे हुई जिसमें मद्रास नेटिव एसोसियेशन बनाना तय हुआ। फिर आनन्द चार्लू, वीरराघवाचार्य, रंगैयानायडू, जी० सुब्रह्मण्य ऐयर और एन० सुब्बाराउ आदि प्रमुख लोगोंने 'दि हिन्दू' की स्थापना की। मद्रास महाजन सभाको भी इन्हीं लोगोंने जन्म दिया। पश्चिममें सन् १८७० में ही पूना सार्वजनिक सभा संघटित हो चुकी थी। यह रानाडे और गणेशदत्त

१. दि राइज एण्ड ग्रोथ आव दि कांग्रेस—पृष्ठ १२८-९

जोशीकी अगुआईमें चल रही थी। राव बहादुर कृष्णजी लक्ष्मण नूलकर, सीताराम हरि चिपलूणकर जैसे प्रमुख व्यक्ति इसमें शामिल थे। सभा एक त्रैमासिक पत्रिका पाठकोंकी राजनीतिक शिक्षाके लिए निकालती थी। इसमें अधिकांश लेख रानाडेके लिखे होते थे। जेम्स कैलकने लिखा है—"सभाने पश्चिमी भारतको जगानेमें बड़ा काम किया; इसने राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक मसलोंपर जनमत भी बनाया।"[१]

जनवरी सन् १८८५ में बम्बईके प्रेसिडेन्सी एसोसियेशनकी नींव पड़ी। इसके सूत्रधार बदरुद्दीन तैयबजी, फीरोजशाह मेहता, काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग और ह्यूम थे। बंगालमें सर यतीन्द्रमोहन टैगोरके नेतृत्वमें 'नेशनल लीग' नामक एक नयी संस्थाका जन्म हुआ।

राष्ट्रीय और राजनीतिक जागरणमें समाचारपत्र भी अपना योग दे रहे थे। इन पत्रोंमें प्रमुख थे—इण्डियन मिरर, हिन्दू पेट्रियट, अमृतबाजार पत्रिका, दि बेंगाली, मुम्बई समाचार, सोमप्रकाश, सुलभ समाचार, सकल्य प्रकाश, मराठी सुबोधिका पत्रिका, गुजराती दफ्तरदुम और दि हिन्दू।

अदालतकी मानहानिके अभियोगमें सुरेन्द्रनाथ बनर्जीको मिली कैदकी सजासे एक और जोश पैदा हुआ। उनकी रिहाईपर सभाओं, जुलूसों और मानपत्रोंकी धूम मच गयी। जहाँ भी वे भाषण करने जाते छात्रोंसे पूछते—तुममेंसे कौन गेरीबाल्डी और मेजिनी बनना चाहता है? और उत्तरमें सभी कहते—हम, हम सब।

मैसूर रियासतने आगे बढ़कर नेतृत्व प्रदान किया। रियासतके प्रधान मन्त्री दीवान रंगाचारुलूने सन् १८८१ में प्रतिनिधि असेम्बलीकी स्थापना की। यह असेम्बली कोई विधायिका या व्यवस्थापिका सभा न थी। यह तो व्यवस्थामें जनसहयोगके लिए एक जनप्रतिनिधि संघटन था। रंगाचारुलूने क्लार्ककी हैसियतसे जीवन आरम्भ किया था और तरक्की करते-करते वे भारतकी प्रमुख रियासतके, जो क्षेत्रफलमें इंगलैण्डके बराबर थी, दीवान बन गये थे। उन्होंने नौकरशाही मनोवृत्तिसे अपने मस्तिष्कको संकुचित नहीं बनाया था। भारत व ब्रिटेनकी सारी परम्पराओंके अध्ययनके बाद उन्होंने यह तरीका निकाला था जिससे जनता किसी हद्दतक शासन-व्यवस्थाके सच्चे सम्पर्कमें आ पाती।[२]

दिसम्बर सन् १८८३ में, थियोसोफिकल सोसायटीके वार्षिक सम्मेलनके बाद दीवान बहादुर रघुनाथ रावने अपने मित्रोंकी एक विशेष बैठक बुलायी, जिसका उद्देश्य था भविष्यमें भारतको स्वराज्यके मार्गपर ले चलनेके लिए शासन व्यवस्थामें सुधार करनेके हेतु राजनीतिक आन्दोलन चलाना और इसके लिए देशके सभी राजनीतिज्ञोंके एकत्र करनेके उपयोगपर विचार करना।

दिसम्बर सन् १८८४ में, 'विश्वबन्धुत्व' और थियोसोफिकल सोसायटीके उद्देश्योंकी पूर्तिके लिए आड्यार, मद्रासमें वार्षिक सम्मेलन हुआ, जिसमें अनेक वक्ताओंने सुझाव रखा कि यह सम्मेलन ही भविष्यकी भारतीय पार्लमेण्टका केन्द्र हो। इस सम्मेलनमें भाग लेनेवालोंमें ह्यूम, जानकीनाथ घोषाल और इण्डियन मिरर सम्पादक नरेन्द्रनाथसेन भी थे। ह्यूम सोसायटीके उत्साही सदस्य थे और उसके सम्मेलनोंमें बराबर भाग लेते थे। सन् १८८४ के सम्मेलनमें जिन प्रतिनिधियोंने भाग लिया था वे नरेन्द्रनाथ सेनके शब्दोंमें 'समाजिक और बौद्धिक दृष्टिसे

१. महादेव गोविन्द रानाडे, पृष्ठ २५
२. के. टी. पौल—दि ब्रिटिश कनेक्शन विथ इण्डिया पृ० ७५

समाजके नेता होने योग्य थे।' इनमेंसे कुछ बादमें मद्रासमें दीवान बहादुर रावबेन्द्ररावके निवास-स्थानपर एकत्र हुए और 'भारतमाताकी रक्षा' के लिए राष्ट्रीय राजनीतिक आंदोलन चलानेका विचार पुष्ट किया। उन्होंने आठ सदस्योंकी एक समिति बनायी जो इस विचारको कार्यरूपमें परिणत करनेवाली थी। इस समितिमें नरेन्द्रनाथसेनके अतिरिक्त जानकीनाथ घोपाल, दीवान रघुनाथराव, एस. सुब्रह्मण्य ऐयर (जो बादमें मद्रासके चीफ जस्टिस हुए) भी थे। समितिने हर प्रान्तके प्रमुख व्यक्तियोंको अखिल भारतीय संस्थाकी आवश्यकता बताते हुए पत्र लिखे। इस प्रस्तावका बहुतसे लोगोंने स्वागत किया।

लेकिन इस विचारको कार्यान्वित करनेमें एक बाधा यह समझी गयी कि इस कार्यसे अप्रत्यक्ष रूपसे थियोसोफिकल सोसायटीका नाम जुड़ गया था। सोसायटीकी प्रधान मैडम ब्लावाट्स्की रूसी थीं और उस समय रूस व इंगलैण्डमें अनबन थी। ह्यूमने सोचा कि किसी भी ऐसे राजनीतिक सम्मेलनको अधिकारी संशयकी दृष्टिसे देखेंगे और उसके विरुद्ध हो जायँगे जिसमें थियोसोफिस्टोंका प्राधान्य होगा।

इस कठिनाईका हल अपने आप सामने आ गया। सन् १८८४ में लार्ड डफरिन भारत आये और वे स्वयं अंग्रेजी शासनके लिए एक ऐसे उपायकी खोजमें थे, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, जिससे जनताका असन्तोष दूसरे रास्ते निकल जाय। समय रहते ही ह्यूम उनसे मिले। दोनोंकी राय हुई कि एक राजनीतिक सम्मेलनकी स्थापना हो और यह तय पाया कि दिसम्बर सन् १८८५ में एक अखिल भारतीय सम्मेलन बुलाया जाय।

इसी बीच, सन् १८८३ की तरहका वार्षिक राष्ट्रीय सम्मेलन दिसम्बर सन् १८८५ में कलकत्तेमें हुआ। ह्यूम द्वारा आयोजित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसका बम्बईमें हुआ पहला जलसा और यह सम्मेलन एक ही समय हुए। दोनोंके संयोजकोंको एक दूसरेके सम्मेलनोंका तबतक पता न चला जबतक दोनों सम्मेलन हो न लिये।

कलकत्तेके राष्ट्रीय सम्मेलनकी संयोजक कई संस्थाएँ थीं—यथा; ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशन, इण्डियन एसोसियेशन, नेशनल लीग, सेण्ट्रल मुहेमडन एसोसियेशन (जिसकी स्थापना मुसलमानोंकी राजनीतिक संस्थाके रूपमें हालहीमें कलकत्तेमें हुई थी)। ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशनके दफ्तरमें २५, २६ व २७ दिसम्बरको यह सम्मेलन हुआ। इसमें बंगाल, आसाम, बम्बई, बिहार पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त और उड़ीसाके लगभग २०० प्रतिनिधियोंने भाग लिया। ये प्रतिनिधि अपने-अपने प्रान्तके बड़े जमींदार, उद्योगपति आदि समृद्ध वर्गोंके थे। हाकिमोंमें नेपालके राजदूत और बंगाल सिविल सर्विसके एच. जे. एस. कॉटन थे। मुस्लिम कुलीन वर्गका प्रतिनिधित्व अमीर अली कर रहे थे। पहले दिनकी बैठकका सभापतित्व श्री दुर्गाचरण लालने किया, दूसरे दिनका जयकृष्ण मुखर्जीने और तीसरे दिनका महाराजा नरेन्द्रकृष्णने।

सम्मेलनमें छः प्रस्ताव स्वीकार किये गये जिनके द्वारा विधायिका कौंसिलोंके पुनर्गठन, शस्त्र कानूनमें संशोधन, सरकारी खर्चमें कमी, सिविल सर्विसकी भारत व इंगलैण्ड दोनों जगह परीक्षा और उम्रकी कैद कम करने, न्याय व प्रशासनके पृथक् करने और पुलिसके पुनर्गठनकी माँगें की गयी थीं। पहला प्रस्ताव सुरेन्द्रनाथ बनर्जीने पेश किया था। इसका समर्थन करते हुए कॉटनने कहा—'सरकारी नौकरियों और उनके बाहर भारतमें भी, मेरे ख्यालमें ऐसे बहुत लोग न मिलेंगे जो विधायिका कौंसिलोंके पुनर्गठनका विरोध करते हों और मुझे विश्वास है कि इंगलैण्डमें सभी उदार राजनीतिज्ञ इसी मतके हैं।'

ए० सी० मजूमदारके अनुसार कलकत्ता सम्मेलनने कांग्रेसके जन्मका हार्दिक स्वागत किया। उन्होंने लिखा—"कलकत्ता सम्मेलन पूरी तरह सफल रहा। आखिरी दिन यह खबर मिलनेपर कि अगले दिनसे बम्बईमें पहली भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसका जलसा शुरू हो रहा है, सभी खुश हो उठे, और सम्मेलनकी ओरसे बहुप्रतीक्षित राष्ट्रीय संघटनके जन्मका स्वागत करते हुए शुभकामनाका एक सन्देश वहाँ भेजा गया।"[१] ह्यूमकी भाँति कॉटन भी बढ़ते हुए भारतीय असन्तोषसे अवगत थे और उच्चाधिकारियोंसे उन्होंने सिफारिश की थी कि पढ़े लिखे भारतीयोंको विश्वासभाजन बनाया जाय।

जनमतके अनेक नेता अपने-अपने ढंगसे एक अखिल भारतीय राजनीतिक संघटन बनानेके लिए प्रयत्नशील थे, लेकिन ह्यूमने यह काम बड़े पैमानेपर शुरू किया। दूसरे उन्हें वाइसरायका विश्वास प्राप्त था, इसलिए वे तेजीसे अपना काम आगे बढ़ानेमें स्वतन्त्र थे। उन्होंने धार्मिक उत्साहसे काम किया और एक ओर जहाँ उन्होंने भारतको उसकी सबसे बड़ी राजनीतिक संस्था प्रदान की, वहीं उन्होंने अपने देश ब्रिटेनका भी हित साधा; क्योंकि उन्होंने भारतीय असन्तोषकी बाढ़ बाँध बाँधकर रोक ली, नहीं तो इस बाढ़से अंग्रेजी राज्यके बह जानेका खतरा था। उनका काम परमार्थसेवाका प्रशंसनीय उदाहरण था। अदूरदर्शी अंग्रेज अफसर उन्हें गलत समझते थे, पर वे चुपचाप अपना काम करते रहे और उसी कामसे उन्होंने अंग्रेजी साम्राज्यको आसन्न संकटसे बचा लिया। और जहाँतक भारतीय पक्षका सम्बन्ध है, ह्यूमकी यह काररवाई उसके विपरीत नहीं पड़ी, क्योंकि वह उसी कामको बड़े पैमानेपर करते रहे जो वैधानिक ढंगपर चलनेवाले भारतीय स्वयं कर रहे थे। यह कहा जा सकता है कि वे भी सशस्त्र क्रान्ति द्वारा अंग्रेजोंको भारतसे निकालनेके विरुद्ध थे।

लन्दनमें ६ अगस्त सन् १९१३ के दिन ह्यूम स्मारक सभामें बोलते हुए गोखलेने कहा था—कोई भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसकी स्थापना नहीं कर सकता था। यह बात अगर छोड़ भी दी जाय कि इतने बड़े कामके लिए ह्यूम जैसे प्रभावशाली व्यक्तित्वकी आवश्यकता थी, अगर किसी भारतीयका ऐसा व्यक्तित्व होता भी और वह यह आन्दोलन चलानेके लिए आगे आ जाता तो हाकिम उसे ऐसी संस्था न बनाने देते। राजनीतिक आन्दोलन उन दिनों ऐसी संशयकी निगाहसे देखे जाते थे कि यदि कांग्रेसका जन्मदाता इतना महान अंग्रेज और प्रमुख गैरसरकारी व्यक्ति न होता तो हुकूमत इस आन्दोलनके दमनके लिए कोई न कोई तरीका ढूँढ़ निकालती।

लेकिन इसमें भी कोई संशय नहीं है कि कांग्रेसके जन्मके समय भारतकी राजनीतिक परिस्थिति अंग्रेजोंके अनुकूल न थी, जो कॉटनके निम्नलिखित वर्णनसे स्पष्ट है—

"जो व्यक्ति बिना झिझक दावा करे कि भारतीय जनता अंग्रेज सरकारकी मित्र है, वह अवश्य ही साहसी है। ऊपरके लक्षणोंसे अवश्य यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारतीय राजाओं महाराजाओंकी भक्तिमें संशय नहीं है, जो हालके संकटमें आक्रमणके प्रतिरोधके लिए अपनी फौजें सरकारको सौंपनेको तैयार हो गये। साम्राज्यके सबसे शान्तिमय सूबेके समृद्धशाली कुलीन सामन्तोंकी निष्ठामें भी संशय नहीं है, जिन्होंने इसी कामके लिए अपना धन और साधन सरकारको सौंपनेकी इच्छा प्रकट की। एक स्वरसे अपनी भक्ति प्रकट करनेवाले अखबारों और देशरक्षाके लिए अंग्रेजोंके साथ कन्धा भिड़ाकर लड़नेवाले

१. मजूमदार, वही पुस्तक पृष्ठ ६१

स्वयंसेवकोंको भरती करनेवाले नेताओंमें भी सरकारके प्रति निष्ठा प्रकट होती है। (इससे आसन्न युद्धकी ओर यहाँ इङ्गित है)। लेकिन मैं इन प्रकट लक्षणोंसे आश्वस्त हो जाने वाले पाठकोंको सावधान करना चाहता हूँ। उन विभिन्न वर्गोंके हितोंपर दृष्टिपात करनेसे इन प्रकट सद्भावनाओंके अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं। अपनी फौजें सरकारको सौंपनेवाले देशी महाराजे बुद्धिमानीसे काम ले रहे हैं। वे जानते हैं कि अव्वल तो इस भेंटके स्वीकार किये जानेकी सम्भावना नहीं है; दूसरे लार्ड डलहौजीकी रियासतें हड़प लेनेकी नीतिका यद्यपि ब्रिटिश पार्लमेण्ट और ब्रिटिश राष्ट्र दोनोंने खण्डन किया है, पर भारत आये हाकिम उस नीतिका पोषण करते हैं और बराबर देशी राजाओंकी फौजें तोड़ देनेका सुझाव रखते हैं ......बेहतर होगा कि हम अंग्रेजी-भाषी शिक्षित भारतीय समाजके व्यापक असन्तोष और कठोरताको पूरी तरह समझ लें और अखबारोंकी व अन्य लोगोंकी भक्तिशपथोंको अनावश्यक महत्त्व न दें (जैसा कि दिया जा रहा है)।"[1]

कांग्रेसका जन्म इस प्रकार हुआ—

मार्च सन् १८८५ में एक गश्ती चिट्ठी भेजी गयी जिसमें कहा गया था कि "इण्डियन नेशनल यूनियनका एक सम्मेलन पूनामें २५ से ३१ दिसम्बर तक होगा, जिसमें बंगाल, बम्बई व मद्रास प्रेसीडेंसी सूबोंके सभी भागोंके प्रतिनिधि और अंग्रेजीभाषी प्रमुख राजनीतिज्ञ भाग लेंगे।"[2]

इस चिट्ठीमें लिखा था कि इस सम्मेलनका उद्देश्य राष्ट्रीय प्रगतिके लिए कार्य करनेवाले सभी सच्चे लोगोंका आपसी परिचय होना और अगले वर्षके लिए राजनीतिक कार्यक्रम निश्चित करना है। यह प्रत्यक्ष उद्देश्य था। चिट्ठीमें लिखा था कि अप्रत्यक्ष रूपसे यह सम्मेलन देशी पार्लमेण्टका केन्द्र बन जायगा और ठीक तरह चलनेपर यह संस्था कुछ वर्षोंमें ही उन लोगोंके लिए एक जवाबका काम करने लगेगी जो कहते हैं कि भारत अब भी किसी प्रतिनिधित्वपूर्ण शासनके अयोग्य है। सम्मेलन पूनामें होनेवाला था, पर आखिरी वक्तपर यह स्थान बदलना पड़ा। बड़े दिनके ठीक पहले पूनामें हैजेकी कुछ छिटपुट घटनाएँ हुईं और लगा कि महामारी फूट पड़नेवाली है। सम्मेलन दो तीन दिन देरसे—२८ दिसम्बरको दोपहर १२ बजेसे बम्बईके गोकुलदास तेजपाल संस्कृत कालेजमें शुरू हुआ। चिट्ठीमें इसे इण्डियन नेशनल यूनियनका जलसा कहा गया था, पर सम्मेलनके कुछ ही दिन पहले ह्यूमके सुझावपर इसका नाम बदल दिया गया और वह इण्डियन नेशनल कांग्रेसका अधिवेशन हो गया। अधिवेशनमें पहले वक्ता स्वयं ह्यूम थे जिन्होंने उमेशचन्द्र बनर्जीका नाम सभापतित्वके लिए पेश किया। इस प्रस्तावका समर्थन और अनुमोदन सुब्रह्मण्य ऐयर और के. टी. तैलंगने किया। एक अंग्रेज वकीलके क्लर्ककी हैसियतसे बनर्जी सन् १८६४ में इंगलैण्ड गये थे। सन् १८६७ में उन्होंने बैरिस्टरी पास की और वहाँसे लौटकर बैरिस्टरी करने लगे। कलकत्ता हाईकोर्टमें शीघ्र ही उनका नाम चमक उठा और वे सरकारके स्थायी कानूनी सलाहकार बना लिये गये। उन्हें न्यायाधीश नियुक्त करनेका प्रस्ताव तीन बार किया गया पर उन्होंने इनकार कर दिया।

अधिवेशनमें ७२ प्रतिनिधियोंने भाग लिया था। इनमें तीन बंगालसे, अठारह बम्बईसे,

---

१. न्यू इण्डिया, पृष्ठ २०, २१, २२

२. एनीबेसेण्ट 'हाऊ इण्डिया फॉट फॉर फ्रीडम', पृष्ठ २

आठ मद्रासते, दो कराचीसे, छः सूरतसे, आठ पूनासे, तीन लखनऊसे, दो आगरासे और एक प्रतिनिधि वीरमगाँव, बनारस, शिमला, इलाहाबाद, लाहौर, अम्बाला, अहमदाबाद, बरहामपुर (मद्रास), मसुलीपट्टम्, चिंगलीपट्टम्, तंजौर, कुम्भकोनम्, मदुरा, तिन्नेवली, कोयम्बटोर, सलेम और कुदापुरसे आये थे। शिमलेसे खुद ह्यूम प्रतिनिधि थे। प्रतिनिधियोंमें प्रमुख थे—बनर्जी, दादाभाई नौरोजी, नरेन्द्रनाथ सेन, डब्ल्यू० एस० आप्टे, अगरकर, गंगाप्रसाद वर्मा, रहीमतुल्ला सायाणी, तैलंग, फीरोजशाह मेहता, दीनशावाचा, बी० एम० मलाबारी, एन० जी० चन्दावरकर, रंगैया नायडू, सुब्रह्मण्य ऐयर, आनन्द चारलू, वीर राघवाचार्य और केशव पिल्लइ। जिन पत्रोंके सम्पादक अधिवेशनमें शामिल हुए थे वे थे—ज्ञानप्रकाश (पूना सार्वजनिक सभाका त्रैमासिक पत्र), नवविभाकर, इण्डियन मिरर, नसीम, हिन्दुस्तानी, दि ट्रिब्यून, इण्डियन यूनियन, इंस्पेक्टर इन्दुप्रकाश, हिन्दू व दिक्रेसेण्ट। सर विलियम वेडरबर्न, जस्टिस जार्डाइन, कर्नल फिलप्स और प्रोफेसर वर्ड्सवर्थने प्रतिनिधियोंका हार्दिक स्वागत किया। लगभग हर राजनीतिक संस्थाका प्रतिनिधि कांग्रेसमें था। अपने अध्यक्षीय भाषणमें बनर्जीने कहा—"भारतभूमिमें, इतिहासकी यादमें, ऐसा महत्त्वपूर्ण और विस्तृत प्रतिनिधित्वपूर्ण सम्मेलन नहीं हुआ।"

सम्मेलनको पूर्ण प्रतिनिधित्वपूर्ण घोषित करते हुए आपने कांग्रेसके उद्देश्य इस प्रकार बताये—

(अ) साम्राज्यके विभिन्न भागोंमें रहनेवाले भारतके सच्चे सेवकोंमें मित्रता और नैकट्य स्थापित करना,

(ब) सभी देशप्रेमियोंमें आपसी मैत्रीपूर्ण बातचीतके द्वारा जाति, धर्म व प्रान्तगत पक्षपातोंको मिटाना और राष्ट्रीय एकताकी उन भावनाओंको विकसित व संघटित करना जिनका जन्म हमारे प्रिय लार्ड रिपनके स्मरणीय राज्यमें हुआ,

(स) देशके अपेक्षतया महत्वपूर्ण और आवश्यक सामयिक सामाजिक प्रश्नोंपर देशके शिक्षित वर्गोंके प्रौढ़ विचारोंपर खुलकर वाद-विवाद करना।

बनर्जीने दावा किया कि "मुझसे और यहाँ एकत्र मेरे दोस्तोंसे ज्यादा ब्रिटिश सरकारके सच्चे हितचिन्तक और पक्के वफादार लोग और कहीं नहीं हैं।" उन्होंने, "भारतकी भलाईके लिए" ग्रेट ब्रिटेनने जो अच्छे काम किये हैं, उनकी प्रशंसा भी की। उन्होंने कहा कि ब्रिटेनने हमें सुरक्षा दी, व्यवस्था दी, रेलें दीं और आशीर्वाद स्वरूप पश्चिमी शिक्षा दी। इसके बाद बनर्जीने कहा कि भारतीय जनता चाहती है यूरोपमें प्रचलित शासन-सिद्धान्तोंके अनुसार ही भारतमें सरकार बने। इस इच्छासे ब्रिटिश सरकारके प्रति उसकी अटूट निष्ठामें कोई व्याघात नहीं होता। वह तो सिर्फ यह चाहती है कि उसे भी शासनमें उचित और वैध प्रतिनिधित्व और भाग मिले और शासनतन्त्र और अधिक व्यापक प्रतिनिधित्व करे।

खुले अधिवेशनमें एक प्रस्ताव स्वीकार कर माँग की गयी कि वर्तमान व सर्वोच्च विधायिका कौंसिलोंका सुधार और विस्तार हो जिनमें काफी संख्यामें चुने हुए सदस्य हों (और ऐसी ही कौंसिलें पंजाब, अवध व पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्तके लिए भी बनायी जायँ)। प्रस्तावमें यह भी माँग की गयी थी कि सभी बजट इन कौंसिलोंके विचारार्थ पेश किये जाया करें। सदस्योंको अधिकार प्राप्त हो कि वे शासनकी विभिन्न शाखाओंके विषयमें कौंसिलमें

प्रश्न पूछ सकें। ब्रिटिश लोकसभाकी एक स्थायी समिति बनायी जाय, जो इन कौंसिलोंके बहुमत द्वारा शासनकी काररवाईके विरुद्ध भेजे गये प्रतिवादोंपर विचार किया करे। यह उपबन्ध जरूरी है क्योंकि कार्यकारिणीको कौंसिलोंके बहुमतको रद्द करनेका अधिकार होगा।

इस प्रस्तावपर कई भाषण हुए। दादाभाई नौरोजीने कहा कि जिन सुधार और प्रश्न पूछनेके अधिकारके लिए प्रार्थना की गयी है, उसके स्वीकृत होनेपर सरकार बहुत-सी गलत फहमी और परेशानीसे बच जायगी। सुब्रह्मण्य ऐय्यरने कहा कि निर्वाचनका अधिकार न होने से कौंसिलोंके गैरसरकारी सदस्य शक्तिहीन रह जाते हैं। रानाडेकी राय थी कि भारत सचिवकी सलाहकार कौंसिलमें नामजद और निर्वाचित दोनों तरहके सदस्य हों। अधिवेशन समाप्त होनेपर कुछ प्रतिनिधियोंने बैठकर इस सवालपर विचार किया कि इस प्रस्तावपर जनमत किस प्रकार केन्द्रित किया जाय। उन्होंने प्रस्तावकी दस हजार प्रतियाँ अंग्रेजीमें और एक लाख प्रतियाँ विभिन्न प्रान्तीय भाषाओंमें छपवाकर बटवायीं। इङ्गलैण्डमें भी कौबडन क्लबकी मददसे प्रस्तावकी प्रतियाँ बाँटी गयीं।

एक अन्य प्रस्ताव द्वारा माँग की गयी कि "यहाँ और इङ्गलैण्डमें भारतीय शासनकी जो व्यवस्था है, उसकी जाँचके लिए एक शाही कमीशन बैठाया जाय जिसमें भारतीयोंका भी उचित प्रतिनिधित्व हो और यह कमीशन भारत व इंगलैण्ड दोनों जगह गवाहियाँ ले।" तीसरे प्रस्ताव द्वारा ब्रिटिश सरकारके भारतसचिवकी सलाहकार कौंसिल भंग करनेकी माँग की गयी। दो प्रस्ताव फौजी खर्च सम्बन्धी थे। एकमें कहा गया था कि "फौजी खर्चमें प्रस्तावित वृद्धि अनावश्यक है और राज्यकी आमदनी देखते हुए वर्तमान परिस्थितिमें अधिक भी है।" दूसरे प्रस्तावमें कहा गया था कि खर्च घटाया जा सकता है और यह छटनी करके व तटकर और लैसंसकर फिरसे लगाकर किया जा सकता है।

कांग्रेसने उत्तरी बर्मापर आधिपत्यका विरोध किया (उस समय सरकार बर्मापर अधिकार करनेके लिए लड़ाई लड़ रही थी)। लेकिन कांग्रेसकी राय थी कि अगर सरकार उत्तरी बर्मापर कब्जा कर लेनेपर तुली ही हुई है तो उसे पूरे बर्माको भारतसे अलगकर लंकाकी तरह उसका एक अलग उपनिवेश शाही संरक्षणमें बना देना चाहिये। डफरिनने माण्डलेके राजा थी बाके विरुद्ध युद्ध छेड़ रखा था। थी बाने २७ नवम्बर सन् १८८५ को हथियार डाल दिये और उसके अगले दिन माण्डलेपर अंग्रेजी कब्जा हो गया। जनवरी सन् १८८६ में पूरा बर्मा भारतमें मिल गया।

कांग्रेसमें यूरोपियन एसोसियेशनके अध्यक्ष डी. एस. हाइटने प्रस्ताव पेश किया था कि सिविल सर्विस परीक्षा भारत और इंगलैण्ड दोनों जगह साथ साथ हुआ करे। यह प्रस्ताव भी स्वीकार कर लिया गया था।

सभी राजनीतिक संस्थाओंको कांग्रेसके प्रस्तावोंकी प्रतियाँ भेजी गयीं और उनसे अनुरोध किया गया कि इन प्रस्तावोंमें उठाये गये प्रश्नोंको हल करनेके लिए वे भी आवश्यक कदम उठायें।

कांग्रेसका तीन दिनका अधिवेशन 'कांग्रेसके पिता ह्यूम' की जयकारसे समाप्त हुआ और ह्यूमने इस अभिवादनके उत्तरमें महारानी विक्टोरियाकी जयकारके नारे लगाये।

कांग्रेसका अगला अधिवेशन सन् १८८६ में २७ से ३० दिसम्बर तक कलकत्तेमें हुआ। इसमें ४४० प्रतिनिधि आये जिन्हें सार्वजनिक सभाओं और विभिन्न संस्थाओं द्वारा

चुना गया था। जिन संस्थाओंने प्रतिनिधि नहीं भेजे उनमें नवाब अब्दुल लतीफ और सैयद अमीर अलीकी संस्थाएँ थीं। लेकिन, अमीर अलीने एक पत्रमें लिखा था—"हमें विश्वास है कि कांग्रेसके इस अधिवेशनमें ऐसे कदम उठानेपर विचार होगा जिनसे भारतीय जनताकी हालत सुधरे और हमें ऐसा कुछ करनेसे दुख होगा जिससे लगे कि हम इस सुन्दर उद्देश्यको मदद नहीं कर रहे हैं।

मुसलमान समाजके ३३ प्रतिनिधि आये थे। इनकी अनुपाततः कम संख्याका एक कारण तो यह बताया गया कि उनमें उच्च शिक्षाका अभाव है, दूसरे कलकत्तेके तीन प्रमुख मुसलमानोंने कांग्रेसके विरुद्ध खुलेआम वक्तव्य देकर 'सरकारमें विश्वासकी नीति' अपनायी थी। लेकिन कलकत्तेका मुहेमडन एसोसियेशन कांग्रेसके संयोजकोंमेंसे एक था।

पहले अधिवेशनमें सुरेन्द्रनाथ बनर्जीकी अनुपस्थिति खटकती थी। इस साल वे आये और फिर १९१७ तक बराबर हर साल आते रहे। २५ वर्षीय नवयुवक रवीन्द्रनाथ ठाकुरने अपने एक गीतसे अधिवेशनका श्रीगणेश किया।

कलकत्ता अधिवेशनका प्रबन्ध बम्बईसे बेहतर था। ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशनके अध्यक्ष राजा राजेन्द्रलाल मित्रके सभापतित्वमें एक स्वागत समिति भी बनायी गयी थी।

दूसरे अधिवेशनके अध्यक्ष दादाभाई नौरोजी थे। उसी साल वे हलबर्न (फिंसबरी) से ब्रिटिश पार्लमेन्टमें चुने गये थे। देशके राजनीतिक जीवनसे वे बहुत दिनोंसे सम्बद्ध थे। सन् १८८५ में वे बम्बईकी विधायिका कौंसिलमें नामजद हुए थे। अधिवेशनसे सिर्फ दो दिन पहले उन्हें बताया गया था कि आप अध्यक्षता करेंगे। पर तो भी उन्होंने लम्बा भाषण तैयार कर लिया। उन्होंने ब्रिटिश शासनकी प्रशंसा और कांग्रेसके उद्देश्योंका समर्थन करते हुए कहा—'यह हमारा सौभाग्य है कि हम ऐसे शासनमें रह रहे हैं, जो हमें इस तरह मिलने देता है। ब्रिटिश जनता और महारानीके 'सभ्य बनानेवाले' राजमें हम बेरोकटोक मिलते हैं और बेझिझक और निडर होकर अपने दिलकी बात कहते हैं। यह सिर्फ ब्रिटिश राजमें ही सम्भव है।' जब उन्होंने 'सीधा' सवाल किया—क्या कांग्रेस ब्रिटिश सरकारके विरुद्ध द्रोह और बगावत पैदा करनेकी संस्था है? सभी तरफसे प्रतिनिधि चिल्लाये—नहीं, नहीं। नौरोजीने इसपर कहा—"तो हम मर्दोंकी तरह ऐलान कर दें कि हमारा रोम-रोम राजभक्त है (हर्षध्वनि); अंग्रेजी राजसे जो लाभ हुए हैं, वे हमें मालूम हैं; हमें जो शिक्षा दी गयी है, उसका मूल्य हम परखते और जानते हैं; हमें जो नया प्रकाश मिला है, हमें अँधेरेसे जैसे प्रकाशमें लाया गया है और बताया गया है कि बादशाह जनताके लिए होते हैं, प्रजा बादशाहके लिए नहीं, उसका मूल्य हम समझते हैं। और यह सबक हमने सीखा है एशियाके निरंकुश शासनोंके अँधेरेमें स्वतन्त्र अंग्रेजी सभ्यताकी रोशनी पाकर।" नौरोजीने आश्वासन दिया कि कांग्रेस ब्रिटिश राजके विरुद्ध हो ही नहीं सकती, "हम अंग्रेजी राजके खिलाफ द्रोह नहीं करना चाहते।"

भारतकी गरीबीकी चर्चा करते हुए उन्होंने विचार प्रकट किया कि यदि कौंसिलोंमें भारतीय प्रतिनिधित्व बढ़ जाय तो स्थिति सम्हल सकती है। आपने कहा—'दुर्भाग्यवश, भारतकी समृद्धिके सम्बन्धमें गलत धारणाएँ बनी हुई हैं; अगर कौंसिलोंमें उचित प्रतिनिधित्वकी माँग मान ली जाय तो हमारे प्रतिनिधि कौंसिलों और शासकोंको वे कारण समझायें जिनसे देशमें सबसे बड़ी बुराई—जनताकी गरीबी बढ़ रही है और उसे दूर करनेके

तरीके बतायें। अगर गरीबी बढ़ती ही जाती है तो ब्रिटिश राजके सारे फायदे और अंग्रेज शासकोंके सभी महान् कार्य बेकार साबित होंगे।" उन्होंने बताया कि सन् १८४८ से रैयतकी हालत बराबर बिगड़ती गयी है और चार करोड़ व्यक्ति एक वक्त खाना खाकर जिन्दा रहते हैं, अक्सर यह एक वक्तका खाना भी नसीब नहीं होता। सुब्रह्मण्य ऐयरने इस कथनकी पुष्टि करते हुए कहा कि 'माल विभागके हाकिमोंकी रिश्वतखोरीपर काबू पाना असम्भव है।' कांग्रेसके इस अधिवेशनमें एक प्रस्ताव द्वारा 'भारतीय प्रजाके एक बड़े भागकी बढ़ती हुई गरीबीपर गम्भीर आशंका' प्रकट की गयी।

इस अधिवेशनके प्रस्ताव पिछले अधिवेशनके प्रस्तावोंसे मिलते-जुलते थे। केन्द्रीय व स्थानीय विधायिका कौंसिलोंके सुधार और विकासकी माँग दोहरायी गयी, लेकिन प्रस्तावको सरकारकी दृष्टिमें स्वीकार्य बनानेके लिए उसे इतना नर्म कर दिया गया कि जो कुछ प्रस्तावके एक हिस्सेमें माँगा गया था, दूसरा हिस्सा उसे लगभग काट-सा देता था। कौंसिलोंमें आधे प्रतिनिधियोंके निर्वाचित होनेकी माँग की गयी थी; पर यह निर्वाचन सीधा जनता द्वारा न होकर म्युनिसिपैलिटी, स्थानिक बोर्ड, व्यापारी मण्डल और विश्वविद्यालयों द्वारा स्थानीय कौंसिलोंमें और स्थानीय कौंसिलों द्वारा केन्द्रीय कौंसिलमें करनेका सुझाव रखा गया। साथ ही, सरकारको अधिकार दिया गया था कि वह चाहे तो कौंसिलोंके निर्णयोंको पलट दे; सिर्फ शर्त यह थी कि शासन द्वारा पलटे गये निर्णयोंकी अपील भारत सरकार और ब्रिटिश पार्लमेण्टकी स्थायी समितिमें की जा सके। प्रस्तावमें कहा गया था कि इस तरह निर्णय पलटनेपर शासन अपनी इस काररवाईके लिए महीनेके भीतर स्पष्टीकरण इस स्थायी समितिके पास भेज दे।

कांग्रेसके इस दूसरे अधिवेशनके लिए सन्तोषका विषय यह अवश्य था कि पिछले सालके प्रस्ताव और लार्ड डफरिनके प्रयत्नोंके फलस्वरूप ब्रिटिश सरकारने सन् १८८६ में पब्लिक सर्विस कमीशनकी स्थापना कर दी थी। अधिवेशनकी एक उपसमितिने सरकारके इस फैसलेपर अपनी रिपोर्टमें सिफारिश की कि सिविल सर्विस परीक्षा एक साथ ही भारत व इंगलैण्डमें हुआ करे; परीक्षामें बैठनेकी अधिकतम उम्र १९ से बढ़ाकर २३ वर्ष कर दी जाय और ऊँचे सिविल पद प्रतियोगिता द्वारा भरे जाया करें। संक्षेपमें कांग्रेस सिर्फ यह चाहती थी कि सरकारी नौकरियाँ योग्यता और क्षमताके आधारपर मिलें और उनके लिए हर व्यक्ति उम्मीदवार हो सके। सन् १८८५ के अधिवेशनकी जो एक अन्य माँग अंशतः स्वीकार कर ली गयी थी वह थी पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्तके लिए कौंसिलकी स्थापना।

न्याय, प्रशासनके क्षेत्रमें, कांग्रेसने माँग की कि मुकदमोंमें जूरी बैठालनेकी प्रथाका विकास हो और जूरीका फैसला मान्य हो। जूरी प्रथा सन् १८७२ तक तो पूरी तरह प्रचलित थी, लेकिन उसी साल (जब वहाबियोंके मुकदमोंमें जजोंकी निष्पक्षताकी परीक्षा होती थी) जूरियोंका फैसला देनेका अधिकार छीन लिया गया था; हाईकोर्टके सेशन जजोंको जूरी निर्णय अमान्य कर देनेका अधिकार मिल गया था। कलकत्ता अधिवेशनमें इसे न्यायके लिए अहितकर घोषित करते हुए जूरियोंको पहलेवाला स्थान दिलानेकी माँग की गयी। इस प्रस्तावपर बोलते हुए मुरलीधर (पंजाब) ने कहा—मैं जो सोचता हूँ और जो मेरी धारणाएँ हैं, उन्हें मैं बेधड़क कह देता हूँ इसलिए मुझे राजनीतिक आन्दोलनकारी माना जाता है और मुझे कैदकी सजा मिली है; इस तरहके मामलोंको जूरीकी रक्षा मिलनी चाहिये।

बादके कई अधिवेशनोंमें यह माँग दोहरायी गयी, पर वह मानी नहीं गयी। न्यायको प्रशासनसे अलग करनेकी माँगका भी यही हुआ; वह भी मानी नहीं गयी।

इसी अधिवेशनमें अवधके राजा रामपाल सिंहका यह महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव भी स्वीकार हुआ कि सरकारसे स्वयंसेवकोंकी भरतीकी अनुमति देनेका अनुरोध किया जाय, ताकि ये भारतीय स्वयंसेवक संकटके समय सरकारकी सहायता कर सकें। प्रस्ताव पेश करते हुए राजा साहबने अपने भाषणमें कहा—सरकारने जो कुछ भलाई की है, उसके लिए हम आभारी हैं, पर हम इसके लिए आभार-प्रकाश नहीं कर सकते कि वह हमारा चरित्र और प्रकृति पतित कर दे, हमारे साहस और शौर्यको लगातार कुचलती जाय और सिपाहियों और योद्धाओंकी जातिको कलम घिसनेवाली भेंड़ें बना दे। परमात्माको धन्यवाद है कि हालत अभी इतनी नहीं बिगड़ी है। हममें हर जगह अब भी ऐसे लोग मौजूद हैं जो तलवार उठानेको तैयार हैं, अपने घरों और उस सरकारकी रक्षाके लिए जरूरत पड़नेपर सिर कटानेको भी तैयार हैं जिसने हमें इतना कुछ दिया है……हम वर्तमान नीतिपर क्षोभ प्रकट करते हैं। ऊँच और नीच, हम सब शस्त्रोंका प्रयोगतक भूलते जा रहे हैं। पचास वर्ष पहले युद्धकी आकांक्षा न करते हुए भी, मैदानमें अपने जोहर दिखानेके विचारमात्रसे हर नौजवानका सीना फूल उठता था। अब, मुझे डर है कि अधिकांश नवयुवक इस तरहकी आवश्यकतापर मिश्रित भावनाओंसे विचार करेंगे।"[1]

प्रस्तावके आर्थिक पहलूपर बोलते हुए राजा रामपाल सिंहने कहा—"देश गरीब होता जा रहा है; उसकी एक बड़ी वजह स्थायी फौजका बेतहाशा खर्च है। आज नहीं तो कल खर्चका यह भारी बोझ या तो देशकी कमर तोड़ देगा या सरकारकी। लेकिन अगर भारतीय स्वयंसेवकोंको ढंगसे प्रोत्साहन दिया जाय तो इस फौजी खर्चको काफी हदतक कम किया जा सकता है और साथ ही साथ रक्षाके दृष्टिकोणसे देश और भी मजबूत हो जायगा।"[1]

सरकारने इस सुझाव और विचारको आगे नहीं बढ़ने दिया। कांग्रेस बननेसे कुछ साल पहले भी यह सवाल उठा था और सर सैयद अहमद खाँतकने इसका समर्थन किया था,' पर हाकिमोंने इसका कड़ा विरोध किया और इन विरोधियोंमें पुलिसका उच्चाधिकारी ग्रेहम भी था, जिसने बादमें सर सैयदकी जीवनी लिखी।

कांग्रेसने यह भी निश्चय किया कि हर महत्त्वपूर्ण स्थानपर स्थायी कांग्रेस समितियाँ बना दी जायँ।

अधिवेशन वाइसराय लार्ड डफरिन द्वारा दिये गये एक प्रीतिभोजके बाद समाप्त हो गया।

तीसरा अधिवेशन दिसम्बर सन् १८८७ में मद्रासमें हुआ। इसकी तैयारियाँ मईसे ही शुरू हो गयी थीं। इन तैयारियोंमें जनसम्पर्ककी शुरुआत हुई। १२० सदस्योंकी स्वागत-समिति बनी जिसमें हर जाति और धर्मके लोग थे। उसके अध्यक्ष बने राजा सर टी. माधवराव। "दस हजारसे अधिक आबादीवाले हर शहरमें एक उप-समिति बनानेको कहा गया और जोरदार राजनीतिक प्रचार शुरू हुआ। वीर राघवाचारियरकी तमिल पुस्तिका 'कांग्रेस प्रश्नोत्तरीकी ३०,००० प्रतियाँ बाँटी गयीं। इस प्रचारका फल यह हुआ कि ५॥

१. एनी बेसेंट हाउ इंडिया फॉट फॉर फ्रीडम, पृष्ठ २३, २४, २५

हजार रुपये तो इकन्नी, दुअन्नीसे लेकर डेढ़ रुपये तक देनेवाले ८ हजार लोगोंसे इकट्ठे हुए। जिन्होंने ३०) तक दिये उनसे ८ हजार और मिले। माण्डले, रंगून, सिंगापुर और पूर्वी द्वीपसमूह तकसे गरीब लोगोंने चन्दे जमा कर-करके भेजे। मद्रास अधिवेशनमें ४५ रैयत व १९ कामगर प्रतिनिधि आये। ७६० प्रतिनिधियोंमेंसे ६०७ ने अधिवेशनमें आकर भाग लिया। बदरुद्दीन तैयबजी (जो सन् १८९५ में बम्बई हाईकोर्टके जज हुए) अधिवेशनके अध्यक्ष बनाये गये। उनकी शिक्षा लन्दनमें हुई थी और वे सन् १८६७ से बैरिस्टरी कर रहे थे। १८८० में वे अंजुमन-ए-इसलामके सेक्रेटरी चुने गये थे और बादमें अंजुमनके अध्यक्ष भी हुए थे। १८८२ में वे बम्बईकी विधायिका कौंसिलके सदस्य नामजद हुए थे। उनकी अध्यक्षताका काल वह था जब सर सैयद अहमदके अनुयायी मुसलमानों-को कांग्रेसमें शामिल होनेसे रोक रहे थे। बाँकीपुरमें नवाब अब्दुल लतीफने मुसलमानोंको राय दी थी कि वे कांग्रेसमें शामिल न हों। लेकिन तब भी काफी संख्यामें मुस्लिम प्रति-निधियोंने इस अधिवेशनमें भाग लिया। इनमें प्रमुख थे मौलवी सर्फुद्दीन, अमीर हैदर, तफज्जुल हुसैन (जो पटनाके वकीलोंके बार एसोसियेशनकी एक सभामें प्रतिनिधि चुने गये थे)। सर्फुद्दीन बादमें कलकत्ता हाईकोर्टके जज भी बने थे।

तैयबजीके भाषणका काफी भाग, इसीलिए, मुस्लिम समस्यापर विचार करनेमें लगा। उन्होंने कहा—"राष्ट्रीय प्रतिनिधित्वके हमारी संस्थाके चरित्रपर शंका प्रकट करते हुए कहा गया है कि पिछले दो अधिवेशनोंमें देशके एक बड़े समाज—मुस्लिम समाजने भाग नहीं लिया। अव्वल तो यह लांछन केवल आंशिक रूपमें ही सच है और वह भी देशके एक भागके सम्बन्धमें—जिसका कोई अस्थायी, स्थानीय या विशिष्ट कारण हो सकता है (हर्षध्वनि)। दूसरे, ऐसी कोई शिकायत न्यायपूर्वक इस अधिवेशनके खिलाफ नहीं की जा सकती; आर मैं आप लोगोंके सामने ईमानदारीके साथ कुबूल करता हूँ कि तन्दुरुस्तीकी इस हालतमें आप लोगोंके विचार-विनिमयके सभापतित्वकी गम्भीर जिम्मेदारी ओढ़ लेनेमें मेरी एक बलवती इच्छा यह रही है कि मैं व्यक्तिगत रूपसे ही नहीं, बल्कि बम्बईकी अंजुमन-ए-इस्लामके प्रतिनिधिकी हैसियतसे भी यह कह सकूँ कि भारतकी विभिन्न जातियोंकी स्थितिमें ऐसा कुछ नहीं है जो एक जातिके नेताओंको आम सुधारोंके लिए प्रेरित होनेसे रोके। मुझे विश्वास है कि ये महान आम सुधार और अधिकार जो सभीके हित और फायदेके हैं, सर्वसम्मतिसे सरकारके सामने पेश करनेसे ही मिल जायँगे.. मेरी तो समझमें नहीं आता कि मुसलमान अन्य जाति व धर्मोंके देशवासियोंके साथ कन्धेसे कन्धा भिड़ाकर सर्वसाधारणके हितोंके लिए काम क्यों न करें। बम्बई प्रान्तमें तो हम लोग इसी सिद्धान्तपर काम कर रहे हैं। और मद्रास, बंगाल, पंजाब, पश्चिमोत्तर प्रान्तसे आये प्रतिनिधियोंके पद, चरित्र, रुतबे, गुण और योग्यता देखकर कोई सन्देह नहीं रह जाता कि सारे भारतके मुस्लिम समाजके नेताओंका भी (कुछ अपवादों—सम्भवतः महत्वपूर्ण अपवादोंको छोड़कर) यही मत है।" इस भाषणपर बार-बार हर्षध्वनि हुई।

सन् १८८० के करीब रूसकी मध्यपूर्वके देशोंमें गतिविधि देखकर भारतस्थित ब्रिटिश अधिकारी बहुत चिन्तित थे और इस सम्बन्धमें भारतीय शिक्षित समाजकी प्रतिक्रिया जाननेको उत्सुक थे। निचले दर्जेके अंग्रेज अफसर कांग्रेससे नाराज रहते थे और उसके नेताओंको राजद्रोही बताते थे। अध्यक्षने फिर ब्रिटिश सरकारके प्रति वफादारीकी घोषणा

करते हुए कहा कि शिक्षित भारतीय वर्गका रोम-रोम वफादार है। उन्होंने उन अखबारोंकी निन्दा की जो ब्रिटिशविरोधी भावनाएँ व्यक्त करते थे। उन्होंने प्रतिनिधियोंको अपनी माँगोंमें संयम बरतनेकी सलाह देते हुए मुख्य विवादके आरम्भमें ही कहा कि प्रतिनिधित्वपूर्ण शासन-संस्थाओंकी जो माँगें हम करते आये हैं, उनके स्वीकार होनेपर, मुझे इसमें कोई संदेह नहीं है कि यहाँ उपस्थित प्रतिनिधियोंमेंसे बहुतसे अपने-अपने क्षेत्रोंमें चुन लिये जायँगे। मद्रासमें कांग्रेसके प्रचार और जन-चेतना उत्पन्न करनेके लिए गरीब जनतासे भी कांग्रेसकोषमें एक-एक आना लिया गया।

इस बार भी अधिवेशनका मुख्य प्रस्ताव केन्द्रीय व प्रान्तीय विधायिका कौंसिलोंके विस्तारके संबंधमें था। सुरेन्द्रनाथ बनर्जीने अपना सुन्दर भाषण भी इसी प्रस्तावपर किया था। बारीसालके अश्विनीकुमार दत्तका भाषण भी आनन्दमय आश्चर्यके साथ सुना गया जब उन्होंने कहा—"४५ हजार व्यक्तियोंके दस्तखतोंकी एक अपील मैं आपके समक्ष विचारार्थ रखता हूँ। जब इन लोगोंने इस पत्रपर हस्ताक्षर किये मैं उनके उत्साह और उनकी शक्तिपर खुशीसे फूल उठा। एक तथाकथित हरिजनने आकर कहा—हुजूर! हमारे अपने आदमी कानून बनायेंगे। कितने बड़े भाग्यकी बात है। एक गरीब मुसलमानने मुझे एक चवन्नी देते हुए अनुरोध किया कि इसे मैं इस काममें खर्च करूँ। एक किसानने अपने पड़ोसीसे कहा—देखो! जैसे हमारी पंचायत चलती है और हम उसके फैसले मानते हैं, वैसे ही हमारे आदमी कानून बनायँगे और हम खुशी-खुशी उन्हें मानेंगे। सज्जनो! आप देखें कि जनता इस मामलेमें कितनी उत्सुक है।"

नार्टन नामक मद्रासके एक मशहूर वकीलने (जिनकी फीस कलकत्ते चले जानेपर हजार रुपया रोज हो गयी थी) अपने जोशीले भाषणमें कहा—"कल मुझसे एक ऐसे सज्जनने, जिनकी विद्वत्ता और चरित्रका मैं सम्मान करता हूँ कहा कि कांग्रेसके विचार-विनिमयमें शामिल होकर मैंने 'छिपे राजद्रोही'का नाम पा लिया है। अगर अन्यायके खिलाफ विद्रोह करना, और अपने देशके शासनमें अपना उचित हिस्सा माँगना राजद्रोह है, अगर क्रूर शासन व प्रजापीड़नके खिलाफ आवाज उठाना राजद्रोह है, अगर उत्पीड़न और अन्यायके खिलाफ गदर कर देना राजद्रोह है, अगर सजाके पहले सुनवाईकी माँग करना, अगर व्यक्तिकी स्वतन्त्रताकी माँग करना और धीरे-धीरे, पर हमेशा बढ़नेवाले सुधारोंकी माँग करना राजद्रोह है तो मुझे राजद्रोही होनेमें खुशी है और अपने आपको ऐसे प्रमुख 'राजद्रोहियों'के समाजमें पाकर तो मुझे दुगुनी, तिगुनी खुशी है।"[1]

नार्टनने भारतीयोंको राय दी कि वे शासन-सुधारके अपने लक्ष्यपर डटे रहें।

मद्रास अधिवेशनमें स्वीकृत शस्त्र-कानून सम्बन्धी प्रस्तावपर बड़ी गर्म बहस हुई। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी व विपिनचन्द्र पालने शस्त्र-कानून रद्द करनेकी माँग की। पर त्रैलक्ष्यनाथ मैत्रने सुझाव रखा कि कानूनमें संशोधन कर हर व्यक्तिको स्थानीय अधिकारियों या म्युनिसिपल अधिकारियोंसे अनुमति लेकर शस्त्र रखनेका अधिकार दे दिया जाय। इस बहससे ह्यूमको बड़ी परेशानी हुई क्योंकि उन्हें डर था कि शस्त्र-कानूनको रद्द कर देनेकी माँगके कारण डफरिन कांग्रेससे नाराज हो जायँगे। अन्तमें जो प्रस्ताव पास हुआ, उसमें कहा गया था कि

---

१. एनी बेसेंट हाऊ इंडिया फॉट फॉर फ्रीडम, पृ० ४०-४१

शस्त्र-कानून जनताकी सरकार-भक्तिपर अनावश्यकरूपसे आक्षेप करता है, इसलिए उसकी धाराएँ सरकारको संशोधित कर देनी चाहिये।

ह्यूमको इस प्रस्ताव सम्बन्धी परेशानी 'नवजीवन' नामक मासिक पत्रिकामें प्रकाशित एक पत्रसे प्रकट है। अधिवेशनमें शामिल एक सज्जनने पत्रमें लिखा था—'मिस्टर ह्यूमकी पीड़ा और बेचैनी शस्त्र-कानून रद्द करनेके प्रस्तावपर विवादके समयसे ही दृष्टिगोचर हुई जब वे एकके बाद दूसरे व्यक्तिके पास दौड़ने लगे; उसकी अनिच्छा और दूसरी कई छोटी बातोंमें उनके रुख व रवैये ने साबित कर दिया कि वे सिर्फ भारतकी भलाई ही नहीं सोचते, अपनी जातिके हितोंका भी खूब ध्यान रखते हैं।'

सिद्धान्तपर अडिग रहनेका एक अच्छा उदाहरण कांग्रेसने बंगालके राजा शशिशेखरेश्वर रायके एक प्रस्तावपर यह दिया कि कांग्रेस एक राष्ट्रीय संस्था है और सिर्फ उन्हीं मसलोंको लेगी जिनका पूरे राष्ट्रसे सम्बन्ध है। राजा साहबका प्रस्ताव था कि गोहत्या बन्द की जाय। प्रतिनिधियोंने अपने रवैये और भाषणोंसे स्पष्ट कर दिया कि प्रस्ताव मुस्लिम अल्पमतको अप्रिय होगा और प्रस्ताव गिर गया।

कांग्रेसका अपना कोई विधान नहीं था और जब उसे बनानेका सुझाव आता तो सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे लोग कहते—इतने बड़े ब्रिटिश साम्राज्यकी पार्लमेण्टका विधान नहीं है तो हम इसपर माथापच्ची क्यों करें? कांग्रेसके नियम बनानेके लिए एक कमेटी भी बनायी गयी और उसने नियमोंका मसविदा भी पेश किया पर मसला वहीं रह गया।

पिछले दो अधिवेशनोंकी तरह इस बार भी प्रतिनिधियोंकी गवर्नरके यहाँ दावत हुई। "गवर्नरने खूब आतिथ्य सत्कार किया और बहुत मिलनसारी प्रकट की। प्रतिनिधियोंके मनोरंजनके लिए खास इन्तजाम किया गया, भारी नाश्ता था और गवर्नरका बैण्ड बज रहा था।" नार्टनने एक दावत दी जिसमें गवर्नर भी आमंत्रित थे। गवर्नर अधिवेशनमें भी शामिल होना चाहते थे, पर डफरिनने उनसे कहा कि बेहतर होगा कि तुम खुद ही प्रतिनिधियोंको दावत दो।

अधिवेशनमें पुराने प्रस्ताव फिर पास हुए। जो नये थे उनमें माँग की गयी थी कि आय-करके लिए जो निम्नतम आमदनी है उसे बढ़ा दिया जाय और घाटा विदेशी महीन सूती कपड़ेपर आयात-कर लगाकर पूरा कर लिया जाय, भारतीयोंको टेकनिकल शिक्षा देनेकी व्यवस्था की जाय और फौजी शिक्षण संस्थाएँ यहाँ खोलकर उनमें भारतीयोंको सैनिक शिक्षा दी जाय; इस प्रकार शिक्षित भारतीयोंको ऊँचे फौजी ओहदे दिये जायँ।

अध्याय ६

भारतीय कांग्रेसकी शक्तिवृद्धि

वैधानिक राजनीतिकी परिधिके अन्दर कांग्रेसने १८८७ में अपने कार्यका विस्तार इतना कर दिया कि वह शिक्षित वर्गोंके अतिरिक्त जनसाधारणकी संस्था बन गयी। तीन अधिवेशनोंने यह सिद्ध कर दिया था कि कांग्रेसमें खुले ढंगसे अपने विचार व्यक्त करनेका अवसर और स्थान है। वक्ताओंने सरकारकी आर्थिक नीतिकी कड़ी आलोचना की और उसको भारतीय जनताका शोषक बताया। इन बातोंसे सरकारकी चिन्ता बढ़ी और उसने कांग्रेसके प्रभावका प्रतिकार करनेकी कोशिश शुरू कर दी—कुछ कांग्रेस-विरोधी संस्थाओंको जन्म दिया गया। सरकारने दमन करना भी आरम्भ कर दिया और अपने मातहत आदमियोंको कांग्रेसके कार्योंमें भाग लेनेसे रोका। बिना इलजाम लगाये हुए लोगोंसे अच्छी चाल-चलनके लिए भारी रकमके मुचलके लिये जाने लगे। "एक कट्टर कांग्रेस-विरोधी जिला अफसरके मना करनेके बावजूद जब एक व्यक्तिने कांग्रेसके मद्रास अधिवेशनमें हिस्सा लिया तो उससे शान्ति कायम रखनेके लिए २०,००० रु० की जमानत माँगी गयी। उसने जमानत दाखिल कर दी और चुपचाप चला गया। उसको खतरा था कि यदि उसने इसकी अपील की और जीत भी गया तो जिला अधिकारी उसको परेशान और अपमानित करनेके दूसरे साधनोंका प्रयोग करेंगे। पंजाबके केवल एक जिलेमें, एक सालके अन्दर पाँच-छः हजार आदमियोंसे नेकचलनी आदिके मुचलके लिये गये।"[१]

सन् १८८८ में कांग्रेस और अधिक क्रियाशील हो गयी। उस वर्षके अधिवेशनकी रिपोर्ट इस वाक्यसे शुरू होती है—"इण्डियन नेशनल कांग्रेसके चौथे अधिवेशनका आरम्भ ही सरकारके विरोधमें किये गये उग्र भाषणोंसे हुआ।"

तीन साल बीत गये और प्रतिवर्ष जनताकी आवाज कांग्रेस मंचसे उग्रतर होती गयी, परन्तु सब व्यर्थ! "संवेदनाशील ह्यूम अधिकारियोंकी आडम्बरपूर्ण सहानुभूतिको ढोंग और मजाक समझते थे क्योंकि जनताकी भलाईके लिए कुछ भी नहीं किया जा रहा था! ह्यूमको जनताकी हीन दशासे बहुत कष्ट होता था, विशेषकर जब कि उनके विचारमें ये तकलीफें दूर की जा सकती थीं। उन्हें भारतीय गाँवोंकी असली हालतका पता था और उन्होंने स्वयं एकके बाद दूसरा अकाल और उसके भयानक परिणाम देखे थे। भूखे किसानोंके कष्टोंसे भी परिचित थे······'भारतीय जनताके अकाल और बीमारियोंसे दुःख पानेका वास्तविक कारण उनकी गरीबी है। और यह दरिद्रता रोकी जा सकती है अगर सरकार अपनी कौंसिलमें अनुभवी प्रतिनिधि, जिनको इस दुर्दशाका मूल कारण ज्ञात है, ले ले। परन्तु सरकारने कोई काररवाई नहीं की। ऐसी दशामें क्या किया जाय? दुर्दशाका फौरन ही कोई उपाय होना चाहिये था। क्योंकि अकाल और महामारीसे लोग हजारों और लाखोंकी संख्यामें नहीं बल्कि इससे भी बड़ी संख्यामें मर रहे थे। सरकारको इसका कुछ न कुछ उपाय करनेके

---

१. एनी बेसेण्ट, वही पुस्तक, पृष्ठ ३६

निमित्त मजबूर करनेके लिए यह आवश्यक था कि भारतीय जनताके नेता शान्त कदम उठायें जैसे कि इंगलैण्डमें वहाँके निवासियोंके लिए ब्राइट और कॉवडेनने अपने खाद्य-आन्दोलनमें उठाये थे।

अपनी जवानीके दिनोंमें ह्यूमने इस आन्दोलनकी प्रगति देखी थी। उन्होंने बताया कि किस प्रकार हाउस ऑव कामन्सने कॉर्न-लॉ-लीगके नुमाइन्दोंकी बात सुननेसे भी इनकार कर दिया था। और तब कॉवडेनने अपने प्रचारमें कुछ सारगर्भित शब्द कहे जिनका इंग्लैण्डवासियों पर आगे चलकर बड़ा असर पड़ा। कॉवडेनने कहा—"नुमाइन्दोंने हाउस ऑव कॉमन्सको समझाना चाहा, परन्तु हाउस ऑव कॉमन्सने समझनेसे इनकार कर दिया और अब हम पूरे राष्ट्रको समझायेंगे, यही हमारा सबसे कारगर तरीका होगा।" ह्यूमने कहा "हमारे साथ भी ऐसा ही हुआ है। हमारे शिक्षित भाइयोंने पृथक् पृथक् रूपसे, हमारे अखबारोंने व्यापक रूपसे तथा हमारी राष्ट्रीय महासभाके समस्त प्रतिनिधियोंने—एक स्वरसे सरकारको समझानेकी चेष्टा की है। किन्तु सरकारने, जैसा कि प्रत्येक स्वेच्छाचारी सरकारका रवैया होता है, समझनेसे इनकार कर दिया। अब यह हमारा काम है कि हम देशमें अलख जगायें ब्रिटेनको तथा इस महाद्वीपके राष्ट्रोंको समझायें ताकि हर भारतीय जिसने भारतमांकी छातीका दूध पिया है हमारा साथी, सहयोगी तथा सहायक बन जाय और यदि आवश्यकता पड़े तो कॉवडेन और उसके बहादुर साथियोंकी तरह आजादी, न्याय तथा अपने अधिकारोंके लिये जो महासंग्राम हम छेड़ने जा रहे हैं उसका वह सैनिक बन जाय।"[1]

जनतामें अब प्रचार किया जाने लगा और इस प्रकार भारतीय राजनीतमें यह एक नया पृष्ठ खुला। "ह्यूमने जुटकर काम शुरू कर दिया। जनताके हर वर्गसे धनकी सहायता माँगी। लोगोंमें पर्चे, इश्तहार और छोटी-छोटी किताबें बाँटीं, वक्ता भेजे और क्या बड़े शहर, क्या देहात, हर जगह प्रचार सभाएँ करायीं। इस प्रकार पूरे देशमें १००० से ऊपर सभाएँ की गयीं। इनमेंसे बहुतोंमें उपस्थिति ५००० से अधिक थी। पाँच लाखसे अधिक किताबें बाँटी गयीं। इनमेंसे दो उल्लेखनीय पुस्तिकाओं 'कांग्रेससे कुछ प्रश्न और उत्तर' व 'मौलवी फरीद-उद्दीन और कमबख्तपुरके रामबख्शमें बातचीत'का बारह भारतीय भाषाओंमें अनुवाद कर बाँटा गया। इन पुस्तिकाओंमें हितोपदेशके ढंगपर यह दिखलानेकी चेष्टा की गयी थी कि जब सरकारके मुख्य कर्त्ता-धर्त्ता उस देशमें न रहकर जिसपर वे शासन करते हों, अन्यत्र दूर रहते हों, तो इसमें अनेक बुराइयाँ आ ही जाती हैं, चाहे सरकारके इरादे कितने ही नेक क्यों न हों।"[2]

ह्यूमके इस कार्यसे, जिससे जनतामें जागर्ति हो रही थी, अधिकारी चौकन्ने हो गये। उनके अंग्रेज दोस्त उनसे मिले और गभीरतासे उन्हें समझाया "तुम ऐसी शक्तियोंको जगा रहे हो जिन्हें तुम सम्हाल न पाओगे।" ३० अप्रैल १८८८ को इलाहाबादमें एक विराट सभामें भाषण करते हुए उन्होंने उसका जवाब दिया। जो 'इण्डियन नेशनल कांग्रेसकी उत्पत्ति और उद्देश्योंपर एक भाषण' शीर्षकसे छपा। उन्होंने कहा कि "कांग्रेसका वास्तविक उद्देश्य (१) लोगोंका ध्यान निजीस्वार्थ और छोटे-मोटे झगड़ोंसे हटाकर, उसे राष्ट्रकी प्रगतिपर केन्द्रित कर परोपकार और भाईचारेकी प्रवृत्ति बढ़ाना है; (२) जो इसमें हिस्सा लें उनको न

१. वेडरवर्न, पृ० ६१-६२ व ६३

२. वही किताब पृष्ठ ६३

सिर्फ भाषण और तर्क करनेकी वल्कि ठीक ढंगसे सोचने और अपनी रायोंको व्यक्त करने और दूसरोंको समझा सकनेकी शिक्षा देना; (३) न सिर्फ लोगोंके अन्दर सचाई और खोज-की लगन पैदा करना, वल्कि उनके अन्दर संयम, विनम और उदारता पैदा करना है; असलमें उनमें सच्ची वैधानिक प्रवृत्ति पैदा करना; (४) बड़े पैमानेपर देशको प्रतिनिधि-सभाओंकी कारवाइयों और काम करनेके ढंगसे अवगत कराना, और (५) इस ज्ञानकी वृद्धिके साथ-साथ इंगलैंडके निवासियों और सरकारको यह दिखलाना है कि भारत जिन सभाओंमें प्रतिनिधित्वकी माँग करता है, उनका प्रवन्ध और संचालन करनेकी क्षमता भी रखता है।"[१]

भाषणमें आगे उन्होंने कहा कि कांग्रेसकी शिक्षाओंसे कोई राजनीतिक खतरेकी वात नहीं है। "जनताको अंग्रेजी शासनके फायदे समझाये जाते हैं। उसे यह भी वताया जाता है कि शान्ति मय अंग्रेजी शासनपर ही देशकी समृद्धि और सुरक्षा निर्भर है। लोगोंको शिक्षा दी जाती है कि यद्यपि उनकी परेशानियाँ और तकलीफें जिनकी वे शिकायत करते हैं सही हैं, फिर भी अंग्रेजी शासनसे हुए लाभोंको देखते हुए वे नगण्य हैं। यदि वे शान्तिमय ढंगसे भारत सरकार, इंगलैण्डकी सरकार और इंगलैंड वासियोंसे माँग करें तो ये शिकायतें दूर हो सकती हैं और हो जायेंगी। लोगोंको समझा दिया जाता है कि गैरकानूनी या विप्लवी ढंगके आन्दोलन चलाना अनुचित है। उनके दिलोंमें यह विश्वास जमा दिया गया है कि एकता, धैर्य और वैधानिक ढंगसे आन्दोलन करने पर उनकी जो भी न्यायोचित माँगें होंगी अन्तमें पूरी हो जायँगी। इसके विपरीत जल्दवाजी और हिंसात्मक ढंगसे काम करनेपर न सिर्फ उनका उद्देश्य नष्ट हो जायगा वल्कि वे खुद भी वर्वाद हो जायेंगे।"[२]

भारतके प्रति सद्भाव रखकर ह्यूमने राजनीतिमें प्रमुख भाग लिया था। लेकिन यह नया दौर जनताका शान्तिमय और वैधानिक प्रार्थनापत्र पेश करनेका था, क्योंकि ह्यूमका विचार था कि कभी भी जनता हिंसात्मक उपायोंका अवलम्वन ले सकती है। अंग्रेज अधि-कारी जन-आन्दोलनोंका निर्दयतासे दमन करनेमें विश्वास रखते थे। ह्यूमका लक्ष्य था जनताको शासनमें कुछ अधिकार दिलवाकर जन-आन्दोलनोंको उठनेसे रोकना। अधिका-रियोंको उनका मत अमान्य प्रतीत हुआ और वे कांग्रेसको संदेहकी दृष्टिसे देखने लगे। आंग्ल-भारतीय समाज और इसके अखवारोंने तो, जवसे कांग्रेसका काम शुरू हुआ तभीसे उसका मजाक उड़ाना और गाली देना शुरू कर दिया था। इनमें पायनीयर और इंगलिशमैन उल्लेखनीय हैं भारतीय सिविल सर्विसने कांग्रेसके प्रति अपनी घृणाको विल्कुल नहीं छिपाया। परन्तु शासनके उच्चाधिकारियोंकी कांग्रेसके प्रति सहानुभूतिके कारण तीन वर्षोंतक वे अपने जौहर दिखानेसे असमर्थ रहे। वेडरवर्नने सरकारी प्रतिक्रियाके वारेमें लिखा है—"मैं उन लोगोंके हथकंडोंके वारेमें, जो जल्दी ही उत्तेजित हो जाते हैं और स्वेच्छारी शासक हैं, जो गुप्तचर विभागमें विश्वास रखते हैं, जिन्होंने इस आन्दोलनके खिलाफ मुसलमानोंमें वर्गीय विद्वेष फैलाया है, जो कांग्रेसका दमन करना चाहते थे, और जिन्होंने ह्यूमके देश निकालेकी सिपारिश की, कुछ ज्यादा नहीं कहना चाहता।"[३] संदेहशील पुरुषोंमें एक मुख्य व्यक्ति

१. वेडरवर्न, ए० ऑ० ह्यूम पृष्ठ ६४-६५

२. वही पुस्तक, पृ० ६५

३. वही पुस्तक, पृ० ६७

उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रान्तके गवर्नर सर ऑकलैण्ड कौलविन थे जो मद्रासमें कांग्रेसके तीसरे अधिवेशनतक, जहाँ भारतीय राजनीतिने नयी करवट ली थी, कांग्रेसके प्रति मित्रता रखते थे। १८८८ में जनताके बीच किये जानेवाले प्रचारने उन्हें उद्वेलित कर दिया और उन्होंने ह्यूमके साथ इस विषयमें लम्बा पत्रव्यवहार किया। उनका पत्र छपे हुए बीस पृष्ठोंसे अधिक था और ह्यूमका उत्तर लगभग ६० पृष्ठोंका। सर ऑकलैंडका विचार था कि भारतकी उस समयकी राजनीतिक परिस्थितिमें 'उग्र' प्रचार असामयिक था और इससे उद्देश्यके असफल हो जानेकी संभावना थी। आगे उन्होंने लिखा कि "उग्र और निन्दात्मक उपायोंको अपनाना अवश्य हानिकारक सिद्ध होगा क्योंकि इससे सरकार और उसके कर्मचारियोंके खिलाफ घृणा पैदा होगी। और चूँकि आन्दोलनकी प्रतिक्रिया भी होगी इसलिए देश दो परस्पर विरोधी पक्षोंमें बँट जायगा।" कांग्रेसके रुखपर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा कि कांग्रेस पक्षके लोग अनधिकृत रूपसे भारतीय जनताके प्रतिनिधित्वका दावा करते हैं। अन्तमें उन्होंने यह सलाह दी कि सुधारकोंको केवल समाज-सुधारमें लगना चाहिये क्योंकि जनताकी भलाईके लिए राजनीतिक सुधारसे ज्यादा समाज-सुधारकी जरूरत है।

वेडरबर्न द्वारा ह्यूमके उत्तरके उद्धरणोंसे उस समयकी देशकी राजनीतिक परिस्थितिका अच्छा चित्र मिलता है। "ह्यूमने जवाब दिया कि किसानोंके वास्तविक दुःखोंकी तरफ आँख बन्द कर लेनेसे कोई फायदा नहीं। हर आदमी, जिसको जरा भी गाँवोंका ज्ञान है, जानता है कि वहाँके लोग आपसमें किस कदर कटु होकर बात करते हैं। अत्यधिक खर्चीली और अनुपयुक्त दीवानीकी अदालतोंके निर्दय और रिश्वतखोर पुलिस, लगान वसूल करनेके कड़े ढंगों, आर्म्स और फौरेस्ट ऐक्टके बर्बर ढंगसे लागू करने आदिके सम्बन्धमें उनकी आलोचनाएँ कितनी तीव्र होती हैं। इस समय आवश्यकता है—सस्ते, सही और सुलभ न्यायकी, ऐसी पुलिसकी जिसे लोग अपना मित्र और रक्षक समझ सकें, ज्यादा सहानुभूतिपूर्ण व सदय लगान वसूलीके ढंगकी, आर्म्स और फौरेस्ट ऐक्टके अधिक नर्मीसे लागू किये जानेकी। इसी नीतिके अनुसार प्रचार-पुस्तिकाओंमें समझाया जाता है कि "वर्तमान भयानक बुराइयोंके प्रति उदासीन मत बने रहो, न उनकी अवहेलना करो। हर गाँवमें आपको लोगोंके ऐसे स्वाभाविक नेता मिलेंगे जो हमारे उपकारोंके लिए, (जो अच्छे काम हमने उनके लिए किये हैं) अनुगृहीत हैं। परन्तु साथ ही उनमें, हमारे उन कामोंके प्रति, जिनको हम अपने नेक इरादोंके बावजूद, अपनी अज्ञानतासे गलत ढंगसे करते हैं, शिकायत भरी हुई है। इसीलिए अपनी प्रचार-पुस्तिकाओंके जरिये हम इन बुद्धिमान लोगोंको सहानुभूतिपूर्ण ढंगसे समझाते हैं। हम उनकी मुसीबतोंको स्वीकार करते हैं। पर हम उन्हें अधिक मुलायम शब्दोंमें चित्रित करते हैं। हम उन्हें बताते हैं कि अंग्रेज सरकार संसारमें सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि इसका बुनियादी सिद्धान्त जनताकी इच्छाओंके अनुकूल, शासन-नीति बनानेका है। हम उन्हें जोरदार शब्दोंमें समझाते हैं कि शासनकी त्रुटियोंके लिए इक्का-दुक्का गवर्नर या अफसर दोषी नहीं हैं बल्कि यह शासनकी प्रणाली और प्रथा ही दोषयुक्त है। राजभक्ति और वैधानिक ढंगसे आवाज उठाकर वे इस शासन-प्रणालीमें भी सुधार करवा सकते हैं और उनके बहुतसे दुःख भी जिनका उनको सामना करना पड़ता है, कम हो सकते हैं। सरकार और उसके कर्मचारियोंके खिलाफ नफरत फैलानेके इलजामका यह जवाब है।"

"दूसरा प्रश्न कांग्रेस आन्दोलनके प्रतिक्रियास्वरूप देशके दो परस्पर विरोधी पक्षों

बँट जानेका है। यहाँपर सर सैयद अहमद व उनके मित्रोंके कांग्रेसके व्यक्तिगत विरोधकी याद करना अनावश्यक है। मिस्टर ह्यूम इस विरोधको महत्त्व नहीं देते थे। उनका विचार था कि छोटी-सी नगण्य संख्याको छोड़कर सभ्य और बुद्धिमान वर्ग कांग्रेसके साथ हैं। उन्होंने कांग्रेस विरोधी संस्थाकी सख्तीसे आलोचना की जिसमें जैसा कि वे समझते थे, थोड़ेसे आँग्ल-भारतीय, अधिकांशतया अफसर सम्मिलित थे और आँग्ल-भारतीय अखबार इस विरोधकी सहायता करते थे।" कांग्रेसके विरोधी कौन हैं? कुछ ईमानदार पर अल्पबुद्धि, घोर रूढ़िवादी, कुछ ऐसे मनुष्य जो अपने हृदयोंमें अंग्रेजोंसे घृणा करते हैं या कुछ ऐसे लोग जो गुप्त रूपसे अंग्रेजोंके शत्रुओंकी नौकरीमें हैं; और कुछ अवसरवादी आदमी जो वास्तवमें कांग्रेस विरोधी नहीं हैं परन्तु जो इस कामको सिर्फ इसलिए करते हैं कि शायद इससे वे कुछ लाभ उठा सकें। उनकी यह धारणा थी 'कि कांग्रेस देशमें फूट पैदा करनेके बजाय एकता पैदा करती है। ऐसे लोगोंमें, जो इससे पहिले केवल झगड़ने या लड़नेके लिए ही मिलते थे, इनमें भाईचारा और सौहार्द्र पैदा करती है। इस सिलसिलेमें उन्होंने सलेमका दृष्टान्त दिया जो कुछ ही समय पूर्व तक हिन्दुओं और मुसलमानोंके बीच धार्मिक वैमनस्यका क्षेत्र बना हुआ था।

"उनके विचारमें कांग्रेस-विरोधको बाहरसे, नासमझ अधिकारियोंसे जो अभी तक 'फूट डालो और राज्य करो' के सिद्धान्तका अनुसरण करते थे; तथा सरकारके शत्रुओंसे, जो अंग्रेजी साम्राज्यके झण्डेके नीचे सब पार्टियों और विचारके लोगोंके एक करनेवाले आन्दोलनसे घृणा करते थे, बल मिलता था। आगे उनका ख्याल था कि संयुक्त आन्दोलनसे सबसे अधिक फायदा मुसलमानोंको होगा क्योंकि इससे वे वर्तमान प्रगतिके पथपर अग्रसर हो सकेंगे। उनका विश्वास था कि मुसलमानोंकी सद्बुद्धि उन्हें सही रास्ता दिखायेगी और तीन ही सालमें कांग्रेस-विरोधी पार्टी खत्म हो जायेगी।

ह्यूमने स्वीकार किया कि काँग्रेस आंदोलनमें खतरेकी संभावना है, भारतके लिए यह एक नया प्रयोग है और परिस्थिति पूरे तौर पर अनुकूल नहीं है। उन्होंने यह भी समझाया कि यदि संभव होता तो वे स्वयं कुछ वर्षोंके लिए प्रचारको स्थगित कर देते परन्तु उन्होंने लिखा 'जिन लोगोंने इस आंदोलनको प्रारम्भिक प्रेरणा दी थी, उनके सामने दूसरा चारा न था। पश्चिमी विचारोंकी उपज, यह हलचल, शिक्षा, अन्वेषण और आधुनिक यंत्र बहुत तेजीसे अपना प्रभाव फैला रहे थे। और यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण हो गयी कि इन प्रभावोंके विस्तारके लिए वैधानिक और सही रास्ता निकाला जाय बजाय इसके जैसा कि शुरू भी हो गया था, कि आगको अंदर ही अंदर सुलगने दिया जाय। मैंने हमेशा स्वीकार किया है कि कुछ सूबोंमें, किन्हीं विचारधाराओंके अनुसार, आंदोलन असामयिक है। परन्तु सबसे महत्वपूर्ण विचार अँग्रेजी साम्राज्यकी भविष्यकी एकसूत्रताकी रक्षाका है। जब काँग्रेसकी स्थापना की गयी थी तो असली सवाल इसके असामयिक होनेका नहीं बल्कि इसका था कि क्या इतनी देर हो गयी है कि अब देश इसके लिये प्रस्तुत नहीं है?........हमारे अपने ही कार्योंसे उत्पन्न, जबरदस्त बढ़ती हुई भावनाओंका उबाल निकालनेके लिए एक साधनकी—एक निर्गमद्वारकी—आवश्यकता थी और हमारे इस कांग्रेस आंदोलनसे ज्यादा कारगर कोई 'निर्गमद्वार' नहीं ढूँढ़ा जा सकता था। इस दिशामें ह्यूम, जैसा कि उन्होंने स्वयं

लिखा है, विशेष उत्सुकतापूर्वक प्रयत्नशील थे। भारतीयोंके स्वभाव, उनकी रूढ़िवादी भावनाओं, उनकी कानून माननेकी प्रवृत्ति, उनकी आश्चर्यजनक सहनशीलता, और शालीनताके गुणोंको (बशर्ते कि वे निराशाकी भावनामें आकर अपनी पुरातन शांतिको न छोड़ दें) ध्यानमें रखते हुए ह्यूमको यह विश्वास था कि वे उनको यह बतला कर कि दुखोंः से त्राण पानेकी आशा नहीं छोड़नी चाहिये, और शांतिमय तथा अनुशासनपूर्ण ढँगसे आवाज उठानेपर मुसीबतोंका कुछ हल भी निकल सकता है, वे उचित पथप्रदर्शन कर रहे थे।

"खतरा इसलिए अधिक बढ़ जाता है कि निरंकुश सत्ता मुट्ठी भर ऐसे विदेशियोंके हाथमें रहती है जो जनताकी भाषा, राष्ट्रीयता, विचारोंसे बिलकुल अपरिचित हैं तथा जो दूसरोंकी भावनाओं, और धारणाओंकी परवाह न करते हुए अपनेको विजेता राष्ट्र घोषित करते हैं। परिणाम यह होता है तूफानकी घटा उदय होते देखकर भी वे सजग नहीं होते और सन् १८५७ के विद्रोह या काबुलकी दुःखदाई घटनाको आकस्मिक वज्रपात समझ बैठते हैं। इसीलिये ह्यूम साहब जैसे मनुष्योंकी, जो परिस्थितिको समझते हैं, चेतावनियोंपर ध्यान देना भारतमें अंग्रेजी साम्राज्यके कायम रहनेके लिये आवश्यक है........। निस्संदेह जब कभी विपत्ति आती है, अंग्रेज बहादुरीसे उसका सामना करते हैं और अंतमें आमतौर पर विजयी भी होते हैं परन्तु इस तरह अंधोंकी तरह भटकते हुए चलनेमें धन, जन और शक्ति की बड़ी बर्बादी होती है"।[1]

अब तो डफरिन भी कॉंग्रेसको 'विचार प्रकट करनेका हानिरहित साधन' माननेको तैयार नहीं थे और अपने शासन-कालकी समाप्ति पर एक भोजके अवसरपर उन्होंने कॉंग्रेस-की घोर निन्दा की। उन्होंने कांग्रेसको "ऐसा नगण्य अल्पमत" कहा "जिसको एक शानदार और विभिन्न रूपोंवाले साम्राज्यके शासनकी बागडोर हर्गिज नहीं दी जा सकती"। उन्होंने यह भी कहा—"फिलहाल मुझे उसका भारतीय जनताके प्रतिनिधित्वका दावा बेबुनियाद मालूम होता है। यदि वह भारतीय जनता या यूँ कहिये करोड़ों बेजबान इन्सानोंका सच्चा प्रतिनिधित्व करती होतो तो बजाय आमदनीपर लगनेवाले करमें कमीकी माँग करनेके, जैसा कि वह चाहती है, उसे जनता-करमें दस गुनी वृद्धि करानेका स्पष्ट आदेश देती।"

लेकिन जानेके पूर्व डफरिनने अपनी कार्यकारिणीके तीन सदस्योंकी एक समिति राजनीतिक सुधारोंके प्रश्नपर विचार करने और सुझाव पेश करनेके लिए नियुक्त कर दी। इस कमेटी द्वारा प्रस्तावित योजनामें, जो अन्तमें भारत सचिवके पास भेजी गयी थी, सिफारिश की गयी थी "प्रान्तीय परिषदोंका विस्तार किया जाय, उनके अधिकार बढ़ाये जायँ, उनके कार्यक्षेत्रमें वृद्धि की जाय, निर्वाचन-पद्धतिका आंशिक आरम्भ कर दिया जाय और राजनीतिक संस्थाओंकी हैसियतसे उनको उदार बनाया जाय।"[2]

ऑंग्ल-भारतीय अखबारों द्वारा भारतीय राष्ट्रीयतापर अनेक आक्षेप किये गये। श्री अम्बिकाचरण मजुमदारके शब्दोंमें "पायनीयरने कांग्रेसके खिलाफ राग अलापना शुरु किया और चिल्लाहट मचानेवाले अन्य सब अखबारोंने एक स्वरसे उसका अनुकरण किया। उन्होंने आन्दोलनकी घोर निन्दा की और कहा कि यह आयरिश फेनियनवादकी तरह है और वैसे

१. वेडरबर्न, वही पुस्तक पृष्ठ ७०-७२

२. रिपोर्ट ऑन इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशनल रिफार्म्स १९१८, पृ० ४२

हो इसके तरीके हैं। छद्म-वेशमें यह ऐसी राजद्रोही संस्था है जिसे न तो जनताका प्रति-
निधित्व प्राप्त है और न जिसका कोई मूल्य है।"[1]

इस राजनीतिक उतार-चढ़ावकी पृष्ठभूमिमें कांग्रेसका चौथा अधिवेशन इलाहाबादमें होनेवाला था। उत्तरी-पश्चिमी सूबेके गवर्नर सर ऑकलैंड कॉलविन थे। इन्होंने कांग्रेस का अधिवेशन इलाहाबादमें न होने देनेके लिए हर मुमकिन रुकावट डाली। खुले अधिवेशनके लिए खुसरोबाग चुना गया था परन्तु सरकारके अनुमति न देनेपर इस स्थानको छोड़ना पड़ा। इसके बाद किलेके समीपकी जगहपर नजर पड़ी। मगर यह जगह स्वास्थ्यकी निगाहसे उचित न थी। तीसरा स्थान कैन्टूनमेंट चुना गया परन्तु इसकी भी अनुज्ञा सरकारने न दी। परन्तु चौथी जगह एक नवाबकी कोठी 'लौदर कौंसिल'को थोड़ी-सी दिक्कतोंके बाद, स्वागत समितिके अध्यक्ष अयोध्यानाथने पट्टे पर ले लिया। इसपर अधिकारकी गारण्टीके लिए सर लक्ष्मीश्वर सिंहने इसको खरीद लिया और कांग्रेसके लिए खाली रखा। कॉलविनने एक और अड़ंगा लगाया—आदेश-पत्र द्वारा सरकारी नौकरोंको कांग्रेस-अधिवेशनमें भाग लेनेसे रोक दिया। अधिवेशनके समय वह स्वयं देहातके दौरेपर चला गया।

सन् १८८८ का अधिवेशन पिछले अधिवेशनोंके मुकाबलेमें अधिक सजीव था। इसमें १२४८ प्रतिनिधियोंने भाग लिया था, जिनमें २२१ मुसलमान, २२० ईसाई, ६ सिख ७ पारसी और बाकी हिन्दू थे। इलाहाबाद अधिवेशनके सभापति स्काटलैण्डनिवासी जार्ज यूल निर्वाचित हुए। वे कलकत्तेके एक प्रमुख व्यापारी थे और उस समय 'बंगाल चेम्बर आफ कामर्स'के अध्यक्ष भी थे। शेख रजा हुसैन खाँने उनके चुनावके समर्थनमें लखनऊके सुन्नियोंके धार्मिक नेताका फतवा पेश कर दिया। खाँ साहबने कहा "यह मुसलमान नहीं बल्कि उनके सरकारी आका हैं जो कांग्रेसकी मुखालफत करते हैं।" अपने अध्यक्ष-पदसे दिये लम्बे भाषणमें यूलने एक ही विषय 'विधान-परिषदोंमें सुधार' पर प्रकाश डाला। उन्होंने इस तर्ककी निन्दा की कि भारत प्रतिनिधि-सभाओंके योग्य नहीं है। अपने पक्षमें इन्होंने थोरोल्ड रोनरकी पुस्तक 'दी ब्रिटिश सिटीजन' का एक उद्धरण पेश किया, जिसमें कहा गया था कि "मैं इस बातका विश्वास नहीं करता कि सौ साल पहिले दसमें एक आदमीसे अधिक, या बीसमें एक औरत पढ़ना-लिखना जानती थी। नौजवानीके दिनोंमें मैं जब हेम्पशायर नामक गाँवमें था तो वहाँ चालीस सालसे ऊपर उम्रके किसानोंमें शायद ही एकाध आदमी लिखना-पढ़ना जानता हो। उन्हें प्रारम्भिक शिक्षा देना भी व्यर्थ समझा गया।" यूलने आगे कहा "यदि एक या दो सदी पहिलेकी बात लें तो इंगलैण्डमें मुट्ठीभर आदमियोंको छोड़कर, बूढ़ोंसे लेकर बच्चोंतक, रईस गरीब सब बुरी तरह अज्ञानताके अँधेरेमें फँसे थे, फिर भी वहाँ 'हाउस ऑफ कामन्स था।' इसी तर्कको लेकर उन्होंने कहा कि "यदि किसी देशमें थोड़ेसे भी ऐसे आदमी हैं जो मताधिकारका विवेकपूर्ण उपयोग कर सकते हैं, तो उन्हें केवल इस आधारपर इस अधिकारसे वंचित रखना कि बाकी लोग अयोग्य हैं, गलती होगी।" इस तरहसे उन्होंने भारतको प्रतिनिधि सभाओंके अधिकार दिलानेकी सिफारिश की और कहा "हम चाहते हैं कि विधान-परिषदोंको जहाँतक सम्भव हो इतना बढ़ाया जाय कि उनमें देशके विभिन्न हितोंकी नुमाइन्दगी हो जाय। परिषदोंमें आधे सदस्य निर्वाचित और आधे सरकार द्वारा नियुक्त किये

१. अम्बिकाचरण मजुमदारकृत 'इण्डियन नेशनल इवोल्यूशन' पृ० ८२

जायँ। और हम यह शर्त माननेको तैयार हैं कि शासन-विभागको विशेषाधिकार प्राप्त हो।"

पिछले वर्षोंमें स्वीकृत प्रस्ताव फिर मंजूर किये गये। नये प्रस्तावोंमें (१) एक जाँच-समितिकी माँग की गयी, जो असन्तोषजनक और दमनकारी पुलिसके मौजूदा संघटनकी जाँच करे। (२) नशीली वस्तुओंकी बढ़ती हुई खपतपर चिन्ता प्रगट की गयी और सरकारसे प्रार्थना की गयी कि वह इनका बढ़ता हुआ प्रयोग रोकनेकी कोशिश करे। (३) भारतकी औद्योगिक स्थितिकी जाँचके लिए एक मिले-जुले कमीशनकी माँग की गयी। (४) नमक-करमें कमीकी माँग की गयी। (५) सरकारसे शिक्षाके लिए बजटमें अधिक धन देनेकी प्रार्थना की गयी। और (६) जमीन बन्दोबस्तमें बार-बार रद्दोबदल होनेसे जो किसानोंकी तकलीफ बढ़ जाती है उसके बारेमें तय किया गया कि प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियाँ इस विषयका अध्ययन करें और अगले अधिवेशनमें अपनी रिपोर्ट पेश करें। बहसके लिए कोई भी ऐसा विषय, विषय-समिति निश्चित नहीं करेगी जिसपर हिन्दू या मुसलमान प्रतिनिधि एकमतसे या लगभग एकमत होकर आपत्ति करें।" लखनऊ 'पंच' के सम्पादक सज्जाद हुसैनने पुलिसपर बहुत व्यंगात्मक भाषण किया। आपने कहा "सरकारने भारतीयोंपर बहुत उपकार किये हैं। पुलिस भी एक उपकार है। कैसी पुलिस? ऐसी पुलिस जो चोरों तथा बदमाशोंसे भी ज्यादा ईमानदार नागरिकोंके लिए कष्टप्रद है। लोगोंको पुलिस द्वारा चोरीकी जाँचमें डकैतीसे भी अधिक परेशानी उठानी पड़ती है।" इसी प्रकार मदन मोहन मालवीयने महारानीकी १८५८ की घोषणाके बारेमें जिसका अक्सर उदाहरण दिया जाता था, कहा कि "यह ईमानदारीसे शुभेच्छाओंके साथ नहीं बल्कि तात्कालिक नीतिवश की गयी है।"[१]

इस अधिवेशनकी एक खेदजनक घटना थी बनारसके राजा शिवप्रसादका व्यवहार। उन्होंने कांग्रेसकी खुलेआम निन्दा कर अधिकारियोंका ध्यान अपनी तरफ आकर्षित कर लिया था। किसी प्रकार उन्होंने बनारसके इलाकेसे अपनेको इलाहाबाद कांग्रेसके लिए प्रतिनिधि चुनवा लिया हालाँ कि उसी इलाकेके अन्य प्रतिनिधियोंने इसका जोरदार विरोध किया था और किसी प्रकार भी उनके साथ 'प्रतिनिधिके लिए नियुक्त स्थान' पर बैठनेको राजी न हुए। तब उनको बाहर बैठनेको स्थान दिया गया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जीके शब्दोंमें "राजा शिवप्रसाद अधिकारियोंके विश्वासी मित्र थे और उनका कांग्रेसमें भाग लेना आश्चर्यजनक था। परन्तु यह केवल एक कूटनीतिक चाल थी। ये वास्तवमें वहाँ प्रशंसा करनेके लिए नहीं बल्कि भर्त्सना करनेके लिए गये थे। इस कारण ब्रेडले (?) नॉर्टनने अपने तिरस्कार और नफरत भरे भाषणमें उनको खूब फटकारा।"[२] परिषदमें सुधारके बारेमें आये प्रस्ताव और लार्ड डफरिनके कांग्रेस सम्बन्धी विचारोंपर बहसके दौरानमें राजा साहबने एक प्रस्ताव पेश करना चाहा जिसमें सरकारसे से प्रार्थना की गयी थी कि वह राज-द्रोहात्मक भाषणोंपर रोक लगा दे। इसपर प्रतिनिधियों और दर्शकोंको बहुत रोष आया यहाँतक कि उस दिनकी कारवाईके खात्मेपर, उनको स्वागत-समिति द्वारा दिये गये रक्षकोंकी सुरक्षामें अपने मकान भेजा गया।

यहाँपर थोड़ा-सा जिक्र इंगलैंडमें किये गये कांग्रेसके कामका कर देना चाहिये।

१. बेसेण्ट—वही पुस्तक, पृष्ठ ६८

२. बनर्जी—वही पुस्तक, पृष्ठ १०९

इंगलेंडमें कांग्रेसकी स्थापनाके लिए सबसे पहिला कदम १८८७ में उठाया गया जब कि दादाभाई नौरोजी जो इस समय इंगलैण्डमें ही रहते थे, कांग्रेसके एजेण्टकी हैसियतसे काम करनेको तैयार हो गये। "उनको धनकी सहायता नहीं दी गयी, और चूँकि वे व्यापार करते थे, इस कारण कांग्रेसके काममें थोड़ा ही समय दे सकते थे। वस्तुतः थोड़ा-सा ही काम किया जा सका।"[1] फिर भी सन् १८८८ में काममें निश्चय ही कुछ प्रगति डब्लू० सी० बनर्जी और अर्डले नॉर्टनके इंगलैण्डमें दादाभाई नौरोजीके पास पहुँच जानेसे हुई। ये लोग भारतके प्रमुख हिमायती चार्ल्स ब्रेडलॉकी सहायता प्राप्त करनेमें सफल हो गये। २५ क्रेवन स्ट्रीट, स्ट्रेण्डपर कांग्रेसका दफ्तर खोला गया और देशमें जोरदार तरीकेसे काम शुरू कर दिया गया। तीसरी कांग्रेसकी रिपोर्टकी दस हजार प्रतियाँ और अन्य भाषणोंके हजारों पर्चे और पुस्तिकाएँ छपवाकर बाँट दी गयीं। अपने भारत-प्रेमके कारण 'भारतके सदस्य'के नामसे मशहूर, ब्रेडलॉने इंगलैण्डके विभिन्न भागोंमें भारतके सम्बन्धमें मुफ्त भाषण किये। हालाँकि भारतीय एजेन्सीको 'पब्लिक हॉल', विज्ञापनका व दूसरे छोटे-मोटे खर्चे उठाने पड़े। "इस काममें सात महीनोंके अन्दर १७०० पौंड खर्च हो गये।"

ह्यूम यह बात अच्छी तरह समझ रहे थे कि कांग्रेसकी, भारतके साथ न्याय करनेकी बार-बारकी अपीलोंसे अंग्रेज अधिकारियोंके कानोंपर जूँ भी नहीं रेंगती। उन्हें इस बातका पूरा यकीन हो गया था कि शिमलामें स्थित सरकारसे नाममात्रकी भी सुधार करनेकी कोई उम्मीद नहीं। दूसरा चारा इंगलैण्डमें प्रचारकार्यको अधिक शक्तिशाली करना था। इसी विचारके अनुसार उन्होंने १० फरवरी १८८९ को पत्र द्वारा इंगलैण्डमें कांग्रेस-कार्यकर्ताओंको उचित पैमानेपर प्रचार-कार्य करनेका महत्व समझाया। उन्होंने बतलाया "हमारी आशा केवल हम लोगोंके प्रति किये गये अनाचारों तथा वर्तमान शासनके अन्यायों और अदूरदर्शिताके खिलाफ इंगलैण्डकी जनताकी चेतना जाग्रत करनेमें निहित है। हमारा न्यूनतम काम काफी धन इकट्ठा कर अपने सबसे योग्य वक्ताओंका शिष्टमंडल बराबर इंगलैंड भेजनेका है ताकि वे वहाँपर देशके निमित्त आवाज उठाते रहें—अपनी इंगलैण्ड स्थित कमेटीको इस काबिल बना दें कि उसकी सभाओंका क्रम टूटने न पाये, जहाँ भारतके सच्चे चित्रका वर्णन किया जाय। ब्रिटेनको पर्चों, पुस्तिकाओं, अखबारों और पत्रिकाओं तथा लेखोंसे भर दें—एक शब्दमें अपने आंदोलनको 'विजयी, एण्टी कॉर्न ला-लीग' की भाँति शक्तिशाली बना दें।"[2] ह्यूम का इंगलैण्डमें १८८९ के बीच प्रचार-कार्यके खर्चका तखमीना २५०० पौंड था। उनकी योजना स्वीकार कर ली गयी। २७ जुलाई सन् १८८९ को इंगलैण्डमें विलियम वेडरबर्नके सभापतित्वमें एक कमेटी बनायी गयी जिसमें दादाभाई नौरोजी, डब्लू० एस० केन० एम० पी०, डब्लू० एस० ब्राइट मेकलारेन एम० पी० थे। इसके मंत्री, डब्लू० डिग्बी नियुक्त हुए। बादमें इस कमेटीमें जान ऐलिस० एम० पी०, जार्ज यूल०, डब्लू० सी० बैनर्जी, सर चार्ल्स श्वेन एम० पी०, सर हरबर्ट रॉबर्ट्स एम० पी०, डा० जी० बी० क्लार्क और मार्टिन वुड भी शरीक हो गये। १८८९ की कॉंग्रेसके प्रस्ताव द्वारा इस कमेटीका विधान भी स्वीकृत हो गया और इसको चलानेके लिए ४५००० रु० मंजूर हुआ यह रुपया प्रांतीय कॉंग्रेस कमेटियाँ आनुपातिक ढंगसे चन्दे करके

---

१. बनर्जी, वही पुस्तक, पृष्ठ ८७

२. वही पुस्तक देखो पृष्ठ ८५-८६

देनेवाली थीं। इस कमेटीका नाम 'दि ब्रिटिश कमेटी ऑव दि इण्डियन नेशनल कांग्रेस' रखा गया।

जब इलाहाबादके कांग्रेस अधिवेशनने इंगलैंडमें काँग्रेसके कामके लिए धनकी अपील की तो रुपयों और छोटे सिक्कोंकी वर्षा होने लगी। मुरलीधरने मंचपर नगद ५५५ रू० जमा कर इसकी पहल की। २०००० रु० से ऊपर तो वहीं जमा हो गये और वादोंको मिला कर यह रकम ६४००० रु० हो गयी। काँग्रेसने इंगलैंड जाकर पार्लमेंटके सदस्योंको उस समयकी भारतकी दशा समझानेके लिए उमेशचन्द्र बनर्जी, आर० एन० मुधालकर, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, अर्डले नार्टन और ह्यूमका एक शिष्टमण्डल नियुक्त किया।

कांग्रेसकी अपनी रिपोर्टके निम्नलिखित उद्धरणसे १८८८ में कांग्रेसकी स्थितिका पता चलता है—

"कांग्रेसी विचारधाराका देशके दिमागपर इतना गहरा असर पड़ चुका है कि संसारकी कोई शक्ति उसे मिटा नहीं सकती। अगर कल हजारों कांग्रेसियोंको देश-निकाला दे दें तो भी यह विचारधारा पनपती ही जायगी, एकके बाद दूसरेके दिमागपर कब्जा करती जायगी, यहाँतक कि भारतीय जनताके प्रत्येक पुरुष, औरत और बच्चेपर अपना अधिकार जमा लेगी। इसकी शक्ति बराबर बढ़ती जायगी। भारतीयोंके लिए कांग्रेस लाभदायक है और उनके लिए इसके उद्देश्य उदार व शान्तिमय हैं। सरकारी विरोध और दमनसे न सिर्फ इसके विकासमें वृद्धि होगी बल्कि इससे वैधानिक व शान्तिमय आन्दोलनका रूप बदल कर गुप्त क्रान्तिकारी व गैरकानूनी हो जायगा।"

१८८९ की कांग्रेस सर विलियम वेडरबर्नकी अध्यक्षतामें बम्बईमें हुई। वे सिविल-सर्विसके कर्मचारी थे और सरकारकी सेवा उन्होंने जिला मैजिस्ट्रेट, जज, विधानपरिषद्के सदस्य व अन्य पदोंपर रह कर की थी। सन् १८८५ में उन्होंने सिविल सर्विससे इस्तीफा देकर भारतमें समाजसेवाका काम अपना लिया। भारतीय राजनीतिक असन्तोषको एक धाराका रूप देनेमें उन्होंने ह्यूमका साथ दिया।

वेडरबर्नने कहा कि "भारतीय कर-देनेवालोंकी मुख्य दिलचस्पी इन बातोंमें है— शान्ति कायम रहे, मितव्ययितासे काम लिया जाय और शासन-व्यवस्थामें सुधार हो। लेकिन ये सब चीजें फौजी तथा मुल्की दोनों ही सरकारी वर्गोंको नापसन्द हैं। उत्साही और सामानसे लैस सेना शान्ति कब चाह सकती है, वह तो युद्ध चाहती है। और कौन अक्लमन्द आदमी सरकारी कर्मचारियोंसे मितव्ययिताकी आशा कर सकता है? किफायतके मानी उनकी तनख्वाहोंपर चोट है, फिर शासन सम्बन्धी सुधारोंको ही वे कब पसन्द कर सकते हैं? क्योंकि इससे उनकी हुकूमतमें कमी जो आ जाती है। इन हालातमें मुझे यह कहनेमें कोई हिचक नहीं है कि भारतीय कर-दाता और सरकारी कर्मचारियोंके हित परस्पर विरोधी हैं······हमको स्वीकार करना पड़ता है कि इंगलैण्डमें संगठित शक्ति हमारे विरोधियोंके हाथमें है। इण्डिया ऑफिस हमारा बहुत सख्त विरोधी है, लन्दनके अखबार भी हमारे पक्षमें नहीं हैं। पार्लमेण्टके वे सदस्य, जिनको भारतका अनुभव है, ज्यादातर अधिकारियोंके साथ हैं। नये प्रजातन्त्रवादके पोषक भारतीय अभिलाषाओंके समर्थक हैं और जहाँ कहीं भी मजदूरोंकी सभाओंमें भाषण किये गये हैं, वे तैयार ही नहीं, उत्सुक हैं कि भारतके साथ न्याय किया जाय।

१८८९ के अधिवेशनमें ठीक १८८९ प्रतिनिधियोंने भाग लिया था। अकेले बम्बईने ८२१ प्रतिनिधि भेजे जब कि १८८५ के अधिवेशनमें वहाँके प्रतिनिधि केवल ३८ थे। प्रथम अधिवेशनमें सिर्फ दो मुसलमान प्रतिनिधियोंने भाग लिया था और १८८९ में इनकी संख्या २५८ हो गयी। इस सालके प्रतिनिधियोंमें गोपालकृष्ण गोखले, बालगंगाधर तिलक, विपिन चन्द्र पाल व लाजपत राय जैसे भविष्यके नेता व कुछ स्त्रियाँ थीं।

बम्बईके गर्वनरने कॉल्विनकी बनिस्बत अच्छा व्यवहार किया। बहुतसे सरकारी कर्मचारी भी वेश बदल कर कांग्रेस अधिवेशनमें शामिल हुए। वे ब्रेडलॉको, जो इस समय भारत में हो था, और अधिवेशनमें भाषण करनेवाला था, खासतौरपर सुननेको आये थे। प्रतिवर्ष बढ़ती हुई प्रतिनिधियोंकी संख्याको कम करनेके लिए कांग्रेसने एक नियम बनाया कि आइन्दासे कांग्रेस कमेटियाँ प्रति दस लाख मनुष्योंकी आबादीपर केवल पाँच प्रतिनिधि भेज सकेंगी। परन्तु आमतौरपर इस नियमका पालन कड़ाईसे नहीं होता था।

अधिवेशनका मुख्य प्रस्ताव हस्व मामूल परिषदोंमें सुधार और इनके विस्तृत करनेके बारेमें था। परन्तु इस मर्तबा प्रस्तावमें इसके बारेमें एक योजना भी पेश की गयी। अध्यक्षको यह अधिकार दिया गया कि वे "कांग्रेसकी यह प्रार्थना चार्ल्स ब्रेडलॉ तक पहुँचा दें कि वे इस योजनामें इंगित विचारोंके आधारपर एक बिल तैयार करें और उसको हाउस ऑफ कॉमन्समें पेश करें।"

योजनामें ये सुझाव थे—

(क) केन्द्रीय व प्रांतीय विधान परिषदोंमें कम-से-कम आधे निर्वाचित सदस्य हों और एक चौथाईसे अधिक ऐसे सदस्य न हों जो अपने पद-विशेषके कारण लिये गये हों। शेष सदस्य सरकार द्वारा नामजद हों।

(ख) मालगुजारीके जिले ही सामान्यतः निर्धारित क्षेत्र मान लिये जायँ।

(ग) कुछ खास योग्यताएँ रखनेवाले इक्कीससे ऊपर उम्रवाले सब प्रजाजनोंको मताधिकार प्राप्त हो।

(घ) हर जिलेमें मतदाता एक या उससे अधिक निर्वाचन-संस्थाओंके लिए मतदान करें।

(च) इस प्रकारसे चुने हुए सब जिलोंके प्रतिनिधि जो किसी-न-किसी निर्वाचन-क्षेत्रमें शामिल हैं केन्द्रीय विधान सभाओंके लिए अपने क्षेत्रकी आबादीपर प्रति पचास लाखपर एक मेम्बर चुने व अपने प्रांतकी विधान सभाओंके लिए प्रति दस लाखपर एक मेम्बर भेजें। यह चुनाव इस तरीकेसे किया जाय कि जब कभी भी पारसी, ईसाई, मुसलमान या हिन्दू अल्पमतमें हों तो चुने हुए पारसी, ईसाई, मुसलमान या हिन्दू मेम्बरोंकी संख्याका अनुपात कुल मेम्बरोंमें उनकी आबादीके अनुपातसे कम न हो। दोनों विधान सभाओंके मेम्बरोंके निर्वाचनके लिए कुछ योग्यताएँ और अयोग्यताएँ हों जो बादमें निर्धारित कर दी जायँ।

इस प्रस्तावपर जो संशोधन पेश किये गये यद्यपि वे स्वीकार नहीं किये गये, फिर भी उनपर ध्यान देना आवश्यक है क्योंकि उनसे उस कालकी जनताकी भावनाओंका पता चलता है। ह्यूम 'अल्पमतवाली धारा' को निकलवा देना चाहते थे। उनका तर्क था कि "भारतीय भारतीय हैं। उसमें अल्पमत और बहुमतका प्रश्न क्यों उठाया जाय?" परन्तु इसको काफी लोगोंका समर्थन नहीं मिला। अवधके हिदायत रसूलने सुझाव दिया कि हालाँकि हिन्दू

बहुमतमें हैं परन्तु परिषदोंमें हिन्दू और मुसलमान सदस्योंकी संख्या बराबर होनी चाहिये। उन्हींके सहधर्मी लखनऊके हामिदअली खाँ, बार-एट-लॉने इसका विरोध करते हुए जवाब दिया कि हिन्दू मुसलमानोंका प्रश्न नहीं उठाना चाहिये। एक दूसरे मुसलमान प्रतिनिधि वाजिदअली बिवाजीने तैशमें आकर कहा कि "परिषदोंमें मुसलमान मेम्बरोंकी संख्या हिन्दू मेम्बरोंसे तिगुनी होनी चाहिये।" एक चौथे मुसलमानने इन सुझावोंका विरोध करते हुए कहा "हम यहाँ एक समान-उद्देश्यके लिए इकट्ठे हुए हैं। और ऐसे अवसरपर मुसलमानोंको भूल जाना चाहिये कि वे मुसलमान हैं और हिन्दुओंको कि वे हिन्दू हैं। बल्कि जाति, विचार, और रंगके भेद-भाव भूलकर हम सबको अपनेको भारतीय कहना चाहिये।" और जब हिदायत रसूलके संशोधनपर मत लिया गया तो मुसलमान प्रतिनिधियोंने भी इसके विरोधमें मत दिया।

सन् १८८९ की काँग्रेस द्वारा नियुक्त शिष्टमंडल मार्च १८९० में इंगलैंडको रवाना हो गया और अप्रैलमें वहाँ पहुँच गया। शिष्टमंडलके प्रत्येक मेम्बरने अपना सफर खर्च और होटलका खर्च स्वयं उठाया था। इंगलैंड, वेल्स और स्काटलैंडके बड़े-बड़े शहरोंमें इण्डियन नेशनल काँग्रेसकी ब्रिटिश कमेटी द्वारा आयोजित बड़ी-बड़ी सभाओंमें इस शिष्टमंडलके सदस्योंने भाषण किये। मैनचेस्टरके चैम्बर ऑफ कामर्सकी एक सभामें सुरेन्द्रनाथ बैनर्जीके भाषण करनेके बाद एक आदमीने उठकर कहा कि "आजतक भारतके विषयमें कभी भी मुझे ऐसी गहरी अनुभूति नहीं हुई थी जैसी आज हुई।" शिष्टमंडलके सदस्य अर्डले नार्टनने अवसरका लाभ उठाकर आक्सफोर्ड यूनियनमें काँग्रेस प्रस्ताव पेश किया। प्रस्तावमें कहा गया था—"सभा इस बातपर खेद प्रगट करती है कि हाउस ऑफ कामन्सके सामने पेश 'निर्वाचन-नियम-बिल' को मान्यता नहीं दी गयी।" नार्टनने इस बिलको पेश करते समय एक जोरदार भाषण किया। विरोध पक्षका नेतृत्व लॉर्ड ह्यू सेसिलने किया। भारतकी अशिक्षाका पिछड़ापन उनके तर्कोंके तरकशका सबसे भयानक तीर था और इसका जवाब बनर्जीने दिया। उन्होंने कहा "सन् १८२१ में इंगलैण्डमें स्कूलोंकी संख्या केवल १८,४६७ थी और विद्यार्थियोंकी ६५०,०००। और १८८१ के पहिले वे भारतके स्कूलों और विद्यार्थियोंकी संख्याके बराबर नहीं पहुँच पाये थे! फिर भी १८८१ में इंगलैण्डके निवासियोंको पूर्ण विकसित पार्लमेंन्टकी संस्थाएँ प्राप्त हो गयी थीं। हम तो इससे बहुत कम माँग रहे हैं।" जब इसपर मत-विभाजन हुआ तो शिष्टमंडलको यह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ कि प्रस्ताव बहुमतसे स्वीकार कर लिया गया। "इससे यह प्रगट हो गया कि कांग्रेसका सुधारका कार्यक्रम इतना नम्र था कि अंग्रेजी जनताके रूढ़िसे रूढ़िवादी वर्गको भी यह मान्य था।"

बनर्जीके भाषणका एक छोटा-सा हिस्सा यह दिखलानेके लिए कि किन जोरदार शब्दोंमें उन्होंने यूनियन द्वारा प्रस्तावके स्वीकार किये जानेके पक्षमें भाषण किया यहाँ उद्धृत करते हैं—उन्होंने कहा, "बहसके दौरानमें कहा गया है कि अंग्रेजोंके भारत आगमनके पूर्व भारतवासी बर्बर या अर्द्ध-बर्बर लोगोंका गिरोह थे! मेरा ख्याल है कि इसी भाषाका प्रयोग किया गया था। मैं इस सभाको याद दिलाना चाहता हूँ कि भारतीय हिन्दू—जिस जातिका होनेका मुझे भी गौरव प्राप्त है—एक उच्च पुरातन रक्तके वंशज हैं। और जिस समय यूरोपके सबसे सभ्य राष्ट्रोंके पूर्वज जंगलों और कन्दराओंमें घूम रहे थे,

हमारे पूर्वजोंने बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित कर लिये थे, बड़े बड़े नगर बसाये थे, आचार-विचार विषयक नियम बना लिये थे, एक धर्म-पद्धतिका प्रतिपादन कर चुके थे, और सुन्दर भाषाको जन्म दे चुके थे, जिसकी प्रशंसा आज भी सभ्य संसार करता है। आप लोगोंको सिर्फ यह रास्ता पारकर बोडलियन पुस्तकालयमें जाकर बैठनेकी आवश्यकता भर है। वहाँ आप भारतके प्राचीन-उद्योग धन्धों, संस्कृति और नीति-शास्त्रके इतिहासका अवलोकन कर सकते हैं। इस कारण मुझे यह कटाक्ष समयोचित नहीं मालूम पड़ता। और यदि यह कटाक्ष प्रतिनिधि संस्थाओंके लिए की गयी हमारी याचनाओंके प्रति विद्वेष पैदा करनेकी भावनासे किया गया था, तो यह इससे अधिक अनुपयुक्त नहीं हो सकता था। क्योंकि स्वशासन-संस्थाएँ आर्य जातिकी सभ्यताकी प्रमुख अंग थीं और हम आर्योंके वंशज हैं। हमारे इस प्रस्तावके विद्वान्-विरोधीने अपने कुछ उद्धरणोंकी पुष्टिमें सर हेनरी मेनकी पुस्तकोंका हवाला दिया है। मैं भी उनकी विद्वत्ताके सामने झुकता हूँ। उनके भारत विषयक ज्ञानको स्वीकार करता हूँ। भारतके विषयमें उनकी क्या राय है? स्वशासन संस्थाओंका व्यावहारिक उदाहरण सबसे पहिले हमें भारतसे मिलता है। वहाँकी गाँव पंचायतें इतनी प्राचीन हैं जितनी कि वहाँकी पहाड़ियाँ'। जब हम प्रतिनिधि-संस्थाओं या उनमें आंशिक सुधारकी माँग करते हैं, तो यह माँग उनके इतिहासकी परम्पराके बिलकुल अनुरूप है तथा भारतमें अँग्रेजी शासनकी प्रथाके भी अनुरूप है।"

परिषदोंमें सुधारके लिए भारतीय प्रचारकार्य इंगलैंडमें १८९०, १८९१ व १८९२ में बहुत जोरदार तरीकेसे होता रहा। सन् १८९० में ब्रेडलॉने १८८९ की कांग्रेस द्वारा इंगित योजनाके आधारपर एक विधेयक तैयार कर, इंगलैण्डकी पार्लमेंटमें पेश किया। परन्तु इस विधेयकपर बहसके लिए समय नहीं दिया गया। सारा समय दूसरे कामोंमें व्यतीत हो गया। उन्होंने दूसरा प्रयास किया, परन्तु व्यर्थमें और ३० जनवरी १८९१ को उनकी मृत्यु हो गयी। ब्रेडलॉके विधेयकमें परिषदोंके गैरसरकारी मेम्बरोंके चुनावके लिए एक निर्वाचकमंडल (Electoral College) पद्धतिकी माँग की गयी थी। शासक-वर्गको यह बिलकुल अमान्य था। इसीलिये उसी साल सन् १८९० में भारत सचिव लार्ड क्रासने 'हाउस ऑफ लार्ड्स'में एक दूसरा विधेयक सरकारकी तरफसे पेश किया। इस विधेयक द्वारा प्रशासनको जैसेका तैसा रखनेकी कोशिश की गयी थी। केवल गवर्नर जनरलको केन्द्रीय परिषदके गैर-सरकारी मेम्बरोंकी संख्या बढ़ानेका अधिकार दे दिया गया। १८६१ के परिषद-विधान द्वारा गवर्नर जनरलको अपनी सलाहकार समितिमें कमसे कम छः और अधिकसे अधिक बारह सदस्योंको बढ़ानेका अधिकार मिला, बशर्ते कि नामजद किये हुए सदस्योंमें कमसे कम आधे गैरसरकारी हों। लार्ड क्रासके विधेयक द्वारा यह संख्या बढ़ा कर कमसे कम दस और ज्यादासे ज्यादा सोलह कर दी गयी। इस तरह यह गुंजाइश रखी गयी कि अगर गवर्नर जनरल चाहे तो गैरसरकारी मेम्बरोंकी संख्या पुरानीवाली ही रखें। मद्रास और बम्बईकी स्थानीय संस्थाओंके सदस्योंकी संख्या १८६१ के कानून द्वारा कम से चार और आठ थी, नये विधेयकमें यह संख्या आठ और बीस कर दी गयी। बंगालके लिए यह संख्या बीस नियत कर दी गयी और उत्तरी पश्चिमी प्रांतके लिये पन्द्रह। इस बिलमें यह भी अधिकार दिया गया कि परिषदोंमें वार्षिक आर्थिक लेखे-जोखों पर बहस हो सकेगी और "गवर्नर जनरल या प्रांतीय गवर्नरों द्वारा बनाये गये नियमोंके अंदर कुछ सवाल भी पूछे

जा सकेंगे।" यह विधेयक १८९० या १८९१ में भी स्वीकार न किया जा सका। १८९२ में ही जाकर यह कानून बन सका। डफरिन सरकार द्वारा प्रस्तावित सुधारोंकी तुलनामें भी इस कानूनमें बहुत कम सुधार थे। जबकि कांग्रेसके लगातार कई अधिवेशनोंमें स्वीकृत मुख्य प्रस्तावका भाग्य अनिश्चित था और लार्ड क्रॉसका विधेयक राजनीतिक भारतके लिए निराशा ही प्रदान करनेवाला था, तब दिसम्बर सन् १८९० में कलकत्तेमें कांग्रेसका छठाँ अधिवेशन हुआ। बंगाल सरकारने एक आदेशपत्र निकालकर सब सचिवों और विभागोंके प्रधान व मातहत कर्मचारियोंको कांग्रेस-अधिवेशनमें दर्शककी हैसियतसे भी जानेकी मनाही कर दी। कर्मचारियोंके कांग्रेसकी सभाओंमें भाग लेनेपर सख्त प्रतिबन्ध लगा दिया गया। लेफ्टिनेण्ट गवर्नर और उसके सलाहकारोंको भेजे गये दर्शकोंके निमन्त्रण-पत्र वापस कर दिये गये। कांग्रेस अधिकारियोंने वाइसरायको इस विषयमें लिखा। वाइसरायने कहा कि भारत-सरकारके आदेशको बंगाल-सरकारने गलत समझा है। उन्होंने यह भी कहा कि कांग्रेस आन्दोलन "अपने तौरपर पूर्ण न्याययुक्त है" और "भारत सरकार यह स्वीकार करती है कि कांग्रेस देशका प्रतिनिधित्व करती है, प्रायः उसी तरह जिस तरह यूरोपमें अधिक उन्नत उदार दल है, जिससे भिन्न और जिसके समकक्ष अनुदार दल है। दोनों बराबरीसे काम करते हैं।"

कलकत्ता अधिवेशनके अध्यक्ष फीरोजशाह मेहता थे। 'बम्बई प्रेसीडेन्सी एसोसियेशन' के वे जन्मदाता थे और कांग्रेसके जन्मसे ही उसके साथ थे। बम्बईके म्युनिसिपल कारपोरेशन के वे अत्यन्त सफल सदस्य थे और एक नामी वकील भी थे।

१८९० की कांग्रेसकी रिपोर्ट सरकारपर अभियोगोंके साथ खत्म हुई, जिसकी खास बातें थीं—भारतके प्रशासनमें जहाँ कुछ गुण भी हैं, वहीं हजारों दोष भी। देशके पच्चानबे फी सदी उच्च, प्रमुख और जिम्मेदार पदोंपर यूरोपियनोंका एकाधिकार है। कुल जनसंख्याका पाँचवाँ हिस्सा भुखमरीकी दशामें है। लगभग सभी स्वदेशी उद्योग और कलाएँ खत्म कर दी गयी हैं। विनाशक ऊँचे करोंकी 'अस्थायी बन्दोबस्त' की प्रणालीके शिकंजेमें खेती धीरे-धीरे नष्ट हो रही है। जनता पस्तहिम्मत बनायी जा रही है। भारतमें अमीरोंके खिलाफ गरीबोंको या पुलिस व अधिकारियोंके खिलाफ गैर-सरकारी लोगोंको कहीं भी सच्चा न्याय नहीं मिलता।"[1]

१८९१ में कांग्रेसका अधिवेशन मद्रासके पी. आनन्द चारलूकी अध्यक्षतामें नागपुरमें हुआ। वे अपनी इण्डिया कौंसिलकी कड़ी आलोचनाके लिए प्रसिद्ध थे। सन् १८९५ में वे केन्द्रीय व्यवस्थापक सभाके सदस्य हो गये और उस पदपर १९०३ तक काम करते रहे।

आनन्द चारलूने प्रतिनिधियोंको सलाह दी कि "वे जनताके बीचमें पहिलेसे अधिक जमकर काम करें। उनके हृदयोंमें कांग्रेसी संदेशको पहुँचा दें जो राष्ट्रीय भावनाका दूसरा नाम है।"

नागपुरके अधिवेशनमें एकके बाद दूसरे वक्ताने खड़े होकर गाँवोंकी आँखों देखी बुरी दशाका मार्मिक और सजीव चित्र खींचा। जंगलातके नये कानूनने आदमियों और जानवरों-को उनके प्राकृतिक अधिकारसे वंचित कर दिया था। मद्रासके एक प्रतिनिधि पीटर पॉल

१. बेसेण्ट—वही पुस्तक, पृष्ठ १०६-१०७

पिल्लईने कहा "व्यवस्थापकोंने कलमके एक ही इशारेसे जंगलात कानूनके रैयतके जातीय अधिकारोंको खत्म कर दिया—उन अधिकारोंको जिन्हें वे सदियोंसे भोगते चले आ रहे थे—जिन्हें पूर्वकालकी सरकारें स्वीकार करती थीं—और जिनको अंग्रेजी सरकार स्वयं भी पहिले मानती थी। आवश्यकतासे लाचार होकर लोग सर्वग्राही जंगलके कानूनोंकी अवज्ञा करनेको बाध्य होते हैं। मेरे जिलेमें इस कठोर कानूनकी मामूली अवज्ञा करनेपर हजारों फौजदारीके मुकदमे चल रहे हैं।"[1]

साल भरकी कारवाइयोंका संक्षिप्त वर्णन बेसेन्टने बहुत अच्छी तरहसे किया—"यदि असलमें पूछा जाय तो अंग्रेजी शासनके विरुद्ध किसानोंको जितना इस जंगलके कानूनने किया है, उतना किसी चीजने नहीं। नमक-कर बुरा है। जमीनोंके कर-निर्धारणके बन्दोबस्तका तरीका निर्दयतापूर्ण और कठोर है परन्तु 'जंगलका कानून' तो हर कदमपर कुठाराघात करता है, और बेचारा किसान, अपने पूर्वजोंकी भाँति, जिनके साथ पीढ़ियोंसे यही होता चला आ रहा था, अपराधी करार दे दिया जाता था। मिस्टर पिल्लईने दिखाया कि १८९० में सरकारने किसानोंसे डेढ़ लाख रुपया चरागाह-करके रूपमें वसूल किया और साढ़े तीन लाख जुर्मानेमें जो उन्होंने जानवरोंके जब्त चरागाहोंमें चले जानेपर वसूल किया था। एक जिले, उत्तरी आरकाटमें सन् १८९१ में तीन लाख जानवर चारेकी कमीसे मर गये। यह संख्या जानवरोंकी साल भरकी औसत मृत्यु संख्याके अलावा थी।"

वक्ताओंमें श्री एस. बी. भाटे भी थे, जिन्होंने कहा कि उनके जिलेमें जंगलके कानूनके लागू करनेके कारण जानवर भूखे मर रहे हैं। अस्थायी तौरपर भी चारागाहके इस्तेमालकी अनुज्ञा नहीं है। किसान अपने जानवरोंको हटा रहे हैं। दस-दस बारह-बारह रुपयेपर जानवर बेचे जा रहे हैं। एक दूसरे प्रतिनिधिने जिसने अपनेको एक गरीब पहाड़ी जिलेके एक गरीब गाँवका आदिम निवासी बताया, कहा कि "जंगलोंने मनुष्यको जो वह चाहता था ईंधन, लकड़ी, घास, पत्थर, जमीन, पत्तियाँ, छाल, जड़ें दीं परन्तु ये सभी चीजें ईश्वरने नहीं, लोभी मनुष्यने छीन ली हैं। सैकड़ों पीढ़ियोंसे वे इन चीजोंका उपयोग निर्द्वन्द्वतासे करते चले आ रहे थे और अब वे प्रकृतिकी दी हुई चीजोंसे वंचित कर दिये गये हैं। हिन्दू और मुसलमान शासकोंके समयमें जो जंगल उनके लिए आशीर्वाद थे, वही अब अभिशाप बन गये हैं।" एक मर्तबा फिर गाँवोंका आर्थिक संघटन चरमराने लगा था। किसानके खेत पहाड़ियोंपर थे, परन्तु वह वनों, जंगलों, झाड़ियों और झुरमुटोंका प्रयोग नहीं कर सकता था। वह अपने ही पेड़ोंकी पत्तियाँ भी नहीं इस्तेमाल कर सकता था हालाँकि उसीने लगाया था। फिर जानवर कहाँ चरें। सरकारी-सुरक्षित जंगल घेरे नहीं गये थे। स्वाभाविक था कि जानवर उनमें घुस जाते थे, बेचारे मालिकोंपर जुर्माना होता था। एक देहातीने, जिसको डाक्टर उपलब्ध नहीं था, जंगलसे कुछ जड़ी बूटियाँ इकट्ठी करनेकी कोशिश की और उसपर जुर्माना कर दिया गया।"[2] कांग्रेसने जंगलोंके कानूनके शिकंजेसे लोगोंको मुक्ति दिलानेके लिये बार-बार प्रस्ताव पास किये, परन्तु चूँकि जंगलोंसे अंग्रेजी शासकोंकी जेबमें काफी धन जाता था, इसलिये कांग्रेसकी प्रार्थनापर उन्होंने ध्यान नहीं दिया।" आर० ए० मधोलकरने कहा कि बारह सालकी अवधिमें अकालसे एक करोड़

१. बेसेन्ट वही, पुस्तक पृ० १२२

२. वही पुस्तक पृष्ठ-१२२-२३

बीस लाख आदमी मर गये। उन्होंने अपनी बातकी पुष्टिमें सर चार्ल्स ईलियटका हवाला दिया जिन्होंने कहा था कि "आधे खेतिहर किसान साल साल भरतक यह नहीं जानते कि भर पेट खाना किसे कहते हैं।"

पंजाबके मुरलीधरने उन लोगोंकी भर्त्सना की जो अपना शोषण होने देते हैं। उन्होंने कहा "तुम-तुम, ऐसा प्रतीत होता है कि तुम अपने भाइयोंके हृदयका रक्त चूसकर मोटे होनेवाले इन पतित राक्षसोंका साथ देनेसे सन्तुष्ट हो। ('नहीं नहीं'का शोर)। मैं कहता हूँ, 'हाँ'। अपने चारों तरफ देखो—ये सब शामियाने और झाड़-फानूस—ये यूरोपकी बनी कुर्सियाँ और मेजें—ये बढ़िया बढ़िया कोट और टोप, ये अंग्रेजी कोट, स्त्रियोंकी फ्रॉकें और टोप, ये चाँदीकी मूठकी छड़ियाँ, यह अपने घरोंके आराम और आराइशका सामान, यह सब क्या है? क्या ये भारतकी दुर्दशाके स्मारक नहीं हैं? क्या ये भारतकी भुखमरीके यादगार और प्रतीक नहीं हैं? हर वह रुपया जो तुम यूरोपकी बनी चीजोंपर खर्च करते हो, वह रुपया है जो तुम अपने गरीब और ईमानदार बुनकर भाइयों, जिनकी जीविकाका साधन भी अब खत्म हो रहा है, के हाथसे छीनते हो? स्वतन्त्र व्यापार! राष्ट्रोंके बीच न्यायसंगत कार्य!! ओफ् इन झूटे दावोंसे मैं किस कदर नफरत करता हूँ, गरीब भारत और मोटे पूँजीवादी इंगलैंडमें क्या न्यायसंगत व्यापारका कार्य हो सकता है? यह वैसी ही बात है जैसी एक बच्चे और शक्तिशाली आदमीके बीच न्यायपूर्ण लड़ाईकी, जैसी खरगोश और अजगरकी न्यायसंगत लड़ाईकी! इसमें सन्देह नहीं कि यह सब अर्थशास्त्रके ऊँचे सिद्धान्तोंके अनुरूप है, मगर मेरे दोस्तो! यह याद रखो कि इसके माने अपने भाइयोंके मुँहका ग्रास छीनना है।"

१८९२में दादाभाई नौरोजी अपने विरोधीको तीन वोटोंसे हराकर पार्लमेंटके लिए चुन लिये गये। वे हाउस आफ कॉमन्सके प्रथम और अन्तिम भारतीय सदस्य थे। पार्लमेंटके चुनाव-आन्दोलनमें भारतके सवालने काफी बड़ा स्थान ग्रहण किया। सेलिसबरी व मेकलीन जैसे आदमियोंने भारतीयोंके विरुद्ध गन्दा प्रचार किया। ओल्डहममें किये गये भाषण में मेक्लीनने हिन्दुओंको गुलाम और मुसलमानोंको 'ठेकेपर लिये गये गुलाम' नामसे सम्बोधित किया। भारतकी सुधारोंकी माँगोंके बारेमें वे जोरोंसे यह कहते थे कि "हमने भारतको तलवारके जोरसे जीता है और उसीके जोरसे हम उसे अपने अधीन रखेंगे।" नौरोजीने इसका विरोध किया—"मिस्टर मेक्लीन सदृश लोग, भिन्न भिन्न परिषदोंमें निर्वाचित सदस्योंके अनुपातकी भारतीय प्रार्थनाको गलत ढंगसे पेश करते हैं। मुझे यह बात दुहराते हुए दुःख होता है कि मिस्टर मैक्लीन जैसे लोग जाति-विद्वेष, घृणा और बदलेकी भावना फैलाकर भारतमें अँगरेजी सत्ताको कमजोर बनानेमें या उसे खत्म करनेमें सबसे बड़े साधक सिद्ध होंगे।"

लेकिन इंगलैण्ड-स्थित भारतीय विद्यार्थियोंने अधिक जोरदार विरोध किया। मैक्लीन के शब्दोंको उन्होंने भारतकी बेइज्जती समझा। उन्होंने ओल्डममें एक सभा बुलायी और वहाँ मैक्लीनके व्यवहारकी भर्त्सना की। चितरंजनदास, जिनका भारतीय राजनीतिमें बादमें बहुत महत्वपूर्ण स्थान रहा, उस समय, कुछ ही महीनों बाद होनेवाली सिविल सर्विसकी परीक्षाके लिये तैयारी कर रहे थे। उन्होंने भारतके मित्रोंको एक्सीटरमें इकट्ठा किया और और उनके बीचमें बोलते हुए कहा "महाशयो, मुझे यह जानकर दुःख हुआ कि एक मर्तबासे ज्यादा पार्लमेंटरी भाषणोंमें यह बात कही गयी है कि इंगलैंडने तलवारके जोरसे भारतको जीता

है और तलवारके जोरपर वह भारतकी अधीनताको बरकरार रखेगा (शर्म)। इंगलैंड्ने, महाशयो, ऐसा कोई कार्य नहीं किया। यह उसकी तलवार नहीं थी और न संगीन थी, जिसने इस शानदार और वृहत् साम्राज्यको जीता है। और न यह विजय सैनिक-शूरताके बलपर मिली है। यह मुख्यतया नैतिक विजय या नैतिक उत्कर्ष था, जिसका इंगलैण्डको सही गर्व हो सकता है।" 'भारतका सवाल' चुनाव-आन्दोलनमें विवादका आम सवाल बन गया। सी. आर. दासको कई स्थानोंसे सभाओंमें भाषण करनेका निमन्त्रण मिला। ओल्डमकी सभामें उन्होंने विधान परिषदको "सफेद झूठ, धोखेकी टट्टी और निरर्थक आडंबर" कहकर निन्दा की। हमारे यहाँ परिषदोंमें ऐसे आदमी हैं जिनको वहाँ होनेका कोई अधिकार नहीं है और ऐसे आदमी परिषदोंमें नहीं लिये गये हैं जिनके बिना किसी देशकी भी विधान-परिषद पूर्ण नहीं हो सकती। हम ठीक ढंगके भारतीयोंको चाहते हैं, परन्तु हिज ऐक्सेलेंसी वाइसरायने इस बातकी विशेष परवाह की है कि सिर्फ एक खास साँचेके लोगोंको परिषदमें नामजद किया जाय, वे आदमी जो या तो कम बुद्धिके हैं या उनसे सहमत हैं—वे आदमी जो मेरे असंख्य देशवासियोंसे बिलकुल अनभिज्ञ हैं और जिनको आप लोग इस देशमें रईसीके नमूने कहेंगे।"

१८९२ की काँग्रेसका स्थान इलाहाबाद चुना गया और नौरोजी अध्यक्षताके लिए मनोनीत हुए! परन्तु पार्लमेन्टके चुनावमें उनके विरोधीने मत-पत्रोंकी दुबारा जाँचके लिए आवेदन किया जिसके कारण उनको इंगलैण्डमें रुकना पड़ा। इसलिए प्रथम काँग्रेसके अध्यक्ष डब्लू. सी. बैनर्जी इस अधिवेशनके भी अध्यक्ष बनाये गये। लार्ड क्रॉसका भारत विधेयक अब कानून बन गया था और बैनर्जीने इसको "पहली खुशखबरी" बताया! परन्तु उन्होंने आगे कहा "यह कानून वास्तवमें कुछ ज्यादा देनेका वादा नहीं करता" फिर भी "इस कानूनके अन्तर्गत बननेवाले नियमोंसे इसमें काफी विस्तारकी गुंजाइश है।" काँग्रेसने 'राजभक्तिकी भावना' से इण्डियन कॉउन्सिल-ऐक्टको इस खेदके साथ, कि इस कानून द्वारा लोगोंको परिषदोंमें अपने निर्वाचित प्रतिनिधि भेजनेका अधिकार नहीं दिया गया, स्वीकार-कर लिया।

नौरोजीके विरूद्ध चुनाव याचिका खारिज कर दी गयी। अब उन्होंने अपनेको भारतके मामलोंमें पार्लमेंटके सदस्योंमें दिलचस्पी पैदा करनेके काममें लगा दिया और करीब डेढ़ सौ सदस्योंकी एक पार्लमेंटकी समिति बन गयी। इंग्लैंडमें प्रचार करनेके लिए 'इण्डिया' नामक पत्रिका भी निकाली गयी।

१८९३ में लाहौरमें होनेवाले कांग्रेसके नवें अधिवेशनके अध्यक्ष फिर नौरोजो चुने गये जब नौरोजी हिन्दुस्तानके लिए रवाना हो रहे थे तो पार्लमेंटके करीब सत्तर अस्सी वामपक्षी और आयरलैण्डके सदस्योंने उनको पूरी सहायताका वचन दिया। उनके नेता डेविटने नौरोजीकी रवानगीसे दो दिन पूर्व उनसे कहा था "काँग्रेसमें जाकर अपने सहयोगियों से यह कहना मत भूलिये कि पार्लमेंटमें आयरलैंडके होमरूलके सदस्य भारतीय जनताकी माँगके समर्थनमें आपके साथ हैं।" इनके अलावा "नौरोजीने कहा कि ऐसे सदस्य भी काफी बड़ी संख्यामें हैं जिनको हम अपना सहायक समझते हैं और जिनको हम जल्द ही भारतीय पार्लमेंट-समितिके सदस्य बनानेकी आशा भी करते हैं।" समितिकी सदस्यता बढ़ कर डेढ़ सौ हो गयी।

भारतके नौजवान दादाभाईमें अगाध श्रद्धा रखते थे। जब वे घोड़ोंसे जुती एक

गाड़ीमें काँग्रेस पंडाल ले जाये जा रहे थे, तो कुछ विद्यार्थी वहाँ दौड़ते हुए आये और घोड़ोंको खोल कर खुद ही अध्यक्षकी सवारी खींचने लगे। सर विलियम हण्टरने टाइम्समें इस पर लिखा "स्वदेश पहुँचने पर जैसा स्वागत श्रीदादाभाई नौरोजीका हुआ, उसकी तुलना वाइसरायके भी केवल एक बारके स्वागतसे की जा सकती है। लाहौरमें महाराणा रणजीत सिंहके बाद ऐसा शानदार स्वागत किसीका भी नहीं हुआ।"

अपनेसे पहलेके अध्यक्षोंके भाषणोंसे नौरोजीके अध्यक्षपदसे किये गये भाषणमें स्वागत-योग्य भिन्नता थी क्योंकि इसमें देशकी आर्थिक और राजनीतिक दशापर प्रकाश डाला गया था। उन्होंने कहा कि १८६१ के अधिनियम द्वारा कोई भी सदस्य, गवर्नर जनरलकी पूर्व स्वीकृतिके बिना सार्वजनिक ऋण, सार्वजनिक आय, या इसपर किसी तरहका प्रभार डालनेके सम्बन्धका प्रस्ताव पुरःस्थापित नहीं कर सकता और न शाही फौजों या जहाजी बेड़ेके अनुशासन या उनके कायम रखनेके खर्च सम्बन्धी कोई भी प्रस्ताव उपस्थित कर सकता है। इसके मानी यह हुए कि जहाँतक हमारे धनके खर्च करने आदिका सवाल है, विधान परिषदका होना न होना बराबर है। (शर्म, शर्मके नारे)। पहलेसे पेश किये प्रस्ताव या उनसे सम्बंधित बहसके अलावा सदस्योंको अन्य विषयोंपर प्रस्ताव पेश करनेकी अनुज्ञा नहीं मिल सकती। इसलिए सरकार या उसके विभागोंसे उनके कामोंके लिए जवाबतलब करनेका कोई अवसर ही नहीं मिल सकता। भारत सचिवकी कारखाइयोंमें इतनी ताकत और प्रामाणिकता होती है जैसे ऐक्ट बना ही न हो। यह निरंकुश सत्ताका एक उदाहरण है। १८९२ के ऐक्ट द्वारा, आर्थिक मामलोंपर बहसके समय मतविभाजन कराने, या इस ऐक्टमें पूछे गये किसी भी प्रश्नका उत्तर देने, या राय और प्रस्ताव पेश करनेका अधिकार किसी भी सदस्यको न होगा। कानून अथवा नियम बनानेके उद्देश्यसे की गयी सभाओंमें इस ऐक्टके अन्तर्गत बने नियम न तो बदले जा सकेंगे और न उनमें संशोधन किये जा सकेंगे।"

मालवीयजीने, जो उन चन्द लोगोंमें थे, जो हर कांग्रेसमें लोगोंको याद दिलाते रहते थे कि अंग्रेजोंने किस तरह भारतका शोषण किया था, १८९३ की कांग्रेसमें भाषण करते हुए कहा "वे बुनकर कहाँ हैं? वे भिन्न-भिन्न उद्योग-धन्धोंसे अपना पेट पालनेवाले लोग आज कहाँ हैं? और वे औद्योगिक वस्तुएँ कहाँ हैं जो प्रतिवर्ष इंगलैण्ड और दूसरे यूरोपीय देशोंमें बड़ी संख्यामें भेजी जाती थीं? ये सब बीती बातें हो चुकी हैं। यहाँपर बैठे सब लोग विलायती कपड़े पहने हुए हैं। आप जहाँ भी जायें, हर जगह आपको विलायती माल व अंग्रेज कारीगरोंकी बनी चीजें भरी मिलेंगी। देशी आदमियोंके पास दयनीय जीविका-का एक ही साधन, खेती, बचा है। वे इस एकमात्र साधनसे नहींके बराबर लाभ उठाते हैं। नौकरियों और व्यापारमें लोगोंको जितना पचास साल पहले लाभ और मुनाफा होता था आज उसका सौवाँ हिस्सा भी नहीं मिलता। फिर यह किस प्रकार संभव है कि देश सुखी हो?।"[1]

जी. सुब्रमण्य ऐयरने जो अर्थशास्त्रके विद्वान थे, आँकड़ों और तथ्योंसे कांग्रेस अधिवेशनोंमें अंग्रेजों द्वारा भारतकी लूटखसोटका पर्दाफाश किया। उन्होंने बताया कि किस प्रकार कोलारकी सोनेकी खानोंसे हर साल बीस करोड़ रुपयेका सोना इंगलैण्ड भेजा जाता है और एक समय आयेगा जब मैसूरमें सिवाय कंकड़ पत्थरोंके और कुछ भी बाकी

१. बेसेण्ट, वही पुस्तक, पृष्ठ ४२

न बचेगा। अपने लेखोंके कारण उनको जेलमें बन्द कर दिया गया जहाँसे वे रोगसे जीर्ण-शीर्ण होकर लौटे।

लाहौर अधिवेशनके अपने एक भाषणके कारण श्री जी० के० गोखले सरकारके कोप-भाजन बन गये। भारत और इंगलैण्डमें सिविल सर्विसकी एक साथ परीक्षाएँ होनेके प्रश्नके ऊपर, और भारतीयोंके लिए जो कुछ भी नौकरियोंके द्वार खुले हैं उनको बन्द करनेकी सरकारकी नयी नीतिकी निन्दा करते हुए उन्होंने कहा "अगर हर चीजको अविश्वासकी निगाहसे देखनेवाली हकूमत जल्द ही नहीं बदलती तो इस दरिद्र देशका भविष्य अंधकार-मय है।" इस चेतावनीके उल्टे अर्थ लगाये गये और गोखलेको "शत्रु समझा जाने लगा तथा उनके पीछे खुफिया पुलिस लगा दी गयी।"[1]

हर ऐसी बुराई, जिससे सरकार व दूसरे अंगरेजोंकी जेबमें धन जाता था और जिससे अंगरेजी सत्ताको कायम रखनेमें सहायता मिलती थी, सरकार द्वारा प्रश्रय पाती थी। कांग्रेसका विरोध भी इस नीतिमें बाधक नहीं बन पाया। बार-बार कांग्रेसने सरकारका ध्यान दिलानेकी कोशिश की कि पुलिस लूटती और जुल्म करती है। जमीनोंकी लगान वसूलीका अस्थायी ढंग किसानोंको तबाह किये दे रहा है, न्याय और प्रशासनके संयुक्त होनेका बेजा फायदा उठाकर मैजिस्ट्रेट जिनको भी पाते हैं उन्हें डराते धमकाते हैं, और उनपर जुल्म करते हैं, राजद्रोहके नामपर लोगोंको जेलोंमें भर दिया जाता है। पर इस सब विरोधका कोई फल नहीं निकला।

लगभग हर अधिवेशनमें कांग्रेसने इंगलैण्ड और भारतमें एक साथ सिविल सर्विसकी परीक्षा लेनेकी माँग उठायी और जब १८९३ में लोकसभाने एक प्रस्ताव द्वारा इसको स्वीकार भी कर लिया तो भारत सचिवने अड़ंगा लगा दिया। उनका कहना था कि प्रस्तावके ऊपर वोट जल्दीमें ले लिये गये थे। इस सिलसिलेमें उन्होंने भारत और प्रान्तीय सरकारोंकी सम्मति चाही। सिवाय मद्रासके हर प्रान्तने इसका विरोध किया। भारत सचिव-ने परीक्षा विषयक प्रस्तावको फाइलोंमें बन्द करके रख दिया। इसके विपरीत, सिविल-सर्विसमें जो कुछ थोड़ी-सी नियुक्तियाँ भारतीयोंकी हुई थीं, सरकारने भारतीयोंको उनसे भी वंचित करनेकी ठानी। १८९३ में सिविल-सर्विसमें एक हजार यूरोपियनोंके मुकाबलेमें सिर्फ बीस भारतीय थे। कर्जन द्वारा नियुक्त पुलिस-समितिने भारतीयोंको विशेष पुलिससे भी वंचित कर दिया। यूरोपियनोंके लिए भारत शिकारगाह बन गया। बिसमार्क जैसे आदमियों-को भी भारतमें नौकरी करनेका लालच होने लगा। "मैं अंगरेजी झंडेके नीचे भारतमें नौकरी करना चाहता था" बिस्मार्कने अपनी जवानीमें कहा था "मगर फिर मैंने सोचा कि आखिर भारतीयोंने मेरा क्या बिगाड़ा है!"[2]

१८९४ में मद्रास कांग्रेसमें आयरलैंड निवासी श्री अल्फ्रेड वेब (पार्लमेंटके सदस्य) अध्यक्ष निर्वाचित हुए। उन्होंने करुण शब्दोंमें भारतकी दरिद्रता और इंगलैंडकी प्रतिदिन बढ़ती हुई अमीरीका वर्णन किया। जब कि इंगलैण्डकी जनताकी सालाना आमदनी प्रति मनुष्य ३३ पौण्ड १४ शि० थी, भारतीयोंकी केवल २ पौ० या उससे कुछ अधिक थी। १८४० और १८८८के बीच इंगलैण्डकी सालाना बचत ११०,०००,००० पौण्ड या ३००,००० पौंडसे

१. बेसेण्ट, वही पुस्तक पृ० १४७

२. बर्टरेण्ड रसेलकी पुस्तक फ्रीडम एण्ड ऑर्गनाइजेशनसे उद्धृत पृ० ४१६

ऊपर प्रति दिनकी आँकी गयी। यह सब धन और दौलत कहाँसे आयी ? वेबने स्वयं इसका उत्तर देते हुए कहा "१८८२ और १८८३में भारतमें फौजोंके ऊपर खर्चा १,८३,५९,००० रु० हुआ (इसमें अफगानिस्तानके ऊपर होनेवाला १७००० रु० और मिस्रके ऊपर होने वाला १३,०८,००० रु० भी शामिल है) । १८९३में यह खर्च २७% बढ़कर २३,८७७,००० रु० हो गया परन्तु इस बढ़े हुए खर्चेका लाभ अँगरेजी और देशी फौजोंको बराबर बराबर नहीं हुआ । यूरोपीयन अफसरोंकी पेंशनें ३७ फी सदी बढ़ा दी गयीं और देशी अफसरोंकी केवल ११ फी सदी । अँगरेजी आम फौजी सिपाहियोंपर १३ फी सदी ज्यादा खर्च किया जाने लगा जब कि देशी आम फौजियोंपर पहलेसे भी ४ फी सदी कम ।

"तुमसे कर द्वारा वसूल किये हुए रुपयेसे बाहर किये जानेवाले खर्चकी रकम १८८२ में १,७३,६९००० रु० से बढ़कर १८९२में २,२९,११,००० रु० हो गयी । पिछले सालोंमें यह धन तुम्हारे कुल खर्चेका २३ फीसदी होता था, बादमें यह २५ फीसदी हो गया । कोई भी देश हमेशा इतना बड़ा बोझा नहीं उठा सकता । यह बढ़ोतरी मुद्रा-विनिमयकी दर बदलनेके कारण नहीं हुई ।"

अधिवेशनमें दो नये लगनेवाले करोंपर काफी उत्तेजना रही । करोंमेंसे एक भारतमें बननेवाले रुईके मालपर विदेशी मालके बराबर कर लगाना था—यह बात साफ थी कि करोंमें बराबरी लंकाशायरके कपड़ोंके मिल-मालिकोंके इशारोंपर की गयी थी—और दूसरा १८६१के भारतीय पुलिस ऐक्टमें संशोधनके कारण, जिससे गड़बड़ोंके क्षेत्रोंमें रखी जानेवाली दण्ड-पुलिसका खर्चा करके रूपमें वसूल किया जाता । अंग्रेजों द्वारा शासित देशी रियासतोंमें अखबारों पर लगाये गये प्रतिबन्धों और इन नये करोंका कांग्रेसने काफी विरोध और निन्दा की । १८९१में बिना राज प्रतिनिधि पोलिटिकल एजेंट की आज्ञाके किसी भी अखबारके छपाने, सम्पादन व प्रकाशनपर सरकारने एक विज्ञप्ति द्वारा रोक लगा दी । इस कानूनकी अवज्ञा करनेवालेको रियासतसे निकालेकी सजा मिल सकती थी ।

१८९५में पूनामें होनेवाले अधिवेशनमें सुरेन्द्रनाथ बैनर्जीने अध्यक्षपदसे भाषण करते हुए तथ्यों और आँकड़ोंसे यह सिद्ध कर दिया कि १८९२के सुधार सिर्फ ढोंग हैं और वास्तव में इंगलैण्ड भारतको आर्थिक दृष्टिसे बर्बाद कर रहा है ।

पूना काँग्रेसमें (१) सर्वोच्च विधान-परिषदमें पेश किये गये वकालती विधेयक, (legal practitioners bill) पर जिसके द्वारा प्रान्तोंमें वकीलोंको जिला जजों और मालगुजारीके कमिश्नरोंके अधीन कर दिया गया था, विरोध प्रकाश किया । (२) सरकारसे प्रार्थना की गयी कि वह तीसरे दर्जेके मुसाफिरोंकी शिकायतें दूर करे । (३) सर्वोच्च परिषदमें मध्य-प्रदेशका एक प्रतिनिधि स्थानीय संस्थाओंसे सलाह किये बिना नामजद करनेकी निन्दा की गयी और इसको अवनतिकी तरफ जाना बतलाया । (४) सरकारसे मांग की गयी कि दक्षिणी अफ्रीकाके भारतीयोंकी कठिनाइयाँ दूर की जायँ (५) माँगकी गयी कि भारतके बाहर हुए युद्धोंके खर्चका सारा भार भारतपर न डाला जाय ।

१८९६ का अधिवेशन कलकत्तेमें हुआ, जिसकी अध्यक्षता, बम्बईके वकील और उसी साल केन्द्रीय विधान परिषदके निर्वाचित सदस्य श्री रहीमतुल्ला एम. सायनीने की । उन्होंने बम्बई विश्वविद्यालयके फेलोकी हैसियतसे, बम्बई कारपोरेशनके अध्यक्षके पदसे और बम्बई विधान परिषदके सदस्यकी हैसियतसे, तीस वर्षोंसे सार्वजनिक कामोंमें

हिस्सा लिया था। इसी अधिवेशनमें श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुरने 'वन्दे मातरम' गाया था जो बादमें राष्ट्रीय गीत बन गया। "जिस समय कविने अपनी कोयल सी सुरीली आवाजमें यह गाना गाया जिसके साथ बाजा उनके भाई ज्योतीन्द्रनाथ बजा रहे थे, उस समय अधिवेशन मन्त्रमुग्ध सा हो उठा। उपस्थित श्रोताओंकी रगोंमें विद्युत् लहरी-सी दौड़ गयी।"

इसी साल देशके बड़े भागमें फिर एक भयंकर अकाल पड़ा। बिहार, उत्तर-पश्चिमी सूबा, पंजाब, मध्यप्रदेशके कुछ भागों, बम्बईके कुछ जिलों, मद्रास और मैसूरमें पानी न बरसा और सूखा पड़ गया। एकदमसे गल्लेकी कीमत पचाससे सौ फी सदी बढ़ गयी। वे लोग जो रोज कुआँ खोदते और पानी पीते हैं, बुरी दशामें थे। कई जगहोंसे गल्लेके लूटने और दंगा-फसाद होनेकी खबरें आयीं। जैसा कि श्रीसायनीने अपने भाषणमें बतलाया, सरकारी आँकड़ोंके अनुसार भारतमें हर साल ५०७'६ लाख टन गल्ला पैदा होता है और हर आदमी पीछे तीन पाव प्रतिदिनके हिसाबसे भारतकी आवश्यकता ५०८ लाख टन गल्ला सालानाकी थी जिसका मतलब यह हुआ कि भारत अपनी जरूरत भरके लिए गल्ला पैदा कर लेता था, मगर चूँकि भारतको हर साल २९ लाख टन अनाज विदेशोंको लाचारीसे निर्यात करना पड़ता था, एक करोड़ जनताके खानेके लिये अनाज नहीं बचता था। कमीवाले सालमें इस एक करोड़ जनताकी भुखमरीका असर दूसरे कई लाख आदमियोंपर पड़ता था, और वे सबलोग अधभूखे और दुर्दशाग्रस्त रहते थे। निर्यात पैदावारपर एक जबरदस्त बोझा था जिसके कारण अकालके लिए अनाज इकट्टा नहीं किया जा सकता था।

१८९६ की कांग्रेसके मुख्य प्रस्तावमें देशकी दुर्दशा दिखलायी गयी थी। प्रस्तावमें कहा गया था "कांग्रेसका यह अधिवेशन लगभग पूरे देशमें अकाल पड़नेपर घोर चिन्ता प्रकट करता है और इस अकाल-स्थिति व पिछले सालोंके अकालोंका मूल कारण जनताकी भयंकर दरिद्रताको मानता है। अत्यधिक कर, लोगोंकी आमदनीको ज्यादा आँककर ज्यादा कर लगाने और इस प्रकारसे भारतकी दौलत लूटकर फौजी व अन्य सरकारी विभागों द्वारा फजूल खर्चीसे उसका दुरुपयोग करनेकी नीति भारतीय जनताकी भयंकर गरीबीका असली कारण है। लोग इतने गरीब हो गये हैं कि अनाजकी जरा-सी कमी हो जानेसे वे एकदमसे असहाय हो जाते हैं। उनको सरकारी मदद या निजी दानकी सहायताके बलपर ही भुखमरीसे बचाया जा सकता है। कांग्रेसकी रायमें, किफायत और कम खर्चेकी नीति अपनाकर, देशके साधनोंका सदुपयोग कर, विभिन्न देशी उद्योग धन्धों और कलाओंको प्रोत्साहन देकर, जो आज लगभग खत्म हो गयी हैं, नये उद्योगधन्धे व कलाओंको खोलकर अकालकी पुनरावृत्ति रोकी जा सकती है।" भारतको अनाजका निर्यात कर बाहरसे कारखानोंका माल मँगाना पड़ता था।

कांग्रेसने यह भी माँग की कि (१) जबतक जाँच समिति द्वारा किसी राजा या सरकारका कुशासन या बुरा व्यवहार सिद्ध न हो जाय, उसको गद्दीसे न उतारा जाय। (२) बम्बई और मद्रासकी प्रशासन कार्यकारिणीमें भारतीय सदस्योंको लिया जाना चाहिये।

अध्याय ७

आतंकवादका आरम्भ

१८९७ में भारतीय आकाशपर प्राकृतिक संकटोंके—भूकम्प व प्लेगकी महामारीके—काले बादल छाये हुए थे। राजनीतिक वातावरणमें भी राजनीतिक हत्याओं, बालगंगाधर तिलककी कैद, कुछ राजनीतिक कार्यकर्त्ताओंके निष्काशन; तथा स्वशासन संस्थाओंके अधिकार-क्षेत्रमें संकीर्णताकी नीतिसे उथल-पुथल मची हुई थी। जैसा कि स्वाभाविक था, इस दौरके समय राजनीतिक सक्रियतामें भी काफी वृद्धि हुई। यद्यपि तिलक अपने कांग्रेस अधिवेशनोंके भाषणों और अपनी दो पत्रिकाओं—मराठीमें केसरी और अंग्रेजीमें मराठा—द्वारा प्रसिद्धि पा चुके थे, वे भारतीय राजनीतिमें १९९७में एक नये नक्षत्रकी भाँति चमके। अकाल पहिले ही बरबादी ला चुका था और उसके बाद कोढ़में खाजकी तरह प्लेगने भी एक बड़े क्षेत्रको आक्रान्त कर दिया। बम्बई और पूनामें प्लेगके कारण त्राहि त्राहि मच गयी। सरकारने प्लेगकी रोक-थामके लिए कुछ उपाय किये और श्री डब्लू.सी. रेंडको प्लेग कमिश्नर नियुक्त किया। प्लेगवालोंके लिए अलग जगहें नियत कर दी गयीं जहाँ इस रोगसे पीड़ित रोगी ले जाये जाते थे। तिलकने इस कार्यमें सरकारको सहयोग दिया और स्वयं भी एक प्लेग-अस्पताल खोल दिया। परन्तु जब बीमारोंके सहायतार्थ नियुक्त फौजियोंने औरतोंकी बेइज्जती करने और पूजाके स्थानोंको गन्दा करनेके अलावा आदमियोंको तरह-तरहसे परेशान करना शुरू कर दिया तो तिलकने अपना सहयोग वापस ले लिया और इस मामलेकी चर्चा अपने पत्रोंमें की। दक्षिण भारतके दो सरदारों बलवन्त राव नातू और हरि-पंत रामचन्द्र नातूने प्लेग द्वारा लायी हुई बर्बादी और फौजियोंकी ज्यादतीका एक विस्तृत विवरण, इंगलैण्डमें कांग्रेस नेता श्री गोपालकृष्ण गोखलेको लिखकर भेज दिया। गोखलेने इसका निम्नलिखित संक्षिप्त विवरण अंग्रेजी अखबारोंमें प्रकाशित करवाया—

"प्रतीत होता है कि दूसरे तरीकोंके होते हुए भी फौजी सिपाहियोंने मकानोंका निरीक्षण, बिना जरूरत, जबरदस्ती घुसकर किया था। दुकानदारों व मकानमालिकोंकी अनुपस्थितिमें दुकानों व मकानोंके ताले तोड़ डाले और मकान व सामानकी रक्षापर जरा भी ध्यान नहीं दिया। फौजियोंके खिलाफ शिकायतोंपर कोई ध्यान नहीं दिया गया। एक फौजीने एक हिन्दू महिलापर आक्रमण किया और जब श्री नातूने इसकी शिकायत सबूत सहित अधिकारियोंसे की तो भी इसको दबा दिया गया। फौजियोंके ऊपर बश न चलनेके कारण उनके विरुद्ध शिकायतोंकी अवहेलना की जाती है। एक आदमीके बीमार पड़नेपर इसके पास-पड़ोसके लोगोंको संक्रामक कैम्पोंमें जबरदस्ती ले जाकर बिना सामानके छोड़ दिया गया। उनके पास तन ढँकनेको कपड़ा भी न था और घरोंपर उनकी गाय, भैंस और घोड़े बिना देख-रेख करनेवालोंके यों ही छोड़ दिये गये थे। बिना आवश्यकता एक आदमीको अस्पताल भेज दिया गया। जाँचमें मालूम हुआ कि उसको प्लेग नहीं हुआ है, मगर घर वापस आने पर उसे मालूम हुआ कि इसका सारा सामान तहस-नहस कर दिया गया है।

उसकी बीबी व उसके रिश्तेदारोंको जबरदस्ती संक्रामक कैम्पोंमें भेजकर वहीं रोक लिया गया है। फौजियोंने मन्दिरोंको भ्रष्ट किया और श्री नातूका विश्वास है कि उनके निजी मन्दिरको केवल इस कारण अपवित्र किया गया कि उन्होंने फौजियोंकी शिकायत करनेका साहस किया था। एक बुड्ढे आदमीके जाँच करनेवालोंको यह विश्वास दिलानेपर भी कि वह प्लेगसे पीड़ित नहीं है उसे जाँचमें बाधा पहुँचानेके नामपर कई घण्टे जेलमें बन्द रखा गया। बाधासे मतलब यह था कि उसने विश्वास दिलानेमें देर की। स्वयंसेवकोंको सेवाका पुरस्कार क्या मिला? अपमान। उनके सुझावोंको उनकी धृष्टता समझा जाता था। यह बात आप सब लोगोंको मालूम है कि आपकी मुसलमान प्रजा अपनी औरतोंके परदेके मामलेमें किस कदर ज्यादा भावुक है, और जब श्री नातूने यह सुझाव पेश किया कि मुसलमान घरोंकी जाँचके लिए मुसलमान स्वयंसेवकोंकी सेवाएँ इस्तेमाल की जायँ तो उन्हें जवाब मिला कि उनका यह व्यवहार अनधिकार चेष्टा है और उनकी भी सेवाएँ समाप्त कर दी गयीं। श्री नातूने इस मामलेकी शिकायत हाकिमोंसे की और कहा कि जाँच-पड़ताल-के तरीके सरकारी नियमोंकी भावनाके विरुद्ध हैं, जिनके कारण बड़ा असंतोष फैलता जा रहा है।"[1]

अपने इस 'अपराध'के कारण नातू भाइयोंको १८२७ के पुराने और लुप्तप्राय बम्बई-कानूनकी पचीसवीं धारा, जिसकी तुलना १८१८ के बंगाल-कानूनसे की जा सकती है, के अन्तर्गत, दो वर्षोंके लिए देश-निकालेकी सजा मिली। भारत वापस आने पर गोखले भी, अंग्रेजी अखबारोंमें प्रकाशित अपने वक्तव्योंके कारण, मुसीबतमें पड़े और उनको क्षमायाचना करनी पड़ी। सवाल यह उठा कि क्या गोखले अपने वक्तव्योंको प्रमाणित कर सकते हैं? अवश्य! परन्तु फिर भी उन्होंने क्षमा माँग ली, क्योंकि उनके वक्तव्य, नातू भाइयोंके अलावा, कतिपय गण्यमान्य व्यक्तियोंकी दी हुई खबरोंके आधारपर थे, और साबित करनेके लिए उन्हें इन सब व्यक्तियोंके नाम बताने पड़ते। इसीलिए गोखलेने क्षमा माँगना श्रेयस्कर समझा। गोखलेके जीवनी-लेखकके अनुसार "यह चर्चा आम तौरपर फैली हुई थी कि टाइम्सके सम्पादकने गोखलेका माफीनामा लिखा था और श्री रानाडेकी सम्मतिसे गोखलेने उसपर बिना हिचक दस्तखत कर दिया।"[2] आगे वे लिखते हैं "इस माफीनामेके कारण जनमत गोखलेके इतना खिलाफ हो गया कि अमरावती कांग्रेसमें उनका साहस भाषण करने तकका नहीं हुआ और अगर वे बोलनेका साहस करते भी तो जनता उनके 'कायरपन' पर उन्हें बिना लांछित किये न सुनती।"[3]

२२ जून १८९७ को सम्राज्ञीकी रजत जयंती मनायी गयी। उसी दिन जब रातके अंधेरेमें प्लेग कमिश्नर श्री रैंड, उनके सहकारी लेविस, लेफ्टिनेण्ट आइर्स्ट और उनकी पत्नी राज-भवनसे लौट रहे थे, किसीने अंधेरेसे निकलकर रैंडको गोली मार दी और वे तत्काल वहीं ढेर हो गये। दूसरी गोलियोंके लक्ष्य आइर्स्ट और लेविस थे। लेविस तो बच गये परन्तु आइर्स्टका प्राणान्त अस्पतालमें थोड़ी देर बाद हो गया। यह घटना पूनाकी है। "आंग्ल-भारतीय अखबारोंके गुटने इन हत्याओंके पीछे दुरभिसन्धि ढूँढ़ निकाली। संसारव्यापी इस

---

१. १८९७ की कांग्रेसमें राष्ट्रपति श्री सी० शंकरन नायरका भाषण

२. एन० सी० केलकर—लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ लोकमान्य तिलक, पृष्ठ-४१७

३. वही पुस्तक-पृष्ठ ४१८

उत्सवके दिन हुई इन राजनीतिक हत्याओंने, अखबारोंके गुटके अनुसार, यह सिद्ध कर दिया कि इनके पीछे ऐसा गहरा षड्यंत्र था जिसकी तैयारी केवल पढ़ेलिखे चालाक व्यक्ति कर सकते थे। पूनामें घटित हर घटनाको इस षड्यंत्रका अंग मान लिया गया। देशी अखबारों और शिक्षित भारतीयोंपर आक्षेप किये जाने लगे जिनमें ऐसी कटुता थी जैसी गदरके बाद पहले नहीं देख पड़ी थी। प्रति-बन्धक कानूनोंकी जोरोंसे माँग की जाने लगी। भारतीयोंको शिक्षा देनेकी नीतिका विरोध किया जाने लगा। इंगलैण्डके अखबारोंको भड़काया गया। यहाँतक कि यूरोपियनोंमें त्रास फैल गया। शिक्षित भारतीयों तथा देशी अखबारोंपर किया गया हमला कायरतापूर्ण और अत्यन्त कटु था। इस बातपर खेद प्रकट किया गया कि देशी लोग गदरका सबक भूल गये हैं और यह सुझाव दिया गया कि वैसा ही सबक पाने पर ये लोग सीधे हो जायेंगे। यह दुराग्रह किया गया कि देशी अखबार राजद्रोही हैं और वे ही हत्याओंके लिए जिम्मेदार हैं। आंग्ल-भारतीय अखबारोंने प्लेग सम्बन्धी सरकारी नियमोंकी कड़ी आलोचना करनेवाले तिलकको सजा देनेकी माँग की। अंगरेजी अखबारोंके अनुसार, इस द्वेषपूर्ण हमलेसे आंग्ल-भारतीय समाजमें फैले हुए त्रासने, व अँगरेजी जनताको गुस्सा दिलानेमें मिली हुई दुर्भाग्यपूर्ण सफलताने भारत-सचिव लार्ड सेण्डहर्स्टको सख्त कदम उठानेके लिए लाचार कर दिया। ऐसा समझा जाता है कि यदि उनपर यह दबाव न पड़ता तो वे इतनी कठोरता न बरतते।"[1]

अब तिलक और कुछ भारतीय पत्रिकाओंके सम्पादकोंकी बारी आयी। उनको कैद करके भिन्न-भिन्न सजाएँ दी गयीं। एक देशी अखबारने प्रकाशन बन्द करते समय इन शब्दोंमें विदाई ली—"आजकी परिस्थितिमें अखबार चलाना सम्भव नहीं है। इसलिए, हम लोग जो अपना पेट दूसरे उपायोंसे भर सकते हैं, आपसे विदाई लेते हैं। अब हमको प्रकाशित खबरों और लेखोंकी जवाबदेहीके लिए डिप्टी कमिश्नरके बँगलेपर रोज हाजिरी देनेकी कोई जरूरत नहीं है।"

१८९६-९७ के अकाल और महामारीसे उग्र राजनीतिको बहुत बढ़ावा मिला। अशान्तिकी एक नई लहरके लक्षण प्रकट होने लगे थे, जिसको समझनेके लिए हमें तिलक और उनके कार्योंसे अवगत होना पड़ेगा। १९१० में प्रकाशित अपनी किताब 'इण्डियन-अनरेस्ट'के लिए जब वैलेंटाइन शिरोल सामग्री इकट्ठी कर रहे थे तो उन्हें सलाह दी गयी थी कि यदि वे भारतीय-अशान्तिके मनोविज्ञानका अध्ययन करना चाहते हैं तो उन्हें तिलकके जीवन-चरित्रसे शुरू करना चाहिये। शिरोलके कथनानुसार, "यह सलाह अमूल्य थी क्योंकि यदि कोई भी आदमी 'भारतीय-चेतना'का जनक होनेका दावा कर सकता है तो वह बालगंगाधर तिलक हैं।"

तिलक चितपावन ब्राह्मण थे, और उस समयके चितपावन ब्राह्मणोंके बारेमें शिरोलने कहा है कि "उनकी महान शासनात्मक योग्यताओंका लोहा मानना पड़ता है। सरकारी कर्मचारियोंमें आज भी उनकी संख्या उसी प्रकार अधिक है जिस प्रकार कि नाना फड़नवीस (जो स्वयं चितपावन ब्राह्मण थे) के जमानेमें थी। हमारे समयके सबसे अधिक विद्वान और प्रगतिशील भारतीय चितपावन ब्राह्मणोंमेंसे हैं और उनमेंसे अनेकने अंग्रेजी सरकारकी सेवा राज-भक्ति और ईमानदारीसे की है। शायद यह सही है कि उनमेंसे अधिकांशके दिलोंमें

१. राष्ट्रपति श्री नायरका भाषण

पिछले सौ सालोंसे, पेशवाके पतनके बादसे, अंग्रेजी शासनके विरुद्ध घृणाकी परम्परा चली आ रही है—एक अमर-आशा कि शायद किसी दिन यह हुकूमत खत्म हो और उनकी सत्ता का सितारा चमके। यदि गदर-कालीन नाना साहब (चितपावन ब्राह्मण) और उनके साथियोंके शूरताके कारनामों या १८९७ के पूनाके रामोशी विद्रोहको छोड़ भी दिया जाय तो भी ये पूनाके ही अखबार थे जो ज्यादातर ब्राह्मणों द्वारा निकाले गये थे, जिन्होंने अंग्रेजी शासन और शासकोंके खिलाफ लड़ाईकी अगुआई की, जिसके परिणामस्वरूप १८९७ का 'प्रेस-एक्ट' बना।"[1] पेशवाओंके शासनकालमें राज्यके मुख्य पदोंपर चितपावनोंका ऐसा एकाधिकार हो गया था कि मरहठा साम्राज्य वास्तवमें चितपावन साम्राज्य बन गया था। शिरौलके अनुसार रैंड और आइर्स्टकी हत्याएँ करनेवाला कोई चितपावन ब्राह्मण ही था।

जब तिलकने १८८०-९० के पूर्वार्द्धमें सार्वजनिक कामोंमें हिस्सा लेना शुरु किया उस समय रानाडे बम्बईके एक प्रसिद्ध नेता थे। रानाडे नरमदलीय राजनीतिज्ञ थे, परन्तु तिलक सब्र रखनेमें असमर्थ थे। रानाडेके विरोधमें वे उग्रदलीय हो गये। उन्होंने अपने आपको, अंग्रेजी शासनके विरुद्ध लोगोंके दिलोंमें नफरत फैलाकर उन्हें लड़नेके लिए तैयार करनेके काममें सम्पूर्ण शक्तिसे लगा दिया। "वे 'सीधी-लड़ाई'के महत्वके प्रशंसक थे और उस समयकी कांग्रेसमें प्रचलित वैधानिक लड़ाईके ढंगको हेय समझते थे। आशय यह कि भारतमें वामपक्षी दलके वास्तविक जनक तिलक ही थे।"[2] नौजवानोंके संघटन बनाये गये जहाँ उनको लकड़ी चलाने व कुश्ती लड़नेकी शिक्षा दी जाती थी। '१९१८ में सरकार द्वारा नियुक्त राजद्रोह जाँच समितिकी रिपोर्टके अनुसार उत्सवोंपर पर्चे बाँटे जाते थे जिनमें "मरहठोंको शिवाजीकी भाँति विद्रोह करनेको उकसाया गया। पर्चोंमें ऐलान किया गया था कि विदेशी सत्ताकी गुलामी हर दिलको चोट पहुँचाती है और उनको उकसाया गया कि विदेशी सत्ताको उखाड़ फेंकनेके लिए पहला कदम धार्मिक विद्रोह है।" तिलकके मतमें अँग्रेजोंको हटानेके लिए कोई भी हथियार अच्छा है, और इसके लिए उन्होंने अँगरेजोंके खिलाफ व देशभक्तिकी भावना भरनेके लिए नाटकों, त्योहारों व धार्मिक उत्सवोंका माध्यम चुना। इसी प्रकारका एक माध्यम गणपति-उत्सव था।" दक्षिणके प्रत्येक प्रमुख केन्द्रमें गणपति समाज स्थापित किये गये। प्रत्येक गणपति समाजकी अपनी नाटक व भजन-मण्डली हुआ करती थी। उत्सवोंपर गाने गाये जाते थे व नाटक खेले जाते थे, जिनमें पौराणिक कथाओंकी आड़में विदेशी हुकूमतके खिलाफ घृणाका प्रचार किया जाता था। इनमेंसे एकमें जान-बूझकर लार्ड कर्जनपर व्यंग किया गया था। नाटकमें यद्यपि चरित्र सब पौराणिक थे मगर अपार दर्शकोंकी भीड़में सब समझते थे कि नाटकका असल इशारा किसकी तरफ है। सब इस रूपकका असली उद्देश्य समझ रहे थे—इंगलैण्डकी एक कमजोर सरकारने वाइसरायके हाथ सब सत्ता सौंप दी है और वे उसका इस्तेमाल भारतका अपमान करनेमें कर रहे हैं। नरमदलवादी वैधानिक उपायोंके पक्षमें थे। उग्र दलवादी उस समयकी प्रतीक्षा कर रहे थे जब इन नरम उपायोंकी व्यर्थता सिद्ध हो जायगी, तब तीव्र आघातोंका अवसर आयेगा। अत्याचारी शासकको बिना कठिनाई ठिकाने लगा, उसके साथियोंको

---

1. इण्डियन अनरेस्ट, पृ० ४०
2. जॉन कमिंग द्वारा सम्पादित 'पोलिटिकल इण्डिया' का एल० एफ० रशब्रुक विलियम्स द्वारा लिखित 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' अध्याय

तलवारके घाट उतार दिया जायगा। स्वदेशको स्वतन्त्र कर उग्रदलवादी आक्रमणकारियोंसे देशकी रक्षा करनेमें समर्थ होंगे। रूपकका असली आशय यह था जो सब दर्शक समझ रहे थे। दर्शक अत्याचारी शासकके ऊपर थू-थू करते, नरम दलवालोंकी कायरतापर रोष प्रगट करते, उग्रदलवालोंकी वीरताकी प्रशंसा करते और अन्तमें अत्याचारियोंके मर्दनपर उनमें सन्तोषकी लहर दौड़ जाती। तिलकने इस शक्तिशाली नाटकका उपयोग अपने पक्षका औचित्य दिखानेके लिए किया।"[1]

इन नाटकोंमें विदेशियोंको म्लेच्छ और उनसे सहयोग करनेवालोंको शत्रुके रूपमें दिखलाया जाता। उत्तेजनापूर्ण जुलूस निकाले जाते और पुलिसके खिलाफ नारे लगानेके लिए इन अवसरोंका उपयोग किया जाता। इन नारोंसे पुलिसवालोंको क्रोध आता, कभी-कभी मुकदमे भी चलाये जाते थे। इस सम्बन्धमें अधिकारियों द्वारा की गयी काररवाईका इस्तेमाल जनताको और जागरूक करने तथा प्रदर्शन करनेके लिए किया गया।

लोगोंके दिलोंमें शिवाजीकी याद ताजा करके तिलकने शिवाजीको एक बार फिर जीवित शक्ति बना दिया। इसका आरम्भ उन्होंने नष्टप्राय पड़ी हुई शिवाजीकी समाधिको ठीक करनेके सुझावसे किया। आत्मसम्मान जगानेके लिए उन्होंने लोगोंकी भर्त्सना की कि उन्होंने अपने राष्ट्रीय नेताके अन्तिम विश्राम-स्थलको नष्ट हो जाने दिया है। शिवाजीको अग्रिम पंक्तिमें लाकर तिलकने राष्ट्रव्यापी प्रचार शुरू किया जिसके परिणामस्वरूप १८९५ में दक्षिणमें राजनीतिक और सामाजिक कार्योंके कई केन्द्रोंमें उत्सव मनाये गये।

क्या शिक्षित और क्या अशिक्षित, दोनोंमें ही तिलक दिन प्रति दिन अधिक प्रसिद्ध होते जा रहे थे। १८९५ में स्थानीय संस्थाओंकी ओरसे बम्बई विधान परिषदमें भी वे अपना सरकार विरोधी आंदोलन चलाते रहे। भारतमें वे अकेले सदस्य थे जिनके भाषण निर्भय और ओजस्वी होते थे। १८९६ में जब देशके कई भागोंको एक जबरदस्त अकालने ग्रस लिया तो तिलकने दक्षिणमें 'कर-न-दो' आन्दोलन चलाया—उनके सन्देशवाहकोंने जगह-जगह जाकर प्रचार किया कि सरकारने एक सीमा नियत कर दी है जिससे ज्यादा फसल खराब होनेपर लगान बिलकुल माफ कर दिया जायगा। रैयतोंने उनका यकीन किया और जब सरकारी कारिन्दे वहाँ लगान वसूलीके लिए गये तो उन्होंने पैसा देनेसे इन्कार कर दिया। बात बढ़ी "यहाँतक कि बम्बईमें सम्राज्ञीकी मूर्ति नष्ट कर डाली गयी, चर्च मिशन हालको आग लगानेकी कोशिश की गयी और नरम दलवाले हिन्दुओंपर जिन्होंने इस कार्य-क्रममें साथ देना अस्वीकार किया, बहुधा हमले किये गये।"[2]

अंग्रेज-विरोधी आन्दोलनको चलानेके लिए तिलकको रूढ़िवादियोंसे भी हाथ मिलानेमें कोई हिचकिचाहट नहीं थी। १८९० में भारत-सचिवने सरकारसे केन्द्रीय परिषदमें सम्मति-विधेयक (कंसेन्ट बिल) पेश करनेको कहा जिसके द्वारा हिन्दू-कन्याओंकी विवाह-योग्य उम्र दससे बढ़ाकर बारह की जानेवाली थी। इस विधेयकको अपने धर्मपर किया गया आक्रमण घोषित कर बंगालके अखबारोंने विरोधका तूफान खड़ा कर दिया। ब्रिटिश इण्डिया एसोसियेशनने भी इसमें साथ दिया। अखबारोंमें इसकी अगुआई, अंग्रेजी साप्ताहिक अमृत-बाजार पत्रिकाने की। कुछ समय बाद इस आन्दोलनमें सर रमेशचन्द्र

१. सर फ्रांसिस यंग हस्बेण्ड, डान इन इण्डिया (१९३०) पृष्ठ ३६-३७

२. शिरोल 'इंडियन अनरेस्ट', पृ० ४७-४८

मित्तर (हाईकोर्टके न्यायाधीश और बादमें विधान-परिषदके सदस्य) और महराजा जतीन्द्र मोहन ठाकुर-जैसे लोग भी सम्मलित हो गये। इस विधेयकके विरोध-प्रदर्शनमें कलकत्तेमें एक सभा की गयी जिसमें एक लाखसे अधिक व्यक्तियोंने भाग लिया। सम्प्रति-विधेयकका विरोध भविष्यके राजनीतिक आन्दोलनकी तैयारी था। महाराष्ट्रमें इस आन्दोलनका नेतृत्व तिलकने किया। विधेयकके पक्षमें डा० भंडारकर, न्यायाधीश तेलंग, एन० जी० चन्द्रावरकर जैसे हिन्दू सुधारकोंके होते हुए भी, तिलक संघटन और प्रचार-कार्यमें आगे बढ़ते गये। केसरीमें विधेयकके पक्षमें खड़े होनेवाले हर हिन्दूको हिन्दुत्वके प्रति विश्वासघाती और स्वधर्म त्यागी कहा गया। इसका सामाजिक पहलू जो कुछ भी रहा हो, तिलकने विधेयकको अपने अंग्रेज-विरोधी प्रचारका एक और हथियार बना लिया। यूरोपियन लेखक तिलकको 'भारतीय-चेतनाका अग्रणी' मानते थे।"

अब हम तिलकके ऊपर चलाये गये मुकदमे और सजापर ध्यान दें। जैसा कि कहा जा चुका है तिलकने शिवाजीको अपने आंदोलनकी धुरी बनाया था और लोगोंकी भावुकताको उभाड़नेके लिए, तिलकके अनुयायी शिवाजीकी स्तुतिमें ऐसे गीत गाते थे :—
"भाटकी तरह गुणगान करनेसे स्वतंत्रता नहीं मिल जायगी। आजादीके लिए शिवाजी व बाजीकी भाँति साहसी कार्य करने पड़ेंगे। यह बात समझते हुए तुम लोगोंको कमर कसकर ढाल-तलवार उठानी पड़ेगी। और राष्ट्रीय-युद्धके अवसरपर हम जीवनकी बाजी लगा देंगे। अपने धर्मको नष्ट करनेवालेके रक्तसे हम धरती सींच देंगे। जब तुम स्त्रियोंकी भाँति घरोंमें बैठकर कहानियाँ सुनोगे, हम वीर गतिको प्राप्त होंगे।"[1]

जिन दो लेखोंपर आपत्ति की गयी थी वे सम्पादकीय नहीं थे, बल्कि उनमें एक 'शिवाजीके उद्‌गार' शीर्षक कविता थी और दूसरा दो प्रोफेसरोंके शिवाजीके ऊपर दिये गये भाषणोंकी रिपोर्ट थी। लवेटके अनुसार कवितामें शिवाजीको नींदसे जागकर एक समयमें अपने साम्राज्यकी वर्तमान दुर्दशापर शोक प्रकाशित करते दिखाया गया था। अत्याचारीका नाश करके उन्होंने संसारका भार हलका किया था और देशको स्वराज्य दिलाया था। परन्तु अब विदेशी देशका धन लूटे लिये जा रहे थे, सुख-समृद्धि नष्ट हो चुकी है, और इनके स्थानपर अकाल और महामारी देशको राहुकी तरह ग्रसे हुए हैं। ब्राह्मणोंको कैद किया जाता है, गायोंका प्रति दिन वध होता है। बिना संतोषजनक कारण बताये हुए भी 'श्वेत पुरुष' न्याय-दंडसे बच जाते हैं। औरतोंको रेलके डिब्बोंसे घसीट लिया जाता है। जब अंग्रेज भारतमें व्यापारीकी हैसियतसे आये थे तो शिवाजीने उनकी रक्षा की थी और अब अँग्रेजोंकी बारी थी कि शिवाजीकी प्रजाको संतुष्ट रखकर कृतज्ञता प्रदर्शित करें।"[2]

दूसरे लेखमें एक प्रोफेसरने लिखा था कि "शिवाजी नैतिक आचार-विचारसे परे मनुष्य थे। हर मराठे और प्रत्येक हिन्दूको शिवाजी-उत्सव मनाना चाहिये। हम सब अपनी खोयी हुई आजादीको पुनः प्राप्त करनेकी चेष्टा कर रहे हैं।" दूसरे प्रोफेसरने लिखा कि फ्रांसकी क्रान्तिमें भाग लेनेवालोंने यह अभियोग अस्वीकार किया कि उन्होंने हत्याएँ की हैं, बल्कि दावा किया कि उन्होंने केवल अपने रास्तेके काँटोंको हटाया है। वही तर्क महाराष्ट्रके लिए क्यों नहीं ठीक है? अन्तमें तिलककी टिप्पणी छपी—'महापुरुषोंपर सर्वसाधारणके

---

१. लवेट-वही पुस्तक (?) पृष्ठ ४९
२. वही पुस्तक पृष्ठ ५९

नैतिक आचार-विचारके नियमोंके प्रतिबन्ध नहीं लागू हो सकते। शिवाजीने अफजल खाँका वध करके पाप किया या नहीं? इसका उत्तर स्वयं महाभारतमें मौजूद है। गीतामें श्रीकृष्णने अत्याचारी भाई-बन्धुओं और गुरुओंको भी मारनेका उपदेश दिया है।

इन लेखोंके प्रकाशित होनेके ठीक एक सप्ताह बाद पूनामें हत्याएँ हुईं। आँग्ल-भारतीय अखबारोंने तत्काल ही राय दी कि हत्याएँ इन लेखों द्वारा प्रेरित हैं। अधिकारी इससे सहमत थे। तिलकपर मुकदमा चला और १४ सितम्बर १८९७ को उन्हें १८ महीनेकी कड़ी कैदकी सजा सुना दी गयी। न्यायसभ्योंमें पाँच यूरोपियन, तीन भारतीय और एक यहूदी थे। यूरोपियनों और यहूदियोंने उनको दोषी पाया और भारतीयोंने निर्दोष। श्री तिलक प्रथम राजनीतिक बन्दी थे। इससे देशभरमें उत्साहकी लहर दौड़ गयी।

जेलमें तिलकके साथ एक साधारण कैदीकी भाँति व्यवहार किया जाता जिससे उनका स्वास्थ्य काफी खराब हो गया और उनका वजन तेजीसे घटने लगा। बम्बईके एक वकीलने इंगलैण्डमें हॉवर्ड एसोसियेशनके मन्त्रीको इसकी सूचना दी। यह संघटन जेलके जीवनको सुधारनेकी चेष्टा करता था। तिलकके मामलेकी जाँचके परिणामस्वरूप हॉवर्ड एसोसियेशनने भारतमें राजनीतिक बन्दियोंके साथ व्यवहारपर एक प्रस्ताव पास किया। प्रस्तावमें कहा गया था कि "प्रेस-कानून (प्रेस-लॉज) की वास्तविक और कथित अवज्ञा करनेपर दिये गये दण्डोंके सम्बन्धमें भारतसे कई सूचनाएँ अभी हालमें ही हॉवर्ड एसोसियेशनकी कमेटीके पास आयी हैं। इस कमेटीकी रायमें इस प्रकारके अपराधोंको राजनीतिक अपराधोंकी श्रेणीमें समझना चाहिये न कि मामूली फौजदारीके अपराधोंकी। और उनको दण्ड देते समय यह बात ध्यानमें रखना चाहिये।"[1]

तिलकको पहले बम्बई जेलमें रखा गया लेकिन बादमें उनका तबादला यरवदा जेलको कर दिया गया। उनका यरवदा जेल भेजा जाना बिलकुल गुप्त रखा गया, परन्तु कल्याणके स्टेशनपर एक प्लेगका डाक्टर उनकी जाँच करनेवाला था। जैसे ही डाक्टरने डिब्बेका दरवाजा खोला, प्लेटफार्मपर खड़े हुए कुछ लोगोंने बन्द डिब्बेकी खिड़कियोंसे अन्दर झाँका। उन्होंने अपने नेताको पहचान लिया और यह खबर जंगलकी आगकी भाँति फैल गयी। दर्शनको उत्सुक तिलकके प्रशंसकोंकी भीड़ प्लेटफार्मपर तत्काल ही जमा हो गयी।

यों कांग्रेसकी ओरसे उस सालके अधिवेशनमें तिलककी सजाके ऊपर कोई प्रस्ताव पेश नहीं किया गया, परन्तु कांग्रेसजनोंने व्यक्तिगत रूपसे अपने हृदयोंके उद्गारोंको व्यक्त किया। उमेशचन्द्र बनर्जीने कहा—"न्यायाधीश स्ट्रेचीकी राजद्रोहकी परिभाषाके पक्षमें कुछ कहा ही नहीं जा सकता और जनमतकी दृष्टिसे तो यह घृणित है ही।"[2]

नातू भाइयोंके देश-निकालेपर भी कांग्रेसने सतर्कतासे एक प्रस्ताव पास किया, जिसमें कहा गया था—"यद्यपि बम्बई सरकारने जिम्मेदारीसे ही १८२७ के बम्बई कानूनके २५० वें विनियमनके अन्तर्गत नातू भाइयोंको गिरफ्तार किया था, फिर भी कांग्रेसकी रायमें चूँकि गिरफ्तारीको पाँच महीने हो गये हैं इसीलिये न्यायकी दृष्टिसे, और जनतामें फैली हुई बेचैनी और असंतोषको शान्त करनेके लिए सरकारका यह कर्तव्य हो जाता है कि नातू सरदारोंपर फौरन ही मुकदमा चलाया जावे। यदि सरकारके पास न्यायालयको संतुष्ट करने योग्य नातू

१. केलकर—वही पुस्तक, पृष्ठ ४२०

२. केलकर—वही पुस्तक, पृष्ठ ४१६-१७

भाइयोंके विरुद्ध पर्याप्त प्रमाण नहीं है तो उनको मुक्त कर दिया जाये।" लेकिन राष्ट्रपति श्री शंकरन नायरने स्पष्ट रूपसे कहा कि "यदि सरकार आपको अपनी मरजीसे, बिना अभियोग चलाये गिरफ्तार कर सकती है, जेल भेज सकती है और आपकी जायदाद जब्त कर सकती है, तो व्यक्तियोंकी धन-जनकी स्वतन्त्रता सिर्फ एक मजाक है, ढोंग है, यह स्वेच्छाचारी निरंकुश शासनके सबसे बुरे दिनोंकी याद दिलाता है।"

प्रोफेसर मेक्स मुलर, सर विलियम हण्टर, सर रिचर्ड गार्थ; विलियम केन, दादा भाई नौरोजी और रमेशचन्द्र दत्तके हस्ताक्षरोंसे सरकारको एक आवेदन-पत्र भेजा गया जिसके फलस्वरूप तिलक मियादसे छः महीने पहले ही छोड़ दिये गये। "तिलकने स्वयं शर्त रखी कि यदि कभी भी फिर उनको राजद्रोहके अभियोगमें सजा मिले तो उस सजामें यह छः महीनेकी छूट भी जोड़ दी जाये।"[1]

रेण्ड-हत्याकाण्डमें पुलिसको यह सूचना मिल गयी कि दामोदर चाफेकर व बालकृष्ण चाफेकर दो भाइयोंने रेन्ड हत्याएँ की हैं। उनपर मुकदमा चला और उनको फाँसी दे दी गयी। परन्तु इसके परिणाम स्वरूप दो हत्याएँ और हो गयीं। चाफेकरोंके अभिन्नमित्र द्रविड़ भाइयोंने पुलिसको भेद बताया था। द्रविड़ भाइयोंमेंसे एक जालसाजीके लिए सजा भुगत रहा था। उसको पता था कि रेण्ड और आइर्स्टकी हत्या चाफेकर बन्धुओंने की है। २०,००० रु० के इनामके लालचसे उसने यह भेद पुलिसको बता दिया। ८ फरवरी १८९९ को दो व्यक्ति-चापेकर बन्धुओंका सबसे छोटा भाई वासुदेव और उसका एक मित्र-द्रविड़के घर पहुँचे और ऊपर बैठे हुए लोगोंको आवाज दी कि उनको ब्रूनने, जो रेण्ड हत्याकाण्डकी जाँचके लिए विशेष अफसर नियुक्त हुए थे, बुलाया है। द्रविड़ नीचे आकर बुलानेवालोंके साथ चल दिये। जैसे ही चारों आदमी रास्तेमें पड़नेवाले मन्दिरके पास पहुँचे, वासुदेव और उसके मित्रने पिस्तौल निकालकर भेदियोंको गोली मार दी। अस्पतालमें उनका प्राणान्त हो गया। पुलिस नायब-इंस्पेक्टर जब वासुदेवसे सवाल पूछ रहा था तो उसने क्रोधमें आकर पहले नायब-इन्स्पेक्टर और फिर रेन्डपर गोली चला दी, मगर वे दोनों बच गये। वासुदेव और उसके मित्र दोनोंने अभियोग स्वीकार कर लिया और फाँसीपर झूल गये।

राजनीतिके इस नये पहलूसे सरकार भयभीत हो उठी और उसने ताजीरात हिन्दकी १२४ अ धाराका संशोधनकर राजद्रोहकी परिभाषामें "हिज मैजेस्टी या सरकारके विरूद्ध घृणा या उपेक्षाका प्रचार या प्रचारकी कोशिश करनेवाला प्रत्येक आदमी" शामिलकर दिया। सरकारके प्रति 'असंतोष' शब्दके क्षेत्रमें शत्रुताके हर प्रकारके भाव और अभक्ति भी शामिलकर दिये गये। यह संशोधित कानून (Act) १८९८ में लागू कर दिया गया।

भारतीय राजनीतिक वातावरण दिन-प्रतिदिन अधिक उग्र होता जा रहा था। उस समयके भारत सचिव लायड जार्ज हेमिलटनके शब्दोंमें "भारतमें अंग्रेज बारूदके ढेरके ऊपर बैठे हुए थे।" दंड पुलिसके दस्ते राजनीतिक अशान्तिके क्षेत्रोंमें तैनात कर दिये गये। डाकखाना-कानून (पोस्ट आफिस ऐक्ट) में संशोधन कर डाक-बाबुओंको यह अधिकार दे दिया गया कि वह किसी भी सन्देह योग्य (राजद्रोहात्मक) चिट्ठी या डाकसे जानेवाले

---

१. डा० पट्टाभि सीतारामैया—दी हिस्ट्री आफ इण्डियन नेशनल कांग्रेस (१९४६) भाग १ पृष्ठ ९५

सामानको रोक सकते हैं। जनताके प्रबल विरोधके बावजूद इस नये नियमको, राजद्रोह-कानूनमें उसका क्षेत्र विस्तृत करनेके लिए, शामिल कर लिया गया।

१८९८ में भी प्लेग त्राहि-त्राहि मचाये हुए था। और अधिकारियोंके दमनकारी व्यवहार-से रोपमें आकर कुछ मुसलमान बुनकर उनके विरोधमें उठ खड़े हुए। कई बुनकरोंको पुलिसने गोली मार दी।

गणितके अध्यापक और बंगाल विधान-परिषदके सदस्य आनन्दमोहन बसुकी अध्य-क्षतामें १८९८ में कांग्रेसका अधिवेशन मद्रासमें हुआ। अधिवेशनका एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव, देशके कुछ भागोंमें सरकार द्वारा नियुक्त, दमनके लिए बनायी गयी गुप्त प्रेस समितियों (सीक्रेट प्रेस कमिटीज) के सम्बन्धमें था। ये समितियाँ अखबार नियन्त्रकके रूपमें काम करती थीं। इस कदमको 'ब्रिटिश इण्डियापर लानत' कहकर निन्दा करनेवाले प्रस्ताव-को अधिवेशनमें उपस्थित लन्दन समाचार समितिके प्रतिनिधि श्री. डब्ल्. ए. चेम्बर्सने पेश किया। श्री. चेम्बर्सने अपने भाषणमें कहा "गुप्त प्रेस समितियोंके बनाये जानेसे मुझे इतना आश्चर्य हो रहा है कि कोई भी अंग्रेज इस समितिका समर्थन नहीं कर सकता। इस बातकी स्वप्नमें भी कल्पना नहीं की जा सकती कि अँग्रेजों द्वारा शासित किसी भी देशमें ऐसा हो सकता है, फिर भी हम इन्हीं बातोंके लिए रूस व जर्मनीकी निन्दा करते हैं।

काँग्रेस अधिवेशन जब हो रहा था तभी लॉर्ड कर्जन भारतके वाइसराय होकर आये। उनके आनेपर काँग्रेसने प्रस्ताव पास किया कि "यह अधिवेशन लॉर्ड कर्जनका स्वागत करता है, भारतीयोंके प्रति श्रीमानके सहानुभूतिके शब्दोंके लिए कृतज्ञता प्रगट करते हुए आशा करता है कि उनके शासनकालमें अँग्रेजोंकी श्रेष्ठ परम्पराके अनुकूल प्रगति और देशी लोगोंमें विश्वासकी नीतिका अनुसरण किया जायगा।"

मुरलीधर व मालवीयके भाषणों, उस समयकी आर्थिक परिस्थिति; जिसका विश्वसनीय विवरण श्री रमेशचन्द्रदत्तकी कई पुस्तकोंमें मिलता है, और समकालीन वक्ताओं और लेखकों-के लेखोंकी तुलनामें यह प्रस्ताव कुछ अजीब-सा था। यहाँ तक कि राष्ट्रपतिके पदसे किये गये भाषण भी इतने अधिक नम्र नहीं थे।

१८९९ का लखनऊ काँग्रेस अधिवेशन हिन्दू मुस्लिम संस्कृतिका संगम था। अधिक संख्यामें मुसलमान प्रतिनिधि इस अधिवेशनमें उपस्थित थे। ७८९ में ३०० मुसलमान प्रति-निधि थे। श्री रमेशचन्द्र दत्त जिन्होंने १८९७ में भारतीय सिविल सर्विससे त्यागपत्र दे दिया था, इस अधिवेशनके अध्यक्ष निर्वाचित हुए। उन्होंने अपने श्रोताओंको भावुकतासे नहीं बल्कि आकड़ोंसे प्रभावित किया।

भारतमें अकालका राक्षस फिर मनुष्योंके जीवनसे होली खेल रहा था और अनाजसे लदे जहाजपर जहाज इंगलैण्डको भेजे जा रहे थे। इसपर टीका करते हुए श्रीदत्तने कहा "कभी कभी इस बातका दावा किया जाता है कि भारतकी गरीबी और अकाल, जैसी संसारके किसी भी सुशासित देशमें नहीं हैं, केवल आबादीके अधिक बढ़ जानेसे है। यह असत्य है। यदि आप आँकड़ोंको देखें तो आपको पता लगेगा कि भारतकी आबादी उस तेजीसे नहीं बढ़ रही है जैसे जर्मनी या इंगलैण्ड व अन्य यूरोपियन देशोंकी। भारतीय किसानोंकी दुर्दशा और कर्जमें डूबे होनेका मूल कारण, बंगाल व कुछ दूसरे इलाकोंको छोड़कर, अत्य-धिक भूमिकर है, जिसके कारण किसान अच्छी फसलें होनेपर भी दुर्दिनके लिए कुछ भी नहीं

बचा पाते। कताई और बुनाईके हमारे गाँवके उद्योग, इंगलैण्डके कारखानोंसे प्रतियोगिता न कर पानेके कारण मिट गये हैं। हमारे किसानों और औद्योगिक वर्गके ग्रामीणोंको भी केवल भूमिपर ही निर्भर रहना पड़ता है। वही उनका जीवन-आधार है।······चूँकि किसानके पास जमानत देनेके लिए कोई सामान नहीं है, इसीलिये उसे कम व्याजपर रुपया उधार नहीं मिल सकता और उसे २५% या २७% व्याजपर ऋण लेना पड़ता है।" उन्होंने कहा कि फौजी व्यय, मुद्रा नीति और राष्ट्रीय कर भारतकी मालगुजारीपर भयंकर बोझा है। "ब्रिटेनमें १८६० से राष्ट्रीय ऋण घटाकर साढ़े सत्तरह करोड़ रु० कर दिया गया है "परन्तु भारतमें यह ऋण उसी अवधिमें दस करोड़ बढ़ा दिया गया है और इंगलैण्डको व्याजके भुगतानके लिए भेज दिया जाता है जिसके कारण भारतकी मालगुजारी और आयपर अनावश्यक जबरदस्त बोझा पड़ रहा है। अभी हालमें ही मुद्रा समिति (Currency committce) ने मुद्रा-नीति इस ढंगकी बनायी जिससे लाखों किसानोंका अहित ही हुआ है। उनके कर्ज और बढ़ गये हैं और बचत कम हो गयी है।" भाषण जारी रखते हुए उन्होंने कहा कि "शासनमें यह त्रुटि है और हमारा दुर्भाग्य है कि जिला अधिकारीगण गाँववालोंसे या उनके स्वाभाविक नेताओंसे नहींके बराबर सम्पर्क रखते हैं। प्रत्येक कार्यमें उनको पुलिसकी शरण लेनी पड़ती है। गाँवमें कोई मुसीबत आयी हो, जाँच पुलिस करेगी। हैजा फैला है तो दवा पुलिस बाँटेगी। यदि गाँवका जलाशय घट जाय या पानीकी कमी पड़ जाय तो पुलिस सहायता संघटित करती है। अगर कोई पेड़ गिर पड़े और गाँवका रास्ता रुक जाय तो (मैंने स्वयं इस प्रकारकी घटनाएँ देखी हैं) गाँववाले, जबतक पुलिस सहायता न करे, असहाय बने रहते हैं। यह कितना दुर्भाग्य है कि वह देश जिसने सर्वप्रथम गाँव-समाज, गाँव-पंचायतें और गाँवोंमें स्वशासन संस्थाएँ स्थापित की थीं और ३००० सालोंतक इनको सफलतासे चलाया था, इस तरहसे असहाय हो जाय और उस देशपर अवांछनीय पुलिस द्वारा शासन किया जाय।"

श्री दत्तने सुझाव दिया—"दुर्भिक्षसे उत्पन्न मुसीबतको, संकटोंको और मृत्युओंको रोका जा सकता है। सुख-सम्पत्ति बढ़ायी जा सकती है, पूरे राष्ट्रकी भक्ति और उत्साहपूर्ण सहायता प्राप्त हो सकती है। यह सम्भव है केवल एक शर्तपर—देशको स्वराज्यका वरदान मिल जाय।"

कांग्रेसने एक प्रस्ताव द्वारा सरकारसे माँग की कि देशकी आयपरसे बोझा कम किया जाय, व्यय घटा दिया जाय, करोंमें कमी हो और देशी उद्योग-धन्धोंका विकास किया जाय।

लखनऊ अधिवेशनमें कांग्रेसका विधान बना लिया गया। विधानमें कांग्रेसका उद्देश्य था "वैधानिक उपायों द्वारा भारतीय साम्राज्यकी जनताके सुख और हित-लाभकी चेष्टा करना।" विधानकी अन्य धाराएँ थीं—

(१) राजनीतिक संघटनों, या दूसरी संस्थाओं द्वारा और सार्वजनिक सभाओंमें प्रतिनिधियोंका निर्वाचन होगा। (२) अखिल भारतीय कांग्रेस महासमितिमें पैंतालीस प्रतिनिधि होंगे जिनमेंसे चालीसको प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियाँ चुनकर भेजेंगी। यदि किसी प्रान्तमें कांग्रेस कमेटी नहीं है तो वहाँके प्रतिनिधि महासमितिके लिए नुमाइन्दे चुनेंगे। महासमितिके सदस्योंका कार्यकाल एक अधिवेशनसे दूसरे अधिवेशनतक होगा। (३) महासमितिकी बैठक

वर्षमें कम-से-कम तीन बार हुआ करेगी और इसको नियम व कानून बनानेका अधिकार होगा। (४) प्रांतीय कांग्रेस कमेटियाँ, प्रान्तीय अधिवेशन करेंगी और अपना कार्यक्षेत्र बढ़ाकर जिला कांग्रेस कमेटियाँ स्थापित करेंगी (५) इंगलैण्डमें एक ब्रिटिश कांग्रेस कमेटी बनायी जायगी जिसका एक वैतनिक मन्त्री होगा। कमेटीपर वर्षमें पाँच हजार रुपये व्यय किया जायेगा जिसको पिछले और आगामी अधिवेशनकी स्वागत समितियाँ आपसमें बाँट लेंगी।

सन् १९०० अधिक संकटमय था, लेकिन बम्बईके पत्रकार और वकील श्री एन. जी चन्दावरकरकी अध्यक्षतामें लाहोरके कांग्रेस अधिवेशनमें वातावरण उदासीन सा रहा। इस वर्षका दुर्भिक्ष अधिक भयंकर था, जैसा कि वाइसराय लार्ड कर्जनने कहा "भारतवर्षमें इतना भयंकर अकाल कभी नहीं पड़ा।" संयुक्त प्रान्तमें (अब उत्तर प्रदेश) प्लेगसे बराबर लोग मर रहे थे। हस्व मामूल अधिकारियोंका व्यवहार उत्तेजनापूर्ण विमुखताका था। अप्रैल १९०० में कानपुरके प्लेग-कैम्पपर एक भीड़ने हमला कर दिया जिसमें पाँच पुलिसवाले मारे गये। गौरांग प्रभुओंने न्यायमें खुलकर अनधिकार विघ्न डाला जैसा कि इन दो उदाहरणोंसे स्पष्ट हो जाता है। १९ अगस्त १८९९ को छपराके जिला पुलिस सुपरिटेंडेंट कौरवेटने एक सिपाही नरसिंहके चूतड़ोंपर ठोकर मारी, और जिला इन्जिनियर सिमकिन्सने उसके सरपर कोड़ा मारा। कौरवेटने फिर उसके मुँहपर घूँसा मारा जिससे वह एक दीवारसे टकराकर गिर गया। नरसिंहका अपराध केवल जिला इन्जीनियरके लिए बेगार करनेसे इनकार करना था। उसको अस्पतालमें भरती किया गया जहाँ जाँच करनेपर मालूम हुआ कि उसके घाव भयंकर थे। शिकायतके डरसे कौरवेटने नरसिंहको नौकरी छोड़ देनेको कहा। नौकरी न छोड़नेपर उसपर मुकदमा चलानेकी धमकी भी दी गयी। नरसिंहने इस हुक्मको न माना। उसपर मुकदमा चलाया गया। मुकदमेके निर्णायक मैजिस्ट्रेट मौलवी जाफिर हुसैनने दबावमें आकर उसको दो महीनेकी सख्त कैदका हुक्म सुना दिया। उसने जिला और सेशन जज आयरलैण्ड निवासी श्री पैनलकी अदालतमें अपील कर दी। श्री पैनल ने अपील तो मंजूर कर ली मगर उसकी वजहसे खुद मुसीबतमें पड़ गये। उन्होंने अपने फैसलेमें कहा—"दुर्भाग्यवश यूरोपियनों द्वारा देशी लोगोंपर हमला और मारपीट अनोखी नहीं है। और जबतक जातीय श्रेष्ठताका भाव विलुप्त न हो जाये तबतक यह मारपीट खत्म होनेवाली नहीं है। उनको सजा देना सही है परन्तु अधिक कड़ी सजा देनेसे परस्पर जातीय सम्बन्धोंके अच्छे होनेकी जगह ज्यादा खराब होनेकी सम्भावना है, और उससे उद्देश्यकी हानि ही होगी। देशी लोगोंमें अधिक समझदार आदमी खुद ही यूरोपियनोंके इस देशमें आकर पैदा हुए घमण्डका और उसके परिणामस्वरूप पैदा हुई मारपीटका ख्याल रखते हैं।"

७ अक्टूबरको दिये गये इस निर्णयसे प्रान्तभरके अधिकारियोंमें खलबली मच गयी। यहाँतक कि लेफिटनेण्ट गवर्नर सर जॉन वुडबर्न भी इससे चिन्तित हो उठे और वाइसराय लार्ड कर्जनने पैनलके इस कार्यको 'जाँचकी स्वतन्त्रता' का दुरुपयोग समझा और उनको तार द्वारा नोआखालीको स्थानान्तरित कर दिया।

कुछ समय बाद वुडबर्न नोआखाली गये और अपने निजी कमरेमें पैनलको बुलाकर कहा "तुम्हारा निर्णय देखकर मुझे तुम्हारी न्याय-विभागमें नौकरी करनेकी योग्यतापर सन्देह

होता है। न्याय-अधिकारी उसी प्रकार मेरे मातहत हैं जिस प्रकार प्रशासकीय अधिकारी और मैं चाहता हूँ कि वे कायदेसे काम करें। ध्यान रखना कि मैं तुम्हारी भलाईके ही लिए कह रहा हूँ। और तुम्हारा फैसला पढ़कर मुझे शक होता है कि क्या तुम उतने ही निष्पक्ष हो जितना तुम्हें होना चाहिये। जिस प्रतिशोधमय जलनसे तुम पुलिस और जिला अधिकारियोंके पीछे पड़ गये, इससे मुझे ऐसा लगता है कि तुम्हारी उनकी लड़ाई है।"

पैनल—आप ऐसा सोच सकते हैं, परन्तु उस निर्णयका मूल्य कांग्रेसके दो अधिवेशनोंके बराबर है।

वुडवर्न—मैंने तो एक निष्पक्ष व्यक्तिकी हैसियतसे यह राय दी है।

पैनल—मैं जानता हूँ कि आपकी सरकारने सत्यको दबानेकी भरसक चेष्टा की है।

लेफ्टिनेण्ट गवर्नरने जरा गरम होकर कहा—मेरी सरकारने! सावधान पैनल, तुम जो कुछ कह रहे हो सोच समझकर कहो।

पैनल—आपने कानूनी सलाहकार (लीगल रिमेम्बरेन्सर) से मशविरा किया था कि क्या गवाहोंको मेरे सामने पेश करनेकी कोई आवश्यकता है।

वुडवर्न—हाँ। मुझे कानूनी सलाहकारसे मशविरा करनेका पूरा अधिकार था। मामला बिलकुल तुच्छ था।

पैनल—तुच्छ मामला! क्या मैं इस मामलेको हाईकोर्ट ले जाऊँ?

वुडवर्न—नहीं पैनल, मैं हाईकोर्टसे किसी विवादमें नहीं पड़ना चाहता, मैं तो तुमसे निजी तौरपर बात कर रहा हूँ।

एक दूसरे मामलेमें पैनलने अपने फैसलेमें लिखा "इस प्रकारके मामलेमें, इस देशमें, अधिकारियोंके खिलाफ गवाही देनेका केवल ऐसे लोग साहस कर सकते हैं जो अपने घरोंके जलाये जानेका, दूकाने लूटी जानेका, अपने रिश्तेदारोंके सरकारी नौकरियोंसे निकाल दिये जानेका, और स्वयंके व अपने घरवालोंके ऊपर झूठा मुकदमा चलाकर जेल भेज दिये जानेका खतरा उठा सकते हैं।"

नोआखालीमें पैनलने पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट रेलीको झूठी गवाही देनेके अभियोगमें गिरफ्तार करवा दिया। रेलीने झूठी गवाही देकर एक हत्यारेको रिहा करवानेकी चेष्टा की थी। पैनलने हत्यारेको फाँसीकी सजा दी। इस मामलेने पैनलको लोगोंकी दृष्टिमें बहुत ऊँचा उठा दिया और १५ फरवरी १९०१ को जब पैनलने फैसला सुनाया तो १०००० आदमी उसकी जय जयकार करते, धर्मावतार और सच्चा न्यायकर्ता कहते उसके बँगले तक गये। परन्तु सरकारकी सिफारिशपर हाईकोर्टने पैनलको मुअत्तल कर दिया और तार द्वारा रेलीको जमानतपर छोड़ देनेका हुक्म दिया। पैनलके कलकत्ता रवाना होते वक्त सब तरहके लोगोंकी पन्द्रह हजारकी भीड़ उनके पीछे उनके घरसे स्टेशनतक गयी। जिस रास्तेसे पैनलकी गाड़ी जा रही थी; उसके दोनों ओर लोग खड़े हुए थे।

१९०१ के कलकत्तेमें हुए कांग्रेस अधिवेशनमें कांग्रेसकी प्रशासनसे न्याय विभागको अलग कर देनेकी माँगका औचित्य सिद्ध करनेके लिए पैनल काण्डका जोरदार प्रमाण दिया गया। कलकत्ता कांग्रेसकी अध्यक्षता दीनशा ईदुलजी वाचाने की। आप कांग्रेसके जन्मसे उसका साथ देते रहे। और प्रारम्भमें ही आपका नाम कांग्रेसके आतिशबाज पड़ गया था। राष्ट्रपतिने अपने भाषणमें कहा—"मॉर्लेके शब्दोंमें उन्मत्त

साम्राज्यवाद दमनकारी, प्रतिगामी और शैतानियतकी नीतिका अनुसरण करता हुआ इस समय अधिक शक्तिशाली हो रहा है। निस्सन्देह हमारी सरकार अच्छी है परन्तु उसमें कई बुराइयाँ भी हैं।" श्री वाचाके लम्बे भाषणमें देशकी आर्थिक दशा और दुर्भिक्षका विवेचन था। बिना जनताको जरा भी लाभ पहुँचाये हुए करोड़ों रुपया अकाल सहायतापर बर्बाद कर दिया गया। उन्होंने गोकुलदास पारखके विधान परिषद्में किये गये भाषणका उल्लेख किया कि अधिकारीगण गरीब रैयतपर अत्याचार कर रहे हैं और दाहिने हाथसे तकावी बाँटकर बायें हाथसे उगाही वसूल कर रहे हैं। कांग्रेसने सर्वश्री तिलक, मालवीय व अन्य सात आदमियोंकी एक कमेटी भारतवर्षकी आर्थिक दशाकी जाँच करनेके लिए नियुक्त की। रमेशचन्द्रदत्तने सरकारकी आर्थिक नीतिकी निन्दा करते हुए कहा कि दुर्भिक्ष शोषणकी नीतिका अनिवार्य परिणाम है।

१९०२ का अधिवेशन गुजरातकी राजधानी अहमदाबादमें हुआ जिसकी एक करोड़की आबादीका ⅙ भाग दो अकालोंमें मर चुका था। परन्तु उसी समय देशकी राजधानीमें सम्राट एडवर्ड सप्तमकी ताजपोशीकी खुशीमें एक महान दरबारका जशन और उत्सव मनाया जा रहा था। राष्ट्रपति सुरेन्द्रनाथ बैनर्जीने सम्राटके प्रति उचित सम्मानपर बोलते हुए कहा कि "वह समय गुजर गया जब चकाचौंध और चकित करनेके लिए तड़क-भड़कका आडम्बर, भारतके लोकमतपर कोई स्थायी प्रभाव डाल सके।" परन्तु उनके उत्तराधिकारी श्री लालमोहन घोषने १९०३ के मद्रास अधिवेशनकी अध्यक्षता करते हुए सीधा आक्रमण किया। उन्होंने पूछा "क्या तुम समझते हो कि इंगलैण्ड, फ्रांस या अमेरिकाकी सरकारें एक खोखले आडम्बरपर इतना अधिक धन फूँकनेका साहस करेंगी ! जब कि देशमें दुर्भिक्ष और महामारी मनुष्योंके जीवनसे होली खेल रही हों और यमदूत खुशी मनानेवालोंके कानोंके ऊपर ढोल बजा रहे हों। जहाँ तक जनताका सम्बन्ध है, उसके लिए इससे ज्यादा निर्दय और कठोर क्या हो सकता है कि एक श्रेष्ठ सरकार संसारके सबसे गरीब लोगोंपर सबसे ज्यादा कर लगाये और इस तरहसे एकत्रित धनको व्यर्थके नाच-तमाशों और आतिशबाजीमें फूँक दे जबकि जनता भूखों मर रही हो।"

उसके बाद श्रीघोषने अँग्रेजी शासनकी तुलना भूतपूर्व शासनोंसे करते हुए कहा "यद्यपि आज हम डाकुओंके उपद्रवोंसे बचे हुए हैं—आज हमें लूटपाट, हत्याओं, जान-मालके जानेका डर नहीं है, प्रतिद्वन्दी सरदारों और राजाओंके बीच घरेलू और आपसी झगड़े और राज्योंके हथियानेके षड्यंत्रों और रक्तपातसे हम बचे हुए हैं, लेकिन हमको यह न भूलना चाहिये कि तस्वीरका एक दूसरा रुख भी है। परिणाम एक ही है, चाहे लाखों करोड़ों जानें युद्ध और अराजकताके कारण नष्ट हों या अकाल और भुखमरीसे।"

अहमदाबाद कांग्रेसने कर्जनकी प्रतिगामी शिक्षानीतिकी निन्दा करते हुए एक प्रस्ताव पास किया। कर्जनने शिमलामें १९०१ में एक शिक्षा-सम्मेलन बुलाया था जिसमें केवल यूरोपियन शिक्षा-विशेषज्ञोंको आमन्त्रित किया गया। सम्मेलन-सभा गुप्त थी और उसकी काररवाई कभी प्रकाशित नहीं की गयी। सम्मेलनके फलस्वरूप एक विश्वविद्यालय कमीशन (यूनिवर्सिटी कमीशन) नियुक्त हुआ जिसने सिफारिश की कि (१) माध्यमिक-शिक्षा कॉलेजोंको तोड़ दिया जाय। (२) प्रबन्धक संघ (सिण्डिकेट) द्वारा कॉलेजोंमें न्यूनतम शुल्क निर्धारित कर दिया जाय जिसका असली अर्थ शुल्कोंका बढ़ना था और

(३) कानूनी पढ़ाईको खत्म कर दिया जाय। कार्यक्षमताका स्तर बढ़ानेके लिए ऊँची शिक्षाका क्षेत्र संकुचित करनेका प्रयत्न किया गया। जैसा कि कमीशनके सदस्योंने स्वयं स्वीकार किया कि उनकी सिफारिशोंके मानी शिक्षाके क्षेत्रको संकीर्ण करना और ऊँची शिक्षाको सीमिति करना था। प्रतिरोध-आन्दोलनोंको आंशिक सफलता प्राप्त हुई और माध्यमिक शिक्षा संस्थाएं बन्द नहीं की गयीं।

सर वर्न लवेटने कमीशनकी सिफारिशोंका औचित्य सिद्ध करनेके लिए कहा कि "गैर सरकारी लोगोंके हाथमें माध्यमिक शिक्षाके नियंत्रणमें अत्यधिक अवनतिके कारण शिक्षा-स्तर बहुत गिरा है" परन्तु शिक्षा सम्मेलनको गुप्त रखनेमें जो सावधानी बरती गयीं, और उस समयकी राजनीतिक परिस्थितिका लवेटने-जो विश्लेषण किया है, इन दोनोंसे पता चलता है कि ऊँची शिक्षाके क्षेत्रको संकुचित करनेका असली कारण शिक्षा-स्तरमें गिरावटका भय नहीं बल्कि राजनीतिक था। दरबारके बादकी राजनीतिक परिस्थितिपर लवेटने लिखा है "वास्तवमें इस दरबारमें चालीस सालके शान्तिमय और बिना झगड़ेके युगका अन्त होता है यह युग सरकारकी सफलता और अप्रतिम सत्ताका युग था। शिक्षाका क्षेत्र बढ़ा, व्यापार बढ़ा, मालगुजारीकी अच्छी व्यवस्था हुई, चारों ओर इस दौरमें प्रगति हुई। पाश्चात्य शिक्षा-प्राप्त लोगोंमें असंतोष अभी गहरी नींद सो रहा था। आर्थिक स्थितिकी बिगड़ी हुई स्थितिकी विचित्रतासे नौजवानोंके जीवनकी कठिनाइयाँ और मुसीबतें बढ़ रही थीं। सदियोंके रीति रवाज टूटने लगे थे। सामाजिक उत्सवों, मेलों और जातीय सम्मेलनोंसे अधिक जनता अब राजनीतिक सभाओंमें जाने लगी थी। परिवर्तनकी भावना जोर पकड़ रही थी, वर्तमानसे असंतुष्ट लोगोंमें 'नयेसे पुराना अच्छा' सिद्धांत अधिक जमता जा रहा था।"[1]

राष्ट्रपतिके भाषणमें आँकड़ों द्वारा सिद्ध किया गया था कि भारतकी आर्थिक दुर्दशाका कारण अंग्रेजी सरकारकी लूट थी। उसमें लवेट द्वारा कथित सर्वमुखी प्रगतिकी असत्यता दिखाई गयी थी।" लवेटकी पूरी पुस्तकमें सिर्फ अधिकारियोंका पक्षपात किया गया था और उन्हींको उचित दिखानेकी चेष्टा की गयी थी।

न्याय विभागकी दशापर श्री घोषने सर हेनरी कॉटनका उल्लेख किया "अगर इन अपराधोंके लिए अँगरेजोंपर अभियोग चलाया जाता है तो आम तौरपर क्या परिणाम होता है? बहुधा इन अभियोगोंमें निर्णयोंको न्यायपर कलंक ही कहा जा सकता है। यह सही है कि वह किसीको फाँसी दिलवानेके लिए उत्सुक नहीं था लेकिन फिर भी यह तो कहना पड़ेगा कि अनगिनत अभियोगोंमें अपराधियोंपर ऐसा नृशंस और कठोर हत्याओंका अभियोग होता है कि फाँसीके सिवा और कोई दंड हो ही नहीं सकता लेकिन वे ठीक ढंगके और निष्पक्ष न्याय न होनेकी कमजोरीके कारण बच जाते हैं। ऐसा क्यों होता है? क्योंकि अभियोगोंकी जाँचके लिए नियुक्त जूरीगण (Jury) उन्हींके देशवासी होते हैं।"

कर्जन सरकार अपनी प्रतिक्रियावादी नीतिपर ही चल रही थी। सरकारने राजद्रोह ऐक्ट (Sedition act) लागू किया। लोगोंकी आजादीपर एक और आघात सरकारी गोपनीयता ऐक्ट (official secrets act) लागू करके किया। जिनके द्वारा यह अभियोक्ताकी जिम्मेदारी नहीं रही कि अपराधोंको सिद्ध करें बल्कि अभियुक्तको अपनी निर्दोषिता प्रमाणित करनी पड़ती थी।

---

१. लवेट ए. हिस्ट्री आफ इण्डियन नेशनलिस्ट मूवमेंट पृष्ठ ५४

नवाब सैयद मुहम्मद और जी० के० गोखलेने (दोनों केन्द्रीय परिषदके सदस्य थे) इस ऐक्टकी घोर निन्दा की और इसको "घृणित ही नहीं बल्कि अत्यन्त अन्याय पूर्ण" बताया जिसके बारेमें "धैर्य या संयमसे बात नहीं की जा सकती" कांग्रेसने इस बिलका विरोध करते हुए एक प्रस्ताव पास किया। मद्रासमें बंगालकी ही भाँति स्थानीय स्वशासन संस्थाओंके अधिकारोंमें कमी कर दी गयी। एक दूसरे नियम द्वारा विश्वविद्यालयों-का स्वशासन अधिकार छीन लिया गया। लेकिन कर्जनके प्रतिगामी शासनका सबसे बुरा कदम बंग-भंगका निर्णय था।

बीसवीं कांग्रेस बम्बईमें, जैसा कि कांग्रेसकी अधिकृत रिपोर्टमें कहा गया था, कर्जनकी दमन और प्रतिक्रियावादी नीतिकी बढ़ती हुई अनिश्चितताके वातावरणमें हुई। सुरेन्द्रनाथ बनर्जीने लिटनके शासनको छिपे हुए रूपमें आशीर्वाद बतलाया क्योंकि इसने भारतीयोंको कर्मशील बना दिया था।

१९०४ के बम्बई अधिवेशनकी अध्यक्षता सर हेनरी कॉटनने की। उन्होंने एक विचारगर्भित भाषण किया जिसमें उन्होंने कहा कि साम्राज्यका यही रवैया है कि वह ऐसे पूर्ण स्वशासी राज्योंका संघ हो जो समान उद्देश्यों और अपने हितोंके कारण केन्द्रीय सत्तामें सम्मिलित हो।" इसलिए उन्होंने सुझाव रखा कि भारतको स्वतंत्र राज्योंका एक संघ होना चाहिये—भारतका संयुक्त राष्ट्र।" इस सम्मतिकी गर्वके साथ अवहेलना की गयी। इसके अनिवार्य परिणाम-स्वरूप भारत स्वतंत्र देशोंमें विभाजित हो जाता जिनमें प्रत्येक राज्य दूसरे राज्यसे स्वतंत्र हो जाता। परन्तु विभाजनके राक्षसने भारतमें अपने मजबूत कदम जमा ही लिये।

अधिवेशनके प्रथम प्रस्तावमें कर्जनकी उस घोषणाकी ओर ध्यान खींचा गया जिसमें उन्होंने भारतीयोंको अंग्रेजी शासनके अन्तर्गत ऊँची जिम्मेदारियाँ निभानेके अयोग्य घोषित किया था, जिसका गुप्त उद्देश्य वास्तवमें भारतीयोंको ऊँची नौकरियों और पदोंसे वंचित करना था, उन पदोंपरसे भी जिनपर वे काम कर रहे थे। प्रान्तीय नौकरियों (प्राविंशल सर्विसेज) में भी सरकारने प्रतियोगिताकी जगह नामजदगीकी अवस्था कायम कर दी। इसका कारण राजनीतिक था। सरकार इसका निर्णय कि किस प्रकारके मनुष्य लाभ-दायक सिद्ध होंगे, अपने हाथमें ही रखना चाहती थी। कर्जनको भारतीयोंमें विश्वास नहीं था और 'कार्यक्षमता बढ़ानेकी आड़में' उन्होंने विश्वविद्यालय-प्रबन्धक समितियों (यूनिवर्सिटी सिनेट्स) को अधिकारी वर्गको सौंप दिया और पूर्ण रूपसे उनका यूरोपीय-करण कर दिया।

कई वर्ष बाद कांग्रेसने फिर एक प्रस्ताव द्वारा "देशके शासन व मामलोंके नियन्त्रणमें अधिक अधिकारोंकी माँग की।" इस प्रस्तावपर बोलते हुए मदनमोहन मालवीयने कहा कि सुधार अच्छे हैं, परन्तु परिषदोंको अधिक अधिकार मिलने चाहिये और उनमें विस्तार होना चाहिये। प्रस्तावमें माँग की गयी थी कि (१) भारतके प्रत्येक प्रान्त या प्रेसीडेन्सीको अंग्रेजी लोक-सभामें (हाउस ऑव कामन्स) कम-से-कम दो सदस्योंको भेजनेका अधिकार हो। (२) केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान-परिषदोंमें, गैर सरकारी सदस्योंकी संख्या बढ़ा दी जाय और उनको यह अधिकार रहे कि वे तमाम आर्थिक-मसलोंपर मत-विभाजन करा सकें, भले ही गवर्नर या वाइसरायके हाथमें विशेषाधिकार रहने दिया जाय। (३) भारतीय

प्रतिनिधि (जो विधान-परिषदके निर्वाचित सदस्यों द्वारा नामजद हों) लंदनकी भारत-परिषद (इण्डिया कौंसिल) में रखे जायँ तथा भारत सरकारकी प्रशासन-परिषद, (Executive Council) और बम्बई व मद्रासकी सरकारमें भी नियुक्त किये जायँ।

राष्ट्रपतिको कांग्रेसके प्रस्तावोंको लेकर वाइसरायसे मिलनेका अधिकार दिया गया। परन्तु कर्जनने राष्ट्रपतिसे मिलनेसे इनकार कर दिया। इसपर कांग्रेसने अंगरेजी जनताके सामने भारतकी तकलीफें रखनेके लिए लाला लाजपत राय और गोखलेका एक शिष्टमण्डल इंगलैण्ड भेजा। १९०५ में दोनों नेताओंने इंगलैण्डमें भ्रमण किया, लोगोंसे मिले, सार्वजनिक सभाओंमें भाषण किये, परन्तु उन्हें अंगरेजी सरकार या अंगरेजी जनतासे कोई सहानुभूति न मिली। वे निराश होकर वापस लौट आये। लाजपत रायको अंगरेजोंकी इस उपेक्षासे बहुत दुःख हुआ। वे यह विश्वास लेकर लौटे कि भारतको अपनी ही शक्तिका भरोसा करना चाहिये।

भारतीयोंकी ऊँचे पदोंपर नियुक्तिके विरोधमें कुछ अंगरेज लोग इस प्रकारकी बातें करते थे "भारतीय और कैम्ब्रिज, ऑक्सफोर्ड, या स्कॉटलैंडके विश्वविद्यालयोंके स्नातकोंके बौद्धिक स्तरमें विशेष अन्तर नहीं है। लेकिन फिर भी वे विद्वानों और मनुष्योंकी हैसियतसे बहुत हीन हैं। जो कुछ भी हमारी दृष्टिमें नैतिक-शिक्षा और उचित उद्देश्योंकी शिक्षा है वह उनमें नहीं है। हिन्दू बुद्धि अंग्रेजी साहित्य व पाश्चात्य विचारोंसे ओत-प्रोत होनेपर भी विकसित नहीं होती। हिन्दू चरित्रपर जब अंग्रेजी विद्वानोंकी छाप पड़ती है तो वह अपना भी स्वाभाविक गुण खो देता है। कलकत्ता, बम्बई या मद्रासके स्नातक समान स्थितिमें ऑक्सफोर्ड या कैम्ब्रिजवालोंको गणित या अध्यात्मवादमें हरा सकते हैं, लेकिन हारा हुआ अंग्रेज बढ़कर मनुष्योंका स्वामी बनेगा क्योंकि वह स्वयं अपना विधाता है, और अपने लिए एक सुन्दर भविष्यकी रचना करेगा क्योंकि उसके उद्देश्य महान हैं। जब कि उसका विजेता सरकारी क्लर्क, एक अत्याचारी जमींदार या सिर्फ विषयी बनकर रह जायगा।[१]

यद्यपि जनतापर कांग्रेसका प्रभाव बढ़ रहा था परन्तु सरकारपर इसका कोई असर नहीं था। स्पष्ट है कि कांग्रेस इतनी नम्र संस्था समझी जाती थी कि जिसकी बराबर उपेक्षा की जा सके। पीछे लौटना शुरू हो गया था। स्थानीय स्वायत्त शासनमें गैर-सरकारी प्रतिनिधित्व कम कर दिया गया। १८९२ के परिषद सम्बन्धी सुधार व्यर्थ सिद्ध हुए क्योंकि उनसे भारतका राजनीतिक और आर्थिक शोषण रोकनेमें रंचमात्र भी सहायता नहीं मिली। जो थोड़ेसे गैर-सरकारी सदस्य भारतीय परिषदोंमें बैठते थे उनका कोई प्रभाव न था। अतः उनके वहाँ न होनेसे भी कोई विशेष अन्तर न पड़ता। पूरे बीस सालसे कांग्रेस जनताके दुःख-दर्द और तकलीफोंपर प्रस्ताव पास करती रही और वैधानिक सुधारोंकी माँग करती रही परन्तु सरकार कानोंमें तेल डाले बैठी रही। दोनों (सरकार और कांग्रेस) अपने-अपने कर्तव्योंका पालन कर रही थीं। कांग्रेसके जन्मके पूर्व देशके कुछ हिस्सोंमें लोगोंने लड़नेका निश्चय किया भी, और सरकारकी सत्तासे विद्रोह कर दिया। शासकवर्ग भी चिन्तित होकर यह सोचनेपर विवश हो जाता था कि जनताको कैसे सन्तुष्ट रखा जाय। जैसा कि हम देख चुके हैं लिटन (वॉइसराय) के प्रतिक्रियावादी शासनने जनताके एक ऐसे वर्गको जन्म दिया जो कुछ करनेकी ठाने हुए था। यह सब अब अतीतकी कहानी बन

---

१. जार्ज-स्मिथ-व्य्लव इण्डियन स्टेट्समैन पृष्ठ २७०-७१

चुका था। सौभाग्यवश कर्जनके और अधिक प्रतिक्रियावादी शासनने कांग्रेसके अन्दर एक उग्र पार्टी पैदा कर दी। वे राजनीतिज्ञ जो वास्तविकता समझते थे सम्राज्ञीके आधी शताब्दी-व्याप्त शासनके कड़वे अनुभवोंसे समझ चुके थे कि भारतीयोंके साथ बराबरीके व्यवहारका वादा करनेवाला १८५८ का घोषणापत्र केवल, जैसा कि मालवीयजीने कांग्रेस अधिवेशनमें कहा था, एक कूटनीतिक चाल थी, जिसे पूरा करनेका इरादा कभी नहीं किया गया था।

जैसा कि डा० पट्टाभी सीतारमैयाने कहा है, उस कालके राजनीतिज्ञ "सरकारके शत्रु नहीं थे। यह न सिर्फ उनकी बार बारकी घोषणाओंसे व्यक्त होता है बल्कि समय-समयपर ऐसे देशभक्तोंके साथ सरकार द्वारा किये गये अनुग्रहोंसे और प्रतिष्ठित पदोंके दिये जानेसे भी सिद्ध होता है। स्वाभाविक था कि न्याय-विभाग ही इन अनुग्रहोंके लिए चुना जाता।" कुछ राष्ट्रपतियों और सक्रिय कांग्रेसियोंको न्यायाधीश बना दिया गया। बद्रुद्दीन तैयब जी (१८८७ के राष्ट्रपति), शंकरन नायर (१८९७), चन्दावरकर (१९००) और के. टी. तेलंग इनमेंसे थे। कुछको वाइसराय और गवर्नरकी कार्यकारिणी समितिका सदस्य नियुक्त कर दिया गया। ऐसा प्रतीत होता था कि कांग्रेस सरकारके अन्तर्गत ऊँचे पद प्राप्त करनेका एक माध्यम बन गया है। इस प्रकारके कार्योंसे राजनीतिपर प्रभाव पड़ता था और पड़ा।

सन् १८९६ से तिलक कांग्रेसका स्तर उठानेका प्रयत्न कर रहे थे। जब १८९९ में उन्होंने बम्बईके गवर्नर लार्ड सेण्डहर्स्टके कुशासनकी निन्दाका प्रस्ताव पेश करनेकी अनुमति चाही तो विरोधका एक तूफान खड़ा कर दिया गया। "उन्होंने प्रतिनिधियोंको चुनौती दी कि वे प्रमाणित करें कि सेण्डहर्स्टका शासन जनताको बर्बाद नहीं कर रहा है। उन्होंने नौकर-शाहीके कारनामों और हथकण्डोंका हवाला देते हुए पूछा कि क्या 'मैं बढ़ा चढ़ाकर कह रहा हूँ?' परन्तु राष्ट्रपति आर. सी. दत्त व कुछ अन्य प्रतिनिधि तिलककी प्रस्तावनाके विरुद्ध थे। और जब तिलकने तर्कपर तर्क और प्रमाण देना शुरू किया कि प्रस्ताव पेश करने से रोका नहीं जा सकता तो राष्ट्रपतिने धमकी दी कि यदि तिलक जिद करेंगे तो 'मैं त्याग-पत्र दे दूँगा'।"

परन्तु बादमें दादाभाई नौरोजीको भी अंग्रेजी शासनमें कोई विश्वास नहीं रहा। उन्हीं नौरोजीने, जिन्होंने दूसरी कांग्रेसमें राष्ट्रपतिके पदसे सम्राज्ञीके घोषणापत्रपर बोलते हुए एलान किया था कि "प्रत्येक शिशुको, जबसे उसे समझ आने लगती है और वह तुतलाना शुरू कर देता है, इसे कंठाग्र करा देना चाहिये", कुछ वर्षों बाद लिखा कि "भूतपूर्व शासक कसाईकी भाँति इधर उधर आघात करते थे परन्तु अंग्रेज कुशल सर्जनकी भाँति अपने वैज्ञानिक हथियारोंसे सीधे दिलपर वार करते हैं और मजा यह कि घाव दिखलाई भी नहीं पड़ता क्योंकि तुरत ही सभ्यता, उन्नति और दुनिया भरकी लच्छेदार बातोंकी मरहमकी मोटी तह घावको ढंक लेती है।"[1]

आयरलैण्ड संबंधी आर्थर-बालफोरके भाषणोंमें, जिसका आर० पी० करन्दीकरने १९०४ की बम्बई कांग्रेसमें उल्लेख किया था, भारत सरकारकी औद्योगिक नीतिके परिणामोंके बारेमें कहा गया है कि "एक एक करके हर उन्नति कर सकनेवाले उद्योगका जन्मते ही गला घोंट दिया गया है या हाथ पैर बाँधकर इंगलैण्डमें विरोधी हितोंके हवाले कर दिया

१. हीरेन्द्रनाथ मुखर्जीकी; इण्डिया स्ट्रगल्स फॉर फ्रीडम, से उद्धृत पृष्ठ-२९

गया है। यहाँतक कि धन उत्पन्न करनेवाला प्रत्येक स्रोत दृढ़तासे बन्द कर दिया गया है और पूरे राष्ट्रको विवश होकर खेतीपर निर्भर होना पड़ा है।" उन्हीं दिनों एक राजनीतिज्ञने अंग्रेजी और मुसलमानी शासनोंकी इस प्रकार तुलना की "शिक्षा, रक्षा और रेलोंके लिए अंग्रेजी शासन अधिक अच्छा है, परन्तु भारतकी धन-सम्पत्तिकी दृष्टिसे मुसलमानी शासन श्रेष्ठतर था, मुसलमान भारतीय बन गये और उनका धन भारतकी ही सम्पदा रहा जब कि अंग्रेज देशकी सम्पत्तिको लूटकर विदेश ले गये।"

अध्याय ८

मुस्लिम सम्प्रदायवादी राजनीति

मुसलमानी राजनीतिके सिलसिलेवार विवरणके लिए हमको १८८०-९० के इतिहासपर दृष्टिपात करना पड़ेगा। यद्यपि कांग्रेसने अपना जीवन राजभक्तिपूर्ण विरोधीके रूपमें आरम्भ किया था, फिर भी नौकरशाही और गैरसरकारी यूरोपियन इनकी जरा-सी भी आलोचना सुननेको तैयार नहीं थे। उनकी शत्रुता आंग्ल-भारतीय अखबारोंके कालमोंमें व्यक्त होती थी और अलीगढ़ कालेजके अंग्रेज प्रिंसिपल बेकने अखबारोंको कांग्रेस-विरोधी सामग्री व लेख देनेमें प्रमुख भाग लिया। बेकने १८८३ में प्रिंसिपलका पद ग्रहण किया और शुरू-शुरूमें मुसलमान उनको अंग्रेजोंका गुप्तचर समझते थे। परन्तु यह भाव थोड़े ही दिनोंमें विलीन हो गया और बेक मुसलमानोंके सबसे अच्छे मित्र समझे जाने लगे। इंगलैण्डमें एक भाषणमें उन्होंने कहा कि "भारतके लिए पार्लमेण्टरी प्रणाली नितान्त अनुचित है और प्रतिनिधिसंस्थाओं (रीप्रेजेंटेटिव इन्स्टीट्यूशन) के आरम्भ किये जानेका प्रयोग असफल और व्यर्थ सिद्ध होगा। मुसलमान हिन्दू बहुमतकी अधीनतामें रहेंगे और इस बातको मुसलमान बहुत बुरा मानेंगे। मुझे तो यह विश्वास है कि वे खामोशीसे इसको स्वीकार नहीं करेंगे।"[1]

पहला काम जो बेकने किया वह अलीगढ़से प्रकाशित 'इंस्टीट्यूट गजट' का प्रबन्ध अपने हाथमें लेना था। सर सैयद अहमद खाँ इस अखबारके सम्पादक व प्रबन्धक थे। बेकने 'गजट'के कालमोंका इस्तेमाल बंगाली हिन्दुओं और सर सैयद अहमद खाँके बीच दुश्मनी पैदा करनेके लिए किया। "उस समयतक सर सैयद अहमद खाँके विचार बंगालियोंके बारेमें बहुत ऊँचे थे। वे समझते थे कि बंगालियोंके ही कारण शिक्षामें बहुत उन्नति हुई है और देशमें स्वतन्त्रता और देशभक्तिकी भावना फैली है। वे कहा करते थे कि "वे सब जातियोंके सिरमौर हैं और उन्हें (सर सैयद अहमद खाँको) बंगालियोंपर नाज है।"[2]

बंगालियोंको गालियाँ देकर बेकने अपनी राजनीति शुरू कर दी। उन लेखोंकी जिम्मेदारी सर सैयदके सर जाती थी। इनमें तथा सर सैयद अहमद खाँके बीच बहुत दूरीका अन्तर था। स्पष्टतः उन्होंने यह बात जाननेकी कोई कोशिश नहीं की कि इन लेखोंका असली लेखक कौन है ? वे समझे कि चूँकि सर सैयद पत्रके सम्पादक हैं इसलिए यदि ये लेख उन्होंने स्वयं नहीं लिखे हैं तो लेखोंका अनुमोदन अवश्य किया है। दोनोंके बीच एक खाई पैदा कर दी गयी जो प्रतिदिन बढ़ती ही गयी।

"परन्तु कुछ ही समय बाद बंगाल नेशनल लीग नामक एक संस्थाका जन्म हुआ और 'स्टार इन दी वेस्ट' जैसे पत्रोंका प्रकाशन शुरू हुआ जिनकी नीति लड़ाकू और भाषा व शैली अपमानजनक थी और जिन्होंने लोगोंमें राजद्रोह और विप्लवकी एक नयी भावना फैलायी।

---

१. मुहम्मद नोमानकी 'मुस्लिम इण्डिया' से उद्धृत, पृष्ठ ५२

२. तुफैल अहमद, मुसलमानोंका रौशन मुस्तकबिल, पृष्ठ २९१

सर सैयदने बंगालियों द्वारा आरम्भ किये हुए उद्वेलनसे अपना नाता तोड़ लेना अधिक श्रेयस्कर समझा क्योंकि वे यह नहीं चाहते थे कि ऐसे किसी भी प्रकारके उद्वेलनमें मुसलमान भी शरीक समझे जायँ। मुसलमानोंके बीच आंदोलन करनेके माने विद्रोह खड़ा कर देना था और सर सैयद यह खतरा मोल लेनेके लिए तैयार नहीं थे।"[1]

सर सैयदमें धीरे धीरे परिवर्तन हो रहा था, जैसा कि उनके मध्य प्रांतके स्थानीय स्वायत्त शासन विधेयक (लोकल सेल्फ गवर्मेन्ट) सम्बन्धी वहसके दौरानमें, किये गये भाषणसे प्रतीत होता है। उन्होंने कहा कि "मुझे इस बातका पूरा यकीन है कि हिन्दोस्तानका कोई भी हिस्सा इस काबिल नहीं है जहाँपर प्रतिनिधि संस्थाओंके तरीकेका पूरा इस्तेमाल किया जा सके। प्रतिनिधि-संस्थाओं द्वारा प्रतिपादित स्वायत्त शासनका उसूल शायद सबसे महान और उत्तम शिक्षा है जो भारतको इंगलैण्डकी उदारता सिखायेगी। परन्तु इंगलैण्डसे प्रतिनिधि-संस्थाओंकी प्रणालीको उधार लेते वक्त इंगलैण्ड और भारतके सामाजिक-राजनीतिक अन्तरकी सबसे महत्वपूर्ण बात ध्यानमें रखना परम आवश्यक है। भारतकी वर्तमान समाजिक एवं राजनीतिक दशा सदियोंके निरंकुश अनियंत्रित राज्यक्रम व कुशासन एक जातिके ऊपर दूसरी जातिकी, एक धर्मके ऊपर दूसरे धर्मकी प्रधानता और प्रभुत्व के इतिहासका परिणाम है। जनताके विचारों, परम्पराओं और उसकी वर्तमान राजनीतिक व आर्थिक दशापर उसके अतीतके इतिहासका बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। मनुष्यता सिखलानेवाला अँग्रेजी शासन अभी भी अँग्रेजी प्रभुत्व द्वारा लायी हुई शान्तिके पूर्वकालीन युद्ध, रक्तपात, वैमनस्य और लड़ाई-झगड़ेकी यादको दिमागसे हटा नहीं पाया है। भारत स्वयं एक महाद्वीप है जिसमें विभिन्न विचारधाराओं व भिन्न-भिन्न जातिके लोग बसते हैं। धर्मकी मदान्धताने पड़ोसियोंको भी अलग रखा है। जाति-भेद अभीतक सशक्त और प्रधान है। एक ही जिलेमें विभिन्न कौमों और मतोंके लोग मिलेंगे। यदि एक तबकेके पास धन व व्यापार है। दूसरेके पास अक्ल और तालीम। एक तबका संख्यामें दूसरेसे बड़ा हो सकता है। आबादीके एक हिस्सेका बौद्धिकस्तर शेष आबादीसे बहुत ऊँचा हो सकता है। एक समाज जिला बोर्डों और स्थानीय बोर्डोंमें प्रतिनिधित्व प्राप्त करनेके महत्वको बखूबी समझ सकता है, जब कि हो सकता है कि दूसरा इससे बिलकुल ही विमुख हो। ऐसी हालतों-में इस बातसे इन्कार करना मुमकिन नहीं है कि प्रतिनिधि-संस्था-प्रणालीके भारतमें शुरू करनेमें काफी मुश्किलें उठानी पड़ेंगी और इससे पैदा होनेवाले सामाजिक व राजनीतिक खतरोंको नजरन्दाज नहीं किया जा सकता .... निर्वाचनसे प्रतिनिधित्व तय करनेकी पद्धतिके माने जनसंख्याके बहुमतके विचारों और हितोंका प्रतिनिधित्व है और इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे देशोंके लिए जहाँ एक ही जाति और विचारधाराके लोग बसते हैं यह प्रणाली सर्वोत्तम है, लेकिन श्रीमान्! भारत ऐसे देशमें जहाँ जाति-व्यवस्था अभीतक सशक्त है, भिन्न-भिन्न जातियोंका संगम नहीं बन पाया है, धार्मिक वैमनस्य अभीतक प्रखर है, जहाँ आबादीके हर हिस्सेको आधुनिक अर्थमें शिक्षा, बराबरीसे और ठीक अनुपातमें, नहीं मिली है, मैं दावेके साथ कहता हूँ कि जिलाबोर्डों और स्थानीय बोर्डोंमें विभिन्न हितोंके प्रतिनिधित्व-के लिए निर्वाचनके सिद्धान्तको आरम्भ करनेसे भयानक बुराइयाँ फैलेंगी जो आर्थिक विषमताओंसे कहीं अधिक भयंकर होंगी। जबतक कौमी और धार्मिक मतभेद, जाति

१. मुहम्मद नोमान वही पुस्तक, पृष्ठ-५०

व्यवस्थाके भेद-भाव, भारतके सामाजिक और राजनीतिक जीवनके महत्त्वपूर्ण अंग हैं और वहाँके रहनेवालोंके शासन-सम्बन्धी व देशकी भलाई-सम्बन्धी विचारोंपर प्रभाव डालते हैं, निर्वाचन प्रणाली नहीं अपनायी जा सकती। बड़ा समाज छोटे समाजके हितोंपर काबिज हो जायेगा और अज्ञान जनता ऐसे नियमोंके लिए जो कौमी और विचार-धाराओंके अन्तरको पहलेसे अधिक वैमनस्यतापूर्ण और प्रखर बनानेवाले हैं सरकारको उत्तरदायी ठहरायेगी।"[1]

इस भाषणने हिन्दुओं और मुसलमानोंके बीचका अन्तर स्पष्ट कर दिया। एक तरफ तो ऐसे राजनीतिज्ञ थे जो हिन्दू थे और प्रजातान्त्रिक संस्थाओंके शुरू किये जानेके लिए व्यग्र थे और उनके लिए उत्साहसे प्रयत्न कर रहे थे। दूसरी तरफ विरोधमें सर सैयद थे जो मुसलमानोंके एकमात्र सलाहकार समझे जाते थे। धीरे-धीरे अलगावकी भावनाएँ बढ़ीं और एच० जे० एस० कॉटनने एक प्रबंध (थीसिस) तैयार कर लिया 'जिसमें हिन्दू और मुसलमान' अलग-अलग दो राष्ट्र हैं, यह मत प्रतिपादित किया गया। उन्होंने लिखा कि—

"हिन्दू और मुसलमानोंके परस्पर सम्बन्धकी असलियतकी तरफ, उस ईर्ष्याकी तरफ भी जो दोनोंके बीचमें है और जो अंग्रेजी शासनके मातहत भी प्रत्यक्ष है, धर्मान्धताके स्थानीय उबालोंकी तरफ, इस्लामके वफादार अनुयायी भक्तोंकी कृष्ण और कालीके मूर्ति-पूजकोंके प्रति पैदाइशी उपेक्षाकी तरफ, आँखें बन्द कर लेना असम्भव है। इसलिए इस दावेके लिए यथेष्ट आधार है कि एक समाज दूसरेकी अधीनता सहन नहीं कर सकता। वाकई, मैं खुद भी यह बात नहीं मानता कि दोनोंमें शायद संमिश्रण हो जाय या किसी भी समाजमें ऐसा नेता मिल जाय जिसकी दोनों पक्षोंके प्रति समान सहानुभूति हो। वास्तवमें दोनों पक्षोंके नेता अलग होनेके लिए काफी हदतक सहमत हैं। भौगोलिक दृष्टिसे भारतके कई भागोंमें मुसलमान कुलीन सामन्ती वर्ग इस प्रकारसे बँटा हुआ है कि अपने हिन्दू प्रतिद्वन्द्वियोंसे झगड़ा बचा जाना मुमकिन है। इसलिए यह श्रेयस्कर प्रतीत होता है कि अंग्रेजी सरकार इस स्वाभाविक प्रवृत्तिको मदद दे। सौभाग्यवश नीची श्रेणीके वर्गोंपर इस पृथकताका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा और जनताके बड़े भागको एकीभूत होनेकी कठिनाइयाँ न उठानी पड़ेंगी। उदाहरणके तौरपर बंगालके दोआबेके ज्यादातर हिस्सेमें शान्तिप्रिय और सीधे साधे लोग आबाद हैं, वे चाहे हिन्दू हों या मुसलमान, दोनोंमें बहुत लम्बे समयसे साथ साथ रहनेके कारण घनिष्ठ संबंध हैं। इस्लामके माननेवालों, जो निस्सन्देह जनसंख्यामें अधिक हैं, तथा उस भूभागके प्राचीन निवासियोंमें भाषा, रीति रीवाजकी दृष्टिसे बहुत कम अन्तर है, अतः देशके इस विभाजनसे कोई कठिनाई नहीं पैदा होती; लेकिन देशके दूसरे भागोंमें, आमतौरपर मुसलमान अब भी उसी प्रकार समाजके प्रभावशाली मुख्य सदस्य हैं जैसे कि मुसलमान राजवंशके जमानेमें। उन्होंने अपनेको काफिरोंसे बिलकुल ही पृथक कर लिया है, जिनके साथ उनको रहना पड़ता है।"[2]

यह १८८६ में लिखा गया था, उन कथित अनुभवोंपर, जो श्री कॉटनने बंगाल सिविल सर्विसके एक अफसरकी हैसियतसे कई वर्षोंमें प्राप्त किये थे। अंग्रेजी शासनमें, उच्च वर्गके हिन्दुओं और मुसलमानोंमें पहली खाई तब पैदा हुई जब

---

१. मुहम्मद नौमान, 'मुसलिम इण्डिया'से उद्धृत—पृष्ठ २४-२६

२. कॉटन—न्यू-इण्डिया, पृष्ठ १२३-२४

बंगालके मुस्लिम खानदानोंकी जायदादें, उनसे लेकर, हिन्दुओंको दे दी गयीं। यह हम पहले ही देख चुके हैं कि मुसलमान किस प्रकार अंग्रेजी शिक्षाका बॉयकॉट कर हिन्दुओंसे बहुत पिछड़ गये थे—इस बातने मुसलमानोंको राजनीतिक विकासकी तरफ उदासीन कर दिया! यहाँतक कि अंग्रेजोंने ही मुसलमान नेता वर्गको यह सूझ दी कि संख्यामें कम मुसलमान शिक्षित वर्ग हिन्दुओंके साथ कन्धेसे कन्धा मिलाकर राजनीतिक प्रगतिके पथपर न चल सकेंगे। वहाबी आन्दोलनके दमनके बादके दस साल राजनीतिक दृष्टिसे एक बातके लिए महत्वपूर्ण हैं; इस कालमें लड़ाकू और हर ब्रिटिश-विरोधी मुसलमान सम्राज्ञीकी राजभक्त प्रजा बन गया; और राजभक्त शिक्षित हिन्दुओंमें धीरे-धीरे ऐसी भावना पनपने लगी जिससे अंग्रेज चिढ़ने लगे। जहाँ अंग्रेजोंने ताकतके जोरपर वहाबी-आन्दोलनका दमन कर दिया था, वे एक वैधानिक उद्वेलनको दबा नहीं सके; क्योंकि वे स्वयं अपने मतके तर्कके अनुसार वैधानिक उद्वेलन और हिंसात्मक आन्दोलनको समान नहीं समझते थे। इसका यह अर्थ नहीं कि वे इससे परेशान नहीं थे, सिर्फ इस उद्वेलनको दबानेका तरीका भिन्न था। इस मामलेमें दमनके उपाय फौजी न होकर सिविल थे। उदाहरणके लिए सिविल शासनकी एक चाल भिड़ा जनताके एक हिस्सेको दूसरेके खिलाफ कर देना है, एक धार्मिक सम्प्रदायको दूसरे सम्प्रदायसे बढ़ा देना है। हालाँकि हिन्दू राजभक्तोंका एक बहुत बड़ा हिस्सा उतनी ही लगनसे अंग्रेजी शासनका समर्थन करता था जितना कि मुसलमानोंका, हिन्दू नेताओंने नयी चेतनाएँ उत्पन्न कीं, और अंग्रेज अधिकारियोंका यह सन्देह स्वाभाविक था कि हिन्दू चाहे कितने ही राजभक्त क्यों न हों, वे अपने समाजके नेताओंसे अवश्य प्रेरित और प्रभावित होंगे। चूँकि मुसलमानोंमें हिन्दू नेताओंके समकक्ष नेता नहीं थे इसलिए अंग्रेजोंके दिलोंमें यह धारणा जम गयी कि वे हिन्दुओंसे अधिक मुसलमानोंका विश्वास कर सकते हैं।

प्रथम कांग्रेस अधिवेशनके एक वर्ष बाद अलीगढ़में प्रथम मुहमडन शिक्षा सम्मेलनमें कांग्रेसके विरोधमें संघटित आवाज उठायी गयी। इस सम्मेलनमें सर सैयद अहमद खाँने भाषण किया। उन्होंने विचारोत्तेजक बातें कहीं "मैं उन लोगोंसे सहमत नहीं हूँ जो यह विश्वास करते हैं कि सियासी बहसें कौमी-तरक्कीमें मददगार साबित होंगी। मैं सिर्फ तालीमकी तरक्कीको कौमकी तरक्कीका जरिया मानता हूँ।" सर सैयदके रोंगटे मुसलमानोंके विद्रोहके बादके क्रान्तिकारी कार्योंके परिणामोंको सोचते ही खड़े हो जाते थे और वे मुसलमानोंके एक बार फिर राजनीतिके भँवरमें कूद पड़नेका खतरा उठानेके लिए तैयार नहीं थे चाहे वह राजनीति काँग्रेसकी ही तरहकी क्यों न हो। पिछली घटनाओंपर खेद प्रकट करते हुए ये कहते कि यदि ये घटनाएँ न हुई होतीं तो "हमारे कितने ही नौजवान" आज "महत्वपूर्ण फौजी व सरकारी पदोंपर आसीन होते।"

अगले वर्ष मुहम्डन शिक्षा कांग्रेस (जिसका नाम बादमें मुस्लिम शिक्षा सम्मेलन हो गया) दिसम्बर १८८७ में लखनऊमें हुई जहाँपर सर सैयदने अपना पहला कांग्रेस विरोधी भाषण किया। यह कूटनीतिक भाषाके आवरणमें लिपटा हुआ था और श्रोताओंके बड़े हिस्से, अमीर और कुलीन सामन्ती वर्गके मुसलमानों, की भावनाओं और मनोदशाके अनुकूल था। "आप लोग, मुझे विश्वास है" उन्होंने कहा "यह कभी भी गवारा न करेंगे कि ऐरे गैरे नत्थू खैरे बी. ए. और एम. ए. की डिग्रियाँ हासिल कर

लेनेके बाद विधान परिषदोंमें बैठें और आपके ऊपर हुकूमत करें। जरा कयास कीजिये कि वाइसराय साहब इन लोगोंको 'मेरे सहयोगी' या 'मेरे माननीय सहयोगी' कह कर सम्बोधन करेंगे। सरकार इसके लिए कभी भी राजी न होगी। वाइसराय इन लोगोंको खानेपर या सरकारी उत्सवोंपर कभी दावत नहीं दे सकते जहाँ ड्यूक और अर्ल जैसे आदरणीय महापुरुष तशरीफ लायेंगे।"[1] सर सैयद विधान परिषदोंमें वृद्धि करने और उनमें निर्वाचित भारतीयोंके शामिल किये जानेकी कांग्रेसकी माँगके विरोधमें बोल रहे थे।

इसके बाद उन्होंने कांग्रेसकी इस माँगको लिया कि भारत और इंगलैंड दोनों जगह इण्डियन सिविल सर्विसकी परीक्षाएँ एक साथ लेकर देशके शासनमें उन्हें उचित हिस्सा दिया जाय। उन्होंने उसी तैशमें बोलते हुए कहा "भारतके आला खानदानोंके लोग यह कैसे गवारा कर सकते हैं कि सामान्य लोग, जिनकी पैदाइशसे वे अच्छी तरह वाकिफ है, उन पर हुकूमत करें? अंग्रेजोंकी बात दूसरी है क्योंकि यहाँ बैठकर इतनी दूरीसे हम अन्दाज नहीं लगा सकते कि कौन किस तबकेसे आता है। फिर इंगलैण्ड प्रतियोगता-परीक्षाके लिए उचित स्थान है क्योंकि वहाँकी आबादीमें एक ही तरहके लोग हैं; लेकिन हिन्दोस्तानमें तो कई कौमें बसती हैं। फिर हिन्दोस्तान एक और वजहसे प्रतियोगिता परीक्षाओं-के लिए अयोग्य स्थान है; यहाँके विभिन्न निवासियोंके शिक्षा स्तरोंमें बहुत अन्तर है—शिक्षाकी दृष्टिसे मुसलमान पिछड़े हुए हैं; और इस सूबे (यू. पी.) के हिन्दू बंगालियोंके मुकाबिलेमें शिक्षामें पिछड़े हुए हैं।" सर सैयद उत्तरी भारतके उच्च और मध्यम वर्गीय मुसलमानोंके निर्वि-वाद नेता थे; और स्वाभाविक था कि उनके उद्‌गारोंपर राजनीतिक बहस छिड़ जाय। अपने मतकी पुष्टिमें सर सैयद खुलकर कुरानका हवाला दिया करते थे, जिसे वे अपने लोगोंका सबसे बड़ा दोस्त मानते थे। लखनऊके मुहम्डन शिक्षा कांग्रेसके अधिवेशनके फौरन बाद ही उन्हें सरका खिताब मिला। यह आदर उस समय बहुत महत्त्वका समझा जाता था।

जब १८८८ में यू. पी. के लेफ्टिनेण्ट गवर्नरने इलाहाबादमें कांग्रेसका अधिवेशन न होने देनेके लिए भरसक रोड़े अटकाये, कांग्रेस विरोधी आन्दोलनने काफी जोर पकड़ा। उस वर्ष कुछ हिन्दुओंने गौवध विरोधी आन्दोलन आरम्भ किया और अलीगढ़-विचारके लोगोंको इससे कांग्रेसके खिलाफ एक और हथियार मिल गया। बावजूद इसके, लुधियाना, जलंधर होशियारपुर, कपूरथला, अमृतसर, छपरा, गुजरात, जम्मू, फिरोजपुर, कसूर, मुल्तान, अम्बाला, सहारनपुर, मुज्जफरनगर, दिल्ली, रामपुर, बरेली, मुरादाबाद वगैरहके मुस्लिम मजहबी नेताओंके दस्तखतोंसे एक फतवा जारी किया गया जिसमें घोषणा की गयी थी कि मुसलमान काँग्रेसमें शामिल होनेके लिए आजाद हैं। ये सब नेता खुद काँग्रेस अधिवेशनमें भाग लेनेको उत्सुक थे। लेकिन इनमें प्रतिनिधियोंकी नियमित योग्यताओंकी एक कमी थी—वे अंग्रेजी नहीं जानते थे।

१८८८ के कांग्रेस विरोधी कार्योंकी चरम सीमा कट्टर राजभक्तों द्वारा 'संयुक्त भारतीय देशभक्त संघ' (लिमिटेड इण्डियन पेट्रिआटिक एसोसियेशन) नामी एक संस्थाको जन्म देना था। प्रत्येक व्यक्ति इस संघका सदस्य हो सकता था। इसके उद्देश्य थे—(१) पार्लमेण्टके सदस्योंको विश्वास दिलाना कि भारतीय जनता कांग्रेसके साथ नहीं है

---

१. तुफैल अहमद—वही पुस्तक पृष्ठ २८८-८९

और 'इसके गुमराह करनेवाले वक्तव्योंका' विरोध करती है। (२) कांग्रेस विचारधाराके विरोधमें प्रचार करना।

संघकी पहली मीटिंगमें निश्चय किया गया कि अंग्रेजीमें एक पत्रिका निकाली जाय और इसकी नीति निर्धारित करनेके लिए यूरोपियन सम्पादक नियुक्त किया जाय। इस अभिसन्धिके पीछे बेकका कूटनीतिज्ञ दिमाग था, यह बात इससे सिद्ध हो जाती है कि इसे बनानेके बारेमें भेजे गये गश्ती खतोंपर उनके और सर सैयदके दस्तखत थे। संघके सदस्य मुख्यतया, मुसलमान नवाब, हिन्दू राजे, खिताब पाये हुए लोग और कुछ अंग्रेज थे। इसका वार्षिक सदस्यता शुल्क एक पौण्ड था। राजा शिवप्रसाद इसके सबसे कर्मठ सदस्योंमेंसे थे। उन्होंने सरकारको यह सुझाव देकर कि कांग्रेसको गैरकानूनी करार दे दिया जाय सबसे बाजी मार ली। सर सैयदको अपनी सफलतापर बहुत हर्ष हुआ और उन्होंने अपने जीवनी-लेखक कर्नल ग्रैहमको लिखा "........मैंने तथाकथित राष्ट्रीय कांग्रेस (नैशनल कांग्रेस) की मुखालफतमें एक बहुत बड़े कामकी जिम्मेदारी ली है, और एक संघ बनाया है।"[1]

लेकिन एक सीमित क्षेत्रके बाहर सर सैयद और बेककी आवाज नहीं मानी जाती थी। बहुतसे मुसलमान अभीतक कांग्रेस अधिवेशनोंमें भाग ले रहे थे और उनमें शामिल होना उन्होंने जारी रखा। १८८७ में सर सैयदने लखनऊमें अपना पहला कांग्रेस विरोधी भाषण किया। इस वर्षके कांग्रेसके अधिवेशनके अध्यक्ष बम्बईके मशहूर मुसलमान बदरुद्दीन तैयब जी थे जिन्होंने कांग्रेस अधिवेशनमें बम्बईके अंजुमने इस्लामकी नुमाइन्दगी की। उन्होंने इस मतकी मुखालफत की कि मुसलमान कांग्रेसमें न शरीक हों।

लेकिन बेकने अभी तक हिम्मत न हारी थी। अलीगढ़ कॉलेजके, जहाँसे बाकी सब मुस्लिम शिक्षा-संस्थाओंके मुकाबिलेमें ज्यादा मुसलमान स्नातक (ग्रेजुएट्स) निकलते थे, प्रधानाध्यापककी हैसियतसे बेकके पास मुसलमानोंके दिमागकी चाभी थी। उन्हें शिक्षणकार्यसे अधिक उनके व्यक्तित्व बनानेमें अधिक दक्षता प्राप्त थी। यदि उन्हें अपने अभीष्टकी सिद्धिके लिए सचाईको तोड़ना-मरोड़ना भी पड़े तो भी बेक मुसलमानोंको हिन्दुओं-के खिलाफ खड़ा करनेके किसी मौकेसे न चूकते थे। स्पष्ट था कि ईमानदारी या अन्तरात्मा उनको कभी कष्ट नहीं देती थी। १८८९ में चार्ल्स ब्रेडलॉने भारतीय प्रशासनमें सुधार आरम्भ करनेका सवाल पार्लमेंटमें उठाया। जैसा कि हम देख चुके हैं, ब्रेडलॉके विधेयक (बिल) का आशय भारतमें प्रजातन्त्रवादका एक उसूलका शुरू करना था। बेकने तुरन्त ही ब्रेडलॉके विधेयक के खिलाफ मुसलमानी-लोकमत जागरित करना आरम्भ कर दिया। चूँकि उन्हें अपनी सफलतामें किंचित् सन्देह था, लिहाजा उन्होंने चालबाजीकी शरण ली। लगभग उसी समय हिन्दुओंने गो-वध-विरोधी उद्वेलन शुरू किया था। बेकने अनेक मुसलमानोंकी तरफसे एक स्मृतिपत्र तैयार किया जिसमें यह साबित करनेकी चेष्टा की गयी थी कि भारत प्रजातान्त्रिक संस्थाओंके अयोग्य है। अलीगढ़-विद्यार्थियोंके जत्थे भिन्न-भिन्न शहरोंमें हस्ताक्षर-आन्दोलन चलानेके लिए भेजे गये। स्वयं बेक नौजवानोंकी एक टोलीके साथ पहिले ही दिल्ली रवाना हो गये। वहाँ वे प्रसिद्ध जामा मस्जिदके फाटक-पर बैठ गये और वहींसे अपने विद्यार्थियोंको राहगीरोंके पास जाते देखते, जुमेकी नमाजसे

---

१. ग्रैहम—लाइफ एण्ड वर्क ऑफ सर सैयद अहमद खाँ, पृष्ठ २७३

लौटे मुसलमानोंको समझाया जाता कि स्मृतिपत्रमें (जो अंग्रेजीमें था) सरकारसे मुसलमानोंके गौ-कुशीके हककी हिफाजत करनेकी प्रार्थना की गयी है, क्योंकि हिन्दू उन्हें उससे वंचित करनेकी योजना बना रहे हैं। इस प्रकारसे २०७३५ हस्ताक्षर इकट्ठे किये गये और पार्लमेंटके सामने स्मृति-पत्र पेश कर दिया गया।"[1]

इस स्मृतिपत्रकी न तो किसी माने हुए मुस्लिम नेताने अगुआई की थी और न इसपर किसीके हस्ताक्षर ही थे।

जब वेक हिन्दू और मुसलमानोंके बीच दरार डालनेकी जीतोड़ कोशिशें कर रहे थे, वाइसराय लार्ड डफरिनने प्रस्तावित सुधारोंमें मुसलमानोंके लिए पृथक प्रतिनिधित्वका सुझाव रखकर इस प्रयत्नको पूरा कर दिया। डफरिनकी भारत सरकार और अंग्रेजी सरकारने इसको बहुत होशियारीसे हासिल किया। उन्हें इस बातका भय था कि शायद पार्लमेण्ट पृथक निर्वाचनको स्वीकार न करे। अधिकृत सुधार विधेयक (रिफार्म्ज बिल) में इसकी व्यवस्था नहीं की गयी थी और न ऐक्टमें ही कहीं इसका जिक्र था। लेकिन विनियमन (रेगुलेशन्स) बनानेवालोंको दिये गये निर्देशोंमें पृथक निर्वाचनकी व्यवस्था की गयी थी।

१८९० के कांग्रेस अधिवेशनमें सुधार प्रस्तावपर बोलते हुए एक मुसलमान सदस्य सैयद सर्फुद्दीनने इसका तीखा जवाब दिया। उन्होंने कहा कि मुसलमान अल्प-संख्यक हैं और सुधारोंसे उनका अहित होगा, इस तर्कमें जरा भी दम नहीं है। उन्होंने कहा "आप पटना शहरको ही लीजिये, म्यूनिस्पैलिटीमें २० सीटें हैं बावजूद इस बातके कि हिन्दू बहु-संख्यक हैं, वे अधिकतर मुसलमानोंको ही चुनते हैं। बीसमें तेरह मुसलमान सदस्य हैं। बम्बईमें हिन्दू जबरदस्त बहुमतमें हैं, फिर भी वहाँ पाँच पारसी, तीन यूरोपियन, दो हिन्दू और दो मुसलमान सदस्य हैं। हमारे देशमें अभी तक बहुमत और अल्पमतके प्रश्नके ऊपर कोई कठिनाई नहीं उत्पन्न हुई है और न इस प्रकारका कोई सवाल उठना ही चाहिये।"

डा० अम्बेडकरने कहा है कि इस व्यवस्थाके आरम्भके लिए कौन जिम्मेदार था, यह एक रहस्य है।[2] पृथक् निर्वाचनकी योजना किसी संघटित मुसलमान संघके आन्दोलनका परिणाम तो थी नहीं। तब यह किसने शुरू की? यह कहा जाता है[3] लार्ड डफरिनने इसका आविष्कार किया था, जिन्होंने १८८८ में ही विधान परिषदके प्रतिनिधित्वके प्रश्नपर इस बातपर जोर दिया था कि इंगलैण्डकी तरहकी प्रतिनिधित्व-प्रणाली भारतमें लागू नहीं की जा सकती। यहाँपर हितोंको प्रतिनिधित्व देना होगा।

एक सवाल और उठता है कि किस बातने लार्ड डफरिनको यह योजना पेश करनेको प्रेरित किया? ऐसा समझा जाता है[4] कि मुसलमानोंको कांग्रेससे अलग करनेका विचार, जो तीन वर्ष पहले ही उत्पन्न हो चुका था, इसके लिए उत्तरदायी है। जो भी हो, इस ऐक्ट द्वारा मुसलमानोंके लिए पृथक प्रतिनिधित्व पहली बार भारतीय संविधानका एक अंग बन गया।"

१. वही पुस्तक पृष्ठ—३००

२. अम्बेडकर—पाकिस्तान ऑर पार्टीशन ऑफ इण्डिया-पृष्ठ-२४०

३. सर मुहम्मद शफीका 'माइनॉरिटीज सब कमेटी ऑफ दी फर्स्ट राउण्ड टेबुल कॉन्फ्रेंस' (इण्डियन एडिशन) का भाषण पृष्ठ-५७

४. राजा नरेन्द्रनाथका भाषण, वही पुस्तक, पृष्ठ ६५

विना किसीके माँगे हुए १८८८ में डफरिनकी सुधार-समितिने पृथक् प्रतिनिधित्वके सिद्धान्त का प्रस्ताव सामने रखा। वेक द्वारा चलाया हुआ हस्ताक्षर आन्दोलन इसके वाद हुआ और यह साफ समझा जा सकता है कि वेकने वाइसरायसे सम्पर्क स्थापित कर लिया था और अपने लोकतन्त्र विरोधी प्रस्तावोंके पक्षमें किसी प्रकारका दिखाऊ तर्क उपस्थित करनेका प्रयत्न कर रहे थे।

१८९३ में वेकने कहा कि तिलकके गणपति-उत्सवोंसे मुसलमानोंकी भावनाओंको दुःख पहुँचता है। ३० दिसम्बर सन् १८९३ को सर सैयदकी सहायतासे उन्होंने उत्तरी भारत का मुहम्मडन आंग्ल प्राच्य सुरक्षा संघ (दि मुहम्मडन एंग्लो ओरियण्टल डिफेन्स एसोसियेशन आव अपरइंडिया) कायम किया। यद्यपि वेकका भारतीय देशभक्त संघपर पूरा प्रभाव था, फिर भी अपनी अभीष्ट सिद्धि वे उसकी सहायतासे नहीं कर सकते थे, क्योंकि गैर मुसलमान भी इसके सदस्य थे। इसलिए उन्होंने 'देशभक्त संघ'को खत्म करके केवल मुसलमानोंका एक संघटन खड़ा कर दिया, जिसके मन्त्री वे स्वयं वने।

अपने उद्घाटन-भाषणमें उन्होंने कहा "भारतीय देशभक्त संघ दोषयुक्त सावित हुआ, क्योंकि इसके कार्योंने जन-उद्वेलनोंका रूप ग्रहण कर लिया था। इसमें पचास संघ सम्मिलित थे। इसके अलावा यह सिर्फ मुसलमानोंका ही संघटन नहीं था, हिन्दू भी इसके सदस्य थे। हम यह प्रस्ताव करते हैं कि इस नये संघमें, जिसको हम वना रहे हैं, किसी भी शाखाको न शामिल किया जाय। और न कोई सार्वजनिक सभा की जाय। संघकी परिषदको समस्त अधिकार दे देने चाहिये।"[1]

वेकने एक अंग्रेजी पत्रिकामें लिखा "इस देशमें पिछले कुछ वर्षोंमें दो आन्दोलन हुए हैं। पहला भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस है और दूसरा गोवध विरोधी आन्दोलन। पहला आन्दोलन अंग्रेजोंके खिलाफ है और दूसरा मुसलमानोंके। कांग्रेसका ध्येय अंग्रेजोंके हाथोंसे देशकी वागडोर छीनकर हिन्दुओंके हाथ सौंप देना है। यह हथियार कानून (Arms Act) को वापस लेनेकी माँग करती है, फौजी व्ययमें कमीकी माँग करती है जिसका नतीजा सीमा प्रान्तकी सुरक्षामें कमजोरी होता है। मुसलमानोंको इन माँगोंसे कोई सहानुभूति नहीं हो सकती। गोवध रोकनेके लिए हिन्दुओंने मुसलमानोंका वहिष्कार तक करना प्रारम्भ कर दिया है......जिसका नतीजा आजमगढ़ और वम्वईके दंगोंका रक्तपात है। यह अंग्रेजों और मुसलमानोंके लिए अत्यावश्यक हो गया है कि वे इन आन्दोलनकारियोंसे लड़नेके लिए एक हो जायँ और गैर मुनासिव प्रजातान्त्रिक शासन-प्रणालीको लागू होनेसे रोकें क्योंकि वह देशकी जहनीयतके विपरीत और गैर जरूरी है। इसलिए हमारी सम्मतिमें सरकारके प्रति वफादारी और आंग्ल-मुस्लिम गठवन्धन होना चाहिये।"[2]

सुरक्षा संघके उद्देश्य थे (१) मुस्लिम-भारतके विचारोंसे अंग्रेजोंको आमतौरसे और सरकारको विशेष तौरपर अवगत कराना व मुसलमानोंके राजनीतिक अधिकारोंकी सुरक्षा करना। (२) भारतमें अंग्रेजी शासनको मजवूत करनेके लिए वनाये गये नियमोंकी पूरी

१. तुफैल अहमदकी उसी पुस्तकसे अशोक मेहता और अच्युत पटवर्धन द्वारा 'दी कम्यूनल ट्राइएंगिल'में अनुवादित, पृष्ठ २६

२. वही पुस्तक पृष्ठ ५९

हिमायत करना। (३) मुसलमानोंमें राजनीतिक उद्वेलन फैलनेसे रोकना। (४) शान्ति-स्थापनाकी सहायता करना और जनतामें राजभक्तिकी भावना पैदा करना।

कांग्रेस और हिन्दू विरोधी उद्वेलनमें बेकने कोशिश की कि अंग्रेज मुसलमानोंका पक्ष लें। कांग्रेस, उन्होंने कहा, अंग्रेजोंके विरुद्ध है और हिन्दू मुसलमानों के। वे मुसलमानोंको यह विश्वास दिलाना चाहते थे कि कांग्रेस हिन्दू समाजके एक हिस्सेके लिए राजनीतिक सत्ता चाहती है लिहाजा कांग्रेसकी फौजी व्ययमें कमीकी माँगका मुसलमान समर्थन न करें क्योंकि इससे हुकूमत कमजोर हो जायगी। वे यह सिद्ध करनेमें संलग्न थे कि अंग्रेज और मुसलमानोंके हित एक ही हैं क्योंकि गोवध-विरोधी आन्दोलन दोनों समाजोंके लोगोंके भोजनका प्रधान भाग छीननेका एक राजनीतिक पैतरा है, जिससे उन्हें नुकसान पहुँचाया जा सकता था। उनका नारा था कि ब्रिटिश और मुसलमान दोनोंको अपने समान खतरे कांग्रेस व हिन्दूके खिलाफ एक हो जाना चाहिये। इस प्रकारके तर्कसे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि भारत प्रजातान्त्रिक संस्थाओंके अयोग्य है। बेककी राजनीतिका यह दौर सर सैयदके व्यक्तिगत दृढ़ विश्वासोंके बरखिलाफ था परन्तु बेक अपनी बातपर अड़े रहे। सर सैयद बहुधा अपने अनुयायियोंसे कहते थे कि गायकी कुर्बानी करके अपने हिन्दू भाइयोंको नाराज करना अनुचित है क्योंकि गो-कुशीसे उनकी दोस्ती ज्यादा कीमती है।

बेकने पार्लमेंटमें पेश करनेके लिए एक और आवेदनपत्र लिखा और उसपर हजारों मुसलमानोंके दस्तखत करवाये। इसमें काँग्रेसकी भारत और इंगलैण्डमें सिविल सर्विस परीक्षाओंके करनेकी माँग ठुकरा देनेकी प्रार्थना की गयी थी। ब्रिटिश हुकूमतका खुद भी इस माँगको मान लेनेका कोई इरादा नहीं था और उसने सधन्यवाद मुसलमानोंकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। सुरक्षा संघ (डिफेन्स एसोसियेशन)की परिषदके सामने सरकारका जवाब पेश किया गया और परिषदने भारत सचिवके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित की।

बेकके, मुसलमानोंके बगैर प्रतियोगिता-परीक्षाओंमें बैठे सिविल सर्विसमें सीधे भर्ती कर लिये जानेके प्रयासने उसको बहुत जन-प्रिय बना दिया।

१८९५ में वे इंगलैण्ड गये। उनके वहाँ लगातार किये गये भाषणोंमें भारतीय राजनीतिको गुमराह करनेवाला विवरण था। उन्होंने कहा कि (१) मुसलमान और अँगरेज दोस्त बन सकते हैं लेकिन हिन्दू और मुसलमान नहीं। (२) मुसलमान कभी भी ऐसी शासन प्रणाली स्वीकार न करेंगे जिसमें बहुसंख्यक हिन्दू उनपर हुकूमत करें। (३) भारतीयोंको प्रजातान्त्रिक शासन-प्रणाली पसन्द नहीं है—वे राजतन्त्रको श्रेयस्कर समझते हैं। (४) विद्रोहके बीच और बादके मुसलमानोंके सियासी तर्जे अमलने मुस्लिम समाजको हिन्दुओंकी उद्वेलनकारी राजनीति के प्रति सावधान कर दिया है, और मुसलमानोंको राजभक्त बना दिया है। (५) मुसलमान एक साथ परीक्षाएँ लेनेके विरोधी हैं क्योंकि इसके फलस्वरूप निष्पक्ष अँग्रेज हाकिमोंके स्थानपर मुसलमान-विरोधी हिन्दू आजायेंगे।

अलीगढ़ कॉलेजकी १८९७ की फरवरी माहकी पत्रिकाके अनुसार सुरक्षा संघकी अपनी वार्षिक रिपोर्टमें बेकने इस बातकी तरफ इशारा किया था कि संघकी परिषदकी अगली मीटिंगमें सर सैयद काँग्रेसकी फौजी-खर्चेमें कमीकी माँगके खिलाफ तजवीज पेश करेंगे। सर सैयदने वास्तवमें ऐसा ही किया। इनका प्रस्ताव था कि संघकी रायमें भारतमें एक राष्ट्रीय

सेना होनी चाहिये लेकिन यह संघ फौजी व्ययमें किसी भी कमीके खिलाफ है। वे और एक कदम आगे गये और सीमाओंपर सेना बढ़ानेकी माँग की।

सितम्बर १८९९ में बेककी मृत्यु हो गयी। जैसा कि हाईकोर्टके प्रधान-न्यायाधीश सर आर्थर स्ट्रैचीने उनको मृत्युपर कहा था भारतीय रंगमंचसे साम्राज्यकी जड़ें जमानेवाला एक अंग्रेज चला गया। उनके साथ ही मुहम्मडन सुरक्षा संघ भी लुप्त हो गया। सर सैयदका देहान्त एक वर्ष पूर्व ही हो गया था।

बेकके देहान्तके पश्चात् अलीगढ़ कालेजके प्रधानाध्यापक श्री थियोडोर मॉरीसन हुए। आप वहींके भूतपूर्व प्रोफेसर थे और बेकने आपको राजनीतिक कामोंकी शिक्षा दी थी। वास्तवमें उनकी शिक्षा तो पहले ही लन्दनमें शुरू हो चुकी थी जहाँ उन्होंने 'देशभक्त-संघ' (पेट्रियॉटिक एसोसियेशन) की शाखा खोल दी थी, बादमें आप लन्दनमें बेकके प्रधान प्रतिनिधि बन गये। मुस्लिम विद्यार्थियोंको नौकरी दिलानेके लिए रोजगार दिलाऊ दफ्तर खोलकर मॉरीसनने प्रधानाध्यापकीका कार्यकाल आरम्भ किया। यह अलीगढ़-कॉलेजकी परीक्षाओंके अनुरूप ही था ताकि विद्यार्थी अपनेको भविष्यका सरकारी नौकर समझें और राजनीतिक आन्दोलनसे बचे रहें।

बेकके पदचिह्नोंपर चलते हुए मॉरीसनने घोषणा की कि भारतमें प्रजातन्त्र अल्पसंख्यकोंको लकड़हारों और भिश्तियोंकी दशामें पहुँचा देगा। मुसलमानोंको यह सलाह ऐसे समयमें दी गयी जब कि हिन्दी-उर्दू विवादमें हारकी वेदनासे उत्तेजित होकर मुसलमान एक राजनीतिक संघटन बनानेकी सोच रहे थे। संक्षेपमें कहानी यह है कि—कुछ हिन्दुओंकी प्रार्थनापर यू० पी० सरकारने १८ अप्रैल १९०० को एक प्रस्ताव प्रकाशित किया जिसमें सरकारी दफ्तरों और अदालतोंको देवनागरी लिपिमें लिखी दरखास्तें स्वीकार करनेका आदेश दिया गया था। इन कामोंके लिए अभीतक उर्दूको ही मान्यता प्राप्त थी। आदेशमें यह भी कहा गया था कि आइन्दासे अदालती सम्मन और सरकारी घोषणाएँ हिन्दी उर्दू दोनोंमें जारी की जायँ; और सरकारी नौकरियोंके लिए दोनों भाषाओंका ज्ञान आवश्यक है। इस प्रस्तावका अर्थ अलीगढ़-विचारधाराके मुसलमानोंने यह निकाला कि उर्दूका दर्जा घटा दिया गया है। मुस्लिम-रोष प्रगट करनेके लिए प्रान्तमें कई जगह विरोध-सभाएँ की गयीं। सरकारके प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करनेके लिए हिन्दुओंने अलग सभाएँ कीं। कई महीनोंतक अखबारोंमें यह विवाद उग्रतासे चला जिससे हिन्दुओं और मुसलमानोंके बीचकी खाई बढ़ गयी। १३ मई १९०० को छतारीके लुत्फअली खाँकी अध्यक्षतामें हुई एक सभामें यू० पी० के एक लेफ्टिनेण्ट गवर्नरसे इस प्रस्तावको वापस लेनेकी प्रार्थना करनेका निश्चय किया गया। इसी प्रकारकी एक सभा अगस्तमें लखनऊमें हुई जिसमें अलीगढ़ कॉलेजके मन्त्री नवाब मोहसिनुल-मुल्कने एक जोरदार भाषण किया जिसपर लेफ्टिनेण्ट गवर्नरने आक्षेप किया। नवाब साहबसे अलीगढ़-कॉलेजके मन्त्रिपद और अंजुमने-उर्दूकी राजनीतिमेंसे चुननेको कहा गया। उन्होंने अंजुमने-उर्दूसे हाथ खींच लिया। इस घटनाने मेहदीहसन और वकारुल मुल्क जैसे मुस्लिम नेताओंको मुसलमानोंके लिए एक राजनीतिक संघटन कायम करनेके लिए प्रेरित किया। बेककी मुसलमानोंको राजनीतिमें हिस्सा न लेनेकी सलाहका उल्लेख करते हुए मोहसिनुलमुल्कने इस प्रस्तावका विरोध किया।

मॉरीसनने भी इसका विरोध किया। इन्स्टीट्यूट-गजटमें प्रकाशित एक पत्रमें उन्होंने

लिखा कि प्रस्तावित योजनाका अर्थ कांग्रेसके कदमोंपर चलना होगा। उन्होंने तर्क दिया कि उच्च स्थितिके लोग सरकारकी नाराजीके भयसे किसी राजनीतिक संघटनमें नहीं सम्मिलित होंगे। इससे मुसलमानोंमें भेदभाव पैदा हो जायगा। पचीस सालसे सरकार मुसलमानोंके साथ अधिक आदरका व्यवहार करती आ रही है और सियासी संघटनसे मुसलमानोंके हितोंको फायदा होनेकी जगह नुकसान ही ज्यादा होगा। उनको अपना भविष्य सरकारके हाथोंमें सौंप देना चाहिये और कांग्रेसकी नकल नहीं करनी चाहिये। सरकारी नौकर मुसलमानोंकी चुपचाप मदद करते हैं और राजनीतिक माँगें उठा कर वे अपनेको इस सुविधा–विशेषसे वंचित कर लेंगे।

नवाब मोहसिनुल मुल्कने मॉरीसनके इस खतको मुसलमानोंके लिए निर्देश माना और प्रस्तावित योजना समाप्त कर दी गयी।

लेकिन योजनाके समर्थकोंने अलीगढ़के राजनीतिक वातावरणको अनुकूल न समझकर सैयद मुहम्मद शरीफुद्दीनकी अध्यक्षतामें एक मीटिंग लखनऊमें बुलायी। नवाब वकारुल मुल्कने अगुआई करते हुए कहा कि कुछ समयसे मुसलमानोंके अधिकारोंपर हमला किया जा रहा है। उन्होंने उर्दू-हिन्दी-विवादका जिक्र किया और तब मुहम्मडन राजनीतिक संघटन बनानेकी योजना पेश की जिसके उद्देश्य निम्नलिखित थे। (१) मुसलमानोंका मत सरकारके सामने विनम्रतासे पेश करना। (२) मुसलमानोंको यह समझा देना कि उनकी भलाई अंग्रेजी शासनपर निर्भर है। (३) मुसलमानोंको कांग्रेसकी प्रतिनिधि-संस्थाओं और एक साथ परीक्षाएँ लेनेकी माँगमें शामिल होनेसे रोकना। इस मीटिंगमें विभिन्न जिलोंमें शाखाएँ संघटित करनेके लिए एक समिति नियुक्त कर दी गयी। नवाब वकारुल मुल्कने कई जिलोंका दौरा किया, वहाँ सभाएँ कीं और मुसलमानोंको राजनीतिमें दिलचस्पी लेनेको उत्साहित किया। वे पहला काम जो करते वह जिला मजिस्ट्रेटसे मिलना था। लेकिन मुसलमान राजनीतिसे डरे हुए थे, यहाँतक कि अलीगढ़में २६ जुलाई १९०३ को मुहम्डन-राजनीतिक संघटनकी एक सभामें सभापति श्री आफताब अहमदको अपने श्रोताओंसे कहना पड़ा कि सरकार मुसलमानोंके राजनीतिक कार्योंमें भाग लेनेसे रुष्ट हो जायगी, यह डर बेबुनियाद है; बल्कि वे तो पहलेसे कहीं ज्यादा राजभक्त हो जायँगे। परन्तु यह संघटन चल नहीं सका और पाँच वर्षोंमें ही मृतप्राय हो गया।

अध्याय ९

वंगभंग और वहिष्कार आन्दोलन

अंग्रेजोंके पैर भारतमें मजवूतीसे जमनेके वादसे ही स्वतन्त्रताकी लड़ाईमें वंगालने अगुआई की थी। ब्रिटिश भारतका वह राजनीतिक दृष्टिसे सबसे ज्यादा सचेत सूवा था। पर वहाँ एक अनोखी स्थिति दृष्टिगोचर हुई जिसमें अंग्रेजोंको राजनीतिक प्रगति रोकनेकी आशा-किरण नजर आयी। सन् १९०५ में वंगालका जो भाग पूर्वी वंगाल वना वह पश्चिमी वंगालके मुकावले राजनीतिक, आर्थिक और शिक्षाकी दृष्टिसे पिछड़ा हुआ था। पूर्वी वंगालकी अधिकांश आवादी मुसलमानोंकी थी और 'फूट डालो व राज करो' की नीति अपनाकर लार्ड कर्जनने इस इलाकेको पश्चिमी वंगालकी आन्दोलन-मूलक राजनीतिसे अलग काट देनेका फैसला किया। कर्जनका विश्वास था कि मुसलमानोंको अधिक सुविधाएँ देनेसे वे राजनीतिसे विमुख रखे जा सकते हैं। अविभाजित वंगालमें अधिक योग्य होनेके नाते अधिकतर नौकरियाँ हिन्दुओंको ही मिलती थीं। पर यदि मुस्लिम वहुमतका एक सूवा अलग बनाया जा सके तो मुसलमानोंको सरकारी नौकरियोंमें अधिक प्रतिनिधित्व मिल सकता था। कर्जनने ठीक ही सोचा था कि यह तर्क मुसलमानोंको पसन्द आयगा और उन्हें वंगाल विभाजनका समर्थक वनाया जा सकेगा। उनका विश्वास था कि इस ढंगसे वंगालका आधा सूवा कलकत्तेकी राजनीतिक छूतसे वच जायगा।

विभाजन प्रशासकीय सुविधाके नामपर किया जानेवाला था। यह सही भी है कि वंगालका सूवा इलाकेमें वहुत वड़ा था। सन् १८७४ में आसाम वंगालसे अलग कर दिया गया था और उसमें सिलहट, ग्वालपाड़ा और काचार के तीन वंगलाभाषी जिले शामिल कर दिये गये थे; पर तव इसकी आलोचना नहींके वरावर ही हुई थी क्योंकि जनमतकी तव शक्ति नहीं थी। वादमें, १८९२ के सुधारोंके वाद सरकारने प्रस्ताव रखा कि चटगाँवको भी वंगालसे निकाल दिया जाय, पर प्रवल विरोधके कारण यह प्रस्ताव कार्यान्वित नहीं किया गया। वंगालकी कर्जन योजनामें पूरा उत्तरी वंगाल और फरीदपुर व वारीसालके जिले पूर्वी वंगालमें आते थे। अगर प्रशासकीय सुविधाके लिए विभाजन इस प्रकार किया जाता जिससे वंगला भाषी जनताका विभाजन न होता तो वंगालियोंको कोई विरोध न होता पर कर्जन-योजनामें वंगला भाषी जनता भी वँटती थी। योजनाका उद्देश्य तो राजनीतिक था ही, "उसका विचार, विवाद और निर्णय सव गोपनीय ढंगसे हुए—जनताको कानोंकान खवर किये वगैर।" जनमतके नेताओंने समझा कि उनका अपमान हुआ है, उन्हें धोखा दिया गया है और उनकी वेइज्जती हुई है।

सन् १९०३ में यह योजना प्रकाशमें आयी और जुलाई सन् १९०५ में विभाजनकी वाजाव्ता अनुमति मिली। इस वीच वंगाल ही नहीं पूरे भारतमें अभूतपूर्व राजनीतिक चेतना पैदा हुई। दिसम्वर सन् १९०३ से अक्तूवर सन् १९०५ तक दोनों वंगालोंमें दो हजारसे ज्यादा सार्वजनिक सभाएँ हुईं जिनमें ५०० से लेकर ५०,००० तक श्रोता भाग लेते थे।

सरकार निराश हुई, क्योंकि विरोधकी पहली बाढ़में हिन्दू और मुसलमान दोनोंका उत्साह बराबर था। ढाकाके नवाब सर सलीमुल्लाहने "आन्दोलनके शुरूमें ही विभाजनका 'पाशविक प्रबन्ध' कहकर विरोध किया था।"

लेकिन कर्जन दृढ़प्रतिज्ञ व्यक्ति थे और उन्होंने मुसलमानोंको विभाजन समर्थक बनानेका जिम्मा अपने ऊपर लिया। कर्जनके जीवनी-लेखक लवेट फ्रेजरने लिखा है—'उन्होंने शायद ही कभी ऐसी कोई प्रतिज्ञा की हो, जिसे वे पूरा न कर सके हों। सन् १८८७ में जब वे भारत आये थे लार्ड डफरिनके साथ खाना खाकर लौटते वक्त गवर्नमेण्ट हाउसके शानदार फाटकपर रुक कर उन्होंने कहा था—"अगली बार जब मैं इस फाटकके भीतर घुसूँगा तो वाइसराय बनकर।"[1] और सन् १८९८ में ४० वर्षकी अवस्थामें वे वाइसराय बनकर ही उस फाटकमें घुसे। उनसे कम उम्रके वाइसराय सिर्फ डलहौजी ही थे जो ३६ सालकी उम्रमें ही गवर्नर-जनरल बनकर आये थे।

फरवरी सन् १९०४ में वे जनताकी नाड़ी टटोलने पूर्वी बंगालके दौरेपर निकले। हर जगह उन्हें बच्चोंके झुण्ड "हमें आसामी न बनाओ" की तख्तियाँ लगाये मिले। यात्रामें हर जगह कर्जन प्रमुख मुसलमानोंसे मिले और मैमनसिंह, चटगाँव व ढाकामें मुसलमानोंकी बड़ी-बड़ी सभाएँ कर उन्होंने भाषण कर उन्हें समझाया कि 'बंगाल-विभाजनमें मेरा उद्देश्य प्रशासकीय सुविधा देखना भर नहीं है, मैं एक मुस्लिम सूबा बनाना चाहता हूँ, जहाँ इस्लाम प्रधान होगा, जहाँ इस्लामके अनुयायियोंका बोलबाला होगा। यही बात ध्यानमें रखते हुए मैंने ढाका कमिश्नरीके बाकी दो जिले भी अपनी योजनामें शामिल करनेका फैसला कर लिया है।"[3] अपने एक भाषणमें कर्जनने कहा कि विभाजनसे "पूर्वी बंगालके मुसलमानोंको वह एकता प्राप्त होगी जो मुसलमान बादशाहों और सूबेदारोंके राजके बाद नसीब नहीं हुई थी।"[4] लेकिन बंग-भंगका अपना स्वप्न पूरा होते देखनेके पहले ही कर्जनको पता चला कि शीघ्र ही उन्हें इस्तीफा देना पड़ेगा। उन्होंने इस्तीफा दिया भी पर उसके पहले शिमलामें केन्द्रीय विधायिका कौंसिलकी बैठकमें (जिसमें सिर्फ सरकारी सदस्य ही भाग ले सके) विभाजन सम्बन्धी कानून पास करा लिया। नवम्बर सन् १९०५ में उन्होंने वाइसरायपद छोड़ा पर बंग-भंग कानून १६ अक्तूबरको ही लागू करा दिया गया था। महीनोंसे प्रमुख मुसलमानोंको वाइसरायकी नीतिका अनुसरण करनेके लिए बहलाया-फुसलाया या दबाया जा रहा था। खुद नवाब सलीमुल्लाहने अपना मत बदल दिया, शायद इसलिए कि उन्हें सस्ती दरपर एक लाख पौंड उधार दे दिया गया था।[5] बड़ी संख्यामें सरकारी नौकरियाँ मुसलमानोंके लिए सुरक्षित कर दी गयीं। बहुत-सी जगहें इसलिए खाली रखी गयीं कि उपयुक्त मुस्लिम उम्मीदवार उपलब्ध नहीं थे।[6]

---

१. लवेट फ्रेजर—'इण्डिया अण्डर कर्जन एण्ड आफ्टर' पृष्ठ ७

२. वही पुस्तक, पृष्ठ ३८०

३. मजूमदार, इंडियन नैशनल इवॉल्यूशन, पृष्ठ २२२

४. नेविनसन—दि न्यू स्पिरिट इन इंडिया पृष्ठ १९१

५. गुरुमुख निहाल सिंह—'लैण्डमार्क्स इन इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डेवलपमेण्ट', पृष्ठ ३१९

६. नेविनसन—वही पुस्तक, पृष्ठ १९२

लेकिन तब भी मुसलमानोंका बड़ा भाग अडिग रहा और इसमें कुलीन सामन्तीवर्गके लोग भी शामिल थे। सन् १९०६ के कांग्रेस अधिवेशनमें सर सलीमुल्लाहके भाई नवाबजादा ख्वाजा अतीकुल्लाहने कहा—"मैं आपसे बताता हूँ। यह कहना ठीक नहीं है कि पूर्वी बंगालके मुसलमान बंग-भंगके पक्षमें है। असलियत यह है कि विभाजनका समर्थन कुछ प्रमुख मुसलमान अपने हितसाधनके लिए कर रहे हैं।"[1] कलकत्तेके केन्द्रीय मुहमडेन एसोसियेशनने भी यही मत प्रकट किया और अपने सेक्रेटरी नवाब अमीर हुसेन द्वारा इसे सरकारके पास भेज दिया। अमीर हुसेनने लिखा—"मेरी समितिकी रायमें बँगलाभाषी जातिके किसी भागको बहुत बड़ी आवश्यकताके बिना पृथक नहीं किया जाना चाहिये और समितिकी रायमें अभी ऐसी किसी आवश्यकताका अस्तित्व नहीं है।"[2]

एक अंग्रेजी पत्रमें सर हेनरी कॉटनने लिखा—"पूर्वी बंगाली समाजके दोनों वर्ग अधिकांशतः एक स्वरसे विभाजनकी निन्दा और विरोध कर रहे हैं। लेकिन अपढ़ और असंयत मुस्लिम भीड़को हठीले या धर्मान्ध दूतोंने हिंसाके लिए उभारा है। यह दिखानेका निष्फल प्रयास किया गया कि कुछ मुस्लिम नेता विभाजनके पक्षमें हैं।"[3]

सरकार और ब्रिटिश सरकारके भारत सचिवको सैकड़ों स्मृतिपत्र भेजे गये; उनमेंसे एकपर पूर्वी बंगालके ७०,००० व्यक्तियोंके हस्ताक्षर थे। कुछ बंगाली नेताओंने मिलकर था वाइसरायको तार भेजकर उनसे यह अनुरोध करनेका निश्चय किया कि यदि बंगाल-विभाजन अनिवार्य ही है तो योजनामें इस प्रकार संशोधन कर दिया जाय कि सारी बंगला-भाषी जनता एक सूबेमें आ जाय। लेकिन कर्जन अपने निश्चयपर अड़े रहे, क्योंकि जैसा सुरेन्द्रनाथ बनर्जीने कहा—"इसके पीछे एक राजनीतिक चाल है"[4] जो तारमें प्रस्तावित संशोधनसे पूरी नहीं होती।

विभाजनके विरुद्ध आन्दोलन जैसे-जैसे बढ़ता गया कर्जन भारतमें बदनाम होते गये। यह आन्दोलन ब्रिटिश पार्लमेण्टमें भी चला जहाँ हर्बर्ट राबर्ट्सने विवाद छेड़ा, पर कर्जन अड़े रहे। योजनाके विरोधको उन्होंने 'बनाया हुआ' बताया।

इंगलैण्डमें भी कर्जन 'फूट डालो और राज करो' की नीतिके लिए भी अति दुस्साहसी या संशयात्मक सफलतावाले व्यक्ति गिने जाने लगे। भारतसचिव ब्रौडरिकसे वे लड़ चुके थे और ब्रौडरिकको परेशान होकर अपना पद छोड़ना पड़ा था। ब्रौडरिकको "कर्जनके कारण बहुत परेशानी उठानी पड़ी थी और उनकी धारणा थी कि वाइसरायके रवैये और रुखके कारण उनका काम बहुत हदतक रुक गया था।"[5] सन् १९०५ में इंगलैण्डमें उदारदलीय सरकार बनी और मॉर्लेने भारत-सचिवके पदपर काम करना पसन्द किया। उसके बाद शीघ्र ही कर्जनको अपना पद छोड़ना पड़ा और उनकी जगह लार्ड मिण्टोने नवम्बर सन् १९०५ में आकर कार्यभार सँभाला। लेकिन केन्द्रीय सचिवालयमें 'कर्जन वातावरण' अब भी मौजूद था और कर्जन लन्दनसे बैठे दिल्लीके निर्णयोंपर असर डालनेकी कोशिश कर रहे थे।

१. नेविनसन, वही पुस्तक पृष्ठ १९१
२. मजूमदार—"इंडियन नेशनल इवॉल्यूशन" पृष्ठ २२३
३. जे० डी० रीस द्वारा 'दि रीअल इण्डिया'में पृष्ठ १७८ पर उद्धृत
४. बनर्जी, वही पुस्तक, (ए नेशन इन मेकिंग ?) पृष्ठ १८८
५. मेरी, काउण्टेस आव मिण्टो, 'इण्डिया, मिण्टो एण्ड मॉर्ले' १९०५-१९१०, पृष्ठ १९

मिण्टोको इस हस्तक्षेपसे परेशान होकर भारत-सचिव मौर्लेको लिखना पड़ा कि 'कर्जन वहाँपर बैठे उन निर्णयोंपर असर डालनेके लिए आन्दोलन-सा चला रहे हैं जिनसे उनका यहाँ सीधा सम्बन्ध था; और इससे स्वभावतः सन्देह होता है कि वे अपने समर्थकोंसे यहाँ सम्पर्क स्थापित किये हुए हैं।' मिण्टोने 'उस विरोधी देशी भावना' की भी शिकायत की जो कर्जनने "वंगालके विभाजन और अपने तत्सम्बन्धी भाषणोंसे पैदा कर दी थी।"[३]

मिण्टो शान्ति-स्थापनाके उद्देश्यसे आये थे, पर उनके पल्ले पड़ा विद्रोहके वादका सबसे अशान्त युग। जैसा कि ईदरके महाराजा सर परताप सिंहने कहा—कर्जनने मिण्टोके लिए शूल-शैया तैयार की थी, उनके विस्तरपर काँटे विछा दिये थे और मिण्टोको उन काँटों-पर लेटना ही था। असंतोष और अशान्तिके जो वीज कर्जनने वोये थे वे मिण्टोके कार्यकाल-में फले-फूले। हिंसा, सैनिक विद्रोह, राजनीतिक हत्याओं, वमवाजी और राजद्रोहके खुलेआम प्रचारका एक दौर-सा चल पड़ा और सरकारने इसका जवाव कड़े दमनसे दिया।

२० जुलाई सन् १९०५ को वंगभंगकी सरकारी घोषणा हुई, जिसने हजारों नौ-जवानोंको अंग्रेजोंके खिलाफ आर्थिक युद्ध छेड़नेकी प्रेरणा दी। कांग्रेसके मंच, समाचारपत्रों और पुस्तकोंसे भारतीय जनताने अनगिनत वार सुना था कि ब्रिटिश उद्योग और व्यापारके हितमें अंग्रेज शासक जो आर्थिक शोषण कर रहे हैं उससे देश तेजीसे गरीव होता जा रहा है। इसलिए अंग्रेजी मालका वहिष्कार अपने आप ही एक हथियारकी तरह जनताके सामने आ गया। स्वदेशी आन्दोलन—देशी उद्योगका पुनरुत्थान और विकास—इस हथियारका दूसरा हिस्सा था। वायकाट या वहिष्कारसे ब्रिटिश सामानका आयात कम होता था और देशी उत्पादनको वढ़ावा मिलता था।

७ अगस्त सन् १९०५ को स्वदेशी आन्दोलनका श्रीगणेश हुआ। उसीके साथ ही विभाजनके विरुद्ध पहला प्रदर्शन भी हुआ। यह प्रदर्शन ऐतिहासिक था। कलकत्तेके नवयुवक जे० चौधुरीके नेतृत्वमें कालेज स्क्वायरसे टाउनहालतक एक गंभीर जलूस वनाकर चले। भारतीय दूकानें वन्द थीं। भीड़ इतनी वड़ी थी कि उसे तीन भिन्न-भिन्न सभाओंमें वितरित करना पड़ा। इन तीनों सभाओंमें सुरेन्द्रनाथ वनर्जीने भाषण किये।

सार्वजनिक सभाएँ और सम्मेलन राजनीतिक कार्य-क्रमके दैनिक अंग वन गये। तव यह सोचा गया कि सिर्फ इनसे ही काम न चलेगा और कोई ठोस कदम उठाया जाय। एक सुझाव यह भी आया कि भारतीय सभी अवैतनिक पद—जैसे कि आनरेरी मजिस्ट्रेट और जिला वोर्डों व म्युनिसिपैलिटियोंकी सदस्यतासे इस्तीफे दे दें। पर इसमें आंशिक असफलता-की आशंका थी, इसलिए नेताओंने इस सुझावको कार्यक्रमका अंग नहीं वनाया।

कुछ अंग्रेजों और अंग्रेजीके पत्रोंने भी विभाजनका विरोध किया। 'स्टेट्समैन'ने विभाजनपर क्षोभ ही प्रकट नहीं किया, वल्कि वायकाट आंदोलनकी निन्दा करनेकी जगह उसका औचित्य सिद्ध करनेकी कोशिश की। उसने लिखा—'वायकाटके प्रस्तावक निस्संदेह चीनी उदाहरणसे प्रेरित हुए हैं और उन्हें आशा है कि अंग्रेजी मालका वहिष्कार उतना ही प्रभावकारी और अंग्रेजोंके लिए क्षतिकारी होगा, जितना अमरीकी वस्तुओंका चीनी वहिष्कार दिखाई पड़ता है। इस धारणापर कई कारणोंसे अंग्रेज मुस्करा उठेंगे। लेकिन तव भी पूरे आन्दोलनको गैरईमानदारीसे भरा एक उवाल मान लेना सरकारकी भूल होगी। इसके

३. मेरी, वही पुस्तक, पृष्ठ ४९

विपरीत, कुछ समयसे यह स्पष्ट हो रहा है कि बंगालवासी विरोधके दूसरे अधिक प्रभावकारी तरीके सीखते जा रहे हैं। राजनीतिक आन्दोलनमें वर्त्तमान-परिस्थितिने जो व्यावहारिकता ला दी है, उसे सरकारने अवश्य देखा होगा।'

लेकिन सरकार अपना निर्णय बदलनेको तैयार नहीं थी। हर तरफ निराशा छा रही थी। जनताको सरकार बदलनेका अधिकार नहीं था। उसने दूसरा सबसे कारगर तरीका—ब्रिटेनके खिलाफ आर्थिक दबाव डालनेका तरीका अपनाया। जनताकी इस मनोदशामें बायकाटका चीनी उदाहरण अपनाया गया था। जैसा कि बनर्जीका ख्याल था, बायकाटका विचार कई नेताओंके मनमें एक साथ उठा। पवनामें एक सार्वजनिक सभामें पहली बार इसकी चर्चा की गयी; फिर तो असंख्य सभाओंमें यह बात दोहरायी गयी। अखबारोंमें अमरीकी सामानके चीन द्वारा बहिष्कारकी कथाएँ छपने लगीं और भारतीयोंसे ब्रिटिश मालके खिलाफ यही हथियार उठानेकी अपीलें की जाने लगीं। सभाओंमें ब्रिटिश सामानके बहिष्कार और स्वदेशीको अपनानेके प्रस्ताव पास होने लगे।

सबसे अधिक उद्वेलित विद्यार्थी समाज था जो अपने उत्साहमें कभी-कभी 'अति' कर बैठता था। उसमें अभूतपूर्व उमंग थी। बनर्जीने अनेक सार्वजनिक सभाओंमें छात्रोंके समक्ष भाषण किये और छात्रोंने लगनके साथ उनके बताये मार्गका अनुसरण किया। अगर कोई लड़का विदेशी कपड़े पहनकर आता, तो उसके कपड़े फाड़ डाले जाते। "रिपन कालेजमें एक परीक्षामें उत्तर लिखनेके लिए जो कापियाँ छात्रोंको मिलीं वे विदेशी कागजकी थीं। छात्रोंने कापियाँ छूनेसे इनकार कर दिया। लड़कोंका विरोध इतना उग्र था कि उसकी अवहेलना खतरनाक हो सकती थी। देशी कागज लाया गया और फिर परीक्षा बदस्तूर हुई।"[१] सुरेन्द्रनाथ बनर्जीकी पाँचवर्षीया नातिनने एक सम्बन्धी द्वारा भेजे गये एक जोड़ा जूते यह कहकर वापस कर दिये कि ये विलायतके बने हैं। एक छः सालकी बच्ची बीमारीमें सन्निपातमें चिल्ला उठी कि 'मैं विदेशी दवा नहीं खाऊँगी।' अक्सर विवाहोंमें मिली ऐसी विदेशी भेंटें अस्वीकार कर दी जातीं जो भारतमें भी बन सकती थीं। पण्डित और पुरोहित बहुधा ऐसी पूजापर बैठनेसे इनकार कर देते जिसमें देवतापर चढ़ानेके लिए विदेशी सामग्री होती। जिन दावतोंमें विदेशी नमक या शक्करका प्रयोग होता अतिथि भोजन करनेसे इनकार कर देते। जनमत इतना शक्तिशाली हो उठा कि कोई बंगाली विदेशी कपड़ा खरीदनेकी सोचता तक नहीं था; जो उसके सस्तेपनके कारण उसे खरीदनेको मजबूर भी होते, वे भी रातमें खरीददारी करते।

भारतीय उद्योगको प्रोत्साहन मिला। जुलाहोंको अपना खोया हुआ पेशा मिल गया और उन्होंने बहिष्कार आन्दोलनको दुआएँ दीं। एकके बाद एक, साबुन, माचिस, सूती कपड़ेके कारखाने खुलने लगे। जुलाहोंकी खुशी चन्दरोजा थी। जब देशी मिलें बड़ी मात्रामें उत्पादन करने लगीं, करघेका कपड़ा फिर उसी तरह गायब हो गया, जैसे मैनचेस्टरका माल आनेपर हुआ था। स्वदेशी बैंक और बीमा कम्पनियाँ चल निकलीं।

नवयुवक, खासतौरपर छात्र, घूम-घूमकर स्वदेशीका प्रचार किया करते थे। चारों ओर अभूतपूर्व राजनीतिक चेतना दिखाई देती थी; हाकिम इससे आशंकित थे। जिला मजिस्ट्रेटोंने सभी शिक्षा-संस्थाओंके प्रधानोंको चेतावनी भेजी कि अगर आप अपने छात्रोंको

---

१. बनर्जी, ए नेशन इन दि मेकिंग, पृ० १९६

बायकाट, धरना आदि "तथाकथित स्वदेशी आन्दोलनसे सम्बन्धित बुराइयोंसे नहीं रोकते तो आपकी संस्थाकी सरकारी सहायता बन्द कर दी जायगी, छात्र-वृत्ति प्रतियोगिताकी सुविधा छीन ली जायगी और विश्वविद्यालय मान्यता छीन लेगा। यह गश्ती चिट्ठी कलकत्तेके स्कूलों, कालेजोंको नहीं भेजी गयी थी, शायद इसलिए कि ज्यादा उपद्रव न हो। लेकिन चिट्ठीसे मुफस्सिलमें भी उत्तेजना फैली। इस आदेशका विरोध और उल्लंघन करनेके लिए एक संस्था बन गयी। इस गश्ती चिट्ठीकी लांछना करते हुए 'स्टेट्समैन' ने लिखा—'हम उस मूर्ख अफसरका नाम जानना चाहेंगे जिसकी रायपर लेफ्टिनेण्ट गवर्नरने इस आदेश-को स्वीकृति दी। इसमें कोई भी सन्देह नहीं है कि सरकारको गलत राय दी गयी है। यह राय या तो ऐसे व्यक्तिने दी है जो स्थितिसे बिलकुल अनजान है, या फिर पिछले कुछ हफ्तोंकी सनसनीसे जो बुरी तरह डर गया है।...सरकार ऐसी बच्चों जैसी और निरर्थक नीतिमें भटक पड़ी है जिसका व्यावहारिक नतीजा सिर्फ यह होगा कि 'शहीदोंकी फौज खड़ी हो जायगी।' स्टेट्समैनकी चेतावनी भविष्यवाणी सिद्ध हुई। इस आदेशके फलस्वरूप सरकारी सहायता प्राप्त स्कूलोंका भी बायकाट शुरू हो गया। बंग जातीय विद्यापरिषद्‌की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य 'राष्ट्रीय ढंगसे, राष्ट्रीय नियन्त्रणमें राष्ट्र-नियतिकी पूर्तिके लिए शिक्षा देना' था। परिषद्‌ने पूर्वी बंगालमें ही २४ राष्ट्रीय हाईस्कूल खोले।

सरकार जनमतके इस प्रबल उबालसे आशंकित हो दमनका रास्ता अपनाने लगी। शान्ति व सुरक्षाके नामपर जनताकी भावनाकी अभिव्यक्ति रोकनेकी लगातार कोशिश की जाती रही और हमेशाकी तरह दमननीति पलटकर दमनकारियोंपर आघात करने लगी। "जितने ज्यादा दमनकारी हथियार उठाये गये, जनताकी उत्तेजना और असन्तोष उतना ही बढ़ता गया और हर हथियार उसे रोकनेमें असफल रहा।"[1]

बहिष्कार सभाओं और प्रदर्शनोंमें जोश लानेके लिए वन्देमातरम् गाया जाता। ज्यादा जोश और सैनिक वृत्तिके गाने मिलते तो हिन्दू युवक उन्हें और भी उत्साहसे ग्रहण करते। 'वन्देमातरम्' हाकिमोंके लिए भयका एक कारण बन गया। पूर्वी बंगालके नये सूबे की सरकारने इस गानेको गैरकानूनी करार दिया और सड़कोंपर इसका गाना जुर्म हो गया।

व्यक्तिगत बातचीतमें लार्ड मिण्टो स्वीकार करते कि बंग-विभाजन गलत हुआ। सुरेन्द्रनाथ बनर्जीसे उन्होंने साफ-साफ कहा—"तुम्हारे प्रान्तकी तरह मेरे देशका विभाजन होता तो मैं भी तुम्हारी तरह सोचता।" पर जब इण्डियन एसोसियेशनका एक प्रतिनिधि-मण्डल उनसे मिला तो उन्होंने कह दिया—'विभाजन तो हो चुका अब कुछ नहीं हो सकता।'

'पूर्वी बंगाल' १६ अक्तूबरको अस्तित्वमें आनेवाला था। नेताओंने उसे राष्ट्रीय शोक दिवसकी तरह मनाना तय किया। उस दिनका एक कार्यक्रम बनाया गया। उस दिन बीमारोंको छोड़कर और किसीका खाना नहीं पकेगा, सब काम-काज बन्द रहेगा, सब लोग सबेरे नंगे पैर जाकर गंगा-स्नान करेंगे, बंगालके एकीकरणके लिए बराबर प्रयत्न करते रहने-का सब लोग प्रण करेंगे। यह कार्यक्रम कलकत्तेमें मुफस्सिलके नेताओंकी रायसे बनाया गया था। इसका खूब प्रचार किया गया। कलकत्तेमें बंगालकी एकताके प्रतीकस्वरूप एक भवन स्थापित करनेका सुझाव सुरेन्द्रनाथ बनर्जीने दिया। उस भवनके लिए एक जमीन भी चुन

१. वही पुस्तक, पृ० १९६

ली गयी। शामको उसी स्थलपर एक सार्वजनिक सभा हुई। पर पूरे कार्यक्रममें सबसे हृदयग्राही और पवित्र राखी-बन्धन था। भ्रातृत्व भावनाके प्रतीक स्वरूप हर व्यक्ति हर दूसरे व्यक्तिको लाल धागे बाँध रहा था। सवेरेसे ही गंगाके किनारे राखियोंका ढेर लिये स्त्री-पुरुषोंकी भीड़ स्नान घाटोंपर इकट्ठी होने लगी। लोग मित्रों और सम्बन्धियोंको तो राखी बाँध ही रहे थे, अजनबियोंतकको बाँध देते थे। भवनका शिलान्यास श्री आनन्दमोहन वसुने 'वन्दे मातरम्'के गगनभेदी नारोंके बीच किया। उन्हें उनकी मृत्यु-शैयासे कुरसीपर बैठाकर लाया गया था। सारे दिन सड़कों और बाजारोंमें 'वन्देमातरम्'की ही गूँज सुनाई पड़ती रही। विभाजन-विरोधी आन्दोलनके लिए उस दिन एक राष्ट्रीय कोष खोला गया जिसमें एक दिनमें ही छोटे-छोटे चन्दोंसे ७० हजार रुपये इकट्ठे हो गये। भवन-स्थलपर हुई सभामें रिटायर हुए जज सर गुरुदास बनर्जी भी थे जिन्होंने अपने ओजपूर्ण भाषणमें वंगभंगका विरोध किया। विभाजनने समाजके हर वर्गको इतना विक्षुब्ध कर दिया था कि राजनीतिज्ञ व गैरराजनीतिज्ञमें कोई अन्तर न रह गया था। शिलान्यासके पहले सर आशुतोष चौधुरीने नीचे लिखी घोषणा पढ़ी (इसे प्रस्ताव नहीं कहा गया था)। श्री चौधुरीकी अंग्रेजी घोषणाका श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुरने बँगलामें अनुवाद करके सुनाया—

"बंग राष्ट्रके सार्वजनीन विरोधके बाद भी सरकारने बंगालका विभाजन कर दिया है, तो हम शपथ लेते हैं और घोषणा करते हैं कि हम बंगभंगके दुष्परिणामोंको दूर करनेके लिए यथाशक्ति सब कुछ करेंगे और अपने राष्ट्रकी एकता कायम रखेंगे। ईश्वर हमारी सहायता करे।"

किसीने आपत्ति की कि घोषणा तो सिर्फ सरकार कर सकती है, इसलिए इसे घोषणा न कहा जाय, पर वह सुनी नहीं गयी।

नेताओंने वंगभंगके अस्तित्वको ही स्वीकार नहीं किया और अगला प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन बारीसाल (पूर्वी बंगाल) में किया। पूर्वी बंगालमें आन्दोलनका और भी ज्यादा जोर था। वहाँ हर शहरमें 'वन्देमातरम्' के नारेपर रोक लगा दी गयी थी। सम्मेलनके बारीसाल स्थित संयोजकोंने सम्मेलनकी सफलताकी दृष्टिसे हाकिमोंसे समझौता कर लिया था कि बड़ी सड़कोंपर 'वन्देमातरम्' के नारे नहीं लगाये जायँगे। बाहरसे आये प्रतिनिधियोंने भी अनिच्छासे इस समझौतेको माना। पर उन्होंने कहा कि सम्मेलनमें नारे लगानेका हमारा अधिकार अक्षुण्ण है। "आशंका यह थी कि पुलिस हस्तक्षेप करेगी और सम्भवतः बलप्रयोग भी। किन्तु सभीको ताकीद कर दी गयी थी कि वे किसी भी हालतमें पुलिसके बल-प्रयोगका जवाब न दें और लाठी या छड़ी भी लेकर न चलें।" जुलूस अध्यक्ष श्री ए० रसूल और उनकी पत्नीके नेतृत्वमें चला। लाठियाँ लिये पुलिस पहलेसे ही तैयार खड़ी थी। जलूसपर हमला करनेके लिए अवसर ढूँढ़नेका धैर्य पुलिसमें न था। उसने नेताओंको तो निकल जाने दिया, पर जैसे ही अहातेसे निकलकर नौजवानोंका समूह जुलूसमें शामिल हुआ, उसने लाठी चार्ज शुरू कर दिया, हालाँकि किसीने अबतक 'वन्देमातरम्' की आवाज भी नहीं निकाली थी। वन्देमातरम्के जो बिल्ले जुलूसवालोंके हाथोंमें बँधे थे, वे नोच डाले गये। एक लड़केको तालाबमें फेंक दिया गया। उसका अपराध यही था कि हर लाठी प्रहारपर वह 'वन्देमातरम्' का नारा लगाता था।

सुरेन्द्रनाथ बनर्जीको गिरफ्तार कर अंग्रेज मजिस्ट्रेटके घर ले जाया गया। मजिस्ट्रेटने

बनर्जी व उनके साथ आये कालीप्रसन्न काव्य-विशारद दोनोंका अपमान किया। काली प्रसन्न पुरोहित थे और कुरता आदि नहीं पहिनते थे। जैसे ही वे बँगलेमें घुसने लगे, मजिस्ट्रेटने चिल्लाकर कहा—निकल जाओ। बनर्जी जैसे ही बैठने लगे, मजिस्ट्रेट चिल्लाया—'तुम कैदी हो, बैठ नहीं सकते, तुम्हें खड़ा रहना होगा।' बनर्जीने कहा—'मैं आपके घर आपसे अपमानित होने नहीं आया। मैं अपेक्षा करता हूँ कि मुझसे शिष्टाचारका व्यवहार किया जायगा।' उनका यह उत्तर 'अदालतकी मानहानि' मान लिया गया और उनसे माफी माँगनेको कहा गया। माफी माँगनेसे इनकार करनेपर बनर्जीपर २००) जुर्माना ठोंक दिया गया। फिर उनपर एक गैरकानूनी जुलूसमें शामिल होने और वे नारे लगानेका अभियोग लगाया गया जो कानूनी तौरपर वर्जित थे। बनर्जीने समय माँगा वह नहीं मिला, उन्होंने गवाह पेश करनेकी अनुमति माँगी वह नहीं मिली, उन्होंने पुलिस कप्तानसे जिरह करनी चाही, उसकी भी इजाजत नहीं मिली। इस अभियोगमें भी उनपर २००) जुर्माना हुआ।

सुरेन्द्रनाथ बनर्जीके मजिस्ट्रेटके घर ले जाये जानेके बाद उन्हींकी रायपर सम्मेलनकी काररवाई जारी रही। कार्यक्रम खत्म हुआ, प्रतिनिधि 'वन्देमातरम्' की गगनभेदी ध्वनि करते हुए बारीसालकी सड़कोंपर फैल गये। पुलिसने हस्तक्षेप नहीं किया। लेकिन दूसरे दिन सम्मेलनके सभाभवनमें आकर पुलिस कप्तानने आश्वासन माँगा कि कार्यक्रमके अन्तमें प्रतिनिधि सड़कोंपर 'वन्देमातरम्'के नारे नहीं लगायेंगे। अध्यक्षने प्रतिनिधियोंसे राय ली और आश्वासन देनेसे इनकार कर दिया। इसपर कप्तानने मजिस्ट्रेटका आदेश पढ़कर सुनाया जिसमें सभाको गैरकानूनी घोषित किया गया था।' प्रतिनिधि सभाभवन छोड़कर 'वन्देमातरम्'के नारे लगाते हुए तितर-बितर हो गये। वे फिर एक घरमें एकत्र हुए जहाँ बनर्जी, विपिनचन्द्र पाल और काव्य-विशारदने अपने भाषणोंमें वंगभंग विरोधी आन्दोलन चलाते रहने और स्वदेशी वस्तुओंके प्रयोगकी शपथ पालन करनेकी अपील की।

बारीसाल सम्मेलनमें सरकारी व्यवहार देखकर नवयुवकोंका मन वैधानिक राजनीतिसे विचलित होने लगा और स्वराज्य प्राप्तिके लिए वे अराजकता और आतंकवादकी सोचने लगे। दमनचक्र और जोरसे चला। "स्वदेशीके प्रचारकों और कार्यकर्त्ताओंपर मुकदमे चलाये जाते, उन्हें दुःख दिये जाते, सार्वजनिक सभाओंपर रोक लगायी जाती; शान्त मुहल्लोंमें फौजी पुलिस तैनात कर दी जाती और ये पुलिसवाले शान्त नागरिकोंपर हमले किया करते। बनारीपुरा (बारीसाल) के बहुतसे निवासी तो गुरखा सिपाहियोंके अत्याचारोंके कारण गंभीरतापूर्वक वहाँसे भाग निकलनेकी सोचने लगे। भले आदमियोंपर 'स्वदेशीकी चिट्ठियाँ' बाँटने और राजद्रोहके झूठे मुकदमे चलाये जाते।"[1] इन घटनाओंकी नौजवानोंपर क्या प्रतिक्रिया हुई, यह एक उदाहरणसे स्पष्ट हो जायगा। एक दिन दो नवयुवक सुरेन्द्रनाथ बनर्जीसे एकान्तमें मिले और कहा—"एक अति गंभीर मसलेपर हम आपकी सम्मति लेने आये हैं। हमने सर बेम्पफील्ड फुलर (पूर्वी बंगालके गवर्नर) को मार डालनेकी योजना बनायी है, और हम आज रातको ही रवाना हो रहे हैं। आप क्या कहते हैं?"' उन्होंने कहा कि हम फुलरको इसलिए मार डालना चाहते हैं कि उसके गुरखा सिपाहियोंने बनारीपुरामें हमारी माँ बहिनोंकी इज्जत लूटी है। हम इसका बदला फुलरसे लेंगे। इसमें जो

१. बनर्जी, वही पुस्तक, पृष्ठ २२३

खतरा है वह हम उठावेंगे और अपनी माँ बहिनोंके सम्मानके लिए जरूरत पड़नेपर मरेंगे भी। बनर्जीने उन्हें यह योजना त्याग देनेकी सलाह दी और बताया कि फुलर तो इस्तीफा दे ही चुके हैं। योजनाकी निश्चित असफलताका जिक्र करते हुए बनर्जीने उन दोनों नवयुवकोंसे वचन ले लिया कि वे इस कामसे विरत हो जायेंगे।

ये दो नवयुवक तो सरकारके विरुद्ध उत्पन्न घृणाके प्रतीक मात्र थे। बंगालमें अनेक आतंकवादी संस्थाओंकी स्थापना हो गयी और उनके संघठन बंगालके बाहर भी बनने लगे।

वैधानिक स्तरपर बारीसाल काण्डकी निन्दा बंगाल व दूसरे प्रान्तोंमें सार्वजनिक सभाओंमें की गयी। एक मन्दिरके अहातेमें सुरेन्द्रनाथ बनर्जीके स्वदेशी अपनानेके भाषणके बाद दस सहस्र व्यक्तियोंने खड़े होकर शपथ ली कि 'ईश्वर साक्षी हो; आनेवाली पीढ़ियोंके समक्ष हम प्रण करते हैं कि जहाँतक सम्भव होगा हम घरकी बनी चीजोंका ही प्रयोग करेंगे और विदेशी वस्तुओंका बहिष्कार करेंगे। ईश्वर हमारी सहायता करे।' यही शपथ बादमें बहुत-सी सार्वजनिक सभाओंमें दोहरायी गयी।

पुलिस द्वारा बारीसाल-सम्मेलन भंग होनेका वर्णन करते हुए सुरेन्द्रनाथ बनर्जीने लिखा है—जो व्यक्ति सार्वजनिक आन्दोलनके प्रति उदासीन रहते थे, उन्होंने भी स्वदेशी अपनानेकी शपथ ली और उसे दैनिक जीवनमें कार्यान्वित किया। जो लोग किताबी कीड़े समझे जाते थे, वे भी अपना वैराग्य छोड़ कर्म-भूमिमें उतर आये और स्वदेशी व विभाजन विरोधी आन्दोलनोंमें भाग लेने लगे। "बंगभंग-विरोधी आन्दोलनमें भाग लेनेवाले मुसलमानोंकी संख्या कम ही थी। उन्हें तो बताया गया था कि बंगभंग मुसलमानोंकी आर्थिक व राजनीतिक भलाईके लिए ही किया गया है।

समयके व्यतीत होनेसे विभाजनका जख्म भरा नहीं, उलटे आन्दोलन दिन ब दिन जोर ही पकड़ता गया। सभाएँ, प्रदर्शन और हड़तालें सामाजिक जीवनका सामान्य अंग बन गयी थीं। दूसरी ओर फुलर-शासन और अधिक दमनकारी होता जा रहा था। वह खुले आम कह रहा था—रक्तपात हो सकता है। सन् १९०७ तक आन्दोलनने तीन भिन्न रूप ग्रहण कर लिये थे—रचनात्मक, राजद्रोहात्मक और क्रान्तिकारी।

समाचारपत्रोंका भी महत्वपूर्ण योग था। इनका नेतृत्व विपिनचन्द्र पाल और अरविन्द घोष कर रहे थे। पाल सन् १९०३ से ही अपने साप्ताहिक पत्र 'न्यू इण्डिया' द्वारा राष्ट्रीयता, राष्ट्रीय शिक्षा और नयी चेतनाका प्रचार कर रहे थे। अरविन्दने भी उत्साहपूर्वक इसी विचारधाराका प्रचार शुरू किया।

दिसम्बर सन् १९०८ में सरकारने बंगभंग विरोधी आंदोलनके नौ नेताओंको निष्कासनकी सजा दी। ये थे कृष्णकुमार मित्र, पुलिनविहारी दास, श्यामसुन्दर चक्रवर्ती, अश्विनीकुमार दत्त, मनोरंजन गुहा-ठाकुरटा, सुबोधचन्द्र मल्लिक, शचीन्द्रप्रसाद वसु, सतीशचन्द्र चटर्जी और भूपेशचन्द्र नाग। अखबारोंपर तो आयेदिन मुकदमें चलते थे।

३० वर्ष पहले, भारतीय राजनीतिका श्रीगणेश सुरेन्द्रनाथ बनर्जीके देशव्यापी दौरेसे इस मांगपर हुआ था कि भारतीयोंको सिविल सर्विसोंमें लिया जाय और अब लोगोंसे सरकारी नौकरियोंका बहिष्कार करनेके लिए कहा जा रहा था। बायकाट आंदोलन बंगालसे शुरू हुआ और वहाँसे मद्रासमें फैला। विपिनचन्द्र पालने मद्रास जा कर 'नयी-चेतना' कई भाषणों द्वारा प्रसारित की और भारतमें राजनीतिक सिद्धान्तोंका एक कार्यक्रम पेश किया। पाल

बड़े बुद्धिमान, मेधावी और चरित्रवान व्यक्ति थे। वे यूरोप और अमरीका का काफी भ्रमण कर चुके थे। उनके मद्रासके भाषणोंकी पुस्तकके कई संस्करण हाथों हाथ बिक गये और इसके प्रभाव स्वरूप वहाँकी राजनीतिमें एक उग्र दलका संगठन हुआ। पाल जो नयी चेतना उत्पन्न करनेके लिए उत्सुक थे वह एक उदाहरणसे स्पष्ट हो जायगी। उन्होंने एक भाषणमें कहा—आपको हाईकोर्टकी जजी या विधायिका कौंसिलकी मेम्बरी मिल सकती है, शायद कार्यकारी-कौंसिलकी सदस्यता भी मिल जाय। आप विधायिका कौंसिलोंका विस्तार चाहते हैं? या ब्रिटिश लोकसभामें अपने कुछ प्रतिनिधि भेजना चाहते हैं? आप सरकारी नौकरियोंमें भारतीयोंका और बड़ा प्रतिनिधित्व चाहते हैं? हमें देखना यह चाहिये कि ५०, १००, २०० या ३०० भारतीय हाकिम क्या इस सरकारको भारतीय सरकार बना देंगे?... सभी हाकिम भारतीय हो जायँ तब भी वे नीति नहीं निर्धारित कर सकते, शासन चला नहीं सकते, वे तो सिर्फ हुक्म बजाते हैं। एक कोयलके बोलनेसे जैसे बरसात नहीं आ जाती, वैसे ही हजारों भारतीय हाकिम भी ब्रिटिश सरकारको देशी या भारतीय सरकार नहीं बना सकते। हाकिम गोरा हो या काला उसे परम्पराएं निबाहनी होती हैं, कानून और नीतिका पालन करना पड़ता है और जबतक ये परम्पराएँ न तोड़ी जायँ, सिद्धान्त न बदले जायँ, नीति न बदली जाय, गोरे हाकिमोंकी जगह काले हाकिम रख देनेसे स्वराज नहीं हो जायगा।"

सरकारी नौकरियोंके बायकाट पर बोलते हुए उन्होंने कहा—"वे कहते हैं—क्या तुम सभी सरकारी नौकरियोंका बायकाट कर सकते हो? पर हममेंसे यह किसीने कहा ही कब था कि सरकारकी सेवाके लिए एक भी भारतीय न मिलेगा? जो हम कर सकते हैं वह यह है कि हम सरकार चलाना असम्भव कर दें, उन्हें हिन्दुस्तानी नौकर ढूँढ़ना असम्भव भले ही न हो। शासन चलाना कई तरहसे रोका जा सकता है। इसके लिए यह जरूरी नहीं है कि हर डिप्टी मजिस्ट्रेट कहे कि मैं इस सरकारकी नौकरी नहीं करूँगा। इसका यह मतलब भी नहीं है कि अगर कोई सरकारी नौकरीसे इस्तीफा दे देगा तो उसकी जगह खाली रह जायगी। लेकिन अगर यह भावना देशमें फैल जाय तो सरकारी नौकरोंमें भी यही भावना आयगी और तब एक दिन पूरा दफ्तरका दफ्तर हड़ताल कर सकता है। इससे सरकार नहीं टूटेगी पर उसके रास्तेमें अनेक बाधाएँ आयँगी और ये जटिलताएँ या बाधाएँ देशके हर भागमें आने लगीं तो सरकार लगभग ठप हो जायगी। असली चीज तो सरकारकी प्रतिष्ठा है और इस बायकाट आन्दोलनसे उस प्रतिष्ठाके ही मूलपर आघात होता है।......हम हर सरकारी नौकरको उस स्तरपर गिरा सकते हैं मानों वह भारतीय नागरिकताके गौरवसे वंचित हो गया हो...किसी भी व्यक्तिका सम्मान इसलिए न किया जाय कि वह हाकिम या मुंसिफ या हुजूर सरिश्तेदार है। कोई भी कानून हमें मजबूर नहीं कर सकता कि घर आनेवालेको हम कुरसी दें ही। मैं अपने घरपर एक मामूली दूकानदारको कुर्सी दूँ और डिप्टी मजिस्ट्रेट या सब-जजको न दूँ, कोई व्यक्ति अपनी बेटी किसी गरीब भिखारीको ब्याह दे और मजिस्ट्रेटके बेटेको न ब्याहे तो यह करनेका उसे पूरा अख्तियार है, वह इसमें कानूनकी सीमाके बाहर है।

"निष्क्रिय प्रतिरोध या सत्याग्रहको इंगलैण्डमें कानूनी मान्यता प्राप्त है। सिद्धान्त रूपमें यह भारतमें भी वैध है और अगर कोई नया कानून बनाकर इसे गैरकानूनी करार

दिया गया तो यह कानून वैयक्तिक स्वतन्त्रताके मूल अधिकारोंके विरुद्ध पड़ेगा, यह खतर-
नाक रास्तेपर चलना होगा। इसलिए मुझे तो लगता है कि स्वराज्य प्राप्तिके लिए जो नकारा-
त्मक या निषेधात्मक काम करना है, वह बायकाटसे पूरा हो जायगा। लेकिन स्वराज्यके
लिए ठोस और सकारात्मक प्रशिक्षणकी भी आवश्यकता है। यह हमें ग्रामीण जीवन
के संघटनसे प्राप्त होगा। सरकारसे स्वतन्त्र और उसके समानान्तर अपनी जनप्रिय शासन-
व्यवस्था स्थापित करनेका काम हमें अपने कार्यक्रममें शामिल कर लेना चाहिये''' यही हमारा
असली कार्यक्रम रहेगा।''

विपिनचन्द्र पालको 'साम्राज्यके भीतर स्वराज्य'की माँग जो १९०६ में कांग्रेसके
अध्यक्ष दादाभाई नौरोजीने पेश की थी पसन्द नहीं थी। उन्होंने कहा—'क्या साम्राज्यके
भीतर स्वराज्यकी माँग व्यावहारिक लक्ष्य हो सकती है? इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ
होगा कि या तो हमें सच्चा स्वराज्य न मिलेगा या इंगलैण्डका सच्चा साम्राज्य यहाँ न रहेगा।'

उनकी भाषणमालासे मद्रासमें आन्दोलन और उपद्रवोंकी आग भड़क उठी।

२७ जून सन् १९०७ को वाइसरायने भारत सचिवसे विपिनचन्द्र पालको निष्कासन-
की सजा देनेकी अनुमति माँगी। उन्होंने लिखा—''पालका व्यवहार दानवी है और उसके
खतरेको हम नजर अन्दाज नहीं कर सकते।'' वाइसरायका कहना था कि मुकदमे चलानेकी
नीति स्थिर है पर कलकत्तेमें ऐसा कोई जूरी नहीं मिलेगा जो विपिनचन्द्र पालको धारा १२४
ए (राजद्रोह) में अपराधी घोषित कर दे। ''विपिनचन्द्र पाल जैसे खास मामलोंमें''''''
निष्कासन ज्यादा सीधा, कारगर तरीका होगा बनिस्बत मुकदमा चलानेके और इसपर उतना
ध्यान भी आकृष्ट न होगा, तथा जनतापर फौरन असर पड़ेगा।''[1]

वाइसरायने आगे लिखा''''''हम सबकी धारणा यही है कि भारतीय सेना इस
छूतसे बच जाय। फौजी अफसरोंकी रिपोर्ट है कि सिपाहियोंमें उत्तेजक पर्चे खुले आम बँट
रहे हैं। इसका और पता लगानेके लिए मैंने सन्देहजनक पत्रोंको रोककर खोलनेकी अनुमति
देदी है। बहुत सा राजद्रोहात्मक और उत्तेजक साहित्य पकड़ा गया है। खुफिया विभागकी
रिपोर्ट है कि रूस और रूसी अफसरोंसे भी द्रोहात्मक पत्र-व्यवहारके सबूत मिले हैं।''[2]

विभाजनके बाद जिस दूसरे नेताकी ख्याति और सम्मान बहुत बढ़ा वह तिलक थे।
उनकी अदम्य कार्यशक्ति, स्वाधीनता प्राप्तिके लिए उनकी आत्माकी बेचैनी, उनकी व्याव-
हारिक साधनसम्पन्नता और सबसे अधिक उनकी धवल और श्रेष्ठ निष्ठाने उनके बंगाली
श्रोताओंपर गहरा प्रभाव डाला। सन् १९०५ और १९०६ के कांग्रेस अधिवेशनोंमें
प्रतिनिधियोंके बीच उनका व्यक्तित्व ही सबसे ज्यादा चमका। ब्रिटिशराजके खिलाफ
आर्थिक शस्त्रकी तरह स्वदेशीके वह पहले समर्थक थे। बायकाट आंदोलनमें उन्हें सरकार
विरोधी तत्वोंको उभारनेका अभूतपूर्व अवसर दिखाई दिया...तिलकको विपिनचन्द्र पाल व
अरविन्द घोष जैसे उत्साही व्यक्तियोंका सहयोग प्राप्त था—ये लोग उनके राजनितिक
शिष्य थे।''[3]

तिलक राष्ट्रीय-भारतके नेता बन चुके थे। उनके उग्र अनुयायियोंकी संख्या दिन-ब-

---

१. मेरी मिण्टो, वही पुस्तक पृष्ठ १४७-४८

२. वही पुस्तक पृष्ठ १४८

३. वेलेण्टाइन शिरौल 'इंडियन अनरेस्ट' पृष्ठ ५०

दिन बढ़ती जा रही थी। इन अनुयायियोंमें बड़ी बौद्धिक शक्तिवाले नेता भी थे। वे अपने देशवासियों व उनकी चित्तवृत्तिसे परिचित थे। शिवाजी और गणेशपूजाको तत्कालीन राजनीतिसे सम्बद्ध कर देनेसे वे उत्सव प्रभावकारी मनोवैज्ञानिक हथियार बन गये। उनके तरीके बंगालमें भी काममें लाये गये और स्वदेशी व बहिष्कार कालीके संरक्षणमें रख दिये गये। और तिलकके तरीके अपनानेवालोंमें प्रमुख थे नरमदलीय सुधारवादी सुरेन्द्रनाथ बनर्जी। उन्होंने भी तिलककी तरह स्कूलों व कालेजोंके छात्रोंकी व्यायामशालाएँ खुलवायीं जहाँ राजनीतिक प्रचार होता। उग्र-पन्थी बंगालियोंने सुरेन्द्रनाथ बनर्जीको बंगनरेशकी उपाधि दी। यह तब हुआ जब सोनेकी छतरीके नीचे उन्हें एक जलूसका नेतृत्व करते हुए ले जाया गया। जलूसके आगे-आगे कालीकी एक प्रतिमा जा रही थी जो एक अंग्रेजका शरीर रौंद रही थी। यह विजयी भारतमाताकी ब्रिटेनपर विजयका प्रतीक थी।"[१]

पूर्वी बंगाल सरकार बराबर आगमें घी डालनेका काम कर रही थी। "छोटे अफसर सिर्फ हिन्दुओंको ही सताते थे। हिन्दू ही सरकारी नौकरियोंसे अलग रखे जाते थे। हिन्दू *स्कूलोंको मिलनेवाली सरकारी सहायता ही बन्द की जाती थी। अगर मुसलमान उपद्रव करते* तो पुलिस हिन्दुओंके घरोंकी तलाशी लेती और हिन्दू मुहल्लोंमें ही गुरखा फौज तैनात की जाती।"[२]

मिण्टोके (जो शान्ति स्थापनाके लिए उत्सुक थे) कार्यकालमें पूर्वी बंगालमें कर्जनकी नीतिसे ही काम हो रहा था। फुलर नये वाइसरायकी नीतिपर नहीं चलते थे। कर्जनके जमानेमें एक हुक्म निकला था कि छात्र विभाजन-आंदोलनमें भाग न लें।[३] पूर्वी बंगालके कुछ स्कूलोंके छात्रोंने जान-बूझकर इस आदेशका उल्लंघन किया। फुलर सरकारने तीन सौ लड़कोंके नाम काट देनेका हुक्म निकाला, लेकिन भारतसचिव मोर्लेके प्रस्तावपर नाम कटना रुक गया। 'इसपर फरवरी सन् १९०६ में फुलरने कलकत्ता विश्वविद्यालयको लिखा कि उन दो स्कूलोंसे मान्यता छीन ली जाय जिन्होंने उस आदेशका उल्लंघन किया था।......"वाइसरायने यह समझकर कि इससे भारतीयोंमें आवेश व उद्वेग और बढ़ेगा, फुलरको बार-बार सलाह दी कि वह विवेकसे काम ले और नये नियम लागू होनेसे पहले रुके रहें। पर दबनेमें असमर्थ और तिकड़मसे अपना उद्देश्य पूरा करनेकी धुनमें फुलरने भारत सरकारके पास अपना इस्तीफा भेज दिया। वाइसरायने तुरन्त इस्तीफा स्वीकार कर लिया; इससे फुलर अचम्भेमें पड़ गये।"[४] मिण्टो, जो फुलर-शासनको गम्भीर खतरा मानते थे, कुछ आश्वस्त हुए।

एक ओर बंगालकी जनता—अधिकांशतः हिन्दू जनता—अपना आन्दोलन उग्रतर करती जा रही थी। दूसरी ओर पूर्वी बंगाल सरकार हिन्दू मुस्लिम बलवे करवा रही थी चाहे इसका उद्देश्य मुसलमानोंको यह समझाना ही रहा हो कि हिन्दू उनके दुश्मन हैं और एक पृथक् मुस्लिम प्रान्त आवश्यक है। कर्जन रंग-मंचसे हट चुके थे, पर उनके द्वारा नियुक्त लेफ्टिनेण्ट गवर्नर फुलर उनकी नीति पूरी तरहसे लागू कर रहे थे। "मुल्ले देहातोंमें इस्लामके

---

१. मेरी मिण्टो, वही पुस्तक पृष्ठ १२१
२. नेविनसन, वही पुस्तक पृष्ठ २०२
३. बकन—'लार्ड मिण्टो' पृष्ठ २३७
४. मेरी मिण्टो, वही पुस्तक पृष्ठ ५२

पुनरुत्थान और ब्रिटिश सरकारके मुसलमानोंके पक्षमें होनेका प्रचार करते घूमते थे। ये मुल्ले कहते कि अदालतें तीन महीनेके लिए बन्द कर दी गयी हैं, और इस बीच हिन्दू विधवाओंको भगाने, हिन्दू दूकानें लूटने या हिन्दुओंपर हमले करनेकी कोई सुनवाई नहीं होगी। लाल रंगकी एक पुस्तिका, जिसमें इसी तरहकी अनाप-शनाप बातें लिखी थीं, खूब खुलकर बाँटी गयी।"[१] फुलर मजाकमें इशारा किया करते कि मेरी दो बीवियोंमेंसे मुसल्मान बीबी मुझे ज्यादा प्यारी है। "मुसलमान सचमुच ही यकीन करने लगे कि अंग्रेज अफसर उनकी सभी ज्यादतियोंको माफ करनेको तैयार हैं।"[२] लेकिन बलवे फुलरके जानेके बाद भी जारी रहे।

"१९१० में राजधानी मुस्लिम भीड़के अधिकारमें तीन दिन और तीन राततक रही जब रईस मारवाड़ी सराफ लूटे गये। हाकिम लोग खुश होकर इन घटनाओंका हवाला देते, हुए कहते कि अंग्रेज शासक चले गये या उन्होंने थोड़ी भी दिलचस्पी कम कर दी तो हिन्दुओंकी यही हालत होगी।"[३] अफसर जनताको समझाते कि बंगाली देश-भक्तों द्वारा चलाये गये स्वदेशी और बहिष्कार आन्दोलनके कारण ही यह अराजकता फैल रही है। लेकिन पूर्वी बंगालमें ही एक अंग्रेज मजिस्ट्रेटने खुलेआम कहा कि उपद्रव बायकाट आन्दोलनका नतीजा नहीं है। यह हो भी नहीं सकता था, क्योंकि स्वदेशी आन्दोलनसे गरीब मुसलमानोंको बड़ा फायदा हुआ था; इन मुसलमानोंमें अधिकतर जुलाहे और मोची थे। एक मुस्लिम स्पेशल मजिस्ट्रेटने कुछ मुस्लिम उपद्रवियोंके मुकदमेंके फैसलेमें लिखा—'दंगा या बलवा करनेका कोई बहाना या उत्तेजना नहीं थी। उसका उद्देश्य केवल हिन्दुओंको परेशान करना था।" एक दूसरे मुकदमेंके फैसलेमें उक्त मजिस्ट्रेटने लिखा—"सबूत पक्षकी गवाहियोंसे पता चलता है कि अभियुक्त (एक मुसलमान) ने मुसलमानोंकी एक भीड़में एक नोटिस पढ़कर सुनाया और कहा कि सरकार और ढाकाके नवाब बहादुरने हुक्म निकाल दिया है कि हिन्दुओंको लूटने और सतानेके लिए कोई दण्ड नहीं दिया जायगा।" इसलिए कालीकी एक प्रतिमा खण्डित करनेके बाद मुसलमानोंने हिन्दू व्यापारियोंकी दूकानें लूटीं। एक अन्य यूरोपीय मजिस्ट्रेटने लिखा—"कुछ मुसलमानोंने डुग्गी पीटकर एलान किया कि सरकारने हिन्दुओंको लूटनेका हक दे दिया है।" एक स्त्रीको भगानेके मुकदमेमें इसी मजिस्ट्रेटने लिखा—"सारी घटना इस एलानकी वजहसे हुई कि सरकारने हिन्दू विधवाओंसे निकाह कर लेनेकी इजाजत मुसलमानोंको दे दी है।"[४] लेकिन निष्पक्ष मुसलमान भी थे जो समझते थे कि सरकारकी 'फूट डालो और राज करो' की नीति पूरे जोर-शोरसे लागू है।

कुमिल्ला उपद्रवकाण्डके मुकदमेमें एक जजने खुले आम मुसलमानोंके साथ पक्षपात किया। हाईकोर्टने उसकी आलोचना करते हुए कहा—"जज महोदयने गवाहोंको दो—हिन्दू और मुसलमानवर्गोंमें विभाजित कर एक वर्गकी बात मानकर और दूसरेकी बात अस्वीकार कर जो तरीका अपनाया है, उसकी कटुतम आलोचना की जायगी। जज महोदयको सिर्फ उस सबूतकी ओर ही ध्यान देना चाहिये था, जो उनके सामने पेश किया गया;

१. नेविनसन, वही पुस्तक पृष्ठ १९२
२. वही पुस्तक पृष्ठ १९१
३. मजूमदार, वही पुस्तक पृष्ठ २५३
४. नेविनसन, वही पुस्तक पृष्ठ १९३

और जनताके किसी वर्गके साथ उनकी जो सहानुभूति पहलेसे बनी हुई है, उसे मुकदमेमें परिलक्षित न होने देना चाहिये था।"[1]

कर्जनकी नीति सफल हुई। बंगालके दंगोंने देशभरका ध्यान आकृष्ट किया और हिन्दू हिन्दूके लिए व मुसलमान मुसलमानके लिए सहानुभूति व समवेदना प्रदर्शित करने लगा। ऐसे मामलोंमें समझदारीका निष्पक्ष दृष्टिकोण रखनेवाले हमेशा कम ही होते हैं।

गोपालकृष्ण गोखलेकी अध्यक्षतामें कांग्रेसका अधिवेशन सन् १९०५ में बनारसमें हुआ। अधिवेशनमें पेश कर्जन-शासनकी रिपोर्टके सम्बन्धमें कहा गया था—कांग्रेसका यह अधिवेशन देशके राजनीतिक जीवनमें बड़े संकटके समय हो रहा है। लार्ड लिटनके वाइस-राय-कालके अन्धकार युगके बाद कभी भी देश इतना असन्तुष्ट, हताश और विचलित व व्यग्र नहीं था; कभी भी इतने राजनीतिक व दूसरे दुर्भाग्योंका शिकार नहीं हुआ था; कभी भी उच्चाधिकारियोंकी ओरसे ऐसी घृणा और झूठे प्रचारका निशाना न बना था—उसकी अति साधारण माँगें अस्वीकार की गयीं और उनकी खिल्ली उड़ायी गयी, उसकी न्यायोचित प्रार्थनाओंपर गर्वोन्मत्त 'नहीं' कह दिया गया, उसकी महान् अभिलाषाओं और आकांक्षाओंको ठोकर मारी गयी या बकवास कहकर टाल दिया गया, उसके उच्चादर्श सिंहासनसे गिराकर पैरों तले रौंद दिये गये—देशकी हालत कभी भी इतनी संकटापन्न नहीं हुई थी जितनी कर्जनराजके दूसरे कुग्रहमें। सार्वजनिक विरोधके बावजूद सरकारी गोपनीयताका कानून बना। इस कानूनकी सर्वत्र निन्दा हुई, सभी भारतीय और आंग्ल भारतीय समाचारपत्रोंने इसकी निन्दा की, हर ओरसे विरोधपत्र आये, लेकिन लार्ड कर्जन न माने और वह काला कानून बन गया। शिक्षाका अंगभंग हुआ तथा वह लँगड़ी कर दी गयी, वह और भी खर्चीली और सरकारी ढंगकी कर दी गयी; और राष्ट्रीय हितोंको गुलाम बनानेका सबसे प्रभावकारी हथियार—विश्वविद्यालय कानून, बना दिया गया। बेंटिंक, मैकौले, हैलीफेक्स आदिके महान कामको, जिसका पिछले ५० वर्षोंमें देशके लिए बहुत आनन्ददायक परिणाम निकला था, खत्म करनेकी नहीं तो कमसे कम उसे, रोकनेकी नीति तो अवश्य ही काममें लायी जाने लगी।

वातावरणका तनाव अध्यक्षके भाषणसे भी स्पष्ट था। जितनी एक सुधारवादी नरम-दलीय नेतासे आशा की जा सकती थी, गोखलेने उससे ज्यादा आलोचनात्मक और स्पष्ट भाषण किया। वाइसरायकी हैसियतसे सन् ५७ के ठीक पहले लार्ड केनिंगने जो चेतावनी दी थी, गोखलेके भाषणके पहले वाक्यमें उसीकी गूँज थी। उन्होंने कहा—"जब आजसे चार महीने पहले मुझे यह पद स्वीकार करनेका निमन्त्रण मिला था, हमें क्षितिजपर बादलका एक छोटा सा हाथभरका टुकड़ा ही दिखलाई पड़ता था। तबसे बादल घिर चुके हैं और तूफान आ गया है; सामने चट्टानें हैं और समुद्रकी क्रोधित गरजती लहरें थपेड़े मार रही हैं, जब मुझे कांग्रेसकी नावकी पतवार सम्हालनेको कहा गया है।"

कर्जन राजपर टीका करते हुए गोखलेने कहा—ऐसे शासनका उदाहरण ढूँढ़नेके लिए हमें अपने देशके इतिहासमें औरंगजेबके शासनकालतक पीछे लौटना होगा। वहाँ हमें इतने तीक्ष्ण रूपसे वैयक्तिक और इतने अधिक केन्द्रीभूत शासनका प्रयास देखनेको मिलेगा; वही औरंगजेब जैसी उद्देश्य पूर्तिकी लगन, वही कर्त्तव्यपरायणताकी सर्वोपरि चेतना, वही

१. बनर्जी वही पुस्तक पृष्ठ २१८

आश्चर्यजनक कार्यशक्ति, वही अकेलेपनका बोध, वही दमन और अविश्वासकी नीतिका पालन जिससे सब ओर खीझ और क्रोध पैदा हो गया।"

वंगभंगके परिणामोंके सम्बन्धमें गोखलेने कहा—"हमारी राष्ट्रीय प्रगतिके इतिहासमें, बंगालके विभाजनके परिणामस्वरूप पैदा हुआ जनरोष और भावनाका महान् उद्रेक चिरस्मरणीय रहेगा। अंग्रेजी राज्यकी स्थापनाके बाद पहली बार भारतीय समाजके सभी वर्ग जाति और धर्मके भेद भूलकर, किसी बाहरी दबावके बिना, सभीके साथ हुए अन्यायका प्रतिरोध करनेकी एक भावनासे अभिभूत होकर आगे बढ़े। उस प्रान्तपर एक सच्ची राष्ट्रीय चेतनाकी लहर छा गयी है और उसके प्रभावसे पुरानी बाधाएँ—कमसे कम कुछ समयके लिए तो ढह ही गयी हैं; वैयक्तिक ईर्ष्या तिरोहित हो चुकी है, दूसरे विवाद स्थगित हो गये हैं। नृशंस और निर्बन्ध नौकरशाहीके दमनचक्रका बंगालने जिस साहसके साथ सामना किया है उससे पूरा भारत आनन्दित और कृतार्थ हो उठा है। सहानुभूति और राष्ट्रीय आकांक्षाओंके कारण देशके विभिन्न भाग एक दूसरेके निकट आ गये हैं और इस प्रकार बंगालकी पीड़ा और कष्ट निष्प्रयोजन और व्यर्थ ही नहीं गये। जिस तरहकी बाढ़ हालमें बंगालमें देखी गयी, उसमें कहीं कहीं किनारोंके ऊपरतक पानी भर जाना अनिवार्य-सा है। जब विशाल जनसमुदाय अकस्मात् अन्धकारसे प्रकाश, दासतासे स्वतन्त्रताकी ओर बढ़ता है, कहीं कहीं 'अति' हो जाना स्वाभाविक ही है। इनसे हमें अत्यधिक परेशान होनेकी आवश्यकता नहीं है। सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह है देशके सार्वजनिक जीवनको बहुत बड़ी और महत्वपूर्ण शक्ति प्राप्त हुई है—और इसके लिए देश बंगालका ऋणी और आभारी है।"

लेकिन तब भी नरमदलीय नेता कोई बड़ा कदम उठानेको तैयार नहीं थे। वे काँपते थे और उग्र-कांग्रेसी आगे बढ़नेके लिए उतावले हो रहे थे। इन उग्र कांग्रेसियोंमें महान् नेता भी थे जो भिखारीकी झोली नहीं फैलाना चाहते थे, जिनकी राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाएँ निर्बाध थीं, कोई सीमा नहीं जानती थीं। उन्होंने एक नयी संस्था-नेशनलिस्ट पार्टी (राष्ट्रीय दल) की स्थापना की और कांग्रेस शिविरमें ही खुला अधिवेशन कर भविष्यका अपना कार्यक्रम तय करना शुरू किया। इस सभामें तिलकने अपना सविनय प्रतिरोधका सिद्धान्त प्रतिपादित किया। सभाने स्वयं-सहायताके सिद्धान्तका प्रचार करने और जनताको देशी वस्तुओंके प्रयोग और बहिष्कार आंदोलनके लिए प्रेरित करनेका निश्चय किया। प्रतिनिधियोंने ब्रिटिश सरकारसे शासन और सार्वजनिक कार्योंके हर क्षेत्रमें असहयोग करनेके प्रश्नपर भी विचार किया।

इस घटनाने कांग्रेसके शान्त वातावरणमें उद्वेलन उत्पन्न कर दिया। विषय समितिकी बैठकमें नरमदलीय व राष्ट्रीय पार्टीके नेताओंमें मतभेद पैदा हो गया। लगभग कांग्रेस अधिवेशनके समय ही ब्रिटिश युवराज प्रिंस आव वेल्स सपत्नीक भारत आये थे। परम्परानुसार कांग्रेस (नरमदलीय) उनका 'सम्मानपूर्वक, विनयपूर्ण, भक्ति और कर्त्तव्यमय स्वागत' करना चाहती थी। 'राष्ट्रीय' नेताओंने इस प्रस्तावका विरोध किया, क्योंकि वे ऐसी हर बातके विरुद्ध थे। संकटापन्न स्थिति पैदा हो गयी। लेकिन कांग्रेसके पुराने नेताओंने समझौतेका यह रास्ता निकाला कि जब यह प्रस्ताव पेश हो तिलक गुट बैठकसे उठकर चला जाय। तिलक गुट उठ गया और कांग्रेसकी एकता कायम रही। फूटका डर एक और प्रस्तावपर पैदा हुआ। बायकाट, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षापर नरमदली उस ढंगका प्रस्ताव पास नहीं करना

चाहते थे, जिस ढंगका 'राष्ट्रीय' नेता। लेकिन यहाँ नरमदलीय नेता झुक गये और अधिवेशन शान्तिपूर्वक समाप्त हो गया।

अधिवेशनका कौंसिलोंके विस्तारकी माँगवाला मुख्य प्रस्ताव जे. चौधरीने पेश किया, जिन्होंने बंगभंगके सम्बन्धमें कहा कि यदि केन्द्रीय कौंसिल मात्र वाद-विवादका अखाड़ा न होती तो यह कानून बिलकुल दूसरे ढंगका होता। भारतीयोंका हाकिमोंके लिए उत्तर कुछ इस प्रकारका था—'हमारा यह सुझाव है; तर्क हमारे पक्षमें है; न्याय हमारे पक्षमें है; वोट तुम्हारे पक्षमें हैं; जो चाहो करो।' मुख्य प्रस्तावमें कहा गया था कि "समय आ गया है जब केन्द्रीय और प्रान्तीय विधायिका कौंसिलोंके और अधिक विस्तारकी आवश्यकता है।" प्रस्तावमें सिफारिश की गयी थी कि "निर्वाचित और गैरसरकारी सदस्योंकी संख्या और बढ़ायी जाय और कौंसिलोंके सामने आनेवाले आर्थिक प्रश्नोंपर उन्हें मतविभाजनका अधिकार हो; शासनाध्यक्ष उनके निर्णयोंपर निषेधाधिकारका प्रयोग कर सकेंगे।" इसी प्रस्तावमें माँग की गयी थी कि (अ) हर प्रान्तको ब्रिटिश लोकसभामें दो प्रतिनिधि भेजनेका अधिकार हो, (आ) जानी मानी योग्यता और अनुभवके कमसे कम तीन भारतीयोंको भारतसचिवकी परिषदका सदस्य बनाया जाय, और (इ) गवर्नर जनरलकी कार्यकारी कौंसिलके दो सदस्य भारतीय हों और मद्रास व बम्बईकी कार्यकारी कौंसिलोंमें एक एक भारतीय सदस्य हो। समय समयपर भारतकी हालतकी ब्रिटिश लोकसभा द्वारा जाँच की जो प्रणाली ईस्ट इण्डिया कम्पनीके समय चल रही थी, एक अन्य प्रस्ताव द्वारा उसे फिरसे चालू करनेकी माँग की गयी। जैसा कि पहले भी कई बार कहा गया था, समझा यह जाता था कि इससे भारतीय शासनतन्त्रकी जाँचका अवसर मिलता रहेगा।

बंगभंगपर वन्देमातरम्‌की ध्वनिके बीच प्रस्ताव पेश करते हुए सुरेन्द्रनाथ बनर्जीने कहा कि जबतक विभाजन खत्म न कर दिया जाय, आन्दोलन जारी रहेगा। वह आन्दोलन नहीं रुका, तब भी नहीं रुका जब बंगभंग समाप्त हो गया और दोनों बंगाल मिलकर फिर एक हो गये।

कांग्रेसने भारत सरकार और भारत सचिवसे अपील की कि वे प्रबन्ध बदलें या उसमें सुधार करें। एक प्रस्ताव द्वारा ब्रिटिश वस्तुओंके बहिष्कारको न्यायसंगत बताते हुए बंगाल सरकारकी दमननीतिकी निन्दा की गयी। कांग्रेसने यह भी तय किया कि गोखले इंगलैण्ड जाकर वहाँकी सरकारका ध्यान कांग्रेसके प्रस्तावोंकी ओर आकृष्ट करें।

वादविवादमें जिन्होंने सक्रिय भाग लिया, उनमें मदनमोहन मालवीय और लाजपतराय भी थे। कर्जनके अत्याचारी शासनसे उत्पन्न विरोधभावनाको कुचलनेके लिए काममें लाये गये दमनचक्रकी निन्दा करते हुए उन्होंने बंगालका अनुकरण करनेकी अपील की। एक मुस्लिम प्रतिनिधि ए० एच० गजनवीने पूर्वी बंगालके गवर्नर सर बेम्पफील्ड फुलरके 'उत्तेजक और सन्निपाती व्यवहार' का पर्दाफाश करते हुए उनकी धमकी, उनके सज्जनोंके प्रति असभ्य व्यवहार और निर्दयतापूर्वक अपमान करनेकी घटनाओंका वर्णन किया। बनारस अधिवेशनमें ७५६ प्रतिनिधियोंने भाग लिया था। इनमें केवल १७ मुसलमान थे।

मिण्टो कांग्रेसको सन्देहकी दृष्टिसे देखने लगे थे और उसकी जगह किसी अन्य संस्थाके समर्थनकी सोच रहे थे—सम्भवतः कांग्रेस जैसी ही किसी संस्थाकी जिसका जन्म सन् १८८५ में संघटित हिंसा (जिसके काफी सबूत ह्यूमको मिल गये थे) का खतरा दूर

करनेके लिए हुआ था। २८ मई सन् १९०६ के अपने पत्रमें मिण्टोने भारत सचिवको लिखा था—"जहाँतक कांग्रेसका सम्बन्ध है......हमें उसके बेहतर नेताओंको मान्यता देनी चाहिये और उनसे मित्रता करनी चाहिये; लेकिन तो भी मुझे भय है कि उसके आन्दोलनमें बहुतसे ऐसे व्यक्ति हैं जो सरकारके प्रति कोई निष्ठा नहीं रखते, बिलकुल वफादार नहीं हैं; भविष्यके लिए उनसे खतरा है......कांग्रेसके उद्देश्योंके जवाबके तौरपर कोई संस्था खड़ी करनेके प्रश्नपर मैं इधर काफी दिनोंसे सोच रहा हूँ। देशी महाराजाओंकी समिति या उसी किस्मकी किसी और संस्थासे हमारा काम चल सकता है। एक प्रिवी कौंसिल हो जिसमें राजाओंके अलावा कुछ और बड़े लोग भी हों, जो सालमें एक बार एक हफ्ते या पखवारेके लिए दिल्ली या कहीं और मिला करें। वाद-विवादके विषयों और कार्यसंचालनपर काफी गौर करना पड़ेगा; हमें कांग्रेससे भिन्न विचार वहाँ लाने होंगे।"[1]

मौर्लेको यह सुझाव पसन्द आया और उन्होंने अपने जवाबमें लिखा कि मेरा निजी तार किसी भी दिन तुम्हारे पास पहुँच सकता है कि तुम एक भारतीय ड्यूमा (रूसी पार्लमेण्ट) स्थापित करनेका प्रबन्ध करो। मौर्लेने अपने पत्रमें यह भी लिखा था कि "मैं बिना सोचे समझे, आँखपर पट्टी बाँधकर निरंकुश शासनके रास्ते भी नहीं चलना चाहता।"[2]

लेकिन मौर्लेके इसी पत्रमें एक और महत्वपूर्ण अंश है जिसे कांग्रेसकी जगह लेनेवाली संस्था, या कम-से-कम एक अन्य बड़ी समस्याकी ओर इंगित माना जा सकता है। उन्होंने लिखा था—भारतमें जो नयी चेतना पैदा हो रही है और फैलती जा रही है उससे हमें सभी सावधान कर रहे हैं। लारेंस[3], शिरौल[4], सिडनी लो[5] सभी वही राग अलापते हैं। तुम भी पुराने ढंगसे शासन नहीं चला सकते; कांग्रेस संस्था और कांग्रेस सिद्धान्तोंके बारेमें तुम्हारे कुछ भी विचार क्यों न हों, तुम्हें उनसे निबटना है। तुम विश्वास रखो कि शीघ्र ही मुसलमान भी तुम्हारे खिलाफ कांग्रेससे अपना भाग्य जोड़ देंगे, वगैरह वगैरह।" इसका इलाज साफ था। मुसलमानोंको कांग्रेसमें शामिल होनेसे रोकना जरूरी था। इसके कुछ ही महीनों बाद अखिल भारतीय मुस्लिम लीगका जन्म हो गया।

---

१. मेरी मिण्टो, वही पुस्तक पृष्ठ २८–२९
२. वही पुस्तक पृष्ठ ३०
३. सर वाल्टर लारेंस (कर्जनके प्राइवेट सेक्रेटरी)
४. सर वेलेण्टाइन शिरौल (टाइम्सके संवाददाता)
५. सर सिडनी लो (शाही यात्राके समय आये विशेष संवाददाता)

अध्याय १०

मुस्लिम लीग

बंगभंगके बाद भारतीय राजनीतिमें इतनी तेजी आयी और वह इतने क्रान्तिकारी ढंगसे आगे बढ़ी कि अँग्रेज शासकोंको सब प्रकारकी आशंकाएँ घेरने लगीं। उनको इस बातकी फौरन आवश्यकता प्रतीत होने लगी कि सरकार-भक्त मुसलमानोंको एक राजनीतिक संघटनमें संघटित कर कांग्रेसके मुकाबलेमें खड़ा किया जाय। अंग्रेजोंके मित्र अलीगढ़के जागीरदार हाजी मुहम्मद इस्माइल खाँने ३० जुलाई १९०६ को नैनीतालसे एक खत नवाब मोहिसिनुल-मुल्कको लिखा कि विधान-परिषदोंको बढ़ानेकी बात सोची जा रही है और मुसलमानोंको भी अपनी माँगें सरकारके सामने पेश कर देनी चाहिये। उस समय श्री थियोडर मॉरीसनके उत्तराधिकारी आर्चीबाल्ड शिमलामें थे। उन्होंने वाइसरायके निजी सेक्रेटरीसे बात करके नवाब मोहिसिनुल-मुल्कको इस तरहका खत लिखा—"वाइसरायने मुसलमानोंके एक शिष्टमण्डलसे मिलना स्वीकार कर लिया है। वाइसरायको पेश किये जानेवाले मानपत्रपर सब सूबोंके प्रभावशाली व महत्वपूर्ण, मुस्लिम नेताओंके हस्ताक्षर होने चाहिये। इसमें चुनावकी नहीं बल्कि नामजदगीकी प्रणालीकी व्यवस्था करनेकी प्रार्थना करनी चाहिये क्योंकि मुसलमानोंको लाभ केवल नामजदगीसे ही होगा। जमींदारोंकी रायको उचित महत्व देना आवश्यक है। समय कम है और यदि हम एक आन्दोलन खड़ा करना चाहते हैं तो हमें जल्दी करना चाहिये।"

खतमें उन्होंने मुसलमानोंके हितको प्रत्येक सहायताका आश्वासन दिया परन्तु कहा कि वे स्वयं परदेकी आड़में रहेंगे। इस सिलसिलेमें आगे बात करनेके लिए नवाब मोहसिनुल-मुल्कको तार द्वारा शिमला बुलाया गया। मौलाना अबुल कलाम आजादने अपने एक भाषण में शिमलाके पैतरोंकी चर्चा करते हुए कहा "मैं इस बातका जिन्दा सुबूत हूँ कि जब जनताके उद्वेलनके फलस्वरूप, १९०६ में कुछ सुधार किये जानेवाले थे, स्वर्गीय नवाब मोहसिनुल-मुल्कको बम्बईसे, जहाँ वे अपने एक मित्रके यहाँ ठहरे हुए थे, तार द्वारा शिमले बुलाया गया। शिमलेमें उनकी मुलाकातका नतीजा यह हुआ कि आगा खाँको अपनी यूरोप-यात्रा स्थगित कर अदनसे वापस लौटना पड़ा। मुसलमानोंकी तरफसे हैदराबाद (दक्कन) के सैयद बिलगरामीने पृथक् निर्वाचन पद्धतिकी माँग करते हुए एक स्मृतिपत्र तैयार किया। ये सब दाँवपेंच शिमलासे ही खेले गये थे।"[1] (शिमला भारतकी ग्रीष्मकालीन राजधानी था)। १९२३ की कांग्रेसमें मौलाना मोहम्मद अलीने राष्ट्रपतिके पदसे भाषण करते हुए शिमला-तमाशेको 'हुक्मी-तमाशा' बताया। आशय यह कि, जैसा डा. अम्बेडकरने कहा है, स्मृति-पत्रकी तैयारी अँग्रेजी सरकारने करवायी थी।"[2]

यही नवाब मोहिसिनुल-मुल्क, जिनको यू. पी. के लेफ्टिनेंट गवर्नरने 'राजनीतिक

---

१. अब्दुल मजीद खाँ, कम्यूनलिज्म इन इण्डिया-इट्स ग्रोथ एण्ड ओरिजिन—पृष्ठ २३

२. अम्बेडकर, वही पुस्तक पृष्ठ, ४२८

कार्यों के लिए सन् १९०० में डाँटा था, अब भारत सरकारके इशारेपर हाथ बाँधे खड़े रहते थे। वाइसरायकी सेवामें पेश करनेके लिए आवेदनपत्रपर उन्होंने थोड़ेसे वक्तमें लगभग ४००० मुसलमानोंके हस्ताक्षर इकट्ठे कर लिये। तब मुस्लिम सामन्तोंके ३५ सदस्योंके एक शिष्टमण्डलने वाइसरायकी सेवामें एक लम्बा स्मृतिपत्र पेश किया। जो संक्षेपमें यह था :—

"श्रीमान्की कृपासे,—प्राप्त हुई आज्ञाके सुअवसरसे लाभ उठाकर हम (जिनके हस्ताक्षर नीचे हैं) अमीर जागीरदार, ताल्लुकेदार, वकील, जमींदार, व्यापारी व अन्य लोग सम्राटकी भारतके विभिन्न भागोंकी मुहम्मडन प्रजाका प्रतिनिधित्व करते हुए, अत्यधिक नम्रता और विनयपूर्वक निम्नलिखित स्मृतिपत्र कृपापूर्ण विचारार्थ श्रीमान्की सेवामें प्रस्तुत करते हैं।

"१९०१ की जनसंख्या गणनाके अनुसार भारतके मुहम्डन ६ करोड़ २० लाख या सम्राटके भारतीय उपनिवेशकी कुल जन संख्याका ¼ और ⅕ के बीचका भाग हैं। और यदि हिन्दू समाजमेंसे 'नगण्य धर्मावलम्बी, व असभ्य ब्रह्मवादी' लोगोंके भागको और ऐसे तत्वके लोगोंको भी जो आम तौरपर हिन्दू शुमार किये जाते हैं पर वास्तवमें हिन्दू नहीं हैं, घटा दिया जाय तो मुहम्डनोंका बहुसंख्यक हिन्दुओंसे अनुपात बहुत बढ़ जाता है। इसलिए हम अनुरोध करना चाहते है कि किसी भी प्रतिनिधित्व प्रणालीमें चाहे उसका क्षेत्र सीमित हो या वृहद, ऐसे समाजको जिसकी जनसंख्या रूसको छोड़कर किसी भी प्रथम श्रेणीकी यूरोपियन सत्तासे अधिक है और जो राज्यके महत्वपूर्ण अंग हैं, उचित प्रतिनिधित्व मिलना ही चाहिये।

"श्रीमान्की आज्ञासे हम कुछ और भी कहना चाहते हैं। हम अनुरोध करते हैं कि प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व पद्धति या ऐसी किसी भी व्यवस्था, जिससे उनके प्रभाव या हैसियतपर असर पड़े, को लागू करते समय मुहम्डन समाजकी स्थितिकी आँक सिर्फ उनकी जनसंख्याको नहीं, बल्कि उनके राजनीतिक महत्व और साम्राज्यकी सुरक्षाके लिए की गयी सेवाओंको ध्यानमें रखते हुए, करनी चाहिये। हम आशा करते हैं कि श्रीमान् विचार करते समय भारतमें मुसलमानोंकी सौ वर्ष पूर्वकी प्रतिष्ठित स्थितिको, जिसकी परम्पराएँ अभी उनके दिलोंमें टूटी नहीं हैं, अवश्य ध्यानमें रखेंगे।...

"हमें आशा है कि श्रीमान् हमको प्रारम्भमें ही यह कहनेमें क्षमा करेंगे कि प्रतिनिधि संस्थाएँ जिस प्रकारकी यूरोपीय देशोंमें प्रचलित हैं, भारतीय जनताके लिए नयी हैं। हमारे समाजके कई विचारशील सदस्योंकी सम्मतिमें यदि भारतकी सामाजिक, राजनीतिक व धार्मिक परिस्थितियोंको ध्यानमें रखते हुए प्रतिनिधि-संस्था-प्रणालीको उनके अनुकूल सफलतासे लागू करना है तो अत्यधिक यत्न, सावधानी और दूरदर्शितासे कार्य करना पड़ेगा। और यदि अत्यधिक सावधानी और यत्नसे काम न लिया गया तो इसके अर्थ और विपत्तियोंके साथ साथ हमारे राष्ट्रीय हितोंको, वैमनस्यपूर्ण बहुसंख्याकी मरजीपर छोड़ देना होगा।......

"......इस बातकी कोई सम्भावना नहीं है कि निर्वाचक मण्डल (जैसे कि वे इस समय विद्यमान हैं) द्वारा किसी भी मुसलमान उम्मीदवारका नाम सरकारकी स्वीकृतिके लिए पेश किया जायगा। ऐसा तभी सम्भव है जब कि वह उम्मीदवार सभी महत्वपूर्ण मसलोंपर बहुसंख्यकोंका समर्थन करे। न हमें अपने गैर-मुस्लिम भाइयोंकी इस इच्छामें कोई बुराई नजर आती है कि वे अपनी बहुसंख्याकी शक्तिका पूरा फायदा उठाकर केवल अपनी

जातिके सदस्योंके लिए मतदान करें, या उन लोगोंके लिए मतदान करें जो हिन्दू न होते हुए भी बहुसंख्यक हिन्दुओंके पक्षमें वोट देंगे क्योंकि उनको भविष्यके चुनावोंके लिए उन्हीं-की शुभेच्छाओंपर अवलम्बित रहना पड़ेगा।"

स्मृतिपत्रमें ये माँगें गिनायी गयी थीं (१) मुसलिमोंको उनकी संख्याके उचित अनुपातसे सरकारी नौकरियाँ मिलें; (२) नौकरियोंमें भर्तीके लिए प्रतियोगिता समाप्त कर दी जाय; (३) प्रत्येक हाईकोर्ट व चीफ कोर्टमें मुसलमान जजोंकी नियुक्ति हो; (४) जैसा कि पंजाबके कई शहरोंमें होता है, म्युनिसिपल्टियोंके चुनावके लिए यह अधिकार दिया जाय कि हिन्दू मुसलमान अलग-अलग अपने-अपने प्रतिनिधि चुनकर भेजें; (५) विधान-परिषदके लिए चुनाव करनेवाले निर्वाचनमण्डलोंमें, महत्वपूर्ण मुसलमान जमींदार, वकील, व्यापारी व दूसरे हितोंके प्रतिनिधि, जिलाबोर्डोंके मुसलिम सदस्य और विश्वविद्यालयोंके मुसलिम स्नातक (ग्रेजुएट) (जिनकी स्थिति कमसे कम पाँच सालकी हो) हों।[1]

वाइसरायका जवाब भी स्मृतिपत्रकी भाँति लम्बा था। इसके ज्यादातर हिस्सेमें मुसलमानोंके अतीतके इतिहासका, सर सैयदकी सेवाओं और अलीगढ़-आन्दोलनका वर्णन था। उत्तरके प्रासंगिक वाक्य ये थे—

"मैं यह बतलानेकी कोशिश तो नहीं करूँगा कि विभिन्न धर्मावलम्बियोंका प्रतिनिधित्व किस प्रकार हो? लेकिन मुझे इसका पूरा विश्वास है, जैसा कि मैं समझता हूँ कि आपको भी है, कि इस द्वीपकी जनसंख्याके वर्गोंकी परम्पराओं और विश्वासोंको बिना ध्यानमें रखे हुए कोई भी प्रतिनिधि-निर्वाचक-प्रणाली जिसका उद्देश्य व्यक्तिगत मताधिकार देना हो, पूर्ण रूपसे असफल सिद्ध होगी......मैं मुसलिम समाजको पूरे तौरपर आश्वासन देता हूँ कि मुझसे सम्बन्धित किसी भी प्रशासन-पुनर्निर्माणमें उनके हितों और अधिकारोंकी रक्षा की जायगी।"[2]

शामको वाइसरायकी स्त्री मेरी मिंटोको एक सरकारी अफसरका निम्नलिखित पत्र मिला जिसका अर्थ साफ है और काफी महत्त्व रखता है। "श्रीमान्की सेवामें एक पंक्ति भेजकर मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि आज बहुत बड़ी घटना हुई है। कुशल नीतिज्ञताका एक कार्य आज हुआ है जिसका प्रभाव भारत और भारतीय इतिहासपर वर्षोंतक रहेगा। छः करोड़ बीस लाख आदमियोंको[2] राजद्रोहियोंकी पंक्तिमें शामिल होनेसे रोक देनेका यह कार्य कम महत्वपूर्ण नहीं है।"[3] वे अपने १ अक्टूबर १९०६ के जर्नलमें लिखती हैं कि "आज-का दिन बहुत घटनापूर्ण रहा। जैसा कि मुझसे किसीने कहा—भारतीय इतिहासमें यह युगप्रवर्त्तक माना जायगा।" भारतभरमें फैली हुई असन्तोषकी भावनासे हम परिचित हैं, सब वर्गों और विचारोंके लोगोंमें फैली हुई अशान्तिको हम जानते हैं......आन्दोलनकर्ता इस भावनाको फैलाने और पोषण करनेमें पूरी तरह तत्पर हैं। स्वाभाविक है कि इस वृहद् समाज (मुसलमानों) का सहयोग प्राप्त करनेका उन्होंने भरसक प्रयास किया है। नौजवान पीढ़ी अनिश्चित सी थी, कांग्रेसके अग्रणी-आन्दोलनकारियोंका साथ देनेकी तरफ उसकी अधिक

१. स्मृतिपत्र और वाइसरायके उत्तरका पूरा विवरण अम्बेडकरकी उसी पुस्तकमें मिलेगा, पृष्ठ ४२८-४२९

२. मुसलमानोंको

३. मेरी मिंटो, वही पुस्तक-पृष्ठ ४७-४८

प्रवृत्ति थी। एक पुकार उठी कि राजभक्त मुसलमानोंका समर्थन नहीं करना चाहिये और आन्दोलनकारी उद्वेलनके जरिए अपनी माँगें हासिल कर लेंगे।"[1] अब इसमें जरा भी संशय नहीं रह जाता कि राजभवन शिमलामें शिष्टमण्डलकी पूरी योजना बनी थी और बिजलीकी तेजीसे यह कार्यान्वित की गयी।

अब हम इस स्थितिमें हैं कि १८८५ में कांग्रेसके जन्मके बादसे मुस्लिम राजनीति और उसकी धाराओंका विश्लेषण कर सकें। कुछ खिताब-प्राप्त और कुलीन सामन्तीवर्गके लोग जिन्होंने निजी तौरपर या राजनीतिक सभाओंमे कभी भी मुस्लिम समाजके लिए चिन्ता प्रगट नहीं की थी, मुसलमानोंके स्वयं-नियुक्त नेता बन गये।

उनका एकमात्र उद्देश्य अपनी ऊँची स्थितिको बरकरार रखना और मुसलिम समाजके एक बहुत ही सूक्ष्म भागके लिए सरकारी ओहदे प्राप्त करना था। अपने हितोंकी रक्षाके लिए सरकार-भक्तिका राग अलापना उनका उद्देश्य था। काँग्रेसकी तरफके लोग भी अपने वर्गीय हितोंके लिए समान रूपसे सतर्क थे परन्तु वे इस स्तरसे ऊँचे उठे और उन्होंने ब्रिटिश सरकारपर भारतमें आर्थिक-बर्बादी लानेका आरोप लगाया। लगातार वर्षोंतक काँग्रेसने अंग्रेजों द्वारा भारतके आर्थिक शोषणकी तरफ सरकारका ध्यान खींचा और सुधारोंकी माँग की। आमतौरसे मुसलमान हिन्दुओंसे ज्यादा गरीब थे; बंगालमें किसानोंकी दशा बहुत बुरी थी। करघोंके सहारे जीवन-वृत्ति यापन करनेवाली मुसलमान जनता भूखों मर रही थी। लेकिन तथाकथित मुस्लिम नेताओंने इनके बारेमें कभी एक शब्द भी नहीं कहा। यदि वे एक शब्द भी कहते तो वह राजनीति समझी जाती, जिसे वे एक तरहका 'हौआ' समझते थे। वे सरकारको रुष्ट करनेका साहस नहीं कर सकते थे। मुगल शासन-कालमें प्राप्त अपनी पूर्वजोंकी खानदानी प्रतिष्ठाके बलपर वे सरकारी पदोंपर अपना स्वत्व चाहते थे। उस समय लोगोंकी खानदानी स्थितिके ऊपर ऊँची पदवियाँ और उपाधियाँ बहुत आसानीसे प्राप्त हो जातीं थी। अंग्रेजी शासनकालकी भाँति ऊँची पदवियाँ और उपाधियाँ प्राप्त करनेके रास्तेमें प्रतियोगिता-परीक्षाका रोड़ा न था। यदि हिन्दू और विशेषतया नीची श्रेणीके हिन्दू, परीक्षामें उनको नीचा दिखा देते तो वे इतने नाराज हो जाते कि वे नयी पद्धति और प्रजातन्त्रकी घोर निन्दा करने लगते क्योंकि इन्हींके अन्तर्गत प्रति-योगिता-परीक्षाएँ आरम्भ हुई थीं। बेक और उनके उत्तराधिकारियों, जैसे उनके अलीगढ़ कॉलेजके शिक्षकोंने, उनकी मनःस्थितिका अध्ययन किया और उन्हें अपने लिए (मुसलमानोंके लिए) सीधी नियुक्तियोंकी माँग करनेकी सलाह दी। कालान्तरमें मुसलमानोंकी यही राजनीति बन गयी—प्रजातन्त्र और प्रतियोगिता-परीक्षाएँ मुस्लिम-हितोंके विरुद्ध थीं।

जीवन-वृत्तिके साधनके बाद मुसलमानोंके इस वर्गको सबसे प्रिय-इस्लाम था। कुछ मुस्लिमोंने इसका फिरसे अध्ययन किया और कुरान व अरबके पैगम्बरकी स्तुतिमें प्रशंसनीय साहित्य लिखा।

राजनीतिमें स्वतन्त्रता और समानताकी भावनाकी नयी विचारधारासे उनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। अधिक-से-अधिक वे इन बातोंकी कुरानमें उत्पत्ति ढूँढ़नेका प्रयास करते। उनमेंसे कुछ धार्मिक निरपेक्षताको जीवनका एक स्वतन्त्र पहलू मानते थे, कई विषमताओंके सामने वे असहाय थे और यह अधिकारपूर्वक कहा जा सकता है कि मुस्लिम

१. मेरी मिंटो, वही पुस्तक, पृष्ठ-४५

नेता राजनीतिसे धर्मको कभी अलग नहीं कर सकते थे। इन्हींमेंसे एक नवाब मोहिसिनुल मुल्क थे। 'मुस्लिम राष्ट्रकी अवनतिके कारणों' पर भाषण करते हुए उन्होंने कहा कि उनका (मुस्लिम) समाज तबतक उन्नतिकी आशा नहीं कर सकता जबतक वे सिर्फ अपने पूर्वजोंकी प्रतिष्ठामें ही गौरवान्वित महसूस करेंगे और जबतक वे हिन्दुओंकी नये ज्ञानप्राप्तिकी तत्परताकी स्पर्धा नहीं करेंगे।"[1] परन्तु उनके दूसरे भाषणसे मालूम पड़ता है कि वे निराशा और असहायत्व महसूस कर रहे थे। "सज्जनो" उन्होंने कहा, "इस बातको बार-बार याद रखिये कि हमको अपने प्रयासोंमें कोई विशेष सफलता नहीं मिलेगी जबतक आदरणीय व माननीय उलेमाओंकी संस्था (पुराने ढंगके विद्वान-मुसलमान) हमारी सहायता नहीं करती। हमारे समाजका बहुत बड़ा तबका हमारी बात नहीं सुनता। जनतातक विकसित विचार पहुँचानेके लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है। लेकिन पूरे समाजके हृदयोंपर आधिपत्य रखनेवाली संस्थाकी आवाजको पेशावरसे बरमातक, कश्मीरसे मद्रासतक प्रत्येक मुसलमान ध्यानसे सुनेगा। सज्जनो! इसमें जरा भी संशय नहीं है कि मुसलमान चाहे कितने ही अज्ञानी और अविवेकी क्यों न हों उनके हृदय इस्लामकी मुहब्बतसे ओत-प्रोत हैं, उनके विचारोंपर धार्मिक-उत्साहका बहुत प्रभाव है.........उलेमाओंकी व्याख्याके अलावा उनके लिए इस्लाम और कुछ नहीं है।"[2]

मोहिसिनुल-मुल्कके विचारोंके लोग बहुत थोड़े थे। वे राजनीतिमें कूदनेका साहस न कर सके। न सिर्फ यह, उनका अंग्रेजोंसे इतना गहरा नाता था कि अंग्रेजोंके हुक्मपर वे मुसलमान जनताके एकमात्र नेता होनेका दावा कर सकते थे। भारतीय जनताकी आर्थिक दुर्दशाकी तरफ ध्यान खींचनेवाले संघटनको वे मुसलमानोंका प्रतिनिधित्व करनेवाली संस्था माननेको तैयार नहीं थे।

मुसलमानोंके इस तबकेका अपने प्रतिरूप हिन्दू तबकेसे सरकारी नौकरियाँ पानेके लिए संघर्ष चलता था। मुगल शासनकालमें प्राप्त एकाधिकारसे आज हिन्दू इनको वंचित कर रहे हैं, इस भावनाने पुनरुत्थानवादकी प्रवृत्तियोंको जागरित किया। अपनी उन्नति और इस्लाम उनके जीवनका मुख्य ध्येय बन गया था। ऐसे मुसलमान, जैसा नेहरूजी कहते हैं "अपनी राष्ट्र-भूमिको अन्यत्र ढूँढ़नेकी कोशिश करते थे। कुछ हदतक वे अफगान और मुगलकालमें अपनी राष्ट्रीय जड़ें देखते थे। सांस्कृतिक जन्म-भूमिकी यह खोज कुछ मुसलमानोंको (उनमेंसे कितने ही मध्यम वर्गके थे) इस्लामके इतिहास और उस कालकी ओर ले गयी जब इस्लाम बगदाद, स्पेन, कान्स्टेंटिनोपल, सेन्ट्रल एशिया व अन्य जगहोंपर विजयिनी और रचनात्मक शक्ति था। मक्काकी हज-यात्रा भी इसी प्रकारकी चीज थी जिसकी यादसे मुसलमान अपनेको गौरवान्वित महसूस करते थे। भारतके मुगल-सम्राट भारतके बाहरकी किसी भी आध्यात्मिक शक्ति या खलीफाको मान्यता नहीं देते थे। १९ वीं शताब्दीके पूर्वार्धमें जब मुगल सत्ताका पूर्ण पतन हो गया तब भारतीय मस्जिदोंमें तुर्कीके सुल्तानोंका नाम लिया जा सका। गदरके बाद यह पूरे तौरपर प्रचलित हो गया।"[3]

उन्हें हिलालसे मुहब्बत थी क्योंकि वर्षोंतक यह उनके सुख और समृद्धिका प्रतीक

---

१. जी० एन० नटेसन एण्ड कं० की 'एमिनेण्ट मुसलमान' पृष्ठ ८५

२. वही पुस्तक, पृष्ठ ८३-८४

३. नेहरू—डिस्कवरी आफ इण्डिया—पृष्ठ २९७

रहा। अपनी जन्म-भूमिसे ज्यादा उन्हें तुर्कीसे प्रेम था जहाँ खलीफा रहता था। १९ वीं शताब्दीके उत्तरार्धमें तुर्कीके सुल्तान हमीदने सर्व-इस्लामवादके आन्दोलन (पान-इस्लामिक मूवमेंट) को प्रोत्साहन दिया। भारतीय मुसलमानोंके ऊँची स्थितिके लोगोंने इसका साथ दिया। लेकिन सर सैयदने, जिनको कोई भी चीज उनके दृढ़ निश्चयसे डिगा नहीं सकती थी, इस योजनाका विरोध किया और कहा कि यह ब्रिटिश हितोंको हानि पहुँचायेगी। उन्होंने अपने सहधर्मियोंको सलाह दी कि उनके धर्ममें राजभक्त रहनेका उपदेश दिया गया है। लेकिन फिर भी ऊँची श्रेणीके मुसलमान सर्व-इस्लामवादके आन्दोलनसे आकर्षित होते रहे।

अंग्रेजी अखबारोंने शिमला-योजनाकी सफलताको बहुत बड़ी सफलता मानकर हर्ष प्रकट किया। उन्होंने मुसलमानोंकी बुद्धिमत्ताकी तारीफ की और कांग्रेस व बंगालके आन्दोलनोंकी हँसी उड़ायी। जिस दिन शिमला-नाटक खेला गया उसी दिन लन्दन-टाइम्सने अपने कुछ कालमोंमें भारतीय समस्या और मुसलमानके बारेमें काफी लिखा और बेकके इस सिद्धान्तका जोरदार समर्थन किया कि भारत प्रजातान्त्रिक संस्थाओंके अयोग्य है। दूसरे दिन, २ अक्तूबरको, टाइम्सने बंगाल उद्वेलनकारियों और मुसलमान राजनीतिज्ञताकी तुलना की। एक दूसरे अखबारने हिन्दुओं और कांग्रेसकी निन्दा की और मुसलमानोंको शूरवीर कौम कहकर प्रशंसा की।

वाइसरायके निमंत्रणपर प्रथम बार देशके विभिन्न भागोंके कुलीन सामन्तीवर्गके लोग शिमलामें इकट्ठे हुए। स्पष्टतः यह मीटिंग अखिल भारतीय मुसलमान संघटन बनानेकी भूमिका थी। अलीगढ़की राजनीति अब देशव्यापी होनेवाली थी। ढाकाके नवाब सलीमुल्ला खाँने 'ऑल इण्डिया मुस्लिम संघ' (Muslim All India Confederacy) के नामसे एक राजनीतिक संघटन बनानेका प्रस्ताव रखा। इसके लिए उन्होंने मुस्लिम नेताओंकी एक मीटिंग ढाकामें ३० दिसम्बर १९०६ को बुलायी। ढाका बंग-भंगके खिलाफ आंदोलनका मुख्य केन्द्र हो रहा था। वहाँपर कर्जन द्वारा पैदा किये गये तीव्र हिन्दू-मुसलमानोंके मतभेदोंको, जिनको लेफ्टिनेंट गवर्नर फुलरने और उभारा था, देखते हुए ढाका प्रथम अखिल-भारतीय मुसलमानोंके सम्मेलनके लिए आदर्श स्थान था। नवाब वकारुल मुल्क इसके अध्यक्ष थे। सम्मेलनमें स्वीकृत प्रथम प्रस्ताव द्वारा ऑल इण्डिया मुस्लिम लीगके नामसे मुसलमानोंका एक राजनीतिक संघटन बनानेका निश्चय किया गया। एक दूसरे प्रस्तावमें कहा गया कि बंग-भंग मुसलमानोंके हितमें है। इस प्रस्तावकी एक प्रति सरकारके पास भेज दी गयी। दी टाइम्सने भारतीय राजनीतिके इस नये मोड़पर फिर संतोष प्रकट किया। ढाका-सम्मेलनके करीब तीन मास बाद अलीगढ़में हुई विद्यार्थियोंकी एक सभामें नवाब वकारुल मुल्कके भाषणसे लीगकी राजनीतिक आकांक्षाओं और अँग्रेजी शासनके प्रति दृष्टिकोणकी एक झांकी मिलती है। उन्होंने कहा "ईश्वर न करे यदि भारतसे अंग्रेजी शासन गायब हो जाय तो हिन्दू ऐश करेंगे और हम लोगोंको बराबर हर समय अपने जान, माल, और इज्जतका खतरा बना रहेगा। मुसलमानोंको इस खतरेसे बचनेका सिर्फ एक रास्ता है—अँग्रेजी शासनके कायम रखनेमें मदद करना। मुसलमान अगर दिलसे अंग्रेजोंके साथ हैं तो यह शासन जरूर बरकरार रहेगा। मुसलमानोंको अपनेको अँग्रेजी सेना समझना चाहिये, बराबर सम्राटकी सेवामें अपना खून बहाना चाहिये और जिंदगी कुर्बान करनेके लिए हमेशा तयार रहना

चाहिये।" फिर कांग्रेसका जिक्र करते हुए उन्होंने कहा कि "हमें कांग्रेसियोंकी आंदोलनकारी राजनीतिको नहीं अपनाना चाहिये। अगर हमारी कोई माँगें हैं तो हमें नम्रतासे सरकारकी सेवामें पेश करना चाहिये। लेकिन याद रखो कि अंग्रेजी शासनके प्रति राजभक्त रहना तुम्हारा राष्ट्रीय कर्तव्य है। तुम जहाँ कहीं भी हो, चाहे फुटबालके मैदानमें या टेनिसके खेलमें, अपने आपको अँग्रेजी फौजका सिपाही समझो। तुमको ब्रिटिश साम्राज्यकी रक्षा करनी है और इसके लिए शत्रुसे लोहा लेना पड़ेगा। अगर तुम यह समझ लो और इसको पूरा करो तो तुम्हारा नाम भारतीय-ब्रिटिश इतिहासमें सुनहले अक्षरोंमें लिखा जायगा। आनेवाली पीढ़ियाँ तुम्हारा नाम आदरके साथ स्मरण करेंगी और तुम्हारी कृतज्ञ रहेंगी।"[1]

सन् १९०७ में कराचीमें लीगका वार्षिक अधिवेशन हुआ—यह इसका प्रथम अधिवेशन था। एक विधान तैयार किया गया, जिसके निम्नलिखित उद्देश्य थे—(१) भारतीय मुसलमानोंमें अंग्रेजी सरकारके प्रति निष्ठाकी भावना पैदा करना और सरकार द्वारा उठाये गये कदमोंसे अभिप्रायके बारेमें पैदा हुई गलतफहमियोंको दूर करना; (२) भारतीय मुसलमानोंके राजनीतिक और दूसरे अधिकारोंकी रक्षा करना; उनकी आकांक्षाओं और आवश्यकताओंको नम्र भाषामें सरकारके सामने पेश करना; (३) जहाँतक सम्भव हो, बिना ऊपर बताये गये उद्देश्योंको हानि पहुँचाये हुए मुसलमानों और दूसरी जातियोंके बीच मित्रताके भाव पैदा करना।

विधानमें एक स्थायी अध्यक्षका स्थान स्वीकृत हुआ था। इस स्थानपूर्तिके लिए आगा खाँ ही उपयुक्त समझे गये और वे इस पदपर १९१३ तक रहे जब कि लीग उनके नियन्त्रणसे बाहर चली गयी और कांग्रेसकी नीतिपर चलने लगी। अध्यक्षकी अनुपस्थितिमें एक अस्थाई सभापति लीगकी बैठकोंका सभापतित्व करता था। १९०६ और १९०७ के बीच केन्द्रीय लीग व शाखाओंमें पास हुए प्रस्तावोंमें केवल एक बातपर जोर दिया जाता रहा—सरकारी 'हलवे और माँड़े' में ज्यादा हिस्सा मिलनेकी माँग करना।"[2]

सर सैय्यद अली इमामकी अध्यक्षतामें अमृतसरमें दिसम्बर १९०८ में लीगका दूसरा अधिवेशन हुआ। उन्होंने अपने भाषणमें लीग और कांग्रेसके विरोधी अन्तरको स्पष्ट किया। उन्होंने इस बातका दावा किया कि मातृभूमिके लिए श्रद्धा और भक्तिमें मुसलमान किसीसे पीछे नहीं हैं। लेकिन जहाँ कांग्रेस औपनिवेशिक स्वशासनकी माँग करती है, वहाँ लीग केवल शासनमें लगातार सुधारोंकी माँग और उदार-प्रणालीके अन्तर्गत शिक्षित भारतीयोंकी स्वाभाविक-आकांक्षाओंकी पूर्तिसे सन्तुष्ट हो जायगी। "क्या इस आदर्श स्वशासनकी माँगने, चाहे वह जितने सुन्दर आवरणमें रखी जाय, बेचैनी नहीं पैदा की है? और क्या इस बेचैनीने आदर्शवादियोंको किंकर्तव्य-विमूढ़ नहीं कर दिया है? और क्या संतुलनके नष्ट हो जानेसे उग्रवादिताका जन्म नहीं हुआ है और क्या इस उग्रवादिताके परिणाम-स्वरूप अराजकता, बम, गुप्त संगठनों और हत्यायोंको जन्म नहीं हुआ है?" इसके बाद उन्होंने कहा "कांग्रेस घोषणा करे कि उसकी राजनीतिमें अमली तौरपर अँग्रेजी शासनके प्रति भक्ति ही भारतके प्रति भक्ति है, और वर्तमान प्रशासनमें सुधार तभी सम्भव हैं जब कि अंग्रेजी नियन्त्रण स्थापित रहे…जब तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (इंडियन

---

१. तुफैल अहमद, वही पुस्तक पृष्ठ ३६३, ६४

२. एक भारतीय मुसलमान, मुसलमान्स एण्ड इण्डियन पौलिटिक्स पृष्ठ iii

नेशनल कांग्रेस) हमारे सामने एक ऐसी नीति पेश नहीं करती जिसपर अमल किया जा सके, ऐसी नीति जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, तबतक मुस्लिम-लीगको एक पवित्र कर्तव्य पूरा करना है। वह कर्तव्य अपने समाजको, जिसका हम प्रतिनिधित्व करते हैं, एक ऐसे संघटनमें शामिल होनेकी राजनीतिक गलतीसे बचाना है, जो लॉर्ड मॉर्लेके कथनानुसार मानो चंद्रमा प्राप्त करनेके लिए चिल्लाता है।

उन्होंने स्वीकार किया कि बहुतसे सवालोंपर कांग्रेस और लीगमें कोई मतभेद नहीं है। उन्होंने ऐसे चौदह सवालोंको गिनाया। (१) न्याय और प्रशासकीय विभागोंको पृथक कर देना; (२) अपमानजनक औपनिवेशक आर्डिनेंसोंका रद किया जाना; (३) प्राथमिक शिक्षाका प्रसार; (४) उच्च नौकरियोंमें अधिक संख्यामें भारतीयोंका लिया जाना; (५) स्वास्थ्य व सफाईका उचित प्रबन्ध होना; (६) स्थानीय स्वायत शासनके मामलोंमें अधिकारियों द्वारा हस्तक्षेपका बन्द होना; (७) फौजी व्ययमें उचित कमी होना; (८) भारतकी युद्धप्रिय (लड़ाकू) जातियोंको स्वयंसेवकोंकी मान्यता देना; (९) भारतीयोंको फौजमें कमीशन देना; (१०) भारतकी आयसे इंगलैण्डमें या इंगलैण्डके हिसाबमें हुए खर्चका ठीक-ठीक लेखा-जोखा रखना और न्यायोचित खर्च करना; (११) जमीनके लगानको सीमित करना; (१२) गाँव पंचायतोंका कायम किया जाना; (१३) भारतीय कला और उद्योगकी सुरक्षा करना और उसको प्रोत्साहन देना; (१४) जातीय भेद-भाव मिटा देना।

१९०८ के लीग अधिवेशनवेशनमें पास हुए प्रस्तावोंमें माँग की गयी थी—(१) स्थानीय वर्गोंमें साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्वका विस्तार होना। (२) प्रिवी कौंउसिलमें एक हिन्दू और एक मुसलमानकी नियुक्ति होना। (३) राज्यकी सब नौकरियोंमें मुसलमानोंको हिस्सा देना।

कांग्रेसके बंग-भंग-विरोधी प्रस्तावका विरोध किया गया, ट्रांसवालमें भारतीयोंके प्रति दक्षिण-अफ्रीकाकी सरकारकी नीतिकी निन्दा की गयी। "सम्प्रदायगत चुनावपर लीगने जोर दिया" साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्वके लिए भारत और इंगलैण्ड दोनों जगह, अखबारों और सभाओं द्वारा प्रभावशाली उद्वेलन किया गया। सर सैयद अमीरअलीकी अध्यक्षतामें लन्दनमें लीगकी एक अंग्रेजी शाखा स्थापित की गयी। भारत सचिवसे मिलनेके लिए एक शिष्टमण्डल भेजा गया। वाइसरायके सामने एक स्मृतिपत्र पेश किया गया। अंग्रेज झुके और मिन्टो-मार्ले-सुधारोंमें इस स्मृतिपत्रकी माँगें भी शामिल कर ली गयी।

राष्ट्रीय नेताओंने जिनमें कुछ मुसलमान भी शामिल थे, पृथक निर्वाचनका विरोध किया। एक बैरिस्टर नवाब सादिकअली खाँने लखनऊमें एक सभामें कहा "वर्गीय और धार्मिक प्रतिनिधित्वका सिद्धान्त इस योजनाकी सबसे दुष्टतापूर्ण बात थी।........मुसलमानोंके हितमें यह अच्छा नहीं है कि उन्हें यह सिखाया जाय कि उनके राजनीतिक हित हिन्दुओंसे भिन्न हैं।......मेरी नाकिस रायमें मुस्लिम दृष्टिकोणसे भी यह सिद्धान्त बहुत ही दुष्टतापूर्ण और बुरा है।"[1] मिण्टो-मार्ले सुधारोंके ठीक दो वर्षों बाद, अंग्रेज राजनीतिज्ञ रेमजे मैकडोनल्डने भारतपर लिखी पुस्तकमें कुछ भेद खोले हैं। उन्होंने कहा "मुस्लिम समाजके कुछ दूरदर्शी सदस्य यह महसूस करने लगे हैं कि उन्होंने गलती की। बहुतोंने मुझसे दुखित होकर अपने नेताओंके रवैयेकी बात की कि किस प्रकार वे नेता आंग्ल-

१. हिन्दुस्तान रिव्यू अप्रैल १९०९ पृष्ठ ३५६

भारतीय अधिकारियोंका खेल खेलनेको राजी हो गये हैं। दूसरी तरफ जो कुछ हो गया था उससे जो लोग अभीतक सहमत थे, उनमें भी इस बातका भान हो रहा था कि आगे खतरे आनेवाले हैं और अच्छा होता अगर उन लोगोंने इस तरहकी माँग न की होती।"[1]

उन्होंने आगे लिखा है—"मुस्लिम नेता कुछ आंग्ल-भारतीय अधिकारियों द्वारा प्रोत्साहित हैं। इन अधिकारियोंने शिमला और लंदनमें साँठ-गाँठ की है और मुसलमानोंके साथ विशेष पक्षपात करके हिन्दू और मुस्लिम समाजोंमें वैमनस्य पैदा किया है। यह जान-कर और पैशाचिक ढंगसे "लड़ाओ और राज्य करो" सिद्धान्तके अन्तर्गत किया गया है या यह केवल एक भयानक गलती है—ऐसी गलती जो एक बार फिर सिद्ध करती है कि हमारे कुछ जिम्मेदार अधिकारी भारतको कितना कम समझते हैं या अपने कार्योंके परिणामोंका अन्दाजा लगा पाते हैं—यह बात लोग अभी नहीं बता सकते क्योंकि लार्ड मिण्टोके भाषणों और लार्ड मॉर्लेके विरोधी भाषणों तथा दोनोंके सरकारको भेजे गये परस्पर विरोधी समाचारोंके सच्चे अर्थ अभीतक गुप्त रखे गये हैं।"[2]

अप्रैल १९०९ के हिन्दोस्तान-रिव्यूमें एक मुसलमान सज्जनने लिखा "मेरे सह-धर्मियोंका भारतमें एक न पटनेवाली खाई पैदा करनेका प्रयत्न स्तुत्य नहीं है। इससे अनिवार्य रूपमें बुराइयोंका स्रोत खुल जायगा और भारतको महाविषम गम्भीर परिस्थितिका सामना करना पड़ेगा।" ये सज्जन सही साबित हुए, १९१९ के सुधारोंने सिखों और कुछ परि-गणित जातियोंमें भी पृथक् निर्वाचनका सिद्धान्त लागू कर दिया।

जनवरी १९१० में लीगका अधिवेशन दिल्लीमें आगा खाँकी अध्यक्षतामें हुआ। अध्यक्षने १९०९ के सुधारोंपर सन्तोष प्रकट किया और कहा कि अगर अब आन्दोलनको जारी रखा गया तो प्रस्तावित सुधार वापस लिये जा सकते हैं।

लीगका प्रधान कार्यालय अलीगढ़में स्थापित किया गया, परन्तु १९१० में इसको लखनऊ हटाना पड़ा, क्योंकि लीगके एक नेताने एक गवर्नरको नाराज कर दिया था। २२ फरवरी १९०९ को यू० पी० के० लेफ्टीनेण्ट गवर्नर सर जॉन हीवेट अलीगढ़ कॉलेजके संर-क्षक थे। कॉलेजकी प्रबन्ध समिति द्वारा पेश किये गये मानपत्रका जवाब देते हुए उन्होंने विचार प्रगट किया कि किसी कक्षामें साठसे अधिक छात्र न हों और न किसी अध्यापकको आमतौरपर चार घण्टोंसे अधिक पढ़ाना पड़े, अध्यापकोंकी संख्या अनुपयुक्त थी। कॉलेजके मन्त्री नवाब वकारुल मुल्कने प्रधानाध्यापकसे दैनिक कार्यक्रम माँगा। राजनीतिज्ञ प्रधाना-ध्यापकने इसको अपने काममें हस्तक्षेप माना और बजाय मन्त्रीको कार्यक्रम देनेके उन्होंने त्यागपत्र भेज दिया जिसकी एक प्रति उन्होंने लेफ्टिनेण्ट गवर्नरको भेज दी। इसके बाद वह खुद लखनऊ जाकर लेफ्टिनेण्ट गवर्नरसे मिले और उनके सम्मुख अपना मामला रखा। नवाब वकारुल मुल्कको लखनऊ बुलाया गया और उनसे प्रधानाध्यापक द्वारा लगाये गये कुछ आरोपोंका उत्तर माँगा गया। दोनों पक्षोंकी बात सुननेके बाद लेफ्टिनेण्ट गवर्नरने अपना फैसला दिया जो अधिकांशतया मन्त्रीके खिलाफ था। मन्त्रीको गवर्नरके आदेशपर दस्तखत देनेको कहा गया। उन्होंने दस्तखत कर दिये। अपमानका यह घूँट निगलना प्रबन्धक समिति ('ट्रस्टीज') के लिए बड़ा कठिन था। उन्होंने एक मीटिंग बुलाकर

---

१. मैकडोनल्ड, दि अवेक्निंग आव इण्डिया पृष्ठ १२९

२. वही पुस्तक, पृष्ठ १७६—१७७

यह राय रखी कि संरक्षककी हैसियतसे लेफ्टिनेण्ट गवर्नर कॉलेजके मामलोंमें दखल नहीं दे सकते। भारतके विभिन्न नगरोंमें सभाओं द्वारा इस विरोधका समर्थन किया गया। विरोध-प्रस्तावकी प्रतियाँ लेफ्टिनेंट गवर्नरको भेजी गयीं। लेफ्टिनेंट गवर्नरकी कूटनीतिज्ञताने स्वयं उनको इस विरोध-प्रदर्शन, जिसकी वह राजभक्त मुसलमान नेताओंसे आशा नहीं करते थे, के सामने झुकनेको बाध्य किया; स्वयं उनके सुझावपर उनसे एक शिष्टमंडल मिला और उन्होंने अपना आदेश वापस ले लिया। परन्तु वे मुसलमानोंमें अपनी तरहके इस पहले आंदोलनका मूल कारण सोचने लगे! क्या मुसलमानोंकी हिम्मत, मुस्लिम लीगने बढ़ायी है! इसलिए उन्होंने आगा खांपर, जो लीगके अध्यक्ष थे और लीगकी धनसे सहायता करनेवालोंमें मुख्य थे, दबाव डाला कि वे लीगका प्रधान कार्यालय अलीगढ़से हटाकर लखनऊ ले आयें।

घटनावश इस मामलेके कारण यरोपियन प्रधानाध्यापक द्वारा मुस्लिम राजनीतिका संचालन खत्म हो गया।

अध्याय ११

कांग्रेसमें फूट

१९०६ में कांग्रेसका अधिवेशन राजनीतिक चहल-पहलके केन्द्र कलकत्तेमें हुआ जिसमें १६६३ प्रतिनिधियों और २०,००० दर्शकोंने भाग लिया। इतने प्रतिनिधि सन् १८८९ से नहीं आये थे। दर्शकोंका पण्डाल खचाखच भरा था।

दादाभाई नौरोजी अध्यक्ष चुने गये। इस समय उनकी अवस्था ८१ वर्षकी थी। वे तब इंगलैण्डमें थे। काँग्रेसकी आन्तरिक राजनीतिमें खाई बढ़ रही थी और फूटका डर हो रहा था, इसीलिए पुराने नेताओंने नौरोजीको अध्यक्षता करनेके लिए राजी किया था। तिलकके जीवनी-लेखक अठवलेके अनुसार नौरोजीको लानेका मुख्य कारण यह था कि तिलक अध्यक्ष न हो सकें।[1] नरमदलीय और 'राष्ट्रीय' नेताओंमें अनबन-सी थी। 'राष्ट्रीय' नेता बायकाटका अर्थ केवल अँग्रेजी वस्तुओंका बहिष्कार ही नहीं लगाते थे, बल्कि शासन और सार्वजनिक कार्योंके सभी क्षेत्रोंमें अँग्रेजोंसे असहयोग भी उसीमें शामिल समझते थे। नेशनलिस्ट पार्टी प्रचार करती थी कि सभी सरकारी खिताब वापस कर दिये जायँ, लोग सरकारी अदालतोंमें मुकदमे न ले जायँ, कौंसिलों और स्वायत्त शासन संस्थाओंमें कोई शामिल न हो। ब्रिटिश मालके बहिष्कारके साथ देशी उद्योग चलाना भी पार्टीके कार्य-क्रमका अंग था। "शासन व्यवस्थाका संघटित प्रतिरोध करना और स्वयँ-सहायताकी नीतिमें सरकारी अड़ंगेबाजी हो तो सविनय प्रतिरोध करना पार्टीका सिद्धान्त था। यह प्रतिरोध आवश्यकता पड़नेपर आक्रा-मक भी हो सकता था। और, यह प्रतिरोध कोई एक खास शिकायत दूर करानेके लिए नहीं, देशमें एक स्वतंत्र जनतान्त्रिक सरकारकी स्थापनाके लिए था।"[2] नेशनलिस्ट पार्टीको लोग उग्र दल, गरम दल और कांग्रेसके पुराने सुधारवादी नेताओंको 'नरमदल' कहते थे।

१९०६ के जाड़ोंतक गरम और नरमदलोंके बीचकी खाई इतनी चौड़ी हो चुकी थी कि नौरोजी जैसे विशाल व्यक्तित्वके अभावमें कांग्रेस अधिवेशनके शान्तरूपसे हो जानेमें संशय हो रहा था। नौरोजी राजी हो गये और जो तूफान १९०६ में आनेवाला था, वह एक सालके लिए टल गया। लेकिन विषय समितिकी बैठकमें बड़े क्षोभ और उपद्रवके दृश्य हुए। सभामें शान्ति रखना मुश्किल हो गया और अगर नरमदलीय लोग बोल पाये तो सिर्फ अपने आग्रह और हठसे।

नयी भावना अध्यक्षके भाषणसे भी प्रकट थी। दादाभाई बुढ़ापेके कारण खड़े न रह सकते थे, इसलिए गोखलेने उसे पढ़कर सुनाया। हेनरी केम्पबेल-बेनरमेनके इस उद्धरणसे भाषण शुरू हुआ कि 'जनताकी अपनी सरकारकी एवजमें अच्छी सरकार नहीं हो सकती।' कलकत्ता कांग्रेसको बालिग कांग्रेस बताते हुए आपने कहा—अब गंभीरतापूर्वक सोचना है कि भारतीयोंकी हालत है क्या और होनी क्या चाहिये। आजादीसे कम-से-कम ये

१. अठवले 'लाइफ आव लोकमान्य तिलक' पृष्ठ १५१

२. आचार्य नरेन्द्रदेव 'कांग्रेस कमेमरेशन वॉल्यूम' में लेख पृष्ठ १४६

अधिकार तो मिलते ही हैं कि सरकारी नौकरियोंमें देशी लोग रखे जाते हैं, कार्यकारी और विधायिका कौंसिलोंमें उनका प्रतिनिधित्व होता है और देशोंके बीच उचित आर्थिक सम्बन्ध होते हैं। उन्होंने कहा—आन्दोलन करो, आन्दोलनका अर्थ है सूचना देना, बताना, प्रचार करना। "देशकी जनताको बताना है कि उसके क्या अधिकार हैं और वे क्यों और कैसे प्राप्त किये जा सकते हैं। इंगलैण्डका तो जीवन ही एक व्यापक आन्दोलन है। सवेरे आप समाचार पत्र खोलें, पूरा अखबार कांग्रेस, सम्मेलन, सभाओं, और प्रस्तावोंसे भरा मिलेगा, वहाँ हजारों स्थानीय और राष्ट्रीय आन्दोलन चला करते हैं। वहाँ प्रधान मन्त्रीसे लेकर छोटेसे छोटे राजनीतिज्ञ—सभी सब कामोंके लिए आन्दोलन करते हैं। पार्लमेण्ट, सभाएँ, अखबार—वहाँ सब आन्दोलन ही हैं।" और कलकत्ता अधिवेशनके बादके वर्षोंमें भारतमें भी सब ओर आन्दोलन ही चला।

बायकाट आन्दोलनका समर्थन करते हुए नौरोजीने कहा—"जबतक २० करोड़ रुपया दूसरे देशके पुत्रोंकी तनख्वाहों, पेंशनों आदिमें जाता रहेगा और भारतके पुत्र भूखे और गरीब होते रहेंगे, यहाँ आर्थिक नियमोंकी बात करना जलेपर निमक छिड़कना है।"

बंगभंगके विरोध और बहिष्कार आन्दोलनके पक्षमें आये प्रस्तावपर बोलते हुए मदनमोहन मालवीयने प्रस्तावक विपिनचन्द्र पालसे मतभेद प्रकट किया और कहा कि बायकाट आन्दोलन और सूबोंमें नहीं चलाना चाहिये। उन्होंने आशा प्रकट की कि दूसरे प्रान्तोंमें बायकाटकी आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। इसपर गोखलेने पिछले वर्षके प्रस्तावकी ओर ध्यान दिलाते हुए कहा कि हम उस प्रस्तावसे बँधे हुए हैं। इस मामलेपर नरम व गरम दलोंमें फूट पड़ने लगी पर जैसे तैसे समझौता हो गया।

नरमदलको अब भी विश्वास था कि अंग्रेज भारतके साथ न्याय करेंगे। लार्ड मिण्टो भी जानते थे कि नरमदलको खीज और निराशामें गरम दलसे मिलने देनेसे रोकना जरूरी है। इसका सबसे अच्छा तरीका कुछ ऊँचे पदोंपर भारतीयोंको बैठा देना और सुधारोंकी एक और किस्त दे देना था। उन्होंने भारत सचिव मॉर्लेको लिखा कि केन्द्रीय विधायिका और कार्यकारी कौंसिलोंमें कुछ भारतीय रख लिये जायँ और सुधारोंका प्रस्ताव तैयार कर लिया जाय। ब्रिटिश सरकार इससे आगे जानेको तैयार नहीं थी और भारत सचिवने इसकी सूचना गोखलेको दे दी थी।[1] अगस्त सन् १९०६ को मॉर्लेने मिण्टोको लिखा था—'कल मेरी गोखलेसे पाँचवीं और आखिरी बातचीत हो गयी। उन्होंने अपना लक्ष्य स्पष्टतः बता दिया कि भारत स्वशासित उपनिवेश हो। मैंने भी अपना विश्वास उनपर प्रकट कर दिया कि काफी दिनोंतक—इतने दिनोंतक जितने दिन मुझे भारत सचिव नहीं रहना है—यह लक्ष्य स्वप्न ही रह सकता है। 'हाँ, उस दिशामें बढ़नेके लिए न्यायोचित सुधारों का यह बहुत सुन्दर अवसर है।[1]"

मॉर्लेने यह भी लिखा था कि राजनीतिक सुधारोंसे लाख दरजे ज्यादा माँग इस बातकी है कि हर तरहके ऊँचे पदोंपर भारतीय नियुक्त किये जायँ। चार महीने बाद मिण्टो और मॉर्ले दोनों -वाइसरायकी कार्यकारी कौंसिलमें एक 'देशी सदस्य' रखनेको राजी हो गये। यह अर्द्ध-सरकारी समझौता ही था और इसे सरकारी रूप देते हुए मॉर्लेने जनवरी सन् १९०७ में लिखा कि यह अनिवार्य तो है लेकिन शायद यह "एक खतरनाक यात्राकी

---

१. मेरी मिण्टो—'इण्डिया, मिण्टो एण्ड मॉर्ले', पृष्ठ ९९

शुरुआत भी है।" वाइसरायकी कौंसिलमें इस प्रस्तावका कड़ा विरोध हुआ। इस विरोधके जवाबमें मिण्टोने कहा—मेरी रायमें, अपने आस-पास होनेवाली घटनाओंकी जानकारीके बाद, हम जहाँ हैं, वहीं तो ठहर नहीं सकते।"

एक तरफ देशमें असन्तोषकी ज्वाला उठ रही थी और दूसरी ओर भारत स्थित यूरोपीय समाज सुधारोंका घोर विरोधी था। इन विरोधी भावनाओंके बीच दबे लार्ड मिण्टोकी दिमागी हालतका पता उनके ८ मई सन् १९०७ के पत्रसे लगता है, जो उन्होंने भारत सचिवको लिखा था—"भारतीय दावोंको स्वीकार करनेका यूरोपीय समाजपर क्या असर पड़ेगा यह कहना मुश्किल है। मैं समझता हूँ कि अगर ये सुधार सालके शुरूमें लागू हो गये होते तो यह उथल-पुथल और विक्षोभ रोका जा सकता था, या कम-से-कम इसे रोकनेमें हम ज्यादा सक्षम होते।"

किसी भारतीयको वाइसरायकी कौंसिलमें लेना बड़े साहसका काम समझा जाता था। खुद मिण्टोने १९ मार्च सन् १९०७ को मॉर्लेको इस सिलसिलेमें लिखा था—"इस सुझावसे सम्बन्धित पत्र जितनी कठिनाइयों और सम्भावनाओंसे भरा हुआ है उतनी कठिनाइयों और सम्भावनाओंसे भरा पत्र कभी भी भारतसे इंगलैण्ड नहीं गया। यह ऐसे भविष्यके सम्बन्ध में है, जिसके सम्बन्धमें निश्चय-पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।"[1]

मार्चमें ही सुधारोंके सम्बन्धमें गोखले वाइसरायसे मिले थे और कहा था कि पूरीकी पूरी नयी पीढ़ी गरमदलमें जा रही है। लेकिन अंग्रेज भारतीय राजनीतिक उथल-पुथलको समझते हुए भी शासन सत्ताका एक अंश भी हस्तान्तरित करनेको तैयार न थे। सुधारोंके मसौदेके साथ मिण्टोने जो पत्र मॉर्लेको लिखा था, उसमें उन्होंने स्पष्ट कह दिया था कि "भारत सरकारको निरंकुश रहना ही चाहिये; सार्वभौम सत्ता अंग्रेजोंके हाथोंमें ही रहनी चाहिये और किसी भी किस्मकी देशी प्रतिनिधि सभाको नहीं मिलनी चाहिये। कोई भी सभा भारतीय जनताका प्रतिनिधित्व करनेका दावा नहीं कर सकती जबतक कि भारतकी ९० फीसदी अपढ़ जनता यह नहीं समझती कि 'उत्तरदायी सरकार' होती क्या है और जबतक वह किसी भी चुनावमें प्रभावकारी ढंगसे भाग लेनेमें असमर्थ है।" जैसा कि उन्होंने अपनी पत्नीको लिखा मिण्टोको डर था कि "हाकिमोंकी अड़ङ्गेबाजीकी दीवार हर उस काममें रुकावट डालती है जिसका तोड़-मरोड़कर भी वह अर्थ निकल आये कि अंग्रेज हाकिमोंके अधिकारोंमें हस्तक्षेप हो रहा है।"

बढ़ते हुए आतंकवाद (अगले अध्यायमें इसका विवरण दिया गया है) और गरमदलवालोंके प्रचार आन्दोलनने वाइसरायपर क्या असर डाला था, यह उनके उस पत्रसे स्पष्ट है जिसमें उन्होंने लिखा था कि हम सबको लगता है कि हम इस देशमें एक यात्राके बीचमें रुके यात्री भर हैं और इस पड़ावसे हमें शीघ्र कूच कर देना है। और मॉर्लेने लिखा—"जिस ढंगसे तुमने वहाँकी स्थिति लिखी है, उससे स्पष्ट है हमारा महान् राज्य कितना कृत्रिम और क्षणभंगुर है। हम सोचते हैं कि यह टिकेगा कैसे? यह टिक नहीं सकता और हमारा काम सिर्फ इतना है कि अगली व्यवस्था—वह चाहे जो भी हो, कुछ सुधरी हुई हो।" उसी पत्रमें उन्होंने आगे लिखा था—"क्या तुम्हारी सुधार

१. मेरी मिण्टो, वही पुस्तक पृष्ठ १०४

नीति, मेरी कौंसिलमें देशी सदस्योंके रखे जाने, विकेन्द्रीकरण, टेक्सोंमें कमी, और दूसरे भलाईके कामोंसे ब्रिटिश राजके बारेमें उनके विचारोंमें रत्ती बराबर भी अन्तर आयगा ?"[1]

कुछ महीने बाद दो भारतीय भारत सचिवकी कौंसिलके सदस्य बना लिये गये और १९०८ में एक सदस्य वाइसरायकी कार्यकारिणीमें रख लिया गया। तिलक, पाल और अरविन्द घोषके नेतृत्वमें गरमदलके लोग कांग्रेसकी पूरी राजनीतिको ही दूसरी दिशामें मोड़नेके लिए प्रयत्नशील थे। न सुनी जानेवाली अर्जियाँ लगानेसे उनका विश्वास उठ चुका था। उन्होंने सुना कि बायकाट आन्दोलनके सिलसिलेमें हुई कुछ अशान्तिमय घटनाओंसे नरमदलीय नेता बहुत घबड़ा गये हैं और १९०७ के अधिवेशनमें बायकाटका प्रस्ताव नहीं लाना चाहते। तिलक कटिबद्ध थे कि ऐसी कोई योजना सफल न होने दी जायगी। इसलिए उन्होंने अरविन्द घोषके सभापतित्वमें राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाकर कांग्रेसके अगले अध्यक्षके चुनावके पहले ही कांग्रेससे माँग की कि कलकत्ता अधिवेशनके प्रस्तावोंका समर्थन हो। इस प्रकार उन्होंने नरमदलीय नेताओंके उपर्युक्त इरादेको विफल करनेका प्रयास किया।

अब कांग्रेसके इतिहासका तूफानीकाल आ गया था। १९०७ का अधिवेशन नागपुरमें होनेवाला था और स्थानीय कार्यकर्त्ता उसकी तैयारियोंमें लगे थे। स्वागत समितिकी एक बैठक बुलायी गयी जो गड़बड़-घोटालेमें ही भंग हो गयी। 'राष्ट्रीयदल' के लोगोंने प्रस्ताव किया कि नागपुर अधिवेशनके अध्यक्ष तिलक हों। नरमदलको यह प्रस्ताव असाधारण मालूम पड़ा क्योंकि अबतक उन्हींके उम्मीदवार सर्वसम्मतिसे चुने जाते रहे। उन्होंने डाक्टर रासबिहारी घोषका नाम चुना था और स्थापित परम्परामें राष्ट्रीय दलका यह व्याघात वे सहन नहीं कर सकते थे। ये मतभेद खत्म नहीं हुए और अन्तमें अधिवेशन नागपुरसे हटाकर सूरतमें किया गया। २६ दिसम्बरको स्वागताध्यक्ष त्रिभुवनदास मालवीयके भाषणसे काररवाई शुरू हुई। देशकी राजनीतिक परिस्थितिके सम्बन्धमें उन्होंने कहा—पिछले अधिवेशनके बादसे हम बड़े आपत्तिकालसे गुजर रहे हैं। प्रमुख भारतीयोंपर सन्देह किया गया है और उनपर राजद्रोह, उपद्रव आदिके गम्भीर आरोप लगाये गये हैं, जो अधिकांशतः आधारहीन हैं। इस साल किसी तरह शासकोंके दिलमें यह बात घर कर गयी कि विद्रोहके बादका ५० वाँ साल होनेके कारण भारतीय फिर विद्रोह करनेकी तैयारीमें हैं; इससे वे घबरा गये। इस काल्पनिक विद्रोहको रोकनेके लिए उन्होंने बहुतसे प्रतिगामी और दमनकारी कदम उठाये। पुराने भूले हुए ऐसे कानून ढूँढ़ निकाले गये जिनके अस्तित्वका लोगोंको ध्यान ही नहीं रह गया था और उन्हें लोगोंको दण्डित करनेके काममें लाया गया। लोगोंपर अस्पष्ट आरोप लगाये गये और अभियुक्तोंको न समय दिया गया, न अवसर जिसमें वे अपराधोंका खण्डन करते या अपना बचाव कर सकते। कुछ जगहोंपर यों ही मान लिया गया कि यहाँके निवासियोंके मनमें राज-द्रोहात्मक भावनाएँ हैं और वहाँ सार्वजनिक सभाओंपर पाबन्दी लगा दी गयी। और अब एक और खतरनाक कानून हमपर लाद दिया गया है, जो गजटमें घोषणा करने भरसे सारे देशमें लागू हो जायगा। यह कानून है—"राजद्रोहात्मक सभा कानून।"

स्वागताध्यक्षके भाषणके बाद पण्डालमें कुछ समयतक बिलकुल सन्नाटा रहा। तब

---

१. मेरी मिण्टो, पृष्ठ १५३

दीवान बहादुर अम्बालाल एस. देसाईने जाब्तेसे डाक्टर रासविहारी घोषका नाम अध्यक्ष पदके लिए प्रस्तावित किया। कुछ प्रतिनिधियोंने 'नहीं, नहीं' कह कर विरोध प्रदर्शित किया पर देसाईके भाषणमें इससे अधिक व्याघात नहीं हुआ। लेकिन जब सुरेन्द्रनाथ बनर्जी इस प्रस्तावका समर्थन करनेके लिए खड़े हुए, तब इतना शोर मचा कि उनका भाषण सुना ही न जा सका। स्वागताध्यक्षने अन्तमें बैठक अगले दिनके लिए स्थगित कर दी ताकि तबतक लोगोंका आवेश खत्म हो ले।

गरमदलको खबर लगी थी कि अधिवेशनमें पेश होनेवाले प्रस्तावोंमें स्वराज्य, बायकाट, राष्ट्रीय शिक्षा जैसे विषयोंके प्रस्ताव शामिल नहीं किये गये ताकि सरकार नाखुश न हो। गरमदलवाले कांग्रेसकी धीमी रफ्तारसे असंतुष्ट थे; उन्होंने फैसला किया कि जो हो चुका है, उससे पीछे तो हरगिज नहीं लौटने दिया जाय। २३ दिसम्बरको सूरतमें ही एक सार्वजनिक सभामें भाषण करते हुए तिलकने नरमदलकी पीछे लौटनेकी नीतिको राष्ट्रहितके लिए घातक बताया। दूसरे दिन ५०० 'राष्ट्रीय' प्रतिनिधियोंकी एक सभा अरविन्द घोषके सभापतित्वमें हुई जिसमें निश्चय हुआ कि हर वैधानिक तरीकेसे कांग्रेसको पीछे लौटनेसे रोका जाय; जरूरत पड़े तो अध्यक्षके चुनावका भी विरोध किया जाय। २५ दिसम्बरको राष्ट्रीय प्रतिनिधियोंकी फिर बैठक हुई और वही निर्णय दोहराया गया; अबतक इन प्रतिनिधियोंकी संख्या ६०० हो चुकी थी। पर नरमदल और कांग्रेसके सचिवालयने न तो इन लोगोंकी आपत्तियाँ ही गम्भीरता-पूर्वक सुनीं और न इनकी समझौतेकी बातचीतपर ही ध्यान दिया।

२७ दिसम्बरको बैठक शुरू होनेपर तिलकने स्वागताध्यक्षको एक पर्चा भेजा जिसपर लिखा था—"अध्यक्षके नामके समर्थनके बाद मैं प्रतिनिधियोंके समक्ष इसी प्रस्तावपर बोलना चाहता हूँ। मैं एक रचनात्मक सुझावके साथ काम स्थगित करनेका प्रस्ताव पेश करूँगा। कृपया मेरे नामकी घोषणा कर दें।" स्वागताध्यक्षने कोई जवाब नहीं दिया। तिलकने फिर याद दिलाते हुए एक पर्चा भेजा पर उसका भी जवाब नहीं मिला। तिलकको अपनी बात कहनेका मौका नहीं मिला। इसलिए जब डाक्टर घोष अध्यक्ष घोषित कर दिये गये, तिलक स्वयंसेवकोंको धकेलते हुए मंचपर पहुँच गये। उसी वक्त डाक्टर घोष अध्यक्षकी कुरसीपर बैठ रहे थे। तिलकने जैसे ही भाषण शुरू किया, एकदम शोरगुल मचने लगा। नरम दलवाले चिल्लाते कि तिलक बैठ जायँ, गरमदलवाले कहते कि तिलकको सुना जाय। जब तिलक मंचसे नहीं हटे तो घोष और मालवीयने उन्हें हटानेका आदेश दिया। स्वागत समितिका एक मंत्री मंचपर आकर उन्हें हटाने लगा, पर तिलकने उसे धकेलते हुए कहा कि मुझे अपनी बात सुनानेका अधिकार है। उन्होंने कहा कि मैं मंच तबतक नहीं छोड़ूँगा जबतक मुझे जबरदस्ती घसीटकर मंचसे हटा नहीं दिया जायगा। इसके बाद जो हुड़दंग शुरू हुआ उसमें फीरोजशाह मेहताको एक जूता लगा, किसीने यह जूता मंचपर फेंका था। कुरसियाँ फेंकी गयीं। घोषने दो-बार बड़ी हिम्मतसे अपना भाषण शुरू किया लेकिन 'नहीं', 'नहीं' की आवाजोंने उन्हें चुप कर दिया। जब शान्ति-स्थापनाकी आशा न रही, अध्यक्षने बैठक स्थगित कर दी और पुलिस बुलायी गयी, जिसने फौरन आकर हाल खाली करा दिया। प्रसिद्ध लेखक हेनरी नेविनसन अधिवेशनमें मौजूद थे, उन्होंने लिखा है—"हवामें कुरसियाँ गोलोंकी तरह छूट रही थीं। लाठियाँ लड़ रही थीं। फूटे सिरोंसे खून बह रहा था। कठिन और अस्पष्ट संघर्ष था। दस हजार कुर्सियोंपर बैठे दस हजार व्यक्ति; न कोई वरदी और

न कोई पहिचान; नरम और गरममें अन्तर करनेका कोई उपाय नहीं—सिवा उनके चेहरेके भावके।''[1]

तिलक चाहते थे कि बैठक स्थगित कर दी जाय और अध्यक्षके चुनावपर उत्पन्न मतभेद दोनों दलोंके प्रमुख प्रतिनिधियोंकी एक संयुक्त समझौता-समितिमें तय हो जायँ। अगले दिन उन्होंने लिखकर आश्वासन दिया कि ''मैं और मेरे दलके लोग डाक्टर घोषके चुनावका विरोध छोड़ देने और पुरानी बातोंको भूलनेको तैयार हैं, पर शर्त यह है कि एक तो स्वराज्य, स्वदेशी, बायकाट और राष्ट्रीय शिक्षा सम्बन्धी गत वर्षके प्रस्तावोंपर टिका जाय और ईमानदारीसे उन्हें दोहराकर उनका समर्थन किया जाय, दूसरे यदि डाक्टर घोषके भाषणमें कुछ ऐसे अंश हैं जो नेशनलिस्ट पार्टीको नागवार लगें, तो उन्हें निकाल दिया जाय। ''सूरत अधिवेशनसे ठीक पहले गोखलेने कांग्रेसके विधानका एक मसौदा तैयार किया था जिसमें कांग्रेसका 'अंतिम लक्ष्य' ''भारतके लिए उसी प्रकारका स्वशासन प्राप्त करना, जैसा कि ब्रिटिश साम्राज्यके दूसरे राष्ट्र-सदस्योंको प्राप्त है'' बताया गया था। इस अन्तिम लक्ष्यको नेशनलिस्ट पार्टी व्यावहारिक राजनीतिसे परे मानती थी और वह स्वराज्यकी माँगपर अडिग थी। पर गोखलेको डर था कि नेशनलिस्ट पार्टीका प्रस्ताव स्वीकार करनेसे, वातावरणके उस तनावमें, सरकार बुरा मान जायगी। अपनी इस आशंकाको उन्होंने एक पत्रमें इस प्रकार लिखा था—आप इस सरकारके पीछे जो विशाल शक्ति छिपी हुई है, उसे नहीं समझते। अगर कांग्रेस आपके सुझाव मान ले तो सरकार पाँच मिनटमें कांग्रेसका मुँह बन्द कर सकती है और गला घोंट दे सकती है। ''विधायिका कौंसिलमें मार्च सन् १९०६ में गोखलेने बजटपर जो भाषण किया था उससे उनका सुधारवाद अधिक स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने कहा था—''शिक्षित वर्गोंको समझानेका प्रश्न ऐसा है...जिसे हल करनेमें ब्रिटिश राजनीतिज्ञता और दूरदर्शिताके पूरे साधन लग जायँगे। इन वर्गोंसे सुलह करनेका सिर्फ एक रास्ता है, और वह है उन्हें अपने देशके शासनमें ज्यादा ज्यादा लगाना...आज इस देशको जिस चीजकी सबसे ज्यादा आवश्यकता है, वह है ऐसी सरकार जो तत्वतः राष्ट्रीय हो, चाहे उसे चला विदेशी ही रहे हों।''[2]

अधिवेशन स्थगित होनेके बाद नरमदलके प्रमुख नेता, जैसे डाक्टर घोष, फीरोजशाह मेहता, गोखले, दीनशा वाचा, मदनमोहन मालवीय, कृष्णस्वामी ऐयर आदि एकत्र हुए और उन्होंने अगले दिन २८ दिसम्बरको एक राष्ट्रीय सम्मेलन करनेकी नोटिस प्रसारित की। इस सम्मेलनमें सिर्फ वे ही प्रतिनिधि आमन्त्रित किये गये थे जो मानते थे कि (१) भारतको वैसा ही स्वशासन दिलाना उसका राजनीतिक ध्येय है जैसा ब्रिटिश साम्राज्यके अन्य सदस्य राष्ट्रोंको प्राप्त है और भारतको अन्य ऐसे राष्ट्रोंके समकक्ष ब्रिटिश साम्राज्यके अधिकारों और दायित्वोंका समान भाग मिलना चाहिये, (२) इस दिशामें केवल वैधानिक तरीकोंसे प्रगति करनी चाहिये। १६०० में से ९०० प्रतिनिधियोंने इस उद्देश्यको माना और सम्मेलनमें शामिल हुए। डाक्टर घोष अध्यक्ष बनाये गये। सम्मेलन ने १०० से अधिक सदस्योंकी एक समिति कांग्रेसका विधान बनानेके लिए नियुक्त की। अगले साल १८ व १९

1. एडवर्ड टॉमसनकी 'दि रिकंस्ट्रक्शन आव इण्डिया' में पृ० ९७ पर 'मोर चेंजेज, मोर चांसेज'के पृष्ठ २७० से उद्धृत
2. बूकनके 'लार्ड मिण्टो' में २३१ पृष्ठपर उद्धृत

अप्रैलको इस समितिकी बैठक इलाहाबादमें हुई और जो विधान तैयार किया गया, उसमें कांग्रेसका लक्ष्य 'ऐसी शासन-प्रणालीका भारतमें प्रचलन जैसी ब्रिटिश साम्राज्यके अन्य स्वशासित देशों में है', बताया गया। यह विधान १९०८ के अधिवेशनमें पेश हुआ पर वह पास १९११ में हुआ। इस बीच विधान नियमोंकी खानापूरीमें पड़ा रहा। पर सूरतमें अलग हुए राष्ट्रीय नेता १९१६ तक कांग्रेसमें नहीं लौटे।

१९०८ में सुधारोंकी दूसरी किस्त—मॉर्ले-मिण्टो सुधारोंकी घोषणा हुई। इनके द्वारा विधायिका कौंसिलोंका विस्तार और गैर-सरकारी सदस्योंके अप्रत्यक्ष चुनावकी व्यवस्था हुई। केन्द्रीय कौंसिलमें सरकारी सदस्योंका बहुमत कायम रखा गया, पर प्रान्तीय कौंसिलोंमें निर्वाचित सदस्योंकी संख्या सरकारी सदस्योंसे कुछ ज्यादा रखी गयी। सुधारोंकी एक खास बात चुनावमें साम्प्रदायिक मतदाता प्रणालीके सिद्धान्तकी स्वीकृति थी। इसे राजनीतिक नेताओं व समाचारपत्रोंने हिन्दुओं व मुसलमानोंको अलग करनेकी चाल बताया। जमींदारोंको विशेष प्रतिनिधित्व मिला हुआ था। यद्यपि कौंसिलोंका विस्तार हुआ था और उनमें और अधिक भारतीय आनेको थे, पर वे पहलेकी तरह ही वाद-विवादकी संस्थाएँ भर बनाकर रखी गयी थीं। उन्हें सरकारके सालाना बजटपर विचारकर उसमें संशोधनके सुझाव देनेका अधिकार तो था पर बहुमतसे पास करनेके बाद भी कौंसिलें ऐसा कुछ भी नहीं कर सकती थीं जो सरकार न करने देना चाहती हो।

मॉर्लेने ब्रिटिश लोकसभामें ईमानदारीके साथ स्वीकार किया कि भारतको संसदीय पद्धतिकी सरकार कभी भी न प्राप्त होगी। उन्होंने कहा—"यदि मैं भारतमें संसदीय पद्धतिकी सरकार चलानेकी कोशिश करता हूँ, या कोई यह कहता है कि सुधारोंके इस अध्यायसे सीधे या अप्रत्यक्ष रूपसे भारतमें संसदीय पद्धतिकी सरकार स्थापित हो रही है, तो मैं इस कामसे हाथ खींच लूँगा।"......यदि मैं इस पद या इस जीवनकी सामान्य अवधिसे २० गुनी ज्यादा अवधि पा जाऊँ, तब भी इस लक्ष्यकी ओर बढ़नेकी तो मैं एक क्षणके लिए भी नहीं सोचूँगा।"

लेकिन तब भी नरमदलने इन सुधारोंका हार्दिक स्वागत किया। गोखलेने उन्हें 'उदार और उचित' की संज्ञा दी और अनुरोध किया कि उन्हें अनुगृहीत होकर स्वीकार किया जाय। लेकिन क्रान्तिकारियों और उग्र दलवालोंके लिए तो मॉर्लेका यह भाषण एक चुनौती था। आनेवाले दस वर्षोंमें बम और पिस्तौलकी राजनीतिने सरकारके नाकों दम कर दिया।

भारत सचिवके पदपर मॉर्लेके उत्तराधिकारी लार्ड क्रूने भी मॉर्लेकी नीति ही जारी रखी और जून सन् १९१२ में ब्रिटिश लोक-सभामें दो भाषणोंमें उन्होंने भारतीयोंसे कहा कि वे स्वशासनकी कोई आशा न रखें। उन्होंने कहा—"भारतमें एक वर्ग ऐसा है, जो दूसरे उपनिवेशोंको मिले स्वशासनकी तरहका स्वशासन भारतमें भी चाहता है। मुझे नहीं लगता कि भारत भविष्यमें भी उस ओर बढ़ेगा। एक दूसरी जातिके लोगोंको हमारी इस लोकसभाके नियन्त्रणसे बाहर स्वशासन देनेका प्रयोग नहीं किया जा सकता, चाहे उस जातिकी सेवामें हमारी जातिके सबसे उत्तम लोग ही क्यों न लगे हों......क्या यह सोचा भी जा सकता है कि आस्ट्रेलिया या न्यूजीलैण्डकी तरह, भारतीय साम्राज्यकी भविष्यमें कोई ऐसी स्थिति हो जायगी जब कोई अंग्रेज अफसर वहाँ न रहे—विशेषकर जब भारतसे हमारे रुधिर, धर्म

या कोई ऐसे बन्धन नहीं हैं जो भौतिक बन्धनोंका स्थान ले सकें ?......मुझे तो यह केवल कल्पनालोककी बात मालूम पड़ती है।"

अब हम जरा पीछे लौटें। दिसम्बर सन् १९०८ में ब्रिटिश सरकारने लोक-सभामें भारतके लिए सुधार बिल पेश करना तय किया था; पर तभी वाइसराय लार्ड मिण्टो बंगालमें आतंकवादके दमनके लिए एक कड़ा कानून बनानेकी सोच रहे थे।

११ दिसम्बर १९०८ को वाइसरायकी (केन्द्रीय) विधायिका कौंसिलने एक बैठकमें ही फौजदारी कानून संशोधन बिल पास कर दिया। इस बिल द्वारा सरकारने "कुछ अपराधोंके मुकदमोंको शीघ्रता-पूर्वक तय करने और सार्वजनिक शान्तिके लिए खतरनाक संस्थाओंपर रोक लगाने" के अधिकार अपने हाथमें ले लिये। इसके एक हफ्ते बाद भारत सचिवने लार्ड सभामें भारत सुधार बिल पेश किया। इस बिलकी घोषणा जान-बूझकर एक हफ्ते बाद की गयी थी। मिण्टोने ३० नवम्बरको ही मॉर्लेको लिखा था......लोक-सभामें सुधारोंकी घोषणाके पहले ही दमनकारी कानून बन जाना चाहिये। मैं बहुत उत्सुक हूँ कि आपकी घोषणाके पहले ही यहाँका अरुचिकर काम समाप्त हो जाय। हम पहले दवा दे दें और उसके बाद उसका कड़वा स्वाद दूर करनेके लिए जो कुछ भी कर सकते हों करें। आपकी घोषणाके बाद यहाँ कड़ा कानून बनाना और काले पानीकी सजाएँ देना बड़ी भारी गलती होगी। आखरी घूँटका जायका ही मरीजके मुँहमें रह जायगा। मैं चाहता हूँ कि आपकी घोषणाका स्वागत यहाँ शंखध्वनिसे हो—उसका प्रभाव कम न होने पाये, ऐसी ही कोशिश मैं कर रहा हूँ।"[१]

फौजदारी कानूनके संशोधनके दो दिनके भीतर दस बंगालियोंको बिना मुकदमा चलाये काले पानी भेज दिया गया। और उसके पाँच दिन बाद, पूर्व निश्चयके अनुसार भारत सचिवका सुधार बिल आया।

सूरत अधिवेशन स्थगित माना गया और अगले सालका मद्रास अधिवेशन भी २३वाँ अधिवेशन ही माना गया। मद्रास अधिवेशन बिलकुल नरमदलीय अधिवेशन था। डाक्टर घोष फिर अध्यक्ष हुए। उन्होंने अपने भाषणमें सुधारोंके प्रस्तावका स्वागत किया। एक प्रस्ताव द्वारा कांग्रेसने उन्हें सुधारों की बड़ी और उदार किस्त जो देशवासियों को राजकाजमें काफी हिस्सा देने और शासन तन्त्रको जनताकी भावना व आवश्यकताके अनुकूल बनानेके लिए जरूरी थीं, बताया। उसी साल बादशाहने एक घोषणा द्वारा ५० वर्ष पहले विक्टोरिया द्वारा किये वादोंको दोहराया और वैधानिक सुधारोंकी आशा दिलायी। बादशाहके इस सन्देशका स्वागत करते हुए कांग्रेसने उनके प्रति अपनी 'निष्ठापूर्ण श्रद्धांजलि' अर्पित की।

१९०९ के लाहौर अधिवेशनके लिए मदनमोहन मालवीय अध्यक्ष चुने गये। अधिवेशन शुरू होनेके कुल छ दिन पहले उन्हें इसकी सूचना दी गयी। असलमें लोगोंका इशारा फिरोजशाह मेहताको अध्यक्ष बनानेका था, पर वे राजनीतिसे अवकाश ग्रहण करनेका निश्चय कर चुके थे और उन्होंने यह आमन्त्रण अस्वीकार कर दिया था। मालवीय तब बीमार थे और अध्यक्ष-भाषण लिखनेका परिश्रम उनके स्वास्थ्यके लिए उचित नहीं था। पर तब भी

---

१. मेरी मिण्टो, पृष्ठ २५५

उन्होंने ६२ पृष्ठोंका छपा हुआ लम्बा और प्रशंसनीय भाषण तैयार कर लिया। इसमें उस समयकी आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितिकी विशद् चर्चा की गयी थी।

लाहौर अधिवेशनने 'धर्मके आधारपर स्थापित पृथक निर्वाचन पद्धतिसे असहमतिकी तीव्र भावना' व्यक्त करते हुए उस कानूनके अधीन बने नियमोंसे 'देश व्यापी घोर असन्तोष' का वर्णन किया। इस असन्तोषके कारण थे, (अ) एक विशेष धर्मके अनुयायियों (मुसलमानों) को मिला "अत्यधिक और अनुचित प्रतिनिधित्व" (ब) मुस्लिम व गैर-मुस्लिम प्रजामें अनुचित, अपमानजनक और द्वेषपूर्ण भेद-भाव; और (स) प्रान्तीय कौंसिलोंमें इस ढंगसे गैर-सरकारी बहुमतका रखा जाना जिससे वह व्यावहारिक रूपसे अप्रभावकारी और अवास्तविक रह जाय। अपने भाषणमें मालवीयजीने कहा कि मुस्लिम अल्पसंख्यकोंको पृथक निर्वाचनके साथ ही सामान्य निर्वाचनमें भी मतदानकी सुविधा मिली हुई है, लेकिन पंजाब और आसाममें हिन्दू अल्पसंख्यकोंको ये सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं। उन्होंने यह भी कहा कि ३०००) सालाना आयकर देनेवाले मुसलमानको तो वोट मिला हुआ है, पर ३००,०००) सालाना आयकर देनेवाले हिन्दूको नहीं। पाँच साल पहले बी० ए० पास करनेवाले मुसलमानोंको तो वोट मिला है पर ३० साल पहले बी. ए. हुए गैरमुस्लिमोंको यह हक नहीं है। सुधार सम्बन्धी प्रस्ताव पेश करते हुए सुरेन्द्रनाथ बनर्जीने कहा कि १९०९ के कानूनके अन्तर्गत बने नियमों ने सुधारको व्यर्थ कर दिया है। उस साल भारत सचिवने भारत सरकारको लिखा था कि शहरी व देहाती स्थानिक संस्थाओंको सच्ची स्वायत्त शासन संस्थाएँ बनानेकी जरूरत है। कांग्रेसने इसपर सन्तोष प्रकट किया।

'राष्ट्रीय' प्रतिनिधि न आने और शिक्षासंस्थाओंपर रोक लगनेके कारण लाहौर अधिवेशनमें उपस्थिति बहुत कम थी। कुल २४३ प्रतिनिधि आये हुए थे।

१९१० के इलाहाबाद अधिवेशनमें ६३६ प्रतिनिधि आये। अध्यक्ष सर विलियम वेडरबर्न चुने गये थे। अपने भाषणमें उन्होंने यूरोपीय अफसरों और शिक्षित भारतीयों, हिन्दुओं और मुसलमानों तथा नरम और गरम दलोंके बीच उत्पन्न मतभेदोंको मिटानेकी आवश्यकतापर जोर दिया। इस साल पृथक् निर्वाचन जिला व म्युनिसिपल बोर्डोंमें भी लागू कर दिया गया था। कांग्रेसने एक प्रस्ताव द्वारा स्वायत्त-शासन संस्थाओंमें पृथक् निर्वाचन चलानेकी जोरदार निन्दा की।

१९११ में बादशाह और महारानी भारत आये और उनके लिए दरबार किया गया जिसमें दो महत्त्वपूर्ण घोषणाएँ हुईं। एकने बंगभंगको खत्म कर दिया। उसकी जगह बिहार व उड़ीसाका एक अलग सूबा बना दिया गया। दूसरी घोषणासे भारतकी राजधानी कलकत्तेके बजाय दिल्ली बना दी गयी। कांग्रेसका अधिवेशन विष्णुनारायण धरकी अध्यक्षतामें खुशीके वातावरणमें हुआ। धर बैरिस्टर और कलकत्ता कारपोरेशनके सदस्य थे। पहले रैमजे मैकडोनल्डको अध्यक्ष बनानेका इरादा था, पर उनकी पत्नीकी मृत्युके कारण वह पद ग्रहण न कर सके। धरने अपने भाषणमें कहा—"हमारे दुर्भाग्यका कारण हमारी आकांक्षाओं और आदर्शोंके प्रति अहलकारी समाजकी अनुदार एवं उपेक्षापूर्ण मनोवृत्ति है; और अगर यह मनोवृत्ति न बदली तो भविष्यमें गम्भीर संकट आ सकता है। एक ओर नये भारतका सृजन हो रहा है, दूसरी ओर यह मनोवृत्ति बढ़ रही है; इससे संकटापन्न स्थिति पैदा हो गयी है। एक ओर भारतका शिक्षित समाज है, जो नये ज्ञान और अपने राजनीतिक अधिकारोंकी नयी

चेतनासे युक्त है, लेकिन एक दकियानूसी शासन-प्रणालीसे बँधा हुआ है; दूसरी ओर स्थिर स्वार्थोंसे युक्त अहलकारी वर्ग है, जो उद्धत स्वभाव, निरंकुश शासनकी परम्परा और ज्ञानके प्रति संशयकी भावनामें पड़ा है, जाति-पार्थक्यके कारण जनजीवनसे कटा हुआ है और एक ऐसी शासन-प्रणालीके अन्तर्गत धन और शक्तिका भोग कर रहा है जो आजके उदार सिद्धान्तोंमें नहीं खपती।"

उन्होंने कहा कि राष्ट्रीय आन्दोलनकी टक्करमें मुस्लिम लीगको प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

विधायिका कौंसिलोंमें जमींदारों व मुसलमानोंके अत्यधिक प्रतिनिधित्व और पृथक निर्वाचन-प्रणालीका विरोध करते हुए धरने कहा—जमींदार अधिकसे अधिक अनुदार प्रवृत्तिके ही हो पाते हैं—इंगलैण्डके जमींदारोंकी तरह नहीं जो पढ़े-लिखे, कुशाग्र बुद्धि और राजनीतिके जानकार होते हैं; भारतीय जमींदार एक वर्गकी हैसियतसे ज्ञानमें पिछड़े, पुरातन विचारोंमें लीन और जीवनके चरम उत्कर्षको प्राचीनताके घने कुहरेमें देखनेवाले हैं। कौंसिलोंमें उनके आधिक्यसे सरकारके सुधारकार्यमें कोई सहायता नहीं मिल सकती; कृषि-कानूनोंके सम्बन्धमें तो यह वर्ग बाधास्वरूप है। उनका उपयोग अहलकारी वर्ग अधिक प्रगतिशील लोगोंकी टक्करमें कर सकता है और जमींदारोंका यह उपयोग बहुधा हुआ भी है, जब शिक्षितवर्गने कोई ऐसी माँग रखी है, जिसे सरकारने ठुकराना चाहा है; पर वे जनताके विचारों या भावनाओंका कोई प्रतिनिधित्व नहीं करते।

सुधारोंमें मिले कौंसिलोंके गैरसरकारी प्रतिनिधित्वके बहुमतको मरीचिका बताते हुए आपने कहा कि उनमें जमींदारों, राजाओं और रईसोंका ही बहुमत होगा और इन लोगोंको जनताके हितोंसे दिलचस्पी नहीं है। संयुक्त प्रान्तकी कौंसिलका उदाहरण देते हुए आपने कहा—'गैरसरकारी सदस्योंका लगभग हर प्रस्ताव वहाँ भारी बहुमतसे गिर गया क्योंकि कुछ निर्वाचित और सभी नामजद सदस्य सदैव सरकारकी सहायताके लिए तत्पर रहते थे।' आपने हर प्रान्तीय कौंसिलमें निर्वाचित सदस्योंके प्रत्यक्ष और साफ बहुमतकी माँग की।

आँकड़े देकर आपने सिद्ध किया कि स्वायत्त शासनमें पृथक् निर्वाचन शरारतसे भरा है; संयुक्त निर्वाचनसे मुसलमानोंको भी लाभ है। उदाहरणार्थ, संयुक्तप्रान्तमें मुसलमानोंकी जनसंख्या कुल १४ प्रतिशत है लेकिन जिला बोर्डोंमें उनके प्रतिनिधि २३ फीसदी हैं। "४५ में से २९ जिला बोर्डोंमें मुस्लिम सदस्योंका अनुपात उनकी आबादीके अनुपातसे ज्यादा है!" आपने आगे बताया कि जिला बोर्डोंके ६६३ सदस्योंमें ४४५ हिन्दू और १८९ मुसलमान ; म्युनिसिपल बोर्डोंमें ५६२ हिन्दू और ३१० मुसलमान।

१९१२ में आर. एन. मधोलकरकी अध्यक्षतामें बाँकीपुरमें कांग्रेसका अधिवेशन हुआ। इस साल दो दुखद घटनाएँ हुई थीं। 'कांग्रेसके पिता' कहे जानेवाले ह्यूमकी (जो २२ वर्ष तक लगातार कांग्रेसके जनरल सेक्रेटरी रहे) ३१ जुलाईको मृत्यु हो गयी थी। देशभरमें शोक मनाया गया और सार्वजनिक सभाओंमें भारतके प्रति उनके उपकारोंके लिए कृतज्ञता प्रकाशके प्रस्ताव पास किये गये।

दूसरी घटना नये वाइसराय लार्ड हार्डिंजपर उनके दिल्ली जानेके समय बम फेंके जानेकी थी। कांग्रेसने तार भेजकर वाइसरायके बच जानेपर बधाई दी और बमकाण्डकी निन्दा की।

मधोलकर वकील थे। वे १८८८ में कांग्रेसमें शामिल हुए थे और तबसे बराबर उसके उत्साही कार्यकर्त्ता रहे। १८८८ में ही उन्होंने बरार सार्वजनिक सभाकी स्थापना की थी और १८९८ तक उसके सेक्रेटरी रहे। अपने भाषणमें उन्होंने कांग्रेसजनोंसे जनताकी सच्ची राजनीतिमें भाग लेनेकी अपील की। आपने कहा—कांग्रेसके नेताओंको जनताको जगानेकी ओर और अधिक ध्यान देना चाहिये; जनताको जगाकर, उसकी दिलचस्पी और चेतना स्थायी रूपसे ऊँचे स्तरपर रखकर संघटनकी मजबूत शाखाएँ खोलकर जनवाणीको और मुखर बनाना होगा। भारतीय शासन और शासन-व्यवस्थाके व्यावहारिक पहलूपर ज्यादा ध्यान देकर उन्हें व्यावहारिक प्रश्नोंके हल ढूँढ़ने होंगे। सामाजिक प्रगति और नैतिक व आध्यात्मिक पुनर्जागरणके बिना कोई भी सच्ची और ठोस राजनीतिक प्रगति नहीं हो सकती।"

बाँकीपुर अधिवेशनमें बहुतसे मुस्लिम प्रतिनिधियोंने भी भाग लिया था। स्वागताध्यक्ष मजहरुल हक थे। लेकिन लगता है कि वे भारतीय मुसलमानोंकी प्रतिनिधि संस्था मुस्लिम लीगको ही मानते थे। उन्होंने कहा—"उदार चेता मुसलमानोंका एक सशक्त और विराट् संघटन बन चुका है; इस संस्थाके उद्देश्य और लक्ष्य वे ही हैं जो कांग्रेसके...यही संस्था भविष्यमें भारतीय मुसलमानोंका नेतृत्व करेगी।"

'राष्ट्रीय' नेताओं और कार्यकर्त्ताओंके निकल जानेके बाद कांग्रेस और अधिक नरम हो गयी, क्योंकि उसके नेता समझते थे कि उन्हींके प्रयासोंके फलस्वरूप सुधारोंकी दूसरी किस्त मिली।

१९११ के उत्तरार्द्धमें, अखबारोंमें एक खबर यह छपी कि भारत सरकारने भारत सचिवको लिखा है कि भारतको प्रान्तीय स्वराज्य दे दिया जाय। खबरमें लिखा था—"यहाँकी सभी कठिनाइयों और समस्याओंका एकमात्र हल यह मालूम पड़ता है कि प्रान्तोंको धीरे-धीरे स्वशासन दिया जाय, यहाँतक कि देश भरमें स्वराज्य-प्राप्त प्रान्त बन जायँ; हाँ भारत सरकार उनके ऊपर रहे और शासनमें हस्तक्षेपका अधिकार उसे रहे।" यद्यपि भारत सचिव लार्ड क्रूने इस समाचारका खण्डन किया था, कांग्रेस बराबर विश्वास करती रही कि प्रान्तीय स्वराज्य आ रहा है। कांग्रेस पण्डालके बाहर बड़े अक्षरोंमें क्रू, जार्ज पंचम और हार्डिंजके नाम लिखे गये, जिससे यह बताया गया कि प्रान्तीय स्वराज्यका वादा इन महानुभावोंके कारण ही मिल सका। स्वयं अध्यक्षने कहा—सज्जनो! इस लक्ष्य और कांग्रेसके लक्ष्यमें बड़ा सादृश्य और समानता है। यह सही है कि लार्ड क्रूने भारत सरकारके पत्रका महत्व कम करनेकी कोशिश की। लेकिन उनके सहायक श्री मॉंटेगूने (जिनका हमने भारत आगमनपर स्वागत किया था, और जो उदारदलके उदीयमान नेता हैं) फरवरीके अन्तमें केम्ब्रिजमें जो भाषण किया था, उसमें इस महान् पत्रके सिद्धान्तका प्रतिपादन ही किया गया है।" विलियम आर्थर जैसे अंग्रेजोंतकने कांग्रेस विचारोंकी विनयपूर्ण दीनताकी आलोचना की (१५ जनवरी सन् १९१३ के 'डेली न्यूज एण्ड लीडर' में)।

अध्याय १२

क्रान्तिकारियोंका क्रियाकलाप

कर्जनके प्रतिक्रियावादी शासन और बंगभंग व कांग्रेसकी वन्ध्या वैधानिक राजनीति ने सचेत नवयुवकों तथा कुछ समाचार-पत्रोंको निराश, विकल व आतुर बना दिया। कांग्रेस-की ब्रिटिश सरकारके पास भेजी जानेवाली वार्षिक प्रार्थनाओंसे उनका विश्वास उठ चुका था। वे कुछ करना चाहते थे ज़िसे ह्यूमके शब्दोंमें कहें तो—ऐसा कुछ करना चाहते थे, जिसका अर्थ हिंसा होता। विदेशी शिकञ्जेसे जन्मभूमिको स्वतन्त्र करनेकी प्रेरणा उन्हें इस बातसे भी मिली कि दो सालमें ही सन् १८५७के महान विद्रोहकी अर्द्धशती होनेवाली थी। समाचारपत्र इस भावनाके अग्रदूत थे। जनताको विद्रोहके लिए प्रेरित करते हुए समाचार-पत्र, पुस्तिकाएँ एवं पर्चे बड़ी संख्यामें बाँटे गये। सन् १९०४ में हुआ यह श्रीगणेश निरीह और निर्दोष-सा ही था पर उसकी व्यापकता और तीव्रतासे अधिकारी परेशान हो उठे। रीसने लिखा है—'यह आन्दोलन ''पूरे देशमें देशी भाषाओंके पत्रों द्वारा ऐसी सफलताके साथ फैलाया गया, जिससे ब्रिटेनकी चुनाव प्रचार एजेंसियाँ ईर्ष्या करने लगें।''[1] खास जोर बायकाट आन्दोलन पर था। हर जगह जनतामें प्रचार किया गया कि अंग्रेज देशको बर्बाद कर रहे हैं और घूस ले रहे हैं। बहिष्कार आन्दोलनके दो नमूने यहाँ दे दें। "पूर्वी बंगालमें वकीलोंके पुस्तकालयों द्वारा एक गश्ती चिट्ठी प्रसारित करायी गयी, जिसमें अंग्रेजोंको झूठे, धोखेबाज कहा गया था जो हमारा जीवन बर्बाद कर रहे हैं, हमारे उद्योग बर्बाद कर रहे हैं और अपने यहाँका बना माल यहाँ भर रहे हैं, हमारे खेत लूट रहे हैं, हमें बीमारी, प्लेग और अकालके मुँहमें डाल रहे हैं, जो हमारा खून पी रहे हैं''' क्या हम इसे और बरदाश्त करेंगे ?' 'संजीवनी' नामक पत्र ने लिखा—'अरे भाई ! अंग्रेजी माल छूकर हम अपने हाथ गन्दे नहीं करेंगे। इसे अंग्रेजी गोदामोंमें पड़ा सड़ने दो और दीमकों व चूहोंका भोजन बनने दो।''[2]

फिर जैसे जैसे विद्रोहकी पचासवीं वर्षगाँठ निकट आती गयी, आन्दोलन जोर पकड़ता गया, अखबार अपने सम्पादकीय लेखोंका स्वर तेज करते गये। 'विहारी'के सम्पादकने विलफ्रिड ब्लण्टकी एक कविताकी चर्चा करते हुए लिखा कि भारत गुलाम हो गया है और स्वतन्त्रता प्राप्त करनेका उपाय तलवार ही है, जो अन्तमें मियानसे निकालनी ही होगी। बम्बई हाईकोर्टने उन्हें दो सालकी सजा दी। इसके पहले उन्होंने फिरंगियोंके राजको 'पृथ्वीपर नरक' और अंग्रेजोंको नृशंसतामें नीरो, नादिरशाह, तैमूर लंग और खुद शैतानसे भी बदतर लिखा था।[3] 'विहारी' के एकके बाद एक-तीन संपादकोंको सजा हुई। यह १९०६, १९०७ व १९०८ में हुआ। दि 'डेकन हेरल्ड' ने एक घोषणापत्र

---

१. जे. डी. रीस 'दि रीअल इण्डिया' पृष्ठ १७१

२. वही पुस्तक, पृष्ठ १७४

३. वही पुस्तक, पृष्ठ १९१-९२

'वन्देमातरम्' के अलीगढ़ स्थित संवाददाताको सात वर्षका कालापानी इसलिए हुआ कि उनकी भेजी एक खबर 'राजद्रोहात्मक' मानी गयी थी और उनपर 'राजद्रोहात्मक पर्चा' बाँटनेका अभियोग लगा था। बम्बईमें 'हिन्दू स्वराज्य', 'विहारी' व 'अरुणोदय' के सम्पादकोंको भी कैदकी सजाएँ दी गयीं।

१९०७ के इन मामलोंमें दो विशिष्ट हैं। 'वन्देमातरम्' के मुद्रक और सम्पादकीय विभागके सदस्य अरविन्द घोषपर अगस्तमें राजद्रोहका मुकदमा चला। विपिनचन्द्र पालको सबूतके गवाहकी हैसियतसे बुलाया गया। पर उन्होंने यह कहकर गवाही देनेसे इनकार कर दिया कि मेरी रायमें यह मुकदमा देशहितमें नहीं है। इसपर उन्हें छ महीनेकी कैदकी सजा दे दी गयी। लेकिन अरविन्दके विरुद्ध राजद्रोहका अभियोग साबित न हो सका और उन्हें रिहा कर दिया गया। मुद्रकको तीन महीनेकी कैद मिली। दूसरा मामला 'सन्ध्या'के सम्पादक ब्रह्मबान्धव उपाध्याय व युगान्तरके सम्पादक भूपेन्द्रनाथ दत्त का है। उपाध्यायने मुकदमेकी सुनवाईमें भाग लेनेसे इनकार कर दिया और अपने लिखित वक्तव्यमें कह दिया—"मैं इस मुकदमेमें भाग नहीं लेना चाहता क्योंकि मैं नहीं मानता कि ईश्वर द्वारा नियत स्वराज्य प्राप्तिके मिशनमें अपना तुच्छ योग देनेके लिए मैं किसी विदेशीके सामने उत्तरदायी हूँ—विशेषकर जब ये विदेशी हमारे शासक हों—और जिनका हित अनिवार्य रूपसे हमारे सच्चे राष्ट्रीय विकासमें बाधक हो।"[१] उपाध्यायकी अस्पतालमें मृत्यु हो जानेके कारण उनका मुकदमा खत्म हो गया। दत्तको एक वर्षका कठोर कारावास मिला।

भारतमें चालू इस आतंकराजसे भारत सचिव मॉर्ले भी उद्विग्न हो उठे। १४ जुलाई सन् १९०८ को उन्होंने मिण्टोको लिखा—मुझे स्वीकार करना पड़ता है कि राजद्रोह आदिके लिए जो भयंकर सजाएँ दी जा रही हैं उन्हें देखकर मैं त्रस्त और उद्विग्न हो उठा हूँ। मैंने आज पढ़ा कि बम्बईमें पत्थर फेंकनेके लिए साल-साल भरकी सजा मिल रही है। यह तो सचमुच ही अत्याचार है। तिन्नेवली-तूतीकोरिनके दो व्यक्तियोंको जन्मभरके लिए कालेपानी और दस वर्षकी जो सजाएँ मिली हैं, उनका समर्थन असम्भव है। ये सजाएँ बरकरार नहीं रह सकतीं। मैं किसी भी हालतमें ऐसे राक्षसपनका समर्थन नहीं कर सकता। मैं तुमसे अनुरोध करता हूँ कि तुम इन गलतियों और खामियोंकी ओर ध्यान दो। शान्ति कायम रखना आवश्यक है, लेकिन अति दमनसे शान्ति स्थापित नहीं होती, वह शान्तिका रास्ता नहीं है, बल्कि बमका रास्ता है।"[२]

बीसवीं सदीके शुरूके सालोंमें भारतीय क्रान्तिकारियोंकी हलचलोंका केन्द्र लन्दन रहा। श्यामजी कृष्ण वर्मा चुपचाप लन्दन चले गये थे और वहाँ कुछ दिनोंतक अज्ञातवास करनेके बाद उन्होंने १९०५ में इण्डिया होम रूल सोसायटी (भारत स्वराज्य संघ) की स्थापना की। इसका दफ्तर जिस इमारतमें रखा उसका नामकरण 'इण्डिया हाउस' (भारत भवन) किया गया। उन्होंने अपनी सोसायटीका मुखपत्र 'इण्डियन सोस्योलोजिस्ट' भी निकाला जो साप्ताहिक था। इसमें प्रकाशित घोषणाके अनुसार सोसायटीका उद्देश्य भारतके लिए स्वराज्य प्राप्त कराना और उसके लिए इंगलैण्डमें हर सम्भव उपाय द्वारा प्रचार करना था।

१. पृथ्वीशचन्द्र राय—'लाइफ एण्ड टाइम्स आव सी० आर० दास' पृष्ठ ५७
२. मॉर्ले 'रिकलेक्शंस' भाग दो, पृष्ठ २६९–७०

श्यामजी कृष्ण एक निर्धन मंसाली परिवारमें ४ अक्तूबर सन् १८५७ को पैदा हुए थे। विद्यार्थीकालमें वे दयानन्दके सहायकोंके रूपमें आर्यसमाजकी ओरसे 'भाषण-यात्राएँ' करते रहे। एक अंग्रेज अध्यापकने उन्हें १८७९ में इंगलैण्ड भेज दिया। वे केम्ब्रिज विश्वविद्यालयसे ग्रेजुएट बनकर वकालत करने भारत लौटे। संस्कृतके उद्भट विद्वान् होनेके नाते भारतसचिवने उन्हें सन् १८८१ में बर्लिनके 'पूर्वी-प्राचीन-भाषा सम्मेलन' में भारतका प्रतिनिधित्व करने भेजा। वहाँसे लौटकर वे रतलाम, उदयपुर व जूनागढ़में दीवान आदिके पदोंपर रहे। जूनागढ़से एक अंग्रेज अफसरने (जिसपर वर्माने अनुग्रह किया था) उन्हें निकलवा दिया। उनपर तिलककी राजनीतिका गहरा प्रभाव पड़ा था और तिलककी गिरफ्तारीके बाद वे स्थायी रूपसे लन्दन चले गये।

इण्डिया हाउसमें श्यामजी कृष्णने कुछ क्रान्तिकारियोंकी भरती की। इनमें प्रमुख थे विनायक दामोदर सावरकर। उनकी अवस्था उस समय केवल २२ वर्षकी थी। वे पहले क्रान्तिकारी थे जिन्हें कालेपानीकी सजा हुई थी। जिसे हम मोटे तौरपर 'राजनीतिक जीवन' कह सकते हैं, वह सावरकरने दस वर्षकी अवस्थामें ही शुरू कर दिया था। एक हिन्दू-मुस्लिम दंगेकी खबर सुनकर जिसमें हिन्दुओंपर काफी अत्याचार हुए थे, सावरकरका खून खौल उठा और उन्होंने बदला लेनेकी ठान ली। अपने स्कूली साथियोंको लेकर उन्होंने गाँवकी मस्जिदपर हमला बोल दिया। इस घटनाका प्रभाव उनपर आजीवन बना रहा। १८९९में १६ वर्षकी अवस्थामें उन्होंने एक क्रान्तिकारी देशभक्त संघटन स्थापित किया। शुरूमें इनमें केवल तीन सदस्य थे, पर १९०० में 'मित्रमेला' के रूपमें यह संघटन खूब विकसित हो गया। "नासिककी हर सार्वजनिक राजनीतिक संस्थामें मित्रमेलाका जोर हो गया और मेलाने धार्मिक उत्सवोंको राजनीतिक व राष्ट्रीय उत्सवोंमें परिवर्तित कर दिया। मेलाके कार्य-कलापसे जिला-अधिकारियोंको सोना दूभर हो गया।"[1]

१९०१ में मित्रमेलाकी एक बैठकमें इस प्रश्नपर विचार हो रहा था कि महारानी विक्टोरियाकी मृत्युपर शोक और नये बादशाह एडवर्डके प्रति निष्ठा प्रकट की जाय या नहीं। कुछ सदस्य ढुलमुल यकीन हो रहे थे। तभी सावरकर उठकर बोले—"इंगलैण्डके महाराज और महारानी हमारे शत्रुओंके महाराज और महारानी हैं। उनमें निष्ठा प्रकट करना गुलामीकी शपथ लेना है।"[2] सावरकरके जीवनी-लेखकके अनुसार भारतमें विदेशी वस्त्रोंकी होली सबसे पहले १९०५ में सावरकरने ही आयोजित की। १९०४ में जब सावरकर कालेजमें पढ़ रहे थे, मित्रमेला एक क्रान्तिकारी संघटन बन गया और उसका नाम 'अभिनव भारत' हो गया। इसी समय खबर मिली कि विलायतमें पढ़नेके इच्छुक छात्रोंको श्यामजी कृष्णवर्मा छात्रवृत्ति देंगे। सावरकरने इसके लिए अर्जी दी और इसे पाकर वे जून सन् १९०६ में लन्दन रवाना हो गये।

१९०५ के शुरूमें सावरकर महात्मा श्री अगम्य गुरु परमहंसके आन्दोलनमें शामिल हो गये थे। महात्मा सारे भारतमें निर्भीक रूपसे सरकारके विरुद्ध भाषण करते थे और कहते थे कि सरकारसे नहीं डरना चाहिये। "इस आन्दोलनके एक अंगके रूपमें पूनामें सन् १९०६

१. धनंजय कीर, 'सावरकर एण्ड हिज टाइम्स' पृष्ठ ९

२. वही पुस्तक, पृष्ठ १०

में, कुछ छात्रोंने एक संस्था कायम की, सावरकरको उसका अध्यक्ष बनाया और उन्हें महात्मासे मिलने बुलाया।"

सावरकरके सुझावपर नौ सदस्योंकी एक समिति आन्दोलनके उद्देश्य पूरे करनेके लिए बनायी गयी। महात्माजीने राय दी कि संस्थाके लिए एक इकन्नी कोष खोला जाय; जब काफी पैसा इकट्ठा हो जाय तब महात्मा उसे खर्च करनेका ढंग बताते। पर सावरकरके लन्दन चले जानेके उपरान्त यह संस्था निष्क्रिय हो गयी।

लन्दनमें सावरकरने 'फ्री इण्डिया सोसायटी' (स्वतन्त्र भारत संघ) स्थापित की। यह संस्था खुले रूपसे चलती थी और इसके द्वारा अभिनव भारतके लिए सदस्य छाँटे जाते थे। इनमें मैडम कामा, सेनापति बापट, मदनलाल धींगरा, रविशंकर शुक्ल, सिकन्दरहयात खाँ, भाईपरमानन्द, हरदयाल, हेमचन्द्रदास आदि भी थे। ज्ञानचन्द्र वर्मा इसके सेक्रेटरी थे। दादाभाई नौरोजीकी भूतपूर्व सचिव मैडम कामा पहली भारतीय थीं जिन्होंने १९०७ में जर्मनीमें एक सोशलिस्ट सम्मेलनमें भारतीय राष्ट्रीय झण्डा फहराया था। झण्डा फहराते हुए उन्होंने कहा—"यह भारतकी स्वतन्त्रताकी पताका है; देखिये, इसका जन्म हो चुका है; भारतीय नवयुवकोंके बलिदानके रक्तसे यह पताका पवित्र हो चुकी है; मैं उपस्थित सज्जनोंसे अनुरोध करती हूँ कि वे खड़े होकर भारतीय स्वाधीनताके इस झण्डेको सलामी दें। दुनियाके स्वतन्त्रताप्रिय लोगोंसे मैं इस झण्डेके नामपर अपील करती हूँ कि वे मानवजातिके पंचमांश-को स्वतन्त्र करानेमें सहयोग दें।"[1] उपस्थित लोगोंने खड़े होकर झण्डेको सलामी दी।

'अभिनव भारत' का एक काम था क्रान्तिकारी साहित्य प्रकाशित करना और पिस्तौलें इकट्ठी कर भारत भेज देना। एक बैठकमें सेनापति बापट और हेमचन्द्रदासको बम बनाना सीखनेका काम सौंपा गया। ये दोनों पेरिसमें एक रूसी क्रान्तिकारीसे यह सीख आये और उससे बम बनानेकी एक पुस्तक भी खरीद लाये। बापट, दास और होती-लाल वर्मा इस पुस्तककी कई साइक्लोस्टाइल प्रतियाँ लेकर भारतके लिये रवाना हो गये। अभिनव भारतकी भारतीय व लन्दन शाखाओंमें सम्पर्क स्थापित हो चुका था। सर वेलेण्टा-इन शिरौलने तभी लन्दन टाइम्समें लिखा था—"दक्षिणमें गुप्त संस्थाओंका जाल-सा बिछा है।" अभिनव भारतका अपना खुफिया विभाग भी था। इसने बम्बईमें तिलककी गिर-फ्तारीके सम्बन्धमें ब्रिटिश सरकारका एक सन्देश भी हस्तगत कर लिया था। लन्दन शाखा क्रान्तिकारी कामोंके अतिरिक्त वैधानिक आन्दोलन भी करती थी। २० दिसम्बर सन् १९०८ को लन्दनमें एक राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। सम्मेलनने शीघ्र लागू होनेवाले मिण्टो-मॉर्ले सुधारों को 'धोखा, निराशा और अपमान'का स्रोत बताया क्योंकि इनसे 'भारतमें साम्प्रदायिक तनाव' बढ़ता था। सम्मेलनके मुख्य प्रस्तावमें भारतके लिए पूर्ण राजनीतिक आजादीवाले स्वराज्यकी माँग की गयी।

ब्रिटिश समाचार-पत्र और राजनीतिज्ञ इंगलैण्ड स्थित भारतीयोंके कामोंसे चिन्तित हो रहे थे। दि स्टैण्डर्डने लिखा—"इसमें कोई भी सन्देह नहीं है कि हमारे विश्वविद्यालयोंमें जो कुशाग्रबुद्धि व मेधावी भारतीय छात्र वकालत पढ़ रहे हैं, उनमेंसे काफी भारतको नयी पीढ़ीको सशस्त्र विद्रोहकी भावनासे प्रेरित करनेमें लगे हैं।" ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इतने परेशान थे कि बम्बईके भूतपूर्व गवर्नर लार्ड लेमिंगटनके सभापतित्वमें उन्होंने एक सभा की जिसमें

१. महाराष्ट्र प्रकाशन संस्था 'सावरकर चरित्र', पृष्ठ ६७

क्रान्तिकारी भारतीयोंको 'सामाजिक' बनानेके प्रश्नपर विचार किया गया। सभाके एक वक्ता सर विलियम ली वार्नरने भारतीय क्रान्तिकारी कुञ्जविहारी भट्टाचार्यके लिये 'गन्दा निगर' शब्दका प्रयोग किया। इस सम्बोधनसे वहाँ उपस्थित भारतीय इतने कुपित हो गये कि 'संध्या' व 'युगान्तर'के भूतपूर्व सम्पादक वासुदेव भट्टाचार्यने उठकर सर विलियमके मुँहपर तमाचा मार दिया। वासुदेवपर मुकदमा चला और बीस रुपये जुर्मानेकी सजा हुई।

भारत सचिव मार्लेने एक समिति नियुक्त की, जिसका काम था वे तरीके ढूँढ़ना जिनसे 'भारतीय छात्र उन आन्दोलनकारियोंसे बचाये जा सकें जो नये छात्रोंकी प्रतीक्षामें रहते हैं, उन्हें ऐसे घर देते हैं जहाँका वातावरण ही ब्रिटिश सरकारके प्रति विद्रोहकी भावना-से ओतप्रोत रहता है।'[1] १९०७ के उत्तरार्धमें श्यामजी कृष्णवर्मा पेरिस चले गये और वहीं बस गये। पर 'इण्डियन सोशलौजिस्ट' लन्दनसे ही निकलता रहा। पत्रके दिसम्बरके एक अंकमें निकला कि—"लगता है कि भारतमें चलाये जानेवाले आन्दोलन अनिवार्यतः गुप्त आन्दोलन होंगे और अंग्रेज सरकारका दिमाग दुरुस्त करनेका उपाय रूसी तरीके इस्तेमाल करना ही है। यह रूसी तरीका तबतक लगातार और तीव्र रूपसे इस्तेमाल किया जाय जबतक अंग्रेज दमनका शिकंजा ढीला न कर दें और हमारा देश छोड़कर भाग न जायँ। इस आन्दोलनके नियम और ढंगके सम्बन्धमें भविष्यवाणी नहीं की जा सकती, वे तो स्थानीय परिस्थितियाँ देखकर ही तय होंगे। लेकिन आम-तौरपर यह कहा जा सकता है कि रूसी तरीके अंग्रेज अफसरोंकी जगह देशी अफसरोंसे शुरू किये जायँ।'[2] रूसी तरीका बमबाजीका था। पत्र सरकारका कोपभाजन बन गया। मुद्रकको जुलाई १९०९ में कैद हो गयी। दूसरेने मुद्रण शुरू किया और उसे भी सितम्बरमें कैद हो गयी। तब पत्र पेरिससे प्रकाशित होने लगा।

मई १९०८ में इण्डिया हाउसने ५७-५८ के विद्रोहकी जयन्ती मनायी। निमन्त्रण-पत्र भेजे गये और इंगलैण्ड भरसे लगभग सौ भारतीय छात्र इकट्ठे हुए। इन्हें दो दो पुस्तिकाएँ—'ग्रेव वार्निंग' (गम्भीर चेतावनी) और 'ओह मार्टर्स' (हे शहीदो) दी गयीं और उन्हें अपने मित्रोंके पास भारत भेजनेको कहा गया। इनकी जो प्रतियाँ भारत आयीं उनमेंसे कुछ लंदनसे प्रकाशित दैनिक "लण्डन डेली न्यूज' के पत्रोंमें लिपटी थीं, जिनसे पता लगता था कि वे लन्दनसे वितरित हुई हैं।"[3]

जून १९०८ में लन्दन विश्वविद्यालयके एक भारतीय छात्रने बम बनाने, उसमें इस्तेमाल होनेवाली सामग्री और बम प्रयोगके औचित्यपर भाषण किया। उसने श्रोताओंसे कहा—"जब आपमेंसे कोई अपनी जानकी बाजी लगाकर बम प्रयोगके लिए तैयार हो तो वह मेरे पास आ जाय, मैं उसे पूरा तरीका बता दूँगा।" १९०९ में सावरकर इण्डिया हाउसके नेता हो गये और रविवारकी बैठकोंमें उनकी पुस्तक "५७ का भारतीय स्वतन्त्रताका युद्ध—एक भारतीय 'राष्ट्रीवादी कृत' के अंश पढ़नेकी परम्परा बन गयी। उसी वर्ष 'इण्डिया हाउसके सदस्य लन्दनमें रिवाल्वर चलानेका अभ्यास करने लगे, और १ जुलाई १९०९ को इण्डिया हाउससे सम्बन्धित मदनलाल धींगरा नामक युवकने भारत सचिवके राजनीतिक

१. रीस 'दी रियल इण्डिया', पृष्ठ १६७
२. सेडीशन कमेटी रिपोर्ट, पृष्ठ ४
३. वही पुस्तक, पृष्ठ ६

सहकारी कर्नल सर विलियम कर्जन वाइलीकी हत्या लन्दनकी इम्पीरियल इंस्टीट्यूटमें हुई एक सभामें कर दी।"[1] धींगरा बंग-भंग करानेवाले लार्ड कर्जनको मारना चाहते थे पर वे असफल रहे।

धींगराके राजभक्त पिताने भारत सचिवको तार दिया कि मैं ऐसे पुत्रपर लज्जित हूँ। सर मनचेरजी भौनागरी, आगा खाँ, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, विपिनचन्द्र पाल जैसे कुछ नरमदली भारतीयोंने एक सभा कर इस हत्याकी निन्दा की। सभाके अन्तमें अध्यक्षने कहा—'यह सभा सर्वसम्मतिसे मदनलालजी धींगराकी निन्दा करती है।' लेकिन भीड़मेंसे एक आवाज उठी—'नहीं, सर्वसम्मतिसे नहीं।' अध्यक्षने क्रोधमें पूछा—'नहीं कौन कहता है? तुम्हारा नाम क्या है?" उसी आवाजमें उत्तर आया—"मैं हूँ। मेरा नाम सावरकर है।" इसके बाद सभामें भय छा गया। भावनाके उद्वेगमें एक अधगोरेने सावरकरपर झपट कर उनके माथेपर घूँसा मारा। सावरकरके खून बहने लगा।" मदनलालको १७ अगस्त १९०९ को फाँसी दे दी गयी। आयरलैण्डके पत्रोंने धींगराके प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुए बड़े-बड़े पर्चे बाँटे, उनमें एक था—'आयर्लैण्ड मदनलाल धींगराके प्रति श्रद्धा प्रकट करता है जिसने अपने देशके लिए अपनी जान दी।"[2]

कुछ समयके लिए भारतीय छात्र ब्रिटिश अधिकारियोंको काँटेकी तरह खटकने लगे। अपने लेखों व प्रचारके कारण वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय व श्यामजी कृष्णवर्माकी डिग्रियाँ छिन गयीं।[3] वाइलीकी हत्याके बाद ब्रिटिश खुफिया पुलिस सावरकरके पीछे पड़ गयी। सावरकर लन्दनकी भारतीय क्रान्तिकारी संस्थाओंकी जान थे। वे एक जगहसे दूसरी जगह घूमते फिरते। यहाँतक कि उनका स्वास्थ्य खराब हो गया और मित्रोंके जोर डालनेपर जनवरी १९१० में वे पेरिस चले गये। लेकिन १३ मार्च १९१० को वे फिर लन्दन वापस आ गये। विक्टोरिया स्टेशनपर जब वे ट्रेनसे उतर रहे थे, बम्बईसे तार द्वारा आये एक वारण्टपर वे गिरफ्तार कर लिये गये। १८८१ के भगोड़े अपराधी कानूनके अन्तर्गत यह वारण्ट निकला था। उनपर अभियोग थे—"भारतके सम्राटके विरुद्ध युद्ध छेड़ना या युद्ध छेड़नेमें मदद देना; ब्रिटिश भारतपरसे या उसके कुछ भागसे सम्राटकी सार्वभौम सत्ता हटानेका षड्यन्त्र करना; शस्त्रास्त्र इकट्ठे कर उन्हें वितरित करना और जैक्सनकी हत्यामें मदद देना; लन्दनमें शस्त्र इकट्ठे कर वहाँसे युद्ध छेड़ना; भारतमें जनवरीसे मार्च १९०६ तक और लन्दनमें १९०८ से १९०९ तक राजद्रोहात्मक भाषण करना।"[4] उन्हें वापस भारत भेजनेकी आज्ञा हो गयी।

उन्हें लेकर भारत आनेवाला जहाज जब मार्साइमें लंगर डाल रहा था, सावरकर सिपाहियोंको धोखा देकर भाग निकले और समुद्रमें कूद पड़े। सिपाही भी पीछे कूदे पर उन्हें पकड़ नहीं पाये। सावरकर मार्साइके ढालू बन्दरके किनारे लगे और घाटपर चढ़ गये। वह लगभग ५०० गज दौड़े, पर गाड़ी किरायेपर करनेके लिए उनके पास

---

१. सेडीशन कमेटी रिपोर्ट, पृष्ठ ६
२. कीर, वही पुस्तक, पृष्ठ ५६
३. सावरकरकी 'लण्डनचे-बातमीपत्र', पृष्ठ १०८
४. गाई ए. एल्ड्रेड 'दि हेरल्ड आव रिवोल्ट', पृष्ठ १९९

पैसा नहीं था। वे विदेशमें थे और अन्तरराष्ट्रीय कानूनके अनुसार उन्हें गिरफ्तार नहीं किया जा सकता था। लेकिन जहाजके सिपाही उन्हें पकड़कर फिर जहाजपर ले गये।

१५ सितम्बर १९१० को बम्बईकी डोंगरी जेलमें नासिक षडयन्त्र केस शुरू हुआ। उसमें सावरकरके अतिरिक्त ३६ अन्य अभियुक्त थे। मुकदमा ६८ दिन चला और २३ दिसम्बरको फैसला हो गया। सावरकरको आजन्म कालेपानी और सम्पत्ति जब्तीकी सजा मिली। कुछ अभियुक्त रिहा हो गये; कुछको छः महीनेसे लेकर १५ वर्षतककी कैद हुई। फैसलेमें कहा गया था—'अभिनव भारत रूसी क्रान्तिकारी संस्थाओंके आधारपर बना संगठन था। जिन तरीकोंसे लड़ाईकी तैयारी की जानेका सुझाव था, उनमें पड़ोसी देशोंसे हथियार खरीदकर इकट्ठा करना, मौका पाकर उन्हें इस्तेमाल करना, गुप्त रूपसे हथियार बनानेके लिए थोड़ी-थोड़ी दूरपर छोटे-छोटे कारखाने स्थापित करना और दूसरे देशोंसे चुपचाप हथियार खरीदकर चोरीसे उन्हें व्यापारी जहाजोंमें भारत भेजना शामिल था।'

जनवरी १९११ में सावरकर फिर अदालतके सामने पेश किये गये और उन्हें जैक्सनकी हत्यामें आजन्म कालेपानीकी सजा मिली। फ्रांसीसी पत्रोंमें सावरकरकी गैरकानूनी गिरफ्तारीका विरोध हुआ और फ्रांसकी सरकारने माँग की कि सावरकर फ्रांस वापस भेजे जायँ। पर अंग्रेज सरकार नहीं मानी। सावरकर ५० वर्षके लिए अण्डमान द्वीपसमूह भेजे गये। वहाँ सावरकरकी भेंट १८५७ के कुछ जीवित बचे हुए विद्रोहियोंसे हुई।

भारतमें क्रान्तिकारियोंका काम विद्रोहके ५० वें साल १९०७ में सरगर्मीसे शुरू हुआ था। पहले बंगालकी घटनाओंका ही वर्णन किया जाय। १९०२ में गायकवाड़ कालेजके उपाध्यक्ष अरविन्द घोषके भाई बारीन्द्रकुमार घोष (उम्र २२ वर्ष) बड़ौदासे कलकत्ते आये। बारीन्द्रके पिता सरकारी नौकरीमें डाक्टर थे। बारीन्द्र इंगलैण्डमें पैदा हुए थे। भारतमें ब्रिटिश सरकारका तख्ता हिंसात्मक उपायोंसे पलटनेके लिए आवश्यक क्रान्तिकारी आन्दोलनकी बंगालमें नींव डालनेके लिए वे कलकत्ते आये थे। जो संस्थाएँ उस समय चल रही थीं, उन्हींके द्वारा उन्होंने क्रान्तिकारी विचारोंके प्रसारका प्रयत्न किया; पर उसके फलसे वे असन्तुष्ट रहे। तब वे दो सालतक जिले-जिलेका दौरा करते और स्वाधीनताके लिए प्रचार करते घूमे।

१९०७ के आरम्भमें उन्होंने १४, १५ नवयुवकोंको लेकर एक गुट स्थापित किया। इनमें उल्लासकर दत्त भी थे। उन्होंने रिवाल्वर और राइफिलें जमा कीं। उल्लासकरने विस्फोटक सामान बनाना सीखा। इस गुटका नाम रखा गया अनुशीलन समिति। इसका केन्द्र कलकत्ता था। बादमें ढाकामें भी एक शाखा खुली। ढाकाकी समितिका इतना विस्तार हुआ कि बंगालके गाँवों और कस्बोंमें इसकी पाँच सौ शाखाएँ स्थापित हो गयीं।

क्रान्तिकारी दलोंमें ढाका समिति सदैव सबसे शक्तिशाली संगठन रही। इसकी नींव पुलिन बिहारीदासने डाली थी। "दास और भूपेन्द्रचन्द्र राय ढाकाके नेशनल स्कूलमें अध्यापक थे, यह स्कूल भरती और ट्रेनिंगका मुख्य केन्द्र था।" दूसरा केन्द्र था ढाकेका सोनारंग नेशनल स्कूल। इसे माखनलाल सेनने चलाया था। दासके कालेपानी भेजे जानेके बाद सेन ही समितिके नेता हुए। "समिति सबसे अधिक सुसंगठित ढाका और मैमनसिंहमें थी; पर वह उत्तर पश्चिममें दीनाजपुरसे लेकर दक्षिण पूर्वके चटगाँव और कूचबिहारसे दक्षिण पश्चिम में

मिदनापुरतक सक्रिय थी।" बंगालके बाहर इसके सदस्य आसाम, बिहार, पंजाब, मध्यप्रान्त, संयुक्तप्रान्त और पूनामें काम करते थे। वे सब एक दूसरेसे सम्पर्क रखते थे।

इन संस्थाओंके अलावा कम संघटित गुट थे जो इन्हीं सिद्धान्तोंपर उचित वातावरण पैदा करने, क्रान्तिकारियोंकी भरती और उनके कामोंमें योग देते रहते थे। गीत, साहित्य, समाचार पत्र, गुप्त सभाओं, संघटनों, उपदेशों आदि द्वारा जनमत प्रबुद्ध कर उचित वातावरण पैदा किया जानेवाला था "असन्तोष उत्पन्न किया जानेवाला था—असन्तोष जिसे इतिहासमें विद्रोह कहा जाता है।"

क्रान्तिकारियोंने कई पत्र शुरू किये पर उनका मुख्य पत्र युगान्तर ही था। अलीपुर षडयन्त्रकेसके फैसलेमें सेशन जजने लिखा था (और बादमें चीफ जस्टिसने इसे दोहराया था) कि ये पत्र "ब्रिटिश जातिके प्रति घृणाकी कटु भावना, एक-एक पंक्तिमें क्रान्तिकी प्रेरणा और ऐसी सामग्री छापते हैं जिससे इस बातका निर्देश मिलता है कि क्रान्ति किस तरह की जा सकती है।"

बंगालके क्रान्तिकारियोंने वहावियोंकी तरह आन्दोलनमें शिक्षितोंके साथ आम जनताको भी लानेके लिए धर्मका सहारा लिया। आम जनताके लिए धर्ममें बड़ी प्रेरणा थी। शक्तिकी देवी कालीसे प्रेरणा ली गयी। मेजिनी और जेरीबाल्डीके उदाहरण सामने अवश्य थे, पर दुष्ट और पातकी—अंग्रेजी राज, के विरुद्ध धर्मग्रन्थोंकी वाणी और फतवोंने क्रान्तिकी चिनगारीको व्यापकता प्रदान कर दी। अंग्रेजोंके विरुद्ध युद्धको न्याय्य बताते हुए पुस्तिकाएँ निकाली गयीं। इन पुस्तकोंमें हथियार बनाने और रुपया इकट्ठा करनेके लिए राजनीतिक डकैतियाँ डालनेके सुझाव दिये जाते थे।

नवयुवकोंकी भरतीके लिए हाई स्कूल और किसी हदतक कालेज सबसे अच्छे केन्द्र माने जाते थे। क्रान्तिकारी साहित्य अध्यापकों व छात्रोंमें बाँटा जाता और उसके बाद लोगोंसे व्यक्तिगत रूपसे बात की जाती। मई १९०७ में विद्रोह करनेकी जीतोड़ कोशिश हो रही थी, पर वह हुआ नहीं; सब जगह एक साथ आग नहीं भड़की। हाँ, जहाँ तहाँ हिंसात्मक विस्फोट जरूर हुए।

अक्तूबर १९०७ में लेफ्टिनेण्ट गवर्नरकी ट्रेन उड़ा देनेके दो षड्यन्त्रोंका पता पुलिसको लगा। दिसम्बरमें उनकी ट्रेन सचमुच ही, मिदनापुरके पास, एक बम द्वारा पटरीसे उतार दी गयी। बमके धड़ाकेसे पाँच फुट चौड़ा और पाँच फुट गहरा गड्ढा पटरीपर हो गया। पूर्वी बंगालके एक अंग्रेज अफसर एलनपर भी हमला किया गया। उसे सांघातिक चोट लगी, पर वह बच गया। ११ अप्रैल १९०८ को चन्द्रनगरके मेयरके घरपर बम फेंका गया।

लेकिन ३० अप्रैलको भीषण घटना हो गयी। मानिकतल्लेकी क्रान्तिकारी पार्टीके खुदीराम बोस व प्रफुल्ल चाकी नामक दो नवयुवकोंने मुजफ्फरपुरमें एक गाड़ीपर यह समझकर बम फेंका कि उसमें जिला जज किंग्सफर्ड बैठे हैं। किंग्सफर्डने कलकत्तेके चीफ प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेटकी हैसियतसे युगान्तर, 'वन्देमातरम्', सन्ध्या और नवशक्तिके संपादकोंको कड़ी सजाएँ दी थीं। सुशीलकुमार सेन नामक तरुण क्रान्तिकारीको १५ कोड़ोंकी सजा भी किंग्सफर्डने दी थी। पर गाड़ीमें वे नहीं थे। उसमें भारतीय समर्थक अंग्रेज प्रिंगिल केनेडीकी पत्नी और पुत्री थीं जो मर गयीं। बोस व चाकी पकड़ लिये गये। चाकी जिन्दा नहीं पकड़े

जा सके, उन्होंने पुलिसके हाथमें पड़ते ही गोली मार ली। बोस तबतक छात्र थे। उन्हें फाँसी दे दी गयी। उनका स्वागत शहीदकी तरह किया गया। "उनकी तसवीरकी बड़ी बिक्री हुई और उग्र बंगाली युवक वे धोतियाँ पहनने लगे जिनकी किनारियोंमें खुदीराम बोस-का नाम बुना रहता था।"[1] जिस दिन खुदीरामको फाँसी लगी "बंगालके बहुतसे स्कूलोंके छात्र नंगे पैर, नंगे बदन और उपवास करते हुए स्कूल आये। जमालपुरमें यह प्रदर्शन एक सप्ताहतक रहा।"[2]

मई व जून १९०८ में तिलकने अपने पत्र 'केसरी'में श्रीमती व कुमारी केनेडीकी हत्या, राजनीतिमें बमके प्रादुर्भाव आदिपर कई लेख लिखे। इनमेंसे दो लेख राजद्रोहात्मक माने गये। उन्हें छः वर्षका कालापानी हुआ। जजने फैसलेमें लिखा कि लेखोंमें "राजद्रोह लबा-लब भरा है; उनमें हिंसाका उपदेश दिया गया है। उनमें हत्याका वर्णन प्रशंसात्मक भावसे किया गया है और भारतमें बमके प्रयोगका स्वागत किया गया है मानों वह भारतके भलेके लिए आया हो।"

केनेडी हत्याकाण्डके सूत्र ढूँढ़ते हुए पुलिसको क्रान्तिकारी तैयारियोंके कई और सुराग मिल गये। २ मईको कलकत्तेके कई घरोंपर छापा मारकर पुलिसने बम, डाइना-माइट, कारतूस और पत्र पकड़े। मुरारीपूकुर रोड (मानिकतला) के एक मकानमें बमके एक कारखानेका पता लगा। इसे कुछ बंगाली नवयुवकोंने 'सीधी कारखाई' कर सरकारको ठप कर देनेके लिए बनाया था। उसी दिन समितिके मस्तिष्क बारीन्द्रकुमार घोष और उनके कुछ साथी पकड़े गये। अगले कुछ दिनोंमें कुछ और लोग भी गिरफ्तार हुए जिनमें अरविन्द घोष भी थे। मुजफ्फरपुर बमकाण्ड और मानिकतला बम कारखानेके सिलसिलेमें कुल ३६ व्यक्ति पकड़े गये। इनपर सम्राटके खिलाफ युद्ध छेड़ने और उसके लिए शस्त्र इकट्ठे करने व षड्यन्त्र करनेका मुकदमा चला। यहाँ पांडिचेरीके सन्त अरविन्द घोषके सम्बन्धमें दो शब्द अनुपयुक्त न होंगे। वे १८९० में सिविल सर्विसकी परीक्षामें बैठे थे और उन्होंने अच्छा स्थान भी प्राप्त किया था पर घुड़सवारी न जाननेके कारण वे लिये नहीं गये। बंगभंग आन्दोलनने उन्हें बंगालमें आकर्षित किया और वे १९०६ में 'वन्देमातरम'के सम्पादकीय विभागमें काम करने लगे। उन्होंने राजनीतिके प्रचारके लिए वेदान्तको साधन बनाया। "उनके लेखों व भाषणोंसे यह निष्कर्ष निकालनेका प्रयत्न किया गया कि उन्होंने इन नवयुवकोंके राजनीतिक ध्येयके रूपमें भारतके लिए पूर्ण स्वाधीनताका प्रचार किया और उन्होंने षड्यन्त्रकारियोंकी लक्ष्यप्राप्तिमें योग देनेके लिए ऐसा किया।"[3] अरविन्दका मुकदमा चित्तरंजनदास (सी.आर. दास) ने लड़ा। उन्होंने अदालतमें कहा—"अगर आप अरविन्दको षड्यन्त्रकारी मानते हैं तो पत्रोंके कुछ अंशोंको उनके जुर्मके सबूतके रूपमें पढ़ा जा सकता है। पर यदि आप इस प्रकार दोषी मानकर न चलें और उन्हें बेगुनाह मानकर चलें, जो कि आपका कर्तव्य है तो इन अंशोंका निरीह अर्थ भी होता है, विशेषकर जब उनके धार्मिक दृष्टिकोणका ध्यान रखा जाय।"[4] अरविन्द छूट गये, लेकिन उनके भाई बारीन्द्र और उल्लासकर दत्तको फाँसीकी सजा

---

१. शिरोल वही पुस्तक, पृष्ठ ९७

२. 'बंगाल 'एजूकेशन रिपोर्ट' पृष्ठ ४०८-९

३. पृथ्वीशचन्द्र राय 'लाइफ एण्ड टाइम्स आव सी. आर. दास' पृष्ठ ५९

४. वही पुस्तक पृष्ठ ६१

हुई। बादमें हाइकोर्टने इसे घटाकर आजन्म कालापानी कर दिया। उपेन्द्रनाथ बनर्जीको भी आजन्म कालापानी हुआ। दूसरे अभियुक्तोंको भी विभिन्न सजाएँ मिलीं। इन्दुभूषणको दस वर्षकी कैद हुई। इस अलीपुर-षड्यन्त्रकेसमें अधिकतर छात्र और अध्यापक ही पकड़े गये थे। वीरेन्द्रनाथ घोष कुल १७॥ साल के थे, नरेन्द्र बख्शी १८ साल के, विभूतिभूषण सरकार, २० वर्षके, उल्लासकारदत्त २२ के। हाईकोर्टने फैसलेमें कहा कि सम्राट्के विरुद्ध युद्ध छेड़नेके लिए हथियार, बारूद, कारतूस और राजद्रोहका साहित्य इकट्ठा किया गया था। अलीपुर षड्यन्त्रकेसकी शाखाके रूपमें ही नरेन्द्रनाथ गुसाईं हत्याकाण्डका मुकदमा चला। गुसाईं अलीपुर केसका अभियुक्त था और उसने पुलिसको अपने साथियोंके पते दे दिये थे। इस शपथ-खण्डनके लिए केसके दो अभियुक्तों—कन्हाईलाल दत्त व सत्येन्द्रनाथ बसुने तिकड़मसे हथियार जेलमें मँगाकर गुसाईंकी हत्या कर दी। दत्त और बसु दोनोंको फाँसी हुई। जब इन दोनोंके शव सेण्ट्रलजेलसे श्मशान ले जाये जा रहे थे, कालीघाटमें सड़कके दोनों ओर पचास हजार व्यक्ति खड़े थे। "इन राजनीतिक हत्याकारियोंकी शवयात्रापर हुए प्रदर्शनका सरकारपर इतना असर पड़ा कि उस दिनसे राजनीतिक बन्दियोंके फाँसी पानेपर उनकी अन्तिम क्रिया जेलके बाहर करनेपर रोक लग गयी।"[1]

क्रान्तिकारियोंकी गाथासे हटकर, यहाँ संक्षेपमें अण्डमन जीवनकी एक झाँकी दे दी जाय। दो एक उदाहरण ही काफी होंगे। इन्दुभूषण राय बीमार पड़ गये थे। पर दवा देनेकी जगह जेलर बैरीने उन्हें तेलके कोल्हूमें बैलकी जगह जोत दिया। उसी कोल्हूपर सावरकर काम कर रहे थे। "बड़े कष्ट और बड़ी कोशिशके बाद इन्दुभूषण घूम रहे थे। उनका चेहरा पीला पड़ रहा था।" सावरकरने अपना हाल बताकर उन्हें सांत्वना देने और प्रसन्न चित्त करनेकी कोशिश की। पर कुछ हुआ नहीं। "दूसरे दिन इन्दुभूषणको कष्टसे छुटकारा मिल गया। उनकी मृत्यु हो गयी।"[2] उपेन्द्र बनर्जीको भी कोल्हूमें जोता गया। उनका सारा शरीर दुखता था और उनकी मानसिक स्थिति ऐसी हो गयी थी कि समवेदनाका एक शब्द सुनकर वे रो पड़ते थे। उल्लासकर दत्तको बिजलीसे पीड़ा पहुँचायी जाती थी। वे कराहते थे, आर्तनाद करते और ऐसे दर्द भरे स्वरमें चीखते थे कि सुनकर कलेजा मुँहको आता था। उन्हें पागलोंके अस्पतालमें भेजा गया। वहाँसे वे छूट गये।

९ नवम्बरको किसीने प्रफुल्ल चाकीकी मौतका बदला लेनेके लिए उन्हें गिरफ्तार करनेवाले पुलिसके थानेदारको मार डाला। बंगालके जीवनमें राजनीतिक हत्याएँ आयेदिनकी घटनाएँ बन गयी थीं। १० फरवरी १९०९ को अलीपुर केसके सरकारी वकीलको किसीने गोलीसे मार डाला। २४ जनवरीको अलीपुर केसकी अपीलमें मौजूद पुलिसके एक डिप्टी सुपरिटेण्डेण्टको हाईकोर्टसे निकलते वक्त मार डाला गया था। बंगालके लेफ्टिनेण्ट गवर्नर सर एण्ड्रू फ्रेजरकी जानपर ७ नवंबर १९०८ को असफल हमला हो चुका था। जिसे आक्रमणकारी समझा गया उसे १० वर्षकी कड़ी कैदकी सजा मिल चुकी थी। १९०८ में राजनीतिक डकैतियोंके अनेक मुकदमे चल रहे थे। इनमेंसे कुछमें हत्याएँ भी हुई थीं। मई १९०८ से अप्रैल १९०९ तक न जाने कितने बमकाण्ड हुए। नवम्बर १९०८ में तीन गैरसरकारी व्यक्ति मारे गये। यह माना गया कि यह भी क्रान्तिकारियोंका काम है।

१. वही पुस्तक, पृष्ठ ७२
२. कीर, 'सावरकर एण्ड हिज टाइम्स', पृष्ठ ११२

उसी समय पुलिसको बमोंके एक कारखानेका पता चला। "यह अफवाह भी फैल गयी कि वाइसरायको उनके दफ्तरमें ही मारनेका प्रयत्न किया जायगा। सरकारी माल-खानेसे राइफिलें ले जाकर गवर्नमेण्ट हाउसमें मेजों, कुर्सियों वगैरहके नीचे छिपा दी गयीं। वहाँके अमलेको मौकेपर क्या करना चाहिये, यह भी बता दिया गया।"[1] पर हुआ कुछ नहीं।

इस परिस्थितिका सामना करनेके लिए दिसम्बर १९०८ में जाब्ता-फौजदारी कानूनमें संशोधन करनेका बिल पास किया गया। अगली जनवरीमें ढाका अनुशीलन समिति, स्वदेशी बान्धव समिति, व्रती समिति, सुहृद समिति, साधना समिति आदि संघटन गैर कानूनी करार दिये गये।

१९०९ में दस ऐसी राजनीतिक डकैतियाँ पड़ीं जिनमें अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जित होकर २५-३० नवयुवक ढाटा या नकाब बाँधकर या नकली दाढ़ी लगाकर धावा बोलते थे। पुलिसने इस सिलसिलेमें अनेक घरोंकी तलाशी ली और आखिरकार एक घरसे भरे हुए ३५ रिवाल्वर व कारतूस बरामद किये। एक व्यक्तिके पास पोटेशियम साइनाइड नामक घातक विषकी टिकियाँ मिलीं जो सम्भवतः आवश्यकता पड़नेपर आत्महत्या करनेके लिए तैयार की गयी थीं।

यहाँ एक डकैतीका वर्णन कर दिया जाय। ११ अक्तूबरको सात आठ नवयुवक ढाकेमें रेलके एक डिब्बेमें चढ़ आये। उस डिब्बेमें तीन व्यक्ति सात थैलेमें २३०००) लिये बैठे थे। दो पर गोली चली—उनमेंसे एक मर गया। तीसरेको छुरा लगा। नवयुवकोंने थैले डिब्बेके बाहर फेंक दिये और खुद कूदकर भाग गये। बादमें लगभग आधा रुपया मिल गया पर नवयुवकोंमेंसे एकको छोड़कर बाकी हाथ नहीं लगे। इस एकको आजन्म कालेपानीकी सजा मिली। नंगला (जैसोर) की एक डकैतीमें १४ व्यक्तियोंपर सम्राट के विरुद्ध लड़नेके षड्यन्त्रका मुकदमा चला और सबको तीनसे लेकर सात सालतकका कालापानी मिला। १९१० में दो षड्यन्त्र केस चले जिनमें ९० व्यक्तियोंपर सम्राटके विरुद्ध लड़नेके अभियोग लगे। ये हवड़ा और ढाका षड्यन्त्र केस थे। पहलेमें ५० अभियुक्त थे पर छःको डकैतियोंमें अलगसे सजा हो गयी थी इसलिए मुकदमा ४४ पर चला। सात मुकदमे के दौरानमें छोड़ दिये गये। मुकदमा बहुत दिनोंतक चला पर अन्तमें सिर्फ छः को सजा हुई क्योंकि अदालतने दो मुखबिरोंके बयानोंको अविश्वसनीय माना।

पर ढाका षड्यन्त्र केसमें कई बातोंका पता चला। जुलाई १९१० में ४४ व्यक्तियों पर डकैतियाँ डालने और सम्राटके विरुद्ध लड़नेके अभियोगमें मुकदमा चला। इस गुटके नेता पुलिनबिहारी दास थे। ये लोग ढाका अनुशीलनसमितिके सदस्य थे और दो शपथों द्वारा गोपनीयताका वचन दे चुके थे। एक शपथ द्वारा सदस्य संकल्प करते थे कि वे समितिसे कभी पृथक न होंगे, उसके हितोंकी रक्षा करेंगे और अपना चरित्र कलंकहीन रखेंगे समितिके अधिकारियोंके आदेशोंका निष्ठाके साथ पालन करेंगे, व्यायाम व कवायदमें लगनसे भाग लेंगे, आत्मरक्षाकी कला हर उस व्यक्तिसे छिपायेंगे जो समितिका सदस्य नहीं है और देश व अन्ततः विश्वके कल्याणके लिए काम करेंगे। दूसरी शपथमें सदस्य घोषणा करते थे कि वे समितिकी आंतरिक बातें किसीको नहीं बतायेंगे। फैसलेमें जस्टिस मुकर्जीने लिखा था—

---

1. मेरी मिण्टो, वही पुस्तक पृष्ठ २५८

"दलकी अन्तिम शपथ लेनेवाला परिचालकके आदेश (बिना कोई सवाल पूछे) पालन करने, परिचालकको बराबर अपना पता देते रहने, समितिके विरुद्ध षड्यन्त्रोंका पता दलके नेताको देने और उनके आदेशपर उन्हें विफल करने, नेताके आदेशपर कर्तव्यस्थानपर पहुँचने, किसी कामको हेय न समझने, संयम और त्यागकी भावना पैदा करने और आदेशोंको गुप्त रखनेका वचन देता था।" सदस्य सम्बन्धियों और मित्रोंको नेताकी अनुमति बिना पत्र भी नहीं लिख सकते थे। सदस्योंके पास आनेवाले और सदस्यों द्वारा लिखे गये पत्र नेताको दिखाने पड़ते थे। सदस्य अपने परिवार व मित्रोंसे अलग रहनेको बाध्य थे और यदि उन्हें कहीं से रुपया मिल जाता तो वह समितिकी सम्पत्ति माना जाता।" यह शपथ काली माँके समक्ष ली जाती थी। विशेष शपथमें कहा जाता था—"मैं ईश्वर, अग्नि, माँ, गुरु और नेताको साक्षी कर शपथ लेता हूँ कि मैं अपना जीवन संकटमें डालकर केन्द्रका सब काम करूँगा। यदि मैं शपथ पालनमें असफल होऊँ तो ब्राह्मण, माँ और हर देशके महान् देश-भक्तोंका शाप मुझे तत्काल नष्ट कर दे।"

समितिका अपना सुसंगठित कार्यालय था जिसमें सदस्योंके विगत इतिहासतकके रजिस्टर रहते थे। प्रान्तीय संघटनके अधीन जिला, नगर और ग्राम समितियाँ काम करती थीं। समिति और सदस्योंके व्यवहार तथा कार्यके लिए नियम बने थे। अवज्ञाका दण्ड मृत्यु था जो कई बार दिया भी गया था। समितिके निरीक्षक गाँवोंका विवरण तैयार करते थे, जिसके लिए छपे हुए फार्म थे। इन फार्मोंपर सूचना संग्रहके लिए २१ बातें छपी थीं। समितिकी अपनी छपी हुई एक कार्यतालिका भी थी। हर गाँवके विवरणके साथ उस गाँवका नक्शा रहता था जिसमें सड़कें, नदियाँ, नहरें, मकान, बाग आदि बने रहते थे। इससे पता चलता है कि समितिका काम कितनी सूक्ष्मतासे होता था। इस सबका उद्देश्य यह था कि पूरे बंगालको क्षेत्रोंमें बाँट दिया जाय और हर महत्वपूर्ण जगहपर समितिकी शाखा हो। क्रान्तिके लिए धन एकत्र करना था। लेकिन नियमानुसार, डकैतियोंको प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। नियम १० के अनुसार "हिंसात्मक उपायोंसे धनसंग्रह निषिद्ध है।" नियम ११ के अनुसार आयका मुख्य साधन चन्दा था। रूसी क्रान्तिके ढंग और तरीकोंका अध्ययन किया जाता था और उन्हें अपनाया जाता था। गोपनीय पत्रादिके लिए संकेत भाषाका प्रयोग होता था। "ढाका अनुशीलनसमितिके उदाहरण और उपदेशके फलस्वरूप अगले दस वर्षमें अनेकों हत्याएँ, डकैतियाँ व राजनीतिक अपराध हुए।"

ढाका षड्यन्त्र केसमें १५ व्यक्तियोंको दोसे सात सालतककी कड़ी कैदकी सजाएँ मिलीं।

लम्बे मुकदमों और कड़ी सजाओंके बावजूद क्रान्तिकारियोंके कामोंमें शिथिलता नहीं आयी। हर तलाशीमें राजद्रोहका साहित्य मिलता। फरवरी १९१० में एक और प्रेस सम्बन्धी कानून 'भारतीय प्रेस एक्ट' बना। इस कानूनसे सरकारको हर किसी छापेखानेसे जमानत माँगनेका अधिकार मिल गया। "इस कानूनने राजनीतिक साहित्यका प्रकाशन गुप्त छापेखानोंमें पहुँचा दिया।"

१९११ में क्रान्तिकारी ढंगकी १८ घटनाएँ हुईं। २१ जनवरीको सोनारांग नेशनल स्कूल (ढाका) के छात्रों व अध्यापकोंने एक डाकियेसे रुपयोंका थैला छीन लिया। १४ छात्र व अध्यापक गिरफ्तार हुए; सातको कैद या जुर्मानोंकी सजाएँ हुईं। ११ जुलाईको सोना-

रांगमें ही पुलिसके तीन भेदियोंका कत्ल कर दिया गया। इनमेंसे एकने डाकियेवाले मामलेमें पुलिसकी मदद की थी। सोनारांग स्कूल १९०८ में स्थापित हुआ था और इसके पाठ्यक्रममें व्यायाम, लाठी भाँजना, बढ़ईगीरी व लुहारगीरी अनिवार्य विषय थे। १९११ में जो पाँच व्यक्ति मारे गये उनमें तीन सिपाही थे जो राजनीतिक पूछताछ किया करते थे, एक सबूत पक्ष का गवाह था और एक तिन्नेरवेलीका कलक्टर एश था। २ मार्चको काउले नामक अंग्रेजकी मोटरपर १६ वर्षके एक बालकने बम फेंका। यह बम जो फूटा नहीं, असलमें कलकत्तेकी खुफिया पुलिसके अफसर डेनहमके लिए था।

१९१२ में डकैतियों व हत्याओंकी तथा पुलिसद्वारा गोली-बारूद बरामद करनेकी घटनाओंकी भरमार रही। एक मजिस्ट्रेटका पुत्र गिरीन्द्रमोहन दास शस्त्रोंकी बरामदगीके समय गिरफ्तार हुआ। गिरीन्द्रके पास एक बक्समें हथियार और क्रान्तिकारियोंके कागजपत्र बरामद हुए। उसके पिताने सन्दूक खोलकर उसका सामान पुलिसको देनेको कहा था। गिरीन्द्रको डेढ़ सालकी कड़ी कैद हुई। १३ दिसम्बरको पुलिसके एक भेदियेपर बम फेंका गया। "चन्द्रनगरमें ऐसे बम बनते थे और क्रान्तिकारियों द्वारा सारे देशमें बाँटे जाते थे; बम उस भेदियेके घरमें उस कमरेमें फूटा जहाँ वह आम तौरपर सोया करता था। दीवालका एक हिस्सा उड़ गया पर भेदिया बच गया।" उसी महीने वाइसराय लार्ड हार्डिंजके नयी राजधानी दिल्लीमें प्रवेशके समय उनपर एक बम फेंका गया जिससे वे बुरी तरह घायल हो गये और उनका एक कर्मचारी मर गया। बम फेंकनेवालेका पता नहीं चला। बादमें मालूम हुआ कि रासबिहारी बसुने वह बम फेंका था।

२९ सितम्बर १९१३ को कलकत्तेके कालेज स्क्वायरमें झीलके किनारे हेड कान्स्टेबिल हरिपददेवको तीन नौजवानोंने गोलीसे मार डाला। आक्रमणकारी भीड़में खो गये। कोई गिरफ्तारी नहीं हुई, कोई सुराग नहीं मिला। देवको क्रान्तिकारियोंकी एक शाखाका पता लग गया था, इसलिए उसे खत्म कर दिया गया। अगले दिन शामको मैमनसिंहमें पुलिसके एक इंस्पेक्टरको बमसे मार डाला गया। इस इंस्पेक्टरने ढाका समितिका पता लगानेकी बहुत कोशिश की थी। आई. सी. एस.के गौर्डनको मार डालनेकी योजना भी बनायी गयी—पर बमके एकाएक फूट जानेके उसे ले जानेवाला ही मर गया। 'पिक्रिक एसिड' का बना एक घातक बम रानीगंजके थानेमें फेंका गया पर वह फटा नहीं।

१९१३ में दो महत्वपूर्ण मुकदमे चले—बारीसाल षडयंत्र केस और बारीसाल षड्यन्त्र पूरक केस। ३७ व्यक्तियोंपर राजद्रोह और डाके डालनेका अभियोग चलाया गया। इनमेंसे अधिकतर लोग बारीसाल अनुशीलन समितिके सदस्य थे। ढाका समितिकी शाखा होनेके बावजूद इसका अपना सुदृढ़ संघटन था। यह पूर्वी बंगालमें जिले-जिलेमें शाखाएँ स्थापित कर रही थी। "संघटन पूरा और सुव्यवस्थित था। 'सिद्धान्त'का प्रचार छात्रोंमें जोरसे होता था। सदस्य धीरे-धीरे शपथ लेकर अंतरंग गोष्ठीमें आते थे। समितिके अलग-अलग विभाग थे, जैसे शस्त्र विभाग, कर्म विभाग, हिंसा, संघटन, आम विभाग आदि।" जिला संघटन योजनाके अंतर्गत सिद्धान्तमें दीक्षित अध्यापकोंके देश भरमें फैलने और शिक्षा संस्थाओंसे छाँटकर छात्र भरती करनेकी बात थी। बारीसाल षड्यन्त्र केसमें सभी अभियुक्त नौजवान थे; उनकी उम्रें १९ से २९ सालतक थीं। १२ व्यक्तियोंको दो से बारह सालतककी कड़ी कैदकी सजाएँ मिलीं। नवम्बर १९१३ में कलकत्तेके राजाबाजार मुहल्लेमें पुलिसने एक

घरपर छापा मारकर क्रान्तिकारी साहित्य और सिगरेटके टीनोंमें बनाये जाने वाले बम बरामद किये। उस घरमें सोये हुए चार व्यक्ति गिरफ्तार कर लिये गये; बादमें दो व्यक्ति और गिरफ्तार हुए। उस घरमें जो साहित्य मिला उसमें 'साहसी देशभक्तों द्वारा रक्तपात व हत्याओंके रास्ते भारतको स्वतन्त्रता दिलानेका प्रचार था। छहों व्यक्तियोंको सजा हो गयी।

अगस्त १९१४ में कलकत्तेके बन्दूक बनानेके एक कारखाने—रोडा एण्ड कम्पनीका एक बाबू ५० मौजर पिस्तौलों और ४६००० कारतूसोंके एक बक्सके साथ गायब हो गया। बादमें यह सामान विभिन्न क्रान्तिकारी गोष्ठियोंमें बँटा। पुलिसके अनुसार अगस्तके बाद हुए डाके और हत्याकी ५४ घटनाओंमें मौजर पिस्तौलोंका प्रयोग हुआ। जूनमें एक भेदियेको चटगाँवमें बीच बाजारमें गोली मार दी गयी। अगले महीने एक भेदियेको ढाकेमें गोली मार दी गयी। ट्रामसे उतरते हुए एक बड़े तिराहेपर कुछ नौजवानोंने खुफिया पुलिसके एक इंस्पेक्टरको मार डाला। तिराहेकी भीड़में खड़े कुछ पुलिसवालोंने इन नवयुवकोंका पीछा किया। इन पीछा करनेवालोंमें भी एक मार गिराया गया। पुलिसके एक डिप्टी सुपरिण्टेंडेंटके घरके भीतर और बाहर दो बम फूटे। एक हेट कांस्टेबल मर गया; दो सिपाही व सुपरिण्टेंडेंटका एक रिश्तेदार घायल हुआ पर वह खुद बच गया। किन्तु उसपर हमले जारी रहे और १९१६ में वह दिनदहाड़े मार डाला गया। १९१४ में एक हत्या और १४ डाकोंकी रिपोर्ट पुलिसमें हुई।

१९१५ से १९१७ तक पुलिसवालोंकी हत्याओं और डाकोंमें बहुत वृद्धि हुई। दर्जनों क्रान्तिकारी कैद या फाँसी पा गये। जिनके घर डाके पड़ते थे, कभी-कभी उन लोगोंको पत्र मिलते कि आजादी मिलनेके बाद रुपया लौटा दिया जायगा। इस तरहका एक पत्र 'संयुक्त भारतके स्वाधीन राज्यकी बंगाल शाखा'के छपे फार्मपर एक सर्राफको मिला, जिससे ९८९१) छीने गये थे। सर्राफके यहाँ जो गहने बन्धक रखे थे, उन्हें हाथ नहीं लगाया गया किन्तु क्रान्तिकारियोंको बादमें सूचना मिली कि दो आभूषण बन्धक थे, जो लूटमें आ गये हैं। सर्राफको फौरन पत्र लिखा गया कि ये दोनों आभूषण उसे शीघ्र वापस मिल जावँगे।

क्रान्तिकारी दूसरे प्रान्तोंमें भी सक्रिय थे, पर उनका वहाँ उतना जोर नहीं था जितना बंगालमें।

पंजाब

पंजाबमें ब्रिटिश भक्तिकी परम्परा थी। '५७ के विद्रोहमें पंजाबने अंग्रेजोंका साथ दिया था और उन्हें फिरसे भारतपर आधिपत्य जमानेमें सहायता दी थी। ब्रिटेनकी साम्राज्य-विस्तारकी लड़ाइयोंमें पंजाब अपने बेटोंको लड़ने भेजता रहा। १९०७ में यह भक्ति-परम्परा कुछ डाँवाडोल-सी हो उठी और अधिकारियोंको चिन्ता होने लगी। कुछ छिट-फुट असफल कोशिशें फौजमें बगावत पैदा करनेके लिए की गयी थीं। ये विद्रोहकी आम भावनाका वातावरण पैदा करनेकी योजनाका अंग थीं। ५ मार्च १९०७ को लार्ड मिण्टोने भारत सचिवको पत्र लिखा कि "राजद्रोहियोंका प्रभाव निस्सन्देह बढ़ रहा है और मुझे डर है कि पंजाबमें उसका काफी असर हो रहा है। मरदानके फौजी अड्डेमें देशी फौजको सम्बोधन करते हुए एक पर्चा बाँटनेकी खबर मैंने आज सुनी। इस पर्चेमें बताया गया है कि अंग्रेजी राज उखाड़ फेंकना कितना आसान है। देशी फौजपर कुप्रभाव डालनेकी चेष्टाकी

यह पहली साधिकार सूचना मुझे मिली है। यह पर्चा कुछ ऐसे देशी लोगोंका भेजा हुआ है जो अब अमेरिकामें हैं।"[1]

अप्रैलमें अंग्रेज विरोधी उत्तेजना इतनी बढ़ी कि अधिकारियोंको सन ५७ की ५० वीं वर्षगाँठपर विद्रोहकी पुनरावृत्तिकी आशंका होने लगी। शहरों और कस्बोंमें—विशेषकर लाहौर, अमृतसर, रावलपिण्डी, फीरोजपुर व मुलतानमें अनेक सभाएँ हुईं। वकीलों, अध्यापकों और दूसरे शिक्षित वर्गोंसे वक्ता अपने आप पैदा होने लगे और खुले आम, निडर होकर अपनी भावनाओंको व्यक्त करने लगे। इसके लिए ये जेल भी गये। सैकड़ों लोग पकड़े गये। वाइसरायने भारत सचिवको तार दिया जिसमें परिस्थितिका वर्णन इस प्रकार किया गया था—तीन दिन पहले मुझे इबटसन (पंजाबके गवर्नर) से पंजाबकी वर्तमान राजनीतिक परिस्थितिके सम्बन्धमें एक आवश्यक और महत्वपूर्ण रिपोर्ट मिली।......उनके वर्णनसे आशंका उत्पन्न होती है। चारों तरफ उग्रदली लोग खुलेआम बराबर राजद्रोहका प्रचार कर रहे हैं—समाचारपत्रोंमें भी और बड़ी बड़ी सार्वजनिक सभाओंमें भी।...राजद्रोहके इस आन्दोलनके दो रूप हैं। लाहौर अमृतसर, पिण्डी, फीरोजपुर, मुलतान व दूसरे शहरोंमें...ने खुलेआम ऊँचे अफसरोंकी हत्याका सुझाव दिया है और उसने व दूसरोंने जनतासे विद्रोह कर अंग्रेजोंपर हमला बोल देने और आजाद हो जानेकी सलाह दी है। देहातोंमें किसानों व छोटे जमींदारोंपर प्रभाव डालनेकी बाकायदा कोशिश हो रही है; और इन्हीं लोगोंमेंसे फौजके सिपाही मिलते हैं। विशेष ध्यान सिखों और पेंशन-याफ्ता फौजियोंपर दिया जा रहा है। सिखोंके गाँवोंमें बगावतके पर्चे बँट रहे हैं; और फिरोजपुरमें एक सार्वजनिक सभामें सिख रेजिमेण्टको बुलाया गया था, सैकड़ों मौजूद भी थे जब खुलेआम बगावतका प्रचार किया गया। सिखोंसे कहा जा रहा है कि उन्होंने गदरमें हमारी मदद की और अब हम उनके साथ बुरा व्यवहार कर रहे हैं। उनसे कहा जा रहा है कि आजादीकी लड़ाईमें देशके साथ दगा करनेका यही नतीजा उन्हें मिल रहा है। कहा जा रहा है कि हम कपास और गन्नेके उद्योगोंको कुचल देना चाहते हैं, कहा जा रहा है कि हमने जनताका रुपया लेकर उसे कागज थमा दिया है। गाँववालोंसे पूछा जाता है कि हमारे चले जानेके बाद उन नोटोंको कौन भुनायगा? लोगोंसे कहा जाता है कि वे लगान, सिंचाई आदिके कर सरकारको न दें, जब सरकारी अफसर दौरेपर आयें तो उन्हें रसद, गाड़ी आदि न दें। देशद्रोही कहकर देशी सिपाहियों व पुलिसवालोंकी खिल्ली उड़ायी जाती है और उनसे सरकारी नौकरी छोड़नेकी कसमें ली जाती हैं।"[2]

वाइसरायने लिखा कि यह प्रचार आर्य समाजकी एक गुप्त समिति द्वारा किया जा रहा है; समाज धार्मिक संस्था है पर "पंजाबमें उसमें प्रबल राजनीतिक प्रवृत्ति" भी है। उनका खयाल था कि इस पूरे आन्दोलनका केन्द्र और नेतृत्व लाजपतरायमें निहित है और उनका प्रमुख अनुचर अजितसिंह है जो राजद्रोह फैलाता घूमता है। "अजितसिंह पहले एक स्कूलमें मास्टर था और पार साल कथित रूसी जासूस लेकेने उसे नौकर रखा था।"[3]

---

१. मेरी मिण्टो, 'इण्डिया, मिण्टो एण्ड मॉर्ले' पृष्ठ १२२

२. मेरी मिण्टो, वही पुस्तक पृष्ठ १२४-२५

३. मेरी मिण्टो, वही पुस्तक पृष्ठ १२५

९ मईको लाजपतराय गिरफ्तार कर लिये गये, और उनके कुछ दिन बाद अजित सिंह भी पकड़ लिये गये। दोनों माण्डले भेज दिये गये और हालां कि वे एक ही घरमें बन्द थे, उन्हें एक दूसरेके बारेमें मालूम न था।

देशमें उस समय जो वातावरण था, वह तो था ही, पंजाबमें खास तौरपर उत्तेजनाका कारण पंजाबमें बस्ती बसानेका बिल और वहाँ कई जगह फैली प्लेगकी रोकथाममें अफसरोंकी ज्यादती थी। यह बिल चनाब नहरके इलाकेमें भूमि प्रबन्धमें परिवर्तन करनेके लिए था। साथ ही बरी दुआबेमें सिंचाईकी दर बढ़ानेकी भी बात थी। हालां कि वाइसरायकी अस्वीकृतिके कारण बिल पास नहीं हुआ, देहाती लोगोंने सरकारके विरुद्ध वैर-भाव नहीं छोड़ा। इन दोनों इलाकोंके गाँवोंमें सार्वजनिक सभाएँ कर ब्रिटिश विरोधी भावना फैलायी गयी। एक अखबारके मालिक और सम्पादकको सजा देनेपर दंगा हो गया। दो जगह अंग्रेजोंका अपमान किया गया। उत्तरी पश्चिमी रेलवेके उस हिस्सेमें जो चनाब नहरके इलाकेमें था, नीचेके अमलेने हड़ताल कर दी। लाहौरमें ब्रिटिश विरोधी प्रचार उग्र हो उठा और गम्भीर अशान्तिकी स्थिति पैदा हो गयी।

लाजपतराय और अजितसिंह छः महीनेके बाद छोड़ दिये गये। अजितसिंह ईरान निकल गये। उनके भाई और लालचन्द फलक नामक एक व्यक्ति अभक्ति प्रचारके अभियोग में जेल भेज दिये गये।

लेकिन पंजाबमें आतंकवादी कारवाई १९१३ में शुरू हुई। १७ मईको लाहौरके लारेंस गार्डनके रास्तेमें एक बम रख दिया गया। इरादा उधरसे गुजरनेवाले अंग्रेजोंको मारने का था पर एक भारतीय अरदलीकी साइकिलके नीचे बम आ गया और अरदली मर गया। इस तथा कुछ अन्य घटनाओंके कारण कुछ लोगों पर लम्बा मुकदमा चला और अमीरचन्द, अवधविहारी, बालमुकुन्द व वसन्तकुमार विस्वासको फाँसी दे दी गयी।

बम्बई

बम्बईमें पहले १८९७ में राजनीतिक हत्याएँ हुई थीं, वहाँ क्रान्तिकारी आन्दोलनका श्रीगणेश १९०९ में 'लघु अभिनव भारत मेला' नामक पुस्तकमें कुछ विद्रोही कविताएँ छपनेसे हुआ। वे कविताएँ विनायक दामोदर सावरकरके भाई गणेश दामोदर सावरकरकी लिखी हुई थीं और उन्हें इनके लिए आजन्म कालेपानीकी सजा हुई। हाईकोर्टने सजा बहाल रखते हुए कहा—"लेखकका मुख्य उद्देश्य शिवाजी जैसे योद्धाओं और हिन्दुओंके कुछ देवताओंके नाममें वर्तमान सरकारके विरुद्ध लड़ाईका प्रचार करना है। ये नाम इस असली बातके कहनेका बहाना हैं कि 'तलवार सम्हालो और इस सरकारको नष्ट कर दो क्योंकि यह विदेशी और अत्याचारी है।' लेखकका उद्देश्य और इरादा जाननेके लिए भगवद्‌गीतासे लिये गये विचारों और भावनाओंको व्याख्यामें ले आना अनावश्यक है।"

लेकिन गणेश आतंकवादी आन्दोलनके संघटनमें लगे थे। उनके भाई विनायक सावरकरने फरवरी १९०९ में पेरिससे २० ऑटोमेटिक पिस्तौलें और उनके कारतूस हस्तगत किये थे। यह सामान "इण्डिया हाउसके रसोइये चतुर्भुज अमीनके एक बक्सके नकली पेंदेमें छिपा हुआ आ रहा था।" अमीन गणेशकी गिरफ्तारीके एक हफ्ते बाद ६ मार्चको बम्बई पहुँचे। गणेशको मालूम था कि सामान आ रहा है और अपनी गिरफ्तारीके दो चार दिन पहले अपने एक दोस्तसे इसका जिक्र भी किया था। पिस्तौलोंके आनेके चार दिन पहले

गणेशके मकानकी तलाशी ली गयी और उनके कागजोंमें अंग्रेजीमें ६० पन्नोंमें टाइप की हुई बम बनानेकी क्रिया बतानेवाली किताब मिली। ऐसी ही किताब कलकत्तेके मानिकतला मुहल्लेमें मिली थी; पर गणेशकी प्रति अधिक पूर्ण थी। इसमें बमों, सुरंगों और इमारतोंके ४५ नक्शे भी थे।

दिसम्बर १९०९ में गणेशके साथियोंने नासिकके जिला मजिस्ट्रेट जेक्सनकी हत्याकी योजना बनायी। जेक्सनने ही गणेशपर मुकदमा चलाया था। यह योजना औरंगाबादके एक नौजवानने पूरी की और जेक्सन अपने सम्मानमें मिले एक विदा भोजमें गोलीसे मार डाले गये। जिस पिस्तौलसे जैक्सन मारे गये, पुलिसने उसे वही ब्राउनिंग ऑटोमेटिक बताया जो विनायक सावरकरने लन्दनसे भेजा था। सात व्यक्ति—सातों चित्पावन ब्राह्मण थे—मुकदमेमें फँसे और तीनको फाँसी दे दी गयी। जैक्सनकी हत्याके बाद सरकार सक्रिय हुई। कई तलाशियाँ हुईं; कई लोग गिरफ्तार हुए; नासिक षड्यन्त्रकेस चला। ३८ व्यक्तियोंपर, उनमेंसे एकको छोड़कर शेष सभी ब्राह्मण, अधिकतर चित्पावन ब्राह्मण थे, मुकदमा चला। २७ को विभिन्न अवधियोंकी कैदकी सजाएँ मिलीं।

नासिकसे ग्वालियरमें नव-भारत समितिके अस्तित्वका पता लगा। इसीके परिणामस्वरूप ग्वालियर षड्यन्त्र केस चल पड़ा जिसकी सुनवाईके लिए विशेष ट्रिब्यूनल बैठाया गया। ४१ व्यक्तियोंपर, जो सभी ब्राह्मण थे, मुकदमा चला। इनमेंसे २२ 'नवभारत समिति'के सदस्य थे और शेष 'अभिनव भारत'के। ग्वालियर समितिका नियम ४ इस प्रकार था—"स्वाधीनता, शिक्षा और आन्दोलनके उपदेश पूरे करनेके दो रास्ते हैं। शिक्षामें स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा, शराब आदिका त्याग, धार्मिक उत्सव, भाषण, पुस्तकालय आदि शामिल हैं और आन्दोलनमें बन्दूक पिस्तौलका निशाना साधना, तलवार भाँजना, बम व डाइनामाइट तैयार करना, रिवाल्वर प्राप्त करना और हथियारोंका प्रयोग सिखाना है। उपयुक्त समयपर किसी प्रान्तमें व्यापक विद्रोह होनेके अवसरपर, सभीको सहयोग देकर स्वाधीनता प्राप्त करनी है। हमें पूरा विश्वास है कि हमारा आर्य देश स्वाधीनता प्राप्त करनेके योग्य है।" नवभारत समिति अपनी तैयारियोंमें ही लगी थी कि उसके अधिकांश सदस्य ग्वालियर षड्यन्त्र केसमें पकड़ लिये गये और विभिन्न अवधियोंके लिए जेलोंमें बन्द कर दिये गये।

मेरी मिण्टोके अनुसार अहमदाबाद भी "अशान्तिका केन्द्र था"; और यह अशान्ति वाइसरायपर फेंके गये दो बमोंमें परिलक्षित हुई। लार्ड मिण्टो सपत्नीक दक्षिण और पश्चिम भारतका दौरा कर रहे थे। अहमदाबादमें उनकी पत्नीको लगा कि "स्टेशनपर मौजूद भीड़ उदास है और उसमें उत्साह नहीं है।" वाइसरायको देखने आये दर्शकोंमें एक छोटा लड़का भी था जो दोनों हाथोंमें एक एक शलजमके बराबर सफेद गेंद लिये हुए था। वह उन्हें इस तरह खुलेआम लिये हुए था कि किसीको सन्देह भी नहीं हुआ कि ये बम हैं। लड़केने तेजीसे एक हाथ घुमाकर बम फेंका, जो रेतीली सड़कपर गिरा। दूसरा बम फेंका, वह भी नहीं फूटा और निशानेसे दूर गिरा। लेकिन वाइसरायके चले जानेके बाद ही पता चला कि वे गेंदें बम थीं। एक भिश्तीने उन्हें उठाया और उसका दाहिना हाथ उड़ गया।

अभिनव भारतकी एक शाखा सतारामें भी थी। १९१० में पुलिसने इसका पता लगाया और बहुतसे नौजवानोंको, जो सभी ब्राह्मण थे, पकड़ लिया। उन्हें विभिन्न दण्ड मिले।

जिन और प्रान्तोंमें क्रान्तिकारी सक्रिय थे, वे ये संयुक्त प्रान्त, बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रान्त व मद्रास। यहाँ प्रेरणा और नेतृत्व बंगालसे मिला था और क्रान्तिकारियोंका यहाँका काम बंगाल व पंजाबकी छाया मात्र था।

संयुक्त प्रान्तमें, १९०७ में शान्तिनारायण द्वारा इलाहाबादमें 'स्वराज्य' पत्र निकलनेके साथ क्रान्तिकारी राजनीति शुरू-हुई। पत्र लाजपतराय व अजितसिंहके माण्डलेकी नजरबन्दीसे रिहाईकी यादगारमें निकाला गया था। सरकारने इस पत्रको बहुत खतरनाक माना और उसके एक लेखको खुदीराम बोसकी प्रशंसा माना गया (खुदीरामके भ्रमसे श्रीमती व कुमारी केनेडीको मृत्यु हुई थी)। उसके कुछ लेखोंको हिंसाका प्रचार माना गया और शान्ति-नारायणको कैद हो गयी। उनके बाद आनेवाले दो सम्पादकोंको भी कैद हुई। १९१० में नये प्रेस कानून द्वारा मिले विशेष अधिकारोंसे सरकारने 'स्वराज्य' बन्द कर दिया। एक अन्य पत्र 'कर्मयोगी' भी इसी तरह बन्द कर दिया गया।

१९०८ में शचीन्द्रनाथ सान्यालने बनारसमें अनुशीलन समिति नामक एक गोष्ठी स्थापित की। इसके सदस्योंपर बादमें बनारस षड्यन्त्र केसमें मुकदमा चला। जब समितिके खिलाफ कानूनी काररवाई होने लगी, इसका नाम बदल कर 'यंग मेंस एसोसिएशन' कर दिया गया। सान्याल स्वयं छात्र थे और उनके ज्यादातर साथी भी पढ़ रहे थे। इस समितिमें भी धर्म राजनीतिसे सम्बद्ध हो गया और राजनीतिक हत्याओंके लिए गीताके उद्धरणोंसे औचित्य ढूँढ़ा गया। समिति धीरे-धीरे क्रान्तिकारी दलमें परिवर्तित हो रही थी। १९१४ के शुरूमें लाहौर षड्यन्त्र केसके अभियुक्त राशबिहारी बसु बनारस आये और आन्दोलनका नेतृत्व करने लगे। उनके खिलाफ वारण्ट था और उनकी गिरफ्तारीपर इनाम था। उनका चित्र व्यापक रूपसे बाँटा जा चुका था। लेकिन वे लगभग एक सालतक बनारसमें रहे और पुलिसकी निगाहसे बचे रहे। बम बनाये गये, लेकिन ज्यादातर वे विशेष दूतों द्वारा बंगालसे मँगाकर इलाहाबाद, मेरठ, लाहौर, जबलपुर आदिमें वितरित किये गये। बसुके सहकारी विष्णु गणेश पिंगलेको बम ले जाते हुए मेरठमें पकड़ा गया। यह २३ मार्चको हुआ। पिंगले १२ वीं भारतीय कैवलरीकी छावनीमें एक बक्समें दस बम लिये जा रहे थे जो "आधी रेजिमेण्टको उड़ा देनेके लिए काफी थे।" पिंगलेपर बादमें लाहौर षड्यन्त्र केसमें मुकदमा चला और उन्हें फाँसी हो गयी। २१ फरवरी सन् १९१५ को निश्चित हुए विद्रोहके पंजाब पुलिसकी काररवाईसे असफल हो जानेके बाद बनारस समितिके सदस्योंका पता भी पुलिसको लग गया और उनपर मुकदमा चला। बनारस षड्यन्त्र केसमें १० व्यक्तियोंको लम्बी लम्बी सजाएँ हुईं। शचीन्द्रनाथ सान्यालको आजन्म कालापानी मिला। कुछ दिनों बाद नवीं भोपाल इनफैण्टरीके भूतपूर्व हवलदार हरनामसिंहको क्रान्तिकारी पुस्तिकाएँ बाँटनेके अभियोगमें दस वर्षकी कैद हुई।

फरवरी क्रान्तिके लिए मध्यप्रान्तमें भी कुछ तैयारियाँ हुईं। आन्दोलन चलानेके लिए राशबिहारी बसुने नलिनीमोहन मुखर्जीको नियत किया था (जो बादमें बनारस षड्-यन्त्र केसमें अभियुक्त हुए)। वे सफल नहीं हुए। प्रयत्न जारी रहे पर कोई ठोस नतीजे नहीं निकले।

बिहार व उड़ीसाकी राजधानी बाँकीपुरमें शचीन्द्र सान्यालने बंकिमचन्द्र मित्रकी सहायतासे अनुशीलन समितिकी शाखा स्थापित की पर विशेष सफलता नहीं मिली।

अप्रैल १९०७ में विपिनचन्द्र पाल मद्रास गये थे और वहाँ कई व्याख्यान दिये जिनसे लोग ब्रिटिश-विरोधी हुए थे। उनकी यात्राके बाद ही वहाँ "राजद्रोहात्मक कारर-वाइयोंकी बाढ़-सी आ गयी और उसी साल रूसी गुप्त संस्थाओंके संघटन सम्बन्धी पुस्तिकाएँ बाँटी गयीं। निर्माण-विभागके कारखानेके कुछ छात्रोंके पास तलाशीमें ये पुस्तिकाएँ बरामद हुई थीं। तिन्नेवलीमें स्वराज्यके लिए तैयारी करनेकी अपील करते हुए सुब्रह्मण्य शिव व चिदाम्बरम् पिल्लैने भाषण किये। १२ मार्च १९०८ को वे गिरफ्तार कर लिये गये और दूसरे दिन तिन्नेवलीमें भीषण दंगा हो गया। "इस दंगेमें सरकारी सम्पत्ति जान बूझकर व्यापकरूपसे नष्ट कर दी गयी। सब-रजिस्ट्रारके दफ्तरको छोड़कर शेष सभी सरकारी इमारतोंपर हमले हुए। वहाँके फर्नीचर और कागजात जला डाले गये। इमारतोंके कुछ हिस्से भी जल गये। म्युनिसिपल दफ्तर जलकर राख हो गया। २७ व्यक्तियोंपर मुक-दमा चला और उन्हें दंगेमें भाग लेनेके अभियोगमें सजाएँ मिलीं।

१७ जून १९११ को तिन्नेवलीके जिला मजिस्ट्रेटको गोली मार दी गयी जब वे रेलके एक डिब्बेमें बैठे थे। गोली वंची ऐयरने मारी थी। उन्हें फाँसी हो गयी। नौ अन्य व्यक्तियोंको सजाएँ हुईं। इस हत्याके पहलेसे ही मद्रासमें क्रान्तिकारी आन्दोलन चलानेकी तैयारियाँ हो रही थीं। विद्रोहका साहित्य छापकर बाँटा जा रहा था। नीलकण्ठ ब्रह्मचारी और शंकर कृष्ण ऐयर "राजद्रोह व स्वदेशीका प्रचार करते हुए और प्रान्तके लोगोंसे स्वराज्यप्राप्तिके लिए संघकी रक्तशपथ लेनेको कहते हुए" घूम रहे थे। आन्दोलन जोर पकड़ रहा था और बीसियों नौजवान उसमें शामिल हो रहे थे। पर सरकारको षड्यन्त्रका पता जल्दी ही लग गया और वह उसे छिन्न-भिन्न करनेमें सफल हो गयी।

अध्याय १३

दक्षिणी अफ्रीकाका सत्याग्रह

अब भारतीय रंगमंचपर मोहनदास कर्मचन्द गान्धीका आविर्भाव हुआ। गान्धीजीसे राष्ट्रका प्रथम परिचय राजनीतिक व सामाजिक कार्यकर्ताके रूपमें १८९६ में हुआ। उस वर्ष वे एक विशेष उद्देश्य लेकर दक्षिणी अफ्रीकासे भारत आये थे। वहाँ वे उपनिवेश सरकारके विरुद्ध अहिंसात्मक ढंगसे संघर्ष कर रहे थे।

दक्षिणी अफ्रीकाके भारतीयोंकी कहानी संक्षेपमें इस प्रकार है।

१८६० में दक्षिणी अफ्रीकामें बसनेवाले यूरोपीयोंने भारत सरकारसे भारतीय मजदूर भेजनेके बारेमें बातचीत शुरू की। "भारत सरकारने यह प्रार्थना स्वीकार कर ली और भारतसे प्रतिज्ञाबद्ध (Indentured) मजदूरोंका पहला जत्था नेटालमें १६ नवम्बर सन् १८६० को पहुँचा।"[1] यह व्यवस्था अर्धगुलामीकी थी, क्योंकि बिना प्रतिज्ञापत्रकी अवधि समाप्त हुए, मजदूर मालिकोंकी गुलामीकी सेवासे मुक्त नहीं हो सकते थे। वे पीटे जाते और उनके साथ दुर्व्यवहार होता परन्तु वे नौकरीसे छुटकारा प्राप्त नहीं कर सकते थे। पट्टेकी समाप्तिपर ये मजदूर प्रवासी यूरोपीयोंके लिए एक समस्या बन गये। आजाद होने पर वे स्वतन्त्र रूपसे व्यापार करने लगे और यूरोपीय उनको अपना व्यापारिक प्रतिद्वन्द्वी समझने लगे। नेटाल सरकारने इन 'स्वतन्त्र' भारतीय मजदूरोंसे छुटकारा पानेकी एक तरकीब सोची। सरकारने पट्टेसे मुक्त प्रत्येक भारतीयपर २५ पौण्ड सालानाका (Poll-tax) लगानेका प्रस्ताव रखा। भारतके गवर्नर जनरलके हस्तक्षेप करने पर यह कर घटाकर ३ पौण्ड कर दिया गया। भारतीयोंने इस करके विरोधमें एक शक्तिशाली उद्वेलन खड़ा किया जो निष्फल रहा। १८९३ में गान्धीजी एक मुकदमेंके सम्बन्धमें दक्षिणी अफ्रीका गये हुए थे। भारतीयोंको और अधिक तंग और परेशान करनेके लिए नेटाल सरकारने विधान सभामें भारतीयोंका मताधिकार छीननेका विधेयक पेश किया। गाँधीजीने सलाह दी कि भारतीयोंको अपने अधिकारोंपर हुए इस आक्रमणका डटकर सामना करना चाहिये। वे इससे सहमत हो गये और उन्होंने गान्धीजीसे इस आन्दोलनका नेतृत्व ग्रहण करनेकी प्रार्थना की। आन्दोलन शुरू हुआ और एक महीनेके अन्दर ही उपनिवेश सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर कॉलोनीज) लार्ड रिपनके सामने पेश होनेवाले स्मृतिपत्रपर दस हजार (१०,०००) हस्ताक्षर हो गये। दक्षिणी अफ्रीकाके भारतीयोंका इस प्रकारके आन्दोलनका यह प्रथम अनुभव था और पूरे समाजमें उत्साहकी एक नयी उमंग भर गयी।"

इस आन्दोलनका तात्कालिक प्रभाव हुआ। "लार्ड रिपनने बिलको निषिद्ध कर दिया और घोषणा की कि अंग्रेजी साम्राज्यविधानमें रंग-भेद को कोई स्थान नहीं दिया जा सकता"[2] परन्तु नेटाल सरकारने एक दूसरे संदिग्धार्थ विधेयक द्वारा अप्रत्यक्ष रूपमें वे अधिकार प्राप्त

१. एम० के० गान्धी-सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका पृष्ठ २८

२. वही पुस्तक पृष्ठ ५०

कर लिये जो उसने इसके पूर्व विधान सभामें विधेयक पेश करके हासिल करने चाहे थे और जिसका रिपनने निषेध कर दिया था। भारतीय मताधिकारसे वंचित कर दिये गये। भारतीयों-का उद्वेलन जन्म ले चुका था और मई १८९४ में नेटाल भारतीय कांग्रेसकी स्थापना हुई। यह स्मरणीय है कि इसका नामकरण कांग्रेसके ऊपर ही हुआ। गान्धीजी लिखते हैं—"मैंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस. (इण्डियन नेशनल कांग्रेस) के किसी भी अधिवेशनमें भाग नहीं लिया था परन्तु कांग्रेसके बारेमें पढ़ा था। मैंने भारतके पितामह (ग्राण्ड ओल्ड मैन) दादा भाई नौरोजीको देखा था और मैं उनका प्रशंसक था। मैं कांग्रेसका भक्त था और इसके नामको फैलाना चाहता था। मैं अनुभवहीन था और मैंने कोई नया नाम ढूँढ़नेकी चेष्टा नहीं की। इसलिए मैंने नेटालके भारतीयोंको अपने संघटनका नाम नेटाल भारतीय कांग्रेस (Natal Indian Congress) रखनेकी सलाह दी। मैंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (इण्डियन नेशनल कांग्रेस) के बारेमें अपना सीमित और अपूर्ण ज्ञान उनके सामने रखा।"[१]

वे सन १८९६ के मध्य में भारत लौट आये। दक्षिण अफ्रीकामें शुरू किये हुए काम-के बारेमें गान्धीजी लिखते हैं "जब मैं भारतमें था, मैंने दक्षिणी अफ्रीकाके भारतीयोंकी दशाके बारेमें एक पुस्तिका लिखी थी। लगभग सभी पत्रोंमें इसका जिक्र हुआ था और इसके दो संस्करण निकले थे। भारतके विभिन्न भागोंमें इस पुस्तिकाकी पाँच हजार प्रतियाँ बाँटी गयीं। इसी कालमें सर फीरोजशाह मेहता, न्यायाधीश बदरुद्दीन तैयबजी व महादेव गोविंद रानाडे जैसे भारतीय नेताओंसे बम्बईमें और लोकमान्य तिलक और उनके साथी, प्रोफेसर भंडारकर, गोपालकृष्ण गोखले व उनके साथियोंसे पूनामें मिलनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैंने बम्बई, पूना और मद्रासमें भाषण किये।"[२] गान्धीजीके दक्षिणी अफ्रीकाके सत्याग्रहमें दिये गये विवरणसे भी हमें तिलक-गोखले राजनीतिका एक चित्र मिलता है। गान्धीजी पहिले तिलकसे मिले। तिलकने उन्हें बताया कि "पूनामें दो दल हैं। एकका प्रतिनिधित्व सार्वजनिक सभा करती है और दूसरेका दक्षिण सभा (Deccan sabha)।" "सार्वजनिक सभा श्री लोकमान्य तिलकके नियन्त्रणमें थी जब कि श्री गोखलेका सम्बन्ध दक्षिण सभासे था।"

जब गान्धीजीने तिलकसे पूनामें एक सभा करनेके बारेमें बातचीत की, तो तिलकने कहा "यहाँ पर सभा करना आसान है। लेकिन मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि तुम अपनी बात सभी पार्टियोंके सामने रखना चाहते हो और सभीका समर्थन चाहते हो। मैं तुम्हारा विचार पसन्द करता हूँ। परन्तु यदि सार्वजनिक सभाका कोई सदस्य मीटिंगकी अध्यक्षताके लिए चुना जाता है तो दक्षिण सभाका एक भी सदस्य सभामें भाग नहीं लेगा। इसी प्रकार यदि दक्षिण सभाका आदमी सभापतित्व करेगा तो सार्वजनिक सभाके लोग सभामें नहीं आयेंगे। इसलिए तुम सभापतित्वके लिए ऐसा आदमी ढूँढ़ लो जिसका किसी पार्टी विशेषसे सम्बन्ध न हो"[३] गोखले और तिलक दोनोंकी सम्मतिसे निष्पक्ष व्यक्ति प्रोफेसर भण्डारकर इस पदके लिए चुने गये और एक सफल सभा हुई जिसमें दक्षिण अफ्रीकाके भारतीयोंकी दीन दशाका वर्णन किया गया।

---

१. वही पुस्तक, पृष्ठ ७४-७५

२. वही पुस्तक, पृष्ठ ८१-८२

३. वही पुस्तक, पृष्ठ ८३

इसके बाद गान्धीजी मद्रास व कलकत्ता गये, वहाँके मुख्य नेताओंसे मिले और अपने उद्देश्यके लिए उनका समर्थन प्राप्त किया। जब वे अपने कामसे भारतमें व्यस्त थे, नेटालसे उनको समुद्री तार द्वारा तुरत वापस लौटनेका अनुरोध मिला। भारतमें उनके उद्वेलनको नेटालके अखबारोंमें काफी प्रसिद्धि मिली। इस प्रसिद्धिसे नेटालके यूरोपीय समाजका जल्दी उत्तेजनामें आ जानेवाला वर्ग बहुत क्रुद्ध हो गया। जब गान्धीजी नेटाल पहुँचे तो इन लोगोंने क़ानून अपने हाथमें लेकर गान्धीजीको जिन्दा जला देनेका प्रयत्न किया। जब गान्धीजी एक एडवोकेट लॉफ्टनके साथ डरबन जा रहे थे, कुछ यूरोपीय नौजवानोंने उनको देख लिया और 'गान्धी-गान्धी' चिल्लाने लगे। फौरन ही क्रुद्ध यूरोपीयोंकी एक भीड़ जमा हो गयी जो बढ़ती ही गयी। किसीने लॉफ्टनको पकड़कर गान्धीजीसे अलग कर दिया। उसके बाद भीड़ने गान्धीजी पर ईंटों-पत्थरों और सड़े अंडोंकी बौछार शुरू कर दी। किसीने उनकी पगड़ी छीन ली, जब कि दूसरे लोग उनको ठोकरों और घूँसोंसे मार रहे थे। वे बेहोश हो गये और सहारेके लिए उन्होंने एक मकानके लोहेके छज्जेको पकड़ लिया। फिर भी यूरोपीय उनपर झपटे और घूँसे और ठोकरें मारते रहे। सौभाग्यवश पुलिस सुपरिंटेंडेंटकी बीबी जो गान्धीजीको पहचानती थी, उस समय वहाँसे गुजर रही थी। वह वहाँ पर आयी और अपना छाता खोलकर गान्धीजी और भीड़के बीचमें खड़ी हो गयी। इस कार्यने भीड़की उत्तेजनाको रोक दिया। फिर उनको पुलिसके संरक्षणमें उस मकानतक पहुँचा दिया गया, जहाँ उनको ठहरना था।

उनके यहाँ पहुँचनेके बाद ही यूरोपीयोंकी एक भीड़ घरके सामने इकट्ठा हो गयी। पुलिस सुपरिंटेण्डेण्ट एलेक्जेंडरको जो वहाँ पुलिसके एक जत्थेके साथ पहुँच गये थे, गान्धीजीका जीवन बचानेका एक उपाय सूझ गया। उन्होंने गान्धीजीको एक कॉन्स्टेबिलकी वरदी पहननेकी सलाह दी। गान्धीजीने ऐसा ही किया। गान्धीजी इस उपायसे घरसे बाहर निकल गये और जबतक वे सुरक्षित स्थानपर नहीं पहुँच गये एलेक्जेण्डर एक गाना गाकर भीड़का मनोरंजन करते रहे। गानेका आशय यह था—गान्धीको खट्टे सेबके पेड़पर लटकाकर फाँसी दे दो।

इससे पूर्व भी दक्षिणी अफ्रिकामें कई अवसरोंपर गान्धीजीका इसी प्रकार अपमान किया गया था।

बादमें कांग्रेसकी लंदन स्थित अंग्रेजी समिति (ब्रिटिश कमेटी आफ कांग्रेस, लन्दन) ने दक्षिणी अफ्रीकाके भारतीयोंके मसलेको अपने हाथमें ले लिया। नेटाल कांग्रेसने अंग्रेजी समितिसे मसलेको उठानेका अनुरोध किया था।

१८९४ से कांग्रेसने दक्षिणी अफ्रीकाके भारतीयोंके प्रश्नपर ध्यान देना शुरू कर दिया था। उसी वर्ष कांग्रेसने एक प्रस्ताव द्वारा सम्राज्ञीकी सरकारसे प्रार्थना की थी कि वह दक्षिणी अफ्रीकाके उपनिवेशोंमें बसनेवाली सम्राज्ञीकी भारतीय प्रजाको मताधिकारसे वंचित करनेवाले नेटाल सरकारके विधेयकका निषेध कर दे।

१८९५ में फिर कांग्रेसके सम्मुख यह प्रश्न आया और अधिवेशनमें इस प्रश्नपर काफी बहस हुई। जी. परमेश्वरम् पिल्लैने दक्षिणी अफ्रीकाकी सरकार द्वारा भारतीयोंपर लागू किये गये एक एक अयोग्यता प्रतिबन्धको गिनाया। जे. एम. सामन्तने एलान किया कि दक्षिणी अफ्रीकाके भारतीयोंको मताधिकारसे वंचित करनेवाला ऐक्ट (Act) पूरे

राष्ट्रका अपमान है। दूसरे वर्षके अधिवेशनमें श्री पिल्लैने ज्यादा स्पष्टतासे भाषण किया। उन्होंने कहा "दक्षिणी अफ्रीकामें हमें बिना पारपत्रके यात्रा करनेकी आज्ञा नहीं है, हम रातमें घूम फिर नहीं सकते, हमें पृथक बस्तियोंमें रहनेको बाध्य किया जाता है, रेलोंमें प्रथम और द्वितीय श्रेणीके डिब्बोंमें प्रवेश करनेका हमें निषेध है। ट्रामोंसे हमें 'निकाल दिया जाता है। हमें सार्वजनिक सड़कोंपर चलने नहीं दिया जाता, हमपर थूका जाता है, हमारी लानत की जाती है, हमें कोसा जाता है, हमें गालियाँ दी जाती हैं। इसके अलावा हमारे ऐसे ऐसे अपमान किये जाते हैं जिन्हें कोई भी इन्सान शान्तिसे बर्दाश्त नहीं कर सकता।"[1] १८९८ के कांग्रेस अधिवेशनको श्री पिल्लैने, जिन्होंने दक्षिणी अफ्रीकाके बारेमें प्रस्ताव पेश किया था, बताया कि भारतीय प्रवासियोंके ऊपर दिन प्रतिदिन अधिक सख्त प्रतिबन्ध लागू किये जा रहे हैं। १८९७ में कानूनने बाध्य किया कि भारतीय 'स्थायी बन्धन अथवा घृणित पॉल टैक्स'में से एकको स्वीकार करें। ट्रांसवाल सरकार उनको 'पृथक बस्तियों' में रहनेको मजबूर कर रही है। उनके लिए ये बस्तियाँ नगरके बाहर बसायी गयी हैं जहाँ कूड़ा फेंका जाता है और उनको "लाचारीसे कूड़ोंके ढेरोंके बीचमें रहना पड़ता है।"[2] श्रीपिल्लैने कहा कि भारत सचिव लॉर्ड हैमिल्टनसे कोई आशा नहीं है, उन्होंने तो "हमें बर्बरोंकी कौम माना है।" १९०० और १९०१ में विरोधमें प्रस्ताव पास हुए। १९०१ में तो गान्धी जी स्वयं अधिवेशनमें उपस्थित थे। उन्होंने अपनेको "दक्षिणी-अफ्रीकाके एक लाख भारतीयोंकी ओरसे प्रार्थी घोषित किया" और स्वयं प्रस्तावको पेश किया। यहाँ हमें पहली बार गान्धीजीके तरीकोंकी एक झलक मिलती है। उनके अपने शब्दोंमें 'कांग्रेस पण्डालमें गन्दगीकी कोई सीमा नहीं थी। हर जगह पानीके गड्ढे भरे हुए थे। पाखाने एकाध ही थे, वहाँ फैली हुई बदबूकी यादसे अभीतक मेरा जी मचला उठता है। मैंने इस बातकी तरफ स्वयंसेवकोंका ध्यान दिलाया तो उन्होंने मुझे साफ जवाब दे दिया "यह हमारा काम नहीं है, यह भंगीका काम है।" मैंने झाड़ू माँगी तो वह आदमी आश्चर्यसे मुझे देखता रह गया। मैंने एक झाड़ू ली और पाखानेकी सफाई कर दी। यह मैंने अपने लिए किया था। भीड़ इस कदर ज्यादा थी और पाखाने इस कदर कम थे कि उनकी बार-बार सफाईकी आवश्यकता थी। लेकिन यह मेरे बूतेके बाहर था।"[3]

अधिवेशन आरम्भ होनेके दो दिन पूर्व ही गान्धी जी कलकत्ता पहुँच गये थे। उन्होंने निश्चय कर लिया था कि 'अनुभव प्राप्त करनेके लिए वे अपनी सेवाएँ कांग्रेस कार्यालयको अर्पित करेंगे। इसलिए वे कांग्रेसके दफ्तर गये। वहाँ क्या हुआ, इसका वर्णन इस प्रकार है— बाबू भूपेन्द्रनाथ बसु और श्रीयुत घोषाल मन्त्री थे। मैं भूपेन्द्रबाबूके पास गया और अपनी सेवाएँ प्रस्तुत कीं। उन्होंने मेरी तरफ देखा और कहा 'मेरे पास कोई काम नहीं है। सम्भव है घोषालबाबू तुम्हें कोई काम बता सकें। कृपाकर वहीं जाओ।' इसलिए मैं उनके पास गया। उन्होंने मुझे ऊपरसे नीचेतक देखा और मुस्कराकर कहा "मैं तुमको सिर्फ लिखा पढ़ीका काम दे सकता हूँ। क्या तुम यह काम करोगे? "अवश्य" मैंने कहा "मैं प्रत्येक काम करनेको तैयार हूँ अगर वह कार्य शक्तिसे बाहर नहीं है।" यही वही भावना है,

---

१. बेसेण्ट—'हाऊ इण्डिया फॉट फॉर फ्रीडम', पृष्ठ २३७

२. वही पुस्तक, पृष्ठ २७९-८०

३. गान्धीजी, आत्म चरित्र, पृष्ठ १७५

नवयुवक, अपने चारों तरफ खड़े हुए स्वयंसेवकोंसे उन्होंने कहा, क्या तुमने इस नवयुवककी बातें सुनी हैं? फिर मेरी तरफ मुड़कर कहा 'अच्छा! यह चिट्ठियोंका ढेर निबटानेके लिए पड़ा हुआ है, वह कुर्सी ले लो और आरम्भ करो।' श्रीयुत घोषाल चपरासीसे अपनी कमीजके बटन लगवाया करते थे? मैंने चपरासीके यह काम खुद करनेकी अनुमति चाही। चूँकि बड़ोंके लिए मेरे दिलमें बड़ी श्रद्धा थी इसलिए इस काममें मुझे बहुत आनन्द आता। जब उन्हें इसका पता लगा तो अपने लिए की गयी मेरी छोटी मोटी सेवाओंको करनेसे वे मुझे न रोकते। वास्तवमें इससे उन्हें प्रसन्नता ही होती। मुझसे कमीजके बटन लगानेके लिए कहकर वे अक्सर कहते "तुमने देखा, अब कांग्रेस मंत्रीके पास अपनी कमीजके बटन लगानेका भी समय नहीं है। उनके पास कुछ न कुछ काम हमेशा बना रहता है" श्रीयुत घोषालकी सरलतापर मुझे हँसी आती, पर इससे ऐसे कामोंके लिए मुझे कोई अरुचि नहीं उत्पन्न हुई।"[1]

अपने ऊपर पड़े हुए कांग्रेस अधिवेशनके प्रभावोंके बारेमें गान्धीजी लिखते हैं—"यहाँ मैंने समयकी बर्बादी देखी। खेद और क्षोभके साथ मैंने इस बातपर भी ध्यान दिया कि हमारे मामलोंमें अंग्रेजी भाषाको अभीतक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। काम करते समय शक्तिका अपव्यय रोकनेकी तरफ बहुत कम ध्यान दिया जाता था। एक आदमीका काम कई आदमी करते थे और बहुतसे जरूरी काम करनेके लिए कोई आदमी ही नहीं मिलता था।"[2]

सन् १९०३ में सी० एफ० सीबराइट ऑस्ट्रेलियाके भारतीयोंकी ओरसे एक आवेदन-पत्र लेकर आये जिसमें उन अपमानजनक प्रतिबन्धोंसे मुक्त करानेकी प्रार्थना की गयी थी जो उनपर लगाये गये थे। यह मसला भी दक्षिणी अफ्रीकाके भारतीयोंके सवालके साथ ही जोड़ दिया गया और इस विषयपर पास हुए प्रस्तावमें कहा गया था कि—कांग्रेसका यह अधिवेशन महामान्य सम्राट्के दक्षिण अफ्रीका, ऑस्ट्रेलिया व अन्य-अन्य अंग्रेजी उपनिवेशोंके भारतीयोंकी दारुण दशापर औपनिवेशिक सरकारों द्वारा उनपर लगाये गये अयोग्यता प्रतिबन्धों, परेशान करनेवाले नियमों और उनके परिणामस्वरूप सम्राटकी भारतीय प्रजा होनेके नाते उनकी स्थिति सम्बन्धी अप्रतिष्ठा और अधिकारोंके अपहरणपर गहरी चिन्ता व दुःख प्रगट करता है। औपनिवेशिक सरकार द्वारा भारतीयोंके साथ पिछड़ी हुई व असभ्य जातियोंके समान किये गये बुरे व्यवहारका कांग्रेस विरोध करती है; और प्रार्थना करती है कि उपनिवेशोंकी उन्नतिके लिए प्रवासी भारतीयों द्वारा किये हुए महत्त्वपूर्ण कार्य व भारतीयोंके उपनिवेशमें जाने और वहाँ बसनेसे भारत और उपनिवेश दोनोंको हुए आर्थिक लाभोंको दृष्टिमें रखते हुए भारत सरकार कृपा करके सम्राटकी यूरोपीय प्रजाके अधिकारोंके अनुरूप औपनिवेशिक भारतीयोंको अंग्रेजी नागरिकताके अधिकार और सुविधाएँ प्रदान करे।" १९०४ के कांग्रेस अधिवेशनमें कुछ प्रतिनिधियोंने उपनिवेशोंमें स्वयं भुगते हुए कष्टोंका वर्णन किया। कांग्रेस अधिवेशनने दक्षिण अफ्रीकी सरकार द्वारा घोर भारतीय विरोधी कानूनके लागू किये जानेकी धमकीका जोरदार विरोध किया।

अब हम उस दौरकी तरफ आते हैं जिसको भारतीय सत्याग्रह आन्दोलनोंका पूर्व-

---

१. वही पुस्तक, पृष्ठ २७७-७८

२. वही पुस्तक, पृष्ठ २७८-७९

अभिनय कहा जा सकता है। सर्वप्रथम १९०६ में ट्रांसवाल सरकारके एक काले कानून (ब्लैक ऐक्ट) के खिलाफ संघर्षमें सत्याग्रह शब्दका, अहिंसात्मक युद्धके हथियारके रूपमें जन्म हुआ था। जब जुलू विद्रोह और बोअर युद्धमें दक्षिण अफ्रीकामें भारतीय यूरोपीय समाजकी सेवाएँ कर चुके तो ट्रांसवाल सरकारने एक आर्डिनेन्स जारी कर दिया जिसके द्वारा ट्रांसवालमें रहनेवाले प्रत्येक भारतीयको—स्त्री, पुरुष, बच्चे जो ८ वर्ष या उससे अधिकके हों, एशियावालोंके लिए नियुक्त रजिस्ट्रार (Registrar of the Asiatics) के पास अपनी रजिस्ट्री करानी पड़ती और रजिस्ट्री प्रमाण-पत्र हासिल करना पड़ता। और जब कोई पुलिसका हाकिम माँगे तो रजिस्ट्री प्रमाणपत्र उसके सम्मुख पेश करना पड़ता। यह कानून बहुत ही अपमानजनक था और इसका उद्देश्य ट्रांसवालमें भारतीयोंकी आबादीको कम करना था। आर्डिनेन्सने रजिस्ट्रारको अधिकार दिया था कि वहाँ बसनेवाले प्रत्येक भारतीयकी उँगलियोंके निशान ले लें। भारतीय बहुत परेशान थे। प्रमुख भारतीयोंकी एक सभा इस आर्डिनेंसके बारेमें सोच-विचार करनेके लिए बुलायी गयी। उपस्थित लोगोंमेंसे एकने आवेगमें आकर कहा "अगर कोई मेरी बीबीसे प्रमाणपत्र माँगने आया तो मैं उसको गोली मार दूँगा और परिणाम भुगत लूँगा।" इसके बाद एक सार्वजनिक सभा की गयी जिसमें भारतीयोंने निश्चयपूर्वक घोषित किया कि यदि यह आर्डिनेन्स कानून बना दिया गया तो वह इसके सामने झुकेंगे नहीं, और सब प्रकारके परिणामोंको बरदाश्त करनेके लिए तैयार रहेंगे। आर्डिनेन्सका एक प्रकारका सविनय प्रतिरोध करनेका विचार किया गया। लेकिन गान्धीजीके मस्तिष्कमें आन्दोलनकी जो रूपरेखा थी वह सविनय प्रतिरोधसे कहीं ऊँची थी। उन्हें यह लाभास्पद प्रतीत हुआ कि इस उच्च संघर्षका अंग्रेजी नाम हो। आन्दोलनका नाम सुझानेके लिए छोटा-सा पुरस्कार रखा गया। सबसे अच्छा प्रस्ताव सदाग्रह (सद् + आग्रह) (अच्छे उद्देश्यमें दृढ़ता) आया। गान्धीजीने अपनी धारणाके अनुसार इसमें सुधारकर इसे 'सत्याग्रह' नाम दिया जिसका अर्थ उन्होंने इस प्रकार बताया "सत्य जिसमें प्रेम भी शामिल है और आग्रह माने दृढ़ता जिससे शक्तिका बोध होता है।" निष्क्रिय प्रतिरोध अधिकारसे वंचितों और निर्बलोंका हथियार समझा जाता था। लेकिन गान्धीजीने कहा कि "किसी भी दशामें भारतीय आन्दोलनमें बर्बर शक्तिका कोई स्थान नहीं है।" और "सत्याग्रही कभी भी शारीरिक बलका प्रयोग नहीं करेंगे भले ही वे बलका प्रभावशाली प्रयोग करनेकी स्थितिमें हों।"

भारतीयोंने एक शिष्टमण्डल इंगलैण्ड भेजा ताकि सरकार 'काले कानून'को रद कर दे। लेकिन इसके फौरन बाद ही ट्रांसवालमें एक जिम्मेदार सरकार बन गयी। इस सरकार द्वारा बनाया गया पहला नियम एशियाई रजिस्ट्री ऐक्ट (एशियाटिक रजिस्ट्रेशन ऐक्ट) था, जो २१ मार्च १९०७ को एक ही बैठकमें पारित कर लिया गया और १ जुलाई १९०७ को लागू कर दिया गया।

भारतीय नेताओंने रजिस्ट्रीके कार्यालयके सामने धरना देनेका निश्चय किया। बारहसे अठारह वर्षके स्वयंसेवक कार्यालय जानेवाली सड़कोंपर तैनात कर दिये गये। उनको समझा दिया गया कि वे कार्यालय जानेवाले प्रत्येक भारतीयके हाथमें एक-एक इश्तहार दे दें जिसमें इस काले कानूनके अन्तर्गत होनेवाले अपमानोंका पूरा-पूरा ब्योरा था। स्वयंसेवकोंको रजिस्ट्री कार्यालय जानेवाले किसी व्यक्तिको रोकना नहीं था; उनका काम शान्तिपूर्ण ढंगसे

समझाना था "अगर पुलिस उनको गाली दे या मारे तो उसे शान्तिसे सहन करें। यदि पुलिस उनको गिरफ्तार करे तो उन्हें प्रसन्नतापूर्वक आत्मसमर्पण कर देना चाहिये।" लगभग ५०० व्यक्तियोंने आज्ञापत्र प्राप्त किये; यह संख्या बहुत कम थी और ट्रांसवाल सरकारको इससे निराशा हुई। सरकारने रजिस्ट्रेशनके खिलाफ एक प्रमुख आन्दोलनकर्ता श्री रामसुन्दर-को गिरफ्तार करनेका निश्चय किया। रामसुन्दरको एक माहकी सादी कैदकी सजा मिली। लेकिन भारतीय समाजके हितमें यह लाभदायक सिद्ध हुआ क्योंकि प्रमाण-पत्र लेनेके लिए अब कोई न जाता और सैकड़ों जेल जानेको प्रस्तुत थे?

काले कानून (ब्लैक ऐक्ट) के खिलाफ शिक्षा देनेवाला प्रचार कई भाषाओंमें प्रकाशित—इण्डियन ओपिनियन (Indian opinion) नामक एक साप्ताहिक पत्रिका द्वारा किया गया। सरकार ऐक्टकी इतने बड़े पैमानेपर अवज्ञासे परेशान थी। उसने पूरे समाज-को दण्ड देनेका फैसला किया। नेताओंको गिरफ्तार कर लिया गया और उनको भिन्न-भिन्न सजाएँ सुनायी गयीं व उनपर जुर्माने किये गये। गान्धीजीने मैजिस्ट्रेटसे प्रार्थना की कि वह गान्धीको दूसरे लोगोंसे अधिक सजा दे "क्योंकि यदि और लोगोंने अपराध किया है तो मैंने (गान्धीजीने) गुरुतर अपराध किया है।" नेताओंकी गिरफ्तारीके बाद सत्याग्रह आन्दोलनको नयी प्रेरणा मिली और सत्याग्रहियोंसे जेलें भरने लगीं।

जोहान्सवर्गसे निकलनेवाले दैनिक-पत्र 'दी ट्रांसवाल लीडर'के सम्पादक अलबर्ट कार्ट-राइट द्वारा सरकारने पन्द्रह दिन बाद समझौता-वार्ता शुरू की। गान्धीजीको जनरल स्मट्ससे मिलनेके लिए जेलसे प्रीटोरिया ले जाया गया। स्मट्सने गान्धीजी और भारतीय समाजको बधाई दी कि वे लोग गान्धीजीकी गिरफ्तारीके बाद भी दृढ़ बने रहे। और कहा "तुम लोगोंको मैं कभी नापसन्द नहीं कर सका। तुम जानते हो कि मैं भी बैरिस्टर हूँ। अध्ययन कालमें मेरे साथ कुछ भारतीय विद्यार्थी पढ़ते थे। लेकिन मुझे अपना कर्तव्य पालन करना है। यूरोपीय इस कानूनको चाहते हैं, और तुम मुझसे सहमत होगे कि उनमेंसे अधिकांशतः बोअर नहीं बल्कि अंग्रेज हैं। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि जैसे ही तुम लोगोंमेंसे अधिकांश अपनी इच्छासे रजिस्ट्री प्रमाण पत्र ले लेंगे, मैं काले कानून (ब्लैक ऐक्ट) को रद कर दूँगा। जब रजिस्ट्रीको कानूनी करार देनेवाले विधेयकका मसविदा तैयार हो रहा होगा, तुम्हारी आलोचनाके लिए एक प्रति मैं तुम्हें भेज दूँगा। मैं झगड़ेकी पुनरावृत्ति नहीं चाहता, और तुम्हारे लोगोंकी इच्छाओंका आदर करना चाहता हूँ। समझौता स्वीकार हो गया, गांधीजी व अन्य कैदी मुक्त कर दिये गये। लेकिन भारतीयोंको अब भी अपनी उँगलियोंके निशान देने पड़ते। इस बातसे बहुतसे लोग समझौतेके खिलाफ हो गये। एक पठानने एक सार्वजनिक सभामें गान्धीजीपर आरोप लगाया "हमने सुना है कि तुमने समाजके साथ गद्दारी की है और १५००० पौण्डपर हम लोगोंको जनरल स्मट्सके हाथ बेच दिया है। हम कभी भी उँगलियोंके निशान नहीं देंगे। मैं अल्लाहकी कसम खाकर कहता हूँ कि जो भी रजिस्ट्री—प्रमाणपत्र लेनेके लिए सबसे पहले जायगा, उसे मैं कत्ल कर दूँगा।" वास्तवमें घटनाएँ इसी प्रकार घटीं भी। एक दिन जब गान्धीजी रजिस्ट्री प्रमाणपत्र लेनेके लिए रजिस्ट्री-कार्या-लय जा रहे थे तो रास्तेमें चटाई बनानेवाले मीर आलम नामक एक आदमी और उसके साथियोंने गान्धीजीपर डण्डोंसे हमला किया। वह 'हे राम' कहते हुए गिरकर बेहोश हो गये,

उसके बाद क्या हुआ, इसका उन्हें कुछ पता नहीं चला। जब उनकी मरहमपट्टी हो रही थी, रजिस्ट्री-अधिकारियोंके मना करनेके बावजूद और उनकी सलाहके खिलाफ वह उँगलियोंके निशान देनेपर जिद करते रहे "मैंने पहला रजिस्ट्री-प्रमाणपत्र लेनेका प्रण किया है।" उन्होंने ऐसा ही किया। अपने आक्रमणकारियोंके लिए भी गान्धीजीने क्षमायाचना की, मगर कानून, कानून है। गान्धीजीकी देखा-देखी बहुतसे भारतीयोंने रजिस्ट्री-प्रमाणपत्र ले लिये। लेकिन समझौतेके विपरीत जनरल स्मट्सने काले कानूनको कायम ही नहीं रखा, बल्कि भारतीयोंके खिलाफ एक नया कदम और उठाया जिसमें यह उपबंध किया गया कि निश्चित तिथि (जिसकी भारतीयोंने अवज्ञा की थी) के बाद भी स्वेच्छासे प्रमाणपत्र लेनेवालोंके विरुद्ध कोई कारवाई नहीं की जायगी, और शेष व्यक्तियोंको कानून सख्त सजा देगा।

जनरल स्मट्सको वादेकी याद दिलाते हुए कई खत लिखे गये कि वे अपनी बातको पूरी करें, पर वे बिलकुल नहीं झुके। संघर्षको पुनः आरम्भ करनेके अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं था। हर जगह आदमी जेल जानेको प्रस्तुत थे। स्मट्सको एक पत्र, जिसे उसने चुनौती माना, भेजा गया। पत्रमें लिखा था कि यदि एशियाई ऐक्ट (एशियाटिक ऐक्ट) रद नहीं किया गया तो रजिस्ट्री-प्रमाणपत्रोंको जला दिया जायगा, और भारतीय लोग "नम्रता परन्तु दृढ़तासे सब परिणामोंको भुगतनेके लिए तैयार हैं।" सरकारको 'फैसला' कर लेनेके लिए एक अवधि निश्चित कर दी गयी। अवधि समाप्त होनेके करीब दो घण्टे बाद, रजिस्ट्री-प्रमाण-पत्र जलानेका सार्वजनिक उत्सव मनानेके लिए एक सभा बुलायी गयी और करीब दो हजार प्रमाण-पत्र इकट्ठे कर लिये गये। मिट्टीके तेलसे भरे कड़ाहमें ये तमाम प्रमाण-पत्र झोंक दिये गये और आग लगा दी गयी।

यह दूसरे सत्याग्रह आन्दोलनकी शुरुआत थी। इस आन्दोलनके कार्यक्षेत्रमें एक दूसरा कानून भी शामिल कर लिया गया। यह कानून ट्रांसवाल आप्रवासी निरोध ऐक्ट (ट्रांसवाल इमीग्रैण्ट्स रेस्ट्रिक्शन ऐक्ट) उसी वर्ष पास किया गया था जिस वर्ष काला कानून बनाया गया था। निरोध ऐक्ट (रेस्ट्रिक्शन ऐक्ट) का उद्देश्य नये आनेवाले भारतीयोंको ट्रांसवालमें प्रवेश करनेसे रोकना था। इसके द्वारा नेटालमें रहनेवाले भारतीयोंपर भी प्रतिबन्ध लग गया कि जबतक, वे ऐक्टकी कुछ निश्चित धाराओंको पूरा न कर लें, उनको ट्रांसवालमें घुसनेका भी निषेध था। इन दोनों उद्देश्योंको लेकर चलनेवाला आन्दोलन आरम्भ हो गया। निरोध ऐक्ट (रेस्ट्रिक्शन ऐक्ट) का उल्लंघन करके नेटालके भारतीय ट्रांसवालमें घुस रहे थे और ट्रांसवालमें बसनेवालोंने नये प्रमाण-पत्र लेनेसे इनकार कर दिया। अनुशासनबद्ध सत्याग्रहियोंने ये दोनों कानून तोड़े। वे गिरफ्तार कर जेल भेज दिये गये। गान्धीजी भी गिरफ्तार कर लिये गये परन्तु वे दूसरे बन्दियोंसे पृथक् रखे गये। खतरनाक कैदियोंके लिए निश्चित तनहाई कोठरीमें वे बन्द कर दिये गये। अधिकारोंकी रक्षाके संघर्षमें रत भारतीयोंका उत्साह इन गिरफ्तारियोंसे क्षीण न हुआ। सरकार चक्करमें थी। चूँकि जेलें ठसाठस भर चुकी थीं, इसलिए सरकारको दूसरे साधन अपनाने पड़े। सत्याग्रही ट्रांसवालसे बाहर भेजे जाने लगे, कुछको निष्कासित कर भारत भेज दिया गया। इस देशनिकालेकी कानूनी वैधतापर

प्रश्न उठाया गया और जब यह अवैध करार दे दिया गया तो निष्कासन रोक दिया गया। सरकार अड़ी हुई थी और सत्याग्रह अब लम्बा संघर्ष बन रहा था।

१९१२ में गोखले दक्षिण अफ्रिका गये। वे जहाँ भी गये उनका शानदार स्वागत हुआ। आश्चर्य था कि उनकी सभाओंमें कुछ यूरोपीय भी सम्मिलित हुए। सरकारने भी गोखलेका आदर किया। वे सरकारके मन्त्रियोंसे मिले और उनसे दो घण्टेकी भेंटके पश्चात् पूर्ण रूपसे संतुष्ट होकर लौटे। उन्होंने गांधीजीसे कहा—"तुमको एक वर्षमें अवश्य भारत वापस आ जाना चाहिये। हर चीज तय हो चुकी है। काला कानून (ब्लैक ऐक्ट) रद कर दिया जायगा। प्रवासी-कानून (एमीग्रेशन ला) से जाति-भेद निकाल दिया जायगा। ३ पौण्डवाला कर समाप्त हो जायगा।" गान्धीजीके लिए, जिन्हें इस सरकारका भली भाँति अनुभव था, यह शत प्रति-शत विजयकी आशाका घूँट निगलना कठिन था। गान्धीजीने उत्तर दिया "मुझे बहुत सन्देह है। आप मन्त्रियोंको उतना नहीं समझते जितना मैं। आपकी तरह मुझे इस मामलेमें उतनी आशा नहीं है। परन्तु साथ ही मुझे कोई भय भी नहीं है। मेरे लिए यह काफी है कि आपने मन्त्रियोंसे आश्वासन प्राप्त कर लिया है। आवश्यकता पड़नेपर संघर्ष करना और यह प्रदर्शित करना कि हमारा पक्ष न्यायपूर्ण है मेरा कर्तव्य है। आपको दिया हुआ आश्वासन हमारी माँगोंकी न्यायप्रियता सिद्ध करनेमें सहायक होगा, और अगर आवश्यकता पड़नेपर संघर्ष करना पड़े तो इससे हमारी लड़नेकी भावनाको दूना बल मिलेगा। मैं नहीं समझता कि मैं एक वर्षके अन्दर भारत वापस लौट सकूँगा, कमसे-कम बहुतसे और भारतीयोंके जेल जानेके पूर्व तो मैं नहीं लौट सकूँगा।"

लेकिन गोखले गान्धीजीके इस भयको सही नहीं समझते थे और उन्होंने फिर कहा कि "जो कुछ मैंने तुमसे कहा है वही होगा। जनरल बोथाने मुझसे वादा किया है कि काला-कानून (ब्लैक ऐक्ट) रद कर दिया जायगा और ३ पौण्डवाला कर समाप्त कर दिया जायगा। मैं कोई भी बहाना नहीं सुनूँगा; तुमको बारह महीनोंके अन्दर भारत अवश्य वापस आना पड़ेगा।"

गोखलेके वापस जानेके बाद जब आशावादी भारतीय ३ पौण्डवाले करके रद किये जानेके लिए दक्षिणी अफ्रिकाकी पार्लमेंटमें आवश्यक नियम पेश किये जानेकी उम्मेद कर रहे थे, विधान सभामें अपनी जगहसे जनरल स्मट्सने कहा कि चूँकि नेटालके यूरोपीयोंको ३ पौण्डवाले करके रद करनेपर आपत्ति है, इसलिए यूनियन सरकार ३ पौण्डवाले करको रद करनेके लिए कानून बनानेमें असमर्थ है।

इस कारण सत्याग्रह आन्दोलनका तीसरा कार्य ३ पौण्डका कर रद करवाना बन गया। इस नयी बातने सत्याग्रहको एक नया उत्साह प्रदान किया। सत्याग्रहमें भाग लेनेके लिए अब औरतोंने भी नाम लिखाना आरम्भ कर दिया। सितम्बर, सन् १९१३ में औरतोंके एक जत्थेने ट्रांसवालकी सीमा पार की और वह गिरफ्तार कर लिया गया। संघर्षमें औरतोंके भाग लेनेसे उत्साह पाकर और सरकारके रुखसे उत्तेजित होकर, ट्रांसवालकी सीमासे ३६ मील दूर न्यू कासिलकी कोयलेकी खानोंके भारतीय मजदूरोंने ३ पौण्डवाले करके विरोधमें हड़ताल कर दी। मजदूरोंकी संख्या करीब पाँच या छ हजार थी और सब सत्याग्रह करनेको तैयार थे। खानोंके मालिकोंने गान्धीजीको यह विश्वास दिलानेके लिए डरबन बुलाया कि करको रद कराना उनके बसके बाहरकी बात है। लेकिन गान्धीजीने कहा कि "मजदूरोंके

पास सत्याग्रहके अलावा दूसरा कोई साधन नहीं है। ३ पौण्डवाला कर मालिकोंके हितमें लगाया गया है क्योंकि मालिक मजदूरोंसे काम तो लेना चाहते हैं लेकिन यह नहीं चाहते कि वे स्वतन्त्र व्यक्तियोंके रूपमें काम करें। इसलिए ३ पौण्डवाले करको रद कराने के लिए मजदूर हड़ताल करते हैं तो मैं नहीं समझता कि यह मिल-मालिकोंके साथ कोई अन्याय या अनुचित बात है।"

गान्धीजीने तय किया कि सत्याग्रहियोंकी यह 'सेना' ३६ मील पैदल यात्रा करके ट्रांसवालकी सीमा पार करेगी। गान्धीजीके कथनानुसार यह भव्य यात्रा २८ अक्टूबर १९१३ को आरम्भ हुई। यात्राके लिए अनुशासनके नियम बना दिये गये जिनका प्रत्येक सत्याग्रही-को कड़ाईसे पालन करना पड़ता। २००० पुरुषों, १२२ औरतों और ५० बच्चोंका सत्याग्रहियोंका यह जत्था सीमाके पास चार्ल्सटाउनमें रुक गया। यहाँसे गान्धीजीने सरकार-को लिखा कि "सत्याग्रही ट्रांसवालमें बसनेकी दृष्टिसे नहीं आना चाहते, उनका उद्देश्य केवल मन्त्रीकी वादाखिलाफीपर प्रभावशाली विरोध प्रकट करना और अपनी अप्रतिष्ठा या बेइ-ज्जतीपर क्षोभ प्रदर्शित करना है। यदि सरकार हमको चार्ल्सटाउनमें ही जहाँपर हम हैं, गिरफ्तार कर ले तो हम सब तरहकी चिन्ता या आकुलतासे मुक्त हो जायँगे।" उन्होंने सरकारको यह भी आश्वासन दिया कि यदि कर रद कर दिया जाय तो हड़ताल समाप्त कर दी जायगी। इसके बाद गान्धीजीने इन्हीं बातोंके लिए स्मट्सको टेलीफोन किया, लेकिन जनरलके सचिवने उत्तर दिया, "जनरल स्मट्स तुमसे कोई सरोकार नहीं रखना चाहते, तुम जो चाहे करो।" यात्रियोंमें दो औरतें अपने छोटे बच्चोंके साथ शामिल थीं। एक बच्चा तो सफरमें ही सर्दी लगनेसे मर गया और दूसरा बच्चा झरना पार करते समय अपनी माँ की बाँहोंसे गिरकर डूब गया। यात्रियोंमें गान्धीजी द्वारा सादा जीवन व्यतीत करनेके लिए परिवर्तित किया हुआ एक जर्मन कैलेनबॉख भी था। कैलेनबॉखको एक यूरोपीयने द्वन्द्व युद्धके लिए ललकारा। यद्यपि कैलेनबॉख कसरती था, उसने जवाब दिया "चूँकि मैंने शान्ति धर्मको अपना लिया है, इस कारण मैं तुम्हारी चुनौती स्वीकार नहीं कर सकता। जो भी चाहे मेरे साथ बुरेसे बुरा व्यवहार कर सकता है।'

यात्रा चलती रही। गान्धीजीको गिरफ्तार कर एक मजिस्ट्रेटके सम्मुख पेश किया गया। लेकिन गान्धीजीने जमानतके लिए दरखास्त दी और मजिस्ट्रेटको जमानत स्वीकार करनी पड़ी। जमानत इसलिए स्वीकार करनी पड़ी कि खूनके अपराधियोंके अतिरिक्त हाजिरीके लिए किसी भी अभियुक्तको जमानत दाखिल करनेका अधिकार प्राप्त था। गान्धी जी लौटकर फिर यात्रामें शामिल हो गये। अगले विश्राम-स्थलपर वे फिर गिरफ्तार कर लिये गये, परिणाम फिर वही हुआ। गान्धीजीके पाँच मुख्य सहकारी भी गिरफतार कर जेल भेज दिये गये। गान्धीजी तिबारा गिरफ्तार कर लिये गये। पोलक नामके एक यूरोपीयको गान्धीजीके स्थानपर यात्राका नेता नियुक्त किया गया। परन्तु दूसरे दिन ही १० नवम्बरको समस्त सत्याग्रहियोंको कैद कर तीन विशेष रेलगाड़ियोंमें भरकर नेटाल वापस भेज दिया गया। पोलक और कैलेनबॉख भी जेलमें बन्द कर दिये गये। गान्धीजीपर डण्डीमें मुकदमा चलाया गया और उनको नौ माहकी सख्त कैदका हुक्म सुना दिया गया। गान्धीजीने स्वयं अपने विरुद्ध अभियोग सिद्ध करनेके लिए गवाह पेश करके सरकारी अभियोक्ताका कार्य आसान बना दिया।

गान्धीजीकी गिरफ्तारीसे प्रवासी भारतीयोंमें एक उमंगकी लहर दौड़ गयी और उनमेंसे कितने ही नेटालकी सीमा पारकर ट्रांसवालमें घुसे। वे सब गिरफ्तार कर लिये गये।

अब उन तीन विशेष रेलगाड़ियोंका भी हाल देखा जाय। मजदूरोंपर मुकदमा चलाकर उन्हें फौरन जेल भेज दिया गया। लेकिन साथ ही सरकारको यह खतरा पैदा हो गया कि अगर मजदूरोंको काम पर वापस नहीं भेजा गया तो खानें वन्द हो जायेंगी। इससे वचनेकी सरकारने एक तरकीब सोची। उसने खानोंके अहातोंको तारोंकी जालीसे घेर दिया और कहा कि ये डण्डी और न्यूकॅसिल जेलोंके ही वाहरी हिस्से हैं। खानोंके मालिकोंके यूरोपीय कर्मचारी ही इन जेलोंके प्रहरी (वार्डर) नियुक्त कर दिये गये। लेकिन कैदी इस चक्करमें नहीं फँसे। उन्होंने काम करनेसे इनकार कर दिया। उनको वेरहमीसे कोड़े लगाये गये। घमण्डी लोग जिनको यह हुकूमत थोड़े ही दिनोंके लिए मिली थी, मजदूरोंको ठोकरें मारते और उनको गालियाँ देते। न सिर्फ यह वल्कि मजदूरोंको वे ऐसे कष्ट देते और ऐसा दुर्व्यवहार करते जिसका कहीं भी आजतक उल्लेख नहीं किया गया। परन्तु मजदूरोंने यह तमाम कष्ट वड़ी शान्तिसे सहन किये। इन ज्यादतियों और निर्दयताकी खवर गोखलेको तार द्वारा भेजी गयी। गोखले संघर्षकी दिन प्रतिदिनकी खवरोंके सम्पर्कमें वरावर रहते। यद्यपि वे वहुत वीमार थे परन्तु उन्होंने रुग्ण-शय्यासे इस खवरका प्रचार किया। शोचनीय रुग्णावस्थाके होते हुए भी गोखलेने दक्षिणी अफ्रीका सम्वन्धी तमाम कामको देखभाल स्वयं करनेका आग्रह किया। आखिरकार समस्त भारत दक्षिणी अफ्रिकाकी घटनाओंसे उद्वेलित हो उठा और यह प्रश्न सबसे मुख्य प्रश्न बन गया। इस समयके भारतके वॉइसराय हार्डिञ्जने मद्रासके अपने १३ दिसम्बर १९१३ के भाषणमें न सिर्फ सार्वजनिक रूपसे दक्षिण अफ्रिकाकी सरकारकी कड़ी आलोचना की वल्कि सत्याग्रहियोंका पूरे दिलसे समर्थन किया, घृणित और अनुचित कानूनके विरुद्ध उनके सविनय अवज्ञा आन्दोलनके प्रति पूरी सहानुभूति प्रदर्शित की। "इंगलैण्डमें लार्ड हार्डिञ्जके इस व्यवहारपर नुक्ताचीनी और आक्षेप किया गया। उन्होंने कोई पश्चात्ताप जाहिर नहीं किया वल्कि अपने व्यवहार व रवैयेका औचित्य सिद्ध किया।"

हड़ताल, गिरफ्तारियाँ, कैद किये जाने और दमनकी खबर हर जगह फैल गयी "और हजारोंकी संख्यामें मजदूर अकस्मात और स्वतः प्रेरित होकर दक्षिण अफ्रिकाके संघर्षकी हिमायतमें उठ खड़े हुए।" सरकारने दमन, कत्ल और खूँ की नीति अपनायी। उसने जवरदस्ती मजदूरोंको हड़ताल करनेसे रोका। घुड़सवार-फौजियोंने मजदूरोंका पीछा किया और जवरदस्ती उनको कामपर घसीट लाये। मजदूरोंकी जरा सी भी काररवाईका जवाव रायफलकी गोली द्वारा दिया जाता था। मजदूरोंकी एक टुकड़ीने जवरदस्ती कामपर वापस ले जाये जानेका विरोध किया। एक आधने पत्थर भी फेंके। उनपर गोली चला दी गयी। कुछ मारे गये और कई घायल हुए। लेकिन मजदूर इससे दवे नहीं। जो काम गोलियाँ नहीं कर सकीं वह समझाने वुझानेसे हो गया। एक पारसी सज्जनने मजदूरोंको कामपर वापस भेजनेका वीड़ा उठाया। उन्होंने मजदूरोंसे वात की और उन्हें कामपर वापस चले जानेके लिए समझानेमें सफल हो गये। दक्षिणी अफ्रिकाके भारतीयोंका सवाल संसारव्यापी वन गया और यूनियन सरकार (यूनियन गवर्नमेण्ट) सभ्य संसारके लोकमतका विरोध न कर सकी। उसने (सरकारने) तमाम मसलेकी जाँच करनेके लिए एक जाँच-समिति नियुक्त

की और अपने दिलमें घृणित कानूनोंको रद करनेका निश्चय कर लिया। भारतीयोंने इस जाँच-समितिका बहिष्कार किया क्योंकि उन्होंने जोर दिया था कि कम-से-कम एक सदस्य भारतीय हो परन्तु यह प्रार्थना अस्वीकार कर दी गयी। समितिकी सिफारिशोंके आधारपर इण्डियन रिलीफ बिल नामसे एक विधेयक पार्लमेण्टमें पेश किया गया। ३ पौण्डवाला कर समाप्त कर दिया गया। बाकी दूसरी धाराएँ या तो रद कर दी गयीं या उनमें सुधार किये गये। गान्धीजी विजयी होकर १९१४ में भारत लौटे।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसने एक प्रस्ताव स्वीकृत किया जिसमें गान्धीजी और उनके साथियोंके साहसिक प्रयत्नोंकी तथा भारतके आत्मसम्मानकी रक्षाके लिए चलाये गये आन्दोलनमें उनके अद्वितीय- बलिदानों और भारतीयोंकी शिकायत दूर करानेके प्रयत्नोंकी पूरी-पूरी प्रशंसा की गयी थी। कांग्रेसके इसके पहलेके अधिवेशनोंमें भी दक्षिणी अफ्रिकाके प्रश्नपर बहस हुई थी तथा सहानुभूति और उत्साह-वर्धक प्रस्ताव पास हुए थे।

लेकिन दक्षिण अफ्रिकाके गान्धीजीके संघर्षका अन्तिम चरण अभी शेष था। १६ मार्च १९१६ को मदनमोहन मालवीयने केन्द्रीय विधान परिषदमें शर्तबन्दी प्रथा, जिसके अन्तर्गत भारतीय मजदूर दक्षिणी अफ्रिका भेजे जाते थे, खत्म करनेका प्रस्ताव पेश किया। प्रस्ताव तो वॉइसराय महोदयने स्वीकार कर लिया परन्तु यह कहकर इसको बेकार कर दिया कि "यह व्यवस्था उचित समयकी अवधिमें तब खत्म की जायगी, जब मजदूरोंको भेजनेका इसकी जगहपर दूसरा उपयुक्त उपाय निकल आयेगा।" फरवरी १९१७ में मालवीयजीने फिर इस व्यवस्थाको तत्काल समाप्त करनेका प्रस्ताव पेश करनेकी अनुमति चाही, परन्तु वॉइसराय चेम्सफोर्डने अनुमति देना अस्वीकार कर दिया।

गान्धीजीने अब भारतव्यापी आन्दोलन चलानेका विचार किया और इसके लिए उन्होंने बम्बईसे यात्रा आरम्भ की। इम्पीरियल सिटीजनशिप एसोसियेशनके तत्वाधानमें एक सभा की गयी। सभाने एक प्रस्ताव द्वारा ३१ जुलाई अन्तिम तिथि निश्चित कर दी कि सरकार तबतक यह व्यवस्था समाप्त कर दे। दो सुझाव पेश किये गये थे, एक तो व्यवस्थाको 'तत्काल समाप्त' करनेका था और दूसरा 'जितनी जल्दी' सम्भव हो। लेकिन गान्धीजीने कहा कि चूँकि इन वाक्योंके गलत अर्थ लगाये जा सकते हैं, इस कारण कोई तिथि अवश्य निश्चित कर देनी चाहिये। दूसरे सुझावोंके प्रस्तावकोंने गान्धीजीकी यह बात मान ली। बम्बईकी सभाने अगुआई की और देश भरमें सभाओं द्वारा यही प्रस्ताव स्वीकार हुआ। गान्धीजी कराची, कलकत्ता, अन्य दूसरी जगहें गये, वहाँ सभाएँ कीं और गान्धीजीके शब्दोंमें 'सभाओंमें असीम उत्साह था।' पुलिसके खुफिये बराबर उनका पीछा करते रहे। एक मर्तबा तो उन्होंने गान्धीजीको कई रेलवे स्टेशनोंपर परेशान किया।

लेकिन गान्धीजी फिर विजयी हुए। जुलाई ३१ के पहले ही सरकारने घोषणा कर दी कि भारतसे मजदूर अब विदेश न भेजे जायँगे।

अध्याय १४

काँग्रेस-लीग एका—लखनऊ समझौता

मुस्लिम लीगके दिसम्बर १९१० के नागपुर अधिवेशनके बादके दस वर्ष राष्ट्रीय एकता और अभूतपूर्व राजनीतिक चेतनाके दौरका समय है। इस दौरमें हम मुस्लिम नेताओं-को अपने कन्धोंसे अंग्रेजी जुआ उतारकर कांग्रेसके साथ कदम मिलानेके लिए तेजीसे आगे बढ़ते हुए देखते हैं। यह परिवर्त्तन नागपुर अधिवेशनके अध्यक्ष सैयद नबीउल्लाके भाषणसे आरम्भ हुआ। उन्होंने नौकरशाहीपर आक्षेप करते हुए दावा किया कि सिविल सर्विसके अफसर मतभेद पैदा करनेके लिये जिम्मेदार हैं। उन्होंने अभीतककी मुस्लिम राजनीतिको छोड़ दिया और कहा कि फौजी व्यय आवश्यकतासे अधिक है तथा माँग की कि सीमा-स्थित सेनाकी संख्यामें कमी की जाय। अधिवेशनने हिन्दू-मुस्लिम एकताके लिए कुछ व्यावहारिक कदम उठानेका निश्चय किया। १९१० के कांग्रेस अधिवेशनके बाद हिन्दू और मुस्लिम नेताओंने जनवरी १९११ में इलाहाबादमें एक सम्मेलन बुलाया। सम्मेलनसे विशेष लाभ तो न हुआ परन्तु भविष्यकी समझौता-वार्ताके लिए पृष्ठभूमि तैयार हो गयी।

कुछ ही समय बाद बंग-भंगका अन्त करनेकी सम्राटकी घोषणा हुई। हिन्दू प्रसन्न हुए। परन्तु मुसलमानोंके अंग्रेजोंके प्रति विश्वासको इस घोषणासे बहुत तीव्र धक्का लगा। मुसलमानोंका समाधान घोषणासे किस प्रकार होता, जब कि लार्ड कर्जनने उन्हें बार-बार बतलाया था कि पूर्वी बंगालका निर्माण उन्हींके लाभके लिए किया गया है और जिसके निर्माणमें हिन्दू और मुसलमानोंका इतना अधिक रक्त साम्प्रदायिक दंगोंमें बह गया हो। आगाखाँकी सलाहके बावजूद कि बंगभंगका अन्त मुसलमानोंके लिए लाभदायक सिद्ध होगा, मुसलमानोंका बहुमत इसको बहुत बड़ा अपकार समझता था। नवाब सलीमुल्लाने, जिन्होंने मार्च १९१२ में हुए कलकत्तेके लीगके अधिवेशनकी अध्यक्षता की थी, सम्राटकी घोषणापर क्षोभ प्रकट करते हुए कहा कि नये प्रांत (पूर्वी बंगाल) से मुसलमानोंको कोई अतिरिक्त लाभ तो हुआ नहीं, हाँ, इस विभाजनने हिन्दू और मुसलमानोंके बीच एक खाई अवश्य पैदा कर दी है। उन्होंने दावा किया कि यह कहना असत्य है कि हिन्दू-मुस्लिम मतभेदोंका कारण विभाजन है। असली कारण तो अंग्रेजोंके विरुद्ध क्रान्तिकारी कार्योंमें मुसलमानों द्वारा हिन्दुओंका साथ देनेसे इनकार करना था। अध्यक्षके भाषणमें निश्चित रूप में आत्म-आलोचनाका भाव सन्निहित था। चारों तरफ नैराश्य फैला हुआ था। मुसलमानों को अंग्रेजोंके वादोंका अब भरोसा टूट रहा था। मुसलमानोंकी हानि पूरी करनेके लिए यह कोशिश की गयी कि ढाका विश्वविद्यालयको मुस्लिम विश्वविद्यालय करार दे दिया जाय। इस सिलसिलेमें एक शिष्टमण्डल लेफ्टिनेण्ट गवर्नरसे मिला। लेकिन इस विचारका हिन्दुओंने विरोध किया क्योंकि शुद्ध इस्लामी विश्वविद्यालयके विचारको वे (हिन्दू) हानिकर समझते थे। अलीगढ़ कालेजको मुस्लिम विश्वविद्यालयमें परिणत करनेके लिए हिन्दू-मुसलमानों ने धन एकत्रित करना आरम्भ कर दिया था, क्योंकि कुछ मुसलमान अंग्रेजोंके प्रति संघटित

हो चुके थे और अंग्रेजी प्रकारका विश्वविद्यालय नहीं चाहते थे। इसी बीच हिन्दुओंका एक वर्ग हिन्दू विश्वविद्यालय कायम करनेमें प्रयत्नशील था। अधिक सुविधाओंके कारण बनारसमें वे हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित करनेमें समर्थ हो गये, जब कि मुस्लिम-विश्वविद्यालय अभी तक केवल स्वप्न ही था। सन् १९११ से दूसरे मुस्लिम देशोंकी घटनाओंने भारतके मुस्लिम नेताओंका ध्यान अधिक आकर्षित करना आरम्भ कर दिया। ऐसा प्रतीत होने लगा कि उनकी अंग्रेजोंके प्रति भक्ति अब खिलाफत आन्दोलनके केन्द्र तुर्कीके प्रति परिवर्तित हो गयी है। तुर्की साम्राज्य संकटोंसे गुजर रहा था, हिलाल खतरेमें था। १९११ के पतझड़में इटलीने तुर्कीके खिलाफ युद्ध घोषित कर दिया और ट्रिपोलीपर बिना किसी बहानेकी आड़के आक्रमण कर दिया। भारतीय मुसलमान भी इस घटनासे क्रुद्ध हो उठे क्योंकि उनका विश्वास था कि यदि पूर्णतया नहीं तो आंशिक रूपसे अंग्रेज भी इसके लिए जिम्मेदार हैं। सन् १९१२ में बाल्कानकी ताकतोंने जिन्होंने तुर्कीके खिलाफ दृढ़तासे युद्ध करनेके लिए बाल्कन लीग (Balkon League) बना ली थी, युद्धमें ६ लाखसे ऊपर फौजी सिपाहियोंको लगा दिया और कॉन्स्टेण्टिनोपलको छोड़कर शेष तुर्कीको ध्वस्त कर दिया। "भारतीय मुसलमानोंमें तुर्कीके प्रति आश्चर्यजनक रूपमें सहानुभूति उमड़ पड़ी। यों तो आक्रमणसे पूरे भारतमें सहानुभूति और आकुलता पैदा हो गयी थी, परन्तु मुसलमानोंमें तो बेहद आकुलता थी और प्रतीत होता था कि यह उनका व्यक्तिगत मामला है। डा० एम. ए. अन्सारीके नेतृत्वमें डाक्टरोंका एक शक्तिशाली मिशन तुर्की गया। गरीबोंने चन्दा दिया। जिस तेजीसे इस कार्यके लिए रुपया इकट्ठा हुआ, उस प्रकार भारतीय मुसलमानोंने कभी अपने उत्थानके लिए नहीं किया था। प्रथम महायुद्ध मुसलमानोंके लिए बड़ी गूढ़ समस्याका समय था क्योंकि तुर्की धुरी राष्ट्रोंका साथ दे रहा था। भारतीय मुसलमान असहाय थे और कोई सहायता न दे पाये। युद्धकी समाप्ति पर उनकी दबी हुई भावनाएँ खिलाफत आन्दोलनके रूपमें एकदम उबल पड़ीं।"[1]

लेकिन तुर्कीकी आंतरिक राजनीतिके कारण भारतीय मुस्लिम नेता दो तरफ बँट गये। तुर्कीके नौजवान, जिन्होंने पश्चिमके राजनीतिक विचारोंको अपना लिया था, यह चाहते थे कि सुल्तान अब्दुल हमीद तुर्कीको आधुनिक बनायें। उन्होंने एकता और प्रगति संघ (जिसको आमतौरपर 'नौजवान तुर्क' कहते थे) नामी एक संस्था स्थापित की और जब उन्होंने देखा कि सुल्तान उनकी माँगोंको माननेको तैयार नहीं हैं तो उन्होंने क्रांतिकारी कार्योंका आश्रय लिया और सुल्तानपर आधिपत्य जमा लिया। भारतके अधिकांश मुसलमानोंको यह बात पसन्द नहीं आयी और उनकी सहानुभूति सुल्तानके साथ थी। लेकिन ऐसे भी मुसलमान थे, यद्यपि वे अल्पमतमें थे, जिन्होंने 'नौजवान तुर्क' (यंग टर्क्स) के इस कार्यका स्वागत किया, क्योंकि इससे वैधानिक और सामाजिक सुधारोंकी आशा बलवती हो गयी थी और भारतीय मुसलमानोंके सामने अनुसरण करनेके लिए एक आदर्श उपस्थित हो गया। मौलाना आजाद भी इसी अल्पमतमेंसे थे। आजादकी प्रारम्भिक शिक्षा काहिराके अल अजहर विश्वविद्यालयमें हुई थी। वे अभी नवयुवक ही थे कि अपनी अरबी व फारसीकी विद्वत्ताके लिए प्रसिद्ध हो गये। इस्लामी परम्पराओंमें पले मौलाना आजाद मिस्र, तुर्की, सीरिया, फिलस्तीन, इराक और ईरानके मुख्य मुस्लिम

१. नेहरू-वही पुस्तक (डिस्कवरी ऑफ इण्डिया) पृष्ठ-३००

नेताओंके व्यक्तिगत सम्पर्कमें आये और इन मुल्कोंके राजनीतिक और सांस्कृतिक विकासने इनपर बहुत शक्तिशाली प्रभाव डाला। जिन युद्धोंमें तुर्की सम्मिलित हुआ, उनके लिए आजादके दिलमें बहुत हमदर्दी और दिलचस्पी थी। अपने विचारोंके प्रचारके लिए आजादने चौबीस वर्षकी उम्रमें 'अलहिलाल' नामका एक साप्ताहिक पत्र निकाला। पत्रके लेखोंको सरकार पसन्द नहीं करती थी। प्रेस कानून (प्रेस ऐक्ट) के अन्तर्गत अखबारसे जमानत माँगी गयी और आखिरकार सन् १९१४ में छापेखानेको सरकारने जब्त कर लिया। मौलाना आजादने एक दूसरा साप्ताहिक 'अल-बालग' निकाला जिसको सरकारने १९१६ में बन्द कर दिया। मौलाना आजाद कैद कर लिये गये और वे लगभग चार सालतक नजरबन्द रहे। १९१२ में अंग्रेजीमें एक दूसरा साप्ताहिक 'कॉमरेड' निकला। मौलाना मुहम्मद अली इसके सम्पादक थे। मौलाना अपने राजनीतिक जीवनके आरम्भमें 'अलीगढ़-विचार धारा' के अनुयायी थे, और उग्र राजनीतिके विरोधी थे। "१९११ में वंग-भंगके रद किए जानेसे उनको एक प्रबल आघात लगा और अंग्रेजोंकी नेकनीयतीमें उनका विश्वास डोल गया। बाल्कन युद्धने उनको उद्वेलित कर दिया और उन्होंने उद्वेगमें, तुर्की और इस्लामी परम्पराओंपर जिनका तुर्की प्रतिनिधित्व करता था, कई लेख लिखे। धीरे-धीरे वे अधिक अंग्रेज-विरोधी होते गये और प्रथम महायुद्धमें तुर्कीके प्रवेशसे यह क्रम पूरा हो गया। 'कॉमरेड' में प्रकाशित एक प्रसिद्ध लेख 'तुर्कीका निर्णय' ने अखबारका अन्त कर दिया। सरकारने 'कॉमरेड' का प्रकाशन बन्द कर दिया। इसके फौरन बाद ही सरकारने मौलाना मुहम्मद अली और उनके भाई शौकत अलीको जेलमें डाल दिया। ये दोनों युद्धकाल और उसके एक वर्ष बादतक नजरबन्द रहे। १९१९ के अन्तमें दोनों मुक्त हुए और तत्काल ही राष्ट्रीय कांग्रेस में शामिल हो गये।"[1]

इन घटनाओंका प्रभाव अलीगढ़ कॉलेजके विद्यार्थियोंपर पड़ना अनिवार्य था। १९१२ के बाल्कन युद्धसे वे इतने उद्वेलित हो उठे कि कष्टमें पड़े हुए तुर्कोंकी सहायताके लिए अपने खानेमेंसे पैसे बचाते। तुर्कीके पक्षमें उत्साहकी इस लहरसे कुछ मुस्लिम सरकारी नौकर घबड़ा उठे, यहाँतक कि उन्होंने तुर्की टोपियाँ पहनना छोड़ दिया।

१९१३ तक कांग्रेसके पार किये हुए पथपर लीग भी काफी आगे बढ़ चुकी थी। उसी वर्ष मार्चमें मुहम्मद शफीकी अध्यक्षतामें लखनऊमें लीगका वार्षिक अधिवेशन हुआ। इससे एक नवीन मुस्लिम राजनीतिक युगका आरम्भ होता है। लीगके विधानमें संशोधन कर इसको शुद्ध राजनीतिक संघटन बना दिया गया। अभीतक इसके उद्देश्य थे कि "भारतीयोंमें ताजके प्रति भक्ति बढ़ायी जाय, मुसलमानोंके हितोंकी रक्षा की जाय, और बिना ऊपर लिखे उद्देश्योंको हानि पहुँचाये भारतके लिए उपयुक्त स्वायत्त शासन हासिल किया जाय।" मुख्य प्रस्तावोंमें मजहरुल हक द्वारा पेश किया हुआ प्रस्ताव भी था जिसमें कहा गया था कि राष्ट्रीय उन्नतिके लिए हिन्दू और मुसलमानोंको कन्धेसे कन्धा मिलाकर काम करना चाहिये। बहुतसे कांग्रेसी नेता, जिनमें सरोजिनी नायडू भी शामिल थीं, अधिवेशनमें उपस्थित थे। बहुतसे मुस्लिम नेता तो लीगको और आगे ले जाना चाहते थे। शिबली नौमानी जैसे लोगोंने लीगके विधानमें 'उपयुक्त' शब्दकी खिल्ली उड़ाते हुए कविताएँ लिखीं। लेकिन इन्हीं शिबली नौमानीने १९०८ में "एक बहुत विद्वत्तापूर्ण लेखमें.......

१. नेहरू, वही पुस्तक, पृष्ठ ३०२

यह सिद्ध किया था कि शासक सत्ताके प्रति भक्ति रखना मुसलमानोंका धार्मिक कर्तव्य है।"

सर इब्राहीम रहमतुल्लाकी अध्यक्षतामें दिसम्बर, १९१३ में लीगका वार्षिक अधिवेशन आगरेमें हुआ। हिन्दू और मुसलमानोंके पारस्परिक सम्बन्ध अच्छे रखनेपर फिर जोर दिया गया। लेकिन आखिरकार लीग केवल मुसलमानोंका संघटन थी और इस बातका प्रतिबिम्ब प्रस्तावोंपर पड़ना अनिवार्य था। एक प्रस्ताव द्वारा फैजाबादके जिलाधीशकी साम्प्रदायिक झगडा रोकनेके लिए गौ-वध रोकनेकी आज्ञाकी निन्दा की गयी। एक दूसरे प्रस्ताव द्वारा स्थानीय संस्थाओंमें साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्वको बढ़ानेकी माँग की गयी। कानपुरकी १९१३ की एक घटनाने मुसलमानोंके अंग्रेजोंके प्रति क्रोधको और बढ़ा दिया। स्थानीय अधिकारियोंने अपनी सड़क बनानेकी योजनाके अन्तर्गत एक मस्जिदका कुछ हिस्सा गिरवा दिया। इस घटनासे मुसलमानोंके धार्मिक भाव उत्तेजित हो गये और वे फौरन ही घटनास्थलपर जमा हो गये। भीड़से तितर-बितर होनेको कहा गया और उसके इनकार करने पर गोली चला दी गयी। हिन्दुओंने गोलीकाण्डकी निन्दा और मुसलमानोंके प्रति सहानुभूति प्रकट की।

सन् १९१४ में लीगका कोई अधिवेशन नहीं हुआ। अगले वर्ष श्रीमजहरुल हककी अध्यक्षतामें अधिवेशन बम्बईमें हुआ। श्री जिन्नाके प्रस्तावपर, दूसरे समाजोंके साथ परामर्श-कर राजनीतिक सुधारोंकी योजना बनानेके लिए एक समिति नियुक्त की गयी। कांग्रेस और लीगके एक दूसरेके इतना नजदीक आ जानेसे आगा खाँको बहुत परेशानी हुई और उन्होंने लीगसे त्यागपत्र दे दिया। १९१५ के वर्षमें मुसलमानों और अंग्रेजोंके बीचकी खाई और अधिक बढ़ गयी। तुर्कीके पक्षका समर्थन करनेके अपराधमें, मुहम्मद अली, शौकत अली और अबुल कलाम आजादके अतिरिक्त और कई मुस्लिम नेताओंको कैदकर नजरबन्द कर दिया गया। ये नेता, सैयद फजलुल हसन, हसरत मोहानी, महमूद हसन, हुसैन अहमद मदनी व अजीज गुल थे। आखरी तीन नेता जहाजपरसे कैद करके मालटामें नजरबन्द कर दिये गये। कवि मुहम्मद इकबाल ऐसे भी लोग थे, जो इतने अधिक भयंकर न समझे गये और इस वजहसे वे बच गये। कवि इकबाल इस्लामके और तुर्कोंके कट्टर समर्थक थे और उन्होंने "दुश्मन नं० १" अँग्रेजोंके विरुद्ध कई कठोर और मर्मभेदी कविताएँ लिखीं।

तस्वीरका दूसरा रुख देखनेके लिए हमें सर सैयद अहमद और नवाब मोहसिनुल-मुल्कके तुर्कोंके प्रति भावोंको देखना पड़ेगा। मृत्युसे कुछ वर्ष पूर्व उन्होंने पान-इस्लामी उन्मादमें बढ़े हुए मुसलमानोंकी अंग्रेज-विरोधी भावनाके विरुद्ध संघर्ष किया। उन्होंने 'अलीगढ़ इन्स्टीटयूट-गजट' में लेख लिखकर सुल्तानके खलीफाके पदके अधिकारका खण्डन किया और मुसलमानोंको यह समझाया कि यदि भारतके अंग्रेज शासक लाचारीसे तुर्कोंके प्रति मैत्रीपूर्ण नीति न बरत सके तो भी उनके प्रति वफादार रहना चाहिये। सन् १९०६ में नवाब साहबने घोषणा की कि भारतीय मुसलमानोंके खलीफा तुर्कोंके सुल्तान नहीं हैं। उन्होंने इसपर जोर दिया कि अंग्रेजोंके प्रति राजभक्त रहना मुसलमानोंका धार्मिक कर्तव्य है।

१९१५ में लीगके अधिवेशनके अध्यक्षने अपने भाषणमें कहा—"अंग्रेजी सम्राटकी सुरक्षामें देशकी जरूरतों और आवश्यकताओंके उपयुक्त स्वायत्त शासनकी माँगकी आवश्यकता है।" उनका भाषण इन शब्दोंके साथ खत्म हुआ "हमें दुःख है कि हमारे खलीफाकी सरकार हमारे सम्राटके साथ युद्धमें संलग्न है। हमें अपने साथी धर्मा-

वलिम्बयोंको अंग्रेजी सैनिकोंसे कन्धेसे कन्धा मिलाकर लड़ते देखकर प्रसन्नता होती। युद्धके बारेमें अपनायी गयी इस्लामी देशोंकी नीतिके बारेमें किसीकी कोई भी राय क्यों न हो, भारतीय मुसलमानोंकी न कभी यह इच्छा रही है और न हो सकती है कि अंग्रेजी और इस्लामी सरकारोंके बीच शत्रुता पैदा हो जाय। और मुसलमानोंका यह सबसे बड़ा दुर्भाग्य है कि दोनोंमें शत्रुता पैदा हो गयी है। मेरी तफसीलमें जानेकी कोई इच्छा नहीं है लेकिन हमारे सहयोगी धर्मावलम्बियोंके बहुत बड़े बहुमत और काफी संख्यामें अंग्रेजोंका भी ख्याल है कि यह शत्रुता ब्रिटेनकी पिछली वैदेशिक नीति और कूटनीतिज्ञताकी असफलताका परिणाम है। खैर! जो भी हो, इस्लामके अनुयायियोंकी यह आन्तरिक उत्कट इच्छा है, कि जब भी अमन आये—और खुदासे दुआ माँगते हैं कि जल्दसे जल्द अमन कायम हो—मुस्लिम देशोंके साथ इस प्रकारका व्यवहार न किया जाय जो उनके लिए अपमान-जनक हो।"[1]

अगले वर्ष लीग और कांग्रेसने अंग्रेजोंका सामना संयुक्त मोर्चा बनाकर किया। इस दौरतक आनेके लिए कांग्रेसके पिछले तीन वर्षोंके इतिहासपर दृष्टि डालना आवश्यक है। सन् १९१३ में कांग्रेसका अधिवेशन कराचीमें नवाब सैयद मुहम्मदकी अध्यक्षतामें संपन्न हुआ। वे खान बहादुर और जागीरदार थे, और सत्तरह वर्षोंतक प्रान्तीय अथवा केन्द्रीय विधान परिषदोंके सदस्य रह चुके थे। वे १८९४ से कांग्रेसके अधिवेशनोंमें सम्मिलित होते आ रहे थे और १९१५ में इसके महामन्त्री बने। अपने अन्तस्तलतक राजभक्त, उन्होंने अंग्रेजोंके पक्षका औचित्य सिद्ध करनेकी चेष्टा की। "हम जो कुछ भी उन्नति करनेमें समर्थ हो सके हैं" उन्होंने कहा, "और मैं कह सकता हूँ कि गत ५० वर्षोंमें हमने विलक्षण उन्नति की है, इन सबका अधिकतर श्रेय हमारी सरकारकी प्रगतिशील प्रवृत्तियों और जनताकी जरूरतों और आकांक्षाओंके प्रति सहानुभूतिको है।" उन्होंने तो यहाँतक कहा कि "लड़ाओ और राज्य करो" की नीति सरकारकी नहीं है। अपने समर्थनमें उन्होंने भारत सचिवके भाषणका (जो उन्होंने उसी वर्ष लोकसभामें किया था) उल्लेख किया जिसमें लॉर्ड मांटेग्यूने कहा कि "मैं यह बात जोर देकर कहता हूँ कि यदि मुस्लिम और हिन्दू समाजके नेता आपसमे मिल-बैठकर, अपने बीचमें भिन्न परंपराओं और विचारोंमें मतभेदके कारण समय समयपर उठनेवाले सवालोंको तय कर लें तो सरकार उन्हें सहयोग देनेको सर्वदा प्रस्तुत है।" नवाब सैय्यद मोहम्मदका विश्वास था "अंग्रेजी सरकारकी रक्षामें उन्नतिकी ऐसी कोई सीमा नहीं है जो हम पा न सकें।"

हिन्दुओं और मुसलमानोंके मतभेदोंका विश्लेषण करते हुए उन्होंने कहा कि मुसलमानोंके राजनीतिक दृष्टिसे पिछड़े होनेका कारण उनका शिक्षामें फिसड्डीपन है। उन्होंने हिन्दुओंसे अपील की कि उन्नति और प्रगतिमें बाधक शिक्षाकी असमानताको हटायें।

कराची अधिवेशनने कांग्रेसके आगामी अधिवेशनके लिए कांग्रेस लीग-एकताका रास्ता पक्का कर दिया। कांग्रेस और लीगके अधिवेशनोंमें नेताओंने एकता करनेकी भावना प्रकट की। इस बातपर जोर दिया गया कि दोनों संघटनों और समाजोंके आदर्श समान हैं। दोनों पक्ष इस बातका ईमानदारीसे विश्वास करते थे कि "दोनों की समान मातृभूमिकी उन्नति सब लोगोंके स्वेच्छापूर्वक सहयोगपर निर्भर है।"

---

1. लवेटसे उद्धृत, वही पुस्तक (ए हिस्ट्री ऑव दि इंडियन नेशनलिस्ट मूवमेण्ट) पृष्ठ १०१-१०२

कांग्रेसने माँग की कि भारत सचिव और उसकी कार्यकारी समितिमें सुधार किया जाय और उनकी तनख्वाह अंग्रेजी खजानेसे दी जाय। यह प्रस्ताव मोहम्मद अली जिनाने पेश किया था। जिनाने भारत सचिवका जिक्र करते हुए कहा कि "वे भारतके किसी भी मुगल शासकसे बड़े मुगल हैं।" प्रस्तावमें माँग की गयी थी कि कार्यकारी समितिमें कुछ तो चुने हुए सदस्य हों और कुछ नामजद। निर्वाचित सदस्योंको केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान परिषदोंके निर्वाचित सदस्य चुनें।

१९१४ में जब प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हो गया तो कुछ लोगोंने राय दी कि कांग्रेस अधिवेशन करनेसे सरकारको हैरानी होगी। लेकिन कांग्रेस अधिवेशन, जैसा कि स्वागत समितिके अध्यक्षने कहा, सम्राटके प्रति अडिग भक्ति और प्रेमका आश्वासन देनेके लिए हुआ। युद्धकी घोषणाके पूर्व कुछ कांग्रेसी नेताओंने जो उस समय भारत कार्यकारी (इंडिया कौंसिल) के प्रस्तावित सुधारोंके सिलसिलेमें लन्दनमें थे, एक शिष्टमण्डल बनाकर भारत सचिवके द्वारा एक पत्र सम्राटको लिखा। शिष्टमण्डलमें सर्वश्री एस. ए. जिना, लाजपतराय, एन एम. समर्थ, बी. एन. शर्मा और एस. एस. सिनहा थे। उन्होंने "बाहरी दुश्मनके खतरेके समय अंग्रेजी सिंहासनको" भारतकी पूर्ण राजभक्तिका विश्वास दिलाया और कहा कि "भारतीय जनता स्वेच्छासे और सम्पूर्ण योग्यतासे सरकारके साथ सहयोग करनेको सहर्ष प्रस्तुत है, और सरकारको अपनी सेवाएँ स्वीकार करनेका अवसर देनेकी इच्छुक है।" गान्धीजीने भी जो युद्ध-घोषणासे पूर्व लन्दन आ गये थे, भारत उप-सचिव (अंडर सेक्रेटरी आव स्टेट फार इण्डिया) को एक पत्र भेजा जिसमें उन्होंने लिखाः—"सम्राटके संकटके समय, हममेंसे बहुतोंने श्रेयस्कर समझा कि जब बहुतसे अँग्रेज अपना काम-धाम छोड़कर सम्राटकी सेवा करनेके लिए आ रहे हैं, तो हम भारतीय जो ब्रिटेनमें रहते हैं, और जिनके लिए सम्भव हो, तुरत ही बिना शर्त लगाये साम्राज्यकी सेवाके लिए प्रस्तुत हो जायँ। अपनी तरफसे और उनकी तरफसे भी जिनके नाम परिशिष्टमें दिये गये हैं, अधिकारियोंको हमारी सेवाएँ अर्पित हैं। हम आशा करते हैं कि क्रियूके माननीय मारक्विस हमारा प्रस्ताव स्वीकार करेंगे। हम सादर इस बातपर जोर देना चाहते हैं कि इस समय जो विचार सर्वप्रथम हमारा पथ-प्रदर्शन कर रहा है वह यह है कि हम जो कुछ भी क्षुद्र सहायता दे सकनेके योग्य समझे जायँ, दें, जिससे हम सिद्ध कर दें कि यदि हम इस महान साम्राज्यकी सदस्यताकी विशेष सुविधाओंका उपभोग करनेके इच्छुक हैं तो उसकी जिम्मेदारियोंमें भी हिस्सा लेनेको तैयार हैं।

अवधिकी लगभग पूरी समाप्तिपर तिलकको माण्डले जेलसे रिहा कर दिया गया था। छूटने पर वे कांग्रेसमें फिर शामिल होना चाहते थे, परन्तु नरमदलीयकी हैसियतसे नहीं। उनका तीन सूत्री कार्यक्रम था (१) कांग्रेसका आपसी समझौता। (२) राष्ट्रीय दल (नैशनलिस्ट पार्टी) का पुनस्संघटन और होमरूल (स्वशासन) के लिए उद्वेलन प्रारम्भ करनेके लिए भूमि तैयार करना।

कार्यक्रमके पहले सूत्रको ही कार्यान्वित करनेके लिए आवश्यक था कि कांग्रेस प्रतिनिधियोंके चुनावके क्षेत्रको विस्तृत किया जाय। १९०७ की फूटके बादसे कांग्रेसमें केवल नरम दलवाले ही रह गये थे और सिर्फ नरमदलीय विचारधाराकी संस्थाओंको प्रतिनिधियोंका चुनाव करनेके लिए निर्वाचक मण्डल (इलेक्टोरल कालेजेज) की मान्यता मिली हुई थी।

तिलक चाहते थे कि कांग्रेसविधानमें संशोधन कर दिया जाय ताकि राष्ट्रीय दलके लोगोंको भी प्रतिनिधि चुने जानेका अधिकार प्राप्त हो। कुछ नेता इस संशोधनसे सहमत थे परन्तु गोखलेने इसका विरोध किया। गोखले समझते थे कि तिलकके कांग्रेसमें सम्मिलित होनेका अर्थ पुराने संघर्षकी पुनरावृत्ति होना ही होगा। पहले उन्होंने संशोधनके पक्षमें अपना मत दिया था, परन्तु फिर सोचकर अपना विचार बदल दिया। वास्तवमें संशोधन श्रीमती बेसेण्टने पेश किया। बेसेण्ट अभी हालहीमें कांग्रेसमें शामिल हुईं थीं और वे नरम और राष्ट्रीय दलके लोगोंको एक साथ लानेके लिए प्रयत्नशील थीं।

१९१४ में भूपेन्द्रनाथ बसुकी अध्यक्षतामें कांग्रेस अधिवेशन मद्रासमें हुआ। प्रथम बार सम्राटके प्रतिनिधि (मद्रासके गवर्नर) अधिवेशनमें सम्मिलित हुए और उसकी कारवाईमें भाग लिया। जैसे ही वे पंडालमें आये, उपस्थित लोगोंने खड़े होकर उनका स्वागत किया। सम्राटके प्रति कांग्रेसकी वफादारीका विश्वास दिलाते हुए एक प्रस्ताव पेश किया गया। ऐसा प्रबन्ध किया गया कि यह प्रस्ताव उस समय पेश किया जाय जब गवर्नर महोदय अधिवेशनमें पधारें। इस प्रस्ताव द्वारा 'अंग्रेजी सरकारके प्रति अटूट भक्ति' प्रगट की गयी। युद्धक्षेत्रमें भारतीय सिपाहियोंकी वीरतासे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे लोगोंके हृदयोंमें यह आशा पैदा हो गयी थी कि इसका राजनीतिक पुरस्कार मिलेगा। लेकिन दूसरे लोगोंका विचार था कि 'स्वशासन' भारतका अधिकार है और अधिकारस्वरूप ही यह हमें मिलना चाहिये, पुरस्कारके रूपमें नहीं। इसी विचारको और अधिक विकसित करते हुए श्रीमती बेसेण्टने अनुग्रह पुरस्कारके प्रश्नपर बोलते हुए कहा कि "यहाँपर भारतकी राज-भक्तिका पुरस्कार मिलनेकी बात कही गयी है। परन्तु भारत सौदा और मोल-भाव नहीं करेगा कि अपने सपूतोंके रक्त और अपनी सुपुत्रियोंके अमूल्य आँसुओंके बदले हमको स्वराज्य दिया जाय। साम्राज्यकी प्रजा होनेके नाते भारत अपना अधिकार माँगता है, न्याय माँगता है। भारतने यह अधिकार युद्धसे पूर्व माँगा था। भारत युद्धकालमें यही माँग कर रहा है। भारत युद्ध समाप्त होने पर भी यही अधिकार माँगेगा। लेकिन पुरस्कारके रूपमें नहीं, बल्कि अधिकारके रूपमें। इस सिलसिलेमें कोई मिथ्या धारणा नहीं हो सकती।" यद्यपि यह बात स्पष्टतया सामने नहीं आयी, परन्तु अधिवेशनमें किये गये भाषणोंकी पृष्ठभूमिमें यह प्रश्न बराबर उठता रहा कि—भारत आखिर किस लिए युद्ध कर रहा है ? अगर भारत साम्राज्यके लिए युद्ध कर रहा है, तो उसका पद वही होना चाहिये जो साम्राज्यके अन्य सदस्य-राष्ट्रोंका है। कांग्रेसने एक प्रस्ताव पास किया—"वर्तमान संकटमें प्रदर्शित भारतीय जनताकी अटूट और गहरी राज-भक्तिको देखते हुए, कांग्रेसका यह अधिवेशन सरकारसे अपील करता है कि वह इस भक्ति और निष्ठाको स्थिर बनाये। सम्राटके भारतीय और दूसरे प्रजाजनों के बीचके ईर्ष्या उत्पन्न करनेवाले भेदोंको मिटाकर, २५ अगस्त १९११ को खरीतेमें किये गये वादोंको पूराकर, और ऐसे कदम उठाकर जिनसे भारतको साम्राज्यसंघके योग्य सदस्यकी मान्यता मिल सके और जनताके अधिकारोंका सम्पूर्ण और स्वतंत्र उपभोग किया जा सके, भारतकी राज भक्तिको साम्राज्यके लिए बहुमूल्य एवं स्थायी सम्पत्तिमें परिणत कर दे।" प्रस्तावका समर्थन करते हुए श्रीमती बेसेण्टने कहा कि "अगर कलका बढ़ा हुआ बोअर लोगोंका राष्ट्र जिन्होंने अंग्रेजोंके विरुद्ध युद्ध किया, इस योग्य समझा जा सकता है कि उसको स्वतन्त्रता मिले तो भारत, जो इंगलैण्डके लिए युद्ध कर रहा है और जिसकी महान प्राचीन परम्पराएँ हैं, क्यों नहीं इस योग्य

हो कि उसे स्वतन्त्रता मिले, वसुने राष्ट्रपतिके पदसे भाषण करते हुए कहा कि "देशका शासन अभीतक विदेशी सिविल-सर्विसके हाथमें है। लगभग १४०० सिविल-सर्विसके हाकिमोंमें केवल ७७ भारतीय हैं। उन्होंने माँग की कि भारतीयोंको हथियार रखनेका हक दिया जाय, फौजमें जिम्मेदारीके पद दिये जायँ, साम्राज्यकी सेवामें नेतृत्व ग्रहण करनेका अवसर मिले, और अपने घरोंकी रक्षाके लिए स्वयंसेवकोंकी सेना बनानेका अधिकार दिया जाय।" एक प्रस्ताव द्वारा हथियार-कानून (आर्म्स ऐक्ट) में संशोधन करनेकी तथा अन्य प्रस्ताव द्वारा प्रान्तीय स्वराज्यकी माँग की गयी।

सन् १९१५ में कांग्रेसका तीसवां अधिवेशन बम्बईमें वाइसरायकी कार्यकारिणीके प्रथम भारतीय सदस्य सर सत्येन्द्रप्रसन्न सिनहाकी अध्यक्षतामें हुआ। कांग्रेसके इतिहासमें प्रथम बार ऐसा प्रतीत होता था कि कांग्रेस नेतृत्वविहीन हो गयी है। श्री गोखले और फीरोजशाह मेहता दोनोंकी मृत्यु हो चुकी थी। वाचा और चन्दावरकर दोनों वृद्धावस्थाके कारण निष्क्रिय हो गये थे। तिलक अभीतक कांग्रेसके बाहर थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी "नयी विचारधारासे सहमत नहीं हो पाये थे। मदनमोहन मालवीय नरमदलीय विचारोंको लेकर कांग्रेसका नेतृत्व करनेकी स्थितिमें नहीं थे और न उनमें इतनी क्षमता थी कि वे अपने विचारोंको मनवा सकें।"[1] गान्धीजी यद्यपि भारत आ चुके थे परन्तु वे राजनीतिमें भाग न ले सकते थे क्योंकि गोखलेने उनके ऊपर भाग न लेनेका प्रतिबन्ध लगा दिया था। गान्धीजीको सलाह दी गयी थी कि वे चुपचाप एक वर्षतक भारतीय राजनीतिक परिस्थितिका अध्ययन करें। लेकिन गान्धीजीके बम्बई आनेसे प्रेसीडेन्सी (हाते) के गवर्नर लार्ड विलिंगडन व्यग्र हो उठे। जैसे ही वे बम्बई पहुँचे, गोखलेने उन्हें सूचना दी कि गवर्नर साहब उनसे मिलनेको इच्छुक हैं। वे गवर्नर साहबसे मिले। मामूली बात करनेके बाद गवर्नरने गान्धीजीसे कहा "मैं आपसे केवल एक बात चाहता हूँ और वह यह कि जब भी आप सरकार सम्बन्धी कोई कदम उठायें तो उससे पहले मुझसे मिल जरूर लें। गान्धीजीने उत्तर दिया "मैं यह आश्वासन तो आपको आसानीसे दे सकता हूँ, क्योंकि एक सत्याग्रहीके रूपमें मेरा यह सिद्धान्त रहा है कि जिन लोगोंसे मुझे संघर्ष करना है, उनके दृष्टिकोणको समझनेकी चेष्टा करूँ। और जहाँतक सम्भव हो उनके दृष्टिकोणसे सहमत हो सकूँ। दक्षिण अफ्रिकामें, मैंने इस नियमका कड़ाईसे पालन किया था और यहाँ भी वही करूँगा। लार्ड विलिंगडनने उन्हें धन्यवाद दिया और कहा कि "जब आपकी इच्छा हो आप मेरे पास आयें और तब आपको पता लगेगा कि मेरी सरकार जान बूझकर कोई गलती नहीं करती।" बातचीत गान्धीजीके उत्तरके बाद खत्म हो गयी। गान्धीजीने कहा कि "यही विश्वास मेरा संबल है।"

बम्बई कांग्रेस अधिवेशनमें फिर नरमदलीय विचारधाराका आधिपत्य रहा। राष्ट्रीय और नरमदलीय सदस्योंके बीच समझौता करानेके सारे प्रयत्न निष्फल रहे। स्वाभाविक था कि राष्ट्रपतिका भाषण सभी भूतपूर्व नरमदलीय राष्ट्रपतियोंके भाषणोंसे अधिक नरम हो क्योंकि सरकारसे उनका सम्पर्क बहुत गहरा रहा था। श्री सीतारामैयाने तो इस भाषणको "सबसे अधिक प्रतिक्रियावादी भाषण कहा है" लेकिन अधिवेशनमें प्रतिनिधि बहुत संख्यामें सम्मिलित हुए थे। २२५९ प्रतिनिधियोंने इस सम्मेलनमें भाग लिया।

१. सीतारामैया—हिस्ट्री ऑफ इण्डियन नेशनल कांग्रेस, जिल्द १-पृष्ठ-१२०

और सूरतकी असफलताके बाद यह उपस्थिति एक बहुत बड़ी कामयाबी समझी गयी। श्री सिनहाने अपने भाषणके प्रारम्भमें कहा कि "आज यह मेरा पहला कर्तव्य है कि मैं एक बार फिर अपने आदरणीय और प्रिय सम्राटके चरणोंमें भक्ति प्रकट करूँ। ......मेरा दूसरा कर्तव्य, अपने उन भाइयोंके प्रति हार्दिक कृतज्ञता और अति प्रशंसा प्रगट करना है जो साम्राज्यकी सुरक्षा हेतु यूरोप, एशिया, और अफ्रिकाके युद्धस्थलमें प्राणोंकी बाजी लगाये हुए हैं। स्वराज्यकी माँगपर, राष्ट्रपतिने कहा "प्रतिनिधि बन्धुओ, मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि भारतकी आकांक्षाओंको 'स्वराज्य' का वही रूप सन्तुष्ट कर सकता है जिसका सुन्दर वर्णन राष्ट्रपति लिंकनने किया है, जनताका राज्य, जनताके लिए और जनता द्वारा।" जब मैं यह बात कहता हूँ तो निमिष मात्रके लिए भी मेरा यह आशय नहीं है कि हमारे ऊपर जो शताब्दियोंसे भिन्न-भिन्न लोगोंका शासन रहा है उन सबमें अच्छा अंग्रेजी शासन नहीं है।"

सिनहाके भाषणके अंशसे काफी विवाद उठ खड़ा हुआ। उन्होंने कहा था "यदि आज अंग्रेजी राष्ट्र भारतको तत्काल ही बिना किसी शर्त और कीमतके पूर्ण स्वराज्यका दान देनेको प्रस्तुत भी हो जाय—जिनका आज कांग्रेससे सर्वाधिक मतभेद है वही यह बात सबसे ज्यादा अस्वीकार करते हैं कि अंग्रेज इसके लिए तैयार हो जायँगे—तो कमसे कम मुझे इसमें सन्देह ही है कि इस प्रकारका दान लेनेके योग्य हम हैं भी, क्योंकि यह तो राजनीतिका साधारण सिद्धान्त है कि राष्ट्रोंको भी व्यक्तियोंकी भाँति आजादी ग्रहण करने योग्य बननेके लिए परिपक्वता प्राप्त करनेकी आवश्यकता है। किसी भी राजनीतिक संस्थाके लिए कोई चीज इतनी हानिप्रद नहीं है जितनी कि अपरिपक्वता। और न हमको यही भूलना चाहिये कि स्वतन्त्र होते ही भारत अपनी प्राचीन गौरवमयी स्थिति पुनः प्राप्त कर लेगा।"

लेकिन सुरेन्द्रनाथ बनर्जीकी चेष्टासे कांग्रेसने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें कहा गया था कि अब वह समय आ गया है जब कि सरकारको स्वराज्य देनेकी तरफ सुधारोंके कुछ ठोस कदम उठाने चाहिये, सरकारी व्यवस्थाको और अधिक उदार बनाना चाहिये ताकि जनताका सरकारी व्यवस्थापर प्रभावयुक्त नियन्त्रण हो सके, और इसके लिए 'प्रान्तीय स्वराज्य', जिसमें आर्थिक स्वतन्त्रता भी शामिल हो, तत्काल ही मिलना चाहिये। विधान परिषदोंको बढ़ाना चाहिये ताकि उनमें वास्तवमें जनताके सभी वर्गोंका वास्तविक प्रतिनिधित्व हो और सरकारी प्रशासनपर उनका प्रभावशाली नियन्त्रण हो। प्रस्तावमें यह भी माँग की गयी कि वर्तमान कार्यकारी परिषदों (एक्जीक्यूटिव कौंसिल्स) का पुनःसंघटन किया जाय और जिन प्रान्तोंमें अभी ये संस्थाएँ नहीं हैं वहाँ वे फौरन शुरू की जायँ; भारत सचिवकी कार्यकारिणीमें सुधार किया जाय या उसे समाप्त कर दिया जाय; और स्थानीय स्वायत्त शासनको यथासम्भव आरम्भ किया जाय। प्रस्तावमें अखिल भारतीय कांग्रेस महासमितिको यह अधिकार दिया गया कि वह सुधारोंकी योजना और शिक्षाप्रद तथा प्रचारात्मक अनवरत कार्यका एक कार्यक्रम तैयार करे। प्रस्तावका सबसे महत्वपूर्ण अंश यह था कि सुधार-योजना बनानेके लिए कांग्रेस महासमिति, ऑल इण्डिया मुस्लिम लीग से परामर्श करे। श्रीमती बेसेण्टने प्रस्तावका समर्थन करते हुए कहा कि "यह प्रस्ताव, कांग्रेसके गत ३० वर्षोंके गौरवशाली इतिहासमें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसके सामने आये प्रस्तावोंमें सबसे महत्वपूर्ण है।" लीग और कांग्रेस

दोनों एक दूसरेसे परस्परिक सहयोगके लिए कटिबद्ध हो रही थीं। उसी समय हो रहे लीगके अधिवेशनमें कांग्रेसके कुछ प्रधान नेता सम्मिलित हुए। लीगने भी दूसरी राजनीतिक पार्टियोंसे परामर्श करके स्वराज्यकी योजना बनानेके लिए एक समिति नियुक्त की।" इस सहयोगकी भावनाने उग्रदलीय लोगोंको दुबारा कांग्रेसमें सम्मिलित होनेके लिए प्रेरित किया और अगले वर्ष वे कांग्रेसमें फिर आ भी गये। उनकी शक्ति भी काफी बढ़ चुकी थी। कांग्रेसने अंग्रेजी सरकारके प्रति भारतीय जनताकी निष्ठा प्रकट करते हुए; युद्धमें अंग्रेजोंके ध्येय और पक्षको न्यायपूर्ण समझते हुए; और वॉइसराय लार्ड हार्डिञ्जके कार्यकालको बढ़ानेकी माँग करते हुए प्रस्ताव पास किये।

कांग्रेसने ऐसे संघोंके तत्वाधानमें, जिनको स्थापित हुए दो वर्षसे कम न हुए हों तथा जिनके उद्देश्य—"साम्राज्यके अन्तर्गत वैधानिक उपायोंसे स्वराज्यकी प्राप्ति हो", सार्वजनिक सभामें निर्वाचित कर प्रतिनिधि भेजनेकी अनुमति देकर, राष्ट्र-दलीय-लोगोंके कांग्रेसमें आनेका रास्ता साफ कर दिया। तिलकने इसका स्वागत किया और उन्होंने फौरन अपने दलकी कांग्रेसमें शामिल होनेकी इच्छा प्रकट की।

सन् १९१५ के कांग्रेस अधिवेशनकी एक विशेष घटना विषय-समितिके निर्वाचनमें गान्धीजीकी हार थी। तब राष्ट्रपतिको गान्धीजीको नामजद करना पड़ा।

भारतीय राजनीतिमें अब एक नवीन युगका आरम्भ होता है। अलीगढ़ कॉलेजके प्रधानाध्यापक बेकने, इतने परिश्रमसे कॉंग्रेसी उद्वेलनोंसे मुसलमानोंको जो पृथक किया था, सन् १९१६ में वह सब मिट्टीमें मिल गया। कांग्रेस और लीग दोनोंने अपने वार्षिक-अधिवेशन लखनऊमें किये। दोनों संघटनोंने, जो अभीतक राजनीतिमें अलग-अलग चलते थे पृथकताकी नीति छोड़कर सुधारोंकी संयुक्त योजना पेश की। राष्ट्रपति अम्बिकाचरण मजूमदार ने अपने भाषणमें गर्वसे कहा "हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न हल हो चुका है और दोनों जातियाँ स्वराज्यकी माँग संयुक्त रूपसे करनेको सहमत हो गयी हैं। अभी हालमें ही कलकत्तेमें अखिल-भारतीय कॉंग्रेस महासमिति और लीगके प्रतिनिधियोंने दो दिनके विचार-विमर्शके बाद एक आवाजसे यह फैसला किया है कि भारतके लिए प्रतिनिधि-सरकारकी संयुक्त माँग पेश की जाय। अति आवश्यक समस्या सुलझ गयी है और मुख्य चीज हासिल कर ली गयी है।"

मजूमदार वकील और लेखक थे और कांग्रेसके लगभग जन्मसे ही उनका उससे सम्बन्ध रहा था। उन्हें सफल वक्ता होनेका दुर्लभ गुण प्राप्त था। उन्होंने बंग-भंग विरोधी आन्दोलनमें सक्रिय भाग लिया था। उन्होंने जनताको अनुशासित और स्वराज्यके लिए तैयार रहनेके लिए आह्वान किया। लीग और कांग्रेस दोनोंके संयुक्त विचार-विमर्शके फलस्वरूप बनी सुधारोंकी योजनाका मुख्य प्रस्ताव 'लखनऊ समझौता' के नामसे प्रसिद्ध है। योजनाके दो भाग थे। प्रथम भागमें मुस्लिम समस्यापर विचार किया गया था और द्वितीय भागमें प्रस्तावित सुधार थे। प्रथम भाग, जिसको कांग्रेस, लीग और भारत सरकारने भी स्वीकार कर लिया था, इस प्रकार था।

"चुनाव द्वारा मुख्य अल्पमतवाली जातियोंके प्रतिनिधित्वका उचित प्रबन्ध होना चाहिये तथा मुसलमानोंका प्रान्तीय विधान परिषदोंके लिए निर्वाचन विशेष निर्वाचकों द्वारा निम्नलिखित अनुपातमें होना चाहिये।

(१) पंजाब—निर्वाचित भारतीय सदस्योंकी संख्याके आधे

(२) संयुक्त प्रान्त—निर्वाचित भारतीय सदस्योंकी संख्याके ३० प्रतिशत
(३) बंगाल— ,, ,, ,, ,, ४० प्रतिशत
(४) बिहार— ,, ,, ,, ,, २५ प्रतिशत
(५) मध्यप्रान्त— ,, ,, ,, ,, १५ प्रतिशत
(६) मद्रास— ,, ,, ,, ,, १५ प्रतिशत
(७) बम्बई— ,, ,, ,, ,, के एक तिहाई

शर्त यह थी कि कोई भी मुसलमान उन निर्वाचनोंको छोड़कर जो विशेष हितोंका प्रतिनिधित्व करनेवाले निर्वाचकों द्वारा हुए हों, अन्य किसी केन्द्रीय या प्रान्तीय विधान परिषदोंके निर्वाचनमें भाग नहीं लेगा।

यह भी शर्त थी कि किसी भी गैरसरकारी सदस्य द्वारा प्रस्तावित विधेयक या प्रस्ताव या उसकी किसी भी धारापर जो एक या दूसरी जातिके मसलोंसे सम्बन्ध रखती है—और इसका निश्चय केन्द्रीय या प्रान्तीय विधान परिषदोंमें उसी जातिके सदस्य करेंगे—विचार नहीं किया जायगा उस हालतमें जब कि सम्बन्धित जातिके तीन-चौथाई सदस्य उस केन्द्रीय या प्रान्तीय विधान परिषदमें उस विधेयक या उसकी किसी धारा या प्रस्तावका विरोध करें।"

सुधारोंकी योजनाके द्वितीय भागमें माँग की गयी थी कि साम्राज्यके पुनस्संघटनमें भारतको पराधीनताके पदसे उठाकर साम्राज्यका एक बराबरीका हिस्सेदार स्वशासित राज्य मान लेना चाहिये। प्रान्तीय विधान परिषदोंमें कुल सदस्योंका ४/५ भाग निर्वाचित और १/५ नामजद होना चाहिये। जितना सम्भव हो सके उतने विस्तृत मताधिकार द्वारा परिषदके सदस्योंका सीधा निर्वाचन होना चाहिये।

प्रान्तीय गवर्नरों और उनकी कार्यकारिणीके सदस्योंको आमतौरपर भारतीय सिविल सर्विस (इण्डियन सिविल सर्विस) का सदस्य नहीं होना चाहिये। प्रशासन कार्यशक्ति गवर्नर जनरलमें और प्रान्तोंमें, गवर्नरके हाथों तथा मंत्रियोंमें निहित होना चाहिये जिनमेंसे कमसे कम आधे मन्त्रिगण विधान परिषदके सदस्यों द्वारा निर्वाचित हों। प्रान्तोंको आंतरिक मामलोंमें पूरा स्वराज्य होना चाहिये, और स्थानीय स्वायत्त शासन संस्थाओंका चेयरमैन निर्वाचित होना चाहिये। केन्द्रीय विधान परिषदके सदस्योंकी संख्या १५० होनी चाहिये, जिनमेंसे ४/५ निर्वाचित होने चाहियें और इन ४/५ सदस्योंका १/३ भाग पृथक निर्वाचन प्रणाली द्वारा मुसलमानों द्वारा निर्वाचित होना चाहिये। भारत सचिव और उसकी कार्यकारिणीको समाप्त कर देना चाहिये। केन्द्रीय विधान परिषदके लिए मत देनेवालोंके क्षेत्रमें वृद्धि होनी चाहिये। भारतकी एक राष्ट्रीय सेना होनी चाहिये, और प्रत्येक जातिके लोगोंको इसमें प्रवेशका अधिकार होना चाहिये। लगभग इसी प्रकारका एक स्मृतिपत्र केन्द्रीय विधान परिषदके उन्नीस गैर सरकारी सदस्योंने वाइसरायको भेजा।

लेकिन कांग्रेस, जैसा कि लखनऊ अधिवेशनमें पास हुए प्रस्तावसे मालूम होता है, यह नहीं चाहती थी कि भारतको एकदमसे स्वराज्य दे दिया जाये। प्रस्तावमें कहा गया था "कि श्रीमान् सम्राट् कृपाकर यह घोषणा करें कि अंग्रेजी नीतिका यह उद्देश्य और विचार है कि भारतको जल्दी ही 'स्वराज्य' दे दिया जाय।" यद्यपि मुस्लिम लीगको वस्तुतः मुसलमानोंका प्रतिनिधि मान लिया गया था, लेकिन कांग्रेस-मंचपर कुछ मुख्य मुसलमान

नेता विराजमान थे। उनमें मुहम्मदअली जिना, राजा महमूदाबाद, मजहरुल हक और ए. रसूल थे। अन्तिम सज्जनने वंग-भंग विरोधी आन्दोलनमें मुख्य भाग लिया था। उपस्थित नेताओंमें गान्धीजी भी एक कोनेमें बैठे हुए थे जिन्होंने अभीतककी काररवाईमें कोई सक्रिय भाग नहीं लिया था।

लखनऊ अधिवेशन ऐसे समय हुआ जब कि प्रथम महायुद्ध पूरी भीषणतासे हो रहा था और कुछ क्रान्तिकारी भारतमें सरकार विरोधी कार्योंके लिए दूसरे देशोंसे हथियार लानेका प्रयत्न कर रहे थे। यू. पी. की सरकारने कांग्रेसकी स्वागत-समितिको, अधिवेशनमें राजद्रोहात्मक भाषण न करनेके लिए चेतावनी भेजी। बंगाल सरकार जरिये मनोनीत अध्यक्षपर सरकारी आदेश जारी करवाया गया। परन्तु यू. पी. के गवर्नर सर जेम्स मेस्टन अधिवेशनमें सम्मिलित हुए। अध्यक्षने उनका स्वागत किया जिसका सर जेम्सने एक संक्षिप्त भाषणमें जवाब दिया।

बिहारके शोषित किसानोंने एक बार फिर अपने यूरोपीय जमींदारोंके विरुद्ध सर उठाया। इस प्रश्नने राजनीतिक नेताओंका ध्यान आकर्षित किया। कांग्रेसने नील पैदा करनेवाले किसानोंके बारेमें, और नील बागानके मालिकोंके दुर्व्यवहारकी निन्दा करते हुए प्रस्ताव पास किये और माँग की कि सरकारी और गैर-सरकारी लोगोंकी एक समिति इस खेतिहर झगड़ेकी जाँच करनेके लिए नियुक्त की जाय। गान्धीजीने इस झगड़ेके मूल कारणोंका अध्ययन करनेके लिए आगामी वर्ष कुछ समय बिहारमें व्यतीत किया। बिहारकी कहानी अन्यत्र लिखी जायगी।

जैसा कि हम दूसरी जगह बता चुके हैं, १८१८ के ऐक्टके तीसरे विनियमनका सरकार खुलकर प्रयोग कर रही थी। बंगालके ५०० नजरबन्दोंमें ६० केवल इसी विनियमनके अन्तर्गत नजरबन्द थे। यह आम विश्वास था कि नजरबन्दोंमें बहुतसे निर्दोष व्यक्ति भी थे। कांग्रेसने माँग की कि किसीको नजरबन्द करनेसे पहले सरकार स्पष्ट अभियोग बताये और अभियुक्तोंको अवसर दे कि वे विशेष अदालत (ट्रिब्यूनल) के सामने इन अभियोगोंका उत्तर दे सकें।

१९१६ में फिर गान्धीजी विषय समितिकी सदस्यतासे वंचित होते-होते बचे। लखनऊ अधिवेशनमें सम्मिलित प्रतिनिधियोंमें राष्ट्रीय दलके लोगों—तिलकके आदमियों—का बहुमत था। चूँकि विषय-समितिका चुनाव प्रान्तीय-आधारपर होता था इस कारण सम्भवतः तिलकके आदमी ज्यादा निर्वाचित हो गये। जब गान्धीजीका नाम पेश किया गया तो किसीने एक राष्ट्रीय दलवालेका भी नाम पेश कर दिया और उस समय जैसा वातावरण विद्यमान था, उसमें गान्धीजीको अधिक वोट नहीं मिले। परन्तु तिलकने उठकर घोषित किया कि गान्धीजी निर्वाचित हो गये।

मुहम्मद अली जिन्नाने १९१६ के लीग अधिवेशनकी अध्यक्षता की। अपने भाषणमें उन्होंने भारतकी समस्याका विश्लेषण किया कि "संक्षेपमें हमारे यहाँ अंग्रेज अफसरोंका एक कुशल अधिकारीवर्ग है जो केवल अंग्रेजी लोक-सभाके प्रति उत्तरदायी है। जो उदार निरंकुश शासनके तरीकोंसे एक ऐसी जनतापर हुकूमत कर रहे हैं जो अपने भाग्यको अच्छी तरह जानती है और राजनीतिक आजादी पानेके लिए शान्तिमय तरीकोंसे संघर्ष कर रही है। थोड़ेमें यह भारतकी समस्या है। यह अंग्रेज राजनीतिज्ञताका काम है कि वह इस समस्याका,

शान्तिमय, तत्काल और स्थायी हल निकालें।" उन्होंने कहा कि हिन्दुओंकी भाँति मुसलमानोंकी आँखें भी भविष्यपर लगी हुई हैं। फिर उन्होंने सारगर्भ बातें कहीं कि "हमारे बृहत् प्रायद्वीपमें ३१ करोड़ ५० लाख मनुष्य रहते हैं, जिनमें विभिन्न जातियों, संस्कृतियों, और धर्मके लोग हैं। मनुष्योंका यह बृहत् समुदाय, एक ही प्राकृतिक और राजनीतिक वातावरणमें एकत्र होकर भी नैतिक और राजनीतिक विकासके विभिन्न स्तरों में है। इसके माने हैं कि दृष्टिकोण, उद्देश्य और प्रयत्नोंमें विभिन्नता होगी।" लेकिन उन्होंने ज़ोर दिया कि भारतीय स्वराज्यके लिए अपनेको योग्य साबित करनेके लिए दृढ़प्रतिज्ञ हैं। हिन्दू-मुस्लिम समझौता भारतीय एकताके जन्मका द्योतक है। मुहम्मद अली जिनाने कहा कि मुसलमानोंके राजनीतिक उद्देश्य पूर्ण रूपसे वही हैं जो हिन्दुओंके हैं। उन्होंने यह माँग की कि मुसलमानोंको स्वयं अपना खलीफा निश्चित करनेका अधिकार होना चाहिये।

लीगके प्रस्ताव कांग्रेसमें पास किये गये प्रस्तावोंके लगभग अनुरूप थे। अधिवेशनमें एक दिन थोड़े समयके लिए लेफ्टिनेन्ट गवर्नर भी उपस्थित थे। जिनाने अपने आपको और लीगके नेताओंको सात करोड़ मुसलमानोंका स्वीकृत नेता घोषित किया।

उसी वर्षके आरम्भमें मुसलमानोंकी पान-इस्लामिक भावनाको फिर ठेस पहुँची। मक्काके शरीफ-ए. आजमने तुर्कीके सुल्तानके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। इस विद्रोहसे लीगके कुछ प्रधान नेताओंको, जो समझते थे कि 'शरीफ' ने अँग्रेजोंके प्रोत्साहनसे विद्रोह किया है, खेद और क्षोभ हुआ। उन्होंने एक सार्वजनिक सभा की और "मक्काके शरीफके नेतृत्वमें अरब विद्रोहियों और उनके समर्थकोंको इस्लामका शत्रु"[1] घोषित करते हुए निन्दाका प्रस्ताव पास किया।

---

१. लवेट वही पुस्तक, पृष्ठ १०५

अध्याय १५

गदरका षड्यन्त्र

बहुत वर्षोंसे, जैसा कि हम पिछले अध्यायोंमें देख चुके हैं, विश्वके विभिन्न भागोंमें रहनेवाले भारतीय भारतमें ब्रिटिश शासनको उखाड़ फेंकनेके उद्देश्यसे सशस्त्र क्रान्तिका संघटन करनेमें लगे हुए थे। सन् १९१४-१८ के महायुद्ध-कालमें उनके कार्योंमें खास तौरपर भारी उभार आया और विदेशोंसे हथियार जमा करके देशमें विद्रोह खड़ा करनेके इस बीच कई असफल प्रयत्न किये गये।

अमेरिका और कनाडामें उस समय प्रायः १५ हजार भारतीय, अधिकांशतः सिख थे, जो जीविकाकी तलाशमें वहाँ गये थे और वहाँके विभिन्न पेशोंमें खपकर वहीं बस गये थे। एक पराधीन मातृभूमिकी सन्तान होनेके नाते अमेरिकाके सामाजिक जीवनमें उनके विरुद्ध पक्षपात होता था। वे यह समझने लगे थे कि उनके आत्मसम्मानके लिए पहले भारतका विदेशी गुलामीसे मुक्ति पाना अनिवार्य है। प्रसिद्ध क्रान्तिकारी हरदयालने इन लोगोंको इस उद्देश्यके लिए प्रयत्न करनेकी प्रेरणा प्रदान की थी।

हरदयाल दिल्लीके रहनेवाले थे। पंजाब विश्वविद्यालयमें कुछ दिनों अध्ययन करनेके बाद सन् १९०५ में वे एक सरकारी छात्र-वृत्ति पाकर आक्सफोर्डमें अपनी शिक्षा पूरी करनेके लिए इंग्लैण्ड चले गये। वहीं उनके विचारोंमें परिवर्तन हुआ, और अपने अन्तरतमकी भावनाके प्रति न्याय करनेके लिए उन्होंने अपनी छात्रवृत्ति यह कह कर वापस कर दी कि मैं शिक्षाकी अंग्रेजी पद्धतिको ही पसन्द नहीं करता। सन् १९०८ में वे स्वदेश लौटे और लाहौरमें एक राजनीतिक कक्षा आरम्भ की जिसमें उन्होंने आम बायकाट तथा सविनय अवज्ञा द्वारा सरकारको समाप्त करनेका उपदेश दिया। परन्तु सन् १९११ में वे सैनफ्रांसिस्को गये जहाँ उन्होंने अमेरिकामें रहनेवाले भारतीयोंको विद्रोहके सिद्धान्तकी शिक्षा देनेके कार्यके लिए अपने आपको अर्पित कर दिया। उन्होंने सभाओंमें भाषण किये, और ऐसी संस्थाओंका संघटन किया जिनका संकल्प था कि "भारतसे ब्रिटिश शासन मिटा कर दम लेंगे।" नवम्बर सन् १९१३ में सैनफ्रांसिस्कोमें आयोजित एक सम्मेलनमें अमेरिकाके विभिन्न भागोंसे आये हुए भारतीयोंने भाग लिया, १५ हजार डालर चन्दा जमा हुआ और "इण्डियन एसोसियेशन"की स्थापना की गयी। एसोसियेशनने सन् १८५७ के विद्रोहके स्मारकके रूपमें हिन्दी, उर्दू, मराठी और गुरुमुखीमें "गदर" नामक एक पत्रिका प्रकाशित करनेका निश्चय किया। बादमें एसोसियेशनका ही नाम उक्त पत्रिकाके नामपर "गदरपार्टी" हो गया जिसके अध्यक्ष सोहन सिंह भखना और मंत्री हरदयाल चुने गये। शीघ्र ही पार्टीकी सदस्य संख्या ५००० तक बढ़ गयी और अमेरिका तथा कनाडामें कुल मिलाकर इसकी ६२ शाखाएँ खुल गयीं। जापानमें भी बरकतुल्लाहने पार्टीकी शाखा स्थापित कर दी। उसके बाद शंघाईमें मथुराप्रसादने और हांगकांगमें भगवानसिंहने शाखाएँ खोलीं। दूर दूर देशों जैसे मलाया, जापान, चीन, फिलीपाइन, फिजी, अर्जेंटाइनके भारतीय "गदर"का चन्दा भेजकर गाहक बनने लगे थे।

३१ दिसम्बर १९१३ के दिन सेक्रामेन्टोमें आयोजित एक सभामें दादाभाईने कहा-

कि जर्मनी इंग्लैण्डसे युद्ध छेड़नेकी तैयारी कर रहा है; अतः यही समय है जब हमें भावी क्रान्तिके लिए भारत जानेकी तैयारी करनी चाहिये। १६ मार्च सन् १९१४ को अमेरिकी अधिकारियोंने उन्हें गिरफ्तार कर लिया ताकि उन्हें भारत वापस भेजकर भारत सरकारको सौंप दिया जाय। पर हरदयालने जमानतपर अपनेको रिहा करा लिया और चुपकेसे स्विट्जरलैण्ड भाग गये।

हरदयालके उपदेश जिन सिद्धान्तोंका प्रयोग करते थे वे ब्रिटिश कोलम्बियाके सिखों और अन्य भारतीयोंतक पहुँच चुके थे। सन् १९१३ के दिसम्बरमें वानकोवरमें आयोजित एक सभामें "गदर" से उद्धृत एक कविता पढ़ी गयी जिसमें भारतीयोंको ललकारा गया था कि अंग्रेजोंको भारतसे निकाल बाहर करें। ब्रिटिश कोलम्बिया, वेतनकी ऊँची दरोंके कारण, बहुतसे पंजाबियोंको आशाका ध्रुवतारा जान पड़ता था। पर भारतीयोंके लिए वहाँ बसनेकी आशा पाना आसान न था। एक सज्जन गुरुदत्त सिंहने, जो सुदूरपूर्वमें व्यापार करते थे, संकल्प किया कि भारतीयोंपर लगी हुई पाबन्दी तोड़कर रहेंगे, और ३५१ सिखों तथा २१ पंजाबी मुसलमानोंको लेकर जापानी जहाज "कोमागेटा मारू" पर ४ अप्रैल १९१४ के दिन हांगकांगसे रवाना होकर वे २३ मईके दिन वानकोवर पहुँच गये। यह कनाडाके कानूनको साफ-साफ चुनौती थी जिसमें एशियावासियोंको कनाडामें प्रवेश करनेकी मुमानियत थी, जबतक कि उनके पास अपने देशकी सरकारसे प्राप्त पासपोर्ट और कुछ रुपया न हो। परन्तु गुरुदत्त सिंह और उनके साथियोंने इस आदेशकी उपेक्षा की और जहाजसे उतरनेका आग्रह किया। आदेशको लागू करनेके लिए पुलिस दल भेजा गया पर गुरुदत्त सिंह और उनके साथियोंकी गोलियोंकी मारसे पुलिसके छक्के छूट गये। बादमें सशस्त्र पुलिसने जहाज-को लंगर उठानेपर मजबूर किया और कुछ ही व्यक्तियोंको उतरनेको इजाजत मिली। इस पूरी घटनाने उन लोगोंका गुस्सा उभाड़ दिया और वे क्रान्तिके विचारोंसे ओत-प्रोत होकर जहाज द्वारा भारत रवाना हो गये। इसी बीच भारत सरकारने भारतमें "अवांछनीय विदे-शियों" का भारतमें प्रवेश रोकनेके उद्देश्यसे "फारेनर्स आर्डिनेन्स" जारी किया और इसके तुरत बाद "गदर-मनोवृत्तिवाले प्रवासी भारतीयोंकी वापसी पर गतिविधिपर नियन्त्रण रखनेके लिए "इंग्रेस आर्डिनेंस" पारित कर दिया।

इन नियन्त्रणोंसे उत्तेजनाकी आगमें मानों घी पड़ गया। २४ सितम्बर, १९१४ को इन लोगोंका जहाज हुगलीमें घुसा, और जब २९ को बजबजपर लगा तो अधिकारियोंने यात्रियोंको आदेश दिया कि "आप लोग सीधे रेलगाड़ीमें चले जायँ जो तैयार खड़ी है और बादमें आप लोगोंको बिना किराया पंजाब पहुँचा देगी। उन लोगोंने इस सुविधाको स्वीकार करनेसे इन्कार किया और उन्होंने विरोधस्वरूप कलकत्तामें मार्च करनेकी कोशिश की। उन्हें जबरदस्ती पीछे धकेला गया। यह व्यवहार मानों यात्रियोंके लिए जापानी हमला आरम्भ करनेका बिगुल था। सड़कपर जमकर युद्ध हुआ जिसमें १८ सिख मारे गये, बहुतसे तत्काल गिरफ्तार कर लिये गये और कुछकी तलाश जारी रही। वे भी बादमें पकड़ लिये गये।

इस घटनाने पंजाबके सिखोंको सरकारके खिलाफ कर दिया और गयाके क्रान्ति-कारियोंको भी इससे बड़ा बल मिला जो विदेशस्थित भारतीयोंसे बराबर यही आग्रह कर रहे थे कि भारतमें गदर आरम्भ ही होनेवाला है जिसमें भाग लेनेके लिए सबको स्वदेश पहुचना

चाहिये। इसी अपीलके परिणामस्वरूप करीब ८ हजार प्रवासी भारतीय अपने घरोंको वापस लौटे। सरकार इन सब वापस आनेवालोंपर मुस्तैदीसे नजर रख रही थी और जिनको सरकारने खतरनाक समझा उनमेंसे ४०० तो जेल भेज दिये गये तथा २९०० अपने अपने गाँवकी सीमाके भीतर नजरबन्द कर दिये गये।

"कोमागाटा मारू" जहाजके यात्रियोंकी कहानी दावानलकी तेजीसे पूर्वके सभी देशोंके स्वतन्त्रताप्रेमी भारतीयोंमें फैल गयी और मनीला, हांगकांग, शंघाई, और अमेरिकासे एकत्र होकर करीब १७३ भारतीय—मुख्यतः सिख—एक अन्य जापानी जहाज "तोसा-मारू" द्वारा कलकत्ता रवाना हो गये। जहाज २९ अक्तूबर, १९१४ को कलकत्ता पहुँचा। भारत सरकारको इस बीच अपने निजी सूत्रोंसे यह सूचना मिल चुकी थी कि यात्रियोंने अपनी बातचीतमें खुलेआम भारतमें पहुँचने पर विद्रोह आरम्भ करनेकी चर्चा की थी। भारत भूमिपर उतरते ही १०० तो जेल भेज दिये गये। जो बचे वे पंजाब पहुँचकर "कोमागाटा मारू" जहाजसे कुछ दिन पूर्व आये हुए अपने हमराहियोंको क्रांतिकी आग सुलगानेमें योग देने लगे। भावी क्रांतिका सन्देश पूरे पूर्वमें फैल गया और "गदर षड्यन्त्र" शीघ्र ही ऐसे महान आन्दोलनमें परिणत हो गया जो ऐतिहासिक महान् विद्रोहके बाद अभूतपूर्व था क्योंकि इसमें भाग लेनेवाले पंजाबके वीर वंशके लोग थे। "तोसामारू" के उन यात्रियोंमेंसे जिन्हें पंजाब जानेकी इजाजत मिल गयी थी, कुछ ही समय बाद ६ को फाँसी दी गयी, ६ को विविध षड्यन्त्र सम्बन्धी मुकदमोंमें सजा मिली और ६ व्यक्ति गिरफ्तार करके नजरबन्द कर दिये गये।

अधिकारियोंने, अपनी समझमें, "तोसामारू" के उन्हीं यात्रियोंको पंजाब पहुँचने दिया था जो निरापद थे या उन्हें खतरनाक नहीं जान पड़े थे, पर वही लोग पक्के जीवटके क्रान्तिकारी साबित हुए। उन्होंने स्थानीय नेताओंसे संपर्क किया और देशके विभिन्न सूत्रोंमें मोर्चे बनाकर, अगली कारखाईके लिये तैयार हो गये। पूरे जोर शोरसे तैयारी की गयी जिसको "दिल्ली षड्यन्त्र" के प्रख्यात नेता रासबिहारी बसुने पूर्णता प्रदान की। २१ फरवरी १९१५ आम विद्रोह आरम्भ करनेकी तरीख नियुक्त की गयी और लाहौर उसका सदर दफ्तर तय किया गया। अमेरिकाके भारतीयों और स्वदेशके इन क्रान्तिकारियोंके बीच बराबर सम्पर्क रहा। दिसम्बर १९१४ में एक युवा मराठा, पूना जिलेका विष्णु गणेश पिंगले जो अमेरिकासे कुछ सिख क्रान्तिकारियों सहित भारत लौटा था, पंजाबमें पहुँचा। उस युवकने पंजाबके क्रान्तिकारियोंकी सभा बुलायी जिसमें जनक्रान्तिकी आग तैयारीपर भारतीय फौजोंको तोड़ने, हथियार प्राप्त एवं एकत्र करने, बम निर्माण, सरकारी खजाने लूटने और क्रान्तिके लिए धन जमा करनेके उद्देश्यसे डाके डालने, आदि पर बहस की गयी। पिंगलेने एक बंगाली बम-विशेषज्ञका परिचय कराया और बम बनानेका सामान प्राप्त करनेके लिए लोग यत्र-तत्र भेजे गये। उस समय रासबिहारी बसु बनारससे आये और फरवरी १९१५ के आरम्भतक, अमृतसरमें रहकर वे सिख क्रान्तिकारियोंके साथ काम करते रहे। उत्तर भारत स्थित विभिन्न छावनियोंको, निर्धारित तारीखके लिए फौजी मदद प्राप्त करनेके उद्देश्यसे सन्देशवाहक भेजे गये। विद्रोहमें भाग लेनेवाले ग्रामीणोंके दस्ते संघटित किये गये। "बम तैयार किये गये, हथियार इकट्ठे किये गये, झण्डेतक तैयार रखे थे,

युद्धकी घोषणाका मसविदा बनाया गया, रेलों और तारोंको नष्ट करनेके लिए आवश्यक सामग्री जमा कर ली गयी।"[1]

लेकिन ठीक उस समय, जब विस्फोटके पूर्वकी स्थिति एकदम तैयार थी, एक गुप्तचरने प्रस्तावित विद्रोहकी ब्योरेवार सूचना सरकारको पहुँचा दी। १८ फरवरीको, ऐसे लोगोंको जो नहीं जानते थे कि पंजाबमें सशस्त्र विद्रोहकी योजना बन चुकी थी—यह देखकर विस्मय हुआ कि ब्रिटिश फौजें पंजाबके सभी प्रमुख कस्बोंमें तैनात कर दी गयी हैं। ६ हजार नेपाली सैनिकोंकी नियुक्ति भी खतरेके क्षेत्रोंमें की गयी। "करीब ५००० व्यक्तियोंपर, सिर्फ पंजाबके भीतर, राजविद्रोहके लिए मुकदमा चलाया गया। ५०० क्रान्तिकारियोंका कोर्ट-मार्शल हुआ और उन्हें फाँसी दे दी गयी, ८०० को कालापानीकी सजा मिली, १० हजारको बिना मुकदमा चलाये नजरबन्द कर लिया गया और काफी बड़ी तादादको बहुत दिनोंतक फरार रहना पड़ा। सरकारने प्रायः ५०० क्रान्तिकारियोंको अंदमान भेजा। उनमें भाई परमानन्द प्रमुख थे।"[2]

पूरी परिस्थिति समझानेके लिए कुछ घटनाएँ सविस्तर दी जा रही हैं।

१९ फरवरीको रासविहारी बसुके प्रधान कार्यालयपर छापा मारा गया और ४ अन्य घरोंकी तलाशी ली गयी। १३ व्यक्ति गिरफ्तार किये गये और कुछ बम भी बरामद हुए। वहीं बरामद कागजातसे अधिकारियोंने यह नतीजा निकाला कि क्रान्तिकारियोंने लाहौर, फीरोजपुर और रावलपिण्डीमें एक साथ विद्रोह आरम्भ करनेकी सोची थी और बादमें उनका इरादा काफी व्यापक क्षेत्रमें—जिसमें बनारस और जबलपुरतक शामिल थे—विद्रोहकी लपटें फैला देनेका था। बंगालके कुछ क्रान्तिकारी, जो पंजाबकी योजनाओंसे अवगत थे, उसी तारीखसे पूर्वी बंगालमें ठीक उसी ढंगका विद्रोह आरम्भ करनेका इन्तजाम कर रहे थे।

इन रहस्योद्घाटनोंके बाद अधिकारियोंने विभिन्न स्थानोंपर छापे मारकर तथा गिरफ्तारियाँ करके आम-विद्रोहकी योजनाओंको काफी हदतक निष्फल कर दिया, पर प्राकृतिक रूपसे वस्तुस्थिति कुछ ऐसी थी कि देशमें शान्ति पुनः स्थापित करना करीब-करीब असम्भव था। २० फरवरीके दिन कुछ स्वदेश लौटे प्रवासियोंने जिन्हें थानेमें तलब किया गया था, एक हवलदारको मार डाला और एक दरोगाको घायल कर दिया। १९ फरवरीको एक योजनाके मुताबिक रेलसे ४० व्यक्ति, कुछ सशस्त्र—"सम्भवतः फौजी शस्त्रागारों और डिपोपर हमला करनेके लिए"[3] फीरोजपुर पहुँच गये थे परन्तु वे सफल नहीं हो सके क्योंकि खुफियाने अधिकारियोंको पहले ही सावधान कर दिया था। मार्च महीनेमें कुछ प्रवासी भारतीय अंग्रेजोंके खिलाफ विद्रोह करनेके लिए फौजोंको उभाड़ते हुए गिरफ्तार किये गये; लुधियानामें ६ बम पकड़े गये और अनेक राजनीतिक डकैतियाँ डाली गयीं। स्वदेश वापस आने पर इन प्रवासियोंपर कड़ी नजर रखी जाने लगी और कलकत्ता तथा लुधियानामें कुल मिलाकर पुलिसकी पकड़में आये ३,१२५ व्यक्तियोंमें ११९ जेलमें नजरबन्द कर दिये गये, ७०४ पर गाँवसे बाहर न निकलनेकी पाबन्दी लगा दी गयी और शेष लोग, हालाँ कि उनकी भी निगरानी रखी

१. सेडीशन कमेटी रिपोर्ट, पृष्ठ १०८
२. धनञ्जय कीर—"सावरकर एण्ड हिज टाइम्स" पृष्ठ १३६
३. वही पुस्तक, पृष्ठ १०८

गयी पर, विना किसी पाबन्दीके रहे। इक्की-दुक्की हत्याएँ, डकैतियाँ, क्रान्तिकारी साहित्यका वितरण विभिन्न स्थानोंपर चलता रहा।

लाहौर व अन्य स्थानोंपर आम गिरफ्तारियोंके बाद क्रान्तिकारियोंके ९ दलोंपर भारत रक्षा कानूनके मातहत बैठायी गयी असाधारण पंच अदालतके सामने मुकदमा चलाया गया। इन मुकदमोंको "लाहौर षड्यन्त्र केस" कहा गया था। एक मामलेमें ६१ व्यक्तियों-पर, एक अन्यमें ७४ व्यक्तियोंपर और तीसरेमें १२ पर "बादशाहके खिलाफ जंग छेड़ने" का इल्जाम लगाया गया था। इन महत्वपूर्ण मुकदमोंमें सबूतपक्षसे ८५५ और सफाई पक्षसे १३१४ गवाह गुजरे थे। प्रायः सभी व्यक्तियोंको कड़ीसे कड़ी सजाएँ दी गयीं। सिर्फ २९ अभियुक्त बरी किये गये। २८ को फाँसी हुई और बाकीको कालापानी या विभिन्न मीयादोंकी कैदकी सजा दी गयी। पहली अदालतने फैसलेमें लिखा कि "पंजाबमें राज-द्रोहकी भावना सन् १९०७ से वर्तमान है।" मुकदमेके दौरानमें यह भी पता चला कि मेरठ, कानपुर, इलाहाबाद, बनारस, फैजाबाद, लखनऊमें भारतीय सैनिकोंसे सम्पर्क स्थापित किया गया था हालाँ कि सफलता नाममात्रको मिली "पर जो बीज बोया गया वह अवश्य ही कुछ मुसीबत ढाता अगर २१ फरवरीको एक साथ विद्रोह आरम्भ करनेकी योजना समयसे पहले ही खुल न गयी होती।"[1] दूसरे षड्यन्त्र केसके फैसलेमें कहा गया कि गाँवोंमें राज द्रोहके उपदेश सक्रियतापूर्वक दिये गये और फौजी रेजीमेण्टोंमें भारतीय सैनिकोंको हिदायत दी गयी थी कि जैसे ही संकेत मिले, विद्रोह करने तथा मरने-मारनेके लिए अपनेको एकदम तैयार रखें। फरवरीकी निराशाके बाद भी क्रान्तिकारियोंने अपने प्रयत्न जारी रखे और छुदीले (?) नामक स्थानपर उन्होंने अड्डा जमाया। ११ जून १९१५ के दिन रेलके पुलको रक्षा करनेवाली एक रेजिमेण्टकी टुकड़ीपर हमला किया गया और २ व्यक्तियोंकी गोली लगनेसे मृत्यु हुई। पुलिसने ५ व्यक्तियोंको गिरफ्तार किया जिन्हें मुकदमेका दिखावा करनेके बाद, फाँसी दे दी गयी। सबूत पक्षके कथनानुसार पहले मुकदमेके अभियुक्त वे नेता और संघटनकर्त्ता थे जिन्होंने "हत्या, मारकाट, और लूटपाट" तथा सरकारको उखाड़ फेंकनेका षड्यन्त्र और प्रयत्न किया था। पहले दलमें भाई परमानन्द भी थे। उन्होंने प्रथम महायुद्ध छिड़नेके बाद भारतका एक इतिहास लिखा था जिसका उद्देश्य पंच अदालतकी नजरमें "ब्रिटिश राजाधिराजकी सरकारके खिलाफ भारतमें अपमान एवं घृणा पैदा करके गदर षड्यन्त्रके सामान्य उद्देश्योंको आगे बढ़ाने"का ही था। तीसरे लाहौर षड्-यन्त्र केसके गवाहने कहा कि कुछ क्रान्तिकारियोंने जिनमेंसे कम-से-कम ३ कनाडासे आये थे, बंकाकमें मिलकर बर्माकी ओरसे भारतपर हमला करनेकी योजना बनायी थी। अदालतने लिखा—"हमारे सामने स्पष्ट साक्षी है कि इस प्रकारकी नीयत थी अवश्य और वह सब गदर आन्दोलनका ही अभिन्न अंग थी जिसमें जर्मन गुप्तचरों या दलालोंकी भी दिलचस्पी थी। यह भी एकदम स्पष्ट है कि गदर आन्दोलनके नेताने सैनफ्रांसिस्कोमें जर्मनोंसे मिलकर ब्रिटिश सरकारको मुसीबतमें डालनेके उद्देश्यसे किसी योजनाका बीजरूप स्याममें अंकुरित एवं पल्लवित किये जानेके उद्देश्यसे तैयार किया था।" निर्णयमें आगे कहा गया कि "हमने देखा है कि 'युगान्तर आश्रम" (सैनफ्रांसिस्को)में एक कागजके पोस्टरपर लिखा था—जर्मनोंसे मत लड़ो, वे हमारे मित्र हैं, और यह स्पष्ट रूपसे युद्धके बाद गदरका सिद्धान्तवाक्य था। हमने

1. वही पुस्तक, पृष्ठ ११०

देखा है कि गदर कार्यालयोंमें प्रकाशित साहित्य हर जगहके भारतीयोंमें वितरित करनेके लिए जर्मन प्रतिनिधि स्वयं ले गये थे, जर्मनीने भारतीय प्रतिनिधियोंको अमेरिकासे अफगानिस्तान, स्याम, मनीला, तिब्बत और तुर्की जानेके लिए और ब्रिटेनके विरुद्ध मुसीबत खड़ी करनेके लिए खर्च दिया था, सैनफ्रांसिसको स्थित जर्मन प्रतिनिधिका रामचंद्रसे निकट सम्पर्क था और न्यूयार्क स्थित जर्मन राजदूत भारतीय क्रान्तिकारियोंको अपने खर्चसे जर्मनी भेज रहे थे, तथा जिस प्रकार भी सम्भव हो सहायताका प्रबन्ध करते थे।"

हरदयालने अमेरिकासे अन्तर्धान होनेके बाद बर्लिनमें भारतीय रिवोल्यूशनरी सोसायटी खोल दी थी जिसका उद्देश्य था—भारतमें गणतन्त्रकी स्थापना। इसकी बराबर बैठकें होती थीं जिनमें तुर्क, मिस्री और जर्मन भी भाग लेते थे। सोसायटीका एक 'ओरियण्टल ब्यूरो' था जो जर्मनीमें भारतीय युद्धबन्दियोंकी क्रांतिकारी साहित्यपर आस्था जागरित करता था। फैसलेके शब्दोंमें "जर्मन अधिकारियोंकी ओरसे भारतीय राजे-महराओंको लिखे गये उत्तेजनात्मक पत्र जिनका मसविदा जर्मन सरकारने तैयार किया, अनूदित और मुद्रित होते थे और बैठकें होती थीं जिनमें भारत तथा जर्मनी दोनोंके समान उद्देश्योंपर जोर दिया जाता था—इन सभाओंमें अध्यक्ष-पद कभी-कभी अत्यन्त उच्च जर्मन अधिकारी ग्रहण करते थे।"

भारत सरकारने क्रान्तिकारियोंको सख्तसे सख्त लोमहर्षक दण्ड दिलानेके उद्देश्यसे भारत रक्षा कानून पास करके कानूनकी साधारण पद्धति बदल दी थी। इस कानूनमें 'क्रान्तिकारी अपराधों'के मुकदमोंके लिए 'असाधारण पंच अदालतों'की व्यवस्था थी, कानूनमें न तो पंच अदालतोंके आगे किसी अन्य फैसले या क्षमादानकी गुंजाइश थी और न अपीलकी ही थी अतः किसीको भी जिसे पुलिस क्रान्तिकारी समझे,सजा देना काफी आसान कर दिया गया था। भारत रक्षा कानूनके नियमोंको सख्तीसे लागू किया गया, काफी बड़ी तादादमें लोगोंको बिना मुकदमा चलाये जेलमें नजरबन्द कर दिया गया और जिनके बारेमें साधारण-से-साधारण शक हुआ उनपर विभिन्न प्रकारकी पाबन्दियाँ लगा दी गयीं। कुछ पत्र-पत्रिकाओंपर प्रकाशनके पूर्व सेन्सरके आदेश थे। तिलक और विपिनचन्द्र पाल जैसे नेताओंको पंजाबमें प्रवेश करनेकी अनुज्ञा नहीं थी। राजभक्त सिखोंकी सलाहकार समितियाँ बना दी गयी थीं जिनका काम अपने धर्म-बन्धुओंको क्रान्तिपथसे विरत करना था। पंजाबकी कहानीके उपसंहारमें राजद्रोह कमेटीकी रिपोर्टने कहा कि "पंजाबमें गदर आन्दोलन ऐसी स्थितिपर पहुँच गया था कि व्यापक रक्तपात होते-होते बाल-बाल बच गया।" पंजाबके अफसरोंकी राय थी कि "अगर सरकारके पास भारत रक्षा कानून और इंग्रेस आर्डिनेन्स जैसे व्यापक शक्तिवाले हथियार न होते तो गदर आन्दोलनका इतनी शीघ्रतापूर्वक दमन नहीं हो सकता था।"

कुस्तुन्तुनियामें "जहान-ए-इस्लाम" नामका एक और पत्र मई १९१४ में निकला। उसमें अरबी, तुर्की और हिंदीमें लेख रहते थे। इसके उर्दू अंशको पंजाबके अबू सय्यद तैयार करते थे। महायुद्धकी घोषणाके बाद इस पत्रके उर्दू अंशमें हरदयाल लिखित एक ब्रिटिश विरोधी अग्रलेख था। २० नवम्बर सन् १९१४ के अंकमें अनवर पाशाका एक भाषण छपा था जिसमें अन्य बातोंके अतिरिक्त उन्होंने यह भी कहा था—"यही समय है जब भारतमें गदरकी घोषणा हो जानी चाहिये, अंग्रेजोंके तोपखाने व शस्त्रास्त्रोंपर जबरदस्ती कब्जा करके, उनके हथियार लूटकर उन्हींसे उनका खात्मा कर देना चाहिये। भारतीय ३२ करोड़ तो हैं ही और अंग्रेज सिर्फ २ लाख हैं—उन्हें मार डालना चाहिये, उनके पास फौज

नहीं है। कुछ ही दिनोंमें तुर्क स्वेज नहरका नाका रोक देंगे। वह व्यक्ति जो मरकर अपने देश, अपनी मातृभूमिको आजाद करायेगा, हमेशा अमर रहेगा। हिन्दुओ और मुसलमानो! तुम दोनों फौजके सिपाही और भाई-भाई हो, ये नीच अंग्रेज तुम्हारे दुश्मन हैं। तुम्हें जेहादकी घोषणा करके गाजी बनना चाहिये और अपने भाइयोंसे मिलकर अंग्रेजोंको मारकर भारतको आजाद कराना चाहिये।" इस समय हरदयाल कुस्तुन्तुनियामें थे। "जहान-ए-इस्लाम" की प्रतियाँ लाहौर और कलकत्तामें बिना मूल्य मिल सकती थीं।

नवम्बर-दिसम्बर १९१४ में फौजके एक अंशमें सिपाही-विद्रोह हो गया। यह सुदूर-पूर्वमें तुर्की सरकारसे भारतीयोंके सहयोगकी कहानी है। १९१३ में रंगूनके एक व्यापारी अहमदमुल्ला दाऊदको रंगून स्थित तुर्की सरकारके प्रतिनिधिका पद मिला और इस पद पर वे महायुद्धके आरम्भतक रहे। दिसम्बर सन् १९१४ के अन्तिम सप्ताहमें रंगूनके एक गुजराती मुसलमान कासिम मंसूरने रंगूनमें अपने पुत्रको एक पत्र भेजा जिसके साथमें तुर्कीके प्रतिनिधि दाऊदके नाम सिंगापुरकी दो रेजीमेंटोंमेंसे एक "मलय स्टेट्स गाइड्स" द्वारा भेजी गयी अपील तथा यह सूचना भी थी कि रेजीमेंट ब्रिटिश सरकारके विरुद्ध विद्रोह करनेके लिए तैयार है। यह पत्र ब्रिटिश अधिकारियोंके हाथ लग गया और मलय स्टेट्स-गाइड्सका दूसरी जगह तबादला कर दिया गया। फिर भी विद्रोह, योजनाके मुताबिक, मलय स्टेट्सगाइड्समें न सही ५ वीं लाइट इनफैंटरीमें हो ही गया। ५ वीं लाइट इनफैंटरी जिसमें सभी मुसलमान और अधिकांशतः भारतीय थे, भारतसे हांगकांगके लिए रवाना होनेको थी और उसे ले जानेके लिए जहाज तैयार खड़ा था। "बटालियनकी सामरिक सामग्री एलेक्जैंड्रा बैरकोंपर लारियोंपर लादी जा ही रही थी कि एक गोलीका फायर हुआ और इसके बाद तुरन्त ही चिनगारी मानों ज्वाला बन गयी। राजभक्तिका दम भरनेवाले वहीं मार गिराये गये और विद्रोहियोंकी तीन टुकड़ियाँ बन गयीं। एक टुकड़ीको जर्मन नजरबन्दी शिविरके संतरियोंको पराभूत करके बन्दियोंको आजाद कराना था, दूसरीको ५ वीं इनफैंटरीके कर्नलके मकानपर हमला करनेका काम सौंपा गया और तीसरी सिंगापुरसे आनेवाली कुमक-को रोकनेके लिए तैनात कर दी गयी। लेफ्टिनेन्ट मांटगोमरी, नजरबन्दी शिविरके कमांडर, गोलीसे उड़ा दिये गये। इसके बाद भयानक हत्याकाण्ड मचा। अनेक ब्रिटिश अफसर और कुछ जर्मन जानसे मारे गये। विद्रोही इसके बाद जिस गोरेको भी जहाँ मिले वहीं मार गिरानेके लिए आगे बढ़े। सबसे पहले एक मोटरकार मिली जिसे उन्होंने रोकनेके लिए हाथ दिया। जब वह न रुकी तो उन्होंने मोटरके अन्दर बैठे हुए जिलाजज और एक अंग्रेज व्यापारीको गोलीका निशाना बनाया और वे तत्काल मर गये। इसी प्रकार न जाने कितनी मोटरें रोकी गयीं और उनमें सवार गोरे मार डाले गये। बादमें न्यू ब्रिज रोडपर उन्होंने एक कार रोकी जिसमें ५ व्यक्ति थे। उन्होंने दो अंग्रेजोंको मार डाला, तीसरेको मुर्दा समझकर छोड़ दिया, भारतीय शोफरको भी मार डाला, पर उसी दलमें एक महिला थी उसपर हाथ न लगाया। इसके बाद उन्होंने एक डाक्टर और उसकी पत्नीपर हमला किया—डाक्टरको गोली मार दी पर इस बार फिर उसकी पत्नीको छोड़ दिया। दूसरी टुकड़ीको तीन गोरे मिले जिनमें एक लेफ्टिनेन्ट ईलियट, स्वयं उन सैनिकोंके अफसर भी थे—वे तीनों मार डाले गये। इसके बाद सैनिक एक बंगलेसे होकर गुजरे जिसके बरामदेमें बैठे २ अंग्रेज धूम्र-पान कर रहे थे—उन्हें भी मृत्युके घाट उतार दिया गया। अब विद्रोहियोंका उस स्थानपर

सोलहों आना कब्जा था—और ३ दिनतक यह कब्जा बना रहा। चौथे दिन नयी रेजिमेंट आयीं और उन्होंने पूरे तांगलिनपर, एलेक्जेंड्रा बैरकों तथा नारमण्डानपर कब्जा किया। विद्रोहियोंके २ नेताओंको फाँसी दी गयी, ३८ को गोली मारी गयी—और ये सजाएँ सरे बाजार दी गयीं। २०० के करीब विद्रोही भागकर जंगलोंमें जा छिपे।[१]

एक अन्य रेजीमेण्ट जिसमें विद्रोह होते होते बचा था बम्बईकी १३० वीं बलूची रेजीमेण्ट थी। नवम्बर १९१४ में इसके कुछ सिपाहियोंने अपने अफसरोंमेंसे एकको मार डाला, तब बतौर सजाके पूरीकी पूरी रेजीमेण्टका तबादला बम्बईसे रंगूनको कर दिया गया। वहाँ 'गदर' अखबारसे उसे क्रान्तिकी पूरी खूराक मिली और जनवरी १९१५ आनेतक वह नीचेसे ऊपरतक अंग्रेजोंसे नाराज और गदरके लिए तैयार हो चुकी थी। पर किसी प्रकार इसका सुराग लग गया और कठोर कारवाई द्वारा विद्रोह आरम्भ होनेके पहले ही मसल दिया गया। बलूची रेजीमेण्टके २०० जवानोंका कोर्टमार्शल हुआ।

इसी बीच अलीअहमद सिद्दीकी और हकीम फहीम अली रंगूनमें एक गुप्त सोसायटी संघटित कर रहे थे जिसका उद्देश्य था ब्रिटिश शासनको उखाड़ फेंकनेमें मदद करना। वे 'रेड क्रिसेंट सोसायटी'के सदस्यकी हैसियतसे बालकन युद्धमें तुर्की फौजको डाक्टरी मदद देनेके लिए भारतसे तुर्की गये थे। तुर्कीके महायुद्धमें शामिल हो जानेके बाद वे वापस आये और रंगूनमें बस गये। उन्होंने क्रान्तिके लिए धन और हथियार जमा किये। करीब करीब उसी समय हसनखाँ और सोहनलाल (बादमें सेनफ्रांसिस्कोसे आया हुआ प्रतिनिधि) बंकाकसे आये और रंगूनमें इसी उद्देश्यसे एक मकान किरायेपर लेकर रहने लगे। विभिन्न क्रान्तिकारियोंमें निकट संपर्क स्थापित हो गया पर सरकारको भी पता चल गया कि एक षड्यन्त्रकी भूमिका तैयार हो रही है। क्रान्तिकारी बर्माकी फौजी पुलिसमें जिसमें १५ हजार आदमी थे—विद्रोह करनेकी योजना बना रहे थे। पाठकने "मेमियो स्थित माउंटेन बैटरीके कुछ लोगोंसे मिलकर इनकी सरकारकी सेवा करनेकी मूर्खतापर लथाड़ा।" अपने साथ वे जहाँन-ए-इस्लामकी एक प्रति, एक फतवाकी कई प्रतियाँ जिसमें "खुदाके बन्दोंसे नाखुदाओंको बरबाद करनेकी अपील" थी—गदर अखबारका एक अंक, बम व बारूद बनानेकी पूरी विधिका ब्योरा, तीन आटोमेटिक पिस्तौलें और २७० कारतूसें भी ले गये थे। पर, एक वफादारने उन्हें गिरफ्तार करके अफसरोंके हवाले कर दिया। पाँच दिन बाद प्रायः इसी प्रकारके माल सहित उनके साथी नारायणसिंह भी मेमियोंमें गिरफ्तार कर लिये गये। रेजीमेण्टमें पंजाबके सिख और मुसलमान थे और मुसलमानोंके लिए फतवा काफी प्रभावशाली तरीका समझा जाता था।

रंगूनकी मुसलिम गदर पार्टीने अक्तूबर सन् १९१५ में बकरीदके मौकेपर गदरकी योजना बनायी थी और अपील की कि "बकरियों या गायोंके बजाय अंग्रेजोंकी कुरबानी दो।" पर यह विद्रोह मुलतवी कर दिया गया। "नवम्बरमें प्यावबे स्थित फौजी पुलिसमें एक गदर योजनाका भेद खुला और गदरमें काम आनेवाले रिवाल्वर, डाइनामाइट और अन्य वस्तुएँ पकड़ी गयीं।" कई व्यक्ति गिरफ्तार किये गये।

रंगूनकी इन कारवाइयोंके फलस्वरूप दो षड्यन्त्रके मुकदमे चले जो बर्मा षड्यन्त्र

---

१. लेफ्टिनेंट जनरल सर जार्ज मैकमन—"टरमायल एण्ड ट्रेजडी इन इण्डिया १९१४ एण्ड आफटर, पृष्ठ १०५-१३

केसके नामसे विख्यात हैं, और इनकी सुनवाई १९१६ में मॉडलेमें विशेष अदालतके सामने हुई थी। अदालतने फैसलेमें लिखा कि "इसमें शक नहीं किया जा सकता कि षड्यन्त्रका आरम्भ सन् १९१२ में हुआ था, और इसका उद्देश्य सशस्त्र विद्रोह द्वारा भारतको ब्रिटिश राजसे मुक्त करना—अंग्रेजोंको भारतसे बाहर निकालना और देशका शासन देशकी जनताको देना था।"

क्रान्तिकी लहर भारतके विभिन्न क्षेत्रोंमें और उसकी सीमाके बाहर भी फैल रही थी। अतः सीमा प्रदेशमें जो वहाबी आन्दोलनके तूफानका केन्द्र हो चुका था—एक बार फिर उभार आया। पर वहाबी उत्साह और भावना वापस न आ सकी अतः ये प्रयत्न भी निष्फल सिद्ध हुए। ब्रिटिश अधिकारियोंने आरम्भ होते ही इसे दबा दिया।

फरवरी १९१५ में लाहौरके १५ विद्यार्थी कालेजकी पढ़ाई छोड़कर सीमान्त प्रदेशमें रहनेवाले विद्रोही भारतीयों—"मुजाहिदीन" से जा मिले। वहाँसे वे काबुल गये, जहाँ वे नजरबन्द कर लिये गये। वे बादमें रिहा कर दिये गये, पर उनपर निगरानी रखी गयी और उन्हें घूमने-फिरनेकी पूरी आजादी नहीं थी। बादमें उनमेंसे तीनको रूसियोंने गिरफ्तार करके ब्रिटिश अधिकारियोंके हवाले कर दिया। उनकी योजना असफल हुई और उसके साथ ही वहाबी आन्दोलनको पुनर्जीवित करनेका पहला प्रयत्न भी।

उसी वर्ष भारतमें एक योजना तैयार की गयी कि उत्तर पश्चिमी सीमापर आक्रमण करके और उसीके साथ देशमें विद्रोह आरम्भ करके ब्रिटिश शासनको समाप्त किया जाय। "इस योजनाको कार्यरूपमें परिणत करनेके लिए उबैदुल्ला एक धर्मपरिवर्तित सिख, जो सहारनपुर जिलेमें देवबन्दके मुसलमान धर्मके स्कूलमें दीक्षा प्राप्त कर चुके थे, अगस्त सन् १९१५ के प्रारम्भमें तीन साथियों अब्दुल्ला, फतेहमुहम्मद और मुहम्मद अलीके साथ उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्तको पार कर गये। रवाना होनेसे पूर्व उबैदुल्लाने दिल्लीमें एक स्कूल स्थापित किया था और दो किताबें दस्ती तौरपर बाँटनेके लिए जारी की थीं जिनमें भारतीय मुसलमानोंके धर्मके लिए अन्धे होकर मारने और मर जानेका उपदेश देते हुए जिहादको सर्वोपरि कर्त्तव्य बताया गया था।" उबैदुल्लाकी रवानगीके महीने भर बाद उनके देवबन्द स्कूलके दो साथी मुहम्मद मियां अंसारी और महमूद हसन भी रवाना हुए—सीमा प्रान्तकी ओर नहीं हज्जाजके लिए, और १९१६ में अंसारी वहाँके तुर्की फौजी गवर्नर गालिबपाशाके हाथों लिखा हुआ जिहादका फतवा लेकर आये। रास्तेमें मुहम्मदने इस दस्तावेज "गालिबनामा" की नकलें भारतमें और सीमास्थित कबाइलियोंमें बाँटीं। उबैदुल्ला और उनके मित्र सीमा प्रदेशमें कुछ दिन ठहरनेके बाद काबुल चले गये जहाँ वे टर्की-जर्मन शिष्टमण्डलसे मिले। अंसारी भी उन्हीं लोगोंमें पहुँच गये। तय यह हुआ कि विद्रोहियोंको काम-चलाऊ भारत सरकारकी स्थापना कर लेनी चाहिये जो अंग्रेजोंके भगाये जानेके बाद फौरन काम सम्भाल ले। इस काम-चलाऊ सरकारका राष्ट्रपति राजा महेन्द्रप्रतापको और प्रधान मन्त्री बरकतुल्लाको बनाना तय हुआ। महेन्द्रप्रताप सन् १९१४ के अन्तमें भारतसे गये थे और जेनेवा जाकर वे हरदयालसे मिले थे। हरदयालने उनका परिचय जर्मन प्रतिनिधिसे कराया था। बादमें उन्हें भारत सरकारने भारतसे निर्वासित कर दिया और स्वदेश वापस आनेकी अनुमति उन्हें सन् १९४७ में भारतकी आजादीके बाद मिली। बरकतुल्ला श्यामजी कृष्ण वर्माके मित्र थे और अमेरिकी गदरपार्टीके सदस्य थे। वे कुछ समय तक

टोकियो विश्वविद्यालयमें हिन्दुस्तानीके प्रोफेसर रह चुके थे और वहींसे उन्होंने "इस्लामिक फ्रैटरनिटी" नामके ब्रिटिश विरोधी पत्रका सम्पादन भी किया था जिसका जापानी अधिकारियोंने प्रकाशन बन्द कर दिया। वहाँसे बर्खास्त होनेके बाद वे अमेरिका पहुँचे। "काम-चलाऊ भारत सरकार" ने अपना काम भी विधिवत् आरम्भ कर दिया और रूसी तुर्किस्तानके गवर्नर तथा तदनन्तर रूसके जारको पत्र लिखे गये थे जिनमें रूसको ब्रिटेनकी मैत्रीका जामा उतारकर भारतसे अंग्रेजी राज्यका नामोनिशान मिटानेमें मदद करनेका निमन्त्रण दिया गया था। इन पत्रोंपर महेन्द्रप्रतापके हस्ताक्षर थे। ये बादमें ब्रिटिश सरकारके हाथमें पड़ गये। काम-चलाऊ सरकारने तुर्की सरकारसे मैत्री सन्धि करनेका भी प्रस्ताव किया था और एक फौज संघटित करनेकी ब्योरेवार योजना भी तैयार की थी।

मार्चमें जितेन्द्रनाथ लाहिड़ी यूरोपसे बम्बई आये और जर्मन मददके वादे भी साथ लाये। वे कलकत्ता गये और बंगालके क्रान्तिकारियोंको उन्होंने यह सन्देश दिया तथा बटावियामें एक प्रतिनिधि भेजनेका आग्रह किया।

फलतः नरेन्द्र भट्टाचार्य अप्रैलमें सी० मार्टिनके फर्जी नामसे वहाँके जर्मनोंसे पूरी योजना तय करनेके लिए बटाविया भेजे गये। बटाविया पहुँचने पर मार्टिनका परिचय जर्मन प्रतिनिधिने एक थियोडोर हेल्फरिचसे कराया जिसने बताया कि हथियारों और गोली बारूदसे लदा हुआ एक जहाज "मैवरिक" कराची भेजा जा चुका है। परन्तु मार्टिनके सुझावपर और जर्मन शंघाई राजदूतसे सलाह करके यह तय हुआ कि जहाज कराची न जाकर बंगाल जाये। कहा जाता था कि जहाजमें ३०००० रायफलें, प्रत्येकके लिए ४०० कारतूस और २ लाख रुपया था। मार्टिन जूनके मध्यमें इस मालको उतरवानेका इन्तजाम करनेके लिए भारत लौट आये। इस बीच मार्टिनने "हैरी एण्ड सन्स" के फर्जी नामवाली संस्थाको कई बार थोड़ा-थोड़ा करके कुल करीब ४३०००) भी भेजा। तय हुआ कि पूरा माल ३ भागोंमें बाँटा जाय और (१) हटिया, पूर्वी बंगाल (२) कलकत्ता और (३) बालासोर, भेजा जाय। विद्रोहकी पूरी योजना तय कर ली गयी। क्रान्तिकारियोंने विचार किया कि वे संख्यामें इतने काफी हैं कि बंगालकी फौजोंसे निपट सकते हैं, परन्तु डर यह है कि कहीं बाहरसे मदद न आ जाय। इसलिए उन्होंने तय किया कि प्रमुख पुलोंको उड़ाकर बंगालमें बाहरसे आनेवाली तीनों रेल लाइनोंको रोक दें। जतीन्द्र मुकर्जी, भोलानाथ चटर्जी और सतीश चक्रवर्ती इस कामपर लगा दिये गये। नरेन्द्र चौधरी और फणीन्द्र चक्रवर्त्तीसे कहा गया कि वे हटिया जायँ, वहाँ एक दल बनायें और पहले पूर्वी बंगालके जिलोंपर कब्जा करके फिर कलकत्तेपर धावा करें। कलकत्तेके दलका, नरेन्द्र भट्टाचार्य और विपिन गांगुलीके नेतृत्वमें काम यह था कि वह सबसे पहले कलकत्तेके आस-पासके सभी सरकारी शस्त्रास्त्रों व शस्त्रालयोंपर कब्जा कर लें। तय यह हुआ कि "मैवरिक" पर आनेवाले जर्मन अफसर पूर्वी बंगालमें ठहरेंगे और वहींपर लोगोंको क्रान्तिकारी फौजमें भर्ती करके उनको ट्रेनिंग दी जायगी।

सच्ची बात यह थी कि जहाज "एस० एस० मैवरिक" में हथियार नामके लिए भी नहीं थे। योजना यह थी कि वह "एनी लारसन" नामक जहाजसे मिलकर उसपर लदे हुए शस्त्रास्त्र जो टाउशर नामक जर्मन द्वारा न्यूयार्कमें खरीदे हुए होंगे, ले लेगा। "मैवरिक" सैनफ्रांसिस्कोकी एक जर्मन कम्पनी एफ. जेबसन एण्ड कम्पनी द्वारा खरीदा हुआ तेलकी टंकी वाला स्टीमर था। वह कैलीफोर्निया स्थित सैनपैड्रो नामक स्थानसे २२ अप्रैल सन् १९१५ के

करीब बिना किसी मालके रवाना हुआ। उसपर चालककी हैसियतसे २५ अफसर सभी भारतीय थे। उनमें एक पंजाबी हरिसिंहके पास सन्दूकोंमें काफी "गदर" साहित्य था। "मैवरिक" सबसे पहले कैलीफोर्नियाके सैनजोसे डेलकाबो पहुँचा और वहाँसे जावामें स्थित अनजेर बन्दरगाह जानेकी अनुमति प्राप्त की। इसके बाद वह मैक्सिकोसे ६०० मील सोकोरो द्वीपको "एनी लारसन" जहाजसे मिलनेके लिए चला। पर यह मुलाकात कभी न हुई। "एनी लारसन" वाशिंगटन क्षेत्रमें हकीम बन्दरपर पहुँचा जहाँ उसपर लदा हुआ माल अमेरिकी अधिकारियोंने पकड़ लिया। इस प्रकार जर्मन सहायताका प्रथम अध्याय समाप्त हुआ। हेल्फरिचने "मैवरिक" के चालकदलको अमेरिका वापस भेजा जिसमें हरिसिंहके बजाय "मार्टिन" भेजे गये थे। वहाँ मार्टिनको अमेरिकी सरकारने गिरफ्तार कर लिया।

"मैवरिक"की असफलताके बाद भारतमें भारी परिमाणमें शस्त्रास्त्र चोरी-छिपे पहुँचानेके कई प्रयत्न किये गये परन्तु सभी बेकार सिद्ध हुए। शंघाई स्थित जर्मन प्रधान प्रतिनिधिने चार जहाजोंको बंगालकी खाड़ी भेजनेकी योजना बनायी। पहलेमें २० हजार रायफलें, ८० लाख कारतूस, २ हजार पिस्तौलें, हथगोले व अन्य विस्फोटक तथा २ लाख रुपये थे—दूसरेमें १० हजार रायफलें १० लाख कारतूस और हथगोले व विस्फोटक पदार्थ आने थे। तीसरेका इंजन रास्तेमें खराब हो गया अतः वह आगे बढ़ ही न सका। चौथेके लिए योजना यह थी कि वह पहले पोर्ट ब्लेयरपर आक्रमण करेगा। वहाँसे क्रान्तिकारी कैदियों और विद्रोही सिंगापुर रेजीमेंटके लोगोंको लेगा और तब रंगूनपर हमला करेगा। लेकिन जो भी लोग भारतसे शंघाई या अन्य स्थानोंको इन जहाजोंकी समुद्र-यात्राका इन्तजाम करनेके लिए गये थे वे सबके सब गिरफ्तार कर लिये गये और पूरी योजना बेकार हो गयी। परन्तु इसी बीच एक जर्मन पनडुब्बी 'एमडेन'ने बंगालकी खाड़ीमें प्रवेश किया और कई ब्रिटिश मालके जहाजोंपर हमला करनेके साथ-साथ भारतके पूर्वी तटपर गोलाबारी भी की। अंदमानमें अफवाह थी कि 'एमडेन' पनडुब्बी सावरकरको वहाँसे लेकर किसी जर्मन विमान द्वारा 'गदर'के प्रधान कार्यालयतक पहुँचानेके उद्देश्यसे आयी है। इसी बीच उक्त 'एमडेन' पनडुब्बी नवम्बर १९१४ में नष्ट कर दी गयी। अक्तूबर १९१५ में दो चीनी १२९ पिस्तौलों और २०,८३० कारतूसों सहित, जिन्हें तख्तोंके बण्डलोंके भीतर छिपाकर कलकत्ता ले जानेकी उनको नीलसेन नामक जर्मनने हिदायत की थी, शंघाईकी म्यूनिसिपल पुलिसके हाथों गिरफ्तार हो गये। ब्रिटिश खुफिया दलकी चौकसीने भारतीय क्रान्तिकारियोंकी करीब-करीब हर योजना निष्फल कर दी।

अध्याय १६

होमरूल आन्दोलन

कांग्रेसकी ढुलमुल नीतिसे उग्रपन्थियोंकी ही तरह असन्तुष्ट एक अन्य महान् व्यक्तित्व मानवतावादी दार्शनिक आयरिश महिला श्रीमती एनी बेसेण्टका था। राजनीतिमें प्रवेशसे दो दशाब्दोंसे अधिक पहलेसे वे भारतमें समाजसेविका और धर्मसुधारकका काम कर रही थीं। वे एक अंग्रेज पादरीकी पत्नी थीं, पर युवावस्थामें ही उन्होंने एक प्रगतिशील एवं नास्तिक सामयिक पुस्तकोंकी लेखिका तथा भाषणकर्त्रीकी हैसियतसे अपना स्वतंत्र स्थान बना लिया था। वर्षोंतक उन्होंने चार्ल्स ब्रैडलाके साथ काम किया और शनैः शनैः उनका आकर्षण समाजवादकी ओर हो गया। ब्रैडला समाजवादके विरोधी थे पर समाजसेवाके क्षेत्रमें दोनों साथ काम करते रहे। बादमें वे एक रूसी महिला ब्लाशस्कीसे सीखे हुए मानवधर्म सिद्धान्त (थियोसोफी) की ओर आकृष्ट हुई। उन्होंने यूरोपके अनेक देशों और अमेरिकाकी यात्रा की थी। सन् १८९३ में वे थियोसोफिकल सोसायटीका काम करने भारत आयीं जिसकी वे सन् १९०७ में अध्यक्षा हो गयीं। १८९३ में भारतकी प्रथम यात्राके समय ही उन्होंने ६००० मील यात्रा की और भारतके विभिन्न भागोंमें पहुँचीं। उनमें हिन्दू ग्रन्थोंके प्रति आकर्षण बढ़ा और प्राचीन भारतीय गौरवका पुनरुत्थान उनका संकल्प हो गया। सन् १९१४ तक वे पूरी तरह धार्मिक, सामाजिक और शैक्षणिक कार्योंमें लगी रहीं। पर सन् १९१४ के वसन्तमें वे राजनीतिकी ओर मुड़ीं और उन्होंने अपने साथके कार्यकर्त्ताओंकी मददसे "दी कामनवील" नामसे एक साप्ताहिक पर्यालोचन पत्रिका निकाली। बादमें उसी वर्ष उन्होंने "न्यू इण्डिया" के नामसे एक दैनिक पत्र निकाला। जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा था—"इस दैनिक और 'कामनवील' साप्ताहिकका जन्म होमरूलके संघर्षको बढ़ानेके लिए हुआ था।"—और वस्तुतः सन् १९१६-१७ में इन पत्रोंने होमरूलका झण्डा ऊँचा किया भी।

होमरूल आन्दोलनका आरम्भ इस प्रकार हुआ। सन् १९१५ में बेसेण्टने कांग्रेस और मुस्लिम लीगके सामने—जो दोनों संस्थाएँ उस समय करीब आ रही थीं—एक होमरूल लीग आरम्भ करनेका सुझाव रखा। पहले तो कांग्रेस और लीगमें से किसीने भी इस ओर दिलचस्पी न दिखायी, पर शीघ्र ही दोनोंको इस आन्दोलनके महत्त्वका पता चल गया। बेसेण्टकी योजनाके अनुसार भारतको ब्रिटिश साम्राज्यके स्वशासित प्रदेशोंकी भाँति स्वशासन मिलना चाहिये था। उनकी दलील थी "होमरूलका अर्थ यह नहीं है कि इंगलैण्ड और भारतका एकदम सम्बन्धविच्छेद हो जाय। इसका अर्थ केवल यह है कि भारतमाता अपने घरकी पूरी तरह स्वामिनी हो जाय।"[1]

कांग्रेस, सालभरमें एक बार प्रस्ताव पास करके चुप होकर बैठ जानेवाली संस्था होनेके नाते बहुत कुछ एक रस्मअदायगीका रूप धारण करती जा रही थी और हर कांग्रेसी यहाँतक नम्रतम उदारपन्थी, एस. पी. सिनहा भी यह अनुभव करने लगे थे कि लगातार काम करनेके

---

१. एनी बेसेण्ट—'होमरूल एण्ड दि एम्पायर' (१९१७), पृष्ठ १०

लिए कुछ तरीका होना चाहिये। बम्बई कांग्रेसके अध्यक्षपदसे उन्होंने कहा था—"मैं यहाँ-पर उपस्थित आप लोगोंकी ही तरह या शायद कहीं अधिक अपनी मदद आप करनेके सिद्धान्तमें यकीन करता हूँ। इसलिए मैं कहता हूँ कि वर्षमें तीन दिन इस प्रकारकी वक्तृताओंकी महफिल जमाने मात्रसे सन्तुष्ट न होकर हमको लगातार कार्य करनेका कार्यक्रम बनाना चाहिये। कामसे मतलब सिर्फ राजनीतिक नहीं जिसमें सार्वजनिक सभाएँ की जायँ, बल्कि कामका मतलब है दलितों और कमजोरोंको ऊपर उठानेकी कोशिश।"

सन् १९१६ की गर्मियोंमें कांग्रेस और मुस्लिम लीगकी, इसी उद्देश्यके लिए खास तौरपर नियुक्त कमेटियोंकी बैठक हुई और होमरूल स्कीम मंजूर की गयी। बेसेण्टने शीघ्र ही सभाओं तथा समाचारपत्रों द्वारा होमरूलका प्रचारकार्य तेजीसे आरम्भ कर दिया। वही दिन थे जब क्रान्तिकारियोंने भारतकी मुक्तिके लिए दूसरा मोर्चा खोल रखा था और उनमेंसे कुछ विदेशोंसे—उदाहरणार्थ जर्मनीसे—जिससे उस समय ब्रिटेन और उसके मित्रराष्ट्रोंका युद्ध चल रहा था—फौजी मदद पानेका प्रयत्न कर रहे थे। इसलिए बेसेण्टने यह तर्क उपस्थित किया—"होमरूल भारतके युवकोंके लिए एकदम आवश्यक है क्योंकि भारतका युवकसमाज उस शिक्षाके मातहत जो उसे प्राप्त हो रही है, गलत ढंगसे शिक्षित एवं गुमराह किया जा रहा है। कालेजोंके उन लड़कों और स्कूलोंके उन बच्चोंके हृदयमें अशान्ति और असन्तोषकी ज्वाला है, जो समय-समयपर दुःखप्रद हड़तालोंके रूपमें फूट निकलती है और जिसे छात्रवर्गका कोई प्रेमी उचित नहीं कह सकता। बच्चे हताश हैं और बहुतसे तो क्षणिक पागलपनमें अपना पूरा जीवन बरबाद कर डालते हैं।"[1] इसलिए आन्दोलनका एक विशिष्ट महत्त्व था और वह यह कि ब्रिटेनके लिए बिना रक्तपातके भारतको स्वशासन प्रदान करना अधिक गौरवकी बात होगी।

होमरूलको प्रेरणा मिली थी आयरलैण्डके आन्दोलनसे और विश्वास किया जाता था कि भारतमें भी बिलकुल उसी प्रकारकी राजनीतिक स्थिति है। यह भी यकीन था कि (अ) भारतकी जनता और राजनीतिज्ञोंके बीच कुछ वैसा ही रिश्ता है जैसा आयरलैण्डके होमरूल आन्दोलनके नेताओंका अपने देशकी अधिकतर जनतासे है और (ब) अगर ब्रिटिश शासक यहाँसे हट जायँ तो यहाँके विभिन्न धर्मों, जातियों और मतमतान्तरोंके भेदप्रभेद आपसमें ठीक हो जायँगे।[2]

दो वर्षोंतक होमरूल आन्दोलन इतनी तेजीसे बढ़ा कि वह कांग्रेसपर छा-सा गया। कांग्रेसकी ब्रिटिश कमेटी, अपने ही शब्दोंमें, सिर्फ एक पर्यवेक्षक या दर्शकमात्र रह गयी थी। बेसेण्ट एक अधिक सक्रिय संस्था चाहती थीं और १२ जून सन् १९१६ को उन्होंने इंगलैण्डमें सहायक होमरूल लीगका संघटन किया। वह स्वतन्त्र संस्था नहीं थी बल्कि कांग्रेसके स्व-शासन प्रस्तावके मातहत बनायी गयी थी।

तिलक इस नयी लहरमें इतना बह गये थे कि बेसेण्टके कार्यक्षेत्रमें कूदनेसे पहले ही उन्होंने स्वयं ही १३ अप्रैल १९१६ के दिन महाराष्ट्रमें होमरूल लीगकी स्थापना कर दी जिसका प्रधान कार्यालय पूना था। पर नौकरशाही उनकी जानी दुश्मन थी। जब कि वे छात्रोंसे फौजमें भर्ती होनेकी अपील कर रहे थे उन्हें पंजाब सरकारका आदेश मिला जिसके मुताबिक

---

१. बेसेण्ट, वही पुस्तक, पृष्ठ १२

२. लवेट, ए हिस्ट्री ऑव इंडियन नैशनल मूवमेंट (?) पृ० १०६

उन्हें पंजाब या दिल्लीमें घुसनेकी मुमानियत कर दी गयी। उसी समय उनसे २० हजारका जाती मुचलका और दस दस हजारकी दो जमानतें भी ली गयीं। पर इस दमनने उन्हें और अधिक लोकप्रिय बना दिया। वे जहाँ कहीं भी गये उनका भव्य स्वागत हुआ और उन्हें थैलियाँ भेंट की गयीं। उनकी ६० वीं वर्षगाँठपर उन्हें १ लाखकी थैली भेंट की गयी जो उन्होंने राष्ट्रीय सेवाके लिए दान कर दी। लखनऊ कांग्रेसमें आते समय उनका लखनऊ रेलवे स्टेशन और कांग्रेस पण्डाल दोनों जगह शानदार स्वागत हुआ।

मई, जून सन् १९१६ में उन्होंने बेलग्राम और अहमद नगरमें सार्वजनिक सभाओंमें होमरूलपर भाषण किये। उन भाषणोंको बम्बई सरकारने ब्रिटिश शासनके विरुद्ध घृणा और अवमानना फैलानेवाला समझा और उन्हें एक सालतककी नेकचलनीके लिए भारी जमानत जमा करनेकी आज्ञा दी गयी पर उस आज्ञाको बादमें बम्बई हाईकोर्टने रद कर दिया। उन भाषणोंका सारांश यह था "जब राष्ट्रकी जनता शिक्षित होकर यह समझने लगती है कि वह अपने देशका प्रबन्ध स्वयं करे तो उसकी यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि वह दूसरोंसे अपने देशका शासन-प्रबन्ध स्वयं अपने हाथोंमें ले ले। यही होमरूल है। इसीका नाम स्वराज्य है। तिलककी उम्र इस समय ६० वर्षकी थी और दूर देशमें ६ वर्षकी लंबी कैदके कारण उनका स्वास्थ्य काफी गिर गया था। पर उनकी आत्मा अब भी अशान्त थी। कांग्रेसकी राजनीतिसे उन्हें असन्तोष था। होमरूल आन्दोलनमें उन्हें आशाकी किरण दिखाई दी थी।

बेसेण्टने अपनी होमरूल लीगकी स्थापना मद्रासमें सितम्बर सन् १९१६ में की क्योंकि तिलककी संस्था महाराष्ट्रके भीतर ही सीमित थी। उन्होंने अपनी संस्थाका नाम अखिल भारतीय होमरूल लीग रखा और भारतके प्रमुख प्रान्तोंमें (पंजाबको छोड़कर) उसकी ५० स्थानोंपर शाखाएँ खुल गयीं तथा उसकी सदस्यसंख्या भी २-३ हजार हो गयी। बेसेण्टने अपना आन्दोलन समाचारपत्रोंमें लेखों और सभाओंमें भाषणों द्वारा जारी रखा। उन्होंने भारतकी विभिन्न समस्याओंसे सम्बन्धित लेखोंको पुस्तकमालाके रूपमें प्रकाशित किया जिनमें "इण्डियन पोलिटिकल पैम्फलेट्स", "नेशनल कांग्रेस सीरीज", "नेशनल होमरूल सीरीज" प्रमुख हैं। उन्होंने अनेक पुस्तकें भी लिखी जिनमेंसे उस समय "भारत एक राष्ट्र" का सबसे अधिक प्रचार हुआ। उनकी पुस्तिकाओंका भारतीय भाषाओंमें अनुवाद हुआ और वे बहुत बड़ी संख्यामें वितरित हो गयीं। परिणाम यह हुआ कि युवकोंमें राजनीतिक उत्तेजना और बढ़ गयी। उन्होंने श्रीमती बेसेण्टका सन्देश घरघर पहुँचाया। सबका उद्देश्य इस सिद्धान्तका प्रसार था कि भारतमें ब्रिटिश शासन स्वाधीनताके लिए घातक है और होमरूलकी माँगके लिए प्रभावशाली तथा सक्रिय संघटन होना चाहिये।

वे बहुधा कहा करती थीं—"मैं खूब समझती हूँ कि जब लोग सो रहे हों और खासतौरसे जब उनकी तबीयत भारी हो तब वे रातभर लगातार नगाड़ा बजा बजाकर जगानेवालेको पसन्द नहीं करते। पर मेरा यही काम है कि मैं सोते हुए भारतीयोंको जगाकर उन्हें मातृभूमिकी सेवा करनेकी प्रेरणा प्रदान करूँ और वे हर ओर जाग रहे हैं—युवक तो वृद्धोंकी अपेक्षा तेजीसे जागकर उज्ज्वल भविष्यको पहचान रहे हैं। तुम्हें याद रखना चाहिये कि भारत क्या था। तुम्हें समझना चाहिये कि ईसाके जन्मसे ३ हजार वर्ष पहले भारत वाणिज्य और व्यापारमें महान् था।",

उनकी पत्रिकाओंमें प्रकाशित कुछ लेखोंको मद्रास सरकारने रंगभेद भड़कानेवाला समझा और उनसे प्रेस ऐक्टके मातहत भविष्यमें "अपने प्रकाशन ठीक रास्तेपर" रखनेके लिए २००००) की जमानत माँगी गयी। यह जमानत शीघ्र ही जब्त हो गयी और फिर इससे बड़ी जमानत माँगी गयी तो उन्होंने जमा तो कर दी पर हाईकोर्टमें जब्तीके खिलाफ अपील की। अपील खारिज हो गयी।

बादमें श्रीमती बेसेण्टको बम्बई और मध्य-प्रदेशमें घुसनेकी इन सूबोंकी सरकारोंने मुमानियत कर दी पर इसका उनके कामपर कोई असर नहीं पड़ा।

वे उग्रवादी कांग्रेसजनोंमें इतनी लोकप्रिय हो गयीं कि उनका नाम सन् १९१६ में कांग्रेसके अध्यक्ष-पदके लिए प्रस्तावित कर दिया गया लेकिन नरमदलीय उम्मीदवार अम्बिकाचरण मजुमदारके मुकाबलेमें—जिन्हें श्रीमती बेसेण्टको प्राप्त २५ वोटोंके विरुद्ध ६१ वोट प्राप्त हुए—वे चुनावमें हार गयीं।

कांग्रेस और मुस्लिम लीग द्वारा होमरूल आन्दोलनका समर्थन और उग्रवादियोंके प्रयत्नोंके फलस्वरूप नरमदलीय नेताओंका भी इस ओर झुकाव देखकर बेसेण्टने अपना आन्दोलन और तेज कर दिया। सरकारकी नजरमें उनके लेख ऐसे थे जिनमें शान्तिभंग होनेका अन्देशा था। उन लेखोंके एकआध उद्धरण यहाँ दिये जा रहे हैं—

"विदेशी कारखानोंके लिए भारतीय मजदूरोंकी जरूरत है, भारतीय पूँजी युद्धके ऋणों द्वारा खींचकर विदेश ले जायी जा रही है जिससे अगर अफसरशाहीका बस चला तो भारतको आजादी नहीं मिलेगी। करोंका बोझ, जो कर युद्ध ऋणका सूद देनेके लिए होंगे, भारतकी कमर तोड़ डालेगा। जब यह हालत होगी तब भारत भरकी जनता समझ लेगी कि मैंने युद्धके बाद होमरूलके लिए सतत प्रयत्न क्यों किया है। वही एक रास्ता है जिससे कि भारत बरबादीसे, दूसरोंको अमीर बनानेके लिए स्वयं कुलियोंकी कौम बननेसे बच सकता है।"

भारतके क्रान्तिकारियोंके सम्बन्धमें बेसेण्टने २३ मई १९१७ के "न्यू इण्डिया"में लिखा था "सब ओरसे निराश होकर उन्होंने बुजुर्गोंका सब प्रकारका नियन्त्रण तोड़कर फेंक दिया, षड्यन्त्र आरम्भ किया और उनमेंसे अनेक तो सदाके लिए षड्यन्त्रकारी बन गये। कुछको फाँसी हो चुकी है और कुछ अंदमान द्वीप-समूहमें मृतकोंके समान जीवन बितानेके लिए भेज दिये गये हैं, कुछ यहाँ कैदमें हैं। अब विद्यार्थीवर्ग आश्चर्य-पूर्वक यह देखता है कि ब्रिटेनका प्रधानमन्त्री रूसवासी युवकों तथा युवतियोंके इसी प्रकारके कार्योंपर प्रसन्नता प्रकट कर रहा है जिन्होंने षड्यन्त्र किया, रेलें उड़ा दीं, जारको मार डाला, जिनकी आज शहीद कह प्रशंसा की जा रही है और उनमेंसे जो अब भी जीवित हैं उन्हें विजेताकी भाँति रूस वापस लाया जा रहा है जिसकी आजादी उनके प्रयत्नोंके फलस्वरूप संभव हुई। उनके नामोंको आज पवित्र माना जा रहा है और उनके बलिदानोंकी विजय हुई है।"

२ मईके अंकमें प्रकाशित एक लेखमें उन्होंने ब्रिटेनकी भारतके प्रति सत्यानाशी आर्थिक नीतिके द्वारा भारतकी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई तबाहीका विवेचन करते हुए अपील की थी—"अगर होमरूलकी स्थापनामें जल्दी नहीं की जाती और भारत 'साम्राज्यकी व्यापार प्राथमिकता' (इम्पीरियल प्रिफरेन्स) का संघर्ष आरम्भ होनेसे पहले आजाद नहीं हो जाता, तो भारत बरबाद हो जायगा।

होमरूलकी आवाज देशभरमें गूँज रही थी। मद्राससे यह आन्दोलन आरम्भ हुआ था; वहाँकी सरकारने एक आदेश द्वारा विद्यार्थियोंको राजनीतिमें भाग लेनेसे रोक दिया।

जूनमें मद्रास सरकारने श्रीमती बेसेण्ट और उनके दो प्रमुख सहयोगियों, वाडिया और अरुण्डेल, पर दो आदेश तामील कराये जिनके द्वारा इन लोगोंको किसी भी सार्वजनिक सभामें भाग लेने या बोलने, कहीं भाषण करने, प्रवचन करने या किसी अपने लेख अथवा भाषणको प्रकाशित करने या करवानेकी मुमानियत कर दी। इनकी डाकपर सेन्सर लग गया और यह भी आदेश हो गया कि थोड़ेसे निर्धारित समयके बाद ये लोग आदेशमें बतायी गयी जगहके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं न रहें। इस नजरबन्दी आदेशसे देश और विदेशमें बड़ी उत्तेजना फैली। राजनीतिक नेताओं और समाचारपत्र-सम्पादकोंने इस प्रश्नको उठाया। भारत सरकारसे मद्रास सरकारका यह आदेश रद करनेके लिए अपील की गयी। पर जब इसका कोई नतीजा न निकला तो मद्रास प्रेसीडेन्सी और अन्य स्थानोंके राजनीतिक वर्गोंमें व्यापक आन्दोलन आरम्भ हो गया। इस अवसरपर सविनय अवज्ञा और निरोधके सुझाव भी दिये गये और उनपर विवाद भी किया गया।"[1]

श्रीमती बेसेन्टके जीवनीलेखकने स्वयं उन्हींके उद्गारोंका उद्धरण दिया है—"जब हम, नजरबन्द ऊटकमण्डमें जमा हुए तो एक तूफान उठ खड़ा हुआ जिसने ऊपरसे नीचेतक देशको हिला दिया और कई सौ मील प्रति घण्टेकी रफ्तारसे ब्रिटेन, रूस, फ्रान्स और अमेरिकातकमें छा गया। वाइसरायकी विधान-परिषद् और ब्रिटेनकी कामन्स सभाओंमें प्रश्नोंकी झड़ी लग गयी। एक बड़े अफसरने गम्भीरतापूर्वक कहा—'कौन जानता था कि एक वृद्ध स्त्रीके कारण इतनी उथल-पुथल होगी।' असंख्य जनताकी भीड़ और अनेक लोकप्रिय नेता होमरूल लीगमें शामिल हो गये। सभाएँ होने लगीं, प्रस्तावोंकी झड़ी लग गयी और कांग्रेसजनोंने हर जगह इस आगको भड़काया तथा आन्दोलनका नेतृत्व किया। तीन महीनेतक जबरदस्त आन्दोलन अबाध गतिसे चलता रहा"।[2] होमरूल लीगमें शामिल होनेवाले मुसलमानोंमें जिना भी थे।

नजरबन्दोंकी रिहाईके लिए "सविनय अवज्ञा" के तरीके अपनानेपर विचार किया गया। जुलाई १९१७ में कांग्रेस महासमिति और मुस्लिम लीग कौंसिलकी संयुक्त बैठक बुलायी गयी और तय हुआ कि दोनों संस्थाएँ अपनी प्रान्तीय शाखाओंसे इस प्रश्नपर छ सप्ताहके भीतर राय भेजनेको कहें। रासबिहारी घोषकी अध्यक्षतामें नजरबन्दीका विरोध करनेके लिए आयोजित सार्वजनिक सभापर बंगाल सरकारने रोक लगा दी। कांग्रेस व लीग कमेटियोंकी उक्त संयुक्त बैठकने बंगाल सरकारकी इस काररवाईका विरोध करते हुए एक प्रस्तावमें विश्वास प्रकट किया कि बंगालकी जनता अपने अधिकार प्राप्त करनेके लिए हर कानूनी तरीकेसे काम लेगी। कमेटीने राजनीतिक स्थितिपर वक्तव्य तैयार किया। उसमें ये माँगें की गयीं—(१) एक अधिकृत घोषणा द्वारा साम्राज्यकी सरकार भारतको ब्रिटिश साम्राज्यके अन्तर्गत स्वशासित सदस्य बनानेकी नीतिकी स्पष्ट शब्दोंमें प्रतिज्ञा करे, (२) दोनों संस्थाओं द्वारा संयुक्त रूपसे तैयार माँगें मंजूर करनेके लिए तुरत कारवाई हो, (३) सरकारी सुझाव प्रकाशित किये जायँ और (४) दमननीति समाप्त की जाय।

१. दवेट, ए हिस्ट्री ऑव इंडियन नेशनल मूवमेंट (?) पृष्ठ १३८
२. थियोडोर वेस्टरमैन—'मिसेज एनी बेसेण्ट, ए माडर्न प्रोफेट', पृष्ठ २०१

शीघ्र ही भारत सरकारने प्रान्तीय सरकारोंको जनान्दोलनसे निपटनेकी हिदायतें एक गश्ती चिट्ठीमें भेज दीं और कुछ प्रान्तोंमें दमनकारी तरीकोंकी चेतावनी भी दे दी गयी।

कुछ प्रान्तोंकी रायमें सविनय अवज्ञा आन्दोलन अनुपयुक्त था, पर बिहार और मद्रासकी कांग्रेस कमेटियोंने उसका समर्थन किया। बिहार कमेटीने तो यह भी माँग की कि "एक तारीख तय कर दी जाय और सरकारसे माँग की जाय कि उस तारीखतक होमरूल लीगके सभी नजरबन्दी, अली बन्धुओं और मौलाना आजादको रिहा कर दिया जाय।" मद्रासमें वैधानिक आन्दोलन चलानेके लिए एक प्रतिज्ञाका मसविदा तैयार किया गया जिसपर पहला हस्ताक्षर मद्रास हाईकोर्टके रिटायर्ड जज तथा भारतीय होमरूल लीगके अध्यक्ष सर सुब्रह्मण्यम् अय्यरने किया। उन्होंने बेसेण्ट और उनके सहयोगियोंकी नजरबन्दीके विरोधमें "सर" का खिताब छोड़ दिया। पर इसी बीच जब मद्रास आदि एक दो अन्य प्रान्तोंमें आन्दोलनकी तैयारी हो रही थी, राजनीतिक स्थितिमें परिवर्तन हो गया।

२२ अगस्त १९१७ के दिन भारत सचिवने पार्लमेण्टमें दो घोषणाएँ कीं। एकमें कहा गया कि "ब्रिटिश सरकारकी नीति यह है कि भारतीयोंका प्रशासनकी हर शाखासे अधिकाधिक सम्बन्ध स्थापित किया जाय और धीरे-धीरे स्वशासकीय संस्थाओंका विकास किया जाय ताकि ब्रिटिश साम्राज्यके अभिन्न अंगकी हैसियतसे भारतमें उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन स्थापित करनेका उद्देश्य धीरे-धीरे पूरा हो जाय। घोषणामें यह भी कहा गया कि "इस नीतिकी प्रगति धीरे-धीरे ही मुमकिन है।" भारत सचिवने यह भी कहा कि "मैं भारत सरकारसे इन मसलोंपर सलाह मशविरा करने शीघ्र ही भारत जा रहा हूँ।" दूसरी घोषणा यह थी कि भारत सरकारने फौजमें कमीशनके ओहदोंपर ९ भारतीयोंकी नियुक्ति करनेका निश्चय किया है।

नजरबन्दीके आदेश समाप्त हो गये। इन दो वर्षोंकी तूफानी हलचलने बेसेण्टको इतना लोकप्रिय बना दिया कि सन् १९१७ में वे कांग्रेसकी अध्यक्षा चुनी गयीं।

अध्यक्ष-पदसे भाषण करते हुए उन्होंने होमरूल आन्दोलनकी विवेचनामें कहा कि "होमरूल आन्दोलनकी शक्ति, महिलाओंको बहुत बड़ी संख्याके इसमें आ जानेके फलस्वरूप जो अपने साथ नारीत्वकी असीम वीरता, सहनशक्ति और आत्मबलिदान इस आन्दोलनमें लायीं—दस गुनी बढ़ गयी। होमरूल आज, दक्षिणके महान् मन्दिरोंकी पूजाओं तथा उनसे प्रभावित सुदूर देहातोंके मन्दिरोंके पूजापाठ और देशके हर भागमें साधु-संन्यासियोंके उपदेशमें और प्रवचनोंका आधार घर-घर धर्मका अभिन्न अंग बन गया।" आन्दोलनने एक और तरीकेसे कांग्रेसका पथ-प्रदर्शन किया। देशका संघटन करनेमें होमरूल लीगने भाषाके आधारपर प्रान्तोंका निर्माण स्वीकार किया।

नजरबन्दीसे रिहा होनेके बाद उन्होंने निरोधात्मक आन्दोलनको अनुपयुक्त कहा और कई बार वाइसरायसे भेंट करनेकी कोशिश की पर चेम्सफोर्ड उनसे घृणा करते थे और बारबार उनकी प्रार्थना ठुकरा दी गयी। जिस समय होमरूल आन्दोलन अपनी उच्चतम अवस्थामें था, गान्धीजी कुछ चुने हुए कार्यकर्त्ताओंके साथ चम्पारनके खेतिहरोंकी यूरोपीय नीलबागानके मालिकोंके विरुद्ध शिकायतोंका पता लगा रहे थे। वे स्वयं अपने सहयोगियों

सहित ६ महीनेतक आन्दोलनसे एकदम अलग रहे पर वहीं भारतके पहले सत्याग्रह आन्दोलनकी भूमिका आरम्भ हो चुकी थी।

चम्पारनके कुछ खेतिहर इस शर्तमें बँध चुके थे कि अपनी कुल भूमिके ३० मेंसे ३ हिस्सोंमें गोरे भूमिपतियोंके लिए नील बोयेंगे। इस पद्धतिको "तिनकठिया" कहा जाता था क्योंकि एक एकड़के ३० मेंसे ३ कट्ठोंमें नील बोनी पड़ती थी। इन खेतिहरोंसे उक्त वृत्ति जबरदस्ती मनवायी जाती थी क्योंकि नीलकी खेती उनके लिए कतई लाभप्रद नहीं थी और इन खेतिहरोंके प्रति हर प्रकारका अमानुषिक व्यवहार होता था। अगर कभी वे नीलकी खेती बन्द करनेका विचार करते थे तो उन्हें बुरी तरह पीटा जाता था और "मुर्गीखाने" में बन्द कर दिया जाता था—उनके जानवर खोल लिये जाते थे, घर लूट लिये जाते थे। नाइयों और धोबियोंसे उनका बहिष्कार कराया जाता था। कभी-कभी उनके अपने घरोंका आने-जानेका रास्तातक रोक दिया जाता था। गोरे भूमिपतियोंकी तरफसे ५० से ऊपर अनधिकृत और गैरकानूनी कर वसूल किये जाते थे, जैसे कि शान्तिका टैक्स, कोल्हू व खलिहानपर टैक्स आदि। अगर मालिक बीमार है और उसे स्वास्थ्यके लिए पहाड़ जाना है तो खेतिहरोंसे विशेष टैक्स लिया जाता था। इसी तरहसे अगर वह घोड़ा, हाथी या मोटर खरीदना चाहता था तो उसके लिए भी असाधारण-कर लिये जाते थे। इसके बाद जुर्माने होते थे। अगर खेतिहरसे किसी बातपर भूमिपति नाराज हो गया तो कानूनको अपनी मुट्ठीमें लेकर वह भारी जुर्माना करता था जिसकी वसूली निर्दयतापूर्वक की जाती थी। खेतिहर दुनियामें किसीके पास अपनी मुसीबतें दूर करनेकी अपील नहीं कर सकते थे। अफसरोंपर बागान-मालिकोंका प्रभाव था।

गान्धीजीको यहाँके किसानोंकी दुखभरी कहानी एक खेतिहर, राजकुमार शुक्लसे मालूम हुई और गान्धीजीने उनकी मुसीबत दूर करनेका बीड़ा उठाया। वहाँसे वे मुजफ्फरपुर गये जहाँ उनकी आचार्य कृपालानीसे पहली मुलाकात हुई। कृपालानीने उसी समय गवर्नमेण्ट कालेजकी प्रोफेसरीके पदसे इस्तीफा दिया था। उन्होंने गान्धीजीसे बिहारकी वर्णनातीत दशापर बात की, और मार्गकी कठिनाइयोंका भी संकेत किया। गान्धीजी चम्पारनके खेतिहरोंकी दशा और नीलबागानके मालिकोंके विरुद्ध उनकी शिकायतोंका पता लगानेका काम हाथमें ले चुके थे। इस कार्यके लिए उन्हें हजारों खेतिहरोंसे मिलना जरूरी था। जैसा उनका तरीका था वे जाँच आरम्भ करनेके पहले बागानके मालिकों और सरकारका दृष्टिकोण भी जानना चाहते थे। इसलिए वे बागान मालिक संघ (प्लांटर्स एसोसियेशन) के सेक्रेटरीसे मिले। उन्होंने गान्धीजीसे साफ शब्दोंमें कहा कि आप बाहरी आदमी हैं; आपको नीलके खेतिहरों और उनके मालिकोंके आपसी रिश्तोंसे कोई वास्ता नहीं है। अगर आपको कुछ कहना हो तो आप लिखकर दीजिये। गान्धीने नम्रता-पूर्वक उनसे कहा कि मैं अपनेको बाहरी आदमी नहीं मानता और मुझे खेतिहरोंकी हालत जाननेका पूरा हक है। उन्होंने तिरहुत डिवीजनके—जिसका एक जिला चम्पारन भी था—कमिश्नरसे भी बात की। कमिश्नरने पहले तो उन्हें आड़ेहाथों लिया और उनको सलाह दी कि वे तुरत तिरहुत छोड़कर चले जायँ। उनको चम्पारनसे बाहर चले जानेकी नोटिस दी गयी जिसका पालन करनेसे उन्होंने इनकार किया और कहा कि अपनी जाँच पूरी किये बिना मैं यहाँसे नहीं जा सकता। मजिस्ट्रेटी आदेशका उल्लंघन करनेके जुर्मपर वे अदालतमें पेश किये गये

पर इससे पहले कि उनको सजा सुनायी जाती मजिस्ट्रेटको लेफ्टिनेंट-गवर्नरका आदेश मिला कि मुकदमा उठा लिया जाय। लेफ्टिनेण्ट-गवर्नरने गान्धीजीको अपनी जाँच जारी रखनेकी भी अनुमति दे दी। लेकिन जब जाँच कुछ हफ्तों चली तो सरकारने गान्धीजीसे सलाह लेकर एक सरकारी जाँच कमेटी बना दी जिसकी रिपोर्ट खेतिहरोंके पक्षमें आयी। बाग-मालिकों द्वारा वसूले हुए अवैध करोंका एक अंश वापस कराया गया और "तिनकठिया" पद्धति समाप्त कर दी गयी।

कुछ समय बाद गान्धीजीने खेडा (गुजरात)में एक छोटे सत्याग्रह आन्दोलनका नेतृत्व किया। व्यापक रूपसे फसल खराब होनेके कारण किसान वहाँ मालगुजारी अदा करनेमें असमर्थ थे और अमृतलाल ठक्कर, मोहनलाल पण्ड्या और शंकरलाल पारिख जैसे किसान नेताओंने पहले ही इस मामलेमें हाथ डाल रखा था। सरकारी अनुमानके मुताबिक फसल रुपयेमें चार आनेसे कुछ अधिक हुई थी। पर वस्तुतः पैदावार इससे कहीं कम थी। अधिकारियोंको मालगुजारीकी वसूली स्थगित करनेके प्रार्थनापत्र दिये गये पर वे सुननेको तैयार न थे। अतः गान्धीजीने लगानबन्दी आन्दोलन करनेका निश्चय किया। इस आन्दोलनमें उनके प्रमुख सहयोगी वल्लभभाई पटेल, शंकरलाल बैंकर, अनुसूया बहन, इन्दुलाल याज्ञिक और महादेव देसाई थे। किसानोंसे सत्याग्रहके लिए तैयार रहनेको कहा गया और उनसे निम्नांकित प्रतिज्ञापत्रपर हस्ताक्षर कराये गये जिसे गान्धीजीने तैयार किया था—

"हम संकल्प करते हैं कि हम राजीसे वर्षकी सरकारी मालगुजारी कुल या अवशिष्टांश अदा न करेंगे और सरकार जो भी कानूनी कारवाई करे उसे करने देंगे तथा मालगुजारी न अदा करनेके फल हँसते-हँसते झेलेंगे। हमें यह पसन्द है कि हमारे खेत कुर्क हो जायँ पर हम यह नहीं चाहते कि स्वेच्छासे लगान देकर हम अपने मामलेको झूठा बनायें और अपनी प्रतिष्ठा गवायें।"

अधिकांश किसान इस संकल्पपर डटे रहे और सरकारी अफसरोंने उनके जानवर और जो भी चल सम्पत्ति मिल सकी, जब्त कर ली। खड़ी फसल बेच डाली गयी। परन्तु शीघ्र ही सरकारने मंजूर कर लिया कि सिर्फ खाते-पीते किसानोंसे लगान वसूला जायगा इसलिए सत्याग्रह आन्दोलन समाप्त कर दिया गया।

हाँ तो सन् १९१७ में कांग्रेसके कलकत्ता अधिवेशनकी चर्चा चल रही थी जिसकी अध्यक्षता एनी बेसेण्टने की थी। अध्यक्षपदसे भाषण करते हुए उन्होंने सुझाव दिया कि पार्लमेण्टमें सन् १९१८ के भीतर एक बिल लाया जाय जिसके द्वारा "भारतमें एक निश्चित तारीखपर जो सन् १९२३ में हो पर किसी हालतमें १९२८ के बाद न हो—राष्ट्रमण्डलके अन्य देशोंके अनुरूप (उपनिवेशोंके समान ब्रिटेनसे अभिन्न सम्बन्ध रखते हुए) स्वशासनकी स्थापना कर दी जाय और बीचके ५-१० वर्षोंका उपयोग शासन-प्रबन्ध अंग्रेजोंसे भारतीयोंके हाथोंमें धीरे-धीरे लानेके लिए होगा।"

दिसम्बर सन् १९१७ में सरकारने "भारतमें क्रान्तिकारी आन्दोलनोंसे सम्बन्धित अपराधपूर्ण षड्यन्त्रोंके तौर-तरीकोंपर रिपोर्ट देने और उनसे निबटनेके लिए आवश्यक कानूनकी रूप-रेखा सुधारने"के लिए जस्टिस रौलटकी अध्यक्षतामें एक कमेटी बनायी जो रौलट कमेटीके नामसे विख्यात है।

कांग्रेसने दूरदर्शितासे काम लिया और तुरन्त इस सरकारी घोषणाकी निन्दा करते

हुए एक प्रस्तावमें कहा कि "कमेटीका उद्देश्य भारतको सहायता देनेका नहीं बल्कि अफसरोंको बंगालकी तथाकथित क्रान्तिकारी लहर दबानेके लिए और अधिक दमनकारी अधिकार देना है।" बादकी घटनाओंने दिखा दिया कि यह आशंका सही थी। इसी प्रस्तावमें माँग की गयी कि सब राजनीतिक कैदियोंको क्षमादान किया जाय क्योंकि भारत रक्षा कानून और सन् १८१८ के नं० ३ रेगुलेशनके मातहत की गयी अन्धाधुन्ध गिरफ्तारियोंसे जनतामें असन्तोष उभर रहा है।

कांग्रेसके मुख्य प्रस्तावमें आग्रह किया गया कि पार्लमेंट एक कानून द्वारा भारतमें तुरत उत्तरदायी शासन स्थापित करे और एक अवधि नियत करे जिसके अन्दर पूर्ण स्वशासन स्थापित करे। यह भी माँग की गयी कि इस दिशामें प्रगतिके लिए पहले कदमके रूपमें सुधारोंकी कांग्रेस-लीग योजनाको कानूनी शकल दी जाय। दिसम्बरमें कांग्रेस अधिवेशन होनेके पहले ही गान्धीजी कांग्रेस लीग योजनाको जनतामें लोकप्रिय बनानेके लिए आवश्यक कदम उठा चुके थे। उन्हींके आग्रहपर इस योजनाको भारतीय भाषाओंमें अनूदित किया गया और जनताको समझाया गया। सन् १९१७ समाप्त होते-होते करीब १० लाख जनता इस योजनापर दस्तखत करके इसका औचित्य स्वीकार कर चुकी थी।

अपने पूर्वाधिकारियोंके विपरीत—जिनके लिए कांग्रेसकी अध्यक्षता तीन दिनकी तड़क-भड़क और इज्जतसे अधिक कुछ नहीं थी—श्रीमती बेसेण्टने इस पदको रोजकी जिम्मेदारीका पद बना दिया। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियोंको झकझोरा गया कि वे जनताको समझाने, उभारने और सुधार करनेका काम निरन्तर करें। खास तौरसे भारत सचिव श्री मांटेगूकी भारत-यात्राको देखते हुए कांग्रेस संघटनकी सक्रियता और राजनीतिक गतिविधिकी प्रखरता आवश्यक भी थी। माण्टेगू १० नवम्बर १९१७ को आये और ६ महीने भारतमें रहे तथा इस बीच उन्होंने विभिन्न राजनीतिक नेताओं और संस्थाओंसे मिलकर पूछताछ की और उनके सुझाव लिये। हाला कि इस बीच कुछ जगहोंपर हिन्दू-मुस्लिम दंगे भी हुए पर कांग्रेस लीग एकता दृढ़ बनी रही और दोनों संस्थाएँ अपनी संयुक्त योजनापर डटी रहीं। श्री माण्टेगूने अपनी डायरीमें लिखा—"मुस्लिम लीगने इस धारणापर आश्चर्य प्रकट किया कि दशहरा मुहर्रमके फसादातके फलस्वरूप कांग्रेसके प्रति मुसलमानोंका समर्थन कम हो गया होगा। उसकी राय थी कि यह तो वक्ती चीजें हैं, इनका कोई असर नहीं पड़ता।"

कांग्रेसकी ही तरह मुस्लिम लीगके दृष्टिकोणमें भी देशका राजनीतिक भविष्य सर्वोपरि था। लीगके अध्यक्ष श्री जिनाने सन् १९१७ में बम्बई प्रान्तीय कांग्रेस कमेटीकी बैठकमें बोलते हुए कहा था—"उन लोगोंको जो भारतको जानते और समझते हैं यह साफ हो गया है कि अब वह सिर्फ आज्ञा पालन नहीं करेगा। वह अपने मुआमलातका स्वयं प्रबन्ध करेगा—शान्ति, समृद्धि और सुरक्षा मात्रसे एक पीढ़ीके पहलेके लोगोंको सन्तोष हो जाता था पर आज ये काफी नहीं हैं।" आपने आगे कहा "यह बात सारी दुनिया मानती है कि अगर किसी राष्ट्रको तुम उसका भाग्य-निर्माण करनेवाली उसकी अपनी सरकारमें उसका पूरा हिस्सा नहीं लेने देते तो तुम उसकी शक्तियोंको विद्रोहकी ओर उभाड़ते हो, उसका चरित्र गिराते हो और उसके आत्म-सम्मानको मानों तपायी हुई सलाखसे कोंचते हो। बुद्धिके क्षेत्रमें ऐसी सरकार प्रगति नहीं, सर्वनाश लाती है।" आपने हिन्दुओं और मुसलमानोंमें "शीघ्रातिशीघ्र सत्ता हस्तान्तरण करानेके लिए हर वैधानिक और उचित तरीका

अपनाने और मजबूत एका कायम रखने" की अपील की। पृथक निर्वाचनके सम्बन्धमें आपने कहा—"जहाँतक मैं समझता हूँ पृथक निर्वाचनकी माँग कोई नीतिकी बात नहीं है पर यह मुसलमानोंकी दिलचस्पीकी बात जरूर है और ये इतने दिनोंसे सोये हुए खुमारमें पड़े हैं कि उनको जगाकर खड़ा करना जरूरी है।"[1]

हिन्दू महासभाको लखनऊ-समझौतेसे आशंका हुई थी और उसने लखनऊमें एक अधिवेशन करके कहा कि कांग्रेसको हिन्दुओंकी ओरसे बोलनेका कोई हक नहीं है। पर शक्तिशाली कांग्रेसके सामने इस दुधमुँहे बच्चेकी बात कौन सुनता?

कलकत्तेमें लीगके वार्षिक अधिवेशनमें भी इसी प्रकारके उद्‌गार प्रकट किये गये। अधिवेशनके मनोनीत अध्यक्ष मुहम्मदअली जेलमें थे, अतः अध्यक्षपद राजा महमूदाबादने ग्रहण किया जिन्होंने अपने भाषणमें कहा—"सबसे पहले देशका हित है। यह बहस फिजूल है कि हम पहले भारतीय हैं या मुसलमान। दरअसल हम दोनों हैं और हमारे लिए पहले पीछेका सवाल बेमानी है। लीगने मुसलमानोंको अपने मुल्क और मजहब दोनोंके लिए समान रूपसे कुरबान हो जानेकी प्रेरणा दी है।"[2] लीगके रंगमंचसे गान्धीजी और सरोजिनी नायडूने अलीबन्धुओंकी रिहाईकी माँगवाले प्रस्तावके समर्थनमें भाषण भी किया था।

पर कुछ राजनीतिसे भड़कनेवाले मुसलमानोंने मुस्लिम लीगके खिलाफ कमर कसी और कई शायद नवजात संघटनोंके प्रतिनिधिकी हैसियतसे भारत सचिवसे मिले भी पर उनकी बातचीतसे ही कलई खुल गयी कि उन्हें पढ़ाकर भेजा गया है। कुछ लोग अपनेको मद्रासके उलमा कहकर मांटेगूसे मिलने गये थे। वाइसराय चेम्सफोर्डने एक सवाल पूछा—"क्या अपने विचार संक्षेपमें मुझे और भारत सचिवको बता सकते हैं?" उत्तर फौरन आया "हम होमरूल नहीं चाहता"।[3]

माण्टेगूकी डायरीमें इसके बादका एक विवरण इस प्रकार है—"तब एक हँसमुख वृद्ध जिसकी दाढ़ी मूँछ और चेहरा मोहरा काफी सधा और मँजा हुआ था बोला कि मैंने कुरान और उसके सब भाष्योंका, बायबिल और अन्य धर्मग्रन्थोंका अध्ययन किया है लेकिन कहीं भी मुझे एक लाइन भी कांग्रेस-लीग-योजनाके समझौतेके पक्षमें नहीं मिली।" मुसलमानोंके एक और दलने कहा कि मुस्लिम लीगसे असहमत मुसलमान अखिल भारतीय मुस्लिम डिफेंस एसोसियेशन बनानेका विचार कर रहे हैं। संयुक्त प्रान्तके कुछ मुसलमानोंने कुछ महीने पूर्व सचमुच यू. पी. मुस्लिम डिफेंस एसोसियेशन बना भी डाला था। उन्होंने योजना यह पेश की थी कि ५० सीटें हिन्दुओं, ५० मुसलमानों और यूरोपीयोंको दी जायँ। माण्टेगू शिष्ट-मण्डलने कलकत्ता, बम्बई, मद्रास और कई अन्य स्थानोंका दौरा किया और जिन लोगोंसे मुलाकात की उनमें जिना, मजहरुलहक, हसन इमाम, गान्धी, सरोजिनी नायडू, श्रीमती बेसेण्ट, तिलक, मदनमोहन मालवीय, हिन्दू महासभाके प्रतिनिधि, सनातनी हिन्दुओंके प्रतिनिधि, भारतीय जमींदार संघ, और बिहारके जमींदार उल्लेखनीय हैं।

लेकिन तिलक, विपिनचन्द्र पाल और श्रीमती बेसेण्टपर सरकारकी भौंह अभी टेढ़ी थी। तिलक और पालको सन् १९१७ में आदेश मिले कि वे दिल्ली तथा पंजाबकी सीमामें

१. मुहम्मद नोमान—"मुस्लिम इण्डिया", पृष्ठ १६२-१६३
२. अशोक मेहता और अच्युत पटवर्धन—"दि कम्यूनल ट्रायंगल", पृष्ठ ३५
३. एडविन एस० मांटेगू—"एन इण्डियन डायरी", पृष्ठ ४६

प्रवेश नहीं कर सकते। श्रीमती बेसेण्ट अधिकारियोंकी आँखोंमें काँटेकी तरह खटकती थीं और यह आशंका थी कि किसी भी क्षण उनकी गिरफ्तारी या गतिविधिपर पाबन्दी या रोक लग जायगी। अप्रैल १९१८ में वाइसरायने ब्रिटिश प्रधान मन्त्रीके कहने पर फ्रांसमें ब्रिटिश हारके बाद सरकारके पक्षमें जनमत तैयार करनेके लिए दिल्लीमें शासनाधिकारियों और गैरसरकारी नेताओंका सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलनमें सरकारी विधानपरिषद्के एक सदस्य खापर्डेने एक प्रस्ताव पेश करके माँग की कि भारतमें "उचित किन्तु निर्धारित अवधिके भीतर" उत्तरदायी शासन स्थापित किया जाय। वाइसरायने प्रस्तावकी इजाजत नहीं दी। गान्धीजी भी इस युद्ध-सम्मेलनमें आमन्त्रित थे। पहले तो उन्होंने जानेमें आगा-पीछा किया, पर वाइसरायके इस तर्कसे वे राजी हो गये कि "आप युद्ध समाप्त होनेके बाद जो भी नैतिक प्रश्न उठाना चाहें उठायें और हमें जितनी बड़ी चुनौती चाहें दें, पर अभी ऐसा न करें।" गान्धीजीने लिखा है कि "वाइसरायकी दिली ख्वाहिश थी कि फौजी भर्ती सम्बन्धी प्रस्तावका मैं समर्थन करूँ।" गान्धी राजी हो गये और हिन्दुस्तानीमें बोलते हुए उन्होंने कहा—"अपनी जिम्मेदारीका पूरी तरह एहसास करते हुए मैं प्रस्तावका समर्थन करता हूँ।"[१] लोगोंकी यादमें इस प्रकारकी किसी सभामें कभी कोई हिन्दुस्तानीमें नहीं बोला था और लोगोंने इसके लिए गान्धीजीको बधाई दी। गान्धीजीकी राय थी कि सरकारको लड़ाईमें बिना शर्त्त मदद दी जाय। उन्होंने फौजी भर्तीके आन्दोलनमें मदद की। युद्धके प्रति उनके रवैयेका सारांश इन शब्दोंमें था—"हमारी आजादीका द्वार फ्रान्सकी भूमिमें है। देशको मेरी सलाह यही होगी कि बिना शर्त्त प्राणोंकी बाजी लगाकर अंग्रेजोंके साथ युद्ध जीतनेके लिए लड़े और उसके साथ ही जान हथेलीपर लेकर, अगर आवश्यकता हो तो, अपने अभीष्ट शासन-सुधारके लिए भी आन्दोलन करे।"[१] गान्धीजीकी आरम्भिक हिचक वायसरायको लिखे इस पत्रमें व्यक्त हुई थी "मेरी अनुपस्थितिका एक और सम्भवतः सबसे बड़ा कारण यह था कि लोकमान्य तिलक, श्रीमती बेसेण्ट और अलीबन्धु जिन्हें मैं जनमतको व्यक्त करनेवाले सबसे शक्तिशाली नेताओंमें मानता हूँ, इस सम्मेलनमें आमंत्रित नहीं थे। मैं अब भी अनुभव करता हूँ कि उनकी राय न लेना एक बहुत भयंकर भूल थी और मैं विनम्रता-पूर्वक सुझाव देना चाहता हूँ कि उक्त भूल शायद सुधारी जा सके, अगर इन नेताओंको अपने सत्परामर्शका लाभ देकर मदद करनेके लिए प्रान्तीय सम्मेलनमें आमन्त्रित किया जाय जो मैं समझता हूँ कि शीघ्र ही होनेवाला हैं।" उन्होंने पहले ही मुहम्मदअली और शौकतअलीकी रिहाईके लिए सरकारसे खतोकिताबत आरम्भ कर दी थी। सन् १९१७ में वे मुस्लिम लीगके कलकत्ता अधिवेशनमें आमंत्रित किये गये थे जहाँ उन्होंने भाषण करते हुए अलीबन्धुओंकी रिहाईके लिए आन्दोलनको मुसलमानोंका फर्ज बताया था।

इसके बाद प्रान्तीय राजधानियोंमें युद्ध सम्मेलन हुए। बम्बई सम्मेलनमें तिलक और होमरूल आन्दोलनके एक अन्य नेताको राजनीतिक विचार प्रकट करनेकी इजाजत नहीं दी गयी और उनके हमदर्द विरोधस्वरूप हालसे उठकर चले गये। १६ जून १९१८ के दिन मद्रासमें होमरूल दिवस मनाया गया क्योंकि उसी तारीखको श्रीमती बेसेण्ट और इनके सहयोगियोंकी नजरबन्दीकी वर्षगाँठ थी। सभाकी अध्यक्षता श्रीसुब्रह्मण्यम् अय्यरने की थी

---

१. ग्रे और पारिख—"महात्मा गान्धी", पृष्ठ २८, के. टी. पालकी पुस्तक "ब्रिटिश कनेक्शंस इन इण्डिया"में उद्धृत, पृष्ठ ११८

और उन्होंने होमरूलकी माँगके लिए सविनय अवज्ञा आन्दोलनको पूर्णतया वैध तरीका बताया। श्रीमती बेसेण्ट इस सभामें मौजूद थीं और उन्होंने बम्बई गवर्नर द्वारा होमरूल लीगके सदस्योंके अपमानका विरोध करते हुए कहा कि भारतीय ऐसी आजादीके लिए कैसे लड़ सकते हैं जिसमें उन्हें हिस्सा न मिले। आजादीके बिना जिन्दगी किस कामकी। बम्बईके युद्ध-सम्मेलनमें तिलकके उक्त व्यवहारके बाद बम्बई सरकारने अगस्त १९१८ में उनपर बिना पहले मजिस्ट्रेटसे इजाजत लिये कहीं भी लेक्चर न देनेकी पाबन्दी लगा दी थी।

होमरूलके समर्थकोंको शीघ्र ही अंग्रेजोंसे एक और आघात लगा। सन् १९१७ में २० अगस्तवाली घोषणाके बाद तुरत ही कुछ भूतपूर्व सरकारी नौकर अवगोरों तथा कुछ प्रतिगामियोंने इंगलैंडमें इण्डोब्रिटिश एसोसियेशनकी स्थापना भारतीयोंके विरुद्ध प्रचारके लिए की। उसका प्रतिरोध करनेके लिए तिलक और श्रीमती बेसेण्टने तय किया कि एक प्रतिनिधिमण्डल ब्रिटेन भेजा जाय। पहला प्रतिनिधिमण्डल मार्च १९१८ के मध्यमें रवाना हुआ और जब वह जिब्राल्टर पहुँच गया तो उसे बताया गया कि आप लोगोंका पासपोर्ट—यानी विदेश यात्राका अनुमतिपत्र ब्रिटेनके युद्धकालीन मन्त्रिमण्डलकी विशेष हिदायतके मातहत रद कर दिया गया। दूसरा प्रतिनिधिमण्डल कोलम्बोंसे जहाजपर सवार होने वाला ही था कि उसे इसी प्रकारकी हिदायत मिल गयी। भारतमें गोरोंकी भी एक संस्था थी जिसका नाम पहले यूरोपियन डिफेन्स एसोसियेशन था पर बादमें सिर्फ यूरोपियन एसोसियेशन रह गया। सन् १९१७ में निकट भविष्यमें शासनसुधारकी सम्भावना देखकर इस संस्थाको अधिक सक्रिय होनेका प्रोत्साहन मिला। भारतभरमें उसकी शाखाएँ खुल गयीं और शासनसुधारके प्रस्तावोंकी निन्दा करते हुए प्रचार आरम्भ कर दिया गया। भारतके उच्च सरकारी अफसर—खास तौरसे आई. सी. एस.—भी राजनीतिक प्रगतिके इसी प्रकार विरुद्ध थे। और जब शासनसुधार रिपोर्टमें जिसे माण्टेगू और चेम्सफोर्ड—तत्कालीन भारत-सचिव एवं वाइसरायके नामोंको मिलाकर माण्टफोर्ड रिपोर्ट कहते हैं, विरोधको शान्त करनेके लिए यह कहा गया कि लोग आई. सी. एस. को व्यर्थ बदनाम करनेके लिए कह रहे हैं कि वे शासनसुधार नीतिके विरोधी हैं, तो उसी समय आई. सी. एस. वर्गने फौरन भारत-सचिवके पास दाखिल करनेके लिए एक स्मृतिपत्रका मसविदा आपसमें वितरित किया जिसमें उक्त कथनका खण्डन किया गया। १९१८ में आई. सी. एस. वर्गके कई एसोसियेशन बन गये और शासनसुधारके विरोधमें अनेक पत्र वितरित किये गये। मद्रासका एक इसी प्रकारका पत्र किसी प्रकार 'न्यू इण्डिया' कार्यालयमें पहुँच गया जिसे ११ जनवरी १९१९ के अंकमें प्रकाशित कर दिया गया। इससे राजनीतिक क्षेत्र मानो सिहर उठे और देशके विभिन्न भागोंमें सभाएँ करके भारतीय सिविल सर्विसके इस रवैयेकी भर्त्सना की गयी।

माण्टफोर्ड सुधारकी रिपोर्ट ८ जुलाई १९१८ के दिन प्रकाशित हुई। इसका महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव यह था कि बर्माको छोड़कर तत्कालीन भारतके महत्त्वपूर्ण प्रान्तोंमें दोहरा शासन—जिसका अर्थ था कि एक प्रान्तीय सरकारके प्रशासकीय अधिकारके दो अंग होंगे—एकमें होंगे ब्रिटिश नरेश द्वारा नियुक्त गवर्नर और उनके प्रशासकीय सलाहकार और दूसरेमें होंगे विधानपरिषद्के निर्वाचित सदस्योंमेंसे गवर्नर द्वारा नामजद मन्त्री या मन्त्रिदल। पहले अंगके अधिकारगत विषयोंको "सुरक्षित" और दूसरेके विषयोंको "हस्तान्तरित" कहा गया था। स्वशासन, सफाई, चिकित्सा, शिक्षा, निर्माण आदि विषय मन्त्रियोंके अधीन

रखनेका प्रस्ताव था। पर केन्द्रमें कोई दोहरा शासन नहीं था। सिर्फ वाइसरायकी कार्य-परिषद्में भारतीयोंकी संख्या बढ़ा दी जानेवाली थी। प्रान्तीय विधानपरिषदोंका विस्तार होना था और केन्द्रीय विधानपरिषदके बजाय एक विधानसभा और एक राज्यपरिषद् बनानेका भी प्रस्ताव था। देशी रजवाड़ोंकी भी एक परिषद् बननेको थी। पूरी योजनाकी खूबसूरत बात यह थी कि बहस करनेवाली परिषदोंमें भारतीयोंकी तादाद जरूर बढ़ा दी गयी थी पर असली अधिकार अंग्रेजोंके ही हाथमें रखे गये थे। देखनेमें जो शक्ति भारतीय मन्त्रियों और सलाहकारोंके हाथ आयी थी वह सिर्फ नामके लिए थी क्योंकि उन्हें वित्तपर कोई अधिकार नहीं था। स्वशासन अभी दूर था। इस सुधारके बाद भी भारतीय आर्थिक व्यवस्थाकी बागडोर पहलेकी तरह ब्रिटिश उद्योगोंके लाभार्थ संचालित होनी थी और आम जनताको पहलेकी तरह गरीबीकी चक्कीमें पिसना था। सिवा इसके कि इन सुधारोंसे कुछ भारतीयोंको देखनेके लिए कुछ इज्जतका ओहदा मिल जाय, जनताकी दशामें कोई परिवर्त्तन होनेवाला नहीं था, न उसे राजनीतिक आजादी मिलनी थी, न गरीबीसे राहत। रिपोर्टमें यह सिफारिश भी की गयी थी कि आई. सी. एस. वर्गमें उच्चपदोंपर ३३ प्रतिशत भारतीय होंगे—इस संख्यामें प्रतिवर्ष १॥ का इजाफा होता जायगा जबतक कि ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा नियुक्त कमीशन स्थितिकी पूरी तरहकी जाँच करनेके बाद अपने नये सुझाव न दे दे। यह कमीशन नयी भारतीय व्यवस्थापिकाओंकी पहली बैठकके १० वर्ष बाद नियुक्त होगा और यही भारत सरकार तथा प्रान्तोंकी वैधानिक स्थितिकी जाँच करेगा। ये सिफारिशें भारतके बड़े लोगोंके लिए काफी आकर्षक थीं जो इनका उपयोग करके आर्थिक लाभ और सम्मान दोनों पा सकते थे। परन्तु, जैसा कि स्वाभाविक था, गरमदलीय लोगोंने इन्हें बेहद नापसन्द किया।

रिपोर्टके निर्माताओंने पहलेसे जान लिया था कि इसे लोग नापसन्द करेंगे अतः इस बीच उन्होंने काफी कोशिशसे इस बातका इन्तजाम कर लिया था कि उनकी सिफारिशोंका भारतमें स्वागत हो जाय। वे यह भी जानते थे कि कांग्रेस गरमदलीय लोगोंके हाथमें चली गयी है और नरमदलीय लोगोंका उसमें अल्पमत रह गया है। इसलिए मांटेगूने सुझाव दिया कि भारतीयोंको एकत्र करके एक नया संघटन बनाया जाय जिसे हमारे प्रस्तावोंके पक्षमें प्रचार करनेके लिए सरकार हर सम्भव तरीकेसे मदद दे और जो हमें मदद देनेके लिए ब्रिटेनमें भी प्रतिनिधिमण्डल भेजे।"[1] जब वे भारतमें थे तभी उन्होंने ऐसी संस्थाके संघटनके लिए काबिले-इतमीनान इन्तजाम कर लिया था। उन्होंने इस विषयपर कई लोगोंसे और भूपेन्द्रनाथ वसु तथा सर सत्येन्द्र सिनहासे भी बात की। अपनी डायरीमें उन्होंने लिखा—"हमने एक नरमदलीय संस्थाके निर्माणके बारेमें बात की। उन लोगोंको काफी उत्साह था और उन्होंने समाचारपत्रोंके सम्पादन और कई अन्य बातोंकी चर्चा की। मेरा ख्याल है कि वे सौदा करनेको राजी हैं।"[2] इसलिए योजनाके मुताबिक मांटफोर्ड रिपोर्ट छपनेके कुछ पहले कलकत्तामें नेशनल लिबरल लीगकी स्थापना की गयी। रिपोर्ट छपनेके दो दिनके भीतर सुरेन्द्रनाथ बनर्जीने इण्डियन एसोसियेशनकी बैठक बुलायी जिस संस्थाके साथ ही उन्होंने अपना सार्वजनिक जीवन आरम्भ किया था। बंगालके समझौतावादियोंकी बैठक

१. मांटेगू डायरी, पृष्ठ १०४
२. वही पुस्तक, पृष्ठ ११७

अगस्त १९१८ में नैशनल लिबरल लीगके तत्वावधानमें तथा राजा प्यारेमोहन मुखर्जीकी अध्यक्षतामें हुई। लीगने न सिर्फ शासन-सुधारकी उक्त रिपोर्टका स्वागत किया, सभापति महोदय तो काफी आगे बढ़कर शंकापूर्ण बात कह गये। उन्होंने कहा कि ब्रिटेन भारतमें उत्तरदायी शासनको स्थापनामें देर करके एकदम मुनासिब काम कर रहा है क्योंकि "भारतमें ८० नस्लें हैं, जिनकी अलग-अलग भाषाएँ, यहाँके लोगोंके १०० मतमतान्तर हैं। उनमें एकता तो है ही नहीं, भाईचारा भी मुश्किलसे ही दिखाई पड़ेगा।"[१] इसी प्रकार बम्बईमें और अन्यत्र भी सुधारपरस्तोंने खुलेआम रिपोर्टकी सराहना की और जनताको सलाह दी कि वह इस रिपोर्टको मान ले।

रिपोर्टपर विचार करनेके लिए बम्बईमें कांग्रेसका असाधारण अधिवेशन अगस्त १९१८ में हुआ। नरमदलीय सुधारपरस्त पहले ही अपना अलग रास्ता बना चुके थे और उन्हें विश्वास भी था कि रिपोर्टको कांग्रेस नामंजूर कर देगी—अतः इस अधिवेशनमें वे नहीं आये। लेकिन इस समाचारसे उन उग्रपन्थियोंकी आँखें खुल गयीं जो सुधारवादियोंका सहयोग पानेकी व्यग्रतामें ऐसा प्रस्ताव पास कर चुके थे जो उतना कड़ा नहीं था जितना वह वस्तुतः हुआ होता। कांग्रेसके इस अधिवेशनमें उपस्थिति काफी थी—डेलीगेटोंकी संख्या ३,८४५ थी। चार दिनकी बहसके बाद हसन इमामकी अध्यक्षतामें कांग्रेसने दुबारा कांग्रेसलीग-योजनामें विश्वास प्रकट किया और घोषणा की कि साम्राज्यके मातहत फौरन स्वशासनसे रत्तीभर कम बातपर भारतीय जनताको सन्तोष नहीं होगा। कांग्रेसने रिपोर्टमें कुछ संशोधनों-की माँग की और माँग की कि कानून बनाकर यह गारण्टी दी जाय कि १५ वर्षके अन्दर भारतमें उत्तरदायी शासनकी स्थापना हो जायगी। कांग्रेसने एक प्रतिनिधिमण्डल इंगलैण्ड भेजनेका निश्चय किया। मुस्लिम लीगने भी राजा साहब महमूदाबादकी अध्यक्षतामें ऐसा ही प्रस्ताव पास किया।

कांग्रेसी नेताओंने सोचा था कि इस समझौतेकी भावनावाले प्रस्तावके पास करनेके बाद उदारपंथियों यानी माडरेटोंको मनाकर कांग्रेसमें वापस लाया जा सकेगा। पर माडरेट वापस आनेके लिए नहीं गये थे। नवम्बर १९१८ में बम्बईमें सुरेन्द्रनाथ बनर्जीकी अध्यक्षतामें अखिल भारतीय माडरेट सम्मेलन हुआ जिसमें माण्टफोर्ड रिपोर्ट द्वारा प्रदत्त सुविधाओंका उपयोग करनेका निश्चय किया गया।

जबतक दिसम्बर १९१८ में कांग्रेसके साधारण अधिवेशनका दिल्लीमें आयोजन हो—महायुद्ध समाप्त हो चुका था। तिलक कांग्रेसके अध्यक्ष निर्वाचित हुए थे पर उन्हें एक मुकदमेके सिलसिलेमें इंगलैण्ड जाना पड़ा। उनकी जगह अध्यक्ष-पदपर पण्डित मदनमोहन मालवीय चुने गये।

मालवीयजीने अध्यक्षपदसे भाषण करते हुए मित्रराष्ट्रोंकी विजयपर सन्तोष प्रकट किया और कहा—"हमें इस बातका और अधिक अभिमान है कि परीक्षा और कठिन साधनाके दौरानमें युद्धने हमारी जनतापर जो भीषण मुसीबतें डालीं उन्हें सहते हुए—उस समय भी जब आसमान बहुत धुँधला था (अर्थात् ब्रिटेनका भाग्य खतरेमें था) भारतकी सम्राट्के प्रति वफादारी और साम्राज्यकी मरते दमतक यथासम्भव पूरी मदद करनेके संकल्पमें रत्ती भर फर्क नहीं पड़ा। इंगलैण्डमें अपने राज्याभिषेकके बाद जब सन् १९११

१. इण्डियन एनुअल रजिस्टर ११९ भाग ४, पृष्ठ १५०

में सम्राट्ने भारत पधारनेकी कृपा की तो हमने प्रसन्नता-पूर्वक वफादारीकी दुबारा शपथ ग्रहण की। हम अब भी ब्रिटिश सम्राट्की प्रजा बने रहनेके इच्छुक हैं; लेकिन एक दूसरा पहलू आत्मनिर्णयका है जो कम महत्त्वपूर्ण नहीं है अर्थात् ब्रिटिश सरकारके मातहत रहते हुए अन्य स्वशासित प्रदेशों जैसी उत्तरदायी सरकारका अधिकार दिया जाय जो हमारे सभी घरेलू मसलोंकी व्यवस्था करे। हम तो अभी पूरी तरह वह भी नहीं माँगते। हम अपना शासन आप करनेकी वही व्यवस्था माँग रहे हैं जिसका संकेत हमने सन् १९१६ की कांग्रेस-लीग योजनामें किया था। हम आग्रह करते हैं कि उस स्वशासन अर्थात् उत्तरदायी सरकारका तौरतरीका उस आत्मनिर्णयके सिद्धान्तके मुताबिक किया जाय जो इस महानाशकारी महायुद्धसे विजयी होकर निकला है। इतना करनेके लिए यह जरूरी नहीं है कि श्रीमांटेगू और लार्ड चेम्सफोर्ड द्वारा बड़े परिश्रम-पूर्वक तैयार शासन-सुधारकी योजनाको बलायेताक रखकर नयी योजना तैयार की जाय।"

कांग्रेसने समझौता-पंथियोंको सन्तुष्ट करनेके लिए समझौतावादी प्रस्ताव पास करनेकी परम्पराका इस अधिवेशनमें परित्याग कर दिया और माँग की कि प्रान्तोंमें पूर्णरूपेण उत्तर-दायी शासन फौरन स्थापित किया जाय। अधिवेशनमें उपस्थित एकमात्र माडरेट श्रीनिवास शास्त्री थे। उन्होंने एक संशोधन पेश किया कि पूर्ण प्रान्तीय स्वराज्यकी स्थापनाके लिए १५ वर्षका समय दे दिया जाय। श्रीमती बेसेण्टने उनका समर्थन किया लेकिन संशोधन गिर गया। कांग्रेसने शान्ति-सम्मेलनमें अपने प्रतिनिधि भेजनेकी इच्छा प्रकट की और तिलक तथा हसन इमामको उसके लिए प्रतिनिधि नामजद किया। एक अन्य प्रस्तावमें भारत रक्षा कानून और प्रेसऐक्ट, राजद्रोही सभा कानून, अपराधी कानून संशोधक अधिनियम, और अन्य दमनकारी कानूनों तथा आदेशोंको रद करनेका आग्रह करते हुए नजरबन्दों और राजनीतिक कैदियोंकी रिहाईकी माँग की गयी। रोलट कमेटीकी रिपोर्टकी जो अप्रैल १९१८ में सरकारके सामने पेश हो चुकी थी निन्दा की गयी। प्रस्तावमें कहा गया कि अगर कमेटीके सुझावके मुताबिक नया कानून बनाना मंजूर किया गया तो यह भारतीयोंके मौलिक अधि-कारोंमें हस्तक्षेप होगा। कांग्रेसने यह भी निश्चय किया कि सम्राट्को वफादारीका सन्देश भेजा जाय और "युद्धमें सफलताके लिए बधाई दी जाय।"

दिल्ली कांग्रेसमें, अब इस बारेमें कोई शक नहीं रह गया था कि माडरेट लोग कांग्रेसमें वापस नहीं आयेंगे। इसलिए उनको बाहरी आदमी मानकर उपेक्षाकी नजरसे देखा जाने लगा। कांग्रेसमें उनके विरुद्ध जो भावना थी उसकी प्रतिध्वनि देशमें भी थी—उन्हें खुलेआम गद्दार, नौकरी-परस्त आदि कहकर उनकी भर्त्सना की जाती थी। सार्वजनिक सभाओंमें चीखपुकारके कारण उनका बोलना दूभर हो जाता था।

मुस्लिम लीगका अधिवेशन भी, दिल्लीमें बदस्तूर कांग्रेसके पण्डालमें ही, श्रीफजलुल हककी अध्यक्षतामें हुआ। अधिवेशनके आरम्भमें ही एक सनसनी फैल गयी थी। सरकारने एक आर्डर भेजकर स्वागताध्यक्ष श्री एम० ए० अंसारीके छपे हुए भाषणको जब्त एवं अवैध घोषित कर दिया। लीगने एक प्रस्तावमें माँग की कि आत्म-निर्णयका सिद्धान्त, जैसा कि राष्ट्रसंघमें मंजूर हुआ है, ब्रिटेन-द्वारा भारतमें भी लागू किया जाना चाहिये क्योंकि वह भी राष्ट्रसंघके प्रमुख सदस्योंमेंसे एक है। अध्यक्षपदसे बोलते हुए श्रीफजलुलहकने कहा कि ब्रिटिश

शासनमें भारतका भौतिक विकास रुका पड़ा है। आपने ब्रिटिश शासनकी निन्दा करते हुए कहा कि उसीके कारण देशकी सम्पत्ति निकलकर विदेशोंको मालामाल करती है।

हिन्दू मुसलमानोंकी राजनीतिक एकताका यह दौर कांग्रेस और लीग दोनोंके लिए अग्नि-परीक्षाका समय था। हिन्दू मुस्लिम दंगे, जिनका हम अभी विवरण देंगे, कई जगहोंपर हो चुके थे, फिर भी दोनों संघटन उससे अप्रभावित रहे। उन्होंने अपनी दृष्टि अपने एक लक्ष्य स्वराज्यपर स्थिर रखी थी।

लीगने एक प्रस्ताव और पास किया जिसमें तुर्कीके सुल्तानका असली खलीफाकी हैसियतसे मुसलमान तीर्थोंपर अधिकार बने रहने देनेकी आवश्यकतापर जोर दिया गया था। इससे कुछ महीने पहलेकी उस घटनाका भी जिक्र करना आवश्यक है जब कलकत्तेके मुसलमानोंने ब्रिटिश अफसरोंपर हमला करनेकी धमकी दी थी। युद्धसे सम्बन्धित एक समाचारसे मुसलमानोंकी धार्मिक भावनाओंको ठेस पहुँची थी। एक पर्चा व्यापक रूपसे बाँटा गया था जिसमें मुसलमानोंसे अत्यन्त उत्तेजनात्मक भाषामें इस्लामकी रक्षाके लिए कमर कस एक सार्वजनिक सभामें आनेकी अपील की गयी थी। यह हुआ था सितम्बरके दूसरे सप्ताहमें। सभाके कुछ संघटनकर्त्ताओंको बंगाल गवर्नरने मिलनेके लिए बुलाया और आग्रह किया कि सभा न की जाय। यह प्रयत्न नाकामयाब रहा—इतना ही नहीं मुसलमानोंका रोष इस हदतक उमड़ा कि भीड़ राजभवनकी ओर चल दी। "गोरे डिप्टी कमिश्नरकी गर्दनमें छुरा मार दिया गया और कुछ कपड़ेकी दूकानें लूट ली गयीं।"[१] पुलिसने भीड़पर गोली चलायी। भारतीय फौज बुलाकर ९ सितम्बरकी रातको शहरमें जगह-जगह तैनात कर दी गयी। प्रदर्शनकारियोंकी भीड़ फिर जमा हो गयी और उनपर फौजने गोली चलायी, पर इससे हालत और बिगड़ गयी। तीन कारखानोंमें मजदूरोंने काम करनेसे इनकार कर दिया और प्रदर्शनकारियोंसे मिलनेके लिए वे जलूस बनाकर चल दिये। उनपर भी कई बार गोली चलायी गयी और उन्हें कलकत्ता शहरमें घुसने नहीं दिया गया।

भारतके मुसलमान नेता तुर्कीके प्रति ब्रिटेनके रवैयेको सशंक दृष्टिसे देखते थे। इसी शंकाकी प्रतिध्वनि फजलुलहकके अध्यक्षपदवाले भाषणमें भी सुनाई दी। शब्द ये थे— "मुझे आश्चर्य नहीं होगा अगर अंग्रेज इस मौकेका फायदा उठाकर तुर्की और उसके कारण आनेवाली यूरोपीय समस्याओंको जड़से खतम कर दें—यह काफी गौरतलब सवाल है।" स्वीकृत प्रस्तावमें आशा प्रगट की गयी कि ब्रिटिश साम्राज्य और मुसलमान राज्योंके बीच पूर्ण समझौता और चिरस्थायी मैत्री समानता और न्यायके आधारपर बनी रहेगी।

अखिल भारतीय होमरूल लीगने भी कांग्रेस और मुस्लिम लीगके ही समान आशयका प्रस्ताव शासनसुधारके सम्बन्धमें पास किया और निश्चय किया कि कांग्रेसको सहयोग दे कर उसे ही मजबूत बनाया जाय।

---

१. लवेट, 'इंडिया अंडर बर्जन एंड आफ्टर' (?), पृष्ठ १७९

अध्याय १७

पंजाब हत्याकाण्ड

सन् १९१९, जबसे भारतीय इतिहासमें यथार्थमें गान्धीयुग आरम्भ होता है, राजनीतिक-तूफानोंका साल था। अमृतसरमें अंग्रेजोंकी बर्बरतासे—जो जालियाँवाला बागके हत्याकाण्डके नामसे अधिक प्रसिद्ध है—सारे सभ्य संसारके रोंगटे खड़े हो गये। जिस तरहसे एक हजार निहत्थे हिन्दोस्तानी गोलियोंसे भून डाले गये उससे ईमानदार अंग्रेजतक स्तब्ध रह गये। यद्यपि अंग्रेज भारतीयोंके साथ कभी सभ्य आदमियोंकी भाँति व्यवहार नहीं करते थे परन्तु अमृतसर-काण्ड तो इतना बर्बर था कि उसका वर्णन शब्दोंमें किया ही नहीं जा सकता।

जालियाँवाला हत्याकाण्ड अकृतज्ञ शासकोंकी कहानी है। वैधानिक स्तरपर आन्दोलन चलानेमें विश्वास करनेवाले भारतके राजनीतिक नेताओंने स्वेच्छा और उत्साहसे युद्धमें अंग्रेजोंका साथ दिया। गान्धीजीने एक धर्मप्रचारक (मिशनरी) की भाँति लोगोंको भरतीके लिए प्रेरित किया। वे अंग्रेजोंके इस संकटके समय उनकी पूर्ण सहायता करनेके पक्षमें थे। युद्धमें सहायताके लिए जनता चुपचाप सब शोषण सहन कर रही थी। भारत सरकारने अंग्रेजोंके लिए दस करोड़ पौण्ड भेंट किये। लड़ाईके कारण गरीब और ज्यादा गरीब हो रहे थे और अमीरोंकी अमीरी बढ़ रही थी। साधारण जनता नित्यके बढ़नेवाले करोंके बोझसे तबाह हो रही थी। जब करोंसे काम न चला तो सरकारने मुद्रा-प्रसारकी नीति अपनायी। चीजोंके बढ़ते हुए दाम लोगोंको लड़ाईकी याद दिलाते थे—एक ऐसी लड़ाईका जिससे भारतका कोई सम्बन्ध ही न था। बड़े-बड़े सेठोंने अवसरका लाभ उठाते हुए और ज्यादा धन जमा करना शुरू कर दिया। मुनाफाखोरी और सट्टेके कारण कीमतें और चढ़ गयीं। मिलमालिक अत्यधिक मुनाफा बटोर रहे थे मगर मजदूरोंको उचित तनख्वाहेंतक न मिलतीं। हड़तालें हुई। भूखी जनता द्वारा लूटनेकी घटनाएँ हुईं। लगातार महामारियोंके कारण भी आर्थिक संकट उग्रतर होता गया। सबसे पहले जुलाई १९१७ में प्लेगका प्रकोप हुआ जिसमें आठ लाख लोग कालके ग्रास बने। अगली गर्मियोंके इन्फ्लूएँजाने तो जैसे युद्धक्षेत्रकी मृत्युसंख्याको चुनौती दे रखी थी। पाँच महीनेके अन्दर साठ लाख आदमी मरे। और फिर आयी अत्यधिक वर्षा; जिसका नतीजा न सिर्फ आर्थिक तबाही था, बल्कि जिसकी वजहसे प्रचण्ड हैजा और मियादी बुखार फैले, जिन्होंने जी खोलकर मनुष्योंका शिकार किया। हर गरीब मुल्ककी भाँति भारतमें भी मृत्यु कष्टोंसे मुक्ति मानी जाती है। परन्तु जीवितोंकी दशा तो मरनेवालोंसे भी अधिक दयनीय थी। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि पचास और अस्सी फीसदीके बीच जनता महामारियोंसे ग्रसित थी। मानो यह काफी नहीं, १९१८ और १९ में लोग जीवन-दायक मॉनसूनसे भी वंचित रह गये। "ऐसा कोई प्रान्त न बचा जहाँ मॉनसूनकी कमीसे लोगोंने कष्ट न पाया हो—कहीं कम और कहीं पूरी तौरपर। जिसका परिणाम यह हुआ कि १९१८–१९ की फसलें पिछले दस सालमें सबसे ज्यादा तबाह थीं।" भारतीय जनतामें कष्टसहनकी शक्ति असीम होती है। अगर वह उठती है तो तालाबकी

लहरोंकी भाँति जो तूफान खत्म होने पर खुद गायब हो जाती हैं। वे लोग किसी तरह जिन्दा थे मगर दशा इतनी गिर चुकी थी कि एक बुद्धिमान नेता उनसे जो चाहे करवा सकता था।

राजनीतिक क्षेत्रमें क्रान्तिकारी लोग अराजकताके काम तेजीसे कर रहे थे। परन्तु जनता उदासीन थी, सिवा इसके कि कभी क्रान्तिकारियोंकी बहादुरीसे रोमांचित हो जाती। फिर भी भारतके देशभक्तों और विशेषतया बंगालके देशभक्तोंके साथ सरकारके अमानुषिक व्यवहारसे समूचे देशमें रोषकी लहर फैल गयी। न्यायकी अपेक्षा तात्कालिक आवश्यकताको ही अधिक महत्त्व दिया जाता था। बंगालके बाँकुड़ा जिलेके एक गाँवकी स्त्री सिन्धुबालाका मामला इसका ज्वलन्त उदाहरण है। एक 'खतरनाक' क्रान्तिकारीके कागजोंमें एक पर्चीपर सिन्धुबालाका पता पकड़ा गया। पुलिसने एक घरपर छापा मारा और तलाशी ली; मगर उसे वहाँ उस नामकी कोई औरत न मिली। पुलिसवालोंको पता लगा कि एक बिलकुल ही भिन्न पुरुषकी पत्नीका नाम भी सिन्धुबाला है। उनके लिए यह काफी था, और उन्होंने फौरन ही उस स्त्रीको गिरफ्तार कर लिया। पुलिसके बीच घिरी हुई वह स्त्री इतनी भयभीत हो गयी कि पूछने पर उसने पुलिस सुपरिंटेंडेंटको बताया कि उसके भाईकी बीबीका नाम भी सिंधुबाला है और वह एक दूसरे गाँवमें रहती है। दोनों सिंधुबालाओंको गिरफ्तार कर पैदल ही पुलिसके थानेतक ले जाया गया। उनको पन्द्रह दिनतक हवालातमें बन्द रखा गया। मगर चूँकि मुकदमा चलानेके लिए उनके खिलाफ कोई सबूत न मिल सका, इसलिए दोनों औरतें छोड़ दी गयीं। यह घटना जनवरी १९१८ की है। इस घटनासे लोगोंकी अन्तरात्मा कराह उठी। विरोधसभाएँ की गयीं और बंगाल विधानपरिषद्में एक प्रस्ताव पेश किया गया। लोगोंका ध्यान बँटानेके लिए अंग्रेजोंकी एक वैधानिक चाल जाँच-समिति नियुक्त कर देना था। इस मर्तबा भी बंगाल सरकारने नजरबन्दियोंके मामलोंपर गौर करनेके लिए न्यायाधीश बीचक्रौफ्ट और सर नरायन चन्द्रावरकरकी एक समिति नियुक्त कर दी। बंगालकी जेलोंमें उस समय ८०६ नजरबन्द कैदी थे। समितिने केवल छः आदमियोंको छोड़नेकी सिफारिश की। समितिका तर्क था कि "सब व्यक्तिगत मामले आपसमें एक दूसरेसे इस तरह सम्बद्ध हैं कि वे एक ही वस्तुके अभिन्न अंग, क्रान्तिके अनवरत प्रवाहके सदृश हो जाते हैं। और जबतक आन्दोलनकी पूर्णतः समाप्ति नहीं हो जाती, तबतक उसे हम जीता जागता तथा विभिन्न अंगोंमें लम्बमान ही मान सकते हैं।

१९१८ की गरमियोंमें दक्षिण भारतके राजनीतिज्ञ और सरकारके पेंशनयाफ्ता सर सुब्रह्मण्य अय्यरने विरोधस्वरूप अपना 'सर' का खिताब त्याग दिया। एक वर्ष पूर्व उन्होंने अमेरिकाके प्रेसीडेण्ट विल्सनको एक पत्र लिखा था कि यदि भारतको राजनीतिक स्वतन्त्रता देनेका वादा कर दिया जाय तो वे लड़ाईके लिए एक करोड़ आदमियोंको तैयार कर सकते हैं। भारतकी दशापर एक अनुच्छेदमें उन्होंने लिखा—"श्रीमान्, मुझे यह कहने-की इजाजत दीजिये कि भारतमें कुशासन और दमनकी पूरी दशासे आप और दूसरे नेता पूरी अज्ञानतामें रखे गये हैं। विदेशी भाषाके बोलनेवाले विदेशी राष्ट्रके अधिकारी हमारे ऊपर जबरदस्ती अपनी इच्छा लादते हैं। वे स्वयं अत्यधिक तनख्वाहें व अन्य भत्ते ले लेते हैं, हम शिक्षासे भी वंचित हैं, वे हमारा धन लूटते हैं, बिना हमारी सम्मतिके हमेशा बर्बाद कर देनेवाले भारी कर लिये जाते हैं, देशभक्तिकी भावनाके कारण हमारे हजारों साथी जेलोंमें

बन्द कर दिये गये हैं। जेलें इतनी गन्दी हैं कि अक्सर बन्दी घृणित बीमारियोंसे मर जाते हैं।"[1]

भारत-सचिवने इस पत्रको 'अपमानजनक' बताया और बादमें जब सुब्रह्मण्य अय्यर उनसे मिले तो वाइसराय और भारत-सचिव दोनोंने उनकी भर्त्सना की। वे वहाँसे बहुत खिन्न होकर लौटे और मद्रास सरकारको एक पत्र द्वारा अपने 'खिताब' त्याग देनेकी सूचना दे दी और अखबारोंमें यह खबर छपवा दी।

एक उदाहरण और देनेके बाद, १९१९ की पूर्णाहुतिके प्रत्यक्ष कारणोंपर दृष्टि डालेंगे। यहाँ हमें नीचतासे भरे घमण्डका एक उदाहरण मिलता है। पटना हाईकोर्टके भूतपूर्व न्यायाधीश और १९१८ की कांग्रेसके विशेष अधिवेशनके अध्यक्ष हसन इमाम एक बार रेलके प्रथम-श्रेणीके डिब्बेमें यात्रा कर रहे थे। रास्तेमें एक स्टेशनपर बिहार सरकारकी नौकरी करनेवाले भारतीय सिविल सर्विसके अधिकारी क्लेटन भी उसी डिब्बेमें चढ़े। एक भारतीयको उसी डिब्बेमें यात्रा करते देखकर उन्हें इतना क्रोध आया कि वे हसन इमामकी छातीपर चढ़ बैठे। जब भूतपूर्व न्यायाधीशने इसपर आपत्ति की तो उन्हें गालियाँ दी गयीं।

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं तुर्की-इटालियन और तुर्की-बाल्कन युद्धमें अंग्रेजोंके रवैयेके कारण, मुस्लिम नेताओंने १९१३ में अंग्रेजोंसे नाता तोड़ लिया था। 'जमींदार' नामी अखबार प्रकाशित करनेवाले पंजाबके जफर खाँने, तुर्की-लाल हिलाल-आन्दोलन संघटित किया। यह ईसाई-विरोधी और अंग्रेज-विरोधी आन्दोलन था। जफर खाँका अखबार दिनों-दिन ज्यादा विरोधी और राजद्रोहात्मक होता जा रहा था। सरकारने १९१४ में इस अखबारको बन्द कर दिया। "जब तुर्कीके दो डाक्टर, 'लाल हिलाल'की तरफसे प्राप्त सहायताके बदले, लाहौरकी बादशाही मस्जिदमें दो कालीन भेंट करनेके लिए आये तो भारतीय मुसलमानोंकी तुर्कीके प्रति भावनाएँ और तीव्र हो उठीं।"[2]

जाहिर था कि तुर्कीने अपना निकट भविष्य निश्चित कर लिया था और उसीके अनुसार वहाँ कार्य किया जा रहा था। तुर्कीके युद्धमें शामिल होनेके फौरन बाद ही सुल्तानने धार्मिक युद्धकी घोषणा कर दी और 'जिहाद' में खलीफाकी मददके लिए दुनिया भरके मुसलमानोंका आह्वान किया। सहायताकी माँगके लिए भारतीय मुस्लिम नेता कुछ कर न सकते थे। तुर्कीके प्रति उनकी सहानुभूति थी परन्तु वे असहाय थे। मुस्लिम-अंग्रेज विरोध और हिन्दू-मुस्लिम एका बढ़ रहा था। परन्तु अंग्रेजोंके ऊपर मुसलमानोंके विरोधका कोई ठोस असर न पड़ा, उन्हें पंजाबसे हिन्दू-मुसलमान दोनों तरहके लोग फौजी भरतीके लिए बराबर मिल रहे थे। लड़ाई खत्म होने पर मुसलमान तुर्कीके लिए और चिन्तित हो उठे। भारतीय मुसलमानोंकी चिन्ता उस समय और बढ़ गयी जब उन्हें मालूम हुआ कि मित्रराष्ट्र तुर्की-साम्राज्यको छिन्न-भिन्न करने जा रहे हैं। उन्हें डर लगा कि खलीफाका पद अब खतरे में है।

युद्धके बादकी राजनीतिपर इन सब बातोंका प्रभाव पड़ा।

सन् १९१९ की घटनाओंको आरम्भ करनेवाली रोलेट-कमेटीकी सिफारिशें थीं। यह

---

१. इण्डियन एनुअल रजिस्टर (१९१९), भाग दो, पृष्ठ ४५

२. लेफ्टिनेन्ट जनरल सर जॉर्ज मेकमुन—'टरमोइल एण्ड ट्रेजडी इन इण्डिया १९१४ एण्ड आफ्टर' पृष्ठ ६७

कमेटी १० दिसम्बर १९१७ को नियुक्त की गयी थी। असलमें, जनवरी १९१८ में कमेटीने गुप्त रूपसे अपनी बैठकें शुरू कीं। कमेटीकी नियुक्ति अंग्रेजोंकी चातुरीका एक नमूना थी। ऐसा अनुमान लगाया जा रहा था कि लड़ाई १९१८ के अन्तके पहले ही खत्म हो जायगी और लड़ाईके खत्म होनेके छः महीना बाद भारत सुरक्षा कानूनकी अवधि खत्म होनेवाली थी। इस कानूनने अंग्रेजी न्यायके सिद्धान्तोंको वस्तुतः समाप्त कर दिया था और नौकरशाहीके हाथमें भारतीय-स्वाधीनता आन्दोलनमें काम करनेवाले भारतीयोंकी जिन्दगियों और सम्पत्तिको कुचलने और लूटनेके लिए अनियन्त्रित ताकत दे दी थी। सरकार जानती थी कि जिन राजनीतिक दलोंने अंग्रेजोंको लड़ाईमें पूर्ण सहायता दी है, लड़ाई खत्म होने पर वे स्वराज्यकी माँग करेंगे—यह वह सिद्धान्त था जिसके लिए अंग्रेजोंने लड़ाई लड़ी थी और भारतीयोंकी सहायता प्राप्त की थी। इसमें सन्देह नहीं कि अंग्रेजोंने भारतीयोंके लिए 'कुछ सुधार' अवश्य सोच रखे थे परन्तु चूँकि ये सुधार भारतीयोंकी आशासे बहुत कम थे इसलिए लाजिमी तौरपर असन्तोप बढ़ता। नौकरशाहीकी समझमें अराजकतावादियोंके नेतृत्वमें यह असन्तोप ऐसी परिस्थिति पैदा कर देता जिसका मुकाबला नौकरशाही असाधारण कानून बनाकर ही कर सकती थी। रौलट-कमेटीका उद्देश्य एक तरफ तो गम्भीर राजनीतिक असन्तोषको दबानेके लिए भारत सुरक्षा कानूनसे अधिक कठोर कानून बनाना था और दूसरी तरफ अंग्रेजी जनताको यह समझाना था कि यह कानून बनाना आवश्यक है। रौलट कमेटीने दो प्रकारके—निरोधात्मक और दण्डात्मक—कानून बनानेके सुझाव दिये। कमेटीने लिखा कि "राजद्रोहात्मक अपराधोंके मुकदमें बिना जूरी या असेसरके तीन-तीन जजोंकी बेंचें बनाकर किये जायँ; इन मुकदमोंमें न अपीलका हक हो और न फर्द जुर्म वगैरह लगानेकी प्रारम्भिक काररवाई आवश्यक हो।" कमेटीने दण्डके सम्बन्धमें जो सुझाव दिये उनमें ये भी सिफारिशें थीं—आवासपर प्रतिबन्ध लगा देना, व्यक्तियोंको समय-समयपर पुलिसके सामने हाजिरी देनेके लिए बाध्य करना, बिना कोई कारण बताये गिरफ्तार कर लेना और पुलिसके अलावा लोगोंको दूसरोंकी हिरासतमें रख लेना। यह भी सिफारिश की गयी थी कि 'खतरनाक व्यक्तियों'को भारत सुरक्षा कानूनके खत्म होनेके बाद भी नजरबन्द रखा जाय।

जनवरी १९१९ में भारत सरकारने घोषणा की कि केन्द्रीय विधानसभाके फरवरी अधिवेशनमें वह रौलट कमेटीकी सिफारिशोंके मुताबिक कानून बनायेगी। लोकमत प्रस्तावित कानूनके विरुद्ध था। यहाँतक कि नरमदलीय लोग भी इसके खिलाफ थे। उस समय गान्धीजी सख्त बीमार और उनके ही शब्दोंमें 'मृत्यु द्वारके निकट थे'। अभी गान्धीजी ठीक हो ही रहे थे कि उन्होंने अखबारोंमें रौलेट कमेटीकी रिपोर्टके बारेमें पढ़ा। कमेटीकी सिफारिशें देखकर वे चौंक उठे और उन्होंने वल्लभभाई पटेलसे कहा कि 'फौरन ही कुछ करना चाहिये।' उन्होंने सुझाव दिया कि "अगर ऐसे मुट्ठी भर आदमी भी मिल जायँ जो प्रतिरोधकी प्रतिज्ञापर हस्ताक्षर करनेको तैयार हों और उनके विरोधके बावजूद जब प्रस्तावित प्रस्तावोंको कानूनका रूप दे दिया जाय तो उन्हें फौरन सत्याग्रह शुरू कर देना चाहिये। यदि मैं स्वयं रुग्ण-शय्यापर इसी तरह न पड़ा रहा तो मैं अकेला ही लड़ाई शुरू कर दूँगा और मुझे आशा है कि दूसरे अनुकरण करेंगे। परन्तु अपनी वर्तमान असहाय अवस्थामें मैं अपनेको इस कामके लिए पूरी तौरपर अयोग्य समझता हूँ।"[१]

१. गान्धी-वही पुस्तक (आत्मचरित्र ?) पृष्ठ ५५८

शंकरलाल बैंकर इस आन्दोलनका संघटन करनेमें फौरन ही जुट गये। सत्याग्रह करनेका निश्चय किया गया परन्तु सत्याग्रह कांग्रेसके नाममें नहीं शुरू किया जानेवाला था। गान्धीजी लिखते हैं—"चूँकि वर्तमान संघटनों द्वारा सत्याग्रह जैसे सुन्दर हथियारके अपनानेकी कोई आशा नहीं रही, इसलिए मेरे जोर देने पर अलग एक संस्था—सत्याग्रह सभा—स्थापित की गयी। सत्याग्रह सभाके सदस्य मुख्यतया बम्बईके थे, इस कारणसे प्रधान कार्यालय भी वहीं रखा गया। परचे जारी किये गये, और हर जगह बड़ी बड़ी सभाएँ की गयीं। ये सभाएँ 'खेडा आन्दोलन' की सभाओंकी भाँति ही होतीं।[1] गान्धीजी सभाके अध्यक्ष बनाये गये।

१८ मार्चको उन्होंने अनेक आदमियोंके हस्ताक्षरों युक्त एक घोषणा छपवायी जिसमें उन्होंने कहा कि "हमारी सम्मतिमें १९१९ का भारतीय दण्ड विधान संशोधन विधेयक नं० १ और १९१९ के दण्ड विधान असाधारण अधिकार विधेयक नं० २ अन्यायपूर्ण हैं और स्वतन्त्रता तथा न्यायके सिद्धान्तोंके विपरीत हैं तथा व्यक्तिके उन प्रारम्भिक अधिकारोंपर कुठाराघात करते हैं जिनपर भारत और राज्यकी सुरक्षा आधारित है। हम निष्ठापूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं कि यदि ये विधेयक कानून बन गये तो जबतक ये वापस नहीं लिये जाते हम सविनय इन कानूनों तथा उन कानूनोंको भी तोड़ेंगे जिन्हें भविष्यमें नियुक्त होनेवाली कमेटी भंग करना उचित समझेगी। हम यह भी प्रतिज्ञा करते है कि संघर्षमें हम सत्यका अनुसरण करेंगे और जन, धन तथा सम्पत्तिको कोई हानि नहीं पहुँचायेंगे।"

गान्धीजीने वाइसरायको निजी और खुले खत लिखे जिनमें उन्होंने लिखा कि "सरकारने मेरे लिए सत्याग्रहके अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं छोड़ा है।" परन्तु वाइसराय नहीं झुके।

इसी बीच चक्रवर्ती राजगोपालाचारी और कस्तूरी रंगा अय्यरने सत्याग्रहकी योजनापर बहस करनेके लिए गान्धीजीको बम्बई बुलाया।

गान्धीजी वहीं थे कि खबर आयी कि रौलेट-विधेयकको ऐक्ट बनाकर छाप दिया गया है। दूसरे दिन सबेरे गान्धीजीने राजगोपालाचारीको एक स्वप्न सुनाया। गान्धीजीने कहा कि "कल रात स्वप्नमें मुझे यह विचार सूझा कि हमें देशभरमें आम हड़तालका नारा देना चाहिये। सत्याग्रह आत्मशुद्धिकी एक विधि है और हमारा संघर्ष एक पवित्र संघर्ष है और मुझे यह उपयुक्त प्रतीत होता है कि सत्याग्रहको आत्मशुद्धिके ही एक कार्यसे आरम्भ करना चाहिये। इसलिए भारतके सब लोग एक रोजके लिए अपने काम-धन्धे बन्द करके प्रार्थना और उपवासमें वह दिन बितावें। सम्भव है कि मुसलमान चौबीस घण्टेसे अधिकका व्रत न रखें। इसलिए व्रतकी अवधि चौबीस घण्टेकी होनी चाहिये। यह कहना बहुत मुश्किल है कि सब सूबे इस माँगके जवाबमें उठ खड़े होंगे; लेकिन मुझे बम्बई, मद्रास, बिहार और सिन्धका पूरा भरोसा है। मेरा ख्याल है कि यदि यही प्रान्त शानदार ढंगसे हड़ताल मनाते हैं तो हमें सन्तुष्ट होना चाहिये।"[2]

आम हड़ताल, व्यापारको बन्द रखने, उपवास और प्रार्थना करने, और देशभरमें सभाएँ करनेके लिए ३० मार्च १९१९ का दिन नियत कर दिया गया। बादमें यह दिन

---

१. गांधी, वही पुस्तक, पृष्ठ ५५९

२. वही पुस्तक, पृष्ठ ५६२

बदल कर ६ अप्रैल कर दिया गया। नरमदलीय स्वभावतः सत्याग्रहके विरुद्ध थे और श्रीमती बेसेण्टने गान्धीजीको आन्दोलन न आरम्भ करनेकी सलाह दी; परन्तु गान्धीजी इस कदमको वापस नहीं ले सकते थे। "पूरे भारतमें एक कोनेसे दूसरे कोनेतक, क्या शहर और क्या गाँव, सब जगह ६ अप्रैलको पूर्ण हड़ताल मनायी गयी।"[1]

चूँकि दिल्लीमें तारीख बदलनेका तार देरमें पहुँचा इसलिए वहाँ हड़ताल ३० मार्चको ही हो गयी। हिन्दू-मुस्लिम एकताके साथ दिल्लीकी यह हड़ताल अभूतपूर्व थी। हकीम अजमल खाँ और स्वामी श्रद्धानन्द इस हड़तालके संघटनकर्त्ता थे। श्रद्धानन्दको जामा मस्जिदमें भाषण करनेको बुलाया गया। श्रद्धानन्दने वहाँ भाषण किया। "रेलवे-स्टेशनकी तरफ जाते हुए हड़तालियोंके जुलूसको पुलिसने रोका और गोली चला दी जिसमें कई आदमी मर गये और दिल्लीमें दमनचक्र चलना शुरू हो गया। रेलवे स्टेशनके बाहर १॥ बजेके करीब एक भीड़ इकट्ठी हो गयी। रेलवेके ठेकेदारसे, जिसने अपना काम बन्द नहीं किया था, थोड़ा-सा झगड़ा होनेके बाद और भीड़के दो आदमी गिरफ्तार कर लिये गये, तब लोगोंने स्टेशनपर हमला कर दिया। फौरन ही अंग्रेजी सेनाकी मदद माँगी गयी और भीड़-पर कई मर्तबा गोली चलायी गयी। बहुतसे आदमी हताहत हुए और कई घटनास्थलपर ही मर गये। कई दिनोंतक दूकानें बन्द रहीं; रेलके मुसाफिर भी रुके रहे। स्वामी श्रद्धानन्दने गान्धीजीको एक तार भेजकर प्रार्थना की कि आप फौरन ही दिल्लीको रवाना हो जावें। गान्धीजीने उत्तर दिया कि मैं दिल्ली अवश्य आऊँगा; परन्तु बम्बईमें ६ अप्रैलका प्रदर्शन समाप्त होनेके बाद ही।

बम्बईमें भी दिल्लीकी ही भाँति हिन्दू-मुस्लिम एकताका प्रदर्शन हुआ। मुसलमानोंके निमन्त्रणपर गान्धीजी और सरोजिनी नायडूने मस्जिदमें भाषण किये। शहरमें पूर्ण हड़ताल रही और यह निश्चय किया गया कि ऐसे कानूनोंके खिलाफ सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाना चाहिये जिन्हें जनता आसानीसे तोड़ सके। "नमक-कर अत्यधिक बदनाम था और कुछ दिनोंसे इसे रद्द करवानेके लिए एक शक्तिशाली आन्दोलन चल रहा था।" इसलिए गान्धीजीने सुझाव दिया कि "नमक-कानून तोड़कर लोग समुद्रके पानीसे अपने-अपने घरोंमें नमक बनावें।"

उनका दूसरा सुझाव जब्त-साहित्यकी बिक्रीके बारेमें था। गान्धीजीकी दो किताबें हिन्द स्वराज्य और सर्वोदय (रस्किनकी अन-टू-दी लास्टका गुजराती अनुवाद) जो जब्त कर ली गयी थीं इस कामके लिए सुलभ हो गयीं। "इन किताबोंको छापना और खुले बाजारमें बेचना सविनय अवज्ञा आन्दोलनका सबसे सहज रूप था। इसलिये ये किताबें एक बड़ी संख्यामें छापी गयीं और यह निश्चय किया गया कि हड़तालकी शामको विराट् सभाके बाद ये किताबें बेंची जावें। ६ तारीखकी शामको स्वयंसेवकोंकी एक सेना इन किताबोंको लेकर बेचनेके लिए पहुँची। बातकी बातमें सब प्रतियाँ निकल गयीं। इस बिक्री-की आमदनी सविनय अवज्ञा आन्दोलनको चलानेके लिए उपयोगमें लायी जानेवाली थी।"[2] इन किताबोंका दाम चार आना प्रति पुस्तक रखा गया, परन्तु बहुतसे लोगोंने चार आनेकी जगह अपनी जेबका कुल पैसा इस उद्देश्यके लिए दे दिया। एक आदमीने तो एक

---

१. गांधी, वही पुस्तक, पृष्ठ ५६३

२. वही पुस्तक, पृष्ठ ५६६

कितावके लिए पचास रुपया दिया। परन्तु सरकारकी इस घोषणाने कि कितावकी अगली प्रतियाँ जब्त न मानी जायँगी, जनताके उत्साहपर पानी फेर दिया। "इस खवरने आम निरुत्साह पैदा कर दिया।"[1]

७ अप्रैलकी रातको गान्धीजी अमृतसर और दिल्लीके लिए रवाना हो गये। अगले दिन मथुराके निकट पलवालके स्टेशनपर उनके ऊपर सम्मन जारी कर दिया गया; जिसमें उनके पंजाव सीमामें प्रवेशपर निषेध लगा दिया गया; क्योंकि गान्धीजीके पंजाबमें प्रवेश करनेसे शान्ति-भंगका अन्देशा था। गान्धीजीको रेलसे उतरनेकी आज्ञा दी गयी। उन्होंने उतरनेसे इनकार कर दिया और कहा कि "मैं एक निमन्त्रणके उत्तरमें पंजाव जा रहा हूँ। मैं असन्तोष पैदा करनेके लिए नहीं वल्कि असन्तोषको शान्त करनेके लिए जा रहा हूँ। इसलिए मुझे दुःख है कि मेरे लिए इस आज्ञाको मानना सम्भव नहीं है।"[2] उनको रेल-गाड़ीसे नीचे उतार लिया गया और पुलिसकी निगरानीमें वम्बई वापस भेज दिया गया; जहाँ वे मुक्त कर दिये गये।

परन्तु गान्धीजीकी गिरफ्तारीका समाचार वम्बई पहुँच चुका था और उत्तेजित लोगोंकी भीड़ शहरमें इधर-उधर घूम रही थी। इसलिए गान्धीजीने लोगोंको दर्शन दिया और एक सार्वजनिक सभामें भाषण किया। उन्होंने कहा कि "सत्याग्रह यथार्थमें एक सत्यवादीका ही हथियार है। सत्याग्रही अहिंसाका पालन करनेके लिए प्रतिज्ञावद्ध होता है और जवतक लोग इसको मनसा, वाचा, कर्मणा माननेके लिए प्रस्तुत न हों तबतक मैं जन-सत्याग्रह नहीं कर सकता।" इस भाषणसे लोगोंकी उत्तेजना शान्त हो गयी।

लेकिन अहमदावादमें यह गलत अफवाह उड़ गयी कि अनुसूया बेन गिरफ्तार हो गयीं। सामाजिक कार्यकर्त्री अनुसूया वेनका अहमदावादमें वहुत आदर था। मिलके मजदूरोंमें इस अफवाहसे बहुत उत्तेजना फैल गयी और उन्होंने कुछ सरकारी दफ्तरोंमें आग लगा दी, टेलीफोनके तार काट डाले और यूरोपीयोंपर हमला किया। एक पुलिस सार्जेण्टको भीड़ने मार डाला। पड़ोसमें ही फौजियोंसे भरी एक रेलगाड़ीको पटरीसे उतार दिया गया। लोगोंपर वारवार गोलियाँ चलायी गयीं जिनमें २८ आदमी मरे और १३५ घायल हुए। घायलोंकी ठीक संख्या नहीं मालूम। अहमदावादमें मार्शल लॉ लागू कर दिया गया। वीरमगाममें एक अँग्रेजी अधिकारी मार डाला गया। लोग भयत्रस्त हो गये। लोगोंने हिंसात्मक कामोंमें हिस्सा लिया था और अव उनसे इसका वदला मय सूदके वसूल किया जा रहा था। अन्तोगत्वा गान्धीजी शान्ति स्थापित करनेमें सफल हो गये। उन्होंने एक सार्वजनिक सभामें भाषण करते हुए घोषणा की कि "पश्चात्तापस्वरूप मैं तीन दिनका उपवास करूँगा और जनतासे भी एक दिनका उपवास करनेकी अपील की। १३ अप्रैलको मार्शल लॉ वापस ले लिया गया।

कलकत्तेमें अंग्रेज-विरोधी प्रदर्शन किये गये, हमेशाकी तरह, लोगोंपर गोलियाँ चलायी गयीं जिनमें अपार धन-जनकी हानि हुई।

लेकिन पंजावमें एक महा दुःखद नाटक खेला गया; ऐसा दुःखद नाटक जिसकी मिसाल आधुनिक इतिहासमें नहीं मिलती, हालाँ कि विश्वास होना मुश्किल है कि पंजाबमें १९२० तक गवर्नरका निरंकुश शासन था। दूसरे सूबोंकी भाँति वहाँ कोई गवर्नरकी शासन-

---

१. गांधी, वही पुस्तक, पृष्ठ ५६६

२. वही पुस्तक, पृष्ठ ५६७

परिषद् न थी। १९२० तक कांग्रेसको हर साल यह आशा होती कि पंजाबमें भी शासन-परिषद् और एक विस्तृत विधान-परिषद् कायम की जायगी। परन्तु इस प्रार्थनापर कभी ध्यान नहीं दिया गया। पंजाबकी दशाका वर्णन करते हुए एक अंग्रेज अधिकारीने लिखा कि "हमको सिखाया गया था कि पंजाबमें हमें प्रत्यक्षतया नम्र रहते हुए लोहेकी तरह सख्त होना चाहिये; कठोर शासन और नम्र शब्द तथा समझौता वार्ता। न कोई पक्षपात और न डराना-धमकाना।"[1] जालियाँवालाबागके हत्याकाण्डके समय, सर माइकेल ओडायर पंजाबके गवर्नर थे। वे भारतीयोंकी राजनीतिक आकांक्षाओंका मजाक उड़ाते थे और उन्होंने निर्दयतासे प्रान्तके राजनीतिक जीवनका दमन किया था। उन्होंने तिलक और पाल जैसे उद्वेलनकारियोंके पंजाबमें घुसने पर रोक लगा दी। फिर भी पंजाब एक पहेली था। एक तरफ तो अकेले पंजाब फौजी भरतीके आधेसे अधिक आदमियोंकी पूर्ति करता और 'वह ऐसा महान् सूबा था जिसने युद्धमें वास्तविक सहायता दी' और दूसरी तरफ क्रान्तिकारी कार्योंका सबसे अधिक सरगर्मीका केन्द्र था। पंजाब कांग्रेस जाँच समितिकी इकट्ठी की हुई गवाहियोंकी रिपोर्टके अनुसार 'भरती करनेके लिए जुल्मका सहारा लिया गया था।' इस प्रकारका उदाहरण एक तहसीलदारका है जो गाँवके सब आदिमियोंकी सूची बनवाता और तीन चार आदिमियोंके कुटुम्बसे एक या दो आदमियोंको भरतीके लिए माँगता। अगर उतनी संख्यामें लोग स्वेच्छासे आ गये तब तो ठीक, अन्यथा कठोर दण्ड दिये जाते। लोगोंको नंगा करके घरकी औरतोंके सामने खड़ा कर दिया जाता या उन्हें काँटेदार झाड़ियोंसे घसीटा जाता। औरतोंको बतौर जमानत बन्द कर दिया जाता जबतक लोग भरती न हो जायँ। माइकेल डायरके शब्दोंमें तहसीलदारके कारनामोंसे साफ प्रकट है कि वह अनिवार्य भर्ती कर रहा था। कुछ गाँववालोंने इस तहसीलदारको मार डाला। जैसा कि श्रीमती बेसेण्टने कहा है "सर माइकेल ओडायरके कठोर और दमनकारी शासन, उनके अत्याचारी भरतीके तरीकों, उनके जबरदस्ती वसूल किये गये युद्ध-सहायता-धन, और तमाम राजनीतिक नेताओंके ऊपर किये गये उनके जुल्मोंने असन्तोषके जलते हुए अंगारोंको सिर्फ ढाँक रखा था जो ज्वालामें फूट पड़नेके लिए तैयार थे। बम्बईमें हुए कांग्रेसके १९१८ के अधिवेशनमें पंजाबके प्रतिनिधियोंने हमें बतलाया कि वे एक ज्वालामुखीके ऊपर बैठे हुए हैं और क्रूर दमनके किसी भी कार्यसे यह ज्वालामुखी उबल सकता है।"

परन्तु शुरूमें यह चेतावनी अनावश्यक-सी मालूम हुई। अमृतसर, लाहौर और दूसरे स्थानोंमें ६ अप्रैलकी हड़तालका दिन शान्तिसे गुजर गया। परन्तु १० अप्रैलके सबेरे अमृतसरके डिप्टी कमीश्नरने बिना किसी कारणके पंजाबके दो प्रसिद्ध नेता डा० सत्यपाल और डा० किचलूको अमृतसरसे निष्कासनके आदेश जारी कर दिये और उनको धर्मशाला नगरमें बन्द कर दिया। सबेरे ११॥ बजेतक यह खबर शहर भरमें फैल गयी। हड़तालका ऐलान कर दिया गया और दोनों नेताओंकी रिहाईकी माँग करते हुए एक बड़ी भीड़ डिप्टी कमिश्नरके बंगलेकी तरफ चली। रास्तेमें यह भीड़ बराबर बढ़ती गयी। भीड़ बिल्कुल शान्त थी, न लाठी, न डण्डे—और न रास्तेमें मिलनेवाले यूरोपीयोंसे ही कोई छेड़छाड़ की गयी।" परन्तु पुलिसने रेलवे-क्रासिंगपर भीड़को रोककर जनताके धैर्यकी कड़ी परीक्षा ली।

---

१. आर० नीडम कस्ट, मेमॉयर्स आव पास्ट ईयर्स

पुलिसने प्रदर्शनकारियोंपर गोलियोंकी वर्षा कर उनको पीछे खदेड़नेकी कोशिश की। यह गड़बड़ीकी शुरूआत थी। इस मर्तबा अधिकारियोंने शान्ति भंग की। भीड़ अनियन्त्रित और क्रुद्ध हो उठी। वह बदलेकी भावनासे उत्तेजित हो उठी और जिस किसी यूरोपीय—पुरुष या स्त्री—को पकड़ लेती उसपर हमला करती। भीड़ने नैशनल बैंक और ऐलाइन्स बैंकपर हमला कर उन्हें तहस-नहस कर डाला। उनके यूरोपीयन मैनेजरोंको मार डाला। इमारतोंको आग लगा दी तथा दो अन्य यूरोपीयोंको भी खत्म कर दिया। टाउनहाल और दूसरी सार्वजनिक इमारतोंको नष्ट कर दिया, टेलीफोनके तार तोड़ डाले। श्रीमती शेरवुड नामकी एक ईसाई महिलाका भी अन्त कर दिया गया। इसपर फौज बुला ली गयी और उसने अन्धाधुन्ध गोलियाँ चलायीं। गड़बड़ीमें, जाँच समितिकी रिपोर्टके अनुसार, करीब दस आदमी मारे गये और बहुत अधिक संख्यामें घायल हुए। भीड़को तितर-बितर करनेके लिए हथियारबन्द गाड़ियाँ और हवाई जहाज इस्तेमाल किये गये। ११ तारीखकी रातको जनरल डायरने, जो जनरल बैयननके अधीन जिलेके सहायक कमांडर थे, आये और उन्होंने शहर स्थित सेनाका भार सम्भाला। १२ तारीखको बहुत बड़ी संख्यामें लोग गिरफ्तार कर लिये गये और सभी सभाओं अथवा लोगोंके एक जगह जमा होनेपर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

प्रतिबन्ध-सम्बन्धी यह घोषणा शहरके कुछ हिस्सोंमें तो पढ़ी गयी पर बाकीमें नहीं।[1] १३ तारीखको राजनीतिक नेताओंने ४॥ बजे शामको एक सार्वजनिक सभा करनेका ऐलान किया। जनरल डायर और शहरके हाकिमोंने इस एलानकी ओर तो कोई ध्यान दिया ही नहीं और शहरके बीच एक खुले मैदान जालियाँवाले बागमें जनताको चुपचाप इकट्ठा होने दिया। इस मैदानके तीन ओर ऊँची पक्की इमारतें थीं और सिर्फ एक ओरसे आने-जानेका एक सँकरा रास्ता था। जब लगभग २० हजार व्यक्ति[2] इकट्ठे हो गये और हंसराज नामक एक सज्जनने सभामें बोलना शुरू किया, तभी जनरल डायर ५० अंग्रेज और १०० भारतीय सिपाहियोंको लेकर उस बागमें घुस आये और "१०० गजकी रेंजसे बिना चेतावनीका एक शब्द बोले हुए, घनी भीड़पर गोली चलाने लगे……भीड़ घबड़ाकर फौरन तितर-बितर होने लगी, पर उसके बाद १० मिनटतक वे निर्ममतापूर्वक गोलियोंकी बौछार करते रहे। चूहेदानीमें फँसे चूहोंकी तरह, उबलते हुएसे इस मानव-समूहपर १६५० गोलियाँ चलायी गयीं। लोग निकलनेके सँकरे रास्तोंकी ओर निष्फल दौड़ते; या गोलियोंकी वर्षासे बचनेके लिए पेटके बल लेट जाते। जनरल डायरने खुद अपने निर्देशसे ऐसी जगहोंपर गोली-वर्षा करायी जहाँ भीड़ सबसे ज्यादा थी।"[3] गोलियाँ भारतीय सिपाहियोंने दागीं, जिनके पीछे गोरे राइफिलें साधे तैनात थे। गोली वर्षा १० मिनटतक होती रही और तभी रुकी जब बारूद खत्म हो गयी। डायरने कहा कि अगर मेरे पास और कारतूस व बारूद होती तो मैं और गोलियाँ चलवाता। कांग्रेस द्वारा नियुक्त जाँच-समितिके सामने एक प्रत्यक्षदर्शीने कहा कि इस गोलीकाण्डमें १००० व्यक्ति मारे गये। उपद्रव-जाँच समितिके (जो हण्टर कमेटीके नामसे मशहूर है) अनुसार ३७९ व्यक्ति मारे गये, १२०० व्यक्ति घायल हुए। बादमें

१. डिसआर्डर्स इन्क्वायरी कमेटी रिपोर्ट, पृष्ठ ३०
२. पट्टाभि सीतारमैया, हिस्ट्री आव इंडि० नैश० कांग्रेस, पृष्ठ १६४
३. सर वेलेण्टाइन शिरौल 'इण्डिया ओल्ड एण्ड न्यू, पृष्ठ १७८

सरकार सेवासमितिके आँकड़े माननेको तैयार हो गयी, जिसने ५०० शव गिने थे। डायरके हुक्मपर घायल वहीं जालियाँवाला बागमें ही रातभर खाना-पानी या दवादारूके बिना रोते कराहते पड़े रहने दिये गये। डायरने घोषणा की कि "मेरा उद्देश्य पूरे पंजाबमें आतंक जमा देना था।" कुमारी शेरवुडकी हत्याका बदला लेनेके लिए डायरने हुक्म जारी किया कि जिस गलीमें वे मारी गयी थीं, वहाँ कोई भी राहगीर सीधा न चलने पाये, सब पेटके बल रेंगते हुए चलें। दण्ड यहीं खतम नहीं हुआ। इसके बाद "स्त्रियों और पुरुषोंपर खुले-आम कोड़े और बेंत लगाने, अन्धाधुन्ध गिरफ्तारियोंमें सम्पत्तिकी जब्ती और उन 'आदर्श दण्डों' का दौर शुरू हुआ जो बागियोंको दण्ड देनेके लिए उतना नहीं जितना उन्हें अपमानित और आतंकित करनेके लिए खोज निकले गये थे।" १५ तारीखको अमृतसरमें मार्शल लॉ (फौजी शासनका कानून) घोषित कर दिया गया। एक हुक्म निकालकर रेलोंके तीसरे दर्जेके टिकटोंकी बिक्री बन्द कर दी गयी, जिसमें भारतीयोंका रेल चढ़ना ही बन्द हो गया। अंग्रेजोंके सिवा और सबकी साइकिलें छीन ली गयीं। कड़ी सजाकी धमकी दे कर दूकानें व बाजार खुलवाये गये। किलेके पास और शहरके कई दूसरे हिस्सोंमें कोड़े मारनेके सार्वजनिक प्रदर्शनके लिए टिकरियाँ खड़ी की गयीं। मार्शल लॉ कमिश्नरोंने २९८ व्यक्तियोंका 'संगीन जुर्मों' में मुकदमा किया; ५१ को फाँसी, ४६ को आजन्म कालेपानी और ११५ को विभिन्न अवधियोंके लिए कारावासका दण्ड दिया गया।

पंजाबके पाँच दूसरे शहरोंमें भी मार्शल लॉ लागू हुआ और वहाँ भी हाकिमोंके नृशंस अत्याचारोंका बोलबाला हो गया। पहले लाहौरको ही लीजिये। १० अप्रैलको गान्धीजीकी गिरफ्तारीकी खबर आते ही शोकका काला झण्डा लेकर एक जलूस वहाँके मुख्य बाजारमें घूमा। भीड़के तितर-बितर होनेसे इनकार करने पर दो बार गोली चलायी गयी। १२ अप्रैलको एक बड़ी सड़कपर, भीड़पर फिर गोली चलायी गयी। दो दिन बाद, १४ अप्रैलको कुछ नेताओंकी गिरफ्तारी हुई। उत्तेजित जनताने दमनका जवाब हड़ताल जारी रख कर दिया। लेकिन १८ अप्रैलको दूकानें जबरदस्ती खुलवायी गयीं। हर सम्भव तरीकेसे लाहौरका अपमान किया गया। वकीलों, उनके दलालों और मुहर्रिरोंसे रजिस्ट्री कराने और बिना अनुमति शहर न छोड़नेको कहा गया। जिन इमारतोंपर मार्शल लॉकी घोषणा छाप कर चिपकायी गयी थी, उनमें रहनेवालोंको धमकी देकर घोषणा-पत्रोंकी रक्षा करनेके लिए कहा गया। सड़कोंपर दोसे ज्यादा लोगोंके साथ-साथ चलनेपर रोक लग गयी। सार्वजनिक धाबे, तन्दूर व नान-बाइयोंकी दूकानें बन्द कर दी गयीं। कालेजोंके छात्रोंको कालेजसे कई मील दूर दिनमें चार बार हाजिरी देनी होती। अप्रैलकी तपती धूपमें इन छात्रोंको १९–१९ मीलतक चलना पड़ता। कुछ बेहोश होकर सड़कोंके किनारे ही गिर पड़ते। सनातनधर्म कालेजकी दीवालपर मार्शल लॉकी घोषणा चिपकी थी; किसीने उसे उखाड़ दिया। इसपर सभी अध्यापक और सभी छात्र, लगभग ५०० पकड़कर फौजी घेरेमें किलेतक ले जाये गये, वहाँ तीन दिनतक रोक रखे गये और उनपर अमानुषिक अत्याचार किये गये। भारतीयोंकी मोटरकारें, मोटर-साइकिलें, बिजलीके पंखे, सब फौजी इस्तेमालके लिए ले लिये गये। इक्के ताँगेवालोंकी पुलिस चौकियोंपर दिनमें चार बार हाजिरी होने लगी ताकि वे हड़तालमें भाग न ले सकें। कोड़े लगाना आम बात थी। एक गाँवके मुखियाको पेड़से बाँधकर गाँववालोंको शिक्षा देनेके लिए ही कोड़े लगाये गये। मार्शल लॉ कैसे लागू किया गया इसका एक उदाहरण इस

घटनासे मिलता है कि लाहौरके पास एक गाँवमें एक मुसलमानकी पूरी बारात—दूल्हा, मुल्ला, मेहमान सबको पकड़कर कोड़े लगाये गये क्योंकि उन्होंने बारात निकालनेकी हिम्मत की थी जब कि लाहौरमें मार्शल लॉ था।

कसूरमें ११ व १२ अप्रैलको हड़ताल हुई। १२ को वहाँ बाजारोंमें होता हुआ एक जलूस रेलवे स्टेशन पहुँचा। वहाँ भीड़ काबूके बाहर हो गयी और उसने दरवाजे तोड़ डाले, खिड़कियोंपर पत्थर फेंके, सिगनल व टेलीफोनके तार खराब कर दिये, कुर्सी मेज तोड़ डालीं, टिकटघर लूट लिया और एक तेलगोदाममें आग लगा दी। जब यह उत्पात चल ही रहा था, एक ट्रेन आयी जिसमें कुछ अंग्रेज मुसाफिर थे। भीड़ने उनके साथ दुर्व्यवहार किया। लेकिन भारतीय मुसाफिरोंके समझानेपर भीड़ ट्रेन छोड़कर हट गयी। लेकिन दो अंग्रेजोंने भीड़पर गोली चला दी। इसपर भीड़ने पत्थरोंकी मारसे दो अंग्रेज मार डाले। फौरन पुलिस बुलायी गयी। जिसने गोली चलाकर भीड़ तितर-बितर कर दी। लेकिन अंग्रेजोंकी मौतने हाकिमोंको बदलेकी भावनासे भर दिया और वे पहलेसे भी अधिक नृशंस हो गये। बड़ी संख्यामें लोग गिरफ्तार हुए, पूरे शहरके सारे मर्द लोग शिनाख्त परेडमें इकट्ठे किये गये। जनता घबड़ायी हुई थी कि न जाने किस बहाने कोड़े लग जायँ। कसूर तहसीलका शासन कप्तान डवटनके हाथमें था; उन्होंने जनताको आतंकित करनेके लिए कुछ दण्डोंका आविष्कार किया। एक बारातके सभी सदस्योंको वेश्याओंकी मौजूदगीमें कोड़े लगाये गये। जब हण्टर कमेटीने पूछा कि कोड़े मारते वक्त वेश्याएँ क्यों बुलायी गयीं तो डवटनने बात टालते हुए कहा कि मैंने तो पुलिससे शहरके बदमाशोंको पकड़ लानेको कहा था, ताकि वे कोड़ेकी मार देखकर आतंकित हो जायँ। कुछ 'हलके' दण्ड भी थे—जैसे कि पकड़े हुए लोगोंका सिर जमीनसे स्पर्श कराना। डवटन अपने कैदियोंको घुटनोंतक नंगा कराते और उन्हें तारके खम्भोंमें बाँधकर सार्वजनिक रूपसे कोड़े लगवाते। एक दूसरे अफसर कर्नल मेकरे उदाहरण पेश करनेके लिए स्कूलके बच्चोंके कोड़े लगवाते। "बड़े लड़कोंको सिर्फ इसलिए छाँट लिया जाता था कि वे मार ज्यादा सह सकते थे।" १५० व्यक्ति गिरफ्तार कर स्टेशनपर कटघरेमें बन्द कर दिये गये थे, शहरके सभी मर्द लगभग १०००० उनकी शिनाख्तके लिए पकड़ बुलाये गये।

गुजराँवालामें किसी सरकारी पिट्ठूने बदमाशीमें रेलवेके दो पुलोंपर एक बछड़ा और एक सूअर काटकर लटका दिया। यह १४ अप्रैलको हिन्दुओं और मुसलमानोंको लड़ानेके लिए हुआ था। पर दोनों जातियोंकी दृढ़ एकता इस बदमाशीसे नहीं टूटी। जनताने फौरन समझ लिया कि पुलिसने यह साम्प्रदायिक झगड़ा करवानेके लिए किया है।[1] जनतामें उत्तेजना जरूर फैली, पर हाकिमोंके खिलाफ। हिन्दुओं और मुसलमानोंकी एक भीड़ने पुलोंको आग लगा दी। पुलिसने गोली चलायी, जिससे भीड़ और उत्तेजित हो गयी और उसने जिला कचहरी, तहसील, डाकबँगले, गिरिजाघर व रेलवे स्टेशनको आग लगा दी। तीसरे पहर लाहौर हवाई जहाज मँगा लिये गये और गुजराँवालापर बमवर्षा हुई।

जाँच-समितिको मिले सबूतके अनुसार एक खेतमें काम करनेवाले २० किसानोंको मशीनगनसे मार डाला गया। किसीका भाषण सुनते हुए कुछ लोगोंपर एक बम गिराया गया। रायल एयर फोर्सके लोगोंने स्वीकार किया कि हवाई जहाज़से बम गिराते समय

---

१. 'डिसटरबेंसेज इनक्वायरी कमिटी', पृष्ठ ४८

अपराधी और बेकसूर लोगोंमें अन्तर नहीं किया गया; उन्होंने कहा, यह करना असम्भव था। गुजराँवालाके मार्शल लॉ अफसर कर्नल ओब्रायनने हुक्म निकाला कि अंग्रेज अफसरोंको देखते ही भारतीय अपनी गाड़ियोंसे उतरकर उन्हें सलाम करें। जो लोग इस आदेशका पालन नहीं करते थे या संयोगवश अफसरोंको देख नहीं पाते थे, उन्हें कोड़े लगते थे, जुर्माने होते थे या दूसरे दण्ड दिये जाते थे। गिरफ्तारियाँ और बिना मुकदमा किये जेलोंमें ठूस देना साधारण बात थी। कुछ सम्भ्रान्त नागरिकोंको गिरफ्तार किया गया, कड़ी धूपमें मीलों चलाया गया और फिर एक ठेलागाड़ीमें बन्द करके लाहौर भेज दिया गया। उन्हें इसी हालतमें ४४ घण्टे रहना पड़ा। हिन्दू-मुस्लिम एकताकी मखौल उड़ानेके लिए एक हिन्दू और एक मुसलमानका जोड़ा बनाकर उन्हें जंजीरोंमें जकड़ दिया जाता। मार्शल लॉके समय बनी 'सरसरी' अदालतोंने २०० व्यक्तियोंको कोड़ोंकी मार और विभिन्न अवधियोंकी कैदकी सजा दी। मार्शल लॉ कमीशनने २२ को फाँसी, १०८ को आजन्म कालेपानी, बहुतोंको कैदकी सजा दी। श्री ओब्रायनने जब देखा कि २४ घण्टेमें मार्शल ला खत्म होनेवाला है तो 'सरसरी' अदालतोंने भी बिना मुकदमा चलाये बहुत-से लोगोंको सजाएँ दे दीं।

शेखूपुरामें बिना किसी कारण मार्शल लॉ लगा दिया गया। वहाँके सिविल अफसर बसवर्थ-स्मिथने स्वीकार किया था कि शेखूपुरामें मार्शल लॉ आवश्यक न था। स्मिथने जिस तरह छात्रोंको दण्ड दिया, उसे बीसवीं सदीका कोई भी व्यक्ति सुने तो घृणासे भर जायगा। स्कूलोंके हर बच्चेको, चाहे उसकी उम्र पाँच वर्षकी भी क्यों न हो, दिनमें तीन बार परेडकर यूनियन जैक झण्डेको सलामी देनी पड़ती थी। इन बच्चोंको अप्रैलकी धूपमें मीलों चलना पड़ता। कई बच्चे इससे बीमार पड़कर मर गये। कुछ बच्चोंसे कहलाया जाता—"मैंने कोई अपराध नहीं किया है, मैं कोई अपराध नहीं करूँगा। मुझे पश्चात्ताप है, मुझे पश्चात्ताप है, मुझे पश्चात्ताप है।" स्मिथने एक पश्चात्तापगृह बनानेका भी सुझाव दिया, पर वह लागू नहीं हुआ।

कई अन्य शहरोंमें भी अत्याचार हुए। वजीराबादमें एक पुल और एक पादरीका घर जला डाला गया और तारघर तोड़ डाला गया। देहातोंमें भी अशान्ति फैल गयी। लोग अपनेको गान्धीजीका अनुयायी बताते और ब्रिटिश सत्तापर चोट करते। सरकारी सम्पत्ति जलाते और रेलवे स्टेशनोंपर तोड़-फोड़ करते। १७ अप्रैलको मलकवाल नामक स्टेशनपर एक ट्रेन पटरीसे उतार दी गयी जिससे दो व्यक्तियोंकी मृत्यु हो गयी? गुजरातमें भी क्रुद्ध भीड़ने उत्पात किये। अधिकारियोंने गोली चलाकर जवाब दिया। हजारों पोस्टर चिपकाये गये जिनमें जनतासे विद्रोह करनेकी अपील की गयी। हण्टर कमेटीने जिस पोस्टरका हवाला दिया, उसमें कहा गया था—"महात्मा गान्धी चिरजीवी हों। हम भारतमाताके पुत्र हैं। हम हार नहीं मानेंगे। हम प्राण उत्सर्ग कर देंगे। हम रौलट बिल कभी नहीं मानेंगे। गान्धीजी! हम भारतवासी जान देकर भी आपके पीछे लड़ेंगे। जुल्म और बेरहमीका झण्डा गड़ा हुआ है। हाय अंग्रेजो! तुमने हमें कैसा धोखा दिया......तुमने भारतीयोंपर गोलियाँ चलायीं और उन्हें मार डाला—...अमृतसरमें हमारी लड़कियोंपर तुमने असहनीय अत्याचार किये......यहाँ बहुत-सी अंग्रेज महिलाएँ हैं जिनका अपमान हो सकता है।"

लाहौर और पंजाबमें रेलवेमें हड़ताल करानेकी कोशिश १० अप्रैलसे ही हो रही थी। लेफ्टिनेण्ट जनरल सर जार्ज मेकमनके अनुसार "जब लाहौर शहर विद्रोहियोंके हाथोंमें था,

एक हिन्दुस्तानी रेलवे सिगनलरने दिल्लीमें अपने दोस्तोंके पास यह खबर भेजी कि लाहौरपर भीड़का अधिकार है, भारतीय सिपाही विद्रोह करनेवाले हैं, नार्थवेस्टर्न रेलवेके भारतीय कर्मचारी हड़ताल करनेवाले हैं और दक्षिणकी बड़ी रेलोंके कर्मचारियोंको भी ऐसा ही करना चाहिये। दो दिन बाद दिल्लीमें विद्रोहियोंके नेताओंने रेलवेके अपने साथियोंको यह सन्देश भेजा—"रौलट शब्दका संकेत पाते ही पंजाब स्थित भारतीय फौजी और अवध एण्ड रुहेलखण्ड व ईस्ट इण्डियन रेलवेके कर्मचारी हड़ताल कर देंगे। ग्रेट इण्डियन पेनिनशुला और बंगाल नागपुर रेलवेके कर्मचारियोंको फौरन तार द्वारा आवश्यक सूचना भेजो।"[1] यह सन्देश कई जगह पकड़ा गया। बीनामें यह फौजी क्वार्टर मास्टर जनरलके हाथमें पड़ा। वे दौरेपर थे और फौरन एक इंजनपर बैठकर सरकारको इत्तिला देने गये। १३ अप्रैलको निम्नलिखित सन्देश तार द्वारा सब जगह पहुँचा—"दक्षिणकी सभी रेलोंके कर्मचारी आज रातसे हड़ताल कर दें; गान्धीजी गिरफ्तार हो गये हैं—भारतीय भाइयोंकी ओरसे।"[1] हालाँ कि अधिकारियोंको इस प्रस्तावित हड़तालकी सूचना समय रहते मिल गयी थी और उन्होंने उसे रोकनेके लिये कदम भी उठा लिये थे, पर कई जगह हड़ताल शुरू हो गयी। इरादा यह था कि फौजोंके एक जगहसे दूसरी जगह ले जानेमें बाधा पड़ जाय। अप्रैलके अन्ततक बहुत कम ट्रेनें चलाना अधिकारियोंके लिये सम्भव रहा और वह भी अधिकांशतः एंग्लो इण्डियन कर्मचारियोंकी मददसे।

जनप्रिय नेता पकड़कर जेलोंमें ठूँसे जा चुके थे। मार्शल लॉ के अधिकारियोंने निरीह निश्शस्त्र लोगोंको तरह-तरहकी यातनाएँ दीं। गान्धीजीके पंजाब प्रवेशपर रोक लगा दी गयी। उन्होंने कई बार वाइसरायसे पंजाब जानेकी अनुमति माँगी पर हरबार उत्तर मिला—'अभी नहीं'। गान्धीजी इस निषेधाज्ञाका उल्लंघन कर परिस्थितिको और जटिल नहीं बनाना चाहते थे। लेकिन अंग्रेज पादरी और गान्धीजीके सहयोगी सी. एफ. एण्ड्रूज पंजाब पहुँच गये थे। उन्होंने गान्धीजीको जो पत्र लिखा उसमें पंजाबकी स्थितिका हृदय-विदारक वर्णन था। उसी पत्रसे गान्धीजीको पता लगा कि मार्शल लॉके अन्तर्गत अत्याचार उससे कहीं ज्यादा थे जिनका वर्णन अखबारोंमें मिला था। लेकिन इसके पहले कि एण्ड्रूज जाँच कर सकें, उन्हें पकड़कर इंग्लैण्ड भेज दिया गया। पंजाब एक बड़ा कैदखाना बन गया था। बैरिस्टर नार्टन वहाँ जाकर कैदियोंकी कानूनी सहायता करना चाहते थे, पर उन्हें पंजाबमें घुसने नहीं दिया गया। पंजाबमें कानून नहीं चल रहा था। कैदी अपने वकील भी नियुक्त नहीं कर सकते थे। बॉम्बे क्रॉनिकलके सम्पादक बी. जी. हर्नीमैनको जिन्होंने पंजाबकी परेशान जनताका समर्थन किया था, पकड़कर इंग्लैण्ड भेज दिया गया और अखबार बन्द कर दिया गया। समाचारोंपर सेंसर और आवागमनपर प्रतिबन्ध लगाकर पंजाबको शेष देशसे बिलकुल अलग कर रखा गया था। वाइसरायकी शासन-परिषद्के भारतीय सदस्य शंकरन नायरने लगातार मार्शल लॉ लगाये रखनेका विरोध किया और अन्ततः विरोधस्वरूप शासन-परिषद्से इस्तीफा दे दिया। कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरने अपना सरका खिताब छोड़ दिया। उन्होंने सरकारको लिखा—"समय आ गया है जब सम्मानके ये चिह्न अपमानके सन्दर्भमें हमारी लज्जाको बढ़ाते हैं, और, जहाँतक मेरा सम्बन्ध है, मैं इस विशेष सम्मानसे रहित हो अपने उन देशवासियोंके समक्ष खड़ा होना चाहता हूँ जो तथाकथित अकिंचनताके कारण

१. मेकमन, "टरमॉइल एण्ड ट्रैजेडी इन इण्डिया, १९१४ एण्ड आफ्टर" पृष्ठ १७५

ऐसे अपमानके भाजन बन रहे हैं जो मनुष्यके योग्य नहीं हैं।" कांग्रेस इस अतीव दुखान्त नाटककी मूक और असहाय दर्शक थी। अखिल भारतीय कांग्रेस महासमितिकी अप्रैल, जून और फिर जुलाईमें बैठकें हुईं। पर वह इस स्थितिमें नहीं थी कि उसकी आवाज सुनी जाती। अप्रैलकी बैठकके अनुसार विट्ठलभाई पटेल और एन. सी. केलकर ब्रिटिश अधिकारियोंको भारतकी सही परिस्थिति बताने इंग्लैण्ड गये। जूनकी बैठकके पहले ही बहुतसे लोगोंको फाँसीकी सजा मिल चुकी थी और वे फाँसीके फन्देके इन्तजारमें बैठे थे। महासमितिने ब्रिटिश सरकारसे अपील की कि मार्शल लॉ शासनकी जाँच होने तक यह दण्ड रोक दिया जाय। जुलाईकी बैठकमें महासमितिने १९१९ का कांग्रेस अधिवेशन जालियाँवाला बाग काण्डके स्थान अमृतसरमें करना तय किया और श्रद्धानन्द, मोतीलाल नेहरू व मदनमोहन मालवीयको पंजाब जा कर घटनाओंकी जाँच करनेको कहा।

पंजाबकी घटनाओंने वह रूप धारण कर लिया था जिसकी गान्धीजीने कल्पना भी नहीं की थी और उनका सत्याग्रह आन्दोलन रुका पड़ा था। वातावरण सत्याग्रहके अनुकूल नहीं था। २१ जुलाईको उन्होंने एक वक्तव्यमें कहा—"बहुत सोच विचारके बाद मैंने सविनय अवज्ञा आन्दोलन कुछ कालके लिए न शुरू करनेका ही निश्चय किया।" जिन लोगोंने आन्दोलन शुरू न करनेकी राय दी थी उनमें भारत सरकार, कुछ भारतीय नेता और उग्रदलके लोग भी थे।

देशके प्रमुख लोग और कांग्रेस पंजाबकी इस प्रचण्डाग्निकी निष्पक्ष जाँचकी माँग कर रहे थे और सरकार अनसुनी कर रही थी। लेकिन जब मार्शल लॉ का क्रोध समाप्त हो गया और पंजाब परास्त, अपमानित व शान्त हो गया, सरकारने उपद्रव जाँच समितिकी नियुक्तिकी घोषणा की। आधी सद्भावना तो उसी बिलसे खत्म हो गयी जो सरकार फौरन बाद उन अफसरोंकी रक्षा और क्षतिपूर्तिके लिए ले आयी जिनके कृत्योंकी यह समिति जाँच करनेको थी। कांग्रेस द्वारा जाँचके लिए भेजे गये नेता अभी पंजाबमें ही थे। बादमें एण्ड्रूज, जवाहरलाल नेहरू और पुरुषोत्तमदास टण्डन भी जाँचमें शामिल हो गये। अक्तूबरमें गान्धीजीके पंजाब प्रवेशपर धर्मा निषेधाज्ञा भी हट गयी और १७ अक्तूबरको गान्धीजी भी पंजाब पहुँच गये। यद्यपि हण्टर-कमेटीका कार्यक्षेत्र कांग्रेसकी माँगसे बहुत ज्यादा सीमित और संकीर्ण था, कांग्रेस नेताओंने उसे सहयोग देनेका फैसला किया। यह सहयोग बहुत थोड़े दिन चला। नेता चाहते थे कि मार्शल लॉके कुछ कैदी भी कमेटीके समक्ष गवाहोंकी हैसियतसे लाये जायँ। पर पंजाब सरकारने इन कैदियोंको पहरेमें भेजनेसे भी इन्कार कर दिया। कांग्रेसने भारत सरकार और ब्रिटिश सरकारके भारत सचिवको भी लिखा पर कोई फल नहीं निकला। तब कांग्रेसने हण्टर-कमेटीसे सहयोग वापस लेकर एक समानान्तर जाँच समिति बैठानेका फैसला किया। इस गैर-सरकारी समितिमें गान्धीजी, मोतीलाल नेहरू, चित्तरंजनदास, अब्बास तैयबजी, फजलुल हक व एम. आर. जयकर थे। गान्धीजीने जो जाँच अपने हाथमें ली, उसके सम्बन्धमें उन्होंने लिखा—"जैसे जैसे जाँच बढ़ती गयी, मुझे सरकारकी निरंकुशता और उसके अफसरोंके मनमाने तानाशाही रवैयेके ऐसे-ऐसे अत्याचारोंका पता लगा जिनके लिए मैं बिलकुल तैयार न था और इससे मुझे बड़ी पीड़ा हुई। जिस बातने मुझे तब और अबतक सबसे अधिक आश्चर्यमें डाल रखा है, वह यह है कि जिस प्रान्तने लड़ाईमें सबसे अधिक

सिपाही ब्रिटिश सरकारको दिये, वही प्रान्त इस प्रकारकी पाशविक ज्यादतियाँ चुपचाप कैसे सह गया।"[1]

हण्टर-कमेटीके सामने अभी सरकारी गवाहियोंका रुख यही था कि मार्शल लॉ शासनकी तात्कालिक आवश्यकताके लिए जरूरी नहीं था, बल्कि जनताके हृदयमें आतंक जमानेके लिए था जिससे भविष्यमें अशान्तिकी आशंका न रहे।

इंगलैण्डमें भारत सरकारके लिए एक नया बिल पेश था। लार्ड सेलबोर्नकी अध्यक्षतामें लार्ड व कामन सभाकी एक संयुक्त समिति माण्टेगू-चेम्सफोर्ड रिपोर्टपर विचार कर रही थी। इस समिति और ब्रिटिश जनताके समक्ष अपने दृष्टिकोण पेश करनेके लिए कई भारतीय राजनीतिक दलोंने अपने प्रतिनिधिमण्डल वहाँ भेजे, होमरूल लीग दो भागोंमें बँट गयी थी और उसके दो प्रतिनिधिमण्डल गये। कांग्रेसके दिल्लीवाले प्रस्तावसे असहमतिके कारण श्रीमती एनी बेसेण्टने नयी—नेशनल होमरूल लीग बना ली थी। उसके प्रतिनिधिमण्डलकी नेत्री स्वयं श्रीमती बेसेण्ट थीं। कांग्रेसके प्रतिनिधिमण्डलसे और इससे शुरूमें ही मतभेद हो गया। श्रीमती बेसेण्ट माण्टेगू-चेम्सफोर्ड योजनामें थोड़ा बहुत परिवर्तन कर उसे स्वीकार कर लेनेके पक्षमें थीं। कांग्रेस प्रतिनिधिमण्डल दिल्ली प्रस्तावके अनुसार प्रान्तोंमें फौरन पूर्ण उत्तरदायी सरकारोंकी स्थापनाकी माँग कर रहा था। विट्ठल भाई पटेल कांग्रेस प्रतिनिधि-मण्डलके नेता थे। लेकिन ब्रिटिश पार्लामेण्टने जो बिल पास किया वह बहुतसे प्रतिनिधि-मण्डलोंकी एक भी माँगके अनुकूल न था। वास्तवमें वह कानून माण्टेगू-चेम्सफर्ड रिपोर्टसे भी बदतर था।

१९१९ के अमृतसरमें होनेवाले कांग्रेस अधिवेशनके समय ब्रिटिश सरकारने नये सुधारोंकी शाही घोषणा की। अधिवेशनके अध्यक्ष मोतीलाल नेहरूने इन सुधारोंको स्वीकार करनेकी राय दी। आपने कहा—"इन सुधारोंमें खुश होनेकी गुंजाइश नहीं है, पर, वे जो कुछ भी हैं, हमें स्वीकार करना चाहिये।"[2]

देशभरमें लगातार विरोध होते रहनेके कारण मार्शल लॉके अधिकांश बन्दी अधिवेशनके पहले मुक्त कर दिये गये थे। अलीबन्धु भी रिहा कर दिये गये थे और वे सीधे अमृतसर अधिवेशनमें भाग लेने आये। सुधारोंको स्वीकार करनेके पक्षमें गान्धीजी भी थे जो उन्हें असन्तोषजनक मानते थे। तत्सम्बन्धी प्रस्ताव चित्तरंजन दासको पेश करना था, पर वे सुधारोंकी स्वीकृतिके विरुद्ध थे। अधिवेशनमें आये प्रतिनिधि सुधारोंके पक्ष और विपक्षमें बँट गये। गान्धीजीके साथ मदनमोहन मालवीय और मुहम्मद अली जिना थे। जब सभी सोचने लगे थे कि सुधारोंके सवालपर फूट पड़ जायगी, तभी एक संशोधनसे स्थिति सम्हल गयी। प्रस्तावके मूल मसविदेमें दिल्ली अधिवेशनके निर्णयको दोहराते हुए शीघ्र उत्तरदायी शासन कायम करनेकी माँग की गयी थी। संशोधनमें कहा गया था—'इस अधिवेशनका विश्वास है कि उत्तरदायी शासनकी स्थापनातक जनता इन सुधारोंको इस प्रकार और जहाँतक सम्भव है, लागू करेगी कि पूर्ण उत्तरदायी शासनकी स्थापना शीघ्र हो सके।" यह संशोधन पास हो गया।

---

१. गान्धी—'दि स्टोरी आव माई एक्सपेरिमेण्ट्स विथ ट्रुथ' पृष्ठ ५८४

२. मोतीलाल नेहरू—१९१९ के कांग्रेस अधिवेशनमें अध्यक्षपदसे किया गया भाषण

कांग्रेसके इस अधिवेशनमें कुल मिलाकर ५० प्रस्ताव स्वीकृत हुए। इनमें वाइसराय चेम्सफोर्डको विलायत वापस बुलानेकी माँग, माल व्यवस्थाकी जाँच, श्रमस्थिति, रेलके तीसरे दर्जेके मुसाफिरोंकी दुर्दशा जैसे विभिन्न विषयोंके प्रस्ताव भी शामिल थे। इनमेंसे एक प्रस्तावका छोटा-सा इतिहास भी है। विषय समितिमें गान्धीजीने भीड़ोंके उत्पात और हिंसाकी निन्दा करते हुए एक प्रस्ताव पेश किया, जो गिर गया। इसपर गान्धीजीने कहा कि अगर कांग्रेसको यह प्रस्ताव स्वीकार्य नहीं है तो मैं कांग्रेसमें नहीं रह सकूँगा। उनकी बात मान ली गयी। प्रस्तावमें "उस गम्भीर उत्तेजनाको स्वीकार करते हुए जिसके कारण भीड़का आकस्मिक क्रोध फूट पड़ा, अप्रैलमें पंजाब व गुजरातके कुछ स्थानोंमें हुई उन ज्यादतियोंपर कांग्रेसका खेद व निन्दा प्रकट की गयी थी जिनके फलस्वरूप कुछ लोगोंकी जानें गयीं, लोग घायल हुए व सम्पत्तिको क्षति पहुँची।" स्वदेशी सम्बन्धी प्रस्तावमें देशके "हाथकी कताई व बुनाईके प्राचीन उद्योगके पुनरुत्थान"की सिफारिश की गयी थी।

अध्याय १८

खिलाफत व असहयोग आन्दोलन

यहाँ युद्धमें तुर्कीकी हार और 'मित्र राष्ट्रों' की संधि-शर्तोंके अनुसार उसके साम्राज्यके बटवारेकी प्रतिक्रिया भारतमें बहुत गम्भीर हुई। तुर्कीके शाह अब्दुल हमीद आखिरी खलीफा थे। खिलाफतका केन्द्र होनेके नाते तुर्कीके प्रति मुसलमानोंकी आध्यात्मिक आस्था थी। भारतीय मुसलमान तुर्कीके प्रति श्रद्धाका भाव रखते थे और मित्र राष्ट्रों द्वारा हुए तुर्कीके अहितको व्यक्तिगत रूपसे अपना अहित मानते थे। प्रमुख मुसलमानोंने अपनेको तुर्कीके पक्षमें होनेकी घोषणा की थी और इसके लिए वे जेल भी गये थे। भारतीय मुसलमानोंकी आशंका मिटानेके लिए ब्रिटिश प्रधान मन्त्री लायड जार्जने घोषणा की थी कि "तुर्क जातिकी प्रधान आबादीवाले एशिया माइनर व थ्रेसके समृद्ध मैदानोंको तुर्कीसे छीन लेनेके लिए हम नहीं लड़ रहे हैं।" पर यह वादा पूरा नहीं किया गया और तुर्कीके इलाके छीन लिये गये। विरोध और प्रतिरोधकी भावना जितनी भारतीय मुसलमानोंमें पैदा हो गयी, उतनी कहींके मुसलमानोंमें नहीं हुई। पंजाबका क्रोध ठंडा पड़ जानेके बाद जब कांग्रेसकी जाँच जारी थी, तभी दिल्लीमें १९१९ में हिन्दुओं व मुसलमानोंका एक संयुक्त सम्मेलन खिलाफतके प्रश्नपर विचार करनेके लिए बुलाया गया। सम्मेलनके समक्ष मुख्य प्रश्न यह था कि मुस्लिम विरोधका रूप क्या हो, ताकि हिन्दू भी उसमें भाग ले सकें। सम्मेलनमें स्वीकृत प्रस्तावोंमें एक यह भी था कि हिन्दू और मुसलमान विदेशी वस्तुओंका बहिष्कार कर स्वदेशीका व्रत लें। लेकिन खिलाफत आन्दोलनका रूप और दिशा अन्ततः गान्धीजीने तय की। गान्धीजीने कहा "मुसलमानोंने एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकार किया है। यदि संधिकी शर्तें उनके अनुकूल न हों (खुदा न करे कि ऐसा हो) तो वे सरकारसे सहयोग करना बन्द कर देंगे। इस प्रकार सहयोग वापस ले लेना जनताका अधिकार है। हम सरकारी खिताब धारण करते रहने या सरकारी नौकरियाँ करते रहनेको बाध्य नहीं हैं। यदि सरकार खिलाफत जैसे महत्वपूर्ण प्रश्नपर हमें धोखा देती है, तो हम उससे असहयोग करनेको बाध्य हैं। इसलिए धोखा होने पर हमें सरकारसे असहयोग करनेका अधिकार है।" असयोगका शब्द पहली बार गान्धीजीने इसी सम्मेलनमें इस्तेमाल किया था। श्रोता बहुत प्रभावित हुए, सम्मेलन खत्म होने पर भी सभीके कानोंमें उन्हींके शब्द गूँज रहे थे। यह स्पष्ट था कि यदि खिलाफत आन्दोलन चला तो गांधीजी उसका नेतृत्व करेंगे।

इस सम्मेलनमें ही एक अन्य मुस्लिम संस्था—जमैयत-उल-उलेमाए हिन्द—का जन्म हुआ। "उलमाओंकी धारणा थी कि सन् ५७ के विद्रोहमें मुस्लिम धार्मिक नेताओं (मौलवियों व मुल्लाओं) की सामूहिक शक्ति व प्रभाव खत्म हो गये थे, अब उनको फिर एक साथ मिलकर मैदानमें आना चाहिये।" उनका तर्क था कि "मुस्लिम धार्मिक नेता अत्याचारी शासनका सत्यके लिए विरोध करते थे और राजभक्तिकी राजनीतिसे दूर रहते थे। अब चूँकि

मुस्लिम राजनीति सुधर रही है, हम फिर मैदानमें आ रहे हैं।"[1] दिसम्बर १९१९ में कांग्रेस, लीग, खिलाफत और जमैयतका अमृतसरमें संयुक्त सम्मेलन हुआ और उन्होंने प्रकट किया कि राजनीतिक और खिलाफतके मसलोंपर सब मिलकर आन्दोलन करेंगे।

अमृतसर कांग्रेसमें नेताओंने खिलाफतके प्रश्नपर विचार किया। १९ जनवरी १९२० को डाक्टर अंसारीके नेतृत्वमें एक प्रतिनिधिमण्डल वाइसरायसे मिला और उन्हें "तुर्कीके साम्राज्य और खलीफाकी हैसियतसे सुलतानकी सर्वोच्च सत्ता कायम रखनेकी आवश्यकता" समझायी। वाइसरायने कहा कि हमारी सरकार इस मसलेमें कुछ भी कर सकनेमें असमर्थ है। फरवरी १९२० में बम्बईमें दूसरा खिलाफत सम्मेलन हुआ। उसमें भी पुराना निर्णय दोहराया गया। मार्चमें मुहम्मदअलीके नेतृत्वमें एक प्रतिनिधि मण्डल इंग्लैण्ड भेजा गया। वह १७ मार्चको ब्रिटिश प्रधान मन्त्रीसे मिला, पर कोई नतीजा नहीं निकला। प्रधान मन्त्रीके इस इनकारसे भारतमें बड़ी निराशा हुई और १९ मार्चको शोक-दिवस मनानेका निश्चय किया गया। गान्धीजी इस बातपर तैयार हो गये कि यदि तुर्कीसे सन्धिकी शर्तें भारतीय मुसलमानोंको मान्य न हुईं तो वे खिलाफत आन्दोलनका नेतृत्व करेंगे। असलमें गान्धीजीने १० मार्चको ही एक घोषणापत्र प्रकाशित कर दिया था जिसमें उन्होंने असहयोगकी रूप-रेखा और योजना बतायी थी। उन्होंने लिखा था—"जो अधिकार मुसलमानोंके लिए मौत और जिन्दगीके सवालसे ज्यादा महत्व रखते हैं उन्हें छीनकर इंग्लैण्ड हमसे चुपचाप बरदाश्त करते जानेकी आशा नहीं कर सकता। इसलिए हम ऊपर और नीचे दोनों ओरसे काम आरम्भ कर सकते हैं। जो सम्मानित और लाभप्रद पदोंपर हैं वे उन्हें छोड़ दें। जो छोटी सरकारी नौकरियोंपर निम्न कर्मचारी हैं, वे भी ऐसा ही करें। असहयोग प्राइवेट नौकरियोंपर लागू नहीं होता। जो असहयोगमें शामिल नहीं होते उनके बहिष्कारकी राय मैं नहीं दे सकता। असन्तोष और जनभावनाकी परीक्षा स्वेच्छापूर्ण असहयोगमें ही है। फौजी सिपाहियोंसे नौकरी छोड़नेके लिए कहनेका समय अभी नहीं आया है। यह पहला नहीं आखिरी कदम है। यह कदम हम तभी उठा सकते हैं जब वाइसराय, भारत सचिव और प्रधान मन्त्री सभी हमें छोड़ दें। इसके अलावा, असहयोगका हर कदम बहुत सोच विचार कर उठाना है। हमें धीरे-धीरे आगे बढ़ना चाहिये ताकि भीषण उत्तेजनामें भी हम आत्म-नियन्त्रण कायम रख सकें।" १४ मई १९२० को जो शान्ति सन्धिकी शर्तें प्रकाशित हुईं वे खिलाफत और तुर्कीके लिए अपमानजनक थीं। गान्धीजीने घोषणा की कि इन शर्तोंके सुधारके लिए वे असहयोग आन्दोलन संघटित करेंगे। २८ मईको बम्बईमें खिलाफत कमेटीकी जो बैठक हुई उसमें गान्धीजीकी खिलाफत योजना स्वीकार कर ली गयी। ३० मईको अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटीकी बैठक बनारसमें हुई जिसमें असहयोग प्रस्तावपर विचार करनेके लिए कांग्रेसका एक विशेष अधिवेशन बुलानेका निश्चय हुआ।

सरकार कांग्रेस और खिलाफतके नेताओंको सन्देहकी निगाहसे देखने लगी थी। मई १९२० में जवाहरलाल नेहरू (जो उस समय तक राजनीतिमें उतर चुके थे और असहयोग आन्दोलन छिड़नेकी प्रतीक्षा उत्साहपूर्वक कर रहे थे) अपनी बीमार माँ और पत्नीके साथ मसूरी गये हुए थे। "वहाँ उन दिनों अफगान और ब्रिटिश प्रतिनिधियोंके बीच (१९१९ के

१. जमैयतकी उर्दूमें लिखी कारवाई अशोक मेहता व अच्युत पटवर्धनकी 'दि कम्युनल ट्रायंगिल इन इण्डिया' में ३६ वें पृष्ठपर उद्धृत

अफगान-युद्धके बाद) शान्ति-सन्धिपर समझौतेकी बात चल रही थी।" एक शाम अकस्मात् पुलिस कप्तान सरकारका एक पत्र लेकर नेहरूजीके पास पहुँचा और उनसे आश्वासन माँगा कि वे अफगान प्रतिनिधि मण्डलसे सम्पर्क स्थापित नहीं करेंगे। नेहरूजीने लिखा है—"यह मुझे कुछ अजब-सा लगा, क्योंकि एक महीने मसूरी रहनेके बाद भी मैंने इस प्रतिनिधि मण्डलकी सूरत तक नहीं देखी थी।"[1] उन्होंने आश्वासन देनेसे इनकार कर दिया। इसपर उन्हें मसूरी छोड़ देनेका हुक्म मिला। तबतक सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू नहीं हुआ था और नेहरूजी मसूरी छोड़कर चले आये। जब अफगान प्रतिनिधि मण्डलको अखबारोंसे इस घटनाका पता चला, उसने नेहरूजीकी माँ और पत्नीके पास प्रतिदिन फलफूल भेजना शुरू कर दिया। बादमें नेहरूजी अपने पिताके साथ सरकारी आदेशके बावजूद मसूरी गये। पर तबतक आदेश वापस लिया जा चुका था।

देशमें सार्वजनिक आन्दोलनका वातावरण बनता जा रहा था। इस सम्बन्धमें प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियोंकी राय माँगी गयी थी। २ जूनको इलाहाबादमें एक सर्वदल सम्मेलन भी बुलाया गया। कुछ मुस्लिम नेताओं और गान्धीजीकी एक समिति कार्यक्रम तैयार करनेके लिए बनायी गयी। इस कार्यक्रममें स्कूलों और कालेजोंका बहिष्कार भी शामिल था। अगस्तमें असहयोग आन्दोलनकी रूपरेखा स्वीकृत हो गयी और आन्दोलन शुरू हो गया। गान्धीजी और अलीबन्धु देशका दौरा करने निकले। खिलाफत आन्दोलनको १८००० मुसलमानोंकी अफगानिस्तानमें हिजरतसे भी काफी मदद मिली। सिन्धसे उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त तकके मुसलमान दारुलइस्लाम अफगानिस्तान जाने लगे। पर अफगान सरकारने उन्हें घुसने नहीं दिया और उन्हें वापस लौटना पड़ा। बहुतोंकी जान गयी। "पेशावरसे काबुलका रास्ता बच्चों, बूढ़ों और स्त्रियोंकी कब्रोंसे पट गया था जो रास्तेकी तकलीफें बरदाश्त न कर सकनेके कारण वहीं गिर पड़े और फिर उठे नहीं। जब ये लोग लौटे, बेघरबार थे क्योंकि जाते समय अपना माल असबाब व घरबार कौड़ियोंके मोल यहीं बेच गये थे।"[2]

असहयोगके सिलसिलेमें इसी महीने केन्द्रीय विधायिका कौंसिलके कुछ सदस्योंने इस्तीफा दे दिया। इसी बीच पहली अगस्तको तिलककी मृत्यु हो गयी थी।

४ सितम्बरको कलकत्तेमें कांग्रेसका विशेष अधिवेशन असहयोगके विरोधी लाला लाजपतरायकी अध्यक्षतामें शुरू हुआ और ९ सितम्बर तक चला। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियोंने असहयोगके सिद्धान्तका समर्थन करते हुए अपनी राय अखिल भारतीय कांग्रेसके पास भेजी थी; हालाँकि इस सिद्धान्तके व्यवहारपर कुछ मतभेद था। जालियाँवाला बागमें अफसरोंके कुकृत्योंपर परदा डालनेके लिए बनी हण्टर कमेटीकी रिपोर्टने अधिवेशनमें और ज्यादा जान डाल दी। इस कमेटीके सभी सदस्य अंग्रेज थे और कमेटीने बहुमतसे स्वीकार किया था कि "डायरने 'निर्णयमें गम्भीर भूल की जो घटनाकी तर्कसंगत आवश्यकताओंसे कहीं बड़ी थी...कर्त्तव्यकी ईमानदार पर गलत भावनासे प्रेरित होकर उन्होंने ऐसा किया।" इंगलैण्डमें भी अधिकारी इसी प्रकार भारतीयोंके प्रति उदासीन और पंजाबके जघन्य कृत्योंके प्रति सहानुभूतिपूर्ण रवैया अख्तियार कर रहे थे। कांग्रेसने कमेटीकी रिपोर्टको "पूर्णरूपेण अस्वी-

१. जवाहरलाल नेहरू 'आत्मकथा' पृष्ठ ५०

२. 'इण्डिया इन १९२०' पृष्ठ ५२–५३

कार" करते हुए कहा कि रिपोर्ट 'अपूर्ण, एकतरफा और स्वार्थपूर्ण बातोंपर आधारित होनेके कारण अविश्वसनीय और अस्वीकार्य" है। अपने प्रस्तावमें कांग्रेसने कहा—"पंजाबकी घटनाओंपर आवश्यक काररवाई न कर ब्रिटिश मन्त्रिमण्डलने भारतीय जनताका विश्वास खो दिया है।"

अधिवेशनके मुख्य प्रस्तावमें खिलाफत सम्बन्धी अन्यायका संक्षेपमें वर्णन करते हुए, पंजाबमें हुए अत्याचारोंके लिए कहा गया था—"कांग्रेसका मत है कि जबतक इन दो अन्यायोंका प्रतिकार नहीं होता तबतक भारतीयोंको संतोष नहीं होगा, राष्ट्रीय प्रतिष्ठा कायम रखने और ऐसी घटनाओंकी पुनरावृत्ति रोकनेका एक ही प्रभावकारी उपाय है और वह है स्वराज्यकी स्थापना।"...इस अधिवेशनका यह भी मत है कि भारतकी जनताके लिए केवल एक ही रास्ता अब खुला हुआ है; वह है महात्मा गांधी द्वारा शुरू किये गये शान्तिमय असहयोग आन्दोलनकी नीतिको स्वीकार करना और उसका समर्थन करना, इस निरंतर प्रगति करनेवाले आन्दोलनकी नीति तबतक कायम रहेगी जबतक इन दोनों अन्यायोंका प्रतिकार न हो और स्वराज्यकी स्थापना न हो।"

कलकत्ता अधिवेशन कांग्रेसके इतिहासमें इसलिए भी स्मरणीय है कि वहाँ सभी कार्य हिन्दुस्तानीमें करने और स्वदेशी वेश-भूषा अपनानेका निर्णय हुआ था।

इन्हीं दिनों नागपुरमें मुस्लिम लीगका अधिवेशन और खिलाफत सम्मेलन हुआ जिसमें सरकारसे असहयोगका समर्थन करते हुए प्रस्ताव स्वीकृत हुए। इससे एक महीने पहले दिल्लीमें जमैयतका अधिवेशन हुआ था, उसमें भी ऐसा ही निर्णय हुआ था। लीगके अध्यक्ष जिनाने अपने भाषणमें कहा—मिस्टर गान्धीने देशके सामने अपना असहयोगका कार्यक्रम रखा है और खिलाफत सम्मेलनने उसका समर्थन किया है। अब यह आपके ऊपर निर्भर है कि उसके सिद्धान्तको स्वीकार करें या न करें, और सिद्धान्त स्वीकार करनेपर वह कार्यक्रम स्वीकार करें या न करें। यह कार्यक्रम आपमेंसे हर व्यक्तिपर प्रभावकारी होगा, इसलिए अपनी शक्ति तौलकर और प्रश्नकी अच्छाई बुराई देखकर उसपर फैसला करना आपके हाथमें है। लेकिन, एक बार आगे बढ़नेका फैसला कर लेनेके बाद फिर किसी भी हालतमें पीछे लौटनेकी बात नहीं उठनी चाहिये ("नहीं, कभी नहीं" की ध्वनि)।...उधर शिमलाकी ऊँचाइयोंपर आत्मसंतोषसे भरा एक वाइसराय बैठा हुआ है, जो "घर" से हालमें आये ब्रिटिश सरकारके एक 'चार्टर' की ताकतसे सुरक्षित एक बार हम 'अभागे मुसलमानों' से हमदर्दी जाहिर करता है और दूसरी बार महात्मा गान्धीकी 'मूर्खतामें सबसे आगे बढ़ी योजना' पर अफसोस जाहिर करता है। यही वह "बदला हुआ दृष्टिकोण" है जिसकी लड़ाईके उन संकटमय दिनोंमें हम बड़े-बड़े शब्दोंमें तारीफ सुनते थे, जब भारतका सोना और खून माँगा जा रहा था और बदकिस्मतीसे दिया जा रहा था—दिया जा रहा था तुर्कीका विनाश करनेके लिए, दिया जा रहा था रौलट कानूनकी बेड़ियाँ खरीदनेके लिए।"[१]

फिर भी जिना असहयोगके खिलाफ थे। एक वक्त था जब वे कांग्रेस और लीग दोनोंके लोकप्रिय नेता थे, पर वे कभी कांग्रेसमें लौटे नहीं। कलकत्ता अधिवेशनके बाद वे और कुछ अन्य कांग्रेसी नेता कांग्रेससे अलग हो गये। जैसा कि नेहरूजीने लिखा है "कांग्रेस-

१. मुहम्मद नौमानकी 'मुस्लिम इण्डिया' में पृष्ठ १९२ पर उद्धृत

के नये मोड़—असहयोग व नया विधान जिनसे वह अधिक जनप्रिय संस्था बनी, उन्हें कत्तई पसन्द नहीं थे। खादी धारण करनेवाली, हिन्दुस्तानीमें भाषणोंकी माँग करनेवाली भीड़में वे अपनेको बिलकुल अजनबी पाते। एक बार उन्होंने निजी तौरपर सुझाव भी दिया था कि सिर्फ मेट्रिक पास लोग ही कांग्रेसमें लिये जायँ।"[1] इस प्रस्तावका विरोध करनेवालोंमें चित्तरंजनदास, विपिनचन्द्र पाल और मदनमोहन मालवीय भी थे।

असहयोगका नारा सजीव हो चुका था, पर आश्चर्यकी बात है कि नागपुर अधिवेशनके अध्यक्ष सी० विजयराघवाचार्य स्वयं उसके विरुद्ध थे। उन्होंने अपने भाषणमें कहा—"आपको इस बातका निर्णय करना है कि क्या यह हमारा धार्मिक कर्तव्य नहीं है कि जब हम देशके मुसलमानों और गैरमुसलमानोंके एकेपर गर्व करते हैं, हमें असहयोगके सिद्धान्तके कारण दो नये वर्ग नहीं खड़े करने चाहिये—दो ऐसे वर्ग जो इस मतभेदके कारण भावनाके उद्वेग एवं द्वेषसे परस्पर भीषण रूपसे विभाजित हो जायँ। इस आन्दोलनके हमारे अनुभवके अलावा ऐतिहासिक प्रमाण हमें यही बताते हैं कि इस तरहके आन्दोलनमें एक घरेलू संकट छिपा हुआ है—चाहे वह आन्दोलनके सन्त नेताकी इच्छा और आन्दोलनकी प्रस्तावित सीमाके विरुद्ध ही क्यों न हो।"

लेकिन कांग्रेसने निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। "जो वर्ग अभी तक जनमत बनाते और उसका प्रतिनिधित्व करते रहे हैं, उनके द्वारा श्रीगणेश करानेके लिए और चूँकि सरकार अपनी सत्ताको स्कूलों, अदालतों वा विधायिका कौंसिलोंके नियन्त्रण और खिताबों व उपाधियोंके वितरण द्वारा मजबूत बनाती है और चूँकि यह वांछनीय है कि आन्दोलनके उद्देश्यकी पूर्तिके लिए निम्नतम कुरबानी की जाय, इसलिए कांग्रेसका यह अधिवेशन उत्साहपूर्वक अपील करता है कि—

(क) सभी सम्मानित उपाधियों व खिताबों व अवैतनिक पदोंको छोड़ दिया जाय और स्थानिक संस्थाओंके नामजद स्थानोंसे इस्तीफा दे दिया जाय;

(ख) सरकारी हाकिमों या उनके सम्मानमें आयोजित सभी सरकारी व अर्ध सरकारी सम्मेलनों, दरबारों व स्वागत सभाओंमें शामिल होनेसे इनकार कर दिया जाय;

(ग) सरकारी नियन्त्रणवाली या सहायताप्राप्त शिक्षा-संस्थाओंसे धीरे-धीरे अपने बच्चोंको निकाल लिया जाय और उनकी जगह हर सूबेमें राष्ट्रीय स्कूलों व कालेजोंकी स्थापना कर उनमें बच्चोंको पढ़ाया जाय;

(घ) वकील और मुकदमेबाज धीरे-धीरे सरकारी अदालतोंका बहिष्कार करें और निजी विवादोंको सुलझानेके लिए गैरसरकारी पंच-अदालतें कायम करें;

(च) मजदूर, बाबू, फौजी कर्मचारी आदि मेसोपोटामियाँमें नौकरीके लिए भरती होनेसे इनकार करें;

(छ) नये सुधारोंवाली विधायिका कौंसिलोंसे लोग अपनी-अपनी उम्मीदवारी वापस लें और जो उम्मीदवार कांग्रेसकी रायके बावजूद चुनाव लड़ता है, उसे मतदाता वोट न दें;

(ज) विदेशी सामानका बहिष्कार किया जाय।

आखिरी शर्तको व्यावहारिक बनानेके लिए प्रस्तावमें राय दी गयी थी कि लोग

---

१. जवाहरलाल नेहरू 'ऑटोबायोग्राफी' पृष्ठ ६७

स्वदेशी वस्त्रोंका प्रयोग करें और "हर घरमें हाथसे कताई शुरू करनेके लिए बड़े पैमानेपर उद्योग" को प्रोत्साहित किया जाय।

नयी कौंसिलोंके चुनावके ठीक पहले यह प्रस्ताव प्रकाशित हुआ। इससे खलबली मच गयी। जो राष्ट्रीय उम्मीदवार अमृतसर प्रस्तावके अनुसार इन कौंसिलोंके लिए चुनाव लड़ रहे थे, वे फौरन चुनावसे हट गये। लगभग ८० फीसदी मतदाताओंने वोट नहीं डाले और बहुत-सी जगहोंपर बैलटबक्स खाली रह गये। बंगालके प्रसिद्ध वकील चित्तरंजन दास असहयोग आन्दोलनके लिए गान्धीजीके भाषणोंसे प्रभावित नहीं हुए थे, पर उनके निजी सम्पर्कमें आकर उनके विचार बदल गये। दास १९२० के आसपास बंगालके सबसे बड़े नेता माने जाते थे, हालाँ कि वे राजनीतिमें १९१७ में ही आये थे और अपनी मृत्युतक आठ साल राजनीतिमें पूरी तरह रत रहे। दासने कांग्रेसके विशेष अधिवेशनमें असहयोगका कड़ा विरोध किया था और वार्षिक अधिवेशनमें भी कड़ा विरोध करनेका संकल्प प्रकट किया था। नागपुरमें उन्होंने गान्धीजीसे निजी समझौता भी किया था कि दोनों अपने अपने क्षेत्रोंमें अपना अपना प्रचार करनेको स्वतन्त्र होंगे। पर इसके फौरन बाद चित्तरंजन दास गान्धीजीके पूरे अनुयायी हो गये।[1] गान्धीजीका प्रस्ताव अस्वीकार करानेके लिए वे अपने खर्चपर पूर्वी बंगाल और आसामसे लगभग ढाई सौ प्रतिनिधि लाये थे। पर अब ये प्रतिनिधि गान्धीजीके साथ थे। और सबको आश्चर्य हुआ, जब दास स्वयं यह प्रस्ताव पेश करनेके लिए खड़े हुए तथा उसके दूसरे विरोधी लाजपतराय उसका समर्थन करनेके लिए।

कांग्रेस और देशके इतिहासमें नागपुर अधिवेशन एक नया मोड़ था। इस अधिवेशनने जनतासे कहा कि वह अंग्रेजी सत्तासे भय करना छोड़ दे और उससे असहयोग करे। ड्यूक आव कनाट शीघ्र ही भारत आनेवाले थे। उनके स्वागत सम्मानमें होनेवाले आयोजनोंका बहिष्कार करनेकी अपील भी की गयी। कांग्रेसके विधानमें संशोधन कर उसका उद्देश्य बनाया गया—"शान्तिपूर्ण और वैधानिक उपायों द्वारा स्वराज्य प्राप्त करना।" असहयोग आन्दोलन पूर्णरूपेण शान्तिपूर्ण होना था। गान्धीजीने अपने अनुयायियोंसे कहा—मन, कर्म और वचन सबमें अहिंसा बरतो। लेकिन देशको इस नये हथियारका प्रयोग अभी सीखना था और कई जगह सरकारी हिंसाका जवाब और अधिक हिंसासे दिया गया।

असहयोग आन्दोलनको धार्मिक स्वीकृति देनेके लिए जमैयत-उल-उलेमाने 'फतवा' निकालकर मुसलमानोंसे खिताब छोड़ने, स्कूलों व अदालतोंका बायकाट करने और चुनावोंमें भाग न लेनेकी राय दी। इस फतवेपर इस्लामके ४२५ पण्डितोंके हस्ताक्षर थे। बादमें ४७० हस्ताक्षर इसपर और किये गये।

राजनीतिक हलचलका अद्वितीय वर्ष—१९२१ असहयोग आन्दोलनके लिए तिलक स्वराज्य फण्डमें चन्दा देनेकी कांग्रेसकी अपीलसे शुरू हुआ। इस कोषमें पहली बड़ी रकम—एक लाख रुपया देनेवाले जमनालाल बजाज थे, जिन्होंने हालमें ही रावबहादुरी छोड़ी थी। कांग्रेस महासमिति और कार्य-कारिणीकी बैठकें देशको आन्दोलनके लिए तैयार करनेके लिए जल्दी-जल्दी होने लगीं। ३१ मार्चको बेजवाड़ामें महासमिति और कार्य-कारिणीकी संयुक्त बैठक हुई जिसमें तय हुआ कि कोषमें एक करोड़ रुपया जमा किया जाय और कांग्रेसके एक करोड़ सदस्य बनाये जायँ। २० लाख चरखे बाँटनेका प्रस्ताव भी स्वीकृत

1. पृथ्वीशचन्द्र राय 'लाइफ एण्ड टाइम्स ऑव सी. आर. दास'—पृष्ठ १५९

हुआ। यह हाथके कते-बुने कपड़ेका उत्पादन बढ़ानेके लिए था। जुलाईमें बम्बईमें जब फिर संयुक्त बैठक हुई तबतक कोषमें एक करोड़से १५ लाख रुपया अधिक जमा हो चुका था, २० लाख चरखे बँट चुके थे और कांग्रेसके ५० लाख सदस्य बन चुके थे।

लेकिन अखिल भारतीय खिलाफत सम्मेलनमें ८ जुलाईको ही कराचीमें मुसलमानोंने असहयोगका पहला सबक दे दिया जब उन्होंने प्रस्ताव पास किया कि "आजकी हालतमें अंग्रेजी फौजमें भरती होना, रहना या भरती करना मुसलमानोंके लिए मजहबी तौरपर गैर-कानूनी और शरिअतके खिलाफ है। यह हर मुसलमान—खासकर उलेमाओंका फर्ज है कि वह फौजके हर मुसलमानतक यह मजहबी फरमान पहुँचायें।" सम्मेलनने यह भी स्वीकार किया कि यदि ब्रिटिश सरकार तुर्कीके खिलाफ लड़ाई छेड़े तो भारतमें मुसलमान स्वतन्त्रताकी घोषणा कर दें और भारतीय जनतन्त्रका झण्डा कांग्रेसके अगले अधिवेशनमें फहरा दें। सम्मेलनके सभापति मुहम्मदअलीने एक ओजस्वी भाषण किया जो बादमें उनके ऊपर राज-द्रोहके मुकदमेका कारण बना।

२८ से ३० जुलाईतक बम्बईमें कांग्रेस महासमितिकी जो बैठक हुई उसमें भारतीय जनताको राय दी गयी कि "यह हर नागरिकका जन्म-सिद्ध अधिकार है कि वह फौज व सरकारी नौकरीमें किसीके रहने न रहनेपर अपनी राय दे, और फौजियों व सरकारी नौकरोंसे ऐसी सरकारकी नौकरी छोड़ देनेकी अपील करे जो देशकी बहुसंख्यक जनताका विश्वास खो चुकी हो।" महासमितिने "हर कांग्रेस सदस्यसे पहली अगस्तसे विदेशी वस्त्रोंका बहिष्कार" करनेको भी कहा। वस्त्र आयातकोंसे अपील की गयी कि वे विदेशी आर्डर खारिज कर दें। यह भी निश्चय कर लिया गया कि असहयोग आन्दोलनमें भाग लेनेवालोंपर मुकदमें चलें तो वे उन मुकदमोंकी कारवाईमें भाग न लें और जमानत व मुचलके माँगे जानेपर वे भी न दें। हाँ, अदालतोंके सामने वे एक बयान देकर जनताके समक्ष अपनेको निर्दोष साबित कर सकते हैं।

कांग्रेस समितियाँ आन्दोलनकी तैयारियाँ कर रही थीं, तभी सरकारने इसके नेताओं-का असर बढ़ने न देनेका फैसला कर लिया। बेजवाडाकी बैठकके पहले ही चित्तरंजन दास पर मैमनसिंह, राजेन्द्रप्रसादपर आरा, याकूब हसनपर कलकत्ता और लाजपतराय पर पेशा-वरमें न घुसने की पाबन्दी लगा दी गयी थी। इसी प्रकारके आदेश कितने ही स्थानीय नेताओं पर भी लगाये गये थे। लाहौरमें राजद्रोहात्मक सभा कानून लागू किया गया था। कांग्रेसजन पकड़ पकड़ कर जेलोंमें ठूँसे जा रहे थे। सरकार घबड़ायी हुई थी, क्योंकि जन-आन्दोलनका निर्णय अभी न होनेके बावजूद नागपुर अधिवेशनके बाद ही उत्साही लोग सभाएँ व प्रदर्शन करने लगे थे।

"पूरी संयुक्त प्रान्तीय (अब उत्तर प्रदेशीय) कांग्रेस कमेटी (५५ सदस्य) अपनी एक बैठक करते वक्त गिरफ्तार कर ली गयी। जोशमें बहुतसे ऐसे लोगोंने भी गिरफ्तार होने-पर जोर दिया जिन्होंने कांग्रेस या राजनीतिमें भाग नहीं लिया था।"[1] सरकारसे असहयोगकी अपीलका ऐसा तात्कालिक प्रभाव हुआ कि अक्सर दफ्तरोंसे लौटते हुए बाबू उत्साह और उमंगमें बह जाते और घरकी जगह जेल पहुँच जाते थे। "किशोर और नवयुवक पुलिसकी गाड़ियोंमें जा बैठते और उतरनेसे इनकार कर देते। जेलें भर रही थीं और जेल अधिकारी

---

१. नेहरू 'ऑटोबायग्रॉफी', (आत्मचरित्र) पृष्ठ ८०

इस असाधारण घटनासे चकित और किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहे थे। कभी-कभी ऐसा होता कि पुलिसकी लारियाँ एक संख्याके वारण्ट और उससे ज्यादा व्यक्ति लेकर जेल पहुँचतीं। इन वारण्टोंपर नाम भी नहीं होते और जेल अधिकारी यही न समझ पाते कि क्या करें। जेलके नियमोंमें ऐसी स्थितिके लिए कोई व्यवस्था नहीं थी। धीरे-धीरे सरकारने आम गिरफ्तारियोंकी नीति छोड़ दी और सिर्फ चुने हुए लोगोंको पकड़ना शुरू किया।"[1]

संयुक्त प्रान्तमें १९२० के जाड़ेमें तीन किसान नेताओंकी गिरफ्तारीके साथ किसान आन्दोलन शुरू हुआ। "उनपर प्रतापगढ़में मुकदमा शुरू होनेको था। पर सुनवाईके दिन किसानोंकी भीड़ अदालतके मैदानमें भर गयी और अदालतसे जेलतक—जहाँसे अभियुक्त आनेवाले थे, का रास्ता भी किसानोंसे भर गया। मजिस्ट्रेटने सुनवाई अगले दिनके लिए स्थगित कर दी। पर अगले दिन भीड़ और बढ़ गयी और उसने जेलको लगभग घेर लिया। अतः किसान नेता छोड़ दिये गये—सम्भवतः जेलमें ही सरसरी तौरपर मुकदमा करके।"[2] प्रतापगढ़की ही घटनाकी पुनरावृत्ति जनवरी १९२१ में रायबरेलीमें हुई। कुछ किसान नेता गिरफ्तार कर स्थानीय जेलमें रखे गये थे। गिरफ्तारीकी खबर पाते ही बहुतसे गाँवोंके किसान जुलूस बनाकर शहरकी तरफ रवाना हो गये। लेकिन किसानोंकी बड़ी भीड़ शहरके बाहर ही एक छोटी नदीके दूसरी तरफ रोक ली गयी। नेहरू रायबरेलीमें आमन्त्रित थे, और वे फौरन घटनास्थलके लिए रवाना हुए। रास्तेमें उन्हें जिला मजिस्ट्रेटका आदेश मिला कि आप वापस लौट जायँ। आदेशकी पुश्तपर ही नेहरूजीने लिख दिया कि 'मुझे किस कानूनके अन्तर्गत यह आदेश दिया जा रहा है' और आगे बढ़े। नदीके पुलपर उन्हें फौजने रोका। किसान भी उनके आस-पास इकट्ठे हो गये। नेहरूजीने वहाँ भाषण किया। लेकिन नदीके दूसरे तरफ इकट्ठे किसान तितर बितर होनेसे इनकार करते रहे। उनपर गोली चली। कई मारे गये। भीड़ हटानेके लिए नेहरूका एक शब्द काफी होता, पर अधिकारी नेहरूजीको वह नहीं करने देना चाहते थे जिसे करनेमें वे स्वयं असफल हुए थे।

इस तरफ दलित, शोषित किसान उठ रहे थे। "किसान बड़ी संख्यामें ट्रेनोंपर बिना टिकट चलने लगे—खास तौरपर समय-समयपर होनेवाली सार्वजनिक सभाओंमें जिनमें ६०-७० हजार लोगतक भाग लेते थे, वे बड़ी संख्यामें बिना टिकट चलकर जाते। वे खुलेआम रेलवेके अधिकारियोंकी अवज्ञा यह कह कर करते कि अब पुराना जमाना गुजर गया है।"[3] फैजाबादमें कुछ गाँवोंके किसानोंने एक ताल्लुकेदारकी सम्पत्ति लूट ली। उन्हें एक दूसरे जमींदारने भड़काया था जिसने निजी अदावतका बदला लेनेके लिए किसानोंको समझाया कि गान्धीजी यही चाहते हैं। स्पष्ट है कि इन दो तरीकोंके लिए कांग्रेसने कभी स्वीकृति नहीं दी थी। गोलीवर्षा, लाठीचार्ज, गिरफ्तारियाँ सार्वजनिक जीवनकी आम बातें बनती जा रही थीं।

खिलाफतकी गूँज दूर दक्षिणके मलाबार तटपर जा पहुँची और वहाँ मोपलाओंको अंग्रेजी सत्ताके विरुद्ध हिंसात्मक विद्रोह करनेको प्रेरित किया। मोपलाओंका विद्रोह इतना संकल्पपूर्ण था कि मलाबारमें एक बड़े इलाकेपर कई दिनतक अंग्रेजी सत्ता लुप्त रही और

१. नेहरू 'ऑटोबायग्रॉफी', पृष्ठ ८०

२. वही पुस्तक, पृष्ठ ५९

३. वही पुस्तक, पृष्ठ ५९

खिलाफतके शाह मुहम्मद हाजीके नेतृत्वमें खिलाफत राज स्थापित रहा। इस छोटेसे खिलाफत राज्यका अन्त स्वयं मोपलाओंने अपनी धर्मान्धतामें हिन्दुओंके खिलाफ तलवार उठा कर ला दिया। मुसलमानोंकी हैसियतसे वे यह भूल नहीं पाते थे कि हिन्दू काफिर हैं।

मलाबार तटपर ऊँची पहाड़ियों और समुद्रतटके बीच घने वनोंसे आच्छादित छोटी पहाड़ियोंकी श्रृंखलाएँ हैं। यहीं नवीं सदीमें अरबोंने आकर बस्तियाँ बनायी थीं और द्रविड़ व अन्य हिन्दू बालिकाओंसे विवाह कर मोपला समाजको जन्म दिया था। अरब मुसलमानोंके भारतसे व्यापार-सम्बन्ध बहुत पुराने थे। हठी और अविनीत मोपला स्थापित सत्ताके अन्तके लिए हिंसा ही एकमात्र उपाय मानते थे। उन्होंने अस्त्र-शस्त्र इकट्ठे व वितरित करने शुरू कर दिये और लड़ाईकी तैयारी होने लगी। २५ जुलाई सन् १९२१ को अधिकारियोंको इसकी सूचना मिली। तलाशीका हुक्म हुआ। पुक्कोट्टूरमें उपद्रव हो गया और पुलिस पराजित हुई। फौरन बाद पाँच हजार मोपलाओंने परप्पनगडीपर हमला बोल दिया और एक अंग्रेज फौजी अफसर व एक पुलिस अफसरको मार डाला; रेलवेका स्टेशन जला डाला गया, पटरियाँ उखाड़ दी गयीं। दूसरे दिन एक अंग्रेज फौजी टुकड़ी और मोपलाओंमें जमकर संघर्ष हुआ। इस टुकड़ीके हाथ-पाँव थोड़ी देरमें फूल गये और दो अंग्रेज अफसरों व कई सिपाहियोंके खेत रहनेके बाद कमान अफसरने बचावकी लड़ाई लड़नी शुरू कर दी। आसपाससे और फौजी टुकड़ियाँ इस संघर्षमें झोंक दी गयीं, पर विद्रोहियोंने उनके पैर उखाड़ दिये। विद्रोही विजयके उल्लासमें आगे बढ़ते आ रहे थे। अब 'हिमालय और बर्मासे, गुरखों, गढ़वालियों, काचिनोंकी फौजी टुकड़ियाँ भेजी गयीं जिनके हृदयमें इस्लामके अनुरागकी गन्ध भी होनेकी सम्भावना नहीं थी। दूसरे ये लोग जंगल युद्धमें प्रवीण थे। 'पहाड़ी बैटरी'का एक दस्ता भी वहाँ हड़बड़ीमें भेजा गया पर घने जंगलोंमें वह काम न आया। आखिरकार, यह तय हुआ कि बड़ी-बड़ी फौजी टुकड़ियाँ जंगलोंको घेर लें और धीरे-धीरे एक-एक इलाकेको मँझा डालें, जैसे शिकारमें जंगल खँगाये जाते हैं। लेकिन इस तरीके में अक्सर ऐसा होता कि छोटी फौजी टुकड़ी मोपलाओंके बड़े दस्तेके सामने पड़ जाती। बेपूर नदीके किनारे २।८ गुरखा राइफिल्सकी एक टुकड़ी एक मोपला दस्तेके सामने पड़ गयी। मलाबारमें पत्थरकी पुरानी मसजिदोंकी बहुतायत है। ये मसजिदें मोपला विद्रोहके इतिहासमें बड़ा महत्त्व रखती हैं। एक ऐसी ही मसजिदमें ५६ मोपला विद्रोही छिपे थे। गुरखा टुकड़ीके एक अफसर और छः सिपाहियोंकी मौत और दो अफसरों व १० सिपाहियोंके बुरी तरह घायल होनेके बाद ही मसजिदपर कब्जा हो सका। डटकर सामना करते हुए सभी मोपला मारे गये।

"उत्तेजित मोपलाओंका सामना करना कितना मुश्किल था, यह बतानेके लिए पण्डिक्काड चौकीके हमलेका उदाहरण काफी होगा। यहाँ चौकीपर दो तरफसे हमला हुआ। मोपलाओंके कमसे कम ६७ और अधिकसे अधिक १५० लोग खेत रहे, पर उस चौकीका एक अंग्रेज अफसर व आठ सिपाही मारे गये और दो अफसर व १७ सिपाही घायल हुए। ७ जनवरी सन् १९२२ को खिलाफतके शाह, मुहम्मद हाजी और उनके २१ अनुयायियोंको पकड़कर फौजी अदालतके हुक्मसे गोलीसे उड़ा दिया गया, छः मोपला २० जनवरीको गोलीसे उड़ा दिये गये। विद्रोहका यहीं अन्त नहीं हुआ, जनवरीके अन्ततक बहुतसे और मोपला पकड़कर विशेष अदालतोंके समक्ष पेश किये गये।"[१]

१. लेफ्टिनेण्ट; जनरल सर जार्ज मेकमन—'टरमॉइल एण्ड ट्रेजेडी इन इण्डिया इन १९१४ एण्ड आफ्टर' पृष्ठ २४८-४९

यह विद्रोह कितना व्यापक और बड़ा था इसका अनुमान इससे लग सकता है कि "उसमें २२६६ विद्रोही संघर्षमें मारे गये, १६१५ घायल हुए, ५६८८ पकड़े गये और ३८२५६ ने हथियार डाल दिये।"[1]

अब सरकारी प्रतिशोध शुरू हुआ। मोपला कैदियोंको फौजी अदालतोंके सामने पेश किया जाता, फैसला होता और वे गोलीसे उड़ा दिये जाते। दमनका सबसे क्रूर इतिहास सम्भवतः एक मालगाड़ीमें लिखा गया। लगभग ७० (एक कथनके अनुसार १००) मोपला बन्दी एक मालगाड़ीके एक डिब्बेमें बन्दकर कालीकटसे मद्रास लाये जा रहे थे। दक्षिण भारतकी गर्मी और लोहेका बन्द डिब्बा। जब पोदानूर स्टेशनपर डिब्बा खोला गया, ६६ बन्दी दम घुटनेके कारण मर चुके थे और शेष मरणासन्न थे।

अपढ़ मोपले अंग्रेजोंके विरुद्ध विद्रोह करते समय गाजी और 'धर्मप्रवर्तक' बनने लगे थे। वे हिन्दुओंको बर्बरतासे मार डालते या जबरदस्ती उनका खतना कर उन्हें मुसलमान बना लेते। वे समझते थे कि खिलाफत कायम करनेका यही तरीका है। अपने व्यावहारिक जीवनमें वे हिन्दू जमींदारोंके दुश्मन बन गये थे। जैसा कि स्मिथने लिखा है "मोपलाओंके जीवनमें कडुआहट थी; वे हिन्दुओंके दुश्मन थे; वे अंग्रेजोंके दुश्मन थे; वे इस दुनियाके दुश्मन थे जिसने उन्हें इतने कष्ट दिये। उनकी धुन, उनकी ललक, उनकी व्यग्रता उस पीड़ित शोषित समाजकी व्यग्रता थी जो अपने उत्पीड़कके विरुद्ध विद्रोह कर रहा हो, उस समाजकी व्यग्रता थी जो धर्मान्ध हो पापको नष्ट कर सत्य और अच्छाईका राज्य स्थापित कर रहा हो।"[2] कांग्रेस वर्किंग कमेटीके अनुसार "एक ऐसे धर्मान्ध गिरोह द्वारा हिन्दुओंको बलात् मुस्लिम बनाया गया जो हमेशा खिलाफ़त और असहयोग आन्दोलनके विरुद्ध रहा, और जहाँतक हमारी सूचना है, सिर्फ ऐसी तीन ही घटनाएँ हुईं। लेकिन एक प्रश्नके उत्तरमें मद्रास सरकारकी सूचनाके आधारपर केन्द्रीय विधान सभामें बताया गया कि "बलात् धर्म परिवर्तनकी सम्भवतः हजारों घटनाएँ हुईं पर प्रत्यक्ष कारणोंसे सही अनुमान लगाना असम्भव होगा।"[3] कांग्रेस कार्यसमिति (वर्किंग कमेटी) ने मोपला हिंसाकी निन्दा की और एक प्रस्तावमें कहा कि "उपद्रव उन्हीं इलाकोंमें हुए जहाँ खिलाफत व कांग्रेसके कामोंपर रोक लगी हुई थी।"

लेकिन अंग्रेजोंका विरोध मोपला क्षेत्रोंमें ही सीमित नहीं था। मद्रासके गवर्नर विलिंगडनने १ सितम्बर १९२१ को मद्रास विधायिका कौंसिलमें कहा—"मलाबारमें तो स्थिति गम्भीर है ही, मैं माननीय सदस्योंको यह चेतावनी दे देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ कि मलाबार ही सरकारी चिन्ताका कारण नहीं है। 'सरकारों'के पूरे इलाके—खास तौरपर मुहानोंके क्षेत्रोंमें वही कपटपूर्ण प्रचार वैधानिक सत्ताको खोखला करनेके लिए, जातिविद्वेष पैदा करनेके लिए, जनतामें असहिष्णुता और वैधानिक सत्ताके विरुद्ध घृणा पैदा करनेके लिए काम करता रहा है।"

सितम्बरमें कराचीके खिलाफत सम्मेलनके भाषणों और प्रस्तावोंके लिए अलीबन्धु व पाँच अन्य व्यक्ति पकड़े गये। वे पाँच थे डाक्टर सैफुद्दीन किचलू, जगद्गुरु शंकराचार्य

१. वही पुस्तक पृष्ठ २५०
२. डब्लू. सी. स्मिथ 'मॉडर्न इस्लाम इन इण्डिया' पृष्ठ २३५
३. विधान सभाकी कारवाई १६ जनवरी सन् १९२२

(शारदा पीठ), निसार अहमद, पीर गुलाम मुजाहिद और हुसैन अहमद। वे कराचीके एक मजिस्ट्रेटके समक्ष पेश हुए और उन्हें दो-दो वर्षकी कैदकी सजाएँ दे दी गयीं। मुहम्मद-अलीने अपने बयानमें कहा—'आखिरकार, इस मुकदमेंके मतलब क्या हैं ? किसके विश्वाससे हम भारतके हिन्दू और मुसलमान बँधे हुए हैं ? मैं एक मुसलमानकी हैसियतसे कहता हूँ कि अगर मैं सही रास्तेसे हटता हूँ तो मुझे मेरी गलती समझानेके लिए एक ही रास्ता है, और वह है कुरान पाक।"

जब कराचीका मुकदमा चल रहा था, गान्धीजी त्रिचनापल्लीमें थे। जब उन्होंने सुना कि मुहम्मदअलीका भाषण उनके विरुद्ध एक अभियोग है, गान्धीजीने वह भाषण एक सार्वजनिक सभामें दोहराया। कांग्रेस कार्यकारिणीने भी ५ अक्टूबरकी अपनी बैठकमें खिलाफत सम्मेलनका प्रस्ताव पास किया और सभी कांग्रेस समितियोंसे सार्वजनिक सभाओंमें यही प्रस्ताव पास करनेको कहा। कांग्रेस कमेटियोंने १६ अक्टूबरको सार्वजनिक सभाएँ कर यह प्रस्ताव दोहराया। प्रस्तावमें कहा गया था कि "यह राष्ट्रहित और राष्ट्रप्रतिष्ठाके विरुद्ध है कि कोई भारतीय ऐसी सरकारकी नौकरीमें रहे जिसने जनताकी सही माँगोंको कुचलनेके लिए रौलट कानून आन्दोलनके समय पुलिस और फौजको इस्तेमाल किया हो, जिसने मिस्र, तुर्की, अरब व दूसरे देशोंकी राष्ट्रीय भावना कुचलनेके लिए फौजोंका प्रयोग किया हो।" कार्यसमिति सरकारी नौकरी छोड़नेवालोंके भरणपोषणका प्रबन्ध नहीं कर सकती थी, इसलिए उसने सिर्फ उन्हींको नौकरी छोड़नेको कहा जो बिना नौकरीके काम चला सकें। पुलिस व फौजके सिपाहियोंको सुझाव दिया गया कि वे जीविकाके लिए कताई-बुनाई आदिका सहारा लें।

कार्यसमिति अब भी आम सविनय अवज्ञा आन्दोलनके लिए उपयुक्त समय आया नहीं मानती थी, लेकिन उसने उन व्यक्तियोंको अवज्ञा करनेको अनुमति दे दी थी जिनके स्वदेशी प्रचारपर प्रतिबन्ध लगाये जाते थे। अगले महीने—५ नवम्बरको कार्यसमितिने प्रान्तोंको अपनी जिम्मेदारीपर सविनय अवज्ञा आन्दोलन छेड़ देनेकी अनुमति दे दी। इसमें लगान व करबन्दी भी शामिल थी। कुछ शर्तें लगा दी गयीं जिन्हें हर सविनय अवज्ञाकारीको पूरा करना होता था। ये शर्तें थीं—वह विदेशी वस्त्र त्यागकर खद्दर धारण करे; वह कताई जानता हो; वह अहिंसा और हिन्दू मुस्लिम एकतामें विश्वास करता हो; वह अस्पृश्यता और छुआछूत दूर करनेके लिए काम करता हो।

नवम्बरके मध्यमें सविनय अवज्ञाकी जगह भीषण हिंसा हो गयी। १७ नवम्बरको ब्रिटिश युवराज प्रिंस आव वेल्स बम्बई आये। कांग्रेसने पहले ही स्वागत सम्मान आदिका बहिष्कार करनेकी सलाह दे दी थी। बम्बई शहरमें इस बहिष्कारको सफल बनानेके लिए बड़ी चहलपहल रही। हजारों उत्तेजित व्यक्ति सड़कों व गलियोंमें घूमते। भीड़ बढ़कर नियन्त्रणके बाहर हो जाती। चार दिनतक मुठभेड़ें होती रहीं। उपद्रव हुए और रक्तपात हुआ जिसमें ५३ मरे और ४०० घायल हुए।

स्वयंसेवकोंकी सक्रियता युवराजके आगमनके साथ एकाएक बढ़ गयी, क्योंकि कांग्रेस और खिलाफतके स्वयंसेवकोंके द्वारा ही बहिष्कारका संयोजन होना था। युवराज २५ दिसम्बरको कलकत्ते पहुँचनेवाले थे। वहाँ अधिकारी स्वयंसेवकोंसे आशंकित हो उठे। स्वयंसेवक संघटन गैरकानूनी करार दे दिया गया और इसकी सरकारी घोषणाके साथ ही बंगालभर-

में हजारों स्वयंसेवक गिरफ्तार कर लिये गये। इनमें चित्तरंजन दासकी पत्नी और बहन भी थीं। उसके बाद सरकारने आम गिरफ्तारियोंकी नीति अपनायी और लाजपतराय, मोतीलाल नेहरू, चित्तरंजन दास, जवाहरलाल नेहरू आदि सब जेलोंमें भर दिये गये। जेलमें दासके साथ ही सुभाषचन्द्र बसु भी थे जो भविष्यमें महान नेता बने। युवराजके आगमन पर शान्ति कायम रखनेके लिए दिसम्बरतक देशमें २०००० राजनीतिक कार्यकर्त्ता गिरफ्तार किये जा चुके थे। १९२२ के शुरूमें यह संख्या ३०००० तक जा पहुँची थी।

नेहरूजी हड़तालकी नोटिस बाँटनेके अभियोगमें पकड़े गये थे। पर जेलमें तीन महीने बाद उन्हें सूचना मिली कि मुकदमेपर पुनर्विचार करनेवाले अधिकारीके अनुसार उन्हें गलत सजा मिल गयी। उन्हें मुक्त कर दिया गया। पर कुछ ही दिनों बाद कुछ और लोगोंके साथ वे भी 'धमकी देने और रुपया वसूल करने'के अभियोगमें गिरफ्तार कर लिये गये। वे बहिष्कार आन्दोलनके काममें लगे थे और इलाहाबादके व्यापारी विलायती कपड़ा न खरीदने और न मँगानेकी शपथें ले रहे थे।

सरकार तथा कुछ अन्य व्यक्तियोंको डर था कि युवराजके कलकत्ते पहुँचने पर स्थिति कहीं गम्भीर न हो जाय। ये लोग गान्धीजी और वाइसरायके बीच समझौता करानेको उत्सुक थे। जिना और मालवीय मध्यस्थ बन २१ दिसम्बरको वाइसराय लार्ड रीडिंगसे मिले। बातचीतकी पहली शर्त राजनीतिक कैदियोंकी रिहाई थी; लार्ड रीडिंग इसके लिए तैयार थे पर वे कुछ राजनीतिक बन्दियोंको, जैसे कि खिलाफत बन्दियोंको, नहीं छोड़ना चाहते थे। बातचीत भंग हो गयी और देशमें युवराजके स्वागतका बहिष्कार हुआ। कलकत्तेमें सारा काम, बाजार, व्यापार बन्द रहा और शहर वीरान-सा लगता रहा। इसी तरहकी हड़तालें और प्रदर्शन दूसरे शहरों व कस्बोंमें भी हुआ।

उसके बाद अहमदाबादमें कांग्रेस अधिवेशन हुआ। अध्यक्ष चित्तरंजन दास चुने गये थे, पर वे जेलमें थे, इसलिए हकीम अजमल खाँ अध्यक्ष बने। वे दिल्लीके नामी हकीम थे और देश-विदेश घूमे हुए थे। गान्धीजीके प्रभावमें आकर उन्होंने शेष जीवन देशको अर्पित कर दिया था। प्रिंस आव वेल्सके आगमनके सम्बन्धमें अजमल खाँने कहा—"युवराजसे हमारी कोई दुश्मनी या झगड़ा नहीं है, लेकिन हम यह नहीं चाहते कि दिवालिया सरकार युवराजके आगमनका सहारा लेकर अपनी साख कायम करनेकी कोशिश करे।" मोपलाओं द्वारा हिन्दुओंके बलात् धर्म-परिवर्तनकी उन्होंने निन्दा की। चित्तरंजन दासका लिखा हुआ भाषण श्रीमती सरोजिनी नायडूने पढ़ा। इस भाषणमें १९१९ के भारत कानून (गवर्नमेण्ट आव इण्डिया ऐक्ट) पर देशका असन्तोष व्यक्त किया गया था और कहा गया था कि ब्रिटेनको भारतीय सहयोग तभी प्राप्त होगा जब वह भारतका स्वाधीनताका अधिकार स्वीकार कर ले।

कांग्रेसने कार्यसंचालनका पूरा भार गान्धीजीको दे दिया और उन्हें कांग्रेस महासमितिके पूरे अधिकार भी दे दिये। गान्धीजीका प्रस्ताव अधिवेशनका मुख्य प्रस्ताव था जिसमें भावी आन्दोलनकी रूपरेखा इंगित की गयी थी। प्रस्तावमें कहा गया था कि जहाँतक सम्भव हो कांग्रेसके अन्य काम स्थगित कर दिये जायँ और १८ वर्षसे ऊपरके सभी सदस्य स्वयंसेवक बन जायँ। कांग्रेसकी राय थी कि हर जगह सभाओंपर लगी रोकका उल्लंघन कर सभाएँ की जायँ। पर ये सभाएँ कांग्रेसके कठोर अनुशासनमें हों; पहलेसे जिनके

नाम घोषित हों वे ही लिखित भाषण करें, भाषणोंमें उत्तेजना या हिंसाको बिलकुल बचाया जाय। १८ वर्षसे बड़े छात्रों—विशेषकर राष्ट्रीय संस्थाओंके छात्रों व अध्यापकोंसे स्वयंसेवक बननेकी अपील की गयी। प्रस्तावमें "अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलनके कार्यक्रमको पहलेसे और अधिक गतिमान् व शक्तिमान् बनाकर उस ढंगसे चलानेका कांग्रेसका दृढ़ संकल्प" दोहराया गया था जिस ढंगसे प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियाँ उसे चलानेका निर्णय करें। दूसरे प्रस्तावमें उन लोगोंको सम्बोधित किया गया था जिन्हें असहयोगमें पूरा विश्वास न था। इन लोगोंसे अपील की गयी थी कि वे गरीब जनतामें कपास ओटने, बुनने व कातनेका प्रचार कर उनकी स्थितिके सुधारमें सहायता दें।

इस अधिवेशनमें हसरत मोहानीने एक प्रस्ताव लाकर स्वराज्यकी परिभाषा 'पूर्ण स्वाधीनता—विदेशी नियन्त्रणसे बिलकुल स्वतन्त्र' करनी चाही। पर गान्धीजीके जोर देने पर प्रस्ताव गिर गया। गान्धीजीने कहा—"दुनियाके सोचने-समझनेवाले लोग कहेंगे कि हम खुद नहीं जानते कि हम हैं क्या। हमें अपनी सीमाएँ भी जान लेनी चाहिये। पहले हिन्दुओं और मुसलमानोंमें पूर्ण और अविच्छिन्न एकता हो जाने दीजिये। आज यहाँ कौन है जो विश्वासके साथ कह सके कि—'हाँ, भारतीय राष्ट्रीयतामें अविभेद्य हिन्दू-मुस्लिम एकता पैदा हो गयी है। पहले हम अपनी ताकत समझ लें और उसे मजबूत कर लें; 'पहले हम अपनी गहराई नाप लें; हम ऐसे गहरे पानीमें न उतरें जिसकी गहराई ही हमें नं मालूम हो और हसरत मोहानी साहबका प्रस्ताव हमें नामालूम गहराईमें ही ले जाता है।" गान्धीजीके भाषणके बाद हसरत मोहानीके प्रस्तावको काफी समर्थन प्राप्त नहीं हुआ और वह गिर गया।

१९२१ में हसरत मोहानी लीगके अध्यक्ष हुए थे। वहाँ भी उन्होंने मुस्लिम श्रोताओंके समक्ष यही प्रस्ताव और अधिक ठोस रूपमें, और अधिक जोरके साथ पेश किया; इसपर उन्हें जेल हो गयी। उन्होंने कहा—

"१ जनवरी सन् १९२२ को भारतीय लोकतन्त्र—भारतके संयुक्त राज्यकी स्थापनाकी घोषणा कर दी जाय। मुस्लिम लीग कमजोर है। लेकिन लीग, कांग्रेस और खिलाफत कानफरेंसके ध्येय एक ही हैं। फर्क सिर्फ इतना है कि लीग सिर्फ मुसलमानोंके हकोंकी हिफाजत करना चाहती है। जरूरत इस बातकी है कि पहले स्वराज्य प्राप्त कर लिया जाय; हकोंकी हिफाजत बादमें होती रहेगी। लेकिन लीगका बहुमत दूसरी विचारधाराका है। अगर सरकार पंजाब और खिलाफतके मसलोंको न सुलझाये तो लीगका लक्ष्य पूर्ण स्वतन्त्रतासे भी आगे बढ़ना चाहिये।

"मुसलमानोंको समझना चाहिये कि भारतीय जनतन्त्रकी स्थापनासे उनका दोहरा फायदा होगा; एक तो जनतान्त्रिक राज्यके नागरिकोंकी हैसियतसे उन्हें वे ही फायदे और हक मिलेंगे जो दूसरे नागरिकोंको; और दूसरे अंग्रेजोंका प्रभावक्षेत्र कम हो जानेसे इस्लामी दुनियाको वह राहत मिल जायगी जो रचनात्मक कामोंके लिए जरूरी है।"[1]

मोहानीका प्रस्ताव विषय-समिति और खुले अधिवेशन दोनोंमें गिर गया। ठण्डी पड़ती और पीछे हटती हुई लीगपर प्रस्ताव जैसे बमके गोलेकी तरह गिरा। १९२१ में लीगने असहयोग सम्बन्धी कोई प्रस्ताव पास नहीं किया। सात सालतक लीग और कांग्रेस साथ-

---

१. उर्दू भाषणका अनुवाद

साथ आगे बढ़ी थीं, पर अब जब असहयोग एक सत्य बन गया था, लीगने अपना अधिवेशन भी उसी शहरमें नहीं किया, जहाँ कांग्रेस हो रही थी। सात साल तक दोनोंके वार्षिक अधिवेशन एक साथ होते रहे थे। जैसा कि हसरत मोहानीने कहा था, लीगके अधिकांश लोग दूसरी विचारधाराके थे और वे सविनय अवज्ञा आन्दोलनकी आगमें नहीं कूदना चाहते थे। १९२२ में तो ऐसा लगा मानों लीगकी जीवनी शक्ति ही क्षीण हो रही हो, उस साल कोई वार्षिक अधिवेशन ही नहीं हुआ। १९२३ में लखनऊमें जो वार्षिक अधिवेशन हुआ उसमें इतने कम आदमी आये कि खुला अधिवेशन ही नहीं हो पाया। अगले तीन अधिवेशनोंमें राजनीतिकी जगह साम्प्रदायिक बातोंपर ही विचार होता रहा।

१९२२ की जनवरीके मध्यमें आन्दोलन टालनेके लिए सरकार और कांग्रेसमें समझौतेकी एक कोशिश और की गयी। बम्बईमें एक सर्वदल सम्मेलन हुआ जिसमें विभिन्न पार्टियोंके लगभग ३०० प्रतिनिधियोंने भाग लिया। तीन दिनकी बैठकमें (१४ से १६ जनवरी तक) सम्मेलनने संधिका एक मसौदा तैयार किया जिसपर सरकार और कांग्रेस दोनोंके दस्तखत होने थे। सम्मेलनके प्रस्तावमें (१) सरकारकी दमननीतिकी निन्दा की गयी थी, (२) खिलाफत, पंजाब हत्याकांड और स्वराज्यके प्रश्नोंपर एक गोलमेज सम्मेलन बुलानेका सुझाव दिया गया था और इस गोलमेज सम्मेलनके लिए उचित वातावरण तैयार करनेके लिए सभी राजनीतिक बन्दियोंकी रिहाई और प्रतिबन्धात्मक आदेशोंके हटानेकी माँग की गयी थी। कांग्रेस कार्यसमितिने १७ जनवरीकी बैठकमें सरकारसे सन्धिके लिए तैयार होनेकी घोषणा की और आन्दोलन महीनेके अन्ततक शुरू न करनेका फैसला किया।

गान्धीजीने वाइसरायसे दोस्तीके लिए अपना हाथ आगे बढ़ाया, हालाँकि इससे आन्ध्रमें लगानबन्दी आन्दोलनका कार्यक्रम बिगड़ रहा था। आन्ध्र प्रान्तीय कांग्रेस कमेटीने करबन्दीका फैसला १५ दिसम्बर १९२१ को ही कर लिया था। जनवरीमें वहाँके जिले आवश्यक सूचना एकत्र करनेमें लगे थे, जब गुण्टूरने करबन्दी आन्दोलनका श्रीगणेश भी कर दिया। पूरा जिला कांग्रेसकी आवाजपर एकदम उठ खड़ा हुआ; मैदानोंमें लोगोंने लगान रोक लिया; पहाड़ियोंपर जानवर चरानेकी फीस रोक ली। जो किसान अब भी ऊहापोहमें लगे थे उन्हें एक घटनासे मनोवैज्ञानिक प्रेरणा मिली। पुलिसके एक दारोगाने किसी गाँवके एक प्रमुख किसानको गोलीका निशाना बना दिया। इसपर गाँववाले उभर पड़े और फौज व पुलिसका आतंक भी उनसे लगान-अदा न करवा सका। गान्धीजीने सोचा कि आन्ध्रका करबन्दी आन्दोलन सर्वदल सम्मेलनके प्रस्तावके वातावरणमें खपता नहीं। इसलिए उन्होंने राय दी कि सभी कर २५ जनवरीतक अदा कर दिये जायँ और वे अदा कर दिये गये। लेकिन वाइसराय सन्धि प्रस्तावके लिए तैयार नहीं हुए, उन्होंने बात किये बिना ही उन्हें ठुकरा दिया।

कांग्रेस कार्यसमितिने ३१ जनवरीको परिस्थितिका सिंहावलोकन करते हुए सार्वजनिक सविनय अवज्ञा आन्दोलनको गुजरातके बारदोली तालुकेमें सीमित करनेका फैसला किया, क्योंकि वहाँ दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहके बहुतसे अनुभवी लोग मौजूद थे। २९ जनवरीको विट्ठलभाई पटेलके सभापतित्वमें एक तालुका सम्मेलन हुआ जिसमें आन्दोलनके लिए तैयारी प्रकट की गयी। देशभरमें कहीं और करबन्दी आन्दोलन चलानेकी इजाजत नहीं

नाम घोषित हों वे ही लिखित भाषण करें, भाषणोंमें उत्तेजना या हिंसाको बिलकुल बचाया जाय। १८ वर्षसे बड़े छात्रों—विशेषकर राष्ट्रीय संस्थाओंके छात्रों व अध्यापकोंसे स्वयंसेवक बननेकी अपील की गयी। प्रस्तावमें "अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलनके कार्यक्रमको पहलेसे और अधिक गतिमान् व शक्तिमान् बनाकर उस ढंगसे चलानेका कांग्रेसका दृढ़ संकल्प" दोहराया गया था जिस ढंगसे प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियाँ उसे चलानेका निर्णय करें। दूसरे प्रस्तावमें उन लोगोंको सम्बोधित किया गया था जिन्हें असहयोगमें पूरा विश्वास न था। इन लोगोंसे अपील की गयी थी कि वे गरीब जनतामें कपास ओटने, बुनने व कातनेका प्रचार कर उनकी स्थितिके सुधारमें सहायता दें।

इस अधिवेशनमें हसरत मोहानीने एक प्रस्ताव लाकर स्वराज्यकी परिभाषा 'पूर्ण स्वाधीनता—विदेशी नियन्त्रणसे बिलकुल स्वतन्त्र' करनी चाही। पर गान्धीजीके जोर देने पर प्रस्ताव गिर गया। गान्धीजीने कहा—"दुनियाके सोचने-समझनेवाले लोग कहेंगे कि हम खुद नहीं जानते कि हम हैं क्या। हमें अपनी सीमाएँ भी जान लेनी चाहिये। पहले हिन्दुओं और मुसलमानोंमें पूर्ण और अविच्छिन्न एकता हो जाने दीजिये। आज यहाँ कौन है जो विश्वासके साथ कह सके कि—'हाँ, भारतीय राष्ट्रीयतामें अविभेद्य हिन्दू-मुस्लिम एकता पैदा हो गयी है। पहले हम अपनी ताकत समझ लें और उसे मजबूत कर लें; पहले हम अपनी गहराई नाप लें; हम ऐसे गहरे पानीमें न उतरें जिसकी गहराई ही हमें न मालूम हो और हसरत मोहानी साहबका प्रस्ताव हमें नामालूम गहराईमें ही ले जाता है।" गान्धीजीके भाषणके बाद हसरत मोहानीके प्रस्तावको काफी समर्थन प्राप्त नहीं हुआ और वह गिर गया।

१९२१ में हसरत मोहानी लीगके अध्यक्ष हुए थे। वहाँ भी उन्होंने मुस्लिम श्रोताओंके समक्ष यही प्रस्ताव और अधिक ठोस रूपमें, और अधिक जोरके साथ पेश किया; इसपर उन्हें जेल हो गयी। उन्होंने कहा—

"१ जनवरी सन् १९२२ को भारतीय लोकतन्त्र—भारतके संयुक्त राज्यकी स्थापना-की घोषणा कर दी जाय। मुस्लिम लीग कमजोर है। लेकिन लीग, कांग्रेस और खिलाफत कानफरेंसके ध्येय एक ही हैं। फर्क सिर्फ इतना है कि लीग सिर्फ मुसलमानोंके हकोंकी हिफाजत करना चाहती है। जरूरत इस बातकी है कि पहले स्वराज्य प्राप्त कर लिया जाय; हकोंकी हिफाजत बादमें होती रहेगी। लेकिन लीगका बहुमत दूसरी विचारधाराका है। अगर सरकार पंजाब और खिलाफतके मसलोंको न सुलझाये तो लीगका लक्ष्य पूर्ण स्वतन्त्रतासे भी आगे बढ़ना चाहिये।

"मुसलमानोंको समझना चाहिये कि भारतीय जनतन्त्रकी स्थापनासे उनका दोहरा फायदा होगा; एक तो जनतान्त्रिक राज्यके नागरिकोंकी हैसियतसे उन्हें वे ही फायदे और हक मिलेंगे जो दूसरे नागरिकोंको; और दूसरे अंग्रेजोंका प्रभावक्षेत्र कम हो जानेसे इस्लामी दुनियाको वह राहत मिल जायगी जो रचनात्मक कामोंके लिए जरूरी है।"[1]

मोहानीका प्रस्ताव विषय-समिति और खुले अधिवेशन दोनोंमें गिर गया। ठण्डी पड़ती और पीछे हटती हुई लीगपर प्रस्ताव जैसे बमके गोलेकी तरह गिरा। १९२१ में लीगने असहयोग सम्बन्धी कोई प्रस्ताव पास नहीं किया। सात सालतक लीग और कांग्रेस साथ-

---

१. उर्दू भाषणका अनुवाद

साथ आगे बढ़ी थीं, पर अब जब असहयोग एक सत्य बन गया था, लीगने अपना अधिवेशन भी उसी शहरमें नहीं किया, जहाँ कांग्रेस हो रही थी। सात साल तक दोनोंके वार्षिक अधिवेशन एक साथ होते रहे थे। जैसा कि हसरत मोहानीने कहा था, लीगके अधिकांश लोग दूसरी विचारधाराके थे और वे सविनय अवज्ञा आन्दोलनकी आगमें नहीं कूदना चाहते थे। १९२२ में तो ऐसा लगा मानों लीगकी जीवनी शक्ति ही क्षीण हो रही हो, उस साल कोई वार्षिक अधिवेशन ही नहीं हुआ। १९२३ में लखनऊमें जो वार्षिक अधिवेशन हुआ उसमें इतने कम आदमी आये कि खुला अधिवेशन ही नहीं हो पाया। अगले तीन अधिवेशनोंमें राजनीतिकी जगह साम्प्रदायिक बातोंपर ही विचार होता रहा।

१९२२ की जनवरीके मध्यमें आन्दोलन टालनेके लिए सरकार और कांग्रेसमें समझौतेकी एक कोशिश और की गयी। बम्बईमें एक सर्वदल सम्मेलन हुआ जिसमें विभिन्न पार्टियोंके लगभग ३०० प्रतिनिधियोंने भाग लिया। तीन दिनकी बैठकमें (१४ से १६ जनवरी तक) सम्मेलनने संधिका एक मसौदा तैयार किया जिसपर सरकार और कांग्रेस दोनों के दस्तखत होने थे। सम्मेलनके प्रस्तावमें (१) सरकारकी दमननीतिकी निन्दा की गयी थी, (२) खिलाफत, पंजाब हत्याकांड और स्वराज्यके प्रश्नोंपर एक गोलमेज सम्मेलन बुलानेका सुझाव दिया गया था और इस गोलमेज सम्मेलनके लिए उचित वातावरण तैयार करनेके लिए सभी राजनीतिक बन्दियोंकी रिहाई और प्रतिबन्धात्मक आदेशोंके हटानेकी माँग की गयी थी। कांग्रेस कार्यसमितिने १७ जनवरीकी बैठकमें सरकारसे सन्धिके लिए तैयार होनेकी घोषणा की और आन्दोलन महीनेके अन्ततक शुरू न करनेका फैसला किया।

गान्धीजीने वाइसरायसे दोस्तीके लिए अपना हाथ आगे बढ़ाया, हालाँ कि इससे आन्ध्रमें लगानबन्दी आन्दोलनका कार्यक्रम बिगड़ रहा था। आन्ध्र प्रान्तीय कांग्रेस कमेटीने करबन्दीका फैसला १५ दिसम्बर १९२१ को ही कर लिया था। जनवरीमें वहाँके जिले आवश्यक सूचना एकत्र करनेमें लगे थे, जब गुण्टूरने करबन्दी आन्दोलनका श्रीगणेश भी कर दिया। पूरा जिला कांग्रेसकी आवाजपर एकदम उठ खड़ा हुआ; मैदानोंमें लोगोंने लगान रोक लिया; पहाड़ियोंपर जानवर चरानेकी फीस रोक ली। जो किसान अब भी ऊहापोहमें लगे थे उन्हें एक घटनासे मनोवैज्ञानिक प्रेरणा मिली। पुलिसके एक दारोगाने किसी गाँवके एक प्रमुख किसानको गोलीका निशाना बना दिया। इसपर गाँववाले उभर पड़े और फौज व पुलिसका आतंक भी उनसे लगान-अदा न करवा सका। गान्धीजीने सोचा कि आन्ध्रका करबन्दी आन्दोलन सर्वदल सम्मेलनके प्रस्तावके वातावरणमें खपता नहीं। इसलिए उन्होंने राय दी कि सभी कर २५ जनवरीतक अदा कर दिये जायँ और वे अदा कर दिये गये। लेकिन वाइसराय सन्धि प्रस्तावके लिए तैयार नहीं हुए, उन्होंने बात किये बिना ही उन्हें ठुकरा दिया।

कांग्रेस कार्यसमितिने ३१ जनवरीको परिस्थितिका सिंहावलोकन करते हुए सार्वजनिक सविनय अवज्ञा आन्दोलनको गुजरातके बारदोली तालुकेमें सीमित करनेका फैसला किया, क्योंकि वहाँ दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहके बहुतसे अनुभवी लोग मौजूद थे। २९ जनवरीको विट्ठलभाई पटेलके सभापतित्वमें एक तालुका सम्मेलन हुआ जिसमें आन्दोलनके लिए तैयारी प्रकट की गयी। देशभरमें कहीं और करबन्दी आन्दोलन चलानेकी इजाजत नहीं

दी गयी थी। गान्धीजीको यह अधिकार प्राप्त था कि वे ठीक समझें तो किसी इलाकेमें असहयोग या करबन्दी सार्वजनिक आन्दोलनके रूपमें शुरू करनेकी इजाजत दे सकते हैं। गान्धीजीने वाइसरायसे देशके लिए न्याय माँगनेकी एक और कोशिश की। १ फरवरीको उन्होंने वाइसरायको पत्र लिखा जिसमें "सम्पत्ति लूटने, निरीह व्यक्तियोंपर हमला करने, जेलमें कैदियोंके साथ पाशविक व्यवहार करने, कोड़े मारने" आदिमें प्रकट सरकारी दमनकी शिकायत करते हुए कहा गया था "इस अन्यायपूर्ण दमनने (जो एक तरहसे इस अभागे देशके इतिहासमें अभूतपूर्व है) सार्वजनिक अवज्ञा आन्दोलन तत्काल प्रारम्भ कर देना एक अनिवार्य कर्त्तव्य बना दिया है। कांग्रेस कार्यसमितिने इसे उन क्षेत्रोंमें सीमित रखनेका फैसला किया है, जिन्हें मैं समय-समयपर छाँटता रहूँ; अभी यह बारदोलीमें सीमित है। मैं इस अधिकारसे गुण्टूर (मद्रास) के १०० गाँवोंमें तत्काल आन्दोलनकी अनुमति दे सकता हूँ। यदि वे अहिंसा, विभिन्न वर्गोंकी एकता, हाथके बने खद्दरके उत्पादन और अस्पृश्यता-निवारणकी शर्तें पक्की तौरपर पूरी कर सकें।" गान्धीजीने एक दूसरे रास्तेका सुझाव रखते हुए अनुरोध किया—"लेकिन बारदोलीकी जनतासे आन्दोलन शुरू करनेके लिए कहनेके पहले मैं विनयपूर्वक आपसे—जो भारत-सरकारके सर्वोच्च अधिकारी हैं, अनुरोध करना चाहता हूँ कि आप अन्ततोगत्वा अपनी नीति बदल दें और अहिंसात्मक कारवाइयोंके लिए दण्डित या विचाराधीन सभी असहयोग बन्दियोंको रिहा कर दें और देशमें अहिंसात्मक कारवाइयोंमें बिलकुल हस्तक्षेप न करनेकी नीतिकी घोषणा स्पष्ट शब्दोंमें कर दें—चाहे ये कारवाइयाँ खिलाफतके अन्यायके प्रतिकारके लिए हों, पंजाब हत्याकांडके लिए हों, स्वराज्यके लिए हों या किसी अन्य उद्देश्यसे हों, और चाहे वे भारतीय दण्डविधान, जाब्ता फौजदारी या अन्य किसी दमनकारी कानूनकी धाराओंके अन्तर्गत भले ही आती हों; सिर्फ शर्त्त यह रहे कि यह कारवाई हर हालतमें शान्तिमय और अहिंसात्मक होगी। मैं आपसे यह भी अनुरोध करूँगा कि समाचार-पत्रोंपर लगे प्रशासकीय नियन्त्रण भी हटा लिये जायँ और हालमें उनपर जो जब्तियों और जुर्मानोंके दण्ड हुए हैं वे वापस लिये जायँ। इस अनुरोध द्वारा मैं आपसे सिर्फ वही करनेके लिए कह रहा हूँ जो हर ऐसे देशमें होता है, जहाँ सभ्य सरकार राज करती हैं।" अन्तमें गान्धीजीने लिखा—"यदि इस पत्रके प्रकाशनके एक सप्ताहके भीतर आप आवश्यक घोषणा कर सकें तो मैं आन्दोलनके उग्र रूपको स्थगित करनेकी सलाह देनेको तैयार हूँ; फिर छूटे हुए बन्दी पूरी परिस्थितिपर नये ढंगसे सोच सकेंगे।"

वाइसरायका उत्तर पत्रोंमें प्रकाशित हुआ जिसमें सरकारी रवैयेको ठीक बताया गया था और गान्धीजीका अनुरोध अस्वीकार कर लिया गया था। गान्धीजी अब बारदोली कार्यक्रम पूरा करनेको स्वतन्त्र थे। पर ऐसा नहीं होना था। ५ फरवरीको चौरीचौरामें एक भीषण हत्याकाण्ड हो गया। चौरीचौरा गोरखपुर (संयुक्तप्रान्त) में एक गाँव है। वहाँके किसानोंने एक जुलूस निकाला था। जैसा कि उन दिनों हर जुलूसके साथ होता था, इस जुलूसपर गोली चलायी गयी। जुलूस भंग न हुआ। पुलिसके कारतूस चुक गये। पुलिसवाले थाने लौट गये। पर भीड़ने उनका पीछा किया, उन्हें थानेकी इमारतमें बन्द कर दिया और इमारतमें आग लगा दी। थानेमें २१ सिपाही और एक थानेदार था। वे सब भस्म हो गये। इस घटनाने गान्धीजीको कँपा दिया। वे तो हर आन्दोलनकी पहली शर्त्त

शान्ति और अहिंसा मानते थे। उन्होंने बारदोली आन्दोलन स्थगित करनेकी राय दी। १२ फरवरीको कांग्रेस कार्यकारिणीने उनकी राय मान ली। कांग्रेसजनोंसे कहा गया कि वे गिरफ्तार होना और प्रतिबन्ध तोड़कर सभाएँ करना व जुलूस निकालना बन्द कर दें। इसकी जगह कांग्रेसके सदस्य बनाने, कताई-बिनाई लोकप्रिय बनाने, राष्ट्रीय स्कूल स्थापित करने, पंचायतें स्थापित कर नशाबन्दीका प्रचार करनेका काम शुरू हुआ। लेकिन २४ व २५ फरवरीको कांग्रेस महासमितिकी बैठक दिल्लीमें हुई जिसमें कार्यसमितिके प्रस्तावमें कुछ संशोधन हो गये। अब प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियाँ विशेष कानूनोंके उल्लंघनके लिए विशेष जगहोंपर विशिष्ट व्यक्तियोंको सविनय प्रतिरोध करनेकी अनुमति दे सकती थीं। विदेशी वस्त्रों और शराबकी दूकानोंपर शान्तिमय धरना देनेकी भी अनुमति दे दी गयी।

लेकिन सार्वजनिक आन्दोलन न छेड़नेसे जेलमें कांग्रेसके उच्च नेताओंमें भी विस्मय और व्याकुलता आ गयी। मोतीलाल नेहरू और लाजपतराय जैसे लोगोंने गांधीजीको क्रोध-भरे पत्र लिखे। उनका तर्क था कि चौरीचौरा काण्ड दुर्भाग्यपूर्ण था, पर उससे कार्यक्रममें बाधा नहीं पड़ने देनी थी, उसे एक पृथक घटना मानकर आगे बढ़ना था। कांग्रेस महासमितिकी बैठकमें कुछ लोगोंने गांधीजीकी भर्त्सना करनेकी भी बात की। लेकिन क्रोध शान्त हो गया और गान्धीजीकी विजय हुई।

जैसा कि एण्ड्रूजने लिखा, गान्धीजीने तो सत्याग्रह स्थगित कर अपनी महानताका परिचय दिया और स्थितिका साहससे सामना किया। सरकारने नीचे उतरकर आन्दोलनकी गड़बड़ स्थितिका फायदा उठाकर ओछा और कायरतापूर्ण हमला कर दिया। १३ मार्चको गांधी जी गिरफ्तार कर लिये गये। "दुनियादारीके दृष्टिकोणसे यह कूटनीतिका अच्छा दाव था, पर इसमें पुरुषोचित शौर्यका नाम भी नहीं था।"[1] गान्धीजीके सहयोगी शंकरलाल बैंकर भी उनके साथ गिरफ्तार किये गये थे। 'यंगइण्डिया' के तीन लेख गान्धीजी पर अभियोग लगानेके लिए छाँटे गये और उसमें यह दिखानेकी कोशिश की गयी कि गान्धीजी सरकारके प्रति अभक्ति फैला रहे थे। गान्धीजीने इस अपराधको स्वीकार किया।

अदालतके सामने गान्धीजीने एक लम्बा वक्तव्य दिया जिसमें उन्होंने बताया कि किस प्रकार वे १८९३ से ही ब्रिटिश सत्ताको सहयोग प्रदान करते रहे। उन्होंने कहा—१९१९ में अमृतसर कांग्रेसके समय मित्रोंकी चेतावनी और आशंकाके बावजूद मैं सरकारको सहयोग देने और मांटेगू चेम्सफर्ड सुधार लागू करनेके लिए लड़ता रहा। मुझे आशा थी कि प्रधान मन्त्री भारतीय मुसलमानोंको दिया गया अपना वचन पूरा करेंगे, पंजाबके घावपर मलहम लगायेंगे। मैं आशा करता था कि अपर्याप्त और असन्तोषजनक होते हुए भी ये सुधार भारतीय जीवनमें एक नयी आशाका सूत्रपात करेंगे। पर मेरी आशाएँ छिन्न-भिन्न हो गयीं। खिलाफत सम्बन्धी वादा पूरा नहीं होना था। पंजाबके हत्याकाण्डपर लीपापोती कर दी गयी और भारतकी अधभूखी जनता धीरे-धीरे निर्जीव होती जा रही है। वह नहीं जानती कि विदेशी शोषककी दलालीसे उसका गुजारा होता है, विदेशी शोषकका मुनाफा और दलाली जनताका खून चूसकर आती है। वह नहीं जानती कि कानूनके आधारपर बनी यह सरकार जनताके शोषणके लिए बनी है। कानूनी दाँव-पंच और आँकड़ोंका जादू उन कंकालोंका सबूत नहीं मिटा सकता जो देहातोंमें नंगी आँखसे देखे जा सकते हैं। मुझे कोई सन्देह नहीं

---

१. सी. एफ. एण्ड्रूज 'महात्मा गान्धीज आइडिआज' पृष्ठ २७९

है कि यदि ईश्वर है तो इगलैंड और भारतीय नगरवासियों, दोनोंको मानवताके विरुद्ध ऐसे अपराधके लिए जवाब देना पड़ेगा जिसका सम्भवतः इतिहासमें उदाहरण भी न मिलेगा। इस देशमें स्वयं कानून भी विदेशी शोषककी सेवाके लिए बना है। पंजाब मार्शल लाके मामलोंकी मेरी निष्पक्ष जाँचने मुझे इस निष्कर्षपर पहुँचाया है कि कमसे कम ९५ फीसदी दण्ड बिलकुल गलत है। भारतमें राजनीतिक मुकदमोंका मेरा अनुभव मुझे बताता है कि १० मेंसे ९ मामलोंमें दण्डित व्यक्ति निरीह होते हैं। उनका अपराध सिर्फ यही है कि वे अपने देशको प्रेम करते हैं। भारतीय अदालतोंमें १०० मेंसे ९९ मामलोंमें अंग्रेजोंके मुकाबलेमें भारतीयोंको न्याय नहीं मिलता। इसमें अतिशयोक्ति या अतिरंजना नहीं है। यह उस हर भारतीयका अनुभव है जो ऐसे मामलोंसे सम्बन्धित रहा है। मेरा मत है कि इस प्रकार जाने या अनजाने शोषकके हितमें यहाँ न्यायके साथ बलात्कार होता है।

"सबसे बड़े दुर्भाग्यकी बात यह है कि अंग्रेज और उनके साथी भारतीय यही नहीं जानते कि वे यह अपराध कर रहे हैं, जो मैंने ऊपर बताया है। मैं जानता हूँ कि बहुतसे अंग्रेज और भारतीय अफसर ईमानदारीसे यह समझते हैं कि वे दुनियाकी सबसे अच्छी न्याय प्रणाली व्यवहारमें ला रहे हैं और भारत धीरे-धीरे पर निश्चित रूपसे प्रगति-पथपर अग्रसर हो रहा है। वे नहीं जानते कि एक ओर आतंक फैलानेके सूक्ष्म किन्तु प्रभावकारी उपाय और शक्तिका संघटित प्रदर्शन और दूसरी ओर रक्षा अथवा प्रत्याक्रमणकी शक्तिका अपहरण—दोनोंने मिलकर जनताको निर्जीव कर दिया है और उसने उस व्यवहार-प्रणालीको प्रोत्साहित किया है जिससे शासकोंके अज्ञान और कपटको बढ़ावा मिला है। नागरिकोंकी स्वतन्त्रता छीननेकी जितनी धाराएँ हैं, भारतीय दण्ड विधानकी धारा १२४—अ उन सबकी सिरताज है; मुझे इसी धाराके अन्तर्गत अभियुक्त बननेका सौभाग्य प्राप्त है। सरकारके प्रति भक्ति अथवा निष्ठा कानूनसे उत्पन्न या नियन्त्रित नहीं होती। यदि किसी व्यक्तिको किसी दूसरे व्यक्ति या वस्तुसे प्रेम नहीं है तो जबतक वह हिंसाको बढ़ावा नहीं देता, उसे अपने इस वैरको व्यक्त करनेका पूर्ण अवसर मिलना चाहिये। लेकिन जिस धाराके अन्तर्गत मुझपर व श्रीशंकरलाल बैंकरपर मुकदमा चल रहा है, उसमें सरकारसे वैर प्रकट करना ही अपराध है। मैं किसी एक हाकिमके प्रति कोई दुर्भावना नहीं रखता, शाहके प्रति दुर्भावना या वैरकी भावनाका प्रश्न ही नहीं उठता। लेकिन ऐसी सरकारके प्रति निष्ठाहीनताकी भावना रखना मैं एक गुण मानता हूँ, जिसने अन्य किसी प्रणालीसे अधिक हानि भारतको पहुँचायी है। भारतमें ब्रिटिश राजमें जो पुरुषत्वहीनता उत्पन्न हुई है, वह पहले कभी नहीं थी। ऐसा विश्वास होने पर इस सरकार या शासन-प्रणालीके प्रति सद्भावना या निष्ठा रखना पाप है।

"वास्तवमें, मेरा विश्वास तो यह है कि जिस अप्राकृतिक ढंगसे भारत और ब्रिटेन रह रहे हैं, असहयोग द्वारा उससे बचनेका उपाय बताकर मैंने दोनों देशोंकी सेवा की है। मेरे तुच्छ मतमें बुराईसे असहयोग करना उतना बड़ा कर्त्तव्य है जितना अच्छाईसे सहयोग करना। अभीतक बुराई करनेवालेका हिंसात्मक विरोध असहयोगका विशिष्ट अंग रहा है। मैं अपने देश-वासियोंको यह समझानेका प्रयत्न कर रहा हूँ कि हिंसात्मक असहयोग बुराईको बढ़ाता है और चूँकि बुराई हिंसापर पलती है, बुराईसे असहयोगमें हिंसाका नितान्त अभाव आवश्यक है। अहिंसामें बुराईसे असहयोगके दण्डको स्वेच्छासे स्वीकार करना निहित है। इसलिए मैं उस कार्यके लिए अधिकतम दण्डकी प्रसन्नता-पूर्वक कामना करता हूँ जो

कानूनकी दृष्टिमें अपराध है और मेरी दृष्टिमें किसी भी नागरिकका परम कर्त्तव्य है। जज और असेसरो—आपके सामने दो मार्ग हैं; यदि आप समझते हैं कि जिस कानूनको आप लागू करते हैं वह बुरा है और वास्तवमें मैं निरपराध हूँ, तो आप अपने पदोंसे इस्तीफा देकर इस बुराईसे असहयोग करें; यदि आप समझते हैं कि जिस शासन-प्रणाली व न्याय प्रशासनमें आप सहायक बन रहे हैं वह इस देशकी जनताकी भलाईके लिए है और इसलिए मेरा कार्य जनहितको आघात पहुँचानेवाला है तो आप मुझे अधिकतम दण्ड दें।"

लेकिन जजने अपना विचार गान्धीजीकी 'अपराध स्वीकृति' तक सीमित रखते हुए उन्हें छः वर्षकी कैदकी सजा दी और कहा कि ऐसे ही अभियोगमें तिलकको भी इतना ही दण्ड मिला था। यह समझ कर कि वे गिरफ्तार कर लिये जायँगे, गान्धीजीने एक लेख द्वारा लोगोंको सलाह दी थी कि "मेरी गिरफ्तारी और सजा पर हड़ताल, जुलूस या प्रदर्शन न हो।" इसलिए उनकी सजाकी खबर गम्भीर शान्तिसे सुनी गयी।

कांग्रेस महासमितिकी बैठक ७, ८ व ९ जूनको लखनऊमें हुई। विचाराधीन प्रश्न था कि 'क्या सविनय अवज्ञा किसी रूपमें चलायी जाय या इसी किस्मका कोई और कदम उठाया जाय। मोतीलाल नेहरू, डाक्टर अंसारी, विट्ठलभाई पटेल, जमनालाल बजाज, राजगोपालाचारी और कस्तूरी रंगा आयंगारकी एक समिति प्रश्नपर विचार करनेके लिए बनायी गयी। अध्यक्ष हकीम अजमल खाँ, इस समितिके भी अध्यक्ष थे। अपने सुझावोंके लिए तथ्य संग्रह करनेके लिए समितिने देशका दौरा किया। गुण्टूर रेलवे स्टेशनपर समितिके सदस्योंका स्वागत करनेके लिए लगभग दो सौ स्वयंसेवक एकत्र थे। पुलिसने उन्हें हिरासतमें ले लिया। समितिने सुझाव दिया कि आंध्र प्रान्तीय कांग्रेस कमेटीको 'अपनी जिम्मेदारी पर सीमित सत्याग्रह करनेकी अनुमति दी जाय'। समितिने नयी विधायिका कौंसिलोंमें जानेके प्रश्नपर भी विचार किया, पर इस संबन्धमें मतभेद हो गया। अजमल खाँ, नेहरू व पटेल कौंसिल प्रवेशके पक्षमें थे ताकि कौंसिलको अप्रभावकारी बनाया जा सके; अंसारी, राजगोपालाचारी व आयंगार कौंसिलोंके बहिष्कारको कायम रखनेके पक्षमें थे।

समितिके सीमित सत्याग्रह और विधायिका सभाओंके बहिष्कारके सुझावोंको महासमिति और बादमें दिसम्बरमें गयामें होनेवाले वार्षिक अधिवेशनने स्वीकार कर लिया। खिलाफत कमेटी भी कौंसिलोंके बहिष्कारके अपने निर्णयपर दृढ़ रही।

अध्याय १९

स्वराज्य पार्टी

कांग्रेसके गया अधिवेशनकी अध्यक्षता चित्तरंजन दासने की। राष्ट्रपति अपनी जेबमें भाषणके साथ-साथ अपना त्यागपत्र भी रख ले गये थे क्योंकि वे परिषदोंमें सम्मिलित होनेके कार्यक्रमके पक्षमें थे। उन्होंने कहा कि "मैं परिषदोंके बहिष्कारके विरुद्ध नहीं हूँ। मेरी तो बस यही राय है कि सुधार-प्राप्त परिषदें तथा उनकी संगिनी इस्पात-जैसी कड़ी भारतीय सिविल सर्विस भारतीय राष्ट्रके स्वभाव और परम्पराके प्रतिकूल हैं। यह कांग्रेसका कर्तव्य है कि परिषदोंमें शामिल होकर उनका अन्दरसे ज्यादा प्रभावशाली बहिष्कार करें।" चूँकि कांग्रेसमें परिषदोंमें सम्मिलित होनेका प्रस्ताव १७४० वोटोंके विरुद्ध ८९० वोटोंसे गिर गया इसलिए चित्तरंजन दासने अध्यक्षपदसे त्यागपत्र दे दिया और कांग्रेसके अन्दर स्वराज्य पार्टी स्थापित कर ली। उनका उद्देश्य वैधानिक स्तरपर संघर्षको विधायिका सभाओंमें आगे बढ़ाना था। इस कार्यक्रमसे असहमत लोगोंका नाम 'अपरिवर्तनशील' रख दिया गया। राजगोपालाचारी इनके नेता थे। इन लोगोंने अपने आपको, सूत कातने, नशाबन्दी, अछूतोद्धार और दूसरे सामाजिक सुधारोंके रचनात्मक कार्योंमें लगा दिया। यह साफ तौरपर फूट थी परन्तु दोनों पक्षोंकी सद्भावनासे यह प्रत्यक्ष होनेसे बचा ली गयी।

१९२३ के आरम्भमें कांग्रेस दो दलोंमें बँट गयी। प्रत्येक दल नीचेके साधारण कांग्रेस कार्यकर्ताओंको अपने अपने कार्यक्रमोंका समर्थक बनाना चाहता था। स्वराजियोंके लिये जिनकी अन्तमें विजय हुई, परिषदोंमें सम्मिलित होना कांग्रेस कार्योंमें सबसे मुख्य था परन्तु अपरिवर्तनशीलोंके लिए, अभी भी सविनय अवज्ञा और रचनात्मक काम मुख्य थे। नागपुरमें सविनय अवज्ञा उद्वेलनका एक अवसर आया। वहाँ आरम्भ कर इसे अखिल-भारतीय उद्वेलनका स्वरूप दे दिया गया। पहली मईको कुछ स्थानीय नेता राष्ट्रीय झण्डेको जुलूसमें लिये जा रहे थे कि उनको पुलिसने मजिस्ट्रेटकी आज्ञासे रोक दिया। नेताओंने मैजिस्ट्रेटकी आज्ञाका उल्लंघन किया और फिर तो जुलूस, आज्ञा-उल्लंघन और गिरफ्तारियाँ दैनिक काम बन गयीं। जब नागपुरके कांग्रेसी कार्यकर्ताओंकी संख्या क्षीण होने लगी तो संघर्ष चलानेके लिए दूसरी जगहोंसे स्वयंसेवकोंके जत्थे आये। आन्दोलनपर कांग्रेस कार्यसमिति और अखिल भारतीय महासमितिने स्वीकृतिकी मुहर लगा दी। नागपुर-झण्डा सत्याग्रह चलानेके लिए एक कमेटी बना दी गयी जिसने अगस्ततक सत्याग्रह चलाया। अगस्तमें सत्याग्रह वापस ले लिया गया क्योंकि कांग्रेस जुलूस निकालनेका अधिकार स्थापित करनेमें अंशतः सफल हो गयी थी। वल्लभभाई पटेल सत्याग्रहके, आखिरी दौरमें, नेता नियुक्त किये गये थे।

दूसरी तरफ स्वराजी लोग भी परिषदोंमें सम्मिलित होनेके कार्यक्रमपर समर्थन प्राप्त कर रहे थे। वे अखिल भारतीय कांग्रेस महासमितिको, जिसकी मईके अन्तिम सप्ताहमें बम्बईमें बैठक हुई थी, यह समझानेमें सफल हो गये कि महासमिति एक प्रस्ताव द्वारा, परिषद-

बहिष्कारके प्रस्तावका मतदाताओंमें प्रचार करनेका निषेध कर दे। 'अपरिवर्तनशीलों' ने इस प्रस्तावको गया कांग्रेसके प्रस्तावका उल्लंघन माना और कांग्रेस कार्य-समितिसे उनके नेताओंने त्यागपत्र दे दिये। त्यागपत्र देनेवालोंमें राजगोपालाचारी, वल्लभभाई पटेल, राजेन्द्र प्रसाद, वृजकिशोरप्रसाद, जी. बी. देशपाण्डे और जमनालाल बजाज थे। ये त्यागपत्र और दासका त्यागपत्र, जो अभीतक रोक लिया गया था, स्वीकार कर लिये गये। सितम्बर-तक विचारधारा पूर्णतया स्वराजियोंके पक्षमें हो गयी। स्वराजी, दिल्लीमें मौलाना अबुल कलाम आजादकी अध्यक्षतामें एक विशेष अधिवेशन बुलवाकर गयाके प्रस्तावमें परिवर्तन कर उसको परिषदोंमें सम्मिलित होनेके पक्षमें पास करवानेमें सफल हो गये। जब मुहम्मद अलीने परिषदोंमें सम्मिलित होनेके पक्षमें भाषण करते हुए कहा कि मुझे विश्वस्त सूत्रसे पता चला है कि गान्धीजी भी परिषदमें सम्मिलित होनेका विरोध नहीं करेंगे तो सफलताका भरोसा हो गया। इस संकेतका आधार, गान्धीजीका जेलसे अपने पुत्र देवदास गान्धी द्वारा भेजा हुआ सन्देश था। उन्होंने कहा था कि "मैं आपको कोई सन्देश नहीं भेज सकता हूँ, क्योंकि मैं बन्दीगृहमें हूँ। जेलसे लोगोंके सन्देश भेजनेको मैंने सदैव ही गलत समझा है। लेकिन मैं कह सकता हूँ कि आपकी भक्तिने मुझे अभिभूत कर लिया है। मैं आपसे कहूँगा कि मेरे प्रति भक्तिसे अधिक आप देशके प्रति भक्तिको प्रश्रय दें। मेरे विचार सब लोग अच्छी तरह जानते हैं। जेल जानेसे पूर्व मैंने अपने विचार लोगोंपर व्यक्त कर दिये थे और उनमें तबसे कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। मैं आपको विश्वास दिलता हूँ कि यदि आप-का और मेरा मतभेद भी हो तो उसके कारण हमारे आपसके अच्छे सम्बन्धोंपर जरा भी असर नहीं पड़ेगा।" इस सन्देशसे मुहम्मदअलीने जो निष्कर्ष निकाला वह यद्यपि उचित नहीं कहा जा सकता, परन्तु उनके इन शब्दोंसे बहुतसे अनिश्चित-मत प्रतिनिधि उनके पक्षमें आ गये। काफी गरम बहसके बाद एक प्रस्ताव पास किया गया जिसमें कहा गया था कि यदि कांग्रेस-जन चाहें तो व्यक्तिगत तौरपर परिषदोंके लिए उम्मीदवार हो सकते हैं। परन्तु वातावरण पूर्णतया अभीतक स्वराजियोंके अनुकूल नहीं हुआ था, इसलिए वे इसके लिए सहमत हो गये कि चुनाव जीतनेके लिए वे कांग्रेस-प्रभावका उपयोग नहीं करेंगे। स्वराजियोंने चुनावके लिए एक निपुण और कुशल संघटन स्थापित कर लिया। धन इकट्ठा किया और बड़ी संख्यामें कार्यकर्त्ता तैयार कर लिये। प्रस्तावका जो भी आशय रहा हो, स्वराजी गान्धीजीके आदमी समझे जाने लगे। इन लोगोंने परिषदोंमें अन्दरसे गतिरोध पैदा करने और कार्य न करने देनेका काम अपने जिम्मे लिया, परन्तु व्यावहारिक रूपमें यह योजना असम्भव सिद्ध हुई।

१९२३ के चुनाव मुख्यतया उदारदलीय और स्वराज्य पार्टीने लड़े। अधिकांशतः उदारदलीय लोग परिषदोंके भूतपूर्व सदस्य थे। "चुनाव आन्दोलनमें उदारदलीय लोगोंको बहुत बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। अपने कार्यकालमें वे सही मानोंमें एक विरोधी दलके रूपमें काम करनेमें असमर्थ रहे। परिणामस्वरूप उनका संघटन और एकता दोनों ही टूटने लगे थे। उनके सुधारयुक्त प्रथम परिषद्के अन्दर काम करनेमें सिद्धान्त नहीं, बल्कि व्यक्तिगत प्रश्न अधिक मुख्य रहे। इससे भी बुरी बात यह हुई कि उदारदलीय लोगोंका भारतीय राज-नीतिकी मुख्य विचारधारासे कोई सम्पर्क नहीं रहा और वे बिलकुल अलगावमें पड़कर काम करते रहे। उन्होंने ऐसे समय विधान-परिषद्में सम्मिलित होना स्वीकार किया था जब कि

'आत्म-बलिदान' लोगोंका 'तकियाकलाम बन गया था।······लोगोंने उनको सरकारका हिमायती कहना शुरू कर दिया। यद्यपि वे परिषदोंके सदस्य थे परन्तु उनका अपने निर्वाचन-क्षेत्रके लोगोंसे विशेष सम्पर्क न था। बहुत से भूतपूर्व सदस्योंका भाषणतक सुननेसे लोग इनकार करते थे। इस हतोत्साह स्थितिमें अपनी आपसकी फूट और अस्तव्यस्त पार्टी संघटनके कारण अपनेसे अधिक अनुशासित प्रतिद्वन्द्वियोंसे उदारदलीय हार गये।"[1]

फिर भी परिषदोंमें स्वराज्य पार्टीको कोई व्यावहारिक बहुमत न प्राप्त हो सका क्योंकि अपने स्थानीय प्रभावके कारण कई क्षेत्रोंसे स्वतन्त्र उम्मीदवार निर्वाचित हो गये थे। "परिणामस्वरुप केवल मध्य प्रदेशकी विधान परिषदमें स्वराज्य पार्टीको साफ तौरपर बहुमत प्राप्त हो सका। बंगालमें यद्यपि एक दलकी हैसियतसे स्वराज्यपार्टी सबसे बड़ी थी, लेकिन संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाये बिना उस दलके लोग अपनी हुकूमत न बना सकते थे। बम्बई और यू. पी. में यद्यपि वे काफी संख्यामें विजयी हुए थे, फिर भी उन्हें परिषदोंमें बहुमत न प्राप्त हो सका। मद्रास, पंजाब, बिहार और उड़ीसामें वे कमजोर थे। केन्द्रीय विधान परिषदमें, जहाँ उन्होंने विशेष तौरपर चुनावके लिए ताकत लगायी थी वे निर्वाचित सीटोंकी आधी संख्या भी जीतनेमें असमर्थ रहे। इन सब बातोंके बावजूद वे चुनावोंके परिणामोंसे सन्तुष्ट थे, क्योंकि उन्होंने भारतीय बुद्धिजीवी वर्गके प्रवक्ताके पदसे उदारदलको हटा दिया था।"[2]

दिसम्बरमें मुहम्मद अलीकी अध्यक्षतामें कोकोनाडामें कांग्रेसका वार्षिक अधिवेशन हुआ। उनका भाषण सर सैयद अहमद खाँके समयसे अबतकको मुस्लिम राजनीतका विश्लेषण था। उन्होंने अपने विचारोंको छिपाया नहीं, हालाँकि उनके विचार कांग्रेस विचारोंके प्रतिकूल थे। उन्होंने कहा कि 'पृथक निर्वाचन प्रणालीने' साम्प्रदायिक झगड़ोंको रोकनेके लिए बहुत कुछ किया है।" फिर भी उन्होंने स्वीकार किया मैं यह बात भूल नहीं जाता हूँ कि "जब हिन्दू और मुसलिम समाजोंमें ईर्ष्या और भेद-भाव बहुत बड़े चढ़े हों तो पृथक निर्वाचन प्रणाली द्वारा ऐसे ही लोग चुने जायँगे जो विरोधी समाजके प्रति अपने कटु और उग्र विचारोंके लिए मशहूर हों।" पृथक निर्वाचनके लिए उनका तर्क था कि "संयुक्तनिर्वाचन साम्प्रदायिक झगड़ोंकी सबसे बड़ी जड़ है। इनके द्वारा दोनों समाजोंके बीचकी भेदभावकी खाई और बढ़ेगी। हर उम्मीदवार चुनावमें वोटोंके लिए अपने-अपने समाजोंसे अपील करेगा और विरोधी समाजके प्रति अपनी कटुताके बलपर वोटोंके लिए अपना दावा सिद्ध करनेकी चेष्टा करेगा, फिर चाहे कितना ही लुका-छिपाकर, किसी सिद्धान्त, उदाहरणार्थ अपने समाजके हितोंकी रक्षाकी ओटमें यह दावा क्यों न किया जाय।" इसके बाद राष्ट्रपतिने एक-एककर वे परिस्थितियाँ गिनायीं जिनके कारण मुसलमान अंग्रेजोंसे नाराज हो गये थे। बंग-भंगका रद किया जाना इन कारणोंमेंसे एक था, इसके बारेमें उन्होंने कहा "निस्सन्देह मैं कहता हूँ कि बंगालके विभाजनसे, यद्यपि यह नितान्त ही अनुचित था और लार्ड कर्जनने बंग-भंग बदलेकी भावनासे किया था, किसी हदतक मुसलमानोंका भला हुआ था। लेकिन फिर भी जब परिस्थिति सरकारके काबूके बाहर होने लगी तो उसने मुसलमानोंको 'गरम आलू' की तरह छोड़ दिया। भारतके राजनीतिक इतिहासमें इतना नीच विश्वासघात दूसरा नहीं है। अपने पड़ोसियोंके खिलाफ पूर्वी बंगालके

१. इण्डिया इन १९२४-२५, पृष्ठ २९६-२९७

२. वही पुस्तक पृष्ठ २९८

मुसलमानोंने अपने शासकोंकी तरफसे लड़ाई लड़ी और जब शासकवर्गने देखा कि लड़ाई चलाना उसके हितमें नहीं है तो उसने फौरन ही सुलह कर ली और मुसलमानोंको उन लोगोंकी दयापर छोड़ दिया जिनके खिलाफ सरकारने मुसलमानोंको मददगार फौजकी तरह इस्तेमाल किया था।" उन्होंने मुसलमानोंसे कहा कि "क्या हम विदेशी शासकोंसे सहयोग करेंगे और गैर-मुस्लिम देशवासियोंसे उसी प्रकार लड़ेंगे जिस तरहसे हम पहले लड़ते थे?"

यद्यपि कांग्रेसके रोजमर्राके कामोंमें अब सत्याग्रहकी अपेक्षा परिषदोंमें कामपर अधिक जोर दिया जा रहा था, फिर भी कांग्रेस 'सविनय अवज्ञा'पर जमी रही। मुख्य प्रस्तावमें कांग्रेसने प्रान्तीय कमेटियोंको हिदायत दी कि वे 'सविनय अवज्ञा'की तैयारी करें और "ध्येयको जल्दी ही प्राप्त करनेके लिए इस दिशामें फौरन कदम उठावें।"

५ फरवरी १९२४ को गान्धीजी शोचनीय स्वास्थ्यके कारण जेलसे अवधि पूरी होनेसे पहले ही छोड़ दिये गये। जेल-अधिकारियोंकी संरक्षतामें १२ जनवरीको ससून अस्पताल पूनामें गान्धीजीके पेटमें अपेण्डीसाइटिसका ऑपरेशन हुआ। ऑपरेशनके मध्यमें बिजलीकी बत्ती खराब हो गयी और शेष ऑपरेशन क्रियाएँ गैसकी लालटेनकी रोशनीमें समाप्त की गयीं। रिहा होनेके बाद गान्धीजी स्वास्थ्य सम्भालनेके लिए समुद्रके किनारे बम्बई (जुहू) चले गये; जहाँ कुछ ही समय बाद उनके आसपास स्वराजी व दूसरे कांग्रेस नेता इकट्ठे हो गये। स्वराज पार्टीके नेताओं और गान्धीजीके बीच लम्बी लम्बी बहसें हुईं और जब दोनोंमेंसे एक भी दूसरेको अपना दृष्टिकोण समझानेमें असमर्थ रहा तो दोनोंने अपने-अपने दृष्टिकोण अखबारोंके जरिये जनताके सामने रखे। गान्धीजीने कहा "हमारे बीचमें वास्तविक और मौलिक अन्तर हैं। मेरी अब भी यही राय है कि परिषदोंमें सम्मिलित होना और असहयोग जैसा कि मैं समझता हूँ दोनों एक साथ नहीं चल सकते और परस्पर विरोधी हैं। देशके हितके लिए परिषदोंमें सम्मिलित होनेसे बाहर रहना अधिक अच्छा है। हालाँकि मैं अपने स्वराजी मित्रोंको अपनी बात स्वीकार करवानेमें असमर्थ रहा हूँ, फिर भी मैं यह समझता हूँ कि जबतक वे अपना दृष्टिकोण न बदलें उनकी जगह निस्सन्देह परिषदोंके अन्दर है। यही हम सब लोगोंके लिए अच्छा है।" परन्तु चूँकि कांग्रेसने स्वराजियोंको परिषदोंमें काम करनेकी अनुमति दे दी थी इसलिए गान्धीजीने कहा कि "मैं स्वराजियोंके मार्गमें अवरोध अथवा उनके खिलाफ प्रचारमें भाग नहीं ले सकता यद्यपि मैं ऐसी योजनाकी सक्रिय सहायता नहीं कर सकता जिसमें मुझे स्वयं विश्वास नहीं है।" परन्तु उन्होंने इशारा किया कि यदि मैं परिषदोंमें सम्मिलित हुआ तो गतिरोधकी नीति नहीं बल्कि कांग्रेसके रचनात्मक कार्यक्रमको बल प्रदान करनेका प्रयत्न करूँगा। इसलिए मैं प्रस्ताव पेश करूँगा कि केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारें (१) अपनी जरूरतोंके लिए कुल कपड़ा हाथसे कता और बुना खद्दर लें। (२) विदेशी कपड़ोंपर भारी आयात कर लगावें (जिससे विदेशी कपड़ा आना बन्द हो जाये।) (३) नशीली चीजोंकी आमदनी खत्म कर दी जाये और कमसे कम उसी अनुपातमें फौजी खर्चेमें कमी की जाये। अगर विधान परिषदोंमें स्वीकार हो जानेके बाद भी सरकार इन्हें लागू न करे तो मैं विधान परिषदोंको भंग करनेकी माँग करूँगा और इन्हीं बातोंपर जनताका वोट माँगूँगा और अगर सरकार परिषदोंको भंग न करे तो मैं अपनी सदस्यतासे त्यागपत्र दे दूँगा और देशको 'सविनय अवज्ञा' के लिए तैयार करूँगा। जब ऐसी अवस्था आ जायगी तो स्वराजी मुझे अपने नीचे काम करनेको तत्पर

पायेंगे।" स्वराजी नेता चित्तरंजनदास और मोतीलाल नेहरूने अपने बयानोंमें कहा कि परिषदोंमें सम्मिलित होने और असहयोगमें कोई परस्पर-विरोध नहीं है। वे 'अवरोध' की जो परिभाषा पेश करते हैं उससे उनके परिषदोंके अन्दरके कामको समझनेमें मदद मिलती है। "हमारी स्थिति" उन्होंने कहा "वैधानिक स्तरपर उतना अवरोध खड़ा करनेकी नहीं है जितना कि नौकरशाही सरकार द्वारा हमारे स्वराज-प्राप्तिके रास्तेमें अवरोध खड़ा करनेके खिलाफ संघर्ष है, तो जब हम 'अवरोध' का नाम लेते हैं, दरअसल हमारा आशय इस संघर्ष से होता है।" उन्होंने अपने सहयोगके स्तरकी तरफ इशारा करते हुए कहा कि "कैन्द्रीय और प्रान्तीय विधान परिषदोंमें जो भी जगह निर्वाचनसे मिले हमें इसे लेनेकी कोशिश करनी चाहिये। हमारी समझमें हमें न सिर्फ हर निर्वाचित जगह पर कब्जा करना चाहिये बल्कि हर उस कमेटीमें भी काम करना चाहिये जिसमें हमें जगह मिल सके। लेकिन स्वराजियोंने गान्धीजीसे वादा किया कि जिस क्षण नौकरशाहीके स्वार्थी हठका, सविनय अवज्ञाके अलावा, कोई जवाब न होगा वे विधान परिषदोंसे अलग हो जायँगे।

अब स्वराजी और अपरिवर्तनशीलोंमें कांग्रेसपर कब्जा करनेकी होड़ लगी। जूनके अन्तमें होनेवाली अखिल भारतीय कांग्रेस महासमितिमें अपरिवर्तनशीलोंकी जीत हुई, क्योंकि उन्होंने गान्धीजीके कहनेपर एक प्रस्ताव पास करा लिया था कि कांग्रेस संघटनोंमें निर्वाचित प्रत्येक व्यक्ति प्रतिमाह हाथका कता हुआ दो हजार गज सूत भेजेगा। लेकिन नवम्बरमें हुई महासमितिकी अगली मीटिंगमें स्वराजियोंके अनुयायी अपरिवर्तनशीलोंसे कहीं ज्यादा थे और गान्धीजीने दास और मोतीलाल नेहरूके सामने समर्पण कर दिया। उनके और गान्धीजीके संयुक्त हस्ताक्षरोंसे एक वक्तव्य असहयोगको बन्द करते हुए और स्वराज पार्टीको परिषदोंमें काम करनेकी पूरी आजादी देते हुए दिया गया। स्वराजियोंने कांग्रेसजनोंके बहुमतको इस प्रकार अपने पक्षमें कर लिया कि इस प्रस्तावको कांग्रेसके वार्षिक अधिवेशनमें भी स्वीकार करा लिया हालाँ कि गान्धीजी स्वयं अधिवेशनकी अध्यक्षता कर रहें थे।

मध्यप्रान्त (मध्य प्रदेश) की विधानपरिषदमें स्वराज पार्टीको पूर्ण बहुमत प्राप्त था और उसने द्वैध शासनको असम्भव-सा बना दिया। अपनी नीतिके अनुसार स्वराजियोंने हस्तान्तरित विषयोंका उत्तरदायित्व लेना अस्वीकार कर दिया, जिसके कारण उन विषयोंके लिए मन्त्री दूसरी पार्टियोंके लोग बनाये गये। अपनी घोषित नीतिके अनुसार विधान तोड़नेके लिए स्वराज पार्टीने मन्त्रिमण्डलके खिलाफ अविश्वासका प्रस्ताव पास कर दिया। जब बजट पेश किया गया तो स्वराज पार्टीने हस्तान्तरित विषयोंकी सब माँगें अस्वीकार कर दीं। आवश्यक व्ययोंके लिए गवर्नरको अपने विशेष अधिकारोंके अन्तर्गत अनुमति देनी पड़ी। परन्तु मन्त्रियोंके स्थान रिक्त रहे। यह दशा १९२४ तक कायम रही। १९२४ में स्वराजियोंने अपना विरोध थोड़ा-सा कम कर लिया और आमतौरपर खर्चोंकी माँगें स्वीकार कर ली गयीं परन्तु मन्त्रियोंका वेतन घटाकर २) सालाना कर दिया गया। बंगालमें स्वराजियोंने कुछ स्वतन्त्र सदस्योंसे, मुख्यतया मुसलमानोंसे मिलकर, बहुमत बनाया और सरकारकी तरफसे पेश किये गये प्रस्तावोंको अस्वीकार कर दिया। द्वैध शासनको टूटनेका खतरा पैदा हो गया। १९२४ के आरम्भमें, स्वराजी व स्वतन्त्र सदस्योंने संयुक्त होकर बंगाल सरकारको तीन बार हराया और मन्त्रियोंको तनख्वाहें देनेसे इनकार कर दिया। इन लोगों द्वारा पेश

किये गये प्रस्तावोंमें, १८१८ के विनियमन तीनके अन्तर्गत नजरबन्द किये गये सभी नजरबन्दोंकी तथा सभी राजनीतिक बन्दियोंकी रिहाईकी सिफारिश और दमनकारी कानूनोंके रद किये जानेकी माँग थी। लेकिन परिषदकी इच्छाओंके बावजूद सरकारने इन प्रस्तावोंको लागू नहीं किया।

केन्द्रीय विधान सभामें, यद्यपि स्वराजपार्टी सबसे बड़ी पार्टी थी, परन्तु भवनके १४५ सदस्योंमें इनके कुल ४५ सदस्य थे। इन्होंने दूसरे लोगोंसे मिलकर 'समान-मोर्चा' बनाया और ७० आदमियोंको अपने साथ मिला लिया जो इस बातपर सहमत थे कि यदि सरकार, इन लोगोंकी वैधानिक-प्रगतिकी माँगके प्रस्तावका सन्तोषजनक उत्तर न दे तो इस संयुक्त दल द्वारा जो बादमें राष्ट्रीय पार्टीके नामसे प्रसिद्ध हो गया, 'अवरोध'की नीति अखित्यार की जाये।

स्वराज पार्टीने १९१९ के ऐक्टको रद करनेके लिए अडंगा डालने की अपनी नीति छोड़ दी और विधान सभामें कई विषयोंपर उन्होंने सरकारसे सहयोग किया। स्वराजी सदस्य स्थायी समिति व अन्य कमेटियोंमें सम्मिलित होने लगे और काररवाइयोंमें भाग लेने लगे। भारतीय फौजी शिक्षण केन्द्र (इंडियन सैण्डहर्स्ट) खोलनेकी सम्भावनाओं पर गौर करनेके लिए बनी कमेटीकी सदस्यता मोतीलाल नेहरूने स्वीकार कर ली। इस सहयोगका पहला नतीजा एक प्रस्ताव था जिसमें एक गोलमेज कान्फ्रेंस की माँग की गयी थी जो पूर्ण जिम्मेदार हुकूमत स्थापित करनेकी योजनाकी सिफारिश करे। लगभग सभी निर्वाचित गैर सरकारी सदस्योंने इसके पक्षमें वोट दिया। भारत सरकारने इस माँगको सुना-अनसुना कर दिया जिससे संयुक्त दल सरकारके विरुद्ध और भी कट्ठ हो गया। जब बजट पेश किया गया तो राष्ट्रीय दलने अनुदानकी माँगकी पहली चार मदें अस्वीकार कर दीं। वित्तविधेयक पेश करनेकी आज्ञा न देना इसीका अनुसरण था। इसके बाद सरकारकी हार पर हार हुई। परन्तु संयुक्त दलके कारण, जहाँ स्वराज पार्टीको सरकारको हरानेका अवसर मिला था वहीं उसे अपनी 'अवरोध'की नीतिमें समझौता भी करना पड़ा। स्वराजपार्टीने १९२४ में सरकार द्वारा प्रस्तावित इस्पात उद्योग विधेयकका समर्थन किया। इस समय गैर स्वराजी सदस्योंमें अपनेको 'रचनात्मक विरोधी दल'की हैसियतसे कायम करनेकी प्रवृति साफ दिखलाई दे रही थी। स्वराजियोंके नेतृत्वमें काम करनेवाले राष्ट्रीय दलसे कुछ स्वतन्त्र सदस्य अलग हो गये। उन्होंने मुहम्मदअली जिनाके नेतृत्वमें एक स्वतन्त्र दल स्थापित किया और अपने सचेतक नियुक्त कर लिये। सरकार अब भी निर्वाचित सदस्योंके संयुक्त वोटोंके कारण हारती थी परन्तु ये हारें 'अवरोध'की नीतिके अन्तर्गत कम, हर प्रस्तावकी अच्छाई और बुराई पर अधिक होती थीं। फिर भी विधान परिषदमें सब सरकार-विरोधी तत्वोंकी प्रतीक 'राष्ट्रीय पार्टी'में फूट पड़नेकी सम्भावना पैदा हो गयी थी।

इसी बीच स्वराजियोंके सामने एक बार फिर सब राजनीतिक पार्टियोंको एक करनेका अवसर आया। अक्टूबरमें बंगालके गवर्नरने गवर्नर जनरलको सलाह दी कि वे बंगालमें आतंकवादियोंका, जिन्होंने एक बार फिर जोरोंसे काम करना शुरू कर दिया था, दमन करनेके लिए बंगाल शासनको एक ऑर्डिनेन्स जारी करके असाधारण शक्ति दे दें। इस सलाहके ऊपर गवर्नर जनरलने २५ अक्टूबरको एक ऑर्डिनेंस जारी कर दिया जिसके द्वारा बंगाल शासनको यह अधिकार मिल गया कि विशेष कमिश्नर क्रान्तिकारी संघटनोंसे सम्बन्ध रखनेवाले

लोगोंको सरसरी तौरपर मुकदमा करके सजा दे दें। यह ऑर्डिनेंस फौरन ही लागू कर दिया गया और एकदमसे बड़ी संख्यामें लोग बिना जाँचके गिरफ्तार किये जाने लगे। गिरफ्तार किये गये लोगोंमें कुछ बंगाल-स्वराज पार्टीके सदस्य थे, जिनमें कलकत्ता कॉरपोरेशनके एक्जीक्यूटिव ऑफीसर भी थे। राजनीतिक पार्टियों और भारतीय अखबारोंने एक स्वरसे इस दमनकारी कानूनकी निन्दा की। "ऐसे बहुतसे विभिन्न राजनीतिक दृष्टिकोणके लोग, जिनकी स्वराजियोंके उद्देश्योंसे कोई भी सहानुभूति न थी इस समान खतरेके खिलाफ स्वराजियोंसे एकता बनानेको प्रस्तुत थे।........नवम्बरके आरम्भमें गान्धीजी, चित्तरंजन दास और मोतीलाल नेहरूके हस्ताक्षरोंसे एक वक्तव्य जारी किया गया जिसमें इस नयी दमन-नीतिके विरुद्ध देशके विभिन्न राष्ट्रीय कार्यकर्ताओंको देशके हितमें एक हो जानेकी आवश्यकता समझायी गयी थी। इस वक्तव्यमें यह भी सिफारिश की गयी थी कि बेलग्राममें होनेवाली कांग्रेस विदेशी कपड़ेके इस्तेमालको छोड़कर बाकी असहयोगके कार्यक्रमको स्थगित कर दे और स्वराजियोंको कांग्रेस संघटनके अभिन्न हिस्सेकी हैसियतसे विधान-परिषदमें काम करनेके लिए अधिकृत करे।" गान्धीजीको अपना दृष्टिकोण मनवानेकी सफलतासे उत्साहित होकर स्वराजियोंने सर्व-दल-नेता सम्मेलन बुलाया ताकि कांग्रेस छोड़कर चले जानेवालोंको फिर कांग्रेसमें शामिल होनेको राजी किया जाये और कार्यक्रमकी एक समान योजना बनायी जा सके। उदारदलीय और स्वतन्त्र सदस्योंको यह आशा थी कि चूँकि असहयोग स्थगित कर दिया गया है इसीलिए कांग्रेसमें शामिल होना उनके लिए सम्भव है। २१ नवम्बरको सर्व-दलीय नेता सम्मेलन बम्बईमें हुआ जिसने एक प्रस्ताव पास कर सरकारके इस ऑर्डिनेंस जारी करनेकी निन्दा की। परन्तु यह सम्मेलन विभिन्न दलोंको कांग्रेसमें वापस लानेमें असमर्थ रहा। फिर भी तमाम राजनीतिक पार्टियोंको फिर एक करने और कांग्रेसमें मिलानेके लिए, साम्प्रदायिक मसलेको सुलझा कर स्वराज्यकी एक योजना बनानेके लिए एक कमेटी नियुक्त की गयी। यह कमेटी तमाम पार्टियोंको एक करनेमें असफल रही, और पार्टियाँ अलग-अलग कायम रहीं।

गान्धीजीने कांग्रेसके वार्षिक अधिवेशनके अध्यक्ष-पदसे सब राजनीतिक पार्टियोंको कांग्रेसमें शामिल हो जानेकी दावत दी। १९२४ का अधिवेशन बेलगाँवमें हुआ। गान्धीजीने असहयोग आन्दोलन बंद करनेके बादकी देशकी दशा बतायी। उन्होंने कहा "लेकिन हम ऐसी हालतका सामना कर रहे हैं जो हमें रुक जानेको मजबूर करती है क्योंकि जहाँ लोगोंको व्यक्तिगत तौरपर असहयोगमें दृढ़ विश्वास है वहीं जिन लोगोंका इससे करीबका सम्बन्ध है उनमेंसे अधिकांशतः लोगोंको विदेशी कपड़ेके बहिष्कारके अतिरिक्त इसमें कोई श्रद्धा नहीं रही है। बीसियों वकीलोंने अपनी वकालत फिर शुरू कर दी है। कुछको तो अब यह पछतावा होता है कि उन्होंने वकालत छोड़ी ही क्यों थी? जिन लोगोंने परिषदोंका बहिष्कार किया था, उनमें बहुतसे वापस लौट रहे हैं। विधान-परिषदोंमें सम्मिलित होनेमें विश्वास करनेवालोंकी संख्या बढ़ रही है। सैकड़ों लड़के और लड़कियाँ, जो सरकारी स्कूलों और कॉलेजोंको छोड़ चुके थे, अब पछताते हैं और उनमें फिर पढ़नेको जा रहे हैं। मैंने सुना है कि स्कूल और कॉलेज इन सबको भरती करनेमें अपनेको असमर्थ पा रहे हैं।" उस समयकी देशकी दशा स्पष्ट करनेके बाद, गान्धीजीने स्वीकार किया कि कांग्रेसमें स्वराजी दल अगर बहुमतमें नहीं है तो एक शक्तिशाली और उत्तरोत्तर शक्तिशाली होने-

वाला अल्पमत है। गान्धीजीने आशा प्रकट की कि दूसरी पार्टियाँ कांग्रेसमें शामिल होंगी और राष्ट्रकी नीतिपर प्रभाव डालनेके लिए कांग्रेसके अन्दर काम करेंगी। गान्धीजीने सूत कातने, हिन्दू-मुस्लिम एकता, अछूत-उद्धार और मद्यनिषेधके रचनात्मक कार्यक्रम पर जोर दिया। उग्रवादियोंको निराशा हुई जब गान्धीजीने कहा कि "पूर्ण स्वराज्यसे अधिक वे 'औपनिवेशक स्वराज्य' को पसन्द करेंगे।" उन्होंने जोर देकर कहा "मैं साम्राज्यके अन्तर्गत स्वराज्य पानेकी चेष्टा करूँगा परन्तु यदि ब्रिटेनकी अपनी गलतियोंके कारण आवश्यक हुआ तो इससे सब नाते तोड़नेमें हिचकूँगा भी नहीं।" गान्धी-दास-नेहरू वक्तव्य द्वारा प्रतिपादित नीतिको ही बेलगाँव कांग्रेसने चलाया।

१९२५ में कांग्रेसमें स्वराज पार्टी इतनी अधिक शक्तिशाली हो गयी कि गान्धीजी, मोतीलाल नेहरूके हाथोंमें जो केन्द्रीय विधान सभामें पार्टीके नेता थे, नेतृत्व सौंप देनेको प्रस्तुत हो गये। यद्यपि उस साल विधान परिषदोंमें पार्टीकी अभी तकके अपने ही साथियोंके हाथ कई हारें हुईं और वह साल बहुत राजनीतिक उतार-चढ़ावका बीता, फिर भी स्वराज पार्टीने वह साल सरकारको एक करारी हार देकर ही शुरू किया था। जनवरीमें बंगाल विधान परिषदने बंगाल-आर्डिनेंस, जिसकी अवधि समाप्तप्राय थी, को रद कर दिया। उस परिषदने कुछ अतिक्रमके बाद जिस बीचमें मन्त्रियोंके वेतनका उपबंध स्वीकार कर लिया था, बादमें बजट-बहसके दौरानमें उसे अस्वीकार कर दिया। परन्तु परिषदमें पार्टियोंकी बदली हुई स्थितिके कारण, स्वराज पार्टीको हमेशा जीतकी आशा नहीं रहती थी। वह परिषदके अध्यक्षके चुनावमें केवल छः वोटोंसे हार गयी। इसी प्रकार, केन्द्रीय विधान सभामें सरकार और स्वराजियोंके बीच संतुलन रखना राष्ट्रीय दलसे अलग होनेवालोंके हाथमें था।

इस बातके बावजूद कि गान्धीजी न सिर्फ कांग्रेसके नेता थे बल्कि १९२५ में कांग्रेसके अध्यक्ष भी थे, स्वराजी नेता बिना उनसे पूछे नीतिकी घोषणा कर देते। फरीदपुरमें हुए बंगाल प्रान्तीय कांग्रेस सम्मेलनमें श्रीदासने सरकारके सामने कुछ शर्तोंपर सहयोग करनेका प्रस्ताव रखा। वे यह समझते थे कि अब सरकारका हृदय-परिवर्तन हो गया है। गान्धीजीका उनसे मतभेद था। दासको कुछ अति आशावादके कारण भारत सचिव लार्ड बर्कनहेडपर विश्वास था और उन्हें आशा थी कि उनके भाषण (जिसकी भारतमें बहुत प्रतीक्षा की जा रही थी) के कारण १९१९ के ऐक्टसे अवश्य कुछ अधिक सुधारयुक्त प्रगति होगी। दासका दार्जिलिंग में १६ जून १९२५ को देहान्त हो गया। ७ जुलाईको लार्ड बर्कनहेडने एक लम्बा भाषण किया जिसमें वे माण्टेगू-चेम्सफोर्ड सुधारोंसे एक इंच भी आगे नहीं बढ़े। यद्यपि इस भाषण-से स्वराजी और दूसरे राजनीतिक विचारोंके लोग निराश हो गये, परन्तु निरुत्साह नहीं हुए और वे अब लन्दनमें दिये जानेवाले लार्ड रीडिंगके भाषणको उत्सुकतासे प्रतीक्षा कर रहे थे। और जब रीडिंग बोले तो उन्होंने सिर्फ बर्कनहेडके ही मधुर भावोंको दोहरा दिया। बंगालमें दास द्वारा अर्जित 'तीनों खिताबों'—बंगाल स्वराज पार्टीके नेता, बंगाल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटीके अध्यक्ष और कलकत्ता कॉरपोरेशनके मेयर—के उत्तराधिकारी अब उदीयमान नेता जे. एम. सेन गुप्त हो गये।

कांग्रेस महासमितिमें स्वराजी ज्यों-ज्यों उत्तरोत्तर बहुमत प्राप्त करते जा रहे थे त्यों-त्यों गान्धीजी शीघ्रतासे पृष्ठभूमिसे हटते जा रहे थे। जुलाईमें हुई अखिल भारतीय महासमितिके बाद गान्धीजीने मोतीलाल नेहरूको लिखा कि वे अब राष्ट्रपतिका पद सँभालें,

क्योंकि वे अखिल भारतीय स्वराज्य पार्टीके अध्यक्ष थे, जो इस समय कांग्रेसपर काबिज थी। परन्तु स्वराजियोंकी प्रार्थनापर गान्धीजी अपनी कार्यकालकी अवधिकी समाप्तितक यानी १९२५ के अन्ततक काम करनेको सहमत हो गये। अगस्तमें उन्होंने लिखा "मुझे अब शिक्षित भारतीयों द्वारा निर्देशित कांग्रेसके पथमें नहीं आना चाहिये क्योंकि मैंने तो अपनेको पूर्ण रूपसे जनसाधारणको समर्पित कर दिया है और शिक्षित-भारतसे मेरे मौलिक मतभेद हैं। मैं अब भी काम करना चाहता हूँ परन्तु कांग्रेसका नेतृत्व नहीं। मेरी सम्मतिमें उन लोगोंके कार्यकी सबसे अधिक सहायता मैं यही कर सकता हूँ कि उनके रास्तेसे हट जाऊँ और शिक्षित भारतीयोंकी अनुमतिसे, कांग्रेसकी सहायतासे और कांग्रेसके नाममें एकाग्रतासे रचनात्मक कार्यक्रममें दत्तचित हो जाऊँ।" स्वराजियोंका निश्चय था कि गान्धी पन्थको रद कर दिया जाय, जिसकी भावना यह थी कि सूत कातनेवाले ही निर्वाचित कांग्रेस संघटनोंके सदस्य हो सकते हैं। २१-२२ सितम्बरको पटनामें हुई अखिल भारतीय महासमितिकी बैठकमें वे बेलगाँवके प्रस्तावको आमूल बदलवानेमें सफल हो गये। बेलगाँवके प्रस्तावमें साफ तौरपर दिया हुआ था कि कांग्रेस कार्यक्रम केवल रचनात्मक कार्यों तक ही सीमित है और विधान परिषदोंमें स्वराज पार्टी स्वयं बनाये हुए नियमोंके अन्तर्गत और स्वयं एकत्र चन्देसे काम करेगी। पटनाके प्रस्तावने स्थितिको इस प्रकार कर दिया "कांग्रेस वे सब राजनीतिक कार्य करेगी जो देशके हितके लिए आवश्यक हों, और इन कामोंके लिए सम्पूर्ण कांग्रेस संघटनों और धन-कोषको काममें लायेगी। केवल अखिल भारतीय और प्रान्तीय खद्दर बोर्डोंके धन और सम्पतिको छोड़ दिया जायगा। यह धन-सम्पति मय बर्तमान आय-व्ययके हिसाबके गान्धीजी द्वारा स्थापित अखिल भारतीय कताई संघको दे दी जायगी। यह संघ कांग्रेस संघटनका अभिन्न अंग है परन्तु इसको अपने उद्देश्योंकी पूर्तिके लिए इस धन व दूसरे धन कोषोंका उपयोग करनेकी पूरी स्वतन्त्रता है।" बर्कनहेडने इंगित किया था कि कांग्रेसको शुद्ध राजनीतिक संस्था बन जाना चाहिये। पटनाके प्रस्तावने इसको राजनीतिक संस्था बना दिया और गान्धीजी केवल मात्र रचनात्मक कार्यकर्ता रह गये।......अब कांग्रेस-जनोंके लिए सूत कातना अनिवार्य न था। "गान्धीजीने निश्चय कर लिया कि बर्कनहेडके जवाबमें वह स्वराजियोंके साथ सम्भव सहयोग करेंगे और परिषद सम्बन्धी कामोंमें प्रत्येक सहायता देंगे।" गान्धीजीके इस हथियार डाल देनेसे अपरिवर्तनशील बहुत चिन्तित हो उठे और बिहारके नेता राजेन्द्रप्रसादने गान्धीजीसे पटना-प्रस्तावपर हो रही बहसके दौरानमें पूछा कि कहीं गान्धी, नेहरू और दासके बीच कोई सन्धि तो नहीं हो गयी। गान्धीजीने उत्तर दिया कि दूसरे पक्षकी माँग स्वीकार करना मेरे लिए आत्म-सम्मानका प्रश्न बन गया है।

'असहयोग' अब आन्दोलनका हथियार नहीं रह गया था, और उसकी जगह नये नेताओं और अन्य राजनीतिक पार्टियोंने वैधानिक उपायोंका इस्तेमाल आरम्भ कर दिया।" अप्रैलके अन्त और मईके शुरूमें राजनीतिक क्रियाशीलता एकदमसे बढ़ गयी। इसका आरम्भ मद्रासकी एक विराट् सभामें श्रीमती बेसेण्टके भाषणसे हुआ। उन्होंने 'कॉमनवेल्थ ऑफ इण्डिया बिल'के लिए किस प्रकार उद्वेलन किया जाय' पर भाषण किया था। यह उन्होंने स्वयं ही तैयार किया था। वैधानिक ढंगकी सभाएँ और प्रान्तीय सम्मेलन खूब खुलकर हो रहे थे।

एक दृष्टि विधान-सभाओंपर भी डालनी चाहिये। अगस्तमें स्वराज पार्टीके उच्च

नेता विट्ठलभाई जे. पटेल विधान सभाके अध्यक्ष निर्वाचित हुए। भारत सरकारके १९१९ ऐक्टके नियमके अनुसार विधान सभाके निर्वाचनके प्रथम चार वर्षके अन्तमें नामजद अध्यक्ष-का स्थान विधान सभा द्वारा निर्वाचित अध्यक्षको मिलनेकी व्यवस्था थी। सितम्बर मासमें सुधारोंके प्रश्नपर स्वराजियोंने सरकारको करारी हार दी। मसला इस प्रकार उठा—दिसम्बर १९२४ में सरकारने, विधान सभाकी लगातार माँगपर एक कमेटी नियुक्त की, जो इस बातकी जाँच करनेवाली थी कि 'गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया ऐक्टको किस प्रकार कार्य रूपमें अधिक उदार बनाया जा सकता है। इस कमेटीके सभापति सरकारके गृहमन्त्री सर एले-क्जेण्डर मूडीमेन थे। कमेटी इन्हींके नामसे प्रसिद्ध थी। इस कमेटीने एक बहुमत (सर-कारी) की रिपोर्ट पेश की और एक अल्पमत (गैर-सरकारी) की। स्वभावतः सरकारी रिपोर्ट 'गवर्नमेंट ऑफ इन्डिया ऐक्ट' की सीमाओंसे बाहर नहीं जा सकती थी। परन्तु अल्पमतकी रिपोर्टमें 'पूर्ण उत्तरदायी सरकार' की माँग की गयी। विधान सभामें जब बहु-मतकी रिपोर्ट पेश की गयी तो स्वराजपार्टीके नेता मोतीलाल नेहरूने एक संशोधन पेश किया। संशोधनमें माँग की गयी थी कि प्रान्तोंमें द्वैध शासन खत्म करके उसकी जगह एकात्मक जिम्मेदार सरकार बनायी जाये और केन्द्रीय सरकार, फौजी व्यय, वैदेशिक नीति और राज-नीतिक महकमोंको छोड़कर शेष मामलोंमें केन्द्रीय विधान सभाके प्रति उत्तरदायी हो। संशोधनमें यह भी सिफारिश की गयी थी कि नये संविधानकी विस्तृत योजना बनानेके लिए एक गोलमेज सम्मेलन बुलाया जाय या ऐसा ही कोई अन्य उपाय किया जाय। दो दिनकी बहसके बाद मोतीलाल नेहरूके संशोधनने सरकारको ४५ वोटोंके मुकाबलेमें ७२ वोटोंसे हरा दिया। यह संशोधन लागू नहीं किया गया। फिर भी स्वराज पार्टीने यह तो साबित ही कर दिया था कि विधान सभाएँ केवल एक ढोंग हैं क्योंकि उनके बाकायदा स्वीकार किये हुए प्रस्ताव भी सरकारकी दृष्टिमें रद्दीकी टोकरीके कागजोंसे अधिक महत्व नहीं रखते। कमेटीकी सरकारी रिपोर्टका एक फायदा यह हुआ कि निर्वाचनके नियमोंको बदलकर औरतोंको भी विधान सभामें बैठनेका हक दे दिया गया।

स्वराज पार्टीकी ढुलमुल नीति, कभी सहयोग और कभी अवरोध, के कारण स्वराज पार्टीके अन्दर अनिश्चित मत धीरे-धीरे—'प्रतिदान सहयोग' की नीतिकी तरफ जा रहे थे। इस दिशामें एक महत्त्वपूर्ण संकेत जुलाईमें मिला, जब लाजपत रायने एक प्रकाशित वक्तव्यमें कहा "इस समय बीचका रास्ता अपनानेकी आवश्यकता है। हम सहयोगके लिए तैयार नहीं हैं। परिस्थितियोंके अन्दर जो भी सबसे अच्छा, व्यावहारिक और सम्भव होगा, हमें वही करना चाहिये।" उत्तरदायी सहयोगी (रेस्पांसिव कोआपरेटर्स) कहते थे कि सहयोग करनेका पथ-प्रदर्शन तो स्वयं मोतीलाल नेहरूने किया है। उन्होंने सॅन्डहर्स्ट कमेटी, जो स्कीन कमेटीके नामसे आम तौरपर जानी जाती थी, की सदस्यता स्वीकार कर ली थी। अक्तूबरके आरम्भमें मध्यप्रदेशकी विधान सभामें स्वराज्य पार्टीके नेता एस. बी. ताम्बेने पार्टीके अनुशासनके विरुद्ध मन्त्रि-पद ग्रहण कर लिया। मध्यप्रदेशकी विधान सभा अकेली विधान सभा थी जहाँ स्वराज्य पार्टीको पूर्ण बहुमत प्राप्त था।

ताम्बे घटना स्वराज्य पार्टीके अन्दर आगे चलकर होनेवाली टूट-फूटका आभास मात्र थी। मध्य प्रदेशकी स्वराज पार्टीके अन्दर ऐसे दूसरे लोग भी थे जो ताम्बेके परिवर्तित मतसे सहमत थे। बम्बई और महाराष्ट्रमें भी कुछ लोग इसी तरफ बढ़ रहे थे। एन. सी.

केल्कर., एम. आर. जयकर और डा. मुन्जे जैसे स्वराज्य पार्टीके प्रधान नेताओंने अपने आपको नई नीति, उत्तरदायी सहयोगका समर्थक घोषित कर दिया। मोतीलाल नेहरू और अलग होनेवालोंके बीच फिर बहुत गरमा-गरम बहस चली। पार्टीकी कार्यकारिणीकी बैठक नागपुरमें हुई और बैठकने ताम्बेके कार्यकी तीव्र निन्दा की। बादमें मुन्जे, जयकर और केल्करने विधान सभाकी सदस्यतासे इस्तीफा दे दिया। क्योंकि वे लोग स्वराज्य पार्टीके उम्मीदवारकी हैसियतसे निर्वाचित हुए थे। कुछ समयसे दोनों दल अखबारोंमें और सार्वजनिक स्तरपर अपने झगड़ोंको ले आये थे। बम्बईमें दोनों दलोंके लोग मिले और इस बातपर सहमत हो गये कि तमाम विवादके सार्वजनिक प्रश्नोंको कानपुरमें होनेवाले कांग्रेसके वार्षिक अधिवेशनतक रोक देना चाहिये।

लेकिन कानपुर कांग्रेस अधिवेशन (१९२५) ने 'उत्तरदायी-सहयोग' के माननेवालोंका समर्थन करनेके बजाय, अपनी नीतिको इतना अधिक उग्र कर दिया जहाँतक स्वराजी भी नहीं जा सकते थे। अध्यक्षा श्रीमती सरोजिनी नायडूने कहा कि "श्रीमती बेसेण्ट द्वारा बनाया हुआ 'कामनवेल्थ ऑफ इण्डिया बिल' भारतकी राष्ट्रीय-माँग बन गया है।..."अब यह सरकारके ऊपर है कि वह कोई जवाबी कदम उठाये और उस सरकारी कदमपर ही हमारा भविष्यका रुख निर्भर है। अगर उसका जवाबी कदम उदार और सचाईसे युक्त हुआ, और अगर सरकार सद्भाव एवं निष्ठासे काम करे, तो हमें अपनी वर्तमान नीतिमें परिवर्तनकी आवश्यकता पड़ेगी। परन्तु यदि हमें बसन्त अधिवेशनतक कोई जवाब न मिला या ऐसा जवाब मिला जो असली प्रश्नोंका जवाब नहीं देता और जिसे हमें अस्वीकार करना पड़े तो राष्ट्रीय कांग्रेसको अपने प्रभावके अन्दरके सब लोगोंको आदेश दे देना चाहिये कि वे केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान सभाओंसे त्यागपत्र दे दें और कैलाशसे कन्याकुमारीतक, सिन्धुसे ब्रह्मपुत्रतक, भारतीय जनताको एक संयुक्त संघर्षके लिए शिक्षित, तैयार और जागरित करनेके लिए अथक और गतिशील प्रयत्न शुरु कर दे।" उन्होंने नौजवानोंको याद दिलाया कि "हमारे सैकड़ों नौजवान देशप्रेमके कारण जेलमें सड़ रहे हैं। देशप्रेमके अपराधके लिए इस कानूनमें कोई छूट नहीं है।" उन्हें (सरोजिनी नायडू) विश्वास था कि "हमें स्वराज्य गान्धीके बताये रास्तेसे ही मिलेगा।" परन्तु देश, जैसा कि गान्धीजीने स्वीकार किया एक दूसरे आन्दोलनके लिए अभी तैयार नहीं था। गान्धीजीने कहा "मैं आज सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू कर देता यदि मैं समझता कि जनतामें चेतना और उत्साह है। परन्तु अफसोस है कि ऐसा नहीं है।"

कांग्रेस द्वारा स्वीकृत कार्यक्रमको देखनेसे पता चलता है कि कांग्रेस स्वराजियोंकी कठपुतलीकी हैसियत छोड़कर एक बार फिर लड़ाकू संघटन बननेकी चेष्टा कर रही थी। कार्यक्रम संक्षेपमें इस प्रकार था (क) देशमें कांग्रेसका कार्य, जनताको अपने राजनीतिक अधिकारोंकी शिक्षा देना और उन अधिकारोंको प्राप्त करनेके लिए संघर्ष करनेके लिए रचनात्मक कार्यों द्वारा आवश्यक शक्ति और ताकत इकट्ठा करना है। रचनात्मक कार्योंमें चरखा और खद्दरका प्रचार, साम्प्रदायिक एकता बढ़ाना, अछूतोद्धार, दलित वर्गोंकी दशा ठीक करना, शराबकी बुराई दूर करना मुख्य थे। इनमें स्थानीय स्वायत्त शासन संस्थाओंपर कब्जा करना भी शामिल था। (आ) अगर सरकारने भारतके नये संविधानपर अपना फैसला फरवरी १९२६ के अन्ततक नहीं सुनाया और यदि कांग्रेस कार्यकारिणीके

सदस्यों व महासमिति द्वारा नियुक्त अन्य सदस्योंकी विशेष समितिको वह फैसला सन्तोष-जनक न प्रतीत हुआ तो पार्टी उचित प्रणाली द्वारा सभामें सरकारको यह सूचना दे देगी कि भविष्यमें पार्टी विधान सभामें न रहेगी और न उसकी काररवाइयोंमें भाग लेगी। विधान सभा और राज्य परिषद्के स्वराजी सदस्य वित्तविधेयकके विरुद्ध वोट देंगे और तुरत ही विधान सभासे बाहर चले आवेंगे। ऐसी प्रान्तीय परिषदोंके स्वराजी सदस्य जिनका उस समय अधिवेशन हो रहा होगा, अपनी जगहें छोड़कर चले आवेंगे और जहाँ अधिवेशन उस समय न हो रहे होंगे वहाँके सदस्य भविष्यमें परिषदोंकी किसी भी बैठकमें भाग न लेंगे, और विशेष समितिको सूचना देंगे। विधानसभा, विधान परिषद या प्रान्तीय परिषदोंमें स्वराज्य पार्टीका कोई भी सदस्य—अपने स्थानको रिक्त घोषित होनेसे बचानेके अतिरिक्त, प्रान्तीय बजटोंको अस्वीकार कराने या किसी नये कर सम्बन्धी बैठकको छोड़कर सभा, परिषद या प्रान्तीय परिषद की, या उसकी किसी कमेटीकी बैठकमें भाग नहीं लेगा। परन्तु यदि विशेष समितिकी सम्मतिमें किसी विशेष आवश्यकताके कारण बैठकमें भाग लेना जरूरी है तो वह विधान सभाकी बैठकोंमें स्वराज पार्टीके सदस्योंको भाग लेनेकी अनुमति देगी। (इ) प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियोंकी कार्य-कारिणियोंको, अगले वर्षके 'आम चुनाव' के लिए उम्मीदवार तय करनेका अधिकार दे दिया गया।"

मदनमोहन मालवीय, जो 'उत्तरदायी सहयोग' के दलमें शामिल हो गये थे, इस कार्य-क्रममें एक संशोधन रखना चाहते थे। उन्होंने, प्रस्ताव रखा कि पूर्ण उत्तरदायी शासनकी प्राप्तिके लिए 'सहयोग अथवा अवरोध' की नीति आवश्यकतानुसार अपनाकर विधान सभाओंका यथासम्भव उपयोग किया जाय। यह संशोधन गिर गया। मुञ्जे, जयकर, और केलकरने विधान सभाओंसे अपने त्यागपत्र देनेकी घोषणा कर दी। कांग्रेस-की काररवाई चलानेके लिए हिन्दीको माध्यम बनानेका निश्चय हुआ।

कानपुरसे लौटनेके फौरन बाद ही जयकरने अपने मतसे सहमत बम्बई, बरार और मध्यप्रदेशकी विधान-परिषदोंके सदस्योंका एक सम्मेलन १६, १७ जनवरी १९२६ को पूनामें बुलाया। सम्मेलन आगामी कार्यक्रम और 'उत्तरदायी सहयोग' दल द्वारा विधानसभाके आगामी चुनाव लड़नेका निश्चय करनेके लिए बुलाया गया था। इस सम्मेलन और बादकी बैठकोंके फलस्वरूप स्वराज्य पार्टीकी भाँति ही शक्तिशाली (जैसा हम आगे चलकर देखेंगे) एक नयी पार्टीकी स्थापना हुई।

अब स्वराज पार्टीके सहयोगवादी, स्वतन्त्र और उदारदलीय लोगोंके उद्देश्योंमें कोई विशेष अन्तर न रह गया था। कलकत्तेमें सर मोरोपन्त जोशीकी अध्यक्षतामें हुए उदार-दलीय सम्मेलनके वार्षिक अधिवेशनने एक बार फिर प्रयत्न किया कि सब दलोंमें एकता हो जाय और वे कांग्रेसमें शामिल हो जायँ। यदि ऐसा न हो सके तो कम-से-कम ऊपर दिये हुए दल तो मिलकर एक हो जायँ। इस विषयपर बोलते हुए अध्यक्षने अपने भाषणमें कहा "यदि कांग्रेस वर्तमान स्थितिमें यह घोषणा करे कि 'सविनय अवज्ञा' और 'कर न दो' कांग्रेस नीतिके अंग नहीं हैं तो सब दलोंका कांग्रेसमें आना आसान हो जायगा। तब कांग्रेस तीव्र राजनीतिक प्रचार—जिसका सरकारपर प्रभाव पड़ेगा—की ओर अपना ध्यान एकाग्र कर सकेगी। यदि यह किसी कारणसे असम्भव हो तो 'सीधी काररवाई' (डाइरेक्ट ऐक्शन) वालोंके खिलाफ वैधानिक राजनीतिवालोंका एक हो जाना तो व्यावहारिक राजनीतिकी दृष्टिसे

सम्भव ही है। उन्होंने यह सुझाया कि "उदारदलीय, स्वतन्त्रों, 'उत्तरदायी सहयोग' वालों और परम्परावादियोंका एका तो हो ही सकता है।

बम्बई स्वराज्य पार्टीकी कार्यकारिणीने २० जनवरीको 'उत्तरदायी सहयोग' वापस लेनेका निश्चय किया। स्वराज्य पार्टी कमजोर हो रही थी, परन्तु कानपुर अधिवेशन द्वारा निश्चित कार्यक्रमको आगे ले जा रही थी।

उदारदलवाले अपनी नयी योजनाओंपर काम कर रहे थे। ३ अप्रैलको उन्होंने संयुक्त दल बनानेके लिए तैयार राजनीतिक दलोंके नेताओंका एक सम्मेलन बम्बईमें बुलाया। एम० ए० जिनाकी अध्यक्षतामें एक नयी पार्टी भारतीय राष्ट्रीय पार्टी (जो राष्ट्रीय पार्टीके नामसे भी प्रसिद्ध हुई) की स्थापना की गयी।

आश्चर्य इस बातका था कि एक समयके 'तूफानी कांग्रेसी' विपिनचन्द्र पाल भी 'सहयोगियों' में थे। राष्ट्रीय पार्टी (नेशनल पार्टी) का उद्देश्य शान्तिमय और वैधानिक तरीकोंसे (कर न दो आन्दोलन और सविनय अवज्ञाको छोड़कर) औपनिवेशिक स्वराज्य पानेकी तैयारी करना था। स्वभावतः यह नया संयुक्त दल स्वराज्य पार्टीके लिए एक चुनौती था। मोतीलाल नेहरूने पार्टीके दोनों पक्षोंको एक करनेकी कोशिशके लिए दोनों पक्षोंकी एक मीटिंग २१ अप्रैलको साबरमतीमें बुलायी। इस समझौतेके ऊपर कि "विधान सभामें स्वराज्य पार्टी द्वारा फरवरी १९२४ में उठायी गयी माँगके जवाबमें अगर सरकारने मन्त्रियोंको प्रभावकर रूपसे कर्त्तव्यपालनके लिए यथेष्ट शक्ति और जिम्मेदारी दे दी, तो वह जवाब सन्तोषप्रद माना जायगा" थोड़े समय चलनेवाली एकता प्राप्त कर ली गयी। यह समझौता 'साबरमती समझौते'के नामसे मशहूर है। परन्तु अभी समझौतेकी स्याही सूखी भी न थी कि कुछ कांग्रेसजनोंने, विशेषतः आन्ध्र कांग्रेस कमेटीके अध्यक्ष टी० प्रकाशमने इस समझौतेको कानपुर-प्रस्तावके विरुद्ध कहकर उसकी तीव्र निन्दा शुरू कर दी। और जब मोतीलाल नेहरूने अपने कांग्रेसके साथियोंको सन्तुष्ट करनेके लिए इसका स्पष्टीकरण किया तो सहयोगवादियोंने कहा कि यह स्पष्टीकरण समझौतेके क्षेत्रके बाहर है। मोतीलाल नेहरूका स्पष्टीकरण यह था कि 'मन्त्री विधान सभाके प्रति पूर्ण उत्तरदायी हों तथा उनको हस्तान्तरित विभागोंकी नौकरियोंपर पूरा नियन्त्रण प्राप्त हो; और राष्ट्रीय-उत्थान सम्बन्धी विभागोंको उचित धन-सहायता मिले।' जयकरने इस स्पष्टीकरणको समझौतेका उपहास बताया। समझौता रद्द हो गया।

प्रान्तीय और केन्द्रीय विधान सभाके लिए आम चुनाव नवम्बर १९२६ में हुए। इस बारका 'चुनाव रंगमंच' पिछले चुनावसे बिल्कुल भिन्न था।

दो भागोंमें बँट जानेके कारण स्वराज पार्टी कमजोर हो गयी थी। सम्प्रदायवाद (जो आगामी अध्यायमें विस्तारसे वर्णित है) का बोलबाला था। मतदाता, जो जनसंख्याके ४% थे, यह समझते थे कि असहयोग आन्दोलन समाप्त हो गया है और इसीके साथ हिन्दू-मुस्लिम एकता भी। साम्प्रदायिकताका लगभग उतना ही प्रभाव हो गया था जितना कांग्रेसका। सम्प्रदायवादकी सबसे बड़ी जीत स्वराज्य पार्टीके अन्दरसे कुछ अनुभवी नेताओंका साम्प्रदायिकताके रंगमें रँग जाना था। इसलिए १९२६ के चुनावोंके परिणाम स्वराज्य पार्टीको निराशा प्रदान करनेवाले थे। स्वराज्य पार्टीने १९२३ में हासिल की हुई जीत इस बार खो दी। मद्रास प्रेसीडेन्सीको छोड़कर, जहाँ उनकी पूर्ण विजय हुई, स्वराज्यपार्टी

हर जगह बुरी तरह हारी। दंगों और सम्प्रदायवादके केन्द्रोंसे दूर मद्रासपर जैसे बदली हुई राजनीतिक परिस्थितिका कोई प्रभाव पड़ा ही नहीं। इसके अतिरिक्त 'अब्राह्मणों' की 'जस्टिस पार्टी' संकुचित दृष्टिकोणके कारण भूतपूर्व परिषद्में बुरा 'प्रभाव' छोड़ गयी थी। स्वराज्य पार्टीकी सबसे बड़ी हार हुई पंजाब और संयुक्तप्रान्त (उत्तर प्रदेश) में जहाँ साम्प्रदायिकता अपने सबसे भयानक रूपमें आधिपत्य जमाये हुई थी। स्वराज्य पार्टीकी तरफसे एक भी मुसलमानने चुनाव नहीं लड़ा। "स्वराज्य पार्टीसे सम्बन्ध न रखनेवाले विधान सभाके लगभग सभी हिन्दू सदस्योंने मालवीय, जयकर और लाजपतरायके नेतृत्वमें एक राष्ट्रीय पार्टी, स्थापित कर ली। पिछली विधानसभाकी स्वतन्त्र पार्टी जिसके नेता जिना थे विलीन हो गयी। उदारदलवाले एक संघटित पार्टीकी हैसियतसे न रह गये थे। अब जिनाके पीछे दो हिन्दू और कुछ मुस्लिम सदस्य रह गये थे। मुस्लिम सदस्योंका बहुमत असंघटित रूपमें अलग बैठता था। सब प्रान्तोंमें मन्त्रिमण्डल बने, यहाँतक मद्राससे जहाँ स्वराज्य पार्टीको निर्णयात्मक शक्ति प्राप्त थी''''''यू० पी० में 'सहयोगवादियों' और कट्टर हिन्दुओंके दृष्टिकोणोंका समर्थन करनेवालोंने एक संयुक्त दल बनाया। यह दल कभी-कभी 'स्वतन्त्र कांग्रेस दल' इण्डिपेण्डेण्ट कांग्रेस पार्टी भी कहलाता था। पंजाबमें नवम्बरके चुनावके हिन्दू उम्मीदवार लाजपत रायके साथ हो गये और ये लोग अपनेको 'हिन्दू महासभाई' कहने लगे।" वास्तवमें राष्ट्रीय पार्टी (नैशनलिस्ट पार्टी) हिन्दू महासभाइयों और सहयोगवादियोंसे ही बनी थी। बहुतसे प्रश्नोंपर निर्वाचित सदस्योंने एक होकर सरकारको हराया।

गोहाटीमें हुए १९२६के कांग्रेस अधिवेशनकी अध्यक्षता एस० श्रीनिवास ऐयरने की। अपने भाषणमें उन्होंने केन्द्रीय सभा द्वारा की हुई राष्ट्रीय माँगपर जोर दिया। उस वर्षके अधिवेशनके मुख्य प्रस्ताव थे "स्वराज्य पार्टीको (१) मन्त्रिपद अस्वीकार कर देना चाहिये। (२) माँगोंको नामंजूर कर बजटको अस्वीकृत कर देना चाहिये, (३) नौकरशाहीकी स्थितिको मजबूत करनेवाले सब प्रस्तावोंको अस्वीकृत कर देना चाहिये। परन्तु देशकी आर्थिक स्थिति, कृषि, उद्योग और व्यवसायकी उन्नति सम्बन्धी प्रस्तावोंका समर्थन करना चाहिये। खेतिहर किसानोंकी उन्नति तथा मजदूरोंके अधिकारोंकी रक्षाके लिए कदम उठाना चाहिये। गोहाटीमें 'सहयोगवादी' काँग्रेससे अलग हो गये। इसी अधिवेशनमें काँग्रेस जनोंके लिए खद्दर पहनना अनिवार्य कर दिया गया।"

अध्याय २०

साम्प्रदायिक वैमनस्य पुनः आरम्भ

१९१२ में जैसा कि याद होगा, सर सैयदके विचारोंके मुस्लिम नेता, ट्रिपोली और बाल्कन युद्धमें अंग्रेजी सरकारके तुर्कोंके खिलाफ रवैयेसे, अंग्रेजोंके विरुद्ध होने लगे थे। इसके बादके दस सालका युग भारतीय राजनीतिमें हिन्दू-मुस्लिम ऐक्यका काल है। ताज्जुबकी बात यह है कि जहाँ यह युग भारतीय राजनीतिक इतिहासका सुनहला पृष्ठ है, वहीं यह दौर छिटफुट हिन्दू-मुस्लिम दंगोंके कारण बदनाम भी है। १८९३ और १९११ के बीच हिन्दू-मुस्लिम दंगे लगभग नहीं ही हुए। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कांग्रेसके जन्म (१८८५) से ही अलीगढ़ विचारोंके मुस्लिम नेता कांग्रेसके खिलाफ रहे हैं परन्तु अभीतक कभी साम्प्रदायिक दंगे नहीं हुए। १९११, १९१२, १९१३, १९१६, १९१७ में गोवधके प्रश्नके ऊपर विहारके विभिन्न जिलोंमें भयानक दंगे हुए। जब हिन्दू और मुसलमान अंग्रेजोंके विरुद्ध एक हो गये तो ये दंगे क्यों हुए? इस सवालका जवाब एक दूसरे सवालसे ही दिया जा सकता है। हिन्दू और मुसलमानोंके एकेपर अंग्रेजोंकी क्या प्रतिक्रिया हुई? अंग्रेजोंको यह एकता पसन्द नहीं आयी और न यह उनकी योजनाके अनुकूल थी। इस एकताकी चरम सीमा १९१६ का लखनऊ समझौता था जो दोनों सम्प्रदायोंके बीच हुआ एक राजनीतिक समझौता था। लीग और कांग्रेसके इस समझौतेको बाकायदा स्वीकार कर लेनेके बाद, मुसलमानोंको अपनी तरफ मिलानेकी चिन्ता और व्यग्रतामें भारत सरकारने घोषणा की कि समझौतेमें बंगालके मुसलमानोंके साथ न्याय नहीं हुआ है। सरकारने तर्क दिया "बंगालके मुसलमानोंका प्रतिनिधित्व साफ तौरपर कम है। यह विवादास्पद है कि जब यह समझौता हो रहा था तो पूर्वी बंगालकी मुस्लिम जन-संख्याको उपयुक्त प्रतिनिधित्व देनेपर जोर दिया गया। बंगालके मुसलमानोंको उनके अनुपातके अनुसार प्रतिनिधित्व देनेके लिए (उससे अधिक नहीं) उन्हें ३४ स्थानोंके बजाय ४४ सीटें मिलनी चाहिये (समझौतेमें बंगालके मुसलमानोंको ३४ सीटें दी गयी थीं)। मुस्लिम-लीगको मुसलमानोंके खिलाफ भड़कानेके लिए यह एक बहुत होशियार चाल थी, मगर यह नाकामयाब रही। बादको लखनऊ समझौतेको १९१९ के ऐक्टमें भी शामिल कर लिया गया। पार्लमेंट द्वारा भारत सरकार सुधार विधेयक (१९१९) के प्रश्नपर नियुक्त संयुक्त प्रवर समिति (जॉइंट सिलेक्ट कमिटी) के सामने गवाही देते हुए, एक प्रश्नके उत्तरमें जिनाने कहा कि समितिको भारत सरकारका बंगाल-सम्बन्धी प्रस्ताव रद कर देना चाहिये। जिनाने आगे कहा कि "मेरी रायमें मुसलमानोंके लिए पृथक साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्वका उपबन्ध खत्म कर देना चाहिये।" उन्होंने आशा प्रकट की कि वह दिन दूर नहीं जब पृथक निर्वाचन बिलकुल ही गायब हो जायगा। उनका प्रश्नकर्ता—एक अंग्रेज सज्जन—आश्चर्यचकित हो गया। १९१८ में जिनाने रौलट बिलके विरोधमें केन्द्रीय विधान परिषदकी सदस्यतासे त्यागपत्र दे दिया था।

प्रवर समितिके सामने दी हुई, जिनाकी दूसरी गवाहीसे साम्प्रदायिक दंगोंके कारणोंपर

प्रकाश पड़ता है। एक प्रश्नका उत्तर देते हुए जिनाने कहा "अगर आप मुझसे पूछें तो ज्यादातर यह झगड़े गलतफहमियोंकी वजहसे होते हैं; यह गलतफहमी पुलिसके एक या दूसरे सम्प्रदायका पक्ष लेनेसे पैदा हो जाती है क्योंकि इस पक्षपातके कारण दूसरा सम्प्रदाय क्रोधित हो उठता है। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि भारतीय रियासतोंमें हिन्दू-मुस्लिम दंगोंकी खबरें नहीं सुनाई पड़तीं। और इस समितिके सामने, मुझे बिना नाम बतलाये यह बतलानेमें कोई संकोच नहीं है कि मैंने जब एक रियासतके राजासे इसका कारण पूछा तो उन्होंने मुझे बताया 'जब कभी हम छानबीन करते हैं तो हमें पता चलता है कि झगड़ेकी जड़ पुलिस ही है। पुलिस द्वारा हिन्दुओं या मुसलमानोंका पक्ष लेनेके कारण ही झगड़े होते हैं। इसका सबसे अच्छा उपाय जो हम करते हैं, वह यह कि जैसे ही हमें झगड़ेकी खबर मिलती है हम वहाँसे पुलिसके हाकिम (झगड़ा करानेके लिये जिम्मेदार) को वहाँसे हटा देते हैं और झगड़ा खत्म हो जाता है।' यह साबित करता है कि पुलिसको किसी भी समय साम्प्रदायिक दंगे करानेके लिये इस्तेमाल किया जा सकता है। दोनों सम्प्रदायोंके धर्मांधोंको एक दूसरेका सिर फोड़नेको उत्तेजित करनेके लिये किसी अधिक बुद्धिमान व्यक्तिकी तो आवश्यकता पड़ती नहीं। उदाहरणके तौरपर हिन्दू-मन्दिरोंमें गोश्तका टुकड़ा या मस्जिदोंमें सूअरका गोश्त रख देने भरसे और उसके बाद यह अफवाह उड़ा देनेसे कि हिन्दू या मुसलमान (जैसा भी हो) ने पूजाकी जगहको अपवित्र करनेके मतलबसे यह किया है, झगड़ा हो जाता है। किसी तीसरी पार्टीके लिए (जिसका हित दोनों सम्प्रदायोंको अलग-अलग रखनेमें है) झगड़ा कराना कितना आसान है। हिन्दू-मुस्लिम दगोंको प्रोत्साहन देनेके सर्वोत्तम अवसर दोनों सम्प्रदायोंके त्योहार होते थे;—कांग्रेस-लीगके समझौतेके कालमें त्योहारोंपर दंगे अधिक हुए। यह एक अजीब-सी बात है। क्या समझौतेके कालमें त्योहारोंका महत्व विशेष रूपसे बढ़ गया था? अंग्रेज-शासक और लेखकगण उस समय यह कहते थे कि भारत स्वराज्यके रास्तेपर आगे बढ़ रहा है और हिन्दू और मुसलमान दोनों ही अपने-अपने राजनीतिक अधिकारोंके प्रति जागरूक हो गये हैं; इसी लिए झगड़े अधिक होते हैं, इन तर्कोंको देनेवालोंके विचारमें स्वराज्यके लिए एक होनेवाले दोनों पक्षोंके नेताओंसे यह धर्मान्ध शायद ज्यादा देशभक्त थे। हिन्दू प्रधान बिहार प्रान्तके दंगोंमें मुसलमानोंकी सबसे ज्यादा बर्बादी हुई। फौरन ही अंग्रेज अधिकारियों और लेखकोंने यह मशहूर करना शुरू कर दिया कि बिना अंग्रेजी सुरक्षाके मुसलमान हमेशा अरक्षित रहेंगे और स्वराज्यका अर्थ होगा- हिन्दू राज। इसी प्रकारसे मोपला विद्रोहमें, मुस्लिम क्रोधका शिकार हिन्दू हुए—हालाँ कि मोपलाओंका उद्देश्य अंग्रेजी शासनको समाप्त करना था—हिन्दुओंको 'कांग्रेस-खिलाफत गठबन्धन' के विरुद्ध चेतावनी दी गयी। बंगाल और पंजाबमें १९२१ और १९२२ में फिर दंगे हुए। परन्तु कांग्रेस लीग एका बराबर तबतक कायम रहा जबतक कि लीग 'असहयोग' के प्रश्नपर एकेसे पिछड़ने लगी। उसकी जगह खिलाफत कमेटीने ले ली। दंगेके बावजूद, इस एकेको देखकर उन लोगोंको बहुत निराशा हुई जो इस एकताको तोड़ देना चाहते थे।

परन्तु 'असहयोग' के स्थगित करने या उसके असफल हो जाने और तुर्कीके राजनीतिक वातावरणमें परिवर्तन हो जानेसे भारतका राजनीतिक रूप ही बदल गया। कुछ वर्षोंके अनवरत संघर्षके बाद तुर्कीका युवक आन्दोलन सत्तापर अधिकार जमानेमें सफल हो गया। सुल्तान अब्दुल हमीदको तख्त और खिलाफत छोड़ देनेको बाध्य होना पड़ा।

१९२३ में मुस्तफा कमालपाशाने सुलतानका पद ही समाप्त कर दिया और तुर्कीको एक गणतन्त्र राज्य घोषित कर दिया। उन्होंने लोगोंकी धार्मिक भावनाओंके आदरस्वरूप खलीफाका पद कायम रखा। परन्तु साथ ही यह विधान बना दिया कि भविष्यमें खलीफाका पद केवल अध्यात्म विषयोंतक ही सीमित रहेगा। सुल्तान अब्दुल हमीदके भाग जाने पर उनके भतीजे अब्दुलमजीद एफेन्दी खलीफा हुए। "परन्तु जब कुछ भारतीय मुस्लिम नेताओंने एक पत्र द्वारा नयी सरकारसे खलीफाके साथ और अधिक अच्छा व्यवहार करनेकी प्रार्थना की, तो मुस्तफा कमाल पाशाने इस घटनाकी आड़ लेकर खलीफाका पद भी समाप्त कर दिया, और कहा कि इसके कायम रखनेसे तुर्कीके मामलोंमें वैदेशिक हस्तक्षेप होगा।"[1] इस खबरसे, जो भारतमें १० मार्च १९२४ को पहुँची, खिलाफतके नेता अति व्यग्र हो उठे और उन्होंने उत्तेजनामें तुर्की जानेके लिए एक शिष्ट-मण्डल नियुक्त कर दिया। परन्तु इस शिष्टमण्डलको यात्राकी अनुमति नहीं मिली। जैसा कि जवाहरलाल नेहरूने कहा है कि कमालपाशाके "धर्मविरोध, सुल्तान और खलीफाके पदको समाप्त कर देने, धर्मनिरपेक्ष राज्य कायम करने और धार्मिक पदोंको तोड़ देनेसे, मुसलमानोंके दिलोंमें गदरके जमानेसे बननेवाले धार्मिक साम्राज्यका स्वप्न नष्ट हो गया।"[2] खिलाफत आन्दोलनका केन्द्र अन्यत्र था और जब उसके अन्तर्भागको ही अतातुर्कने नष्ट कर दिया तो ऊपरी ढाँचा भी चरमरा गया और मुस्लिम जनता आश्चर्यचकित रह गयी। न सिर्फ यह, बल्कि राजनीतिक कार्योंके प्रति उदासीनता हो गयी।"[3] खिलाफत आन्दोलनके नेता मुहम्मदअली तो कभी भी राष्ट्रवादी नहीं बन सके और 'असहयोग' आन्दोलनके आरम्भके पूर्व ही उन्होंने इस बातकी सार्वजनिक रूपसे घोषणा भी कर दी थी। मद्रासमें १९२० के ग्रीष्ममें दिये गये भाषणमें मुहम्मद अलीने कहा था कि अगर अफगानिस्तान भारतपर हमला करता है तो भारतीय मुसलमान अफगानिस्तानकी सहायता करेगा।[4] भारतके मुसलमानोंको अफगानिस्तान-का पंचमांगी बनानेका यह एक नारा था। मौलाना अबुलकलाम आजादने इस भाषणकी प्रतिक्रियाको रोकनेकी कोशिश की। उन्होंने यह समझाते हुए कि अफगानिस्तान द्वारा भारतपर आक्रमणके समय मुसलमानोंका क्या रुख होना चाहिये, कहा "जब भारत स्वतन्त्र हो, सरकार कायम हो, दूसरे सम्प्रदायोंकी तरह मुसलमानोंको स्वतन्त्रताकी गारण्टी प्राप्त हो तो मुसलमानोंके लिए यह इस्लामका हुक्म बन जाता है कि आक्रमणकारियोंसे भारतकी रक्षा करें। आक्रमणकारी मुसलमान और स्वयं खलीफाकी सेना ही क्यों न हो। परन्तु गान्धीजीने इसे अपने ढंगसे समझाया। उन्होंने कहा "अगर अफगानिस्तानके अमीरने अंग्रेजी सरकारके खिलाफ लड़ाई छेड़ी तो एक तरीकेसे मैं उनकी मदद करूँगा। यानी मैं अपने देशवासियोंको खुलेआम बताऊँगा कि एक ऐसी सरकारकी मदद करना अपराध है जिसने सत्तापर अधिकार रखनेके लिए राष्ट्रका विश्वास खो दिया है।" इन दोनों भाषणोंमें प्रत्यक्ष रूपसे अन्तर है। मुहम्मदअली कभी भी प्रजातन्त्र, या धार्मिक निरपेक्षता अथवा भारतीय

---

१. स्टीफेन किंग हाल, अवर ओन टाइम्स १९१३-३८, पृष्ठ १८०

२. नेहरू, डिस्कवरी ऑफ इण्डिया, पृष्ठ ३०२

३. वही पुस्तक, पृष्ठ ३०३

४. तुफैल अहमद, मुसलमानोंका रोशन मुस्तकबिल, पृष्ठ ५१२

राष्ट्रीयताके बारेमें नहीं सोच सकते थे। उनके कराचीके भाषणके सम्बन्धमें जो मुकदमा उनपर चला था उसके सम्बन्धमें उन्होंने अदालतके सामने अपने बयानमें कुरानी धार्मिक राज्य-के नक्शेको बहुत विस्तारसे समझाया। पर भारतीय स्वतन्त्रता या भारतीय-आकांक्षाओं अथवा भारतकी गरीबीके बारेमें, जिससे शायद हिन्दुओंसे अधिक मुसलमान संकटमें थे, एक शब्द भी नहीं कहा। परन्तु खिलाफतके प्रश्नपर मुहम्मद अली कांग्रेससे बिल्कुल हिल-मिल गये थे। वे गान्धीजीके बहुत बड़े प्रशंसक थे।

१९२३ के कांग्रेस अधिवेशनमें उन्होंने अध्यक्ष-पदसे भाषण करते हुए कहा "बहुतों-ने महात्माकी शिक्षाओं और बादमें उनके व्यक्तिगत कष्टप्रद बलिदानोंकी ईसा मसीह से (ईश्वर उन्हें शान्ति दे) तुलना की है........महात्माके आगमनसे पहले भारतकी राज-नीतिक दशा वैसी ही थी जैसी कि ईसाके पहले यरूशलमकी थी और भारतके दुखोंके निवारणका जो उपाय महात्माने बताया वही ईसूने यरूशलमके लोगोंको बताया था। बलि-दानोंके द्वारा आत्म-शुद्धि, सरकारकी जिम्मेदारीके लिए नैतिक तैयारी, स्वराज्य प्राप्तिके लिए पहली शर्त आत्म-अनुशासन यह महात्माके विचार और विश्वास थे।" परन्तु इन्हीं मुहम्मदअलीने अलीगढ़ और अजमेरमें एक वर्ष बाद भाषण करते हुए कहा—"मिस्टर गान्धी-का चरित्र चाहे जितना शुद्ध क्यों न हो, परन्तु धार्मिक दृष्टिकोणसे वे मुझे किसी भी मुसल-मानसे हीन नजर आते हैं चाहे वह मुसलमान चरित्रहीन क्यों न हो (अंबेडकरकी पुस्तक)।"

इस व्याख्यानकी रिपोर्टकी सचाईका बहुतोंने यकीन नहीं किया। कुछ समय बाद जब वे लखनऊकी एक सभामें व्याख्यान दे रहे थे तो उनसे पूछा गया कि क्या उनके दिल्लीके भाषणकी रिपोर्ट सही है? उन्होंने जवाब दिया "हाँ, अपने धर्म और मतके अनुसार मैं एक व्यभिचारी और पतित मुसलमानको मिस्टर गान्धीसे अच्छा समझता हूँ।"

मुहम्मदअलीमें यह परिवर्त्तन तब आया जब स्वराज्य-राजनीतिने असहयोग आन्दोलनका स्थान ले लिया, तुर्कीमें खिलाफत खत्म हो चुकी थी और भारतमें हिन्दू-मुस्लिम दंगोंका बोल-बाला था। अंग्रेज फिर हावी हो गये। ऐसा प्रतीत होने लगा था कि १९१३ से अबतककी राजनीतिक प्रगति खत्म हो गयी है; और एक बार फिर सविनय अवज्ञा आन्दोलनके असफल हो जाने और हिन्दू-मुस्लिम एकताके संयुक्त मोर्चेके टूट जानेके बाद भारतीय राजनीतिक नेता, अंग्रेज सरकारसे भारतको जिम्मेदार स्वशासन देनेकी प्रार्थना कर रहे थे, यद्यपि प्रार्थनापत्रोंमें छिपी हुई धमकी भी होती थी। और अंग्रेज संकट गुजरनेके बाद, निकट भविष्यमें और सुधार करनेके लिए प्रस्तुत नहीं थे। अंग्रेज अधिकारियोंके सामने अब केवल एक ही समस्या थी—अपनी पुरानी स्थितिको फिर प्राप्त कर लेना; यानी हिन्दू और मुसलमानोंके बीच सन्तुलन कायम रखनेकी ताकत रखना। १९२२ और १९२३ में तो साम्प्रदायिक दंगोंकी एक बाढ़-सी आ गयी। "विशेषतया १९२३ में तो हिन्दू और मुसलमानोंके बीचकी तनातनी बहुत अधिक बढ़ गयी। मार्च और अप्रैलमें अमृतसर, मुल्तान और पंजाबके दूसरे हिस्सोंमें खुलकर दंगे हुए। मईमें अमृतसरमें और भयानक दंगे हुए। सिन्धमें भी झगड़े हुए। जून और जुलाईमें यू० पी० के मुरादाबाद, मेरठ और इलाहाबादके जिलोंमें हिन्दू-मुस्लिम झगड़े हुए। अजमेरमें एक गम्भीर दंगा हुआ। अगस्त और सितम्बरमें अमृतसर, पानीपत, जबलपुर, गोंडा, आगरा और रायबरेलीमें दंगोंके कारण स्थिति गम्भीर हो गयी। सब उपद्रवोंमें ज्यादा भयानक झगड़ा मोहर्रमके

सिलसिलेमें सहारनपुरमें हुआ।"[१] दिल्ली, नागपुर, लाहौर, लखनऊ, भागलपुर, गुलबर्गा, शाहजहाँपुर, कोकोनाड़ामें भी हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए। "१९२४ के आरम्भिक महीनोंमें दोनों तरफके साम्प्रदायिक अखबारोंने जी खोलकर एकदूसरेपर गालीगलौजकी बौछार की।"[२] सितम्बर १९२४ में कोहाटमें (उत्तरी पश्चिमी सीमाप्रान्त) एक भयानक दंगा हुआ। "लगभग १५५ आदमी मारे गये और घायल हुए। अनुमानतः नौ लाख रुपयेकी सम्पत्ति—मकान और सामान बर्बाद हो गया और बहुत ज्यादा सामान लूट लिया गया। कोहाटकी कुल हिन्दू आबादी कोहाट छोड़कर भाग गयी।"[३] डा० सीतारमैयाके अनुसार "नौ और दस सितम्बरके गोलीकाण्ड और रक्तपातके बाद वहाँसे ४००० हिन्दुओंको एक विशेष रेलगाड़ी द्वारा हटाना पड़ा। इन ४००० में २७०० आदमी पिछले दो महीनेसे रावलपिण्डीके लोगोंकी दयापर जीवित थे। शेष १४०० दूसरी जगहोंके थे।"[४]

गान्धीजीकी आत्मा दुःखित थी। उन्होंने दिल्लीमें मुहम्मद अलीके निवास-स्थानपर २१ दिनका अनशन आरम्भ किया। दोनों सम्प्रदायोंके नेता इस हिंसक उन्मादको रोकनेके लिए व्यग्र थे और गांधीजीके अनशनसे दोनों पक्षोंके नेताओंके लिए स्थितिपर गौर करनेके लिए फौरन मिलना बहुत जरूरी हो गया। सब सम्प्रदायोंके नेताओंने २६ सितम्बरसे २ अक्टूबर तक एक सम्मेलन किया। सम्मेलनके सब सदस्योंने प्रण किया कि आत्मा और धर्मकी स्वतन्त्रताके सिद्धान्तोंको लागू करानेके लिए भरसक प्रयत्न करेंगे और उत्तेजनामें भी इन सिद्धान्तोंसे डिग जानेकी घोर निन्दा करेंगे। एक राष्ट्रीय पंचायतकी स्थापना की गयी जिसमें हकीम अजमल खाँ, लाजपतराय, जी. के. नेरीमेनर, डाक्टर एस. के दत्त और मास्टर सुन्दरसिंह थे। इसके सभापति और संयोजक गान्धीजी नियुक्त किये गये। इस सम्मेलनने, धार्मिक विचारोंको मानने और व्यक्त करने, तथा धार्मिक कार्योंको सम्पादित करने, पूजाके स्थानोंकी पवित्रता, गोवध, मसजिदोंके सामने गाना-बजाना सम्बन्धी कुछ मौलिक अधिकार और इनकी कुछ सीमाएँ नियत कर दीं। अखबारोंको अपने लेखोंमें सावधानी बरतनेकी चेतावनी दी गयी। लोगोंसे प्रार्थना की गयी कि गान्धीजीके अनशनके अन्तिम सप्ताहमें वे प्रार्थना करें। आठ अक्टूबरका दिन सार्वजनिक सभाओंमे ईश्वरोपासना-के लिए नियत कर दिया गया।"[५] यह व्रत और सम्मेलन कुछ समयके लिए उपद्रवी तत्वोंको जरूर रोक सकता था, परन्तु इस भयानक बीमारी, जिसको बेरोकटोक बढ़ाया जा रहा था, के लिये यह कोई स्थायी उपाय नहीं था। साम्प्रदायिक संघटन जो राष्ट्रीयताके बढ़ते हुए सूर्यके सामने अन्धकारमें छिप गये थे, फिरसे उभरने लगे। इनको दंगोंके कारण जीवन-पोषण मिल रहा था। कुछ राष्ट्रीय नेता अब अपने अपने साम्प्रदायिक संघटनोंमें एकत्र होने लगे। अंग्रेजों-विरोधी संघर्षका स्थान अब मुसलमानोंके हिन्दुओंसे सुरक्षित रहने और हिन्दुओंके मुसलमानोंसे सुरक्षित रहनेके आन्दोलनोंने ले लिया। एक तरफके लोग दूसरी तरफ

१. इण्डिया इन १९२४ २५, पृष्ठ ३००-३०१
२. वही पुस्तक, पृष्ठ ३२०
३. वही पुस्तक, पृष्ठ २२
४. हिस्ट्री आफ इण्डियन नेशनल कांग्रेस, भाग १, पृष्ठ २७५-७६
५. वही पुस्तक पृष्ठ २७६

के लोगोंके खिलाफ जो तैयारियाँ करते थे, वे अधिक शक्तिशाली नहीं थीं। उनका असर सिर्फ दूसरे पक्षको नाराज करना होता था, नाराज करनेवाले सम्प्रदायको इनसे कोई वास्तविक फायदा भी न होता था। बंगाल और पंजाबमें, साम्प्रदायिक दंगोंने हिन्दू नेताओंके अन्दर यह भावना पैदा कर दी कि वे अरक्षित हैं क्योंकि वहाँ हिन्दू अल्प संख्यामें थे, विशेपतया इसलिए कि इन सूबोंके मुसलमान माँग कर रहे थे कि उनको स्थायी रूपसे बहुसंख्यक मान लिया जाय। पंजाबके एक हिस्सेमें यह भावना बहुत दिनोंसे थी और इसका प्रत्यक्ष रूप हिन्दू महासभा थी जो बिना विशेष प्रभावके बराबर कायम थी। साम्प्रदायिक वातावरणके गरम होते ही यह संघटन एकदमसे प्रकाशमें आ गया। इसका पहला महत्वपूर्ण अधिवेशन १९२३ में मदनमोहन मालवीयकी अध्यक्षतामें बनारसमें हुआ। महासभाने एक प्रस्ताव द्वारा हिन्दुओंसे अछूतोंको सार्वजनिक कुँओं, स्कूलों और मन्दिरोंको इस्तेमाल करनेकी अनुमति देनेकी प्रार्थना की। हिन्दू महासभाकी प्रान्तीय व स्थानीय शाखाएँ संघटित की जाने लगीं। हिन्दुओंके बलपूर्वक धर्म-परिवर्तन, मोपलाओं द्वारा हिन्दुओंपर अत्याचार और बादमें मुल्तानके दंगोंसे, जिनमें "हिन्दुओंके पूजास्थल गन्दे और नष्ट-भ्रष्ट किये गये थे, बहुतसे हिन्दू मारे गये थे, बहुतसे हिन्दू घर लूटे और जला दिये गये थे।"[1] इन बातोंसे श्रद्धानन्द जैसे हिन्दू नेताओंको यह आवश्यकता मालूम हुई कि मुसलमानोंको हिन्दुत्वमें वापस लानेके लिए 'शुद्धि आन्दोलन' शुरू किया जाय। इस प्रकारसे शुद्धि आन्दोलनका जन्म हुआ। इस आन्दोलनके बारेमें डा० राजेन्द्रप्रसाद कहते हैं" राष्ट्रीयतावादियों और मुसलमानों दोनोंने स्वामी श्रद्धानन्दके 'शुद्धि आन्दोलन' की आलोचना की है। समय विशेपपर इसकी उपयुक्तताके बारेमें चाहे कोई कुछ भी कहे, परन्तु यह समझना मुश्किल है कि ईसाई या मुसलमान इसकी आलोचना कैसे कर सकते हैं वे तो स्वयं धर्मपरिवर्तनके मिशनपर और हिन्दुओंको अपने धर्ममें मिलानेमें बराबर लगे रहते हैं। अगर हिन्दू भी गैर-हिन्दुओंको अपने धर्ममें लाते हैं तो इससे गैर-हिन्दुओंको कोई मतलब नहीं है और न उनको आपत्ति करनी चाहिये विशेपतया जब कि वे स्वयं धर्म-परिवर्तनमें संलग्न रहते हैं। हिन्दुओंको भी अपने धर्मका प्रचार करनेका अधिकार उसी प्रकार प्राप्त है जिस प्रकार दूसरोंको। परन्तु आदमी हमेशा तर्क, न्याय एवं औचित्यकी भावनासे ही सब काम नहीं करता। मुसलमानोंमें शुद्धि आन्दोलन और स्वामी श्रद्धानन्दके प्रति बहुत कटुता पैदा हो गयी, जिसके फलस्वरूप, कुछ समय बाद, स्वामी श्रद्धानन्द एक मुसलमान हत्यारेके शिकार हो गये। मुसलमानोंने शुद्धि-आन्दोलनके जवाबमें 'तबलीग' और 'तन्जीम' आन्दोलन चलाये।"[2]

कांग्रेस संघटन दृढ़तासे अपना धर्म-निरपेक्ष और असाम्प्रदायिक रूप बनाये हुए था। १९२३ के अन्तिम तीन महीनोंमें प्रधान कांग्रेसजन साम्प्रदायिक तनातनी दूर करनेकी चेष्टा करते रहे। कांग्रेसने 'राष्ट्रीय समझौता' तैयार करनेके लिए एक समिति नियुक्त की। परन्तु साम्प्रदायिक प्रश्नकी निष्पक्ष जाँचके लिए उपयुक्त वातावरणका अभाव था। बंगालमें चित्तरंजन दासने हिन्दू-मुस्लिम समझौतेका एक मसविदा तैयार किया (जो बंगाल समझौतेके नामसे मशहूर है), परन्तु इसके परिणामस्वरूप स्थिति और बिगड़ी। समझौतेमें स्थानीय संस्थाओंके प्रतिनिधित्वके लिए ६० और ४० सीटोंका प्रस्ताव रखा गया था। (बहुसंख्यकोंको

---

१. डा० राजेन्द्रप्रसाद—इण्डिया डिवाइडेड पृष्ठ ११७

२. डा० राजेन्द्रप्रसाद—इण्डिया डिवाइडेड पृष्ठ ११७

६० और अल्पसंख्यकोंको ४० स्थान मिलें)। यह भी प्रस्ताव रखा गया कि सरकारी नौकरियोंमें ५५% जगहें मुसलमानोंको दी जायँ। वातावरण समझौतेके अनुकूल नहीं था। इससे हिन्दू नेताओंमें विरोधकी लहर दौड़ गयी। कुछ समय बाद समझौता मुस्लिम नेताओंको भी नाराज करनेका साधन सिद्ध हुआ। बंगाल विधान परिषदमें एक प्रस्ताव पेश किया गया कि सरकारी नौकरियोंमें ८०% (अस्सी प्रतिशत) जगहें मुसलमानोंके लिए सुरक्षित रखकर (जबतक कि प्रत्येक विभागमें उनका औसत समस्त संख्याका ५५ प्रतिशत न हो जाय) बंगाल समझौता फौरन लागू किया जाय। परन्तु दास इस प्रस्तावसे असहमत थे। उन्होंने कहा कि समझौतेकी शर्तें केवल स्वराज्य-प्राप्तिके बाद ही लागू की जा सकती हैं।"

१९२४ में हिन्दू महासभाका अधिवेशन बेलगाँवमें उसी पण्डालमें हुआ जहाँ कुछ दिन पूर्व कांग्रेसका अधिवेशन हुआ था। इस वर्षके अधिवेशनके अध्यक्ष भी कांग्रेस नेता मदनमोहन मालवीय ही थे, इस कारण कई प्रमुख कांग्रेसजन भी अधिवेशनमें सम्मिलित हुए। इनमें अली-बन्धु और अबुल कलाम आजाद भी थे। अपने भाषणमें मदनमोहन मालवीयने इस बातका खण्डन किया कि महासभा साम्प्रदायिक संघटन है। उन्होंने कहा कि किसी भी हिन्दूके लिए राष्ट्रीय कांग्रेसका विरोध करना शर्मकी बात होगी। उनका उद्देश्य तो कांग्रेसकी सहायता और उसको शक्ति प्रदान करना है। महासभाका संटघन करनेकी आवश्यकता तो इसलिए पड़ी कि कांग्रेस राजनीतिक संस्था होनेके नाते समाजी और गैर-राजनीतिक प्रश्नों, जिनका विभिन्न जातियोंपर प्रभाव पड़ता है, पर ध्यान नहीं दे सकती। मालवीयजीने इस बातपर जोर दिया कि महासभा सांस्कृतिक आन्दोलन है और वह "अहिंसामें विश्वास रखती है तथा शक्ति द्वारा नहीं बल्कि प्रेम द्वारा विद्वेष और हिंसात्मक भावनाओंको जीतना चाहती है।" परन्तु अधिवेशनमें पास हुए प्रस्तावोंमेंसे एकमें कहा गया था "सभाका कार्य केवल, हिन्दुओंके सामाजिक और धार्मिक उत्थानतक ही सीमित नहीं रहेगा बल्कि सभा राजनीतिक प्रश्नोंपर भी हिन्दू मतको व्यक्त करेगी और जनताका ध्यान उनकी तरफ आकर्षित करेगी।"

नवम्बर १९२४ में गान्धीजीकी प्रेरणासे बम्बईमें 'एकता'पर फिर बातचीत शुरू हुई। जिसके फलस्वरूप एक सर्व-दलीय-सम्मेलनकी स्थापना की गयी और एकताकी समस्याका अध्ययन करनेके लिए एक समिति नियुक्त कर दी गयी। इस सम्मेलनमें, कांग्रेस, मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा, जस्टिस पार्टी, लिबरल फेडरेशन और भारतीय ईसाइयोंके प्रतिनिधियोंने भाग लिया। जनवरी १९२५ में समितिने ४० सदस्योंकी एक प्रातिनिधिक उप-समिति नियुक्त कर दी। उप-समितिका काम था—(१) ऐसे नियमोंके बनानेकी सिफारिश करना जिनसे सब पार्टियाँ कांग्रेसमें शामिल हो सकें; (२) विधान सभाओं और निर्वाचन संस्थाओंमें सम्पूर्ण समाजों, जातियों और उप-जातियोंके प्रतिनिधित्वके लिए एक योजना बनाना; (३) स्वराज्यके लिए एक योजना तैयार करना। इस उप-समितिको भी दो छोटी कमेटियोंमें विभाजित कर दिया गया। पहली उपसमितिको विधानपर एक रिपोर्ट तैयार करनी थी। इसने रिपोर्ट पेश भी कर दी, परन्तु दूसरी कमेटी, जिसका काम साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्वकी योजना तैयार करना था, सिर्फ एक बार बैठक कर सकी और बिना किसी निष्कर्षपर पहुँचे हुए अनिश्चित कालके लिए विसर्जित हो गयी क्योंकि लाजपतराय व अन्य हिन्दू प्रतिनिधि कमेटीकी किसी भी आगामी बैठकमें भाग लेनेको तैयार नहीं थे। लाजपतराय द्वारा 'लीडर'

में प्रकाशित एक लेखने विवादको समाप्त कर दिया। लेखमें लाजपतरायने कहा था कि मैं यह बात नहीं मान सकता कि हिन्दू मुस्लिम एकता, सिर्फ कुछ सूबोंमें हिन्दू बहुसंख्यक और कुछमें मुस्लिम बहुसंख्यक मानकर ही हो सकती है।

अब 'राजनीतिक भारत' का प्रतिनिधित्व लीग और कांग्रेस ही नहीं करती थी। व्यक्तिगत नेता गलत प्रचार करके वातावरणको और दूषित कर रहे थे। उदाहरणके तौरपर मार्च १९२५ में एक सार्वजनिक सभामें भाषण करते हुए डाक्टर किचलू बोले "अगर हम इस देशसे अंग्रेजी शासन खत्म कर दें और फिर यदि अफगान या दूसरे मुसलमान भारत पर आक्रमण करते हैं तो, हम मुसलमान, देशको हमलेसे बचानेके लिए अपने बेटोंतकको कुर्बान कर देंगे।" परन्तु उन्होंने एक शर्त रखी। हिन्दुओंको सम्बोधन करते हुए उन्होंने कहा "अगर तुम 'तंजीम आन्दोलन' के रास्तेमें रुकावट डालोगे, और हमें 'हमारे अधिकार' नहीं दोगे तो हम अफगानिस्तान या किसी दूसरी मुस्लिम सत्ताके साथ समान मोर्चा बनाकर इस देशमें अपना राज्य स्थापित कर लेंगे।"[1]

इस राजनीतिक अशान्ति कालमें मुस्लिम लीग करीब-करीब निष्क्रिय रही। १९२४ में वह पुनर्जीवित हुई। इसी वर्ष ३० दिसम्बरको बम्बईमें रजाअलीकी अध्यक्षतामें लीगका अधिवेशन हुआ। लीगने एक प्रस्ताव द्वारा तैंतीस प्रमुख मुसलमानोंकी एक समिति मुस्लिम समाजकी राजनीतिक माँगे तैयार करनेके लिए नियुक्त की। यह प्रस्ताव जिनाने पेश किया था। प्रस्ताव पेश करते समय जिनाने "इस आरोपका खण्डन किया कि वे लीगमें साम्प्रदायिक व्यक्तिकी हैसियतसे आये हैं। व्यक्तिगत तौरपर उन्होंने जोर दिया कि वे हमेशा राष्ट्रीयतावादी रहे हैं। उन्हें स्वयं कोई संकोच नहीं था। उनकी तो इच्छा थी कि विधान सभाओंमें उनका प्रतिनिधित्व सबसे योग्य और उपयुक्त व्यक्ति करें। परन्तु दुर्भाग्यवश उनके मुस्लिम देशवासी इसके लिए तैयार नहीं थे। वस्तुस्थितिकी तरफसे वे आँखें बन्द नहीं कर सकते थे। वास्तविकता यह थी कि बहुत बड़ी संख्यामें मुसलमान विधान सभाओं और नौकरियोंमें पृथक प्रतिनिधित्व चाहते थे। वे लोग साम्प्रदायिक एकताकी बातें करते हैं, परन्तु साम्प्रदायिक एकता है कहाँ? उपयुक्त समझौता करके ही एकता प्राप्त की जा सकती है। उन्होंने तालियोंकी गड़गड़ाहटमें कहा, मैं जानता हूँ कि मेरे सहधर्मी स्वराज्यके लिए लड़नेको तैयार हैं परन्तु वे कुछ संरक्षण चाहते हैं। जिनाका कुछ भी दृष्टिकोण क्यों न रहा हो, और वे यह जानते थे कि एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञकी हैसियतसे उन्हें स्थितिको भलीभाँति समझना पड़ता है, एकताके रास्तेमें असली बाधा दोनों सम्प्रदाय नहीं थे बल्कि दोनों तरफके कुछ गड़बड़ी फैलानेवाले लोग थे।"[2]

बम्बई अधिवेशनमें स्वीकृत एक दूसरे प्रस्ताव द्वारा इस बातकी इच्छा प्रकट की गयी थी कि भारतके विभिन्न मुस्लिम संघटनों और भिन्न भिन्न विचारधाराओंके प्रतिनिधि निकट भविष्यमें दिल्लीमें मुस्लिम समाजकी आवश्यकता-पूर्तिके लिए "संयुक्त और व्यावहारिक कार्योंकी योजना बनानेके निमित्त" एक सम्मेलन करें। जिनाने यह प्रस्ताव समझाते हुए कहा कि इस प्रस्तावका उद्देश्य, मुसलमानोंको हिन्दू समाजसे लड़नेके लिए नहीं, बल्कि मातृभूमिके लिए उनसे एक होने और सहयोग करनेके लिए संघटित करना है। उन्हें विश्वास था कि

१. टाइम्स ऑफ इण्डिया ता० १४-३-२५
२. दी इण्डियन क्वाटरली रजिस्टर १९२४ भाग २ पृष्ठ ४८९

यदि "वे (मुसलमान) एक बार संघटित हो जायँ तो फिर हिन्दू महासभाके साथ वे अवश्य एकता स्थापित करेंगे और संसारके सामने घोषणा करेंगे कि हिन्दू और मुसलमान भाई-भाई हैं।" लीगने 'शुद्धि' और 'संघटन' आन्दोलनोंकी निन्दा की और 'तंजीम' को न्यायपूर्ण बताया। एक प्रस्ताव द्वारा अधिकारियोंकी प्रशंसा की गयी जिन्होंने जाँचके बाद घोषणा की कि कोहाटके दंगे स्थानीय हिन्दुओंकी धर्मांधताके कारण हुए थे।

यद्यपि जिनाने, कांग्रेसके असहयोग, सविनय अवज्ञा और परिषद्-बहिष्कार आरम्भ करनेके बाद, कांग्रेस छोड़ दी थी, पर उन्होंने कांग्रेसपर हिन्दू संस्था होनेका आरोप नहीं लगाया।

वास्तवमें जब उनके विरोधियोंने उनपर इस प्रकारके वक्तव्य (कांग्रेस हिन्दू संस्था है) का आरोप लगाया तो उन्होंने उसका खण्डन किया। इसकी पुष्टि ३ अक्तूबर १९२५ को 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' में सम्पादकके नाम प्रकाशित उनके खतसे होती है। उन्होंने पत्रमें लिखा था—"मैं उस वक्तव्यका, जिसका एक बारसे ज्यादा आपने मेरे नामसे प्रचार किया है और जिसको एक बार फिर आपके संवाददाताने दोहराया है, खण्डन करना चाहता हूँ (यानी कांग्रेस हिन्दू संस्था है, यह कहकर मैंने उसकी निन्दा की है)। इसके प्रकाशित होनेके फौरन बाद ही मैंने आपके पत्र द्वारा इसका सार्वजनिक रूपसे खण्डन किया, परन्तु इस 'खण्डन' को आपके पत्रने प्रकाशित नहीं किया। इसलिए मैं प्रार्थना करता हूँ कि कृपा कर आप इसे प्रकाशित कर दें।"

तुर्कीमें होनेवाली गड़बड़ियाँ अभीतक खिलाफत सम्मेलनको परेशान कर रही थीं। १९२४, १९२५ में खिलाफत सम्मेलनकी सभाओंमें यह निश्चय किया गया कि दुनिया-भरके मुसलमान तय करके किसी दूसरे स्थानपर खलीफाका पद स्थापित करें। सम्मेलन अभीतक कांग्रेसकी नीतिमें विश्वास करता था, यद्यपि इसके कुछ सदस्य व्यक्तिगत तौरपर साम्प्रदायिक भावना व्यक्त करने लगे थे। परन्तु तुर्कीमें परिवर्त्तनके बाद भारतमें भी खिलाफत सम्मेलन कमजोर होता जा रहा था और अन्तमें १९३२ में वह बिल्कुल ही समाप्त हो गया। परन्तु दोनों समाजोंमें कुछ समझदार नेताओंकी प्रधानता होते हुए भी साम्प्रदायिकता बढ़ती जा रही थी। २ मई १९२५ को फरीदपुरमें एक बंगाल-मुस्लिम सम्मेलन बुलाया गया जिसकी अध्यक्षता बंगालके भूतपूर्व मन्त्री फजलुल हकने की। उन्होंने अपने श्रोताओंको चेतावनी दी कि जैसे जैसे भारत स्वराज्यकी ओर बढ़ता जायेगा वैसे-वैसे हिन्दू ज्यादासे ज्यादा सत्तापर एकाधिकार जमाते जायँगे। उन्होंने मुसलमानोंको उचित समयमें संघटित होकर हिन्दू महासभाकी भाँति एक संघटन स्थापित करनेकी सलाह दी और कहा कि समस्त बंगालमें संघटनोंका एक जाल-सा बिछा देना चाहिये। उन्होंने सुझाव दिया कि मुसलमान नौजवानोंको शारीरिक शिक्षा देनी चाहिये।

१९२५ के मुस्लिम-लीग अधिवेशनके अध्यक्ष सर अब्दुर्रहीमने कट्टर साम्प्रदायिक भाषण किया। 'इस भाषणसे पूरे भारतमें उत्तेजना फैल गयी।' सर अब्दुर्रहीमने कहा "हिन्दुओंके आक्रमणके कारण मुसलमानोंको हमेशासे ज्यादा मुस्लिम-लीगकी आवश्यकता है। हिन्दुओंने अपने उत्तेजनात्मक और आक्रमणकारी व्यवहारसे यह हमेशाकी बनिस्बत ज्यादा साफ कर दिया है कि मुसलमान अपना भाग्य उनके ऊपर नहीं छोड़ सकते, और आत्म-रक्षाके सभी सम्भव साधनोंको उन्हें अपनाना पड़ेगा। कुछ हिन्दू नेताओंने यह भी

कहा है कि मुसलमानोंको भारतसे उसी प्रकार निष्कासित कर दिया जाय जिस तरहसे स्पेन-वासियोंने मूरोंको निकाला था।" अब्दुर्रहीमने कहा कि बिना मुसलमानोंकी सहायताके हिन्दू कभी स्वराज्य स्थापित नहीं कर सकते। उन्होंने यह आक्षेप लगाया कि कुछ हिन्दू विदेशी संघटनोंके साथ मिलकर षड्यन्त्र रच रहे हैं। इन संघटनोंका काम भारतमें उपद्रव करवाना है। उन्होंने अपने भाषणमें आगे कहा कि किसी भी मुसलमानने भारतीय क्रान्तिकारियोंका साथ नहीं दिया, उन्होंने असहयोग आन्दोलनकी तीव्र निन्दा की और जोर दिया कि "भारतके भलेके लिए अंग्रेज अधिकारियोंकी आवश्यकता है।"[1]

अधिवेशनके मुख्य प्रस्तावमें शाही कमीशनकी नियुक्तिकी माँग की गयी जो भारत सरकारके १९१९ के गवर्नमेण्ट ऑव इण्डिया ऐक्टको दुबारा ठीक करनेका काम करे। कमीशनसे, अल्प-संख्याकी सुरक्षा, साम्प्रदायिक-निर्वाचन-प्रणाली, पंजाब, बंगाल और उत्तरी पश्चिमी प्रान्तमें मुस्लिम बहुसंख्याको कायम रखनेके कुछ मौलिक सिद्धान्तोंकी गारण्टी माँगी गयी। कमीशनकी माँग पहले जिनाने विधान सभा भवनमें पेश की थी।

स्वराज्य पार्टीने जिनाकी इस माँगका समर्थन नहीं किया था, क्योंकि उनका (स्वराज्य पार्टी) गोलमेज सम्मेलनकी माँगका प्रस्ताव ज्यादा अच्छा था। इस प्रस्तावमें भारतीयों और अंग्रेजोंको बराबरका पद देनेकी माँग की गयी थी। इसलिए मुहम्मदअलीने लीगकी बैठकमें संशोधन पेश किया कि 'राज्य कमीशन'के स्थानपर 'गोलमेज सम्मेलन' कर देना चाहिये। परन्तु अध्यक्षने इस संशोधनको अस्वीकार कर दिया।

वास्तवमें १९२५ में ही हिन्दू महासभा-अखिल भारत-संघटन बन सकी। ११ अप्रैलको कलकत्तेमें हुई बैठकके अध्यक्ष लाजपतरायने सभाके उद्देश्य इस प्रकार बताये—(१) देश भरमें सभाको संघटित करना। (२) साम्प्रदायिक उपद्रवोंसे पीड़ित लोगोंको सहायता देना। (३) बल-पूर्वक मुसलमान बनाये गये हिन्दुओंका पुनः धर्मपरिवर्तन करना। (४) व्यायामशालाएँ संघटित करना। (५) सेवा समितियोंका संघटन यानी समाज-सेवाके लिए संघटन स्थापित करना। (६) हिन्दी भाषाका प्रचार करना। (७) हिन्दू-त्योहारोंको इस प्रकार मनाना कि हिन्दुओंके विभिन्न अंगोंमें भाईचारा और सौहार्द्र बढ़े। (८) मुसलमानों और ईसाइयोंके साथ अच्छे सम्बन्ध स्थापित करना। (९) तमाम राजनीतिक विवादोंमें हिन्दुओंके साम्प्रदायिक हितोंका प्रतिनिधित्व करना।

हजारोंकी संख्यामें हिन्दुओंके, विशेषतया, बंगाल, बिहार, आसाम, गुजरात और सीमाप्रान्तमें बलपूर्वक धर्मपरिवर्तन किये जानेसे, महासभा बहुत चिन्तित और व्यग्र हो उठी। इस प्रकारसे हिन्दुओंके अन्य धर्मोंमें चले जानेसे रोकनेके लिए महासभाने एक 'हिन्दू रक्षक संघ' स्थापित करनेका निश्चय किया। कुछ समय बाद हिन्दू महासभाने आम चुनावमें अपने उम्मीदवार खड़े करनेका फैसला किया।

१९२६ के आरम्भमें मॉण्टफोर्ड सुधारोंके अन्तर्गत उत्तरी पश्चिमी सीमाप्रान्तमें विधान परिषद कायम करनेके प्रश्नपर बिना जरूरत साम्प्रदायिक कटुता बढ़ गयी।

इस कटुताका सूत्रपात १९२२ में हुआ जब कि भारत सरकारने, सीमाप्रान्तको पंजाबमें मिला देनेके औचित्यके प्रश्नपर व्यक्त की गयी सम्मितियोंसे यह निष्कर्ष निकला कि "साधारणतया पंजाब और उत्तरी पश्चिमी सीमाप्रान्तके हिन्दू सीमाप्रान्तके पंजाबमें विलीनी-

---

१. इण्डिया इन १९२५-२६ पृष्ठ ७८

करणके पक्षमें थे, परन्तु मुसलमान इन दोनों प्रान्तोंकी स्वतन्त्र इकाइयोंके इच्छुक थे। मामला १९२६ की मार्चतक यूँ ही पड़ा रहा। मार्चमें मद्रासके एक मुस्लिम नेता सैय्यद-मुर्तजाने जो मुस्लिम लीगमें थे और विधान-परिषदमें स्वराज्य पार्टीके साथ थे, केन्द्रीय सभामें एक प्रस्ताव पेश किया जिसमें माँग की गयी थी कि गवर्नर जनरल भारत सरकारके १९१९ के ऐक्टके विधान परिषदों, मन्त्रियोंकी नियुक्ति, और अल्प संख्याके सुरक्षा सम्बन्धी उपबन्धोंको सीमाप्रान्तपर भी लागू करें। विपिनचन्द्र पालने इस प्रस्तावका समर्थन करते हुए कहा कि सीमान्त प्रान्तके हिन्दुओंको चाहिये कि वे उस प्रान्तमें मुसलमानोंका बहुमत उसी प्रकार अंगीकार कर लें जैसे मुसलमानोंने हिन्दू बहुसंख्यक प्रान्तोंमें कर लिया है, परन्तु मालवीयजी, सर हरीसिंह गौड़, दीवान बहादुर रंगाचारियर जैसे प्रधान हिन्दू नेताओंने इसका विरोध किया। मालवीयजीका विरोध राजनीतिक महत्त्व रखता था क्योंकि वे एक प्रमुख महासभाई थे। उन्होंने सुझाव दिया कि १९२९ में नियुक्त होनेवाले शाही कमीशनके ऊपर यह प्रश्न छोड़ देना चाहिये। मुस्लिम-मत भी इसके ऊपर एक-राय नहीं था। उदाहरणके तौरपर-नवाब अब्दुल कयूम प्रस्तावका अनुमोदन करते हुए भी, सीमाप्रान्तके लिए सिर्फ 'सलाहकार समिति' को बेहतर समझते थे।

हिन्दू लोग सीमाप्रान्तका पंजाबमें विलयन क्यों चाहते थे? इसका जवाब साफ तौरपर यह मालूम पड़ता है कि वहाँ वे ५% की नगण्य संख्यामें थे और पंजाबमें, जहाँ हिन्दू आबादी के करीब ५०% थे, विलयनके बाद भी ४०% हो जाते। परन्तु सरकारकी कोई इच्छा सीमाप्रान्तमें सुधारयुक्त परिषद् (रिफार्म्ड कौंसिल) जारी करनेकी नहीं थी, क्योंकि वहाँ बराबर फौजी निगरानीकी आवश्यकता रहती थी और अंग्रेज सीमाप्रान्तके लिए किसी भी प्रजातान्त्रिक संस्थाको खतरेसे खाली नहीं समझते थे। इस प्रश्नपर उस समय हिन्दू-मुस्लिम विवाद व्यर्थ ही खड़ा हो गया।

१९२५ और १९२६ में साम्प्रदायिक तनातनीने बढ़कर गम्भीर रूप धारण कर लिया। यू० पी०, सी० पी०, बम्बई और कलकत्ता, हर जगह भीषण दंगे हुए और अपार धनजनकी हानि हुई। अप्रैल १९२६ में कलकत्तेमें फिर दंगा हुआ। मुसलमान हिन्दू मन्दिरोंपर हमला कर रहे थे और हिन्दू मस्जिदोंपर। दंगा ५ अप्रैलको शुरू हुआ और पिछले तीन दिनोंमें ही ११० आगजनीकी घटनाएँ हुईं। सरकारी रिपोर्टोंके अनुसार ४४ आदमी मरे और ५८४ जख्मी हुए। दंगेका दूसरा दौरा अधिक भयानक था और पुलिसको भीड़ तितर-बितर करनेके लिए बारह दफा गोली चलानी पड़ी। इस मर्तबा ६६ मरे और ३९१ घायल हुए। दंगोंकी खबरें अखबारोंके जरिए देशके एक कोनेसे दूसरे कोनेतक पहुँचीं, जिससे जनता विशेषतया साम्प्रदायिक संघटनोंसे सम्बन्ध रखनेवाले लोगोंका मानसिक सन्तुलन बिगड़ गया। दंगा खतम होनेके कुछ ही समय बाद खिलाफत-सम्मेलन और हिन्दू महासभा दोनोंने अपनी-अपनी बैठकें कीं। खिलाफत सम्मेलनकी बैठक ९ मईको हुई जिसमें उसने अपनी नीति बदलनेका निश्चय किया। नीतिपरिवर्त्तनपर एक प्रस्ताव पास किया गया जिसमें कहा गया कि खिलाफतकी जगहपर भारतीय मुसलमानोंके धार्मिक, शिक्षासम्बन्धी, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नोंको महत्त्व दिया जायगा। एक दूसरे प्रस्ताव द्वारा खिलाफत संघटनोंको भारतीय मुसलमानोंकी नैतिक, आर्थिक और अदालत-सम्बन्धी मदद देनेकी सलाह दी थी। सम्मेलनमें इतनी उत्तेजना थी कि जब एक

सदस्यने हिन्दुओंको 'भाई' कहकर सम्बोधित किया तो श्रोताओंके एक हिस्सेमें हुल्लड़ मच गया और माँग की गयी कि 'भाई' शब्दको वापस लिया जाय क्योंकि काफिरोंके लिए इस शब्दका इस्तेमाल आपत्ति-जनक है। खिलाफत-सम्मेलन राष्ट्रीय धाराप्रवाहसे निश्चित रूपसे हट गया। १० मईको राजा नरेन्द्रनाथके सभापतित्वमें हुई महासभाकी बैठकमें कुछ मुसलमानों द्वारा आर्यसमाजियोंके जुलूसों, मन्दिरों और गुरुद्वारोंपर किये गये आक्रमणोंकी घोर निन्दा की गयी और इनको अन्यायपूर्ण तथा अनुचित बताया गया। अब्दुल रशीद नामक मुसलमान द्वारा २३ दिसम्बर १९२६ को रुग्ण-शय्यापर पड़े स्वामी श्रद्धानन्दकी हत्या हो जानेसे हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य तथा विद्वेष और ज्यादा बढ़ गया। स्वामी श्रद्धानन्द उस समय अपनी लोकप्रियताके शिखरपर थे। वे कई मुसलमानोंको, विशेषतया यू. पी. के राजपूत मुसलमानोंको पुनः हिन्दू धर्ममें वापस ले आये थे। मुसलमान उनके कार्यों और उनकी पत्रिका 'लिबरेटर' में प्रकाशित लेखोंको अपने धार्मिक प्रभावपर हमलावर मानते थे। इनके हत्यारेपर मुकदमा चला और उसे फाँसी दे दी गयी। ३० नवम्बर १९२७ के 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' के अनुसार देवबन्दके प्रसिद्ध, थियोलॉजिकल कॉलेजके समस्त विद्यार्थियोंने पूरे पाँच दफा 'कुरान' पढ़कर सिजदा किया और प्रार्थना की कि अब्दुल रशीदको जन्नतमें शान्ति मिले। रिपोर्टके अनुसार उन लोगोंने प्रार्थना की कि "या पाक परवरदिगार, मृतात्माको 'ऐ अल्ला-ए-इल्लयीन' (सातवें बिहिश्त) में एक जगह मिले।"

हत्याके कुछ दिनों बाद एक पंजाबी मुसलमान अब्दुल कादिर, जो पंजाब विधान-परिषदके अध्यक्ष भी रह चुके थे, की अध्यक्षतामें दिल्लीमें लीगका वार्षिक अधिवेशन हुआ। उन्होंने 'हत्या' की निन्दा की और कांग्रेस-लीग एकेकी आवश्यकताका महत्त्व बतलाया। उन्होंने कहा कि दोनों संघटनोंको एक साथ मिलकर मौजूदा विषम परिस्थितिको सुलझाना चाहिये। छिटफुट दंगे हो ही रहे थे कि कुछ प्रभावशाली मुसलमानोंने जिनमें अधिकांशतः केन्द्रीय सभाके सदस्य थे, मार्च १९२७ को दिल्लीमें इस प्रश्नपर गौर करनेके लिए कि क्या पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचनकी जगह संयुक्त निर्वाचन लागू किया जा सकता है, एक सभा की। सम्मेलनने ये निर्णय किये—(१) सिन्धको बम्बई प्रेसीडेंसीसे अलग कर एक पृथक प्रान्त बना देना चाहिये। (२) उत्तरी पश्चिमी सीमाप्रान्त और बलोचिस्तानमें फौरन शासन-सुधार किये जायँ। (३) अगर ऊपर लिखी हुई दोनों बातें हिन्दू स्वीकार करें तो संयुक्त निर्वाचन पद्धति मुसलमानोंको मान्य होगी। (४) पंजाब और बंगालमें प्रतिनिधित्व जनसंख्याके अनुपातपर होना चाहिये और केन्द्रीय विधान सभा तथा परिषदमें मुस्लिम सदस्य संयुक्त निर्वाचन द्वारा चुने हुए सदस्योंकी संख्याके कमसे कम तिहाई हों।

अभी अखबारोंमें ये फैसले छपनेको दिये ही गये थे कि सम्मेलनमें उपस्थित मुसलमानोंमेंसे दो-एकने इन फैसलोंसे अपनेको अलग करते हुए वक्तव्य दे दिये। परन्तु जिनाने एक वक्तव्य द्वारा माँग की कि या तो कुल सुझाव स्वीकार किये जायँ या कुल रद कर दिये जायँ।

मुस्लिम-सम्मेलनके तीन दिन बाद केन्द्रीय विधान-सभाके कुछ हिन्दू सदस्योंने इन सुझावोंपर गौर करनेके लिए दिल्लीमें एक बैठक की। इस बैठकमें आगे बातचीतके लिए निम्नलिखित सिद्धान्त तय कर दिये। (१) भारतमें प्रत्येक विधान-सभा और परिषदके

लिए संयुक्त निर्वाचन प्रणाली द्वारा चुनाव हो। (२) हर जगह जन-संख्याके अनुपातसे सीटें सुरक्षित की जायँ। (३) विधानमें निश्चित उपबन्धों द्वारा धार्मिक और अर्द्ध धार्मिक अधिकारोंकी रक्षाकी जाय। प्रान्तोंके विभाजनका प्रश्न फिलहाल यूँ ही छोड़ दिया जाय।

महासभाने भी इन सुझावोंपर गौर किया परन्तु कोई सम्मति नहीं व्यक्त की। उसका मत था कि सुझाव अभी परिपक्व नहीं है। परन्तु मईके मध्यमें बम्बईमें हुई अखिल भारतीय कांग्रेस महासमितिकी बैठकने कुछ साधारणसे परिवर्तन करके (जिनसे मौलिक सिद्धान्तमें कोई अन्तर नहीं पड़ा) ये सब सुझाव सर्वसम्मतिसे स्वीकार कर लिये। कुछ हिन्दू कांग्रेसजनोंने इस स्वीकृतिपर आपत्ति की। जुलाईके अन्तमें स्थानीय स्वायत्त शासन विभागके मन्त्री मलिक फीरोज खाँ नूनके नेतृत्वमें पंजाब विधान परिषद्के कुछ मुसल मानोंने, एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसमें कहा गया कि जबतक हिन्दू-मुस्लिम दोनों समाजोंकी सम्मति न हो, पृथक निर्वाचन पद्धति कायम रखी जाय।

बीच-बीचमें हिन्दू-मुसलमान दंगे हो रहे थे। अप्रैल और दिसम्बर १९२७ के बीचमें बीस दंगोंकी रिपोर्ट आयी। यू. पी. में दस, बम्बईमें छः, और पंजाब, सी. पी., बिहार, बंगाल उड़ीसामें दो दो और दिल्लीमें एक दंगा हुआ। नेतावर्ग अभीतक एकताकी कोशिश कर रहा था। जिनाके नेतृत्वमें केन्द्रीय विधान सभाके हिन्दू और मुसलमान सदस्य व कुछ अन्य लोगोंका एक सम्मेलन शिमलामें बुलाया गया। अखिल भारतीय कांग्रेस महासमितिके तत्वाधानमें यह सम्मेलन कलकत्तेमें अक्तूबरमें फिर हुआ। लम्बी बहसके बाद सम्मेलनने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें हिन्दुओंको अधिकार दिया गया कि वे मस्जिदोंके सामने जुलूस निकाल सकते हैं, बाजा बजा सकते हैं, पर वहाँ रुक नहीं सकते और इसी तरहसे मुसलमानोंको यह अधिकार दिया गया कि मुसलमान गो-वध तो कर सकते हैं, पर वे मन्दिरोंके नजदीक या सड़कोंपर गो-वध नहीं करेंगे। सम्मेलनने स्वेच्छासे या समझा बुझाकर बिना बल-प्रयोगके धर्मपरिवर्तन अथवा पुनः धर्मपरिवर्तनका अधिकार भी दे दिया, परन्तु १८ वर्षकी उम्रके अन्दरवालोंके धर्म-परिवर्तनका पूर्ण निषेध कर दिया।"[१]

अक्टूबर १९२७ के अन्तमें या नवम्बरके आरम्भमें भारतके प्रमुख राजनीतिक नेताओंको वाइसराय भवनसे एक रहस्यमय निमन्त्रण मिला जिसमें लिखा था कि वे ५ नवम्बर या उसके बाद शीघ्र ही वाइसरायसे मिल लें। गान्धीजी उस समय दिल्लीसे १००० मील दूर मंगलोरमें थे। उन्होंने यात्राका कार्मक्रम स्थगित कर दिया और फौरन ही दिल्लीको रवाना हो गये। वाइसराय इरविनने उनके हाथमें भारत-सचिव द्वारा १९१९ ऐक्टके अन्तर्गत प्रशासन और अन्य सम्बन्धित विषयोंकी जाँचके लिए वैधानिक कमीशनकी नियुक्तिकी घोषणाकी एक अग्रिम प्रति रख दी। गान्धीजीने वाइसरायसे पूछा कि क्या केवल इतना ही काम था जिसके लिए आपने मुझे बुलाया था ? इरविनने कहा—"हाँ।" गान्धीजीने इसके प्रतिक्रियास्वरूप उत्तर दिया कि यह एलान तो इकन्नीवाला लिफाफा भी उनके पास पहुँचा सकता था। पार्लमेण्ट और भारतमें ८ नवम्बरको यह घोषणा कर दी गयी। १९१९ के ऐक्टमें इस कमीशनकी

१. इण्डिया इन १९२७-२८ पृष्ठ २०

नियुक्तिका वादा किया गया। यों यह कमीशन १९२९ में नियुक्त होनेवाला था परन्तु वैधानिक सुधारोंकी लगातार माँगके कारण सरकारने इसे दो वर्ष पूर्व ही नियुक्त कर दिया। परन्तु अब कमीशनकी नियुक्ति लोगोंके लिए एक महत्त्वहीन चीज हो गयी, क्योंकि कांग्रेस और केन्द्रीय विधान-सभाने गोलमेज सम्मेलन (राउण्ड टेबुल कानफ्रेन्स) की माँग की थी, जिसमें भारतीयों और अंग्रेजों दोनोंके प्रतिनिधि शामिल हों। सर जान साइ-मनकी अध्यक्षतामें काम करनेवाले इस कमीशनमें सात सदस्य थे और वे सबके सब अंग्रेज थे। कुछ तो इसी कारण और कुछ दूसरी वजहोंसे, पूरे देशमें कमीशनकी घोर निन्दा की गयी। मिस विलिकिन्सनके अनुसार जालियाँवाला बागकी दुखान्त घटनाके बाद सारे देशमें जितनी इस कमीशनकी निन्दा की गयी उतनी अंग्रेजोंके और किसी कामकी नहीं हुई। सब भारतीय अखबारों और सब राजनीतिक विचारोंके लोगोंने एक स्वरसे इस कमीशनको भारतीय राष्ट्रका अपमान बतलाया क्योंकि इसमें भारतीय प्रतिनिधि शामिल नहीं किये गये थे। मगर जयकर, केलकर, अणे और मुञ्जे जैसे 'सहयोगी' नेताओंने कहा कि यदि भारतमें पूरक समिति (सप्लीमेण्टरी बाडी) की हैसियतसे नियुक्त की जानेवाली 'इण्डियन कमेटी' की शर्तें सन्तोषजनक हों तो वे लोग सहयोग देनेको तैयार हैं। उनके अतिरिक्त सब राजनीतिक पार्टियोंने कमीशनका बहिष्कार करनेका निश्चय किया। दिसम्बर-के अन्तिम सप्ताहमें बम्बईमें राष्ट्रीय उदारदलीय संघके दसवें अधिवेशनमें अध्यक्षपदसे भाषण करते हुए सर तेजबहादुर सप्रूने कहा कि उदारदल (लिबरल पार्टी) को न सिर्फ कमीशन-को अमान्य ठहराना चाहिये बल्कि पार्लमेंट द्वारा भारतकी वैधानिक प्रगतिके प्रश्नपर प्रदर्शित भावनाका भी विरोध करना चाहिये। हिन्दू महासभाके अधिवेशनमें भी इसी प्रकार-की भावना व्यक्त की गयी। परन्तु लीगके अन्दर बहिष्कारके प्रश्नपर फूट हो गयी। जिना बहिष्कार करना चाहते थे, परन्तु उस सालके मनोनीत अध्यक्ष सर मुहम्मद शफी सहयोग करनेके पक्षमें थे। लीगकी कार्यकारिणीने लाहौरमें वार्षिक अधिवेशन करनेका निश्चय किया। था, परन्तु बादमें कार्यकारिणीने एक विशेष मीटिंगमें तय करके यह स्थान बदलकर कलकत्ता कर दिया। सर मुहम्मद शफीने इस स्थान-परिवर्तनकी वैधानिकतापर आपत्ति की, और कल-कत्ता अधिवेशनकी अध्यक्षतासे इनकार कर दिया। इस झगड़ेमें लीगके दो अधिवेशन हुए—एक लाहौरमें और दूसरा कलकत्तेमें। लाहौर अधिवेशनमें स्वीकृत एक प्रस्तावमें कमीशन या अंग्रेजी पार्लमेण्टके सामने पेश करनेके लिए भारतका संविधान बनानेके लिए सब गैर-मुस्लिम जातियोंसे लीगके साथ सहयोग करनेकी प्रार्थना की गयी। अन्य प्रस्तावों द्वारा पृथक निर्वाचन, सिन्धको बम्बईसे अलग करने और उत्तरी पश्चिमी सीमाप्रान्त और बलोचिस्तान-में सुधारोंकी माँग की गयी थी। लीगने भारतका संविधान बनाने और उसपर दूसरी पार्टियोंके साथ मिलकर गौर करनेके लिये ३० आदमियोंकी एक समिति बना दी। इस अधिवेशनमें भाग लेनेवाले प्रतिनिधियोंमें सर मुहम्मद इकबालका नाम उल्लेखनीय है। उसी वर्षके अन्तमें लगभग लाहौर अधिवेशनके समकालीन कलकत्तेमें लीगका अधिवेशन जिनाकी अध्यक्षतामें हुआ। यह अधिवेशन कमीशनके बहिष्कारके पक्षमें था। कलकत्तेमें हिन्दू-मुस्लिम एकतापर भी जोर दिया गया। एक प्रस्तावमें कहा गया कि वर्तमान समयमें पृथक निर्वाचन अनि-वार्य है, परन्तु साथ ही मुसलमान संयुक्त निर्वाचनके लिए तैयार हो जाएँगे यदि इसके लिए सीटें सुरक्षित कर दी जाएँ, परन्तु शर्त यह है कि सीमान्तप्रान्त और बलोचिस्तानमें भी

शासन सुधार किये जायँ और सिन्धको एक अलग सूबा मान लिया जाय। कलकत्ता अधिवेशनने विना मुकदमा नजरबन्द किये गये लोगोंकी रिहाईकी माँग की। लीग अधिवेशनमें लीगकी कौंसिलको एक कमेटी नियुक्त करनेका आदेश दिया। इस कमेटीको अन्य राजनीतिक दलों और कांग्रेससे परामर्श करके संविधान बनाने तथा उसमें मुसलमानोंके अधिकारोंकी यथोचित सुरक्षा करनेका काम सौंपा गया। कलकत्ता अधिवेशनमें पंजाब मुस्लिम लीगके मंत्री बरकत अलीने भी भाग लिया। बरकत अलीने जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, सन् १९३० में भारतके विभाजनका जोरदार विरोध किया, परन्तु बादमें पाकिस्तानके कट्टर समर्थक बन गये।

उसी वर्ष मद्रासमें एस. ए. अन्सारीकी अध्यक्षतामें हुए कांग्रेसके अधिवेशनमें निश्चय हुआ कि हर तरहसे और हर स्तरपर कमीशनका बहिष्कार किया जाय; जिस दिन यह कमीशन भारतमें आये उस दिन देश भरमें विरोध प्रदर्शन किये जायँ, जहाँ यह कमीशन जाय वहाँ उसका बहिष्कार किया जाय और इस बहिष्कारको प्रभावशाली और सफल बनानेके लिए जोरदार प्रचार किया जाय। विधान संस्थाओंके निर्वाचित सदस्योंको कमीशनकी सहायता करनेसे इन्कार कर देना चाहिये और मन्त्रिमण्डलको हटाने या कमीशनके बहिष्कारको छोड़ कर सदस्योंको विधान संस्थाओंकी किसी भी अन्य बैठकमें सम्मिलित नहीं होना चाहिये। मद्रास अधिवेशनका विशेष महत्त्व है। इसी अधिवेशनमें, प्रथम बार भारतका लक्ष्य—पूर्ण स्वतन्त्रता घोषित किया गया। यह प्रस्ताव जवाहरलाल नेहरूने पेश किया था। जवाहरलाल अभी अपनी यूरोप और रूसकी यात्रासे लौटे थे और उन्होंने प्रतिनिधियोंको 'कॉमरेड' कहकर सम्बोधन किया। मई १९२७ में चार सालकी कैदके बाद सुभाषचन्द्र बसु भी जेलसे छूटे थे।

तीन साम्प्रदायिक पार्टियोंने, जिनका प्रभाव बहुत अधिक न था, कमीशनके साथ सहयोग करनेका निश्चय किया। ये पार्टियाँ-जस्टिस पार्टी, अखिल भारतीय अछूत फेडरेशन और केन्द्रीय सिख संघ थीं। इन्होंने निश्चय किया कि ये कमीशनके सामने अपने साम्प्रदायिक दावे रखेंगी।

सन् १९२७ के लीगके कलकत्तेवाले अधिवेशनमें अध्यक्ष-पदसे भाषण करते हुए अबुल कलाम आजादने 'दिल्लीके प्रस्तावों'की प्रशंसा की और 'लखनऊ समझौते'की निन्दा। उन्होंने मुसलमानोंसे कहा कि "लखनऊ-समझौते"से उन्होंने अपने हितोंको बेच दिया था। गत मार्चके दिल्ली प्रस्तावोंसे प्रथम बार भारतमें मुसलमानोंके वास्तविक अधिकारोंको मान्यता मिलनेका अवसर मिला है। १९१६ के समझौतेमें 'पृथक्-निर्वाचन' द्वारा उनका प्रतिनिधित्व तो अवश्य प्राप्त हो गया, परन्तु मुस्लिम-समाजके अस्तित्वके लिए उनकी संख्या-शक्तिको मान्यता मिलनी आवश्यक है। दिल्लीने वह रास्ता दिखाया है जिससे आगे चलकर भारतमें मुसलमानोंको उचित हिस्सा मिलनेकी गारण्टी मिल सके। पंजाब और बंगालमें छोटे अनुपातमें उनका बहुमत जनमतगणनाकी संख्यामात्र है, परन्तु दिल्ली-प्रस्तावों द्वारा उनको पहली बार पाँच सूबे मिलते हैं, जिनमेंसे तीन (सिंध, सीमाप्रान्त और बलोचिस्तान) में मुसलमानोंका भारी बहुमत है। यदि मुसलमान इस बातका महत्व नहीं समझते तो वे जिन्दा रहनेके काबिल नहीं। नौ हिन्दू प्रान्तोंके मुकाबलेमें पाँच मुस्लिम प्रान्त होंगे और हिन्दू-मुसलमानोंके साथ जो भी व्यवहार इन नौ सूबोंमें करेंगे वही मुसलमान हिन्दुओंके साथ अपने पाँच

सूत्रोंमें करेंगे क्या यह भारी विजय नहीं है ? क्या मुसलमानोंके हाथ अपने अधिकारोंपर जोर देनेके लिए एक नया हथियार नहीं लगा है ?"

उधर भारत सचिव लार्ड बर्कनहेड भारतके राजनीतिक दलोंमें फूट डालनेके लिए साइमन कमीशनका इस्तेमाल करनेकी कोशिश कर रहे थे। १० दिसम्बर १९२५ को उन्होंने वाइसरायको लिखा कि "यदि आप कमीशनका इस्तेमाल राजनीतिक सौदा करने या स्वराज्य पार्टीमें और अधिक फूट डालनेके लिए कर सकें...और यदि इस इस्तेमालसे आपको राजनीतिक सौदा करनेमें कोई मदद मिल सके तो आप जरूर करें और सरकार आपकी सहायता करेगी।"[1]

कमीशनकी नियुक्तिके साथ जब भारतीय राजनीतिक दलोंने उसका बहिष्कार करनेका निश्चय किया तो उन्होंने वाइसरायको लिखा "बहिष्कारकी मनोवृत्तिका मर्दन करनेके लिए हम लोग हमेशा सहयोगके लिए मुसलमानों, अछूतों, व्यापारी वर्ग तथा अन्य लोगोंपर निर्भर रहे हैं। आप स्वयं और साइमन इस बातका सबसे अच्छा निर्णय कर सकते हैं कि आप इस दिशामें आगे बढ़ें और विरोधकी दीवारको कमीशनके इस दौरेमें भी तोड़नेकी कोशिश करें।"[2] बर्कनहेडकी आखिरी सलाहने उनका रुख बिलकुल स्पष्ट कर दिया। फरवरी सन् १९२८ में उन्होंने लिखा कि "मेरी साइमनको यह सलाह है कि वे हर स्तरपर कमीशनका बहिष्कार न करनेवाले प्रमुख लोगों, विशेषतया मुसलमानों और अछूतोंसे मिलते रहें। मैं प्रतिनिधि माने जा सकनेवाले मुसलमानोंके साथ उनकी प्रत्येक भेंटका बहुत अधिक प्रचार करना चाहता हूँ। इससे नीति स्पष्ट हो जाती है। नीतिका उद्देश्य बृहत हिन्दू जन-संख्याके दिलोंमें यह डर बैठाना है कि मुसलमानोंने कमीशनपर प्रभाव डाल लिया है और सम्भव है कि कमीशन पूरे तरीकेसे एक हिन्दू-हित विरोधी रिपोर्ट पेश करे, जिससे मुसलमान कमीशनकी पूरी सहायता करें और जिनाका नेतृत्व स्थापित हो जाय।"[3]

यह कमीशन ३ फरवरी १९२८ को बम्बई पहुँचा। कार्यक्रमके अनुसार कई शहरोंमें हड़तालें हुईं। बम्बईमें प्रदर्शन अधिक सफल नहीं रहा लेकिन मद्रासमें कमीशन-विरोधी प्रदर्शनोंपर कई बार गोली चलायी गयी। कई मरे और बहुतसे घायल हुए। लाहौरमें लाजपतरायके नेतृत्वमें कमीशनके विरुद्ध प्रदर्शन करनेके लिए एक बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गयी। पुलिसने भीड़पर लाठी और डण्डे चलाये। लाजपतरायको भी बहुत सख्त चोट आयी "और ऐसा विश्वास किया जाता है कि उनकी मौत इन चोटोंके कारण और जल्दी हो गयी।"[4] लखनऊमें भी पुलिसने प्रदर्शनकारियोंपर लाठी और डण्डे चलाये। आहत व्यक्तियोंमें जवाहरलाल नेहरू भी थे। प्रदर्शन कई दिनोंतक चलते रहे और पूरा शहर युद्धक्षेत्र-सा मालूम होता था। हथियारबन्द पुलिस और घुड़सवार पुलिस शहरकी सड़कोंपर गश्त लगाती और प्रदर्शनकारियोंपर हमले करती रही। "साइमन वापस जाओ" कहनेके अपराधपर पुलिसने घरोंमें घुस-घुसकर हमले किये, संभ्रांत राष्ट्रीय कार्यकर्ताओंको मारा और गिरफ्तार किया। लेकिन

१. बर्कनहेड, दि लास्ट फेज, भाग २—पृष्ठ २५
२. वही पुस्तक, पृष्ठ २५४
३. वही पुस्तक, पृष्ठ २५५
४. पट्टाभी, दि हिस्ट्री आव नैशनल कांग्रेस, पृष्ठ ३२०

लखनऊके ताल्लुकेदारोंने कैसरबाग बारादरीमें कमीशनको एक दावत दी। बहिष्कार करनेवालोंको दूर रखनेके लिए कैसरबाग बारादरीके चारों तरफ हजारोंकी संख्यामें पुलिसका पहरा था। लेकिन दावत शुरू होनेके साथ ही प्रदर्शन शुरू हो गया। गुब्बारे और पतंगें जिनपर 'साइमन वापस जाओ', 'भारत भारतीयोंके लिए है' लिखा हुआ था, बारादरीके ऊपर छा गये। पटनामें ५०००० लोगोंका साइमन-विरोधी प्रदर्शन हुआ। दिल्लीमें, जहाँ कमीशन सबसे पहले गया था, बड़ी संख्यामें लोगोंने 'साइमन वापस जाओ'के लिखे हुए पोस्टर लेकर कमीशनके विरोधमें प्रदर्शन किया।

साइमनने जिनको भारतीय विरोधका पहलेसे ही आभास था, भारतमें पहुँचनेके फौरन बाद ही वाइसरायको सूचित कर दिया था कि कमीशनके सात अंग्रेज सदस्य केन्द्रीय विधान सभा द्वारा नियुक्त किये जानेवाले सात भारतीयोंके साथ मिलकर एक संयुक्त सम्मेलनकी खुली शक्ल अख्तियार कर लेंगे। भारतीय नेताओंने इस प्रस्तावको अवज्ञाके साथ ठुकरा दिया। लाजपतरायके पेश करने पर केन्द्रीय विधान सभाने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें कहा गया कि कमीशन और उसकी योजना विधान सभाको बिलकुल ही अमान्य है।

पूरी जिम्मेदार सरकार और अल्पमतके लिये उपयुक्त सुरक्षाओंके आधारपर भारतका विधान बनानेके लिए भारतीय नेताओंने फरवरी १९२८ में एक सर्व-दलीय सम्मेलन किया। तीन महीनोंमें सम्मेलनकी पचीस बैठकें हुईं। काफी कठिन परिश्रमके बाद १८ मईको मोतीलाल नेहरूके सभापतित्वमें पहली जुलाईतक भारतका विधान बनानेके लिए एक समिति नियुक्त कर दी गयी। अगस्तमें सम्मेलनने २८ अगस्तसे ३१ अगस्ततक लखनऊमें इस रिपोर्टपर विचार किया। नेहरू-समितिकी रिपोर्ट और सम्मेलनके संशोधनोंके बाद जो भारतीय-विधानकी रूपरेखा बनायी गयी वह इस प्रकार है। "भारतमें इस प्रकारकी सरकार होनी चाहिये जिसकी कार्यकारिणी जननिर्वाचित और पूर्णाधिकारसम्पन्न विधान सभाओंके प्रति उत्तरदायी हो; यानी उसकी हैसियत किसी प्रकार भी स्वशासित उपनिवेशसे कम न हो। अगर जाँचके बाद यह मालूम पड़े कि नया प्रान्त आर्थिक रूपसे स्वावलम्बी होगा तो सिन्धको पृथक प्रान्त बना देना चाहिये। विधान सभाओंके लिए संयुक्त निर्वाचन हो। केन्द्रीय विधान सभा और ऐसी प्रान्तीय विधान सभाओंमें जहाँ मुसलमान अल्पमतमें हैं, उनकी संख्याके अनुपातमें उनकी सीटें सुरक्षित रखी जायँ और उत्तरी पश्चिमी सीमाप्रान्तमें हिन्दुओंके लिए। परन्तु मुसलमानों व अन्य-अल्पमतोंको यह अधिकार रहेगा कि वे 'सुरक्षित-सीटों' के अतिरिक्त भी चुनावोंमें खड़े हो सकें। अगर वयस्क मताधिकारके आधारपर चुनाव किये जायँ तो पंजाब और बंगाल (मुस्लिम बहुसंख्यक सूबों) में सीटें सुरक्षित नहीं रखी जायँगी। इन दो सूबोंके बारेमें निश्चय किया गया कि यदि हमारी प्रस्तावित योजनापर १० सालतक अमल करनेके बाद कोई सम्प्रदाय चाहता है तो साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्वके प्रश्नपर पुनः विचार किया जायगा। केन्द्र और प्रान्तोंमें भी दस सालके बाद सुरक्षित-स्थानोंकी पद्धति समाप्त कर दी जायगी।"

सम्मेलनमें सम्मिलित प्रतिनिधियोंपर दृष्टि डालनेसे मालूम हो जायगा कि इसमें सब प्रमुख और महत्व रखनेवाले राजनीतिक-दल और हित शामिल थे और उन्होंने सम्मेलनके फैसलोंको स्वीकार कर लिया था। राष्ट्रीय कांग्रेस, भारतीय उदारदल फेडरेशन, मुस्लिम लीग, केन्द्रीय सिख लीग, होमरूल लीग, ऑल-इण्डिया कॉन्फ्रेन्स ऑफ इण्डियन क्रिश्चियन्स,

जमैयतुल-उलेमा, ऑल इण्डिया स्टेट्स कान्फ्रेन्स, विधान सभाकी कांग्रेस पार्टी और राष्ट्रीय पार्टी, हिन्दू महासभा, अवधका आंग्ल भारतीय संघ (ब्रिटिश इण्डियन ऐसोसियेशन आव अवध) कलकत्तेका भारतीय संघ (इण्डियन ऐसोसियेशन), महाराष्ट्रका चेम्बर ऑफ कॉमर्स, सिन्ध नेशनल लीग, दक्षिण सभा और स्वाधीन भारत संघके प्रतिनिधियोंने इस सम्मेलनमें भाग लिया था। सम्मेलनने नेहरू समितिको इस रिपोर्टको एक विधेयककी शक्ल देनेके लिए फिर नियुक्त किया और निश्चय किया कि इस सम्मेलनमें सम्मिलित व अन्य सभी राजनीतिक, व्यापारिक और मजदूर व अन्य संघटनों (जो देशमें वर्त्तमान हैं तथा जिनको स्थापित हुए कमसे कम दो वर्ष हो गये हैं) के प्रतिनिधियोंकी एक राष्ट्रीय सभा (नेशनल कॉनवेंशन) दिसम्बर २२ को कलकत्तेमें बुलायी जाय और उसमें नेहरू-समिति द्वारा तैयार किया हुआ विधेयक पेश किया जाय। विभिन्न राजनीतिक व दूसरे संघटनोंको निमन्त्रण-पत्र भेज दिये गये।

इसी बीचमें मुस्लिम लीगके कुछ सदस्य नेहरू-रिपोर्टका विरोध संघटित करने लगे। आगामी वर्षके लिए अध्यक्ष चुनने के लिए लीगकी परिषदकी बैठक जिनाके सभापतित्वमें नवम्बरमें हुई। सदस्य दो हिस्सोंमें बँटे हुए थे। अवधके राजा महमूदाबादके नेतृत्वमें एक दल नेहरू-रिपोर्टके पक्षमें था और शौकतअलीके नेतृत्वमें दूसरा दल विरोधमें। १७ वोटोंके मुकाबलेमें ४२ वोटोंसे राजा महमूदाबादको अध्यक्ष निर्वाचित करवाके नेहरू-रिपोर्टके पक्षवालोंकी जीत हुई। दूसरे दलके उम्मीदवार मुहम्मदअली हार गये। दिसम्बरमें लीगके वार्षिक अधिवेशनसे पहले पंजाब, बिहार और बंगालकी प्रान्तीय लीग कमेटियोंने नेहरू-रिपोर्टका समर्थन करते हुए प्रस्ताव पास किये परन्तु बम्बईमें, जहाँ शौकतअलीकी प्रधानता थी, यह रिपोर्ट स्वीकार नहीं की गयी। मुस्लिम लीगके अधिवेशनमें इस रिपोर्टपर काफी लम्बी बहस हुई परन्तु कोई फैसला न किया जा सका। अन्तमें यह निश्चय किया गया कि मार्च १९२९ में होनेवाले विशेष अधिवेशनतक इसपर विचार स्थगित कर दिया जाय। फिर भी लीगने राष्ट्रीय सभा (नेशनल कॉनवेंशन) में भाग लेनेके लिए तेइस प्रतिनिधि नियुक्त कर दिये। इनमें जिना भी थे। खिलाफत सम्मेलनका भी कुछ इसी तरहका हाल रहा, हालाँकि इसने भी अपने प्रतिनिधि भेजनेका निश्चय किया।

राष्ट्रीय सभामें जिनाने अजीब रवैया अख्तियार किया। सर्व-दलीय राजनीतिक सम्मेलनमें हुए साम्प्रदायिक समझौतेका आधार ही उन्होंने संशोधनों द्वारा खत्म कर देना चाहा। एक संशोधन द्वारा उन्होंने माँग की कि केन्द्रीय विधान सभामें मुसलमानोंको निर्वाचित सदस्योंके तिहाई स्थान मिलने चाहिये। इसका साफ मतलब यह था कि सर्व-सम्मितिसे स्वीकृत फैसलेके खिलाफ जिना मुसलमानोंके लिए पक्षपात चाहते थे। बहुत बड़े बहुमतसे यह संशोधन गिर गया।

जिनाके एक दूसरे संशोधनमें कहा गया था कि जबतक वयस्क मताधिकार न हो तबतक पंजाब और बंगालमें संख्याके आधारपर मुसलमानोंके लिए स्थान सुरक्षित रखे जायँ और उन्हें अतिरिक्त स्थानोंके लिए चुनाव लड़नेका अधिकार न प्राप्त हो। यह संशोधन भी गिर गया। एक विचित्र बात यह थी कि मुस्लिम लीग और खिलाफत सम्मेलनके प्रतिनिधियोंने वोट देनेमें हिस्सा नहीं लिया। जमैयतुल-उलेमाने ज्यादा स्पष्ट विरोध किया। उसकी २८ दिसम्बरको मुरादाबादमें हुई बैठकमें एक प्रस्ताव पास हुआ जिसमें कहा गया

कि—नेहरू-समिति गलत ढंगसे बनायी गयी थी क्योंकि इसमें मुसलमानोंका यथोचित प्रतिनिधित्व नहीं था। इसलिए उन्होंने राष्ट्रीय सभामें अपने प्रतिनिधि भेजना अस्वीकार किया और सर्व-दलीय मुस्लिम सम्मेलन (मुस्लिम आल पार्टीज कानफरेन्स) द्वारा रिपोर्टपर किये जानेवाले फैसलेका इन्तजार करनेका निश्चय किया।

शिमलेमें बैठे हुए अंग्रेजी-शासक कलकत्तेकी घटनाओंको बहुत उत्सुकतासे देख रहे थे। यह स्मरणीय है कि भारतीय राजनीतिमें पृथक निर्वाचन प्रणालीको शुरू करानेके लिए १९०६ में मुसलमानोंका शिष्टमण्डल शिमलामें ही खेली गयी एक चालका नतीजा था। यह भी याद होगा कि आगा खाँको जल्दीमें शिमला जाना पड़ा था, इस बार फिर आगा खाँके प्रभावको उपयोगमें लाया गया। संयुक्त निर्वाचनका अर्थ था हिन्दू-मुस्लिम एकता। अंग्रेज इस एकताके विरोधी थे। एक महीनेके प्रारम्भिक कार्यके बाद आगा खाँने अपनी अध्यक्षतामें १ जनवरी १९२९ को दिल्लीमें एक सर्व-दलीय मुस्लिम-सम्मेलन (आल-पार्टीज मुसलिम कानफरेन्स) बुलाया। इस सम्मेलनकी योजना बनानेवाले और संघटनकर्त्ता, विधान सभा, प्रान्तीय परिषदोंके कतिपय मुस्लिम सदस्य, और वे उलेमा और मुस्लिम लीगी थे जिनका अल्पमत था पर वे नेहरू-रिपोर्टके विरुद्ध थे। सम्मेलनमें भाग लेनेवाले विभिन्न संघटनोंके प्रतिनिधि भारतीय मुस्लिम नेता संयुक्त निर्वाचनके पक्षमें थे। अंग्रेज गुप्त रूपसे इस सर्वदलीय मुस्लिम सम्मेलनकी सहायता कर रहे थे। इस सम्मेलनने पृथक् निर्वाचन प्रणाली और मुस्लिम अधिक प्रतिनिधित्व (वेटेज) कायम रखनेकी माँग करते हुए एक प्रस्ताव पास किया।

१९२८ में मोतीलाल नेहरूकी अध्यक्षतामें कलकत्तेमें कांग्रेसका वार्षिक अधिवेशन हुआ। अधिवेशनमें हुई बहसमें इस सर्व-दलीय सम्मेलनके फैसलोंको प्रमुख स्थान दिया गया और कांग्रेसने निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया—"कांग्रेसका यह अधिवेशन मद्रास अधिवेशनमें स्वीकृत पूर्ण स्वतन्त्रताके प्रस्तावपर स्थिर रहते हुए भी, इस विधान (नेहरू रिपोर्ट) को राजनीतिक प्रगतिमें एक बड़ा हुआ कदम मानती है, विशेषतया इसलिए कि यह देशकी महत्त्वपूर्ण पार्टियोंके बीच हुए समझौतेके आधार पर बना है। अगर यह विधान ३१ दिसम्बर १९२९ या उससे पहले मान लिया जाता है तो कांग्रेस इसे स्वीकार कर लेगी। यदि उस तारीखतक यह स्वीकार न हुआ या उससे पहले रद कर दिया गया तो कांग्रेस देशको 'कर न दो' की सलाह देकर, या अन्य निश्चित किये हुए तरीकोंसे अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन संघटित करेगी।"

एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ होनेके नाते जिना समझते थे कि अधिकारी वर्गकी सहायता प्राप्त यह सर्वदलीय मुस्लिम सम्मेलन दो दलोंमें विभाजित मुस्लिम लीगको निगल जायगा। इसलिए उन्होंने दोनों पक्षोंको फिरसे एक करने और एक ठोस-मुस्लिम दल बनानेका बीड़ा उठाया। मार्च १९२९ को हुई एक मीटिंगमें जब कि दोनों पक्ष साथ साथ बैठे हुए थे—सफी और उनके अनुयायी अभीतक अलग बैठे थे—जिनाने एक महत्त्वपूर्ण घोषणा की। उन्होंने मीटिंगमें मुसलमानोंकी सुरक्षाका एक मसविदा पेश किया जिसको वे भारतके भावी विधानमें शामिल करवाना चाहते थे। अभीतक संयुक्त निर्वाचनके प्रश्नपर मुस्लिम नेताओंमें मतभेद था। जिनाने मुसलमानोंके लिए केन्द्रीय विधान सभामें निर्वाचित सदस्योंके एक तिहाई स्थानोंकी माँग करके मुसलमानोंकी माँगको ऊँचा उठा दिया और

लीगी नेताओंको एक करनेके लिए इसे ही मुख्य साधन बनाया। हितरक्षक प्रतिबंधोंमें पृथक् निर्वाचनको रखते हुए जिनाने सर्व-दलीय मुस्लिम सम्मेलनको मात दे दी। जिनाकी नीतिकी एक उल्लेखनीय बात यह थी कि उन्होंने अपने मतके पोषणके लिए अड़नेका खतरा कभी मोल नहीं लिया और न विरोधियोंके मत-परिवर्तनकी चेष्टा ही की। वे अपने आपको फौरन ही वातावरणके उपयुक्त बना लेते थे। वे स्पष्टतः पृथक् निर्वाचनके विरुद्ध थे, फिर भी उनके मुस्लिम हितरक्षक प्रतिबन्धों (सेफगार्ड्ज) में पृथक् निर्वाचन मौजूद था। ये प्रतिबन्धी आम तौरपर जिनाके चौदह सूत्रोंके नामसे प्रसिद्ध हैं। वास्तवमें तो ये संख्यामें पन्द्रह हैं, पर पन्द्रहवाँ सूत्र पाँचवेंकी विशद व्याख्या मात्र है। जिना लीगके स्वीकृत नेता थे और उन्होंने १९२४ में लीगको पुनः जीवित किया था। यह जिनाका ही दम था जो नेहरू-रिपोर्टके प्रश्नपर पैदा हुई फूटको दूरकर फिर लीगको संघटित करनेका प्रयत्न कर रहा था। जब-जब उन्होंने देखा कि गर्म बहससे लीगमें फिर फूट पड़नेकी सम्भावना है, तब-तब उन्होंने लीग-की कौंसिलकी बैठकोंको स्थगित कर दिया। जिनाके १५ सूत्र निम्नलिखित थे—

(१) भावी विधानकी रूप-रेखा संघात्मक हो और प्रान्तोंको पूर्ण प्रान्तीय स्वाधी-नता प्राप्त हो।

(२) सब प्रान्तोंको एक-सी स्वाधीनता प्राप्त हो।

(३) देशकी सभी विधायिकाओं तथा अन्य निर्वाचित संस्थाओंका पुनर्निर्माण प्रत्येक प्रान्तके अल्पसंख्यकोंके पर्याप्त और प्रभावपूर्ण प्रतिनिधित्वके निश्चयात्मक सिद्धान्तके आधारपर हो और ऐसा करनेमें किसी प्रान्तकी बहुसंख्यक जाति अल्पसंख्यक या समान-संख्यक न की जाय।

(४) केन्द्रीय विधानसभामें एक तिहाईसे कम मुस्लिम प्रतिनिधित्व न हो।

(५) वर्तमान समयकी भाँति ही पृथक् निर्वाचन-प्रणाली द्वारा साम्प्रदायिक दलोंका प्रतिनिधित्व होना चाहिये। साथ ही इसकी भी व्यवस्था होनी चाहिये कि यदि किसी समय कोई साम्प्रदायिक दल चाहे तो संयुक्त निर्वाचनके पक्षमें पृथक् निर्वाचनको त्याग दे।

(६) किसी समय आवश्यकता पड़ने पर यदि प्रान्तोंका पुनः सीमाकरण हो तो उसका किसी प्रकार भी पंजाब, बंगाल और सीमाप्रान्तके मुस्लिम बहुमतपर असर नहीं पड़ना चाहिये।

(७) प्रत्येक समाजको पूरी धार्मिक स्वाधीनता—अर्थात् धार्मिक विचार, पूजा, रीति-रिवाज, प्रचार, संघ बनाने और शिक्षा देनेके अधिकारोंकी स्वाधीनता प्राप्त हो।

(८) किसी विधान मंडल या निर्वाचित संस्थामें कोई विधेयक, प्रस्ताव या उसका कोई अंश पास नहीं किया जायगा यदि उस संस्था-विशेषमें सम्बन्धित समाजके तीन चौथाई सदस्य उस विधेयक, प्रस्ताव अथवा उसके अंशको अपने समाजके हितोंके लिए हानिकारक समझकर उसका विरोध करते हैं या इस निषेधके स्थानपर दूसरे उपाय, जो सम्भव तथा व्यावहारिक हों, इस विरोधको सुलझानेके लिए अपनाये जायँ।

(९) सिन्धको बम्बईसे पृथक कर देना चाहिये।

(१०) दूसरे प्रान्तोंकी भाँति सीमाप्रान्त और बलोचिस्तानमें भी सुधारोंको लागू कर देना चाहिये।

(११) विधानके अन्दर राज्य और स्वशासन संस्थाओंकी नौकरियोंमें कार्यक्षमताकी आवश्यकता देखते हुए मुसलमानोंको उपयुक्त हिस्सा देनेकी व्यवस्था होनी चाहिये।

(१२) विधानके अन्दर, मुसलमानोंके धर्म, संस्कृति, और व्यक्तिगत कानूनकी रक्षा तथा शिक्षा, भाषा, धार्मिक और व्यक्तिगत कानूनों, मुस्लिम सहायता संस्थाओंकी उन्नतिके लिए तथा मुसलमानोंको राज्य और स्वायत्त शासन संस्थाओं द्वारा दी हुई धन-सहायतामें उचित भागकी सुरक्षाएँ होनी चाहिये।

(१३) केन्द्रीय अथवा कोई भी प्रान्तीय मन्त्रिमण्डल बिना उचित मुस्लिम प्रतिनिधित्वके नहीं बनना चाहिये। मुस्लिम प्रतिनिधित्व कमसे-कम एक तिहाई होना चाहिये।

(१४) भारतीय संघकी रियासतोंकी सम्मतिके बिना केन्द्रीय विधानसभा विधानमें कोई भी परिवर्तन न कर सकेगी।

(१५) वर्तमान समयमें, देशके विभिन्न विधान मंडलों व अन्य निर्वाचित संस्थाओंमें मुस्लिम प्रतिनिधित्व पृथक निर्वाचन प्रणाली द्वारा होना अनिवार्य है और चूँकि सरकार अपने वादेके अनुसार मुसलमानोंको यह अधिकार दे चुकी है, इसलिए बिना मुसलमानोंकी रायके यह अधिकार उनसे छीना नहीं जा सकता और जबतक मुसलमानोंको यह सन्तोष न हो जाय कि उनके अधिकार और हित ऊपर दिये गये तरीकोंसे सुरक्षित हैं तबतक वे किन्हीं भी शर्तोंपर या बिना शर्तोंके संयुक्त निर्वाचनके लिए राजी नहीं हो सकते।

नोट—जिन सूबोंमें मुसलमानोंका अल्पमत है, वहाँ उनकी संख्याके अनुपातसे अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त होनेके प्रश्नपर बादमें विचार किया जायगा।

दिसम्बर १९२९ में पेशावरमें अपने वार्षिक अधिवेशनमें जमैयतुल-उलेमाने लीगकी माँगोंका समर्थन किया। राजनीतिक क्षेत्रमें कांग्रेसकी नीतिपर चलनेवाली जमैयतने पिछले वर्ष बार बार दंगोंके कारण अपनेको कांग्रेससे अलग कर लिया। परन्तु १९३० में सविनय अवज्ञा आन्दोलनके समय जमैयत फिर कांग्रेसके साथ आ गयी।

हिन्दू महासभाने, जो चुपचाप मुस्लिम राजनीतिके उतार-चढ़ावोंको देख रही थी, सर्व-दलीय सम्मेलनके बाद पुनः अपनी नीतिपर गौर किया, विशेषतया मुसलमानोंको दी जानेवाली उन सुविधाओंपर, जो राजनीतिक समझौतेके लिए महासभाने मान ली थीं और उसने फिर अपनी यह पुरानी नीति अपना ली कि मुसलमानोंके प्रति कोई भी पक्षपात नहीं होना चाहिये।

अध्याय २१

सत्याग्रह

साइमन कमीशनने अप्रैल १९२९ के मध्यमें अपना काम खत्म कर दिया और वह इंगलैण्ड वापस चला गया। कांग्रेसकी सरकार-विरोधी कार्यावलीने दूसरा रूप ले लिया। कलकत्ता अधिवेशनने गान्धीजीकी अध्यक्षतामें एक विदेशी-वस्त्र-बहिष्कार-समिति बनायी थी। समितिने बड़ी संख्यामें पुस्तिकाएँ व पर्चे निकालकर जनतासे विदेशी वस्त्रोंको त्यागने और जला डालनेकी अपील की थी। १९२९ के शुरूमें जगह-जगह विदेशी वस्त्रोंकी होलियाँ भी जली थीं। कलकत्तेकी होलीके कारण मार्चके दूसरे सप्ताहमें गान्धीजीपर मुकदमा चला। उनपर गड़बड़ी करनेका अभियोग था और उन्हें एक रुपया जुर्मानेकी सजा हुई।

प्रत्यक्ष था कि कांग्रेस आनेवाले संघर्षकी तैयारी कर रही थी। गान्धीजीकी इच्छा पूरी न होने देनेके लिए सरकारने बड़े-बड़े नेताओंकी अन्धाधुन्ध गिरफ्तारीकी नीति अपनायी। राजनीतिक और मजदूर कार्यकर्त्ताओंपर न जाने कितने मुकदमें चले और सजाएँ हुईं। कलकत्तेमें कांग्रेस कार्यकारिणीके सदस्य सुभाषचन्द्र बसुपर मुकदमा चला। मजदूर नेता भी सक्रिय थे। इस वर्ष बम्बईके सूती मिलोंके डेढ़ लाख और बंगालके जूट मिलोंके २५००० मजदूरोंने हड़ताल की थी। जनताको राष्ट्रीय आन्दोलनमें आनेके लिए प्रेरित करनेके उद्देश्यसे हिन्दुस्तानी सेवादल हर मासके अन्तिम रविवारको राष्ट्रीय झण्डादिवस मनाता। इस दिन सवेरे आठ बजे देशभरमें राष्ट्रीय तिरंगा झण्डा फहराया जाता। उदारदल या नरमदलके नेता स्थितिको आशंकापूर्वक देख रहे थे और उन्होंने वाइसरायको सलाह दी कि संभावित आन्दोलन रोकनेके लिए गान्धीजीसे समझौता कर लिया जाय। ३१ अक्टूबरको वाइसरायने एक वक्तव्य द्वारा भारतको डोमीनियन स्टेट्स-औपनिवेशिक स्वराज्य देनेका वचन दिया पर इसके लिए कोई तिथि निश्चित नहीं की। उन्होंने अपने वक्तव्यमें इशारा किया कि भारतके भविष्यके विधानके लिए एक गोलमेज सम्मेलन होगा। वाइसरायके वक्तव्यका कांग्रेसी नेताओंपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। फिर भी २३ दिसम्बरको गान्धीजीको वाइसरायसे मिलनेका निमन्त्रण मिला। उस दिन गान्धीजी और मोतीलाल नेहरू एकमत और जिना, विट्ठलभाई पटेल व तेजबहादुर सप्रू दूसरे नरमदलीय मतके प्रतिनिधियोंकी हैसियतसे वाइसरायसे मिले और खाली हाथ वापस लौट आये। गान्धीजीने वाइसरायसे पूछा कि क्या गोलमेज सम्मेलनमें पूर्ण 'औपनिवेशिक स्वराज्य'के आधार पर बात होगी?' वाइसरायने इस प्रश्नके उत्तरमें स्पष्ट 'हाँ' कहनेमें असमर्थता प्रकट की।

कांग्रेसका वार्षिक अधिवेशन निकट आ रहा था। दस प्रान्तोंने गान्धीजी, पाँचने वल्लभभाई पटेल और तीनने जवाहरलाल नेहरूका नाम अध्यक्षपदके लिए प्रस्तावित किया था। गान्धीजी निर्वाचित घोषित हुए, पर उन्होंने फौरन इस्तीफा दे दिया और नया अध्यक्ष चुननेके लिए बुलायी गयी कांग्रेस महासमितिकी बैठकमें सुझाव दिया कि जवाहरलाल नेहरू उनकी जगह अध्यक्ष बनाये जायँ। उनकी इच्छा पूरी हुई।

१९२९ का ऐतिहासिक अधिवेशन हर वर्षकी तरह दिसम्बरमें लाहौरमें जवाहरलाल नेहरूकी अध्यक्षतामें होना तय हुआ। नेहरूजीने अपने भाषणमें कहा–"आज ब्रिटिश साम्राज्य दुनियाके बड़े-बड़े इलाकोंकी जनताकी इच्छाके विरुद्ध करोड़ों व्यक्तियोंपर शासन कर रहा है। यह सच्चा राष्ट्रमण्डल या कामनवेल्थ तबतक नहीं बन सकता, जबतक साम्राज्यवाद इसका आधार है और दूसरी जातियोंका शोषण इसके जीवनका सहारा। वास्तवमें यह साम्राज्य धीरे-धीरे राजनीतिक रूपसे छिन्न-भिन्न हो रहा है।" नेहरूजीने आगे कहा–"भारतके लिए पूर्ण स्वाधीनता हमारा लक्ष्य है। इस कांग्रेसने न कभी यह स्वीकार किया है और न कभी स्वीकार करेगी कि ब्रिटिश पार्लमेण्ट हमपर शासन करे। हमें पार्लमेण्टसे कोई अपील नहीं करनी है लेकिन हम विश्वकी अन्तरात्मा और विश्वरूपी पार्लमेंटमें अवश्य अपील करते हैं और कहते हैं कि भारत अब विदेशी दासता स्वीकार नहीं करता, सहन नहीं करता।"

मुख्य प्रस्ताव द्वारा कांग्रेसने घोषणा की कि कांग्रेस विधानकी पहली धारामें आये शब्द 'स्वराज्य' का अर्थ पूर्ण स्वाधीनता है और औपनिवेशिक स्वराज्य सम्बन्धी नेहरू समितिकी पूरी योजना समाप्त हो गयी। प्रस्तावमें कांग्रेस-जन तथा अन्य उन लोगोंसे अपील की गयी थी, जो राष्ट्रीय आन्दोलनमें भाग लेनेवाले थे कि वे भविष्यके चुनावोंमें हिस्सा न लें; विधान-मण्डलोंके कांग्रेसी सदस्योंसे इस्तीफा देनेको कहा गया था। प्रस्तावका आन्दोलन सम्बन्धी अंश इस प्रकार था—"कांग्रेस राष्ट्रसे अपील करती है कि वह उत्साहपूर्वक रचनात्मक कार्यक्रमको पूरा करे और कांग्रेस महासमितिको अधिकार देती है कि जब भी वह ठीक समझे सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू कर दे; इस आन्दोलनमें करबन्दी आन्दोलन भी शामिल हो सकता है; महासमिति सीमित या असीमित क्षेत्रोंमें जो शर्तें ठीक समझें उनके अनुसार आन्दोलन चलाये।" अल्प संख्यकोंके सम्बन्धमें प्रस्तावमें कहा गया था कि कांग्रेसको ऐसा कोई भी विधान स्वीकार न होगा जिसमें अल्प-संख्यकोंके लिए पूरे पूरे हित-रक्षात्मक प्रतिबन्ध न रखे गये हों।

दिसम्बरके इस आखिरी सप्ताहमें लाहौरमें बड़ी सर्दी थी। जो काफी कपड़ा नहीं लाये थे, वे ठिठुर रहे थे। इसलिये कांग्रेसने तय किया कि भविष्यके अधिवेशन फरवरी या मार्चमें हुआ करें। १८८५ में अपने जन्मसे ही कांग्रेसके अधिवेशन बड़े दिनकी छुट्टियोंमें हुआ करते थे। १९२९ का अन्तिम दिन था। आधी रातको जब साल खत्म हो रहा था सभी प्रतिनिधि बाहर निकले और पूर्ण स्वराज्यका झण्डा फहरा दिया। सरकारको दिया गया एक वर्षका समय समाप्त हो चुका था। नियतिकी घड़ी आ गयी थी।

वर्षके आरम्भमें कांग्रेसजनोंके विधानमण्डलोंसे इस्तीफा देनेके साथ ही संघर्षके बादल उमड़ उठे थे। कांग्रेसने २६ जनवरीको पूर्ण स्वतन्त्रता-दिवस मनाना तय किया। उस दिन रविवार था। कार्यसमितिने एक प्रस्ताव स्वीकार कर सभी मातहत समितियोंसे सार्वजनिक सभाओंमें इसी प्रस्तावको स्वीकार करनेको कहा था। यह प्रस्ताव एक प्रणके रूपमें, इस प्रकार था—"हमारा विश्वास है कि अन्य देशोंकी भाँति भारतवासियोंका यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वे स्वतन्त्रता प्राप्त करें, अपने परिश्रमके फलका उपभोग करें और जीवनकी आवश्यकताएँ पूरी करें ताकि विकासकी सारी सुविधाएँ उन्हें मिल सकें। हमारा यह भी विश्वास है कि यदि कोई सरकार जनताके इन अधिकारोंको छीनकर उसका दमन करती है तो जनताका यह भी अधिकार होता है कि वह उस सरकारको खत्म कर दे या

बदल दे। भारतमें अंग्रेज सरकारने न सिर्फ भारतवासियोंकी स्वतन्त्रताका अपहरण किया है, बल्कि उसने जनताका शोषण अपना आधार बना लिया है और आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिसे देशको बरबाद कर दिया है। हमारा यह भी विश्वास है कि भारतको ब्रिटेनसे नाता तोड़कर पूर्ण स्वराज्यकी प्राप्ति करनी चाहिये। इस लम्बे प्रस्तावमें बताया गया था कि किस प्रकार ब्रिटिश मालके लिए देशी घरेलू धन्धे नष्ट-भ्रष्ट किये गये, ब्रिटिश व्यापारकी सहायताके लिए तटकर और मुद्रा-विनिमय चलाया गया; भारतीयोंसे भाषण और संघटनकी स्वतन्त्रता छीन ली गयी, पूर्ण रूपसे शस्त्रविहीन बना दिये जानेके कारण भारतीय पुरुषत्वहीन हो गये हैं। अन्तमें प्रणके रूपमें कहा गया था —"हमारा पक्का विश्वास है कि यदि हम केवल अपना स्वेच्छापूर्ण सहयोग वापस ले लें और उत्तेजनामें भी हिंसा किये बिना, कर देना बन्द कर दें तो इस अमानवीय शासनका अन्त निश्चित है।"

गान्धीजी सविनय अवज्ञा आन्दोलनकी तैयारी कर रहे थे, किन्तु शान्तिवादी और सुलहमें विश्वास करनेवाले होनेके नाते उन्होंने वाइसरायको एक और मौका दिया। अपने साप्ताहिक 'यंग इण्डिया' के एक लेखमें उन्होंने वाइसरायको निम्नलिखित शर्तें बतायीं और आश्वासन दिया कि यदि सरकार उन्हें मान ले तो उसे सविनय अवज्ञा आन्दोलनका नाम भी न सुन पड़ेगा—

१—पूर्ण नशाबन्दी हो,

२—मुद्रा-विनियममें एक रुपया एक शिलिंग चार पेंसके बराबर माना जाय,

३—मालगुजारी आधी कर दी जाय और उसे विधानमण्डलके नियन्त्रणमें रखा जाय,

४—नमकपर लगनेवाला कर बन्द हो,

५—फौजी खर्च कम हो, शुरूमें उसे आधा तो कर ही दिया जाय,

६—बड़े अफसरोंकी तनख्वाहें आधी या उससे कम कर दी जायँ, ताकि कम आमदनीमें सरकार काम चला सके।

७—विदेशी वस्त्रोंपर तटकर लगाया जाय, ताकि देशी उद्योगका संरक्षण हो;

८—तटीय व्यापार संरक्षण कानून पारित किया जाय,

९—हत्या या हत्याकी चेष्टामें दण्डित बन्दियोंको छोड़कर शेष सभी राजनीतिक बन्दी रिहा कर दिये जायँ, सभी मुकदमे वापस लिये जायँ, दफा १२४, ए और १८१८ का तीसरा विनियम रद किया जाय और भारतसे निर्वासित किये गये सभी लोगोंको भारत आने दिया जाय,

१०—खुफिया पुलिस तोड़ दी जाय या इसे जन-नियन्त्रणमें रखा जाय,

११—जननियन्त्रणमें आत्मरक्षाके लिए बन्दूक आदि हथियारोंके लैसंस दिये जायँ।

सरकारकी ओरसे कोई उत्तर नहीं मिला; इतना ही नहीं आन्दोलन छिड़नेपर, उसे अधिक सफलता न मिले, इसलिए सरकारने राजनीतिक कार्यकर्त्ताओंकी गिरफ्तारियाँ जारी रखीं। नेताओंमें सुभाषचन्द्र वसु भी गिरफ्तार हुए और ११ अन्य व्यक्तियोंके साथ उन्हें एक वर्षकी कड़ी कैदकी सजा हुई। जिन साधारण कानूनोंकी शक्तिसे सरकारने अपने अधिकार बढ़ा लिये थे, उनमें किसीको भी, किसी भी भाषणके लिए दण्ड दे देना आसान था।

कांग्रेस कार्य समितिने अब आन्दोलनका कार्यक्रम तैयार करना शुरू किया।

आजादीके लिए लड़नेवालोंमें अनुशासन लानेके प्रश्नपर विचार हुआ। फरवरीकी बैठकमें कार्य-समितिने निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया।

"कार्य-समितिके मतमें सविनय अवज्ञा आन्दोलन उन व्यक्तियों द्वारा प्रारम्भ और नियन्त्रित किया जाना चाहिये जो पूर्ण-स्वराज्य प्राप्त करनेके लिए सिद्धान्त रूपमें अहिंसामें विश्वास करते हों, और चूँकि कांग्रेस संस्थामें ऐसे भी व्यक्ति हैं जो वर्तमान परिस्थितिमें अहिंसाको नीतिके रूपमें स्वीकार करते हैं, कार्यकारिणी इस सुझावका स्वागत करती है कि गान्धीजी और उनके वे सहयोगी जो अहिंसामें सिद्धान्त रूपमें (नीति रूपमें नहीं) विश्वास करते हों, जिस ढंगसे, जिस सीमातक, जब वे ठीक समझें सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू करें। कार्यसमितिका विश्वास है कि आन्दोलन छिड़ने पर सभी कांग्रेसजन व अन्य लोग इन विनयशील प्रतिरोधियोंको हर तरहसे सहयोग देंगे और हर परिस्थितिमें, उत्तेजनाके बावजूद शान्त रहेंगे। कार्यसमितिको आशा है कि यदि आन्दोलन सार्वजनिक रूपमें छिड़ा तो सरकारसे स्वेच्छापूर्ण सहयोग करनेवाले सभी लोग—जैसे कि वकील और जो सरकारसे तथाकथित सुविधाएँ प्राप्त करते हैं—जैसे कि छात्र, सरकारसे अपना सहयोग बन्द कर देंगे तथा सुविधाएँ लेनेसे इनकार कर देंगे और आजादीकी आखिरी लड़ाईमें जुट जायँगे।

"कार्यसमितिका विश्वास है कि नेताओंके गिरफ्तार होने या सजा पाने पर जो लोग पीछे छूट जायँगे और जिनमें सेवा व त्यागकी भावना है, वे कांग्रेसका संघटन चलायेंगे और अपनी योग्यतानुसार आन्दोलन चलायँगे।"

कार्यसमितिका यह प्रस्ताव कांग्रेस महासमितिने स्वीकार कर लिया और गान्धीजी व उनके सैद्धान्तिक अनुयायियोंको सविनय प्रतिरोध आन्दोलन चलानेका अधिकार दे दिया।

यह गान्धीजीपर ही छोड़ दिया गया था कि किस अनुचित कानूनको सत्याग्रही तोड़ना शुरू करें। गान्धीजीने नमक कानून छाँटा क्योंकि इस कानूनका प्रभाव देशके हर गरीब अमीर इन्सानपर पड़ता था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भारतमें नमकपर कर पहली बार अंग्रेजोंके राजमें ही लगा। अंग्रेजोंने एक तो अपनी आमदनी बढ़ानेके लिए और दूसरे भारतीय नमक मँहगा कर अंग्रेजी नमक भारतमें बेचनेके लिए यह कर लगाया था। जो अंग्रेजी जहाज भारतसे माल भरने आते थे वे नमक लाद लाते थे।

गान्धीजीने तय किया कि कुछ चुने हुए साथियोंके साथ किसी नमक गोदाम जाकर वे कानून तोड़ेंगे। उन्होंने वाइसरायको अपना यह निर्णय बताते हुए एक पत्र लिखा। २ मार्च १९३० के इस पत्रमें गान्धीजीने साबरमती आश्रमसे वाइसरायको बताया था कि वे कानून क्यों तोड़ रहे हैं। उन्होंने प्रश्न किया 'मैं ब्रिटिश शासनको अभिशाप क्यों मानता हूँ' और उसी पत्रमें उन्होंने उसका उत्तर इस प्रकार दिया—

"इसने भारतके करोड़ों मूक प्राणियोंको बढ़ते हुए शोषण और ऐसे खर्चीले फौजी और नागरिक प्रशासनसे गरीब बनाया है जिसका खर्च यह देश बरदाश्त नहीं कर सकता।

"इसने हमें राजनीतिक दृष्टिसे गुलाम रखा है। इसने हमारी संस्कृतिकी जड़ें काट दी हैं। निश्शस्त्रीकरण द्वारा इसने हमें आध्यात्मिक पतनकी ओर खींचा है। आन्तरिक शक्तिके अभावमें इस लगभग पूर्ण निश्शस्त्रीकरणके कारण हम भीरुतापूर्ण असहाय स्थितिमें हैं।"

"अनेक देशवासियोंकी तरह मैं भी इस आशाको गले लगाये रहा कि प्रस्तावित गोलमेज सम्मेलनसे कोई हल निकलेगा। लेकिन, जब आपने साफ-साफ कह दिया कि आप

या ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्यके संकल्पका आश्वासन नहीं दे सकते तब इस सम्मेलनसे वह हल निकलना सम्भव नहीं है जिसके लिए मुखर भारत चेतन मनसे और मूक भारत अचेतन मनसे लालायित है।

"यह बिलकुल स्पष्ट है कि उत्तरदायी ब्रिटिश राजनीतिज्ञ अपनी नीतिमें ऐसा कोई परिवर्तन करनेको तैयार नहीं हैं, जिससे ब्रिटेनके भारतीय व्यापारपर आँच आये या भारतमें ब्रिटिश क्रिया-कलापकी कड़ी जाँचकी सम्भावना पैदा हो। अगर यह शोषण बन्द न हुआ तो भारतका खून और तेजीसे चूसा जायगा।

"फिर सिर्फ मालगुजारी ही कम करनेकी जरूरत नहीं है, पूरी माल-व्यवस्था इस प्रकार बदलनी है कि रैयतकी भलाई उसका प्रथम कर्त्तव्य बन जाय। लेकिन ब्रिटिश प्रणाली-का उद्देश्य तो रैयतकी जान ले लेना मालूम पड़ता है। जो नमक जीवन धारण करनेके लिए खाया जाता है, उसपर भी इस प्रकार कर लगता है कि उसका सारा बोझ उसी रैयतपर पड़े—चाहे वह गरीब अमीर सबपर निर्दय समानताके साथ लगता हो। यह कर गरीबोंपर और भी बड़ा अन्याय तब साबित होता है, जब यह देखा जाय कि गरीब अकेले और सामूहिक रूपसे दोनों तरह अमीरोंसे ज्यादा नमक खाते हैं।

"ये अन्याय दुनियाका सबसे खर्चीला और मँहगा शासन कायम रखनेके लिए किये जाते हैं। आप अपनी ही तनख्वाह लीजिये। जो अप्रत्यक्ष रूपसे बहुत कुछ आपको मिलता है, उसे छोड़ भी दें तो भी आपको २१०००) महीना मिलता है। मुद्रा-विनिमयकी वर्तमान दरसे ब्रिटेनके प्रधान मन्त्रीको सिर्फ ५४००) महीना मिलता है। आपको ७००) प्रति दिन मिलता है जब कि भारतीयोंकी औसत आमदनी दो आने रोजसे भी कम है। ब्रिटेनके प्रधान मन्त्रीको १८०) रोज मिलते हैं जब कि वहाँके नागरिकोंकी औसत आमदनी २) रोज है। इस प्रकार आप औसत भारतीयोंसे पाँच हजार गुना ज्यादा पाते हैं, जब कि ब्रिटिश प्रधान मन्त्री औसत ब्रिटिश नागरिकसे ९० गुना ज्यादा पाता है। मैं आपसे हाथ जोड़कर प्रार्थना करता हूँ कि आप इस आश्चर्यजनक घटनापर विचार करें। एक कष्टदायक सत्यके लिए मैंने व्यक्तिगत उदाहरण लिया। लेकिन व्यक्तिगत रूपसे आपके लिए मेरे हृदयमें इतना आदर है कि मैं आपकी भावनाको ठेस नहीं पहुँचाना चाहता। मैं जानता हूँ कि आपको इस वेतनकी आवश्यकता है। सम्भवतः आपका सारा वेतन दानमें चला जाता है। लेकिन जिस प्रणालीमें इस प्रकारकी व्यवस्था हो उसे तो फौरन ही खत्म करना चाहिये। जो बात वाइसरायके वेतनके सम्बन्धमें कही जा सकती है, वही पूरी नौकरशाहीके बारेमें।

"इसके लिए सरकारी प्रणालीमें ही परिवर्तन जरूरी है और यह स्वराज्यके बिना असम्भव है। मेरी रायमें, २६ जनवरीके विराट आकस्मिक प्रदर्शनोंका जिनमें लाखों किसानों-ने भाग लिया, यही कारण है। उनके लिए स्वराज्यका अर्थ है इस जानलेवा बोझसे छुटकारा।

"फिर भी यदि भारतको एक राष्ट्रके रूपमें रहना है और यहाँकी जनताको भुखमरीसे धीरे-धीरे मरने नहीं देना है, तो स्थितिके तत्काल सुधारका कोई उपाय निकालना होगा। प्रस्तावित सम्मेलन वह उपाय नहीं है।"

आगे गान्धीजीने ब्रिटिश शासनकी बुराइयोंसे लड़नेके लिए सविनय अवज्ञा आन्दोलनकी अपनी योजना समझाते हुए लिखा—"लेकिन, यदि आपने इन बुराइयोंको दूर

करनेका रास्ता न निकाला और मेरे अनुरोधका आपपर कोई प्रभाव न हुआ तो इस महीने-की ११ तारीखको मैं आश्रमके ऐसे सहयोगियोंको लेकर नमक .कानूनका उल्लंघन करने निकलूँगा जो मेरे साथ चल सकेंगे। निर्धन लोगोंकी दृष्टिसे मैं इस नमक करको सबसे ज्यादा अन्यायपूर्ण मानता हूँ। चूँकि स्वतन्त्रता आन्दोलन अनिवार्य रूपसे देशके निर्धनोंके लिए है, इस बुराईको दूर करनेके प्रयत्नोंसे ही शुरुआत होगी। आश्चर्य तो यह है कि इस नृशंस इजारेदारीको हम अबतक बरदाश्त करते रहे। मैं जानता हूँ कि आप मुझे गिरफ्तार कर मेरी योजना ठप कर सकते हैं। मुझे आशा है कि मेरे बाद हजारों, लाखों व्यक्ति अनुशासित ढंगसे नमक कानून तोड़कर उस दण्डके भागी होंगे जो ऐसे कानूनके अन्तर्गत मिलेगा जिसे कभी बनना ही नहीं चाहिये था।

"मैं जहाँतक हो सकता है आपको या किसी औरको अनावश्यक परेशानी या व्यग्रतामें नहीं डालना चाहता। अगर आप इस पत्रमें तथ्य पायें और मसलोंपर मुझसे बातचीत करना चाहें, इसलिये इस पत्रका प्रकाशन स्थगित कराना चाहें तो आप इसे पाते ही मुझे तार दे दें, मैं खुशीसे प्रकाशन स्थगित कर दूँगा। लेकिन मेरा आपसे यही अनुरोध है कि जबतक आप मेरे पत्रमें लिखी बातोंके तथ्यसे सहमत न हों मुझे मेरे पथसे विचलित न करें।"

इस पत्रको एक अंग्रेज—रेजिनाल्ड रेनोल्ड्स, जो साबरमती आश्रममें कुछ दिनों रह चुके थे, लेकर वाइसरायके पास गये। उत्तरमें वाइसरायने सिर्फ इतना कहा कि "मुझे खेद है कि गान्धी वह रास्ता अख्तियार कर रहे हैं जिसमें कानून और सार्वजनिक शान्ति भंग होना अनिवार्य है"। गान्धीजीने इस जवाबके बाद कहा—"मैंने घुटने टेककर रोटी माँगी थी, पर मुझे पत्थर मिला। ब्रिटिश राष्ट्र केवल शक्ति पहचानता है और मुझे वाइसरायके पत्रसे आश्चर्य नहीं हुआ है। राष्ट्रको केवल एक ही सार्वजनिक शान्ति ज्ञात है, और वह है जेल-की शान्ति। भारत एक बहुत बड़ा जेल है। मैं इस कानूनको नहीं मानता और उद्‌गार प्रकट करनेमें असहाय राष्ट्र-हृदयको मसलनेवाली इस लादी गयी शान्तिकी शोकमय एक-रसताको भंग करना अपना पुनीत कर्त्तव्य मानता हूँ।"

१२ मार्चको ७५ साथियोंके साथ गान्धीजी डाँडीतटके लिए रवाना हुए। संवाद-दाताओं, फिल्म व फोटो खींचनेवालों और विभिन्न प्रान्तोंके कांग्रेसजनों व किसानोंके जत्थे पीछे-पीछे चले। लेकिन फिल्मवालोंको निराश होना पड़ा, क्योंकि उन्हें फिल्म खींचनेमें तो नहीं रोका गया, पर चर्खा-तकली लिये, सिर्फ धोती पहने गान्धीजीकी इस यात्राके फिल्मके प्रदर्शनपर रोक लग गयी। साबरमतीसे डाँडीकी २०० मीलकी यात्रा २४ दिनमें पूरी होनी थी। गान्धीजीने कहा था कि जबतक वे डाँडी न पहुँच जायँ और लोग सत्याग्रह शुरू न करें। लेकिन यह समझकर कि शायद उन्हें गन्तव्य स्थानतक न पहुँचने दिया जाय, विनयशील प्रतिरोधियोंके लिए कुछ बातें बता दी थीं। उन्होंने एक लेख लिखा था—"इस बार मेरे गिरफ्तार होने पर निष्क्रिय नहीं, सक्रिय अहिंसा होगी, जिससे इस प्रयत्नके अन्तमें, भारतकी स्वाधीनताप्राप्तिके लिए अहिंसामें सिद्धान्त रूपमें विश्वास करनेवाला कोई भी व्यक्ति जेलके बाहर जीवित रूपमें इस दासताको सहनेके लिए नहीं बचेगा। इसलिए सविनय अवज्ञा या सविनय प्रतिरोधमें—जैसा उसे मेरे उत्तराधिकारी या कांग्रेस चलाये, भाग लेना हर एक व्यक्तिका कर्त्तव्य होगा। मैं स्वीकार करता हूँ कि इस समय मेरा कोई अखिल

भारतीय उत्तराधिकारी नहीं है......प्रत्येक व्यक्तिको तबतक अपने कर्त्तव्यपर डटे रहना चाहिये जबतक प्रधान उसका आह्वान न करे। यदि स्वेच्छासे सार्वजनिक सहयोग हुआ—जैसी कि मुझे आशा है तो आन्दोलन अधिकांशतः स्वयं चालित ही होगा। लेकिन हर वह व्यक्ति जो अहिंसामें विश्वास रखता है—चाहे सिद्धान्त रूपमें चाहे नीति रूपमें, आन्दोलनमें सहायक होगा। सार्वजनिक आन्दोलनोंमें दुनिया भरमें नये नेता पैदा होते हैं। इसलिए, हालाँकि हिंसक शक्तियोंको रोकनेकी हर सम्भव कोशिश की जानी चाहिये, इस बार चलाया गया सविनय अवज्ञा आन्दोलन तबतक नहीं रुकना चाहिये और नहीं रुकेगा जबतक एक भी सत्याग्रही जिन्दा या जेलके बाहर है। सत्याग्रही या तो जेल या इसीसे मिलती-जुलती स्थितिमें होगा, या अवज्ञा आन्दोलनमें लगा होगा या आदेशानुसार स्वराज्य लानेवाले चर्खा चलाने जैसे रचनात्मक कार्योंमें संलग्न होगा।

गान्धीजीके दलके डाँडीके लिए रवाना होनेके पहले वल्लभभाई पटेल गान्धीदलके अग्रदूतकी तरह चल चुके थे। वे गिरफ्तार कर लिये गये और आन्दोलनकी गति बढ़ गयी। साबरमतीके मैदानमें ७५००० व्यक्तियोंने इकट्ठे होकर प्रण किया कि जबतक भारत स्वाधीन नहीं हो जाता, न तो हम स्वयं चैन लेंगे और न सरकारको चैन लेने देंगे। गान्धीजीने उनके समक्ष भाषण करते हुए कहा—"अब पाँसा पड़ चुका है और लौटाया नहीं जा सकता; गान्धीने पहले सार्वजनिक अवज्ञा आन्दोलनके प्रयोगके लिए तुम्हारा तालुका छाँटा है, उसकी इस पसन्दको सही साबित करना तुम्हारा काम है ......मैं जानता हूँ कि तुममें से कुछ लोगोंको अपनी जमीनें छिन जानेका डर है। यह छिनना क्या है! क्या वे जमीनोंको इंगलैण्ड उठा ले जायँगे? तुम विश्वास रखो कि अगर तुम जमीन छिनवानेको तैयार हो तो पूरा गुजरात तुम्हारे साथ है।" गान्धीजी जब डाँडीकी यात्रामें थे, २१ मार्चको कांग्रेस महासमितिने जनताको सावधान किया कि जबतक हमारा नेता डाँडी पहुँचकर स्वयं नमक-कानून भंग न कर ले कोई अन्य व्यक्ति तबतक आन्दोलन न करे। गान्धीजीकी सहमतिसे महासमितिने एक शपथ बनायी जिसपर हर सत्याग्रहीको हस्ताक्षर करने थे। इस शपथ द्वारा सत्याग्रही आन्दोलनमें जेल जाने तथा अन्य दण्ड स्वीकार करनेका वादा करता। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियोंसे, सरकारी बाधाओंके बावजूद, सार्वजनिक आन्दोलनकी तैयारियाँ पूरी करनेको कहा गया।

गान्धीजी रास्तेमें सभाओंमें भाषण करते जाते थे। एक जगह उनका भाषण सुनकर २०० पटेलोंने सरकारी नौकरीसे इस्तीफा दे दिया।

गान्धीजी ५ अप्रैलको डाँडी पहुँच गये। ६ अप्रैलको जालियाँवाला बाग नरमेधके अविस्मरणीय दिन देशभरमें नमक सत्याग्रह शुरू होनेका निश्चय हुआ था। उस दिन प्रातःकालीन प्रार्थनाके फौरन बाद गान्धीजी अपने अनुयायियोंके साथ कानून भंग करने चले; उन्होंने समुद्रतटपर पड़े नमकको उठा लिया। कोई गिरफ्तार नहीं किया गया। गान्धीजीने एक प्रेस-वक्तव्यमें कहा—"नमक कानून जाब्ते या व्यवहार रूपमें भंग हो चुका है और अब हर वह व्यक्ति जो मुकदमेका खतरा उठानेको तैयार है, जहाँ और जब चाहे नमक बनानेको स्वतन्त्र है। मेरी सलाह यह है कि कार्यकर्त्ता हर जगह नमक बनायें और जहाँ साफ नमक बनाना सम्भव है वहाँ उसका प्रयोग भी करें; साथ ही ग्रामवासियोंको खाद्य नमक बनानेकी विधि बतायें और साथ ही उन्हें बताते जायँ कि वे इसके लिए दण्ड पा सकते हैं......ग्राम-

वासियोंको यह साफ-साफ बता दिया जाय कि कानून भंग करना चोरी-छिपे नहीं, खुले आम होना है""""नमक कानूनके विरुद्ध यह युद्ध राष्ट्रीय सप्ताहके अन्ततक अर्थात् १३ अप्रैल-तक चले।"

गान्धीजीकी यात्रामें प्रतिदिन बढ़ता जनताका संचित उत्साह ६ अप्रैलको प्रवाहित हो चला। सरकारको तैयारीका काफी समय मिला था; पुलिस बन्दूक भरे, संगीन लगाये तैयार थी। उस दिन देश भरमें सार्वजनिक सभाएँ हुईं, बड़े शहरोंमें इनमें लाखोंने भाग लिया। एक तरफ गान्धीजीका सन्देश सुननेको आतुर निहत्थी जनता थी; दूसरी तरफ सशस्त्र घुड़सवार पुलिस कानून भंग किये विना भी भीड़पर गोली चलानेको उद्यत। सभाओंमें आये सभी लोग सत्याग्रही नहीं थे, उनमेंसे बहुतसे लोग गान्धीजी और उनके आन्दोलनमें श्रद्धा करते थे पर घरेलू कारणोंसे कानून भंग नहीं करना चाहते थे। उनका एकमात्र उद्देश्य सभाओंमें भाग लेकर घर लौट आना था। लेकिन सभा-स्थलोंपर पुलिस आतंक जमानेके लिए एकत्र थी। पुलिसकी आम चाल यह थी कि सभाके संयोजकोंसे सभा बरखास्त करनेके लिए कहकर विवाद करना; और संयोजकके शान्तिपूर्ण सभा करनेके अपने नागरिक अधिकारका हवाला देकर सभा भंग करनेसे इनकार करते ही; इससे गैर सत्याग्रही जनतामें भी आत्म-सम्मान उभरता; पुलिस भीड़को तितर-बितर करनेके लिए गोली चला देती और जनता अहिंसाके अनुशासनमें निष्क्रिय रूपसे इसे स्वीकार करती; धीरे धीरे दोनों ओर भावावेश बढ़ता जाता; जनता अपने नागरिक अधिकारके प्रयोगके लिए इकट्ठी होती; पुलिस और नृशंस होकर गोलियोंसे उसे भून देती और लाठियोंसे घायल कर देती।

आन्दोलनके दिनोंमें भारतका दौरा करनेवाले अंग्रेज ब्रेल्सफर्डने ब्रिटिश पत्र 'मैंचेस्टर गार्जियन' में १२ जनवरी १९३१ को लिखा—"यदि ऐसी सभाएँ हमेशा या आम तौरपर होने दी जातीं तो कोई अव्यवस्था नहीं होती। लेकिन जैसा हुआ—खास कर बम्बईमें, वह यह था कि भीड़ हटानेके इस भोंडे तरीकेने पूरे नगरमें रोष भर दिया; लाठी खाना आत्म-सम्मानका प्रश्न बन गया और शहीद होनेकी भावनामें सैकड़ों स्वयंसेवक मरने और मिटने गये।"

६ अप्रैलको नमक कानून देशमें अनेक जगहोंपर तोड़ा गया। नमक ऐसी जगहोंपर भी बनाया गया जहाँ इस गैरकानूनी नमककी कीमत मामूली कीमतसे कहीं ज्यादा बैठी। कानून भंग करना हर्तों जारी रहा। पुलिस सत्याग्रहियोंको बेरहमीसे पीटती और यातनाएँ देती रही।

गिरफ्तारीके पहले वाइसरायको लिखे गये गान्धीजीके दूसरे पत्रसे इन अत्याचारोंका कुछ भास होता है। गान्धीजीने लिखा था—"मुझे आशा थी कि सरकार सत्याग्रहियोंसे सभ्य ढंगसे लड़ेगी। यदि सरकार सत्याग्रहियोंसे निपटनेके लिए न्याय और नियमोंके सामान्य पालनसे संतुष्ट हो जाती तो मुझे कुछ नहीं कहना था। लेकिन, जाने माने नेताओंके साथ तो थोड़ी बहुत न्यायव्यवस्था ठीक बरती गयी है, पर आम सत्याग्रहियोंपर जंगली और असभ्य ढंगसे हमला किया गया है। यदि ऐसी घटनाएँ इक्की-दुक्की या छिटफुट होतीं तो इन्हें नजर-अन्दाज किया जा सकता था। लेकिन बंगाल, बिहार, उत्कल, संयुक्त प्रान्त, दिल्ली और बम्बईसे मेरे पास विवरण आये हैं जो गुजरातके मेरे अनुभवोंकी पुष्टि करते हैं और जिनके मेरे पास काफी सबूत मौजूद हैं। कराची, पेशावर और मद्रासमें अनावश्यक रूपसे,

बिना किसी उत्तेजनाके गोली चला दी गयी। सरकारके लिए व्यर्थ, पर स्वयंसेवकोंका बहुमूल्य नमक छीन लेनेके लिए उनकी हड्डियाँ तोड़ दी गयीं, उनके गुप्तांग दबाये गये। मथुरामें, बताया जाता है कि, एक सहकारी मजिस्ट्रेटने १० वर्षके एक बालकसे राष्ट्रीय झण्डा छीन लिया। एकत्र भीड़ने इस तरह गैरकानूनी ढंगसे छीने गये झण्डेको वापस माँगा पर उसे नृशंसतापूर्वक लाठियोंसे खदेड़ा गया। बंगालमें नमकको लेकर कम ही हमले और गिरफ्तारियाँ हुईं, पर स्वयंसेवकोंसे झण्डे छीननेमें ऐसी बेरहमी बरतनेकी रिपोर्टें मिली हैं जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। धानके खेत जला डालने और जबरदस्ती अन्न छीन लेनेके समाचार मिले हैं। गुजरातमें एक सब्जी मण्डीपर सिर्फ इसलिये हमला बोल दिया गया कि वहाँ अफसरोंके हाथ तरकारी बेचनेसे इनकार किया गया था।

हालाँकि सत्याग्रहियोंको पीटने और यातनाएँ देनेके लिए सरकारने स्वयं न्यायके प्रशासनको तिलांजलि दे रखी थी पर कुछ मामलोंमें न्यायका एक ढोंग कायम रखना वाइसरायने आवश्यक समझा। उन्होंने बंगाल आर्डिनेंस जारी कर दिया और २७ अप्रैलको एक और आर्डिनेंस जारी कर सन् १९१० का प्रेस कानून लागू कर दिया। गान्धीजीने प्रकाशकों और समाचारपत्रोंको "जमानत देनेसे इनकार करने और माँगे जाने पर या तो अखबार बन्द कर देने या फिर अधिकारियोंको जो चाहें उसे जब्त कर लेने देनेकी" सलाह दी। गान्धीजीने लिखा "जब स्वतन्त्रता हमारे दरवाजेपर थपकी दे रही है; उसके स्वागतमें सहस्रोंने यातनाएँ सही हैं, तब पत्र-प्रतिनिधियोंके सम्बन्धमें यह नहीं कहा जाना चाहिये कि उन्हें परखा गया पर वे खरे नहीं निकले"। गान्धीजीके साप्ताहिक 'यंग इण्डिया'के प्रकाशक नवजीवन प्रेससे जमानत माँगी गयी, पर गान्धीजीके आदेशपर जमानत देनेसे इनकार कर दिया गया। 'यंग इण्डिया' साइक्लोस्टाइलसे निकलने लगा। मईके मध्यमें कांग्रेस कार्यसमितिकी बैठक इलाहाबादमें हुई और कार्यसमितिने जनतासे अपील की कि वह उन सभी "आंग्ल भारतीय या भारतीय पत्रोंका बहिष्कार कर दे जो जमानत माँगे जानेके बाद भी प्रकाशन जारी रखते हैं।"

मईके पहले हफ्तेमें गान्धीजीने वाइसरायको एक और पत्र लिखा, (जिसका एक उद्धरण ऊपर दिया जा चुका है), जिसमें धरसानाके नमक कारखानेपर कब्जा करनेके लिए दूसरे प्रयाणका अपना निश्चय प्रकट किया। इस पत्रमें गान्धीजीने फिर वाइसरायसे नमक कर हटानेके लिए कहा "जिसकी आपके देशके बहुतसे प्रतिभाशाली व्यक्तियोंने कड़े शब्दोंमें आलोचना की है और अवज्ञा आन्दोलनमें परिलक्षित जिसका सार्वजनिक विरोध और निन्दा आपने भी देखी होगी।" इस बार धरसाना-यात्राकी इजाजत नहीं मिली और ५ मई सन् १९३० को गान्धीजी गिरफ्तार कर यरवदा जेल ले जाये गये।

उनकी गिरफ्तारीका समाचार देशभरमें दावानलकी तरह फैल गया। हर शहरमें बाजार-व्यापार सब फौरन बन्द कर दिये गये। बम्बईमें ५० हजारसे ज्यादा मजदूर अपना काम छोड़कर प्रदर्शनमें भाग लेने सड़कोंपर निकल आये। जी० आई० पी० और बी० बी० एण्ड सी० आई० रेलवे कारखानोंके कर्मचारियोंने भी ऐसा ही किया। बम्बईके वस्त्र-व्यवसायियोंने ६ दिनतक बाजार बन्द रखकर अपना विरोध प्रदर्शित किया। सभी प्रदर्शन शान्तिपूर्ण थे; पर शोलापुरमें एक भीड़ने पुलिसकी छः चौकियाँ जला डालीं। पुलिसने भीड़पर गोली चलाकर २५ को मार डाला और १०० को घायल कर दिया। हवड़ामें भी कुछ

अशान्ति हुई और पुलिसने भीड़पर गोली चलायी। पाँच व्यक्तियोंसे अधिकके एक जगह इकट्ठे होनेपर रोक लगा दी गयी। जनताका सरकारके विरुद्ध रोष बढ़ता जा रहा था और बहुत-से आत्मसम्मानवाले व्यक्तियोंने सरकारी नौकरियों व अवैतनिक पदोंसे इस्तीफा दे दिया।

गान्धीजीकी गिरफ्तारीके बाद कांग्रेस कार्य-समितिकी जो बैठक मईमें हुई उसमें आज्ञाभंगकी सीमा बढ़ा दी गयी। उसमें कुछ प्रान्तोंमें करबन्दी आन्दोलन लगानबन्दीसे शुरू करनेको कहा गया। कार्यसमितिने मध्यप्रान्तमें जंगलात कानून और दूसरे प्रान्तोंमें भी ऐसे ही कानून तोड़नेकी अनुमति दे दी और पुलिस व फौजसे सरकारी आदेशोंका उल्लंघन करनेको कहा।

इस बीच आन्दोलन जारी था। नमक कानूनका तोड़ना और उसके लिए दण्ड पाना प्रतिदिनकी घटनाएँ हो गयी थीं। लेकिन सत्याग्रहका लक्ष्य धरसाना था जो गान्धीजीकी दूसरी यात्राका लक्ष्य था। सैकड़ों स्वयंसेवक प्रतिदिन वहाँ धावा बोलते। या तो उन्हें ठोंक पीटकर खदेड़ दिया जाता या वे गिरफ्तार कर लिये जाते। पहला जत्था अब्बास तैयबजीके नेतृत्वमें गया, दूसरा श्रीमती सरोजिनी नायडूके नेतृत्वमें। दो बड़े जत्थे २२० व ४४० स्वयंसेवकोंके थे, जिन्हें गिरफ्तार कर लिया गया था। धरसानापर सबसे बड़ा धावा २१ मईको हुआ जब गुजरातके विभिन्न भागोंसे आये २५०० स्वयंसेवक वहाँ इकट्ठे हुए। मानों सबसे बड़े जत्थेके मुकाबलेके लिए पुलिसने सबसे निर्मम हमला बोल दिया। २९० स्वयंसेवक घायल हुए, जिनमेंसे दोकी मृत्यु हो गयी। ३ जूनको २०० स्वयंसेवकोंके एक जत्थेकी भी यही हालत हुई।

'न्यू फ्रीमैन'के संवाददाता वेब मिलरने पुलिसकी ज्यादतियोंका वर्णन करते हुए लिखा "२२ देशोंमें १८ वर्षतक संवादसंग्रहके काममें मैंने असंख्य उपद्रव, संघर्ष, गली-कूचोंमें जमकर हुई लड़ाइयाँ और विद्रोह देखे हैं। लेकिन धरसाना जैसे रोंगटे खड़े कर देनेवाले मर्मभेदी दृश्य मैंने कभी नहीं देखे। कभी कभी इतनी पीड़ाके दृश्य होते कि मुझे थोड़ी देरके लिए आँखें हटा लेनी पड़तीं। स्वयंसेवकोंका अनुशासन आश्चर्यजनक था। लगता था वे गान्धीकी अहिंसासे ओत-प्रोत हैं।" वडाला नमक डिपोपर भी स्वयंसेवक बार-बार धावा बोल रहे थे। लेकिन पहली जूनको सबसे बड़ा धावा हुआ। १५००० सत्याग्रहियों और अन्य व्यक्तियोंने भाग लिया। वडालामें भी पुलिसने लाठीचार्ज किया। "वर्ली नजरबन्दी कैम्पमें ३ जूनको वडालापर धावा बोलनेवाले लगभग ४००० बन्दियों और पुलिसमें कहा-सुनी हो गयी जिससे गम्भीर स्थिति पैदा हुई। पुलिसको दो बार लाठीचार्ज करना पड़ा, फौज बुलायी गयी और ९० व्यक्ति घायल हुए जिनमें २५ के गम्भीर चोटें लगीं।"

मद्रासमें सरकारने लम्बे-लम्बे जुर्माने कर सत्याग्रहियोंको डरानेकी कोशिश की, पर यह नीति सफल न होने पर उसने भी पुलिसके डण्डेकी शरण ली और जनताको धमकाना शुरू किया। बाजारोंमें खद्दर पहने या गांधी टोपी पहने लोगोंको बिना कारण पीटा जाता। आंध्रमें कई जगह फौजी पुलिस तैनात की गयी। उसका यह नित्यकर्म था कि बाजारोंमें घूमा जाय और हर रास्तेमें मिलनेवाले हर खद्दरधारीको ठोंका जाय। उसका यह रवैया

तभी खत्म हुआ जब एलोरमें उसका मुकाबला कर लिया गया; पुलिसने गोली चला दी जिसमें दो-तीन व्यक्ति मारे गये और पाँच-छः घायल हुए।

४ जून, १९३० की बैठकमें कांग्रेस कार्यसमितिने जो प्रस्ताव स्वीकार किया उसके अनुसार धरसानामें पुलिसके अत्याचारोंमें "और अत्याचारोंके अलावा, सत्याग्रहियोंको तब-तक लाठियोंसे मारते जाना जबतक वे अचेत होकर गिर न जायँ और फिर उनके शरीर बूटोंसे कुचलवाना, सत्याग्रहियोंको नंगा कर उनके गुप्तांगोंमें डण्डे ठूँसना, एक बालकके शरीरमें बबूलके काँटे चुभोना और उसके अण्डकोषपर प्रहार करना" भी शामिल थे। प्रस्ताव-में कहा गया था—"लखनऊमें अपने घरोंके छज्जों और गवाक्षोंमें खड़े लोगोंपर २६ मईको गोली चलायी गयी और उन्हें घायल किया गया। कुछ दूकानें भी पुलिस द्वारा लूटी गयीं।"

मईके पहले सप्ताहमें ही कांग्रेसके लगभग सभी बड़े नेता पकड़े जा चुके थे। कांग्रेसके अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू १४ अप्रैलको गिरफ्तार किये गये और उनकी जगह मोतीलाल नेहरू कार्यकारी अध्यक्ष नियुक्त हुए। गान्धीजीकी गिरफ्तारीके बाद अब्बास तैयबजी डिक्टेटर नियुक्त हुए, वे भी गिरफ्तार हो गये। २७ जूनको कांग्रेस कार्यसमितिने सत्या-ग्रहका एक नया रूप बताया। उसने जनताको राय दी कि जहाँ भी सम्भव हो वह सर-कारसे अपना पावना रुपये या नोटोंमें न ले और सोना माँगे। कार्यसमिति सरकारी मुद्राओंसे जनताका विश्वास डिगा देना चाहती थी। पर इस प्रस्तावके प्रति जनताने विशेष उत्साह नहीं दिखाया।

एक अन्य प्रस्ताव द्वारा कार्यसमितिने जनतासे अपील की कि वह "उन सरकारी अफसरों व अन्य व्यक्तियोंका सामाजिक बहिष्कार करे जिन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलनको कुचलनेमें प्रत्यक्ष भाग लिया है। इस प्रस्तावका भी विशेष असर नहीं हुआ।

३० जूनको कांग्रेस कार्यसमिति गैर-कानूनी संस्था घोषित कर दी गयी और अध्यक्ष मोतीलाल नेहरूको गिरफ्तार कर छः महीनेकी सजा दे दी गयी। कुछ प्रान्तीय व जिला कांग्रेस कमेटियाँ भी गैर-कानूनी संस्थाएँ घोषित कर दी गयीं।

उच्चाधिकारियोंके आदेशोंका पालन करते हुए पुलिसने जो असंख्य अत्याचार किये, उनके वर्णनके लिए एक पूरी पुस्तक भी काफी न होगी। यहाँ कुछ उदाहरण भर दे दिये जाते हैं। पुलिसकी बर्बरताका प्रत्यक्षदर्शी विवरण देते हुए एक फ्रांसीसी महिलाने लिखा है—"इसमें संशय नहीं कि अंग्रेज अफसरोंकी मातहतीमें भी पुलिस बहुधा सरकारके प्रति निष्ठाहीनताके लिए शारीरिक दण्ड देती है। कलकत्तेमें विश्वविद्यालयके छज्जेमें खड़े कुछ छात्रोंने शान्तिपूर्ण जलूसपर पुलिसका बर्बर प्रहार देखकर 'कायर' कहा। दो घण्टे बाद, एक अंग्रेज अफसरके अधीन पुलिस विश्वविद्यालय वापस लौटी और कक्षामें बैठे छात्रों-को अन्धाधुन्ध पीटना शुरू किया। कक्षाकी दीवालोंपर खूनके धब्बे पड़ गये। विश्वविद्या-लयके अधिकारियोंने इसकी शिकायत की पर पुलिसको कोई दण्ड नहीं मिला......ऐसी ही घटना लाहौरमें हुई जहाँ एक अंग्रेज अफसरके नेतृत्वमें पुलिसने एक कालेजपर छापा मारा और सिर्फ छात्रोंको ही नहीं बल्कि अध्यापकोंको भी पीटा। इस हमलेके लिए यह बहाना लिया गया था कि कुछ छात्र (मुझे विश्वास दिलाया गया कि वे एक दूसरे कालेजके थे) सड़कपर शान्तिपूर्ण धरना दे रहे थे। कोण्टइ (बंगाल) में एक निरीह शान्तिपूर्ण भीड़को तितर-बितर करनेके लिए पाँच ग्रामीणोंको एक तालाबमें ढकेल कर डुबा दिया

गया। मेरठमें मेरी एक प्रमुख वकीलसे भेंट हुई, जो एक सभाके प्रमुख वक्ता थे। गिरफ्तार करनेके बाद पुलिसने उन्हें ठोंकना शुरू किया और इसी हालतमें एक सिपाहीने उन्हें गोली मार दी, जिससे उनका हाथ काटना पड़ा।"

गुजरातके सम्बन्धमें जहाँ किसानोंने मालगुजारी देनेसे इनकार किया था, उक्त महिलाने लिखा है—"गुजरातके गाँवोंमें पुलिसकी बर्बरताके मुझे अनेक प्रमाण मिले क्योंकि मैं वहाँ चार दिन घूमी। कानूनी दमन स्वयं काफी कठोर था। कैरा और बारदोली जिलोंके लगभग सभी किसान गान्धी-भक्ति, स्वराज्यकी आकांक्षा और भयानक मन्दीके कारण गिरी गल्लेकी कीमतों आदि कई कारणोंसे मालगुजारी देनेसे इनकार कर रहे थे। इसका जवाब यह था कि उनके खेत, गाय, भैंस सिंचाईके पम्प आदि जब्त कर लिये जाते और उन्हें नाममात्रकी कीमतपर बेच दिया जाता—यहाँतक कि ४० रुपयेकी कर-अदायगीमें किसानोंका सर्वस्व चला जाता। यही नहीं, वसूलीकी तिथि भी तीन महीने घटा दी गयी थी। जिन किसानोंने १९३० के दो लगान जमा कर दिये थे, उनसे १९३१ की जनवरी वाली किस्त अक्तूबरमें ही माँगी जाने लगी। यह सब कानूनी दृष्टिसे शायद ठीक रहा हो पर यह कड़ाईकी हद थी। इसके ऊपर मारपीटका आतंक आया। पुलिस राइफिलें और लाठियाँ लेकर आती और गाँव घेर लेती। और फिर लाठियों तथा राइफिलोंके कुन्दोंसे किसानोंको अन्धाधुन्ध ठोंकना शुरू करती। मेरे पास ४५ घायलोंके बयान हैं। इनमेंसे दो को छोड़कर (एक जवान लड़की लज्जावश अपनी चोटें नहीं दिखा रही थी) शेष सभीकी चोटें और घाव मैंने देखे। इनमेंसे कुछ लोगोंको गम्भीर और गहरी चोटें आयी थी। एक व्यक्तिका हाथ टूट गया था, एकका अँगूठा ऐसे तोड़ दिया गया था कि हड्डी बाहर दिखाई पड़ती थी, दूसरोंके शरीरोंपर मारके निशान थे। बहुतसे ऐसे घायलोंको मैं नहीं देख सकी जो एक दूरके अस्पतालमें भरती थे। कभी इस अत्याचारका उद्देश्य लगान वसूली होता, कभी कभी मारपीटके बाद या भैंस कब्जेमें ले लेनेके बाद कोई कोई व्यक्ति सरकारी देना अदा कर देते—हालाँकि कानूनी तौरपर अदायगीकी तिथि अभी नहीं आयी थी। मेरे पास ऐसे भी कई लोगोंके बयान हैं जिन्हें खुद लगान नहीं देना था पर मारपीट कर गैरहाजिर पड़ोसीका लगान उनसे वसूल कर लिया गया। एक गाँवमें पेड़ों व घरोंपर लगे राष्ट्रीय झण्डे उतारकर फाड़ डाले गये और आठ किसानोंको सिर्फ इसलिये पीटा गया कि उनके घर इन झण्डोंके पास थे। दो व्यक्तियोंको तबतक मारा जाता रहा जबतक उन्होंने गान्धी टोपी न उतार ली। एक व्यक्तिपर तबतक लाठीसे प्रहार किया जाता रहा जबतक उसने पुलिसको सात बार सलाम नहीं कर लिया। उसे कुल बारह लाठियाँ लगीं। पुलिसका एक आम मजाक यह था कि वह किसीसे पूछती—'तुम स्वराज्य चाहते हो? तो यह लो' और खटसे उसके सिर लाठी पड़ती सबसे खराब बात तो यह थी कि भारतीय सिविल व पुलिस अफसर 'जरायमपेशा' बरियोंको पट्टीदारोंके खिलाफ भड़काते थे। बरियोंसे कहा जाता कि इनका उधार न चुकाओ, इनके घरोंमें आग लगा दो। मेरे पास कई गाँवोंके पाँच बरियोंके बयान मौजूद हैं।

"मैं दो भारतीय अफसरोंसे मिली और मुझे उनका रंगढंग देखनेको मिला। एक अफसरने मेरे सामने एक बर्बर हमला कर दिया। अन्तमें मैंने बोरसदमें हवालातियोंको रखनेका एक कटघरा देखा। ३०-३० फुट लम्बी चौड़ी चिड़ियाखाने जैसी इस खोहमें सीखचे लगे थे। इसमें १८ हवालाती दिन-रात बन्द रहते थे। उन्हें पढ़ने लिखने या

काम करनेकी इजाजत नहीं थी। एक व्यक्ति इस कटघरेमें छः हफ्तेसे वन्द था। कटघरा दिन-में सिर्फ एक वार पौन घण्टेके लिये खुलता था, जब वन्दी शौचादिसे निवृत्त होते थे।"[1]

१ अगस्त १९३० को कांग्रेस कार्यसमितिने निम्नलिखित कार्यक्रम वनाया—विदेशी वस्त्रोंका वहिष्कार, नशावन्दी, प्रान्तीय व केन्द्रीय विधानमण्डलोंका वहिष्कार, ब्रिटिश सामान-का वायकाट, डाकखानों व कैश सर्टीफिकटोंमें जमा रुपया फौरन निकाल लेना, सरकारी गजटोंका वहिष्कार, सरकारी अफसरोंका वहिष्कार, फौज व पुलिससे सरकारी आदेशोंका उल्लंघन करनेकी अपीलवाला कार्यसमितिका प्रस्ताव छापकर उनमें बाँटा जाना, लगान व दूसरे कर अदा न करना, व्यापार सम्बन्धी विवादोंका पंच समझौता कर लेना, छात्रोंसे राष्ट्रीय आन्दोलनमें भाग लेनेकी अपील, अंग्रेजी जहाजी बीमा व वैंक कम्पनियोंसे सहयोग वापस लेना, स्वदेशीके प्रयोगका प्रचार।

गुजरातके वारदोली और वोरसद ताल्लुकोंमें पुलिसका दमन और अत्याचार इतना ज्यादा था कि ८०००० लोग वहाँसे घर छोड़कर पासकी वड़ौदा रियासतमें चले गये। इस निर्वासनका वर्णन करते हुए ब्रेल्सफर्डने लिखा है—"वहुतसे सवाल करने पर मैं एक दृश्य अपने दिमागमें वना पाया। यह अफवा गाँवकी वात है, जो वीरान हो गया था। वहाँ कुछ भूमिहीन लोग रह रहे थे और कुछ किसान वड़ौदासे लौटकर खेत जोतने-वोने आ गये थे। २१ अक्तूवरको रातमें ३ वजे दस सिपाहियोंको एक मोटरमें लादे एक थानेदार उधरसे गुजरा। पुलिस उतर पड़ी और खेतोंपर सो रहे इन लोगोंको ठोंकना शुरू कर दिया। फिर ये लोग खींचकर थानेदारके पास लाये गये। थानेदारने खुद उन्हें वूटकी ठोकरों और हाथोंसे मारा। एक व्यक्ति तव भी लँगड़ाता था जव मैं वहाँ पहुँचा। एक और व्यक्तिके तव भी सूजन वनी हुई थी। थानेदारने दो भाइयोंके सिर लड़ा दिये। फिर उन्हें लारीमें वन्द कर वारदोलीकी हवालातमें ले जाया गया। वहाँ थानेदारने न छापने योग्य भाषामें वताया कि किस प्रकार वह उन्हें 'उनकी पत्नियोंके अयोग्य' कर देगा। इस धमकीका यह असर हुआ कि छोटे भाई-पर कोई लगान वकाया न होने पर भी उसने वापके खेतका ही वकाया अदा कर दिया। एक दूसरे मामलेमें थानेदारने एक राहगीरको पकड़वा वुलाया, उसके रुपये छीन लिये और एक दूसरे गाँवके किसानका वकाया लगान उस रकमसे पूरा कर रसीद काट दी और इस अजनवीको मार-पीटकर वह रसीद देकर कहा—जा कर उससे अपनी रकम वसूल कर।"[2] वोरसदमें पुलिसने "औरतोंको गिराकर अपने वूटोंसे उनके सीने कुचल कर"[3] २१ जनवरी १९३१ को आखिरी नरकके दर्शन कराये।"

गुजरातके लगानवन्दी आन्दोलनकी 'काफी सफलता' सरकारी तौरपर भी स्वीकार की गयी।[4]

लगानवन्दी आन्दोलन दूसरे प्रान्तोंमें भी छोटे पैमानेपर चला। संयुक्तप्रान्तमें किसानों व जमींदारों-दोनोंसे लगान व मालगुजारी न देनेकी अपील की गयी थी और आन्दोलन "देशके वड़े-वड़े इलाकोंकी जनतापर प्रभाव डाल रहा था।" विहारमें चौकीदारी कर वहुत

१. पट्टाभि सीतारमैया, द्वारा उद्धृत वही पुस्तक, पृष्ठ ४०७-९
२. पट्टाभि सीतारमैया द्वारा उद्धृत, 'वही पुस्तक', पृष्ठ ४२०
३. वही पुस्तक, पृष्ठ ४२०
४. 'इण्डिया इन १९३०-३१', पृष्ठ ८९

लोगोंने रोक लिया और इसके बदलेमें उनपर सामूहिक जुर्माने हुए और उनकी जायदादें जब्त हो गयीं। मध्यप्रान्तमें जंगलात कानून भंग करनेका जवाब भारी जुर्मानों और पुलिसके अत्याचारोंसे दिया गया। इन इलाकोंमें कर्नाटक सबसे आगे था। वहाँका जिलेवार विवरण इस प्रकार है—कनारामें लगानबन्दीके लिए ८०० परिवारोंको परेशान किया गया; सिद्धापुर और अंकोलामें १०० स्त्रियों और ७०० पुरुषोंको कैदकी सजाएँ दी गयीं; वहाँ २००० एकड़ जमीन जब्त कर ली गयी, १६६ मकान छीन लिये गये और सम्पत्ति व फसलका १५ लाख रुपयेका नुकसान हुआ; ३३० परिवार पीड़ित हुए। सिद्धपुरमें जब्त सम्पत्ति खरीदनेवालोंके घरोंपर ३७ महिला सत्याग्रहियोंने अनशन किया। मवीनागुण्डीमें एक महिलाने ३१ दिनतक अनशन किया। बहुतसे तालुकोंमें बड़ी संख्यामें ताड़ काट डाले गये।

चित्र पूरा करनेके लिए दूसरे प्रान्तोंके कुछ उदाहरण भी दे दिये जायँ। बंगाल और आन्ध्रमें बहुतसे शान्तिप्रिय नागरिकोंको सिर्फ इसलिए जेलोंमें डाल दिया गया कि उन्होंने सड़कोंसे पुलिस अत्याचारोंके शिकार खूनसे लथपथ सत्याग्रहियोंको उठाया, खानापानी या शरण दी। कोण्टईमें सत्याग्रहियोंके नमक बनानेकी तैयारी दूरसे देखते हुए बहुतसे शान्तिपूर्ण नागरिकोंपर गोली चलायी गयी; छः मर गये और १८ घायल हुए। १९३०-३१ में हुए पुलिस-अत्याचारोंके विवरणोंसे पुस्तकें भर जायँगी। नेताओंके आदेशका पालन करते हुए जनता आम तौरपर शान्त और अहिंसक रही। इसके कुछ अपवाद भी थे और एक जगह स्थिति गम्भीर हो उठी। उन्होंने पुलिसवालोंको गिरफ्तार कर एक स्कूलमें बन्द कर दिया और इमारतमें आग लगा दी, पर कांग्रेसके दो स्वयंसेवकोंने अपना जीवन संकटमें डालकर स्कूलका दरवाजा तोड़कर पुलिसवालोंकी जानकी रक्षा की। मिदनापुरमें एक भीड़ने दो चौकीदारोंको मार डाला।

पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्तमें घटनाओंने दूसरा रूप धारण किया। वहाँके कांग्रेसी नेता खाँ अब्दुल गफ्फार खाँने लाल कुरतीवाले खुदाई खिदमतगारोंका एक संघटन बनाया था। १९३० के शुरूमें इस संघटनमें भरती तेजीसे शुरू हुई। हालाँ कि देशके दूसरे भागोंमें मुसलमान कांग्रेसके आन्दोलनसे अलग रह रहे थे। अब्दुल गफ्फार खाँके प्रभावसे सीमाप्रान्तके मजबूत पठान बड़ी संख्यामें इसमें भरती हुए। गान्धीजीकी पवित्रता, सादगी और संकल्प अब्दुल गफ्फार खाँमें भी था और लोग उन्हें सीमान्त गान्धी कहने लगे थे। वे अहिंसामें विश्वास करते थे और उन्होंने लड़ाकू पठानोंको भी अहिंसक बना लिया था। लेकिन लाल कुरतीवालोंकी वरदी, अनुशासन, फुरती देखकर लोगोंको लगता था कि जरा-सी उत्तेजनामें वे अपनी अहिंसा छोड़ देंगे। उनके त्यागका जनतापर बड़ा प्रभाव पड़ा था और वह उनसे स्नेह करने लगी थी। उनके नेताने उन्हें दो उद्देश्योंके लिए काम करना बताया था—एक मुल्ककी आजादी और दूसरे भूखेको खाना और नंगेको कपड़ा देना।

सविनय अवज्ञा आन्दोलनमें उन्हें इन दो उद्देश्योंके लिए संघर्षमें अपना परिचय देनेका मौका मिला। सीमान्तमें आन्दोलन इस प्रकार शुरू हुआ—२२ अप्रैल १९३० को कांग्रेस महासमितिका एक प्रतिनिधिमण्डल सीमान्त विनियमोंके कार्यान्वित होनेके ढंगका अध्ययन करने अटक पहुँचा; वहाँ उसे रोक लिया गया। खबर पेशावर पहुँची और पठानोंने एक जलूस निकाला व एक सभा इसके रोकके विरोधमें की। अगले दिन सवेरे ही उनके ९ नेता गिरफ्तार कर लिये गये। ९ बजे दो और गिरफ्तार हुए।

लेकिन जिस मोटरमें वे हवालात ले जाये जा रहे थे, वह बिगड़ गयी। इन दोनों नेताओंने आश्वासन दिया कि वे स्वयं थाने पहुँच जायँगे। पर जैसे ही वे थानेके लिये रवाना हुए, रास्तेमें एक बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गयी और उन्हें लेकर थानेकी तरफ चली। थाना बन्द था, पर फौरन दो तीन बख्तरबन्द गाड़ियाँ आयीं और भीड़को चीरने लगीं; "१२-१४ व्यक्ति कुचल गये, जिनमेंसे ६-७ तो वहीं फौरन मर गये, बाकी बुरी तरह घायल हुए।" तभी एक अंग्रेज मोटर साइकिलपर बेतहाशा भागता हुआ आया और बख्तरबन्द गाड़ीसे लड़कर कुचल गया। एक गाड़ीमें भी आग लग गयी। सरकारी बयान था कि इन दोनों घटनाओंके लिए भीड़ जिम्मेदार थी। पर उस वक्त तो सचाई जाननेकी फुरसत नहीं थी, दूसरी दो गाड़ियोंने फौरन भीड़पर गोली चलाना शुरू कर दिया। भीड़ चाहती थी कि मृतक और घायल उसे दे दिये जायँ और फौजी व गाड़ियाँ हट जायँ, तब वह हटे। गोली चलने पर वह तितर बितर हुई पर गोली चलना बन्द होते ही वह फिर इकट्ठी हो गयी। फिर गोली चली और भीड़ फिर हटी, पर फिर इकट्ठी हो गयी। यह तीन घण्टेतक जारी रहा। सरकारी बयानके अनुसार ३० व्यक्ति मरे और ३३ घायल हुए। पर गैर-सरकारी अनुमानके अनुसार हताहतोंकी संख्या पाँच छः सौतक पहुँची थी। इस घटनासे और गम्भीर घटनाओंको प्रेरणा मिली और उसीमें रायल गढ़वाल राइफिल्सकी दो पलटनोंने निहत्थी भीड़पर गोली चलानेसे इन्कार कर दिया। ये दो पलटनें तभी बुलायी गयी थीं जब पुलिस स्थितिपर काबू पानेमें असमर्थ हो चुकी थी। अधिकारियोंने ये लक्षण देखे तो पेशावर-से सभी पुलिस और फौज हटा ली और शहर खाली छोड़ दिया। गान्धीजीको फौजियोंकी हुक्मउदूली पसन्द नहीं आयी और बादमें एक विदेशी पत्रकारसे कहा—"जो सिपाही गोली चलानेसे इनकार करता है, वह कसम तोड़ता है।" २४ अप्रैलसे ४ मईतक पेशावरमें अंग्रेजी हुकूमत नहीं रही। अब्दुल गफ्फार खाँ २३ अप्रैलको ही गिरफ्तार कर लिये गये थे। बन्नू, कोहाट, मरदान व कुछ देहाती इलाकोंमें इसी तरहकी अशान्ति हुई। पेशावरकी घटनाओंके फौरन बाद अशान्तिके लक्षण पूरे सीमाप्रान्तमें हजारासे डेरा इस्माइल खाँतक दृष्टिगोचर होने लगे।

सीमाप्रान्तके कबीले ब्रिटिश सरकारसे ये इलाके छीन लेनेकी सोचने लगे। मईके दूसरे हफ्तेमें चार हजार वजीरियोंने एक ब्रिटिश चौकीपर हमला बोल दिया। जवाबमें अंग्रेजोंने कबीलेवालोंके गाँवोंपर भीषण बमबारी की। ३ जूनको ५००० अफरीदियोंका एक बड़ा लश्कर बाड़ा और बाजार घाटियोंमें उतर आया और गुफाओंमें जमा होने लगा। ४ जूनकी रातको २००० अफरीदियोंने पेशावर जिलेपर हमला बोल दिया। काफी लोग शहरतक जा पहुँचे। जून और जुलाई भर कबीलेवाले पेशावर जिलेके शहर व गाँवोंपर आक्रमण करते रहे। ७ अगस्तकी रातको अफरीदियोंने फिर एक जोरदार हमला किया, पर वह भी असफल रहा। मुल्ला लोग विभिन्न कबीलोंमें घूम-घूमकर विद्रोह करनेके लिए लोगोंको उभारते थे।[1] अंग्रेज विद्रोहको शान्त करनेके लिए हवाई जहाजोंसे बमबारी कर रहे थे। स्थिति इतनी गम्भीर थी कि साधारण प्रशासन कायम करना और चलाना असम्भव हो रहा था। अन्तमें अगस्तमें मार्शल लॉ लागू कर दिया गया जो जनवरीतक लागू रहा। सरकारी रिपोर्टके अनुसार "विशेष ध्यान देनेकी बात यह थी कि आबाद जिलोंमें घूमते हुए इस पूरे जमानेमें कबा-

१. 'इण्डिया इन १९३०–३१' पृष्ठ १७

यलियोंने अपनी परम्पराके विरुद्ध गाँवोंको दो बार छोड़कर कभी नहीं लूटा और अधिकारियोंसे समझौतेकी बात चलाते वक्त अफरीदियोंने गान्धीकी रिहाई और भारतमें जारी विशेष आर्डिनेंस वापस लेनेकी माँगें भी रखी, जिससे साबित होता है कि कांग्रेसी प्रचारक सीमाके उस पार भी सक्रिय थे।

मरदानमें २५ मईको एक भीड़ और पुलिसके बीच गम्भीर संघर्ष हो गया। पुलिसका सहकारी कप्तान मर्फी बुरी तरह मार डाला गया। सीमाप्रान्तके जो चार जिले अशान्त हुए, उनमें बन्नूमें सबसे अधिक जोर रहा। ८ अप्रैलको रामसिंह नामक एक कांग्रेसी कार्यकर्त्ताकी गिरफ्तारीके विरोधमें एक क्रुद्ध भीड़ने शहर कोतवाली घेर ली, बाग उजाड़ दिया और पासमें गोल्फ खेलते हुए अंग्रेजोंपर पत्थर व कीचड़ फेंका।[1] १४ अप्रैलको शहर आनेवाले सभी रास्तोंपर फौज तैनात कर दी गयी ताकि गाँवोंसे लोग प्रदर्शनमें भाग लेने न आ सकें। इसके विरोधमें कांग्रेस कमेटीने आम हड़तालका संघटन किया, यह हड़ताल अनिश्चित कालके लिए थी, पर १९ को खत्म कर दी गयी। पर कबायलियोंके विद्रोहके कारण जुलाईमें फिर शहरके फाटक बन्द हुए और शराब व विदेशी कपड़ोंकी दूकानोंपर धरना देनेवाले ४४० स्वयंसेवक गिरफ्तार किये गये।

अगस्तमें फज्लेकादिर नामक एक मुल्लाने एक सशस्त्र जत्था इकट्ठा कर लिया और ६ वीं रायल बटालियनकी एक टुकड़ीपर हमला कर दिया। टुकड़ीके आठ सिपाही और कप्तान ऐशक्राफ्ट मारे गये। जो संघर्ष हुआ उसमें बादमें मुल्लाके चालीस साथी खेत रहे (जिनमें मुल्ला भी था), तीस घायल हुए और ८० गिरफ्तार हुए।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन देश भरमें सफल रहा। खुद सरकारके अनुसार "कांग्रेसको अपनी काररवाइयोंके लिए जनताका समर्थन जिस सीमातक मिला वह कांग्रेस और सरकार दोनों पक्षोंके योग्य लोगोंके अनुमानोंसे कहीं ज्यादा था। जुलाई शुरू होते-होते ब्रिटिश भारतका कोई प्रान्त आन्दोलनके प्रभावसे अछूता न रहा और आसाम व मध्यप्रान्तको छोड़कर शेष सभी प्रान्तोंकी सरकारोंको उन घटनाओंका सामना करनेमें कभी न कभी बड़ी कठिनाई पड़ी जो इस आन्दोलनके फलस्वरूप घटीं। आन्दोलनके पहले महीनेके बाद नमक कानून भंग करनेके देशके हर बड़े शहरमें हुए दिखावे व किसी हदतक बुद्धिहीन प्रदर्शनोंकी जगह कांग्रेसकी दूसरी काररवाइयोंने ले ली। बम्बईमें, जहाँ यह आन्दोलन सम्भवतः सबसे अधिक सफल हुआ, स्थानीय नेताओंने आस पासके नमक बनानेके तटों पर हमले संघटित करना शुरू कर दिया। पर यह काम मानसून शुरू होने पर खत्म हो गया। तब और प्रान्तोंकी तरह वहाँ भी विदेशी सामानके बहिष्कार और शराब व विदेशी वस्त्रोंकी दूकानोंपर धरना देनेका काम शुरू हुआ और इन दोनों दिशाओंमें विभिन्न प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियोंको काफी सफलता मिली। सरकारी कर्मचारियोंके सामाजिक बहिष्कार और जनताको कर न देनेके लिए उभारनेका काम भी बड़े पैमानेपर हुआ जिससे अधिकारियोंको काफी परेशानीका सामना करना पड़ा। स्कूलों व विश्वविद्यालयोंमें कांग्रेसी काररवाइयोंसे भी कुछ दिक्कत हुई। पुलिस और फौजमें निष्ठाहीनता पैदा करनेके प्रयास भी हुए पर वे लगभग पूर्णतः असफल रहे।"[2]

---

१. वही पुस्तक, पृष्ठ १७

२. 'इण्डिया इन १९३०-३१' पृष्ठ ७२.

"जिस दूसरे सूत्रसे कांग्रेसको अप्रत्याशित सहायता मिली वह स्त्रियाँ थीं। हजारों स्त्रियाँ, जिनमें काफी अच्छे घरोंकी और पढ़ी-लिखी थीं, एकाएक अपने घरोंके एकान्तसे बहुधा परदा-प्रथा तोड़कर, निकल पड़ीं और कांग्रेस-प्रदर्शनों व धरना देनेमें भाग लेने लगीं‥‥—पहले तीन महीने खत्म होते न होते आन्दोलन कई दिशाओंमें आश्चर्यजनक ढंगसे सफल साबित होने लगा और सरकारके सारे साधन व शक्तियाँ आन्दोलन कुचलनेमें लग गयीं।"[१]

मध्यप्रान्तमें, जहाँ आन्दोलन अपने प्रथम चरणमें कुछ ढीला रहा, जुलाई, अगस्त व सितम्बरमें जंगलात कानूनोंके विरुद्ध बड़े और सार्वजनिक प्रदर्शन होते रहे; आदिवासी भी सरकारके खिलाफ उठ खड़े हुए। २४ अगस्तको गोंड जातिकी एक भीड़ने पुलिसकी एक टुकड़ीपर बेतूलमें हमला कर दिया। गोंड बड़े पैमानेपर जंगलात कानून भंग कर रहे थे। कांग्रेस आन्दोलनके दूसरे चरणके अस्थायी लक्षणोंमें विधानमण्डलोंके चुनावोंका बहिष्कार, लन्दनमें होनेवाले गोलमेज सम्मेलनके विरुद्ध १२ नवम्बरके प्रदर्शन और पुलिस व जनताके बीच कुछ मुठभेड़ें भी थीं। इनमें सबसे अधिक स्मरणीय कुछ स्थानोंपर समानान्तर शासनतन्त्र स्थापित करने—स्वराज्य अदालतें बनानेके प्रयास थे। ब्रिटिश सामानका बहिष्कार कारगर ढंगसे चल रहा था। नवम्बरमें आन्दोलन कुछ शिथिल हुआ था, पर दिसम्बरमें उसमें फिर तेजी आ गयी। कई जगह उपद्रव भी हुए। धरनेने जोर पकड़ा और सार्वजनिक सभाओंकी संख्या बढ़ चली। २६ कांग्रेस कमेटियाँ जिनमें कांग्रेस कार्य-समिति व अन्य कांग्रेस कमेटियाँ थीं, उनसे सम्बद्ध आन्दोलन परिषदें व अन्य संघटन और पंजाब व संयुक्तप्रान्तकी नौजवान भारत सभाएँ—ये सब गैरकानूनी करार दे दी गयीं।

जुलाईमें जब कांग्रेसी आन्दोलन और सरकारी दमन दोनों अपनी चरम सीमापर थे; दो नरमदलीय नेताओं—सर तेजबहादुर सप्रू व एम. आर. जयकरने वाइसरायको एक पत्र लिखा और "सामान्य परिस्थिति पैदा करनेके लिए‥‥‥आन्दोलनके कुछ नेताओंसे बातकर स्थिति सुधारनेका प्रयास" करनेके लिए अपनी सेवाएँ प्रस्तुत कीं। वाइसरायने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और ये दोनों नेता २३ जुलाईको यरवदा जेलमें गान्धीजीसे और २७ जुलाईको नैनी जेलमें मोतीलाल नेहरू व जवाहरलाल नेहरूसे मिले। नेहरू पिता-पुत्र व गान्धीजीके बीच सन्धि प्रस्तावके सम्बन्धमें पत्रव्यवहार सफल होते न देख सरकारने इनको भी यरवदा जेल भेज दिया। वहाँ श्रीमती सरोजिनी नायडू, वल्लभ भाई पटेल, जयरामदास दौलतराम, डाक्टर सैयद महमूद, गान्धीजी व नेहरू आदि १५ नेताओंमें विचार-विमर्श हुआ। इन लोगोंके संयुक्त हस्ताक्षरोंसे एक पत्र सप्रू व जयकरको लिखा गया, हालाँ कि यह पत्र था वाइसरायके लिए। पत्रमें समझौतेके प्रस्तावोंका वर्णन था। उसमें लिखा था—"कोई समझौता तबतक सन्तोषजनक नहीं हो सकता जबतक (१) भारतका स्वेच्छासे ब्रिटिश साम्राज्यसे पृथक होनेका अधिकार स्वीकार नहीं कर लिया जाता, (२) भारतमें पूर्णरूपेण उत्तरदायी राष्ट्रीय सरकार नहीं बनती जिसके अधिकारक्षेत्रमें रक्षा व आर्थिक नियन्त्रण हो और वाइसरायको गान्धीजी द्वारा भेजा गया ११ सूत्री कार्यक्रम पूरा नहीं होता (३) भारतको यह अधिकार नहीं मिलता कि जिन ब्रिटिश दावोंको वह राष्ट्रहितमें न समझे उन्हें किसी

१. वही पुस्तक, पृष्ठ ७३.

निष्पक्ष ट्रिब्यूनलके सामने पेश कर सके।" इन नेताओंने ये शर्तें वाइसराय द्वारा मंजूर होने पर आन्दोलन वापस लेनेका आश्वासन दिया पर नमक बनाने व शराब और विदेशी वस्त्रोंकी दूकानोंपर धरना जारी रखनेका इरादा जाहिर किया। पत्रमें लिखा था कि नमक बनता रहेगा पर नमक गोदामोंपर धावे न होंगे। सप्रू व जयकर यह पत्र लेकर वाइसरायके पास गये। वाइसरायने २८ अगस्तको इन लोगोंको जवाब दिया कि इस पत्रमें लिखी शर्तोंके आधारपर समझौतेकी बात करना असम्भव है।

वाइसरायने मईमें घोषणा की थी कि अक्तूबरके अन्तमें लन्दनमें गोलमेज सम्मेलन होगा। देशमें भावना व्याप्त थी कि कांग्रेसके प्रतिनिधियोंके बिना गोलमेज सम्मेलन असम्भव है। केन्द्रीय विधायिका कौंसिलके जुलाई अधिवेशनमें वक्ताओंके बहुमतने अनुरोध किया कि "देशको शान्त करने व सान्त्वना देनेके लिए" और गोलमेज सम्मेलनको आरम्भ करनेके लिए आवश्यक शान्तिपूर्ण वातावरण पैदा करनेके लिए सरकारको गान्धीजी व दूसरे कांग्रेसजनोंको मुक्त कर देना चाहिये। सप्रू-जयकर प्रयास असफल होनेके बाद कांग्रेसका गोलमेज सम्मेलनके प्रति दृष्टिकोण स्पष्ट था। अक्तूबरमें सम्मेलनके प्रतिनिधियोंके विरुद्ध प्रदर्शन संघटित किये गये। राष्ट्रीय समाचारपत्रोंसे कहा गया कि वे सम्मेलनकी खबरें न छापें। कुछ दिनों तक अखबारोंने यह बात मानी भी पर १२ नवम्बरसे सम्मेलनकी काररवाई शुरू होने पर उसकी खबरें महत्त्वपूर्ण होनेके कारण बहुत प्रमुख स्थान पाने लगीं। सम्मेलनमें ८६ प्रतिनिधि थे --५७ ब्रिटिश भारतके, १६ देशी रियासतोंके और इंगलैण्डके विभिन्न राजनीतिक दलोंके। सम्मेलनने विभिन्न विषयोंपर विचार करनेके लिए उपसमितियाँ बना दीं। रक्षा, मतदान, सीमा, अल्प-संख्यक, बर्मा, सरकारी नौकरियाँ, प्रान्तीय अधिकारक्षेत्र, संघीय, ढाँचा आदि विषयोंपर बनी समितियोंकी रिपोर्टोंपर १९ जनवरी सन् १९३१ से सम्मेलनने फिर विचार शुरू किया।

२१ जनवरीको कांग्रेस कार्यसमितिकी बैठकमें एक प्रस्तावमें कहा गया कि सम्मेलनकी काररवाईको कांग्रेस कोई मान्यता नहीं देती; सम्मेलनमें भारतके प्रतिनिधित्वके लिए सरकारने अपने ही समर्थक नियुक्त कर दिये हैं।

सम्मेलनके खुले अधिवेशनमें ब्रिटिश प्रधान मन्त्रीने घोषणा की कि "ब्रिटिश सरकार चाहती है कि भारतमें शासन चलानेका उत्तरदायित्व केन्द्रीय व प्रान्तीय विधानमण्डलोंको ऐसे प्रतिबन्धोंके साथ दिया जाय जिससे संक्रमणकालमें कुछ विशिष्ट दायित्व निभ सकें, विशेष परिस्थितियोंपर काबू पानेकी व्यवस्था हो और अल्पसंख्यकोंकी राजनीतिक स्वतन्त्रता और उनके अधिकारोंकी रक्षाका विधान हो सके।"

सम्मेलन बादमें होनेके लिए स्थगित हो गया। २१ जनवरीको राजेन्द्रप्रसादकी अध्यक्षतामें काफी नये सदस्योंसे बनी कांग्रेस कार्यसमितिकी बैठक नयी परिस्थितिपर विचार करनेके लिए बैठी और एक प्रस्ताव द्वारा घोषणा की गयी कि "उस तथाकथित सम्मेलनकी काररवाईको मान्यता देनेके लिए कांग्रेस बिलकुल तैयार नहीं है, जिसमें ब्रिटिश पार्लमेण्टके कुछ सदस्य हों, देशी महराजे हों और सरकार-समर्थकोंमेंसे नियुक्त—भारतीय जनता द्वारा निर्वाचित नहीं—कुछ भारतीय हों।"

लेकिन स्वतन्त्रता दिवससे एक दिन पहले २५ जनवरीको वाइसरायने सरकारके इस निर्णयकी घोषणा की कि गान्धीजी और कांग्रेस कार्यसमितिके सभी सदस्य और वे लोग

जो १ जनवरी १९३० के बाद कार्यसमितिके सदस्योंकी हैसियतसे कार्य करते रहे हों, बिना शर्त रिहा कर दिये जायँ तथा कांग्रेस कार्यसमितिको वैधानिकता दे दी जाय। वाइसरायने कहा कि ब्रिटिश प्रधान मन्त्री द्वारा १९ जनवरीको की गयी घोषणापर विचार करनेका अवसर देनेके लिए यह किया जा रहा है।

२६ जनवरीको आधी रातके पहले कार्यसमितिके २६ स्थायी और अस्थायी सदस्य रिहा कर दिये गये। मोतीलाल नेहरू बीमारीके कारण पहले ही छोड़ दिये गये थे; उनकी यह बीमारी घातक सिद्ध हुई। जेलसे छूटते ही गान्धीजीने संवाददाताओंसे कहा कि मैं खुले दिमागसे मसलेपर गौर करने आया हूँ, "धरना देनेका अधिकार छोड़ा नहीं जा सकता और न करोड़ों, भुखमरीके शिकार लोगोंका नमक बनानेका अधिकार ही छोड़ा जा सकता है।" कांग्रेस कार्यसमितिकी बैठक ३१ जनवरी व १ फरवरीको हुई और आन्दोलन बदस्तूर जारी रखनेका निश्चय किया गया। लेकिन चुपचाप आदेश जारी कर दिये गये कि आन्दोलन तो जारी रहे पर कोई नयी तहरीक शुरू न की जाय।

१४ फरवरीको गान्धीजीने वाइसरायसे मिलनेकी इच्छा प्रकट की और १७ फरवरीसे उन दोनोंके बीच लम्बी समझौता-वार्ता चली। कांग्रेस कार्यसमितिने गान्धीजीको समझौतेके पूरे अधिकार दे रखे थे। बीच बीचके थोड़े अवकाशको छोड़कर, १५ दिनतक गान्धीजी और वाइसराय व कुछ उच्च अफसरोंके बीच बातचीत चली और फलस्वरूप २१ सूत्री समझौता—जिसे आमतौरपर 'गान्धी इरविन पैक्ट' कहा जाता है, हो गया। ५ मार्चको इसपर दस्तखत हुए। समझौतेकी मुख्य बातें संक्षेपमें इस प्रकार हैं—(१) आन्दोलन वापस ले लिया जायगा; (२) भारतमें वैधानिक सरकार बनानेकी गोलमेज-सम्मेलन-योजनापर आगे और विचार होगा, (३) गोलमेज सम्मेलनमें कांग्रेसके प्रतिनिधि भाग लेंगे। (४) समझौता आन्दोलनसे प्रत्यक्ष रूपसे सम्बन्धित काररवाइयोंपर लागू होगा; (५) कानून भंग करनेकी हर काररवाई बन्द होगी; (६) ब्रिटिश सामानके बहिष्कारको राजनीतिक हथियारके रूपमें प्रयोग नहीं किया जायगा; (७) नशों और विदेशी वस्तुओंपर धरना जारी रह सकेगा पर उसमें दबाव डालनेकी बात न हो; (८) पुलिसके रवैयेकी खुली जाँच न होगी क्योंकि इनसे अनिवार्य रूपसे पारस्परिक दोषारोपण होगा; (९, १० व ११) आन्दोलनके सिलसिलेमें बने आर्डिनेंस, आदेश आदि वापस लिये जायँगे; (१२) जो मुकदमे चल रहे हैं, वे वापस लिये जायँगे; (१३) आन्दोलनसे सम्बन्धित कैदी छोड़े जायँगे; (१४) जो जमानतें और जुर्माने अभी वसूल नहीं हुए हैं उन्हें वसूल नहीं किया जायगा; (१५) अतिरिक्त पुलिस वापस ली जायगी, (१६) जो जब्त की हुई चल सम्पत्ति अबतक सरकारके कब्जेमें है, वह वापस की जायगी; (१७) अचल सम्पत्ति (अगर सरकारने बेच नहीं दी है तो) वापस की जायगी; (१८) जहाँ यह साबित हो जायगा कि वसूली न्यायपूर्ण नहीं हुई है, वहाँ सरकार क्षतिपूर्ति करेगी; (१९) जिन सरकारी नौकरोंने आन्दोलनके समय नौकरीसे इस्तीफे दे दिये थे, उन्हें नौकरीमें वापस लेनेमें सरकार उदारनीति बरतेगी; (२०) नमक बनानेके सम्बन्धमें सरकार "कुछ गरीब वर्गोंको सुविधा देनेके लिए" 'कुछ जगहोंपर प्रचलित प्रथाकी तरह ऐसी प्रशासकीय व्यवस्था कर देगी कि जहाँ नमक बनानेके केन्द्र हैं वहाँके आस-पासके गाँवोंवाले वहाँसे अपने प्रयोगके लिए नमक ले सकें, बेचने, व्यापार करने या उन क्षेत्रोंके

बाहर भेजनेके लिए नहीं; (२१) कांग्रेसके यह समझौता लागू न करने पर सरकार शान्ति व व्यवस्थाके लिए आवश्यक कारवाई कर सकेगी।

कांग्रेसकी सभी समितियों, उप-समितियोंको हिदायत दे दी गयी कि वे इस समझौतेकी शर्तोंका पालन करें।

१९३० में कांग्रेसका कोई वार्षिक अधिवेशन नहीं हुआ, एक तो इसलिए कि कांग्रेस स्वयं 'वनवास' में थी और दूसरे इसलिए कि लाहौर अधिवेशनमें तय हो गया था कि भविष्यमें अधिवेशन मार्च या अप्रैलमें हुआ करेंगे। १९३१ के मार्चके अन्तमें कांग्रेसका अधिवेशन वल्लभभाई पटेलकी अध्यक्षतामें करांचीमें हुआ। अपने भाषणमें पटेलने कहा— लाहौरके पूर्ण स्वतन्त्रताके प्रस्तावसे वापस लौटना या विमुख होना नहीं है। यह स्वतन्त्रता ब्रिटेन या किसी अन्य देशसे सम्बन्ध न रखनेका अशिष्ट इरादा नहीं है। इसलिए इस स्वतन्त्रतासे यह सम्भावना अलग नहीं है कि पारस्परिक हित देखकर बराबरीके दर्जेपर, किसी एक पक्षकी इच्छापर टूट सकनेवाली साझेदारी हो सके।"

कांग्रेसने तय किया कि अगर सरकार गोलमेज सम्मेलनमें भाग लेनेके लिए कांग्रेसको आमन्त्रित करे तो गान्धीजी उसका प्रतिनिधित्व करें और दूसरे प्रतिनिधियोंको कांग्रेस कार्यसमिति छाँटे। एक प्रस्ताव द्वारा विदेशी वस्त्रोंके बहिष्कार और शान्तिपूर्ण धरनेको और उग्र बनानेका निश्चय हुआ। दूसरे प्रस्तावमें बर्मी जनताका भारतसे अलग होनेका अधिकार स्वीकार किया गया। एक अन्य प्रस्ताव द्वारा भारतके भावी विधानमें शामिल करनेके लिए मौलिक अधिकारों व कर्त्तव्योंकी सूची बनायी गयी।

आन्दोलन खत्म होने पर कांग्रेसका कार्य गान्धी इरविन पैक्टकी शर्तोंतक सीमित रह गया। धरना और ज्यादा व्यापक बनाया गया। वाइसरायका समझौता जिलोंके छोटे वाइसरायोंके लिए आश्चर्यजनक था; कांग्रेसके जुलूसों और धरना देनेवालोंपर लाठी-गोली वर्षा करनेके आदी पुलिसवाले और मजिस्ट्रेट समझौतेके अनुसार धरना होते देखना कैसे बरदाश्त करते ? उनके लिए तो गान्धी टोपी अब भी चुनौती थी, धरना उनको अब भी अखरता था। समझौतेपर सबसे पहले इन्हींने चोट की। पूर्व गोदावरी जिलेमें पुलिसने एक छोटे जुलूसपर गोली चलाकर चार व्यक्तियोंको मार डाला और कईको घायल कर दिया। जुलूस शान्तिपूर्ण था; उसके संयोजकोंका एक मात्र अपराध यही था कि उन्होंने एक मोटरपर गांधी जीकी तस्वीर लगा रखी थी और पुलिसके कहनेपर उसे हटाया नहीं था।

बहुत-से प्रान्तोंमें जिला अधिकारी अपने हाकिमोंके इशारेपर नाचते और समझौतेको तो ठुकराते ही, कांग्रेसजनोंसे पहलेसे बदतर व्यवहार करनेमें भी न चूकते। यह कहा जा सकता है कि समझौता लागू करनेके सम्बन्धमें उन्हें विस्तृत आदेश न मिले होंगे। संयुक्त प्रान्तमें सैकड़ों व्यक्ति गिरफतार किये गये और उनपर मुकदमे चलाये गये। कुछ जगहोंपर लोगोंसे गान्धी टोपी उतारनेको कहा गया। जो सरकारी नौकर आन्दोलनमें नौकरी छोड़ चुके थे समझौतेकी शर्तके अनुसार नौकरी वापस पानेके लिए अर्जियाँ और अपीलें भेजने पर उनकी कोई सुनवाई न होती। इसी तरह पूर्वस्थिति लानेकी दूसरी शर्तें भी नहीं मानी जा रही थीं। हाकिमों और अफसरोंके व्यवहारसे लगता था मानो कोई समझौता हुआ ही न हो और आन्दोलन बदस्तूर जारी हो। पुलिसवाले अब भी सभाएँ भंग करते, कांग्रेस कार्यकर्ताओंके घरोंपर छापा मारते, स्त्रियोंके साथ दुर्व्यवहार

करते और राष्ट्रीय झण्डे जला डालते। बारदोलीमें लगानबन्दीकी घोषणा हुई थी; २२ लाखकी मालगुजारीमें २१ लाख जमा हो चुकी थी; लेकिन अधिकारी फिर भी, जैसा कि गान्धीजीने वाइसरायको लिखा "दमन, जुर्माने, लोगोंके घर घेरकर पुलिस शक्तिका परिचय" देते थे। सरकारने समझौतेके अनोखे अर्थ लगाकर अधिकारियोंके व्यवहारका समर्थन किया। इसपर गान्धीजीने सुझाव दिया कि एक स्थायी समझौता बोर्ड बना दिया जाय जो समझौतेकी व्याख्या सम्बन्धी विवाद तय किया करे। सरकारने समझौता भंग करनेके कुछ आरोप कांग्रेसपर भी लगाये थे; इसलिए गान्धीजीका सुझाव समस्याका एक हल था। लेकिन यह सुझाव माना नहीं गया। तब गान्धीजीने भारत सरकारके गृह-सचिवसे अनुरोध किया कि वह प्रान्तीय सरकारोंको सरकार और कांग्रेसका एक-एक प्रतिनिधि लेकर जाँच बोर्ड बनानेका आदेश दे दें, जो मामलोंकी सरसरी जाँच कर फैसला दे दिया करे। यह अनुरोध भी अस्वीकृत हो गया।

इससे, गान्धीजी अपनी प्रस्तावित लन्दन-यात्रापर फिरसे विचार करनेको वाध्य हुए। उन्होंने वाइसरायको तार दिया कि 'संयुक्तप्रान्त, सीमाप्रान्त व दूसरे सूबोंमें जारी दमनसे लगता है कि गोलमेज सम्मेलनके विचारविमर्शमें भाग लेनेके लिए मुझे जाना नहीं चाहिये। गान्धीजीके निमन्त्रण अस्वीकार करनेका एक और भी कारण था। गान्धी-इरविन समझौता वार्ताके समय इरविनने वादा किया था कि सम्मेलनमें शरीक होनेवाले कांग्रेसके प्रतिनिधिमण्डलमें गान्धीजीके अलावा मदनमोहन मालवीय, डाक्टर अन्सारी और सरोजिनी नायडू रहेंगी। पर नये वाइसराय विलिंगडनने डाक्टर अन्सारीका नाम काटकर यह दिखलानेकी कोशिश की कि कांग्रेस सिर्फ हिन्दुओंकी संस्था है। लेकिन गान्धीजीने इस बातपर जोर दिया कि कांग्रेस गैरसम्प्रदायवादी संस्था है और वह मुसलमानोंका भी प्रतिनिधित्व करती है। इसके अलावा अन्सारी नेशनलिस्ट (राष्ट्रीय) मुसलमान पार्टीके भी प्रवक्ता थे। वाइसराय नहीं माने। बात-चीत कुछ समयतक रुकी रही। लेकिन पत्र-व्यवहार चलता रहा और फलस्वरूप दोनोंकी शिमलामें भेंट हुई। २७ अगस्त १९३१ को एक और छोटा-सा समझौता हुआ जिसके फलस्वरूप गान्धीजी लन्दन चल पड़े। इस शिमला-समझौतेमें और बातोंके अलावा यह भी कहा गया था कि "५ मार्च १९३१ का समझौता लागू रहेगा, भारत व प्रान्तीय सरकारें समझौतेकी शर्तें उन मामलोंमें (यदि ऐसे मामले हुए) भी लागू करेंगी जहाँ उनका न लागू होना साबित हो गया है और इस सम्बन्धमें की गयी शिकायतोंकी ध्यानपूर्वक जाँच करेंगी। कांग्रेस भी समझौतेकी शर्तें मानेगी।" सरकारने बारदोली तालुकेके दमनकी जाँचका आश्वासन दिया। लेकिन सरकार कांग्रेसके प्रतिनिधिमण्डलमें डाक्टर अन्सारीके शामिल करनेके लिए राजी नहीं हुई। गान्धीजी अगस्तके अन्तमें लन्दनके लिए रवाना हो गये।

अध्याय २२

लगानबन्दी आन्दोलन

१९३१ की विश्वव्यापी मन्दीके कारण भारतमें भी वस्तुओंकी कीमतें काफी गिर गयीं; यहाँतक कि कभी कभी किसान अपनी समस्त फसल बेचकर भी लगान चुकानेमें असमर्थ होते। परन्तु सरकारको फिर भी जमीन्दारोंके हितोंका ध्यान अधिक था। अपने सरकारी अफसरोंकी उस चेतावनीके बावजूद जो वे प्रायः दिया करते थे कि इस नीतिका परिणाम लाखों किसानोंकी कष्ट-वृद्धि और बरबादी होगा, सरकार जमीन्दारोंके हितोंकी रक्षामें ही तत्पर रहती थी। जमीन्दार किसानोंपर मनमाने अत्याचार करते और अपनी इच्छानुसार उन्हें बेदखल कर देते थे। १९३० के आन्दोलनके पश्चात् जमीन्दारोंकी हिम्मत बढ़ गयी और वे और भी नृशंस होकर अत्याचार करने लगे। बेदखलियोंकी संख्या बहुत बढ़ गयी और काश्तकार विनाशकी अन्तिम सीमातक पहुँच गये। वे जमीन्दार और सरकार रूपी चक्कीके दो पाटोंके बीच पिस रहे थे। हारकर उन्होंने कांग्रेससे प्रार्थना की। यह स्पष्ट था कि सरकारको किसानोंकी उचित सहायता करनी चाहिये थी। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटीने गोविन्दवल्लभ पंतको इस कार्यके लिए नियुक्त किया कि वे प्रान्तके किसानोंकी आर्थिक दुर्दशासे सरकारको परिचित करायें। नेहरू एवं गोविन्दवल्लभ पन्तने युक्तप्रान्तके चीफ सेक्रेटरी व अन्य अफसरोंसे कई बार भेंट की, पर व्यर्थ हुआ। जब गान्धीजी वाइसरायसे शिमलेमें अगस्तमें मिले तो उन्होंने वाइसरायसे स्पष्ट कह दिया कि यदि सरकार संयुक्त प्रान्तके किसानोंकी उचित सहायता नहीं करती, तो कांग्रेस किसानोंकी अपनी रक्षाके लिए आन्दोलन या सत्याग्रहकी सलाह देनेको बाध्य होगी।

संयुक्त-प्रान्तमें लगान-बन्दी आन्दोलनके लिए परिस्थिति परिपक्व हो रही थी। सरकारने लगानमें कुछ छूट देनेकी घोषणा जरूर की—परन्तु यह छूट आवश्यकताको देखते हुए इतनी कम थी कि इससे संकट घटनेमें कोई सहायता नहीं मिली। इसी समय मानों इस संकटको और भी बढ़ानेके लिए ही एक और आज्ञा जारी की गयी जिसके अनुसार अगर महीने भरके भीतर सब लगान जमा न किया गया तो लगानकी छूट सम्बन्धी रियायत वापस ले ली जायगी। इस आदेशके अनुसार अगर ज्यादा लगानके खिलाफ कोई प्रार्थना करनी होती तो वह भी पूरा लगान जमा करनेके बाद ही की जा सकती थी।

प्रान्तीय कांग्रेस द्वारा सरकारको किसानोंकी सहायता करने तथा इस संकटको टालनेके प्रश्नपर सहमत करानेके लिए फिर वार्ताएँ आरम्भ की गयीं परन्तु सरकारकी तरफसे कोई उत्साह नहीं दिखलाया गया, इसलिए इलाहाबादकी जिला कांग्रेस कमेटीने कांग्रेस-कार्यसमितिसे सत्याग्रह आरम्भ करनेकी अनुमति देनेके लिए कहा और कार्यसमितिने अपनी अक्तूबरकी दिल्लीवाली बैठकमें अध्यक्षको लगानबन्दी सत्याग्रहके आरम्भके लिए आज्ञा देने न देनेके समस्त अधिकार दे दिये। समझौतेकी कोशिश और इन्तजारमें कुछ वक्त गुजरा। फिर कांग्रेसके अध्यक्षने संयुक्त प्रान्तीय कांग्रेसको लगानबन्दी

आन्दोलन चलानेकी अनुमति दे दी। दिसम्बरमें कांग्रेसने किसानोंको लगान और कर देना अस्थायी रूपसे, समझौता वार्ता पूर्ण होनेतक रोक देनेकी सलाह दी। वार्ताके दौरानमें ही कांग्रेसको यह सलाह इसलिए देनी पड़ी कि सरकारी कर्मचारी जबरदस्ती और बेदर्दीसे लगान वसूल कर रहे थे। कांग्रेसने सरकारसे भी कहा कि अगर सरकार लगान वसूली स्थगित कर देनेका वादा करे तो लगानबन्दी आन्दोलन वापस कर लिया जायगा। पर सरकार राजी नहीं हुई और कई जिलोंमें लगानबन्दी आन्दोलन आरम्भ हो गया। सरकारने स्थितिपर काबू पानेके लिए संकटकालीन आर्डिनेंस लागू कर दिया। २६ दिसम्बरको जवाहरलाल नेहरु, प्रान्तीय कांग्रेसके अध्यक्ष तसद्दुक अहमद खाँ शेरवानी, पुरुषोत्तमदास टण्डन गिरफ्तार कर लिये गये। जमीन्दारोंने इस लगानबन्दीको अपने वर्ग-स्वार्थपर कुठाराघात माना जिसे दूर करनेके लिए कांग्रेस कार्यसमितिने दिसम्बरकी बैठकमें इसपर प्रस्ताव पास किया। प्रस्तावमें कहा गया था कि "कांग्रेसको किसीके भी ऐसे न्याययुक्त अधिकारोंका अपहरण नहीं करना है जिनसे देश-हितमें बाधा न पड़े। कांग्रेस कार्य-समिति देशके समस्त धनी एवं जमीन्दार वर्गोंसे कांग्रेसके स्वतन्त्रता-संग्राममें सहायता करने की अपील करती है।"

सीमाप्रान्तमें लाल कुरतीवाले खुदाई खिदमतगारोंकी बढ़ती हुई संख्यासे सरकार घबरा रही थी। मार्च १९३१ में जेलसे छूटनेके बाद खान अब्दुल गफ्फार खाँने अपना राजनीतिक कार्यक्रम उसी जोश और सरगर्मीसे शुरू कर दिया था जैसा कि आन्दोलन चलते समय था। अपने भाषणोंमें वे कहते कि दिल्ली ऐक्ट तो विरामसन्धिकी तरह है, इसका यह मतलब नहीं है कि आजादीकी लड़ाई खत्म हो गयी। कानून न तोड़े जायँ पर देश अपनी शक्ति बढ़ाये। "उन्होंने यह बात देहातोंके अपने दौरेमें हर भाषणमें कही और लाल कुरती स्वयंसेवक सेनामें भरतीकी उनकी अपीलका उत्साहवर्धक स्वागत हुआ।" जिन गाँवोंमें जाते सड़कोंके दोनों ओर लाल कुरतीवाले स्वयंसेवक कतारें बाँधे खड़े होते, ढोल बजते और दो जगह तो बन्दूकोंकी बाढ़से सलामी भी दी गयी। अगस्तमें लाल कुरती संघटन जाब्तेसे कांग्रेसमें शामिल हो गया। संयुक्तप्रान्तकी तरह सीमाप्रान्तमें भी भीषण कृषि-संकट चल रहा था और उन्हीं कारणोंसे किसान मालगुजारी अदा करनेमें असमर्थ थे। खान अब्दुल गफ्फार खाँ किसानोंसे कहते कि मालगुजारीका यह बोझ असह्य है; किसानोंको उतनी रकम अदा कर देनी चाहिये जितनी उनके बूतेमें हैं। इस सुझावमें किसानोंको आशा-की चिनगारी दिखाई दी। और उन्होंने या तो बिसात भर मालगुजारी चुका दी या जहाँ न हो सकी वहाँ बिलकुल ही न दी। पेशावर जिलेके एक इलाकेमें मालगुजारी बिलकुल ही वसूल न हुई। जूनके शुरूमें सरकारने मालगुजारीमें थोड़ी-सी छूटकी घोषणा की, पर यह रियायत जरूरतसे बहुत कम थी। खान अब्दुल गफ्फार खाँने माँग की कि तीन चौथाई लगान माफ कर दिया जाय और एक चौथाई फसलकी उपजकी शक्लमें ले लिया जाय। धरनेपर और अधिक जोर दिया गया। अकेले पेशावरके शहरमें लाल कुरतीवाले ९०० स्वयंसेवक थे। स्वयंसेवक पाली बाँधकर धरना देते और दूसरी पालीवाले पहली पालीको छुट्टी दिलाने ५०-५० के जत्थोंमें मार्च करते हुए आते।

इन कार्योंमें गैरकानूनी कुछ भी नहीं था, पर सरकार परेशान थी; उसे डर था कि कहीं १९३० की तरह लड़ाकू कबीली जातियाँ फिर न सक्रिय हो जायँ। सरकारने सार्व-

जनिक सभाओंपर रोक लगाना और निहत्थी भीड़ों और जलूसोंपर लाठी-गोली चलाकर तितर-बितर करना शुरू किया। बहुतसे लोग मारे गये। लोगोंको पकड़कर बिना मुकदमा चलाये जेलमें ठूँस देनेके लिए एक आर्डिनेंस जारी हुआ। २० दिसम्बरको सीमाप्रान्तीय कांग्रेस कमेटीने तय किया कि अखिल भारतीय कांग्रेससे गान्धी-इरविन पैक्ट खत्म करनेको कहा जाय और खान अब्दुल गफ्फार खाँको आन्दोलन चलानेकी अनुमति प्राप्त करनेके लिए बम्बई भेजा जाय। कमेटीने यह भी निश्चय किया कि नये साल पहली जनवरीको एक सार्वजनिक सभा की जाय, जिसमें कांग्रेसका झण्डा फहराया जाय। "लालकुरती दलकी शक्ति व तैयारीका शानदार प्रदर्शन इस सभामें करनेका प्रबन्ध जल्दी-जल्दी किया जाने लगा।" सरकार संदेहमें थी। २४ दिसम्बरको कुछ आर्डिनेंस जारी हुए। उसी रात खान अब्दुल गफ्फार खाँ, उनके भाई डाक्टर खान साहब और खुदाई खिदमतगारोंके दूसरे नेता पकड़ लिये गये। छः सशस्त्र फौजी दस्तोंने पेशावर शहरका प्रबन्ध ले लिया। २६ दिसम्बरको कोहाटमें बड़ी-बड़ी भीड़ें इकट्ठी हो छावनीकी ओर चल पड़ीं। पुलिसने उन्हें गोलियोंसे तितर-बितर किया। बहुतसे लोग मारे गये, सरकारी अनुमानके अनुसार १४ मरे व ३० घायल हुए।

बंगालमें, शायद आतंकवादी आन्दोलनसे क्रुद्ध होकर (आतंकवादी आन्दोलनका वर्णन अन्य एक अध्यायमें किया गया है) कुछ गैरसरकारी अंग्रेजों और हुल्लड़बाजोंकी एक भीड़ने एक रात एक छापेखानेमें घुसकर मशीनें तोड़ डालीं और मैनेजर व दूसरे कर्मचारियोंको मारा पीटा। दिल्ली व शिमला समझौतोंके आलोचक उनकी खिल्ली उड़ाते हुए कहते कि जब जेलोंमें इतने राजनीतिक बन्दी पड़े सड़ रहे हों और जेल अधिकारियोंके अत्याचार सह रहे हों, ये समझौते मजाक ही हैं। अगर बन्दी जेलमें बेहतर व्यवहारके लिए कहते तो लाठियोंसे चुप कर दिया जाता। हिजली नजरबन्दी कैम्पमें बन्दियोंपर गोली चलायी गयी जिससे दो मरे और २० घायल हुए।

देशकी हालत यह थी जब २८ दिसम्बर १९३१ को गान्धीजी लन्दनसे वापस लौटकर बम्बई पहुँचे। कांग्रेस कार्यकारिणीके सदस्य गान्धीजीका स्वागत करनेके लिए बम्बई आये थे। २९ दिसम्बरसे तीन-चार दिनतक कार्यसमितिकी बैठक चली। जो प्रस्ताव स्वीकार हुए उनमें एक यह भी था कि पिछले कुछ महीनोंकी घटनाओंने "यदि सरकारने अपना रवैया बिलकुल ही न बदल दिया तो उसने कांग्रेसका सहयोग असम्भव बना दिया है"। मामूली कानूनोंकी जगह आर्डिनेन्स जारी करनेकी स्थिति कैसे उत्पन्न हुई, इसकी खुली जाँच करनेकी माँग की गयी। कार्य-समितिने फैसला किया कि अगर सरकारसे सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला तो सविनय अवज्ञा आन्दोलन फिर शुरू कर दिया जायगा। सत्याग्रहमें लगान व दूसरे करोंकी अदायगी रोकने, विदेशी वस्त्रों व कम्पनियोंका बहिष्कार, शराबकी दूकानोंपर धरना, गैरकानूनी तौरपर नमक बनाना व इकट्ठा करना, आर्डिनेंसके अन्तर्गत जारी आदेशोंका उल्लंघन और ऐसे कानून भंग करना जो नैतिकतासे सम्बन्धित न हों और जनताके लिए अनिष्टकारी हों, आदि बातें शामिल की जानेवाली थीं।

कार्यसमितिकी बैठक चार दिन चली। इसी बीच गान्धीजी सरकारसे शान्तिपूर्ण समझौतेकी कोशिशमें वाइसरायसे तार द्वारा लिखापढ़ी कर रहे थे। २९ दिसम्बरके अपने पहले तारमें गान्धीजीने पूछा कि क्या संयुक्तप्रान्त, सीमाप्रान्त व बंगालमें जारी आर्डिनेंस इस

बातका इंगित है कि सरकार व कांग्रेसके बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध खत्म हो गये। गान्धीजीने पूछा था कि "क्या आप अब भी मुझसे अपेक्षा करते हैं कि मैं आपसे मिलूँ और कांग्रेसको क्या सलाह दूँ, इस सम्बन्धमें आपसे पथ-निर्देशन लूँ ?" वाइसरायके प्राइवेट सेक्रेटरीने जवाब दिया—"सहयोग पारस्परिक होता है और संयुक्त व सीमा प्रान्तोंमें कांग्रेसी कारखाइयाँ उस मैत्रीपूर्ण सहयोगका परिचायक नहीं मानी जा सकतीं जो सरकार माँगती है। प्राइवेट सेक्रेटरीने लिखा कि वाइसराय आपसे (गांधीजीसे) मिलनेके लिए तैयार हैं पर शर्त यह है कि राजनीतिक परिस्थितिपर काबू पानेके लिए सरकारने जो काररवाई की है उसपर बातचीत न की जाय। चूँकि सिर्फ काररवाईपर बात करनेके लिए गान्धीजी वाइसरायसे मिलना चाहते थे और चूँकि समझौतेकी बातचीतके लिए सरकारने इस प्रकार दरवाजा बन्द कर दिया था, कांग्रेस कार्यसमितिने आन्दोलन सम्बन्धी उपर्युक्त प्रस्ताव पास कर दिया। लेकिन गांधीजी अब भी सम्मानपूर्ण समझौतेकी आशामें थे और उन्होंने वाइसरायसे फिर पत्र-व्यवहार शुरू किया। वाइसरायके प्राइवेट सेक्रेटरीने फिर सूखा जवाब दिया— "वाइसराय और उनकी सरकार विश्वास नहीं कर पाती कि आप या कांग्रेस कार्यसमिति यह सोच सकती है कि सविनय अवज्ञा आन्दोलनकी धमकीके समय वाइसराय, किसी सुविधाकी आशामें आपसे मिल सकते हैं।" गान्धीजीने ३ जनवरीके अपने अन्तिम तारमें धमकीका अस्तित्व अस्वीकार किया। लेकिन आन्दोलन फिरसे जारी करना अब अवश्यम्भावी था, इसलिए उस तारमें उन्होंने यह जोड़ दिया कि "मैं सरकारको आश्वासन देना चाहता हूँ कि कांग्रेस अपनी ओरसे पूर्णरूपेण शान्तिमय व अहिंसक आन्दोलन चलाने और उसमें कटुता न आने देनेका प्रयत्न करेगी।"

परन्तु लार्ड विलिंगडनकी सरकारने इस आन्दोलनको चलनेके पहले ही समाप्त कर देनेकी पूरी तैयारी कर ली थी और अगले दिन ४ जनवरीको ही गान्धीजी व पटेल (जो कांग्रेसके अध्यक्ष थे) गुजरातके उन क्षेत्रोंके दौरेके पहले ही पकड़ लिये गये जिन्होंने १९३०-३१ के संघर्षोंका सबसे अधिक भार उठाया। उसी दिन चार नये आर्डिनेंस (काले कानून) जारी कर दिये गये। वे थे—

(१) संकटकालीन-अधिकार आर्डिनेन्स,

(२) गैरकानूनी-कार्योंको भड़कानेके विरुद्ध-आर्डिनेंस,

(३) गैरकानूनी-या संघटन विरोधी-आर्डिनेंस,

(४) दबाव और बहिष्कार विरोधी आर्डिनेन्स। सरकारके हाथमें इन आर्डिनेंसोंसे इतनी अधिक शक्ति आ गयी कि प्रायः सभी साधारण कानून उनके सामने फीके पड़ गये और अधिकारियोंका हर काम इनकी रक्षाके अन्तर्गत आ गया। २६ मार्चको ब्रिटिश पार्लमेण्टमें भाषण करते हुए भारत सचिव ने कहा कि मैं स्वीकार करता हूँ कि ये आर्डिनेंस कठोर एवं व्यापक थे परन्तु उस समयकी स्थिति देखते हुए उन्हें इस विस्तृत रूपमें बनाना आवश्यक था। क्योंकि पूरी जानकारीके आधारपर सरकारको मालूम था कि उसका अस्तित्व ही खतरेमें था और भारतको अराजकतासे बचानेके लिए उन कानूनोंका बनना बहुत आवश्यक था।

महात्मा गान्धीकी गिरफ्तारीके पश्चात् तमाम शहरोंमें कांग्रेसी नेताओंकी गिरफ्तारी की गयी। कांग्रेस एवं कांग्रेससे सम्बन्धित सब संस्थाएँ गैरकानूनी घोषित कर दी गयीं। कांग्रेसके

कार्यालयों व आश्रमोंपर सरकारी कब्जा कर लिया गया। छापेखानों द्वारा कांग्रेसी-साहित्य प्रकाशित किये जानेपर रोक लगा दी गयी। डाक तथा तारकी सुविधाएँ भी कांग्रेसके लिए रोक दी गयीं—यहाँतक कि १९३२ के कांग्रेसके अधिवेशनके अध्यक्ष मदनमोहन मालवीयका एक तार इंगलैण्ड भेजनेसे रोक दिया गया। इन राज-कानूनोंके कारण कानून भंग करनेकी एक नयी प्रथा शुरू हो गयी। कांग्रेसके कार्यालय गुप्त रूपसे छिपकर कार्य करने लगे। कांग्रेसने संवाद, पत्र तथा डाक भेजनेका अपना संघटन कर लिया। कभी-कभी स्वयंसेवक पहचान लिये जाते और डाक पकड़ ली जाती। कांग्रेसके समाचार एवं आदेश गुप्त रूपसे छापे तथा बाँटे जाते थे।

लेकिन विलिंगडनके सर्वग्रासी आर्डिनेन्सोंमें भी कांग्रेसजनको मारने-पीटने और शारीरिक यातनाएँ देनेकी व्यवस्था न थी; और चूँकि भारतीय पुलिस अपने पंजेमें आये लोगोंको मारे-पीटे बिना रह ही नहीं सकती थी, १९३०-३१ की तरह इस बार भी पुलिसने बड़े पैमानेपर गैर-कानूनी ढंगसे मारपीट की। कांग्रेसके दफ्तरोंमें जो मिलते उनपर जबरदस्त मार पड़ती अगर वे यह न बताते थे या बतानेमें असमर्थ होते थे—स्वयंसेवक व दान-दाताओंकी सूचियाँ, रसीद बहियाँ व दूसरे कागजात कहाँ हैं। पुलिसके यातनाएँ देनेके ढंगका एक उदाहरण यह है कि कि हाईकोर्टके एक वकीलने अपना नाम व पता बतानेसे इनकार कर दिया तो उनके सिरके बाल ही एक-एक करके नोच डाले गये।

१९३२ के सत्याग्रहने विभिन्न प्रान्तोंमें विभिन्न रूप लिये। बंगाल व संयुक्तप्रान्तमें लगानबन्दी जारी रही, विहारमें चौकीदारी टैक्सबन्दी हुई। मद्रास, बिहार, मध्यप्रान्त, कर्नाटक व संयुक्त प्रान्तके कुछ स्थानोंमें जंगलात कानून तोड़े गये, बहुतसे अन्य स्थानोंमें गैर-कानूनी ढंगपर नमक बनाया व बेचा गया। शराब व विदेशी वस्त्रोंकी दूकानोंपर धरना हर प्रान्तमें व्यापक रूपसे दिया जाता रहा। "शान्तिपूर्ण बहिष्कार ही कांग्रेसकी सबसे सफल काररवाई थी। विदेशी सामानका बहिष्कार बहुत सफल रहा, पर, संस्थाओंका बहिष्कार उतना कामयाब नहीं हुआ।" आन्दोलनका दूसरा प्रमुख अंग विभिन्न 'दिवस' मनाना था। इनमें स्वतन्त्रता, गान्धी, मोतीलाल, सीमान्त, शहीद, झण्डा दिवस आदि प्रमुख थे।

यद्यपि १९३२ का आन्दोलन पिछले आन्दोलनकी छाया मात्र था, सरकारी रवैयेमें कोई अन्तर नहीं था। कांग्रेस जुलूस या किसीकी गिरफ्तारीकी सहानुभूतिमें इकट्ठी भीड़ लाठीचार्ज या गोली चलाकर तितर-बितर कर दी जाती थी। बहुत बड़ी संख्यामें लोग घायल हुए व मारे गये। आन्दोलनके पहले तीन महीनोंमें ४०००० व्यक्ति गिरफ्तार हुए। अप्रैलके बाद हर महीने गिरफ्तारियोंकी संख्या कम होने लगी। लगान वसूल करनेके लिए फिर गैर-कानूनी ढंग इस्तेमाल किये जाने लगे, और एक व्यक्तिसे बकाया वसूल करनेके लिए पूरे संयुक्त परिवारोंकी सम्पत्ति कौड़ियोंके मोल नीलाम कर दी जाती। जेवर, जानवर, बरतन-भाँड़े, खड़ी फसल सब करीब-करीब मुफ्तमें ही निकल जाते, अगर बच जाते तो पुलिस उन्हें तोड़फोड़ डालती और बरबाद कर देती। कहीं-कहीं सामूहिक जुर्माने होते और पुलिस उसे अपने अनोखे ढंगसे वसूल करती। कांग्रेसके कुछ दफ्तर और आश्रम पुलिसने अपने कब्जेमें लेकर ध्वस्त कर डाले, या उनमें आग लगा दी। अखबारोंकी भी वही हालत हुई जो १९३०-३१ में हुई थी।

११ मार्च १९३२ को भारत सचिव सर सैमुअल होरको लिखे गये अपने पत्रमें गांधी-

जीने पुलिसके अत्याचारोंका वर्णन करते हुए लिखा—"मुझे लगता है कि दमन अपनी कानूनी सीमाओंको पार कर रहा है। देशमें सरकारी आतङ्कवादका जोर है। अंग्रेज व भारतीय दोनों अफसर पशु बन रहे हैं। ऊँचे और नीचे दोनों तरहके भारतीय अफसर सरकार द्वारा जनताके प्रति निष्ठाहीनता और अपने ही खून मांसके बने लोगोंके साथ अमानवीय कृत्योंके श्लाघनीय माने जानेके कारण अनैतिकताकी ओर झुक रहे हैं। वे जबरदस्ती चुप किये जा रहे हैं। भाषणकी स्वतन्त्रता खत्म हो रही है। शान्ति व व्यवस्थाके नामपर गुण्डागर्दीका बोलबाला हो रहा है। जनताकी सेवाके लिए जो महिलाएँ आगे आ रही हैं उनके अपमानित होने और आबरू छिननेका डर है।" भारत सचिवने बात टालकर शिकायत खारिज कर दी। उन्होंने लिखा—"भारत सरकार व प्रान्तीय सरकारें अपने व्यापक अधिकारोंका दुरुपयोग नहीं कर रहीं और किसी तरहकी ज्यादती या प्रतिशोधात्मक कारवाई रोकनेका हर सम्भव प्रयत्न कर रही हैं।

२४ अप्रैलको कांग्रेसका ४६ वाँ अधिवेशन दिल्लीमें होनेको था। यह पुलिस और कांग्रेस कार्यकर्त्ताओंके बीच चतुरताकी लड़ाई साबित हुआ। पुलिसने अधिवेशन न होने देनेकी सब तैयारी कर ली थी। स्वागत समिति गैरकानूनी करार दे दी गयी थी और उसके दिल्लीवासी सदस्य पकड़ लिये गये थे। दिल्लीके लिए रवाना होनेवाले सैकड़ों प्रतिनिधि अपने स्टेशनोंपर ही पकड़ लिये गये थे। कार्यवाहक अध्यक्षा श्रीमती सरोजिनी नायडू बम्बईमें ही पकड़ ली गयी थीं। होटलों व धर्मशालाओंको हुक्म जारी हो गये थे कि वे प्रतिनिधियोंको हरगिज न ठहरावें। अधिवेशनसे एक हफ्ते पहलेसे दिल्ली घेरेकी-सी स्थितिमें थी और जिसपर भी कांग्रेस प्रतिनिधि होनेका शक होता था वह पकड़ लिया जाता था। श्रीमती सरोजिनी नायडूके बाद मदनमोहन मालवीय अध्यक्ष होनेको थे, पर वे दिल्लीमें उतरते ही पकड़ लिये गये। श्रीमती नायडूने ४० सदस्योंकी विषय समितिकी घोषणा की थी; उनमेंसे आधेसे ज्यादा पकड़ लिये गये। फिर भी, इस सबके बावजूद विषय समितिके शेष सदस्योंकी बैठक २३ अप्रैलको दिल्लीमें हुई और लाहौर अधिवेशनके पाँच प्रस्तावोंके अलावा बम्बईमें हुई कार्यसमितिकी बैठकमें स्वीकृत आन्दोलन सम्बन्धी प्रस्ताव पास हुए।

"२४ अप्रैलको चाँदनी चौकके एक छोरसे दूसरेतक घुड़सवार व सशस्त्र पुलिस गश्त करने लगी। शहरके हर हिस्सेमें भी पुलिस तैनात थी। जहाँ भी सभाएँ हो सकती थीं, वे सब जगहें पुलिसके कड़े पहरेमें थीं। सवेरे ठीक ९ बजे, देशके विभिन्न भागोंसे एकत्र सैकड़ों प्रतिनिधि चाँदनी चौकके घण्टाघरके नीचे खुले मैदानमें एकत्र हो गये। अधिवेशन लगभग १० मिनटतक चला जिसमें स्वागताध्यक्षका भाषण, कांग्रेसकी वार्षिक रिपोर्ट, कांग्रेसके प्रस्ताव आदि प्रतिनिधियोंको बाँटे गये और विषय समिति द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव सर्वसम्मतिसे पास हुए। लेकिन शीघ्र ही पुलिस आ गयी और उसने लगभग ३०० प्रतिनिधियोंके आस-पास घेरा डालकर उन्हें गिरफ्तार कर लिया। पुलिस ऐसी घबरा गयी थी कि उसने गिरफ्तारीके पहले सभाको गैरकानूनी भी घोषित नहीं किया।

"इसके बाद छोटे छोटे जुलूस चाँदनी चौक आने और गिरफ्तार होने लगे। प्रतिनिधि आधे-आधे दर्जनके गुटोंमें आते और पकड़ लिये जाते। कुछ समय बाद पुलिसकी समझमें आया कि इस तरह तो गिरफ्तारियोंका ताँता ही लगा रहेगा। तीसरे पहर गिरफ्तार

होनेके लिए घण्टाघर आये लोगोंको लाठी-चार्ज द्वारा तितर-बितर करना शुरू हो गया।"[1]

दिल्ली कांग्रेसके अनुसार दिल्लीमें ६५०, मुरादाबादमें १६० और शेष भारतमें ५०० व्यक्ति गिरफ्तार हुए। नेताओंकी गिरफ्तारीके विरोधमें बहुतसे शहरोंमें हड़तालें हुईं।

सितम्बर १९३२ में गान्धीजीने यरवदा जेलमें आमरण अनशन करनेकी घोषणा की। इस उपवाससे सम्बद्ध घटनाएँ इस प्रकार थीं—पहले गोलमेज सम्मेलनमें दो प्रतिनिधियों—अछूत नेता डाक्टर भीमराव अम्बेडकर व रावबहादुर आर. श्रीनिवासनने प्रस्ताव रखा था कि दलित वर्गोंको अधिकार हो कि वे दस वर्षतक पृथक् निर्वाचन और वयस्क मताधिकारके आधारपर स्वयं अपने प्रतिनिधि चुनकर विधान मण्डलोंमें भेजें। दस वर्षके बाद विधान मंडलोंमें स्थान नियत कर दिये जायँ और उन स्थानोंके लिए संयुक्त निर्वाचन हो। दूसरे गोलमेज सम्मेलनमें भी यह प्रस्ताव जोरदार शब्दोंमें दोहराया गया और अछूतोंके अधिकारका रूप देकर उसे खूब बढ़ाया-चढ़ाया गया। गान्धीजीने इसका विरोध करते हुए कहा कि दूसरे अल्पसंख्यकोंके दावे तो मेरी समझमें आते हैं, पर अछूतों का दावा तो बड़ा निर्मम है। इसका अर्थ तो यह है कि छूत-अछूतकी यह भयानक खाई हमेशा बनी रहेगी। हम नहीं चाहते कि हमारे समाजमें या मर्दुमशुमारीमें 'अछूत' कोई अलग वर्ग बनकर रहे। सिख हमेशा सिख रह सकते हैं, मुसलमान हमेशा मुसलमान रह सकते हैं, अंग्रेज भी रह सकते हैं पर क्या अछूत हमेशा अछूत रह सकते हैं? अस्पृश्यता जिन्दा रहनेसे तो मैं हिन्दुत्वका मरना ही ज्यादा पसन्द करूँगा।" गान्धीजीने चेतावनी दी—"इसलिए, मैं अपना पूरा बल देकर कहना चाहता हूँ कि चाहे मैं अकेला ही इसका विरोध करनेके लिए रह जाऊँ, मैं अपनी जान देकर भी इसका विरोध करूँगा।" और उन्होंने विरोध किया।

गोलमेज सम्मेलनने सरकारी नौकरियों और विधान मण्डलोंमें प्रतिनिधित्वका प्रश्न सम्मेलनमें आये विभिन्न वर्गोंके कथित प्रतिनिधियोंपर छोड़ दिया था। प्रतिनिधि समझौतेके लिए बार-बार एकत्र होते और बार-बार असफल होते। अन्तमें उन्होंने अपनी हार स्वीकार कर ली और ब्रिटिश सरकारने घोषणा की कि वह स्वयं फैसला कर देगी। गान्धीजीने इस असफलतापर बोलते हुए सम्मेलनमें ही कहा था—"भारतीय प्रतिनिधिमण्डलके संघटनमें ही असफलताके कारण निहित हैं। लगभग हम सभी प्रतिनिधि बिना निर्वाचित हुए सरकार द्वारा नामजद होकर यहाँ आ गये हैं। जिस वर्ग या दलके प्रतिनिधि बनकर हम यहाँ बैठे हैं, उन्होंने हमें चुना नहीं है। समझौतेके लिए जिन लोगोंका यहाँ होना आवश्यक था, वे यहाँ दिखाई नहीं देते।"

ब्रिटिश सरकारने जो प्रतिनिधित्व सम्बन्धी साम्प्रदायिक निर्णय दिया उसमें दलित वर्गोंको प्रान्तीय विधान सभाओंमें ७१ विशेष स्थान दिये गये; इन स्थानोंकी पूर्ति "विशेष निर्वाचन क्षेत्रोंमें केवल दलित वर्गीय मतदाताओंके वोटोंसे चुने गये" लोगोंसे होनेको थी। लेकिन चूँकि ये स्थान दलितोंकी जनसंख्याके अनुपातमें कम थे, उन्हें आम निर्वाचन क्षेत्रोंमें भी अपने उम्मीदवारोंको खड़ा करने और वोट देनेका अधिकार था। 'निर्णय' में घोषणा की गयी थी कि स्थान सुरक्षित रखनेकी व्यवस्था २० वर्षके लिये है, पर उसके पहले भी वह पारस्परिक समझौतेसे खत्म की जा सकती है। यह व्यवस्था हिन्दू समाजमें फूट डालकर

---

१. इण्डियन नेशनल कांग्रेस (आफिशियल एकाउण्ट) पृष्ठ १४५-४६

भारतीय राजनीतिमें सिख, मुसलमान, ईसाई आदि वर्गोंकी तरह एक और दल खड़ा करनेके लिए की गयी थी। १८ अगस्तको गान्धीजीने यरवदा जेलसे एक पत्र ब्रिटिश प्रधान मन्त्रीको लिखकर कहा कि मैं जान देकर भी इस निर्णयका विरोध करूँगा। मेरे लिए जो एकमात्र रास्ता है वह यह कि मैं हर प्रकार खाना छोड़नेका व्रत लूँ और नमक सोडेके साथ या उसके बिना सिर्फ पानी लूँ। यह उपवास तभी खत्म होगा जब ब्रिटिश सरकार स्वेच्छासे या जनमतके दबावमें अपना निर्णय बदले और दलित वर्गके लिए पृथक निर्वाचनकी अपनी योजना वापस ले, दलित वर्गका प्रतिनिधित्व आम संयुक्त निर्वाचनसे हो, चाहे मतदान अधिकार कितना ही व्यापक क्यों न करना पड़े।" गान्धीजीने लिखा था कि उपवास २० सितम्बरसे शुरू होगा। ब्रिटिश प्रधान मन्त्रीने अपने ८ सितम्बरके पत्रमें निर्णय बदलनेसे इन-कार किया और निर्णयके जिस अंशपर गान्धीजीको आपत्ति थी उसके समर्थनमें लिखा—"दलित वर्गके संघटनोंकी अनेक अपीलों और आप द्वारा बहुधा स्वीकृत उन सामाजिक अयोग्यताओंको देखते हुए जिनसे दलित वर्गोंका उत्पीड़न होता है, हमने दलित वर्गोंके जो अधिकार समझे, विधान मण्डलोंमें दलित वर्गोंको काफी प्रतिनिधित्व देकर उनकी रक्षा करना अपना कर्त्तव्य माना।"

नियत दिन २० सितम्बरको गान्धीजीने एक वक्तव्य देकर अपना उपवास शुरू किया। दलित भाइयोंको सामाजिक अयोग्यताओंमें रखनेके लिए हिन्दू समाजकी आलोचना करते हुए गान्धीजीने वक्तव्यमें कहा—"यदि सार्वजनीन सामूहिक हिन्दू भावना अस्पृश्यताका मूलो-च्छेदन करनेको तैयार नहीं है तो उसे बिना किसी झिझकके मेरी कुर्बानी दे देनी चाहिये।" २१ सितम्बरसे ही तमाम भारतका ध्यान दलित वर्गोंकी समस्या और उसके हलपर केन्द्रित हो गया। विभिन्न नेता इकट्ठे होकर उस मसलेका हल ढूँढ़ने लगे जिसपर गान्धीजीने अपनी जानकी बाजी लगा दी थी। अंतमें पूनामें दलित वर्गों और शेष हिन्दू समाजके जाने-माने नेताओंकी एक बैठकमें सर्वमान्य समझौता हो गया। इस समझौते, पूना पैक्टके अनुसार दलित वर्गोंके लिए ७१ नहीं १४८ स्थान सुरक्षित हुए। वे स्थान संयुक्त मतदानसे भरे जाने-वाले थे पर शर्त यह थी कि चुनावके पहले उस विशिष्ट निर्वाचन क्षेत्रके दलित वर्गीय मतदाता स्वयं प्रारम्भिक चुनाव द्वारा चार उम्मीदवारोंको चुन लें जो आम चुनावमें खड़े हों। इन प्रारम्भिक चुनावोंको १० वर्ष या पारस्परिक समझौते द्वारा उससे पहले ही खत्म हो जाना था। यद्यपि दलित वर्गोंकी आबादी अधिक थी किन्तु उन्हें आम स्थानोंके लिए भी खड़े हो सकनेकी छूट होनेके कारण आबादीके अनुपातमें स्थान सुरक्षित रखनेपर जोर नहीं दिया गया। पूना पैक्ट गांधीजीके पास यरवदा जेल भेजा गया और उनकी स्वीकृति पर सर्वसम्मत समझौतेकी तरह उसे ब्रिटिश सरकारके पास भेजा गया। २६ सितम्बरको ब्रिटिश सरकारने साम्प्रदायिक निर्णयको पूना पैक्टके आधारपर संशोधित करनेकी अपनी रजामन्दीकी घोषणा की और शामको ५। बजे गांधीजीने उपवास तोड़ दिया।

लेकिन सवर्ण हिन्दुओंके अछूतोंके प्रति व्यवहारमें पैक्टसे कोई अन्तर नहीं आया। यहाँ वहाँ कुछ मन्दिरोंमें उनके प्रवेशसे रोक हट गयी थी पर शताब्दियोंकी आदत एक दिनमें तो छूट नहीं सकती थी; अछूत सामाजिक बहिष्कारके शिकार बने रहे। स्वयं दलित-वर्गीय होनेके नाते डाक्टर अम्बेडकरको इसका बड़ा दुख था और उन्होंने गोलमेज-सम्मेलन-में कहा था कि जो लोग अस्पृश्यताके आधारपर आचरण करते हैं उन्हें कड़ी कैदकी सजा

मिलनी चाहिये। गान्धीजीके रचनात्मक कार्यक्रममें अस्पृश्यता निवारणका प्रमुख स्थान था और वह अनवरत रूपसे उसके लिए सचेष्ट रहते थे। इसका प्रभाव विशेष नहीं हुआ और सुधार लगभग सुधारकोंतक ही सीमित रहा। पूना पैक्टमें प्रमुख भाग लेनेवाले मदनमोहन मालवीयने स्वयं अक्तूबरमें एक वक्तव्यमें कहा कि "मन्दिर और कुँओं आदिका उपयोग दलितोंके लिए खोल देना ठीक है पर पूना-पैक्टका यह अर्थ नहीं कि खान-पान और रोटी-बेटीका सम्बन्ध अछूतोंसे किया ही जाय।"

अक्तूबरके अन्तमें ही कुछ लोगोंने अपनेको कट्टर हिन्दुओंका प्रतिनिधि बताते हुए वाइसरायको एक स्मृतिपत्र दिया और उसमें कहा कि अछूतोंके मन्दिर-प्रवेशके प्रस्तावसे हमारी रक्षा की जाय और हिन्दुओंके धार्मिक रीति-रिवाजोंमें बाहरी हस्तक्षेप न किया जाय। गान्धीजीको अपना अस्पृश्यता-निवारण आन्दोलन जेलसे चलानेकी अनुमति मिल गयी थी। हिन्दू सुधारक समझते थे कि सदियों पुरानी कुप्रथाएँ कानूनसे ही खत्म हो सकती हैं और इसके लिए दो बिल मद्रास विधायिका कौंसिल और विधान-सभामें लाये भी गये। बिलोंमें व्यवस्था थी कि अस्पृश्यतापर आधारित किसी भी प्रथाको अदालतोंमें कोई मान्यता नहीं मिलेगी। सवर्ण हिन्दुओंके कई संघटनोंने इन बिलोंका घोर विरोध किया और सम्भवतः इसीलिए बिलोंपर विचार बार-बार स्थगित होता रहा। डाक्टर अम्बेडकरने घोषणा की कि मन्दिर-प्रवेश खोखली चीज है और दलित वर्ग उसके लिए अपने साधन नष्ट नहीं करेंगे; वे तो सवर्ण हिन्दुओंके गर्वोन्मत्त व्यवहारके कारण अबतक वर्जित मन्दिरोंमें जानेकी जगह अपनी आर्थिक और सामाजिक स्थिति सुधारनेमें अधिक दिलचस्पी रखते हैं।

१९३३ में सत्याग्रहमें थकानके चिन्ह प्रकट होने लगे थे, यद्यपि संयुक्तप्रान्त, बंगाल, बम्बई, मद्रास, बिहार व उड़ीसामें एक छोटे पैमानेपर वह अब भी जारी था। २६ जनवरी-को स्वतन्त्रता-दिवस समारोहमें ज्यादा दिलचस्पी दिखायी गयी। लगानबन्दीका प्रचार व धरना संयुक्तप्रान्तमें जारी था, बम्बई, अहमदाबाद, बिहार व उड़ीसामें बहिष्कार, धरना व प्रचारकार्य चल रहा था।

कांग्रेसका ४० वाँ वार्षिक अधिवेशन कलकत्तेमें पहली अप्रैलको होना तय हुआ। कांग्रेस स्वयं गैरकानूनी संस्था करार नहीं दी गयी थी और बंगाल विधान सभामें जब गृह-मन्त्रीसे पूछा गया कि अधिवेशन करना गैरकानूनी होगा, उन्होंने बात टालते हुए उत्तर दिया था—यह अपनी अपनी रायका सवाल है। लेकिन अधिवेशन रोकनेकी तैयारी सरकार-कर चुकी थी। इस तैयारीके फलस्वरूप स्वागत समिति गैरकानूनी करार दे दी गयी और उसके अध्यक्ष व सेक्रेटरी पकड़ लिये गये। पुलिसको अधिकार दे दिया गया कि जिसपर भी कांग्रेससे सम्बन्धित होनेका शक हो उसे गिरफ्तार कर लिया जाय। इलाहाबाद क्षेत्रके रेलवे सुपरिटेण्डेण्टको आदेश दे दिया गया था और वह सभी स्टेशन मास्टरोंतक पहुँचा दिया गया था कि जो लोग कांग्रेसके प्रतिनिधि मालूम पड़ें उन्हें कलकत्तेके टिकट न दिये जायँ। कलकत्तेकी जनताको सावधान कर दिया गया था कि वह कांग्रेसमें आये प्रतिनिधियोंको न ठहराये और स्वागत समितिके दफ्तरके लिये मकान न दे। इलाहाबादके जिला मजिस्ट्रेटने कलकत्ता अधिवेशनके लिये नियुक्त अध्यक्ष मदनमोहन मालवीयको सूचना दी थी कि वे अधिवेशनमें भाग नहीं लेने पायेंगे। कलकत्तेके लगभग ५०० प्रमुख कांग्रेस कार्यकर्ता पकड़ लिये गये। बाहरसे आनेवाले कांग्रेस नेता पकड़े जाने लगे। जिला मजिस्ट्रेटकी आज्ञा भंग

कर कलकत्तेके लिये जाते हुए मदनमोहन मालवीय और मोतीलाल नेहरूकी पत्नी श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू आसनसोलमें पकड़े गये। कलकत्तेके सभी ५९ पार्कोंपर पुलिसका पहरा बैठा दिया गया। अधिवेशनके लिए देशके विभिन्न भागोंसे चले ढाई हजार प्रतिनिधियोंमेंसे एक हजार पकड़ लिये गये। तब भी लगभग १५०० प्रतिनिधि कलकत्ते पहुँच गये और प्रतिबन्ध होनेके बावजूद लोगोंने उन्हें ठहराया। इन प्रतिनिधियोंमें ८३ मुसलमान, ११७ महिलाएँ, २३ सिख, ७ पारसी व २ ईसाई थे। संयुक्त प्रान्तसे सबसे अधिक ६७३ प्रतिनिधि गये थे।

कलकत्तेमें अजब दृश्य था। दो दिनतक प्रतिनिधियोंको पुलिस जहाँ पाती उन्हें मारती-पीटती और दूसरी तरहकी यातनाएँ देती। बादमें मदनमोहन मालवीयने पुलिस अत्याचारोंके सम्बन्धमें जो वक्तव्य दिया उससे स्थितिका कुछ पता लगता है। उन्होंने लिखा था—"३० मार्चको संयुक्त प्रान्तके ८९ प्रतिनिधियोंको छापा मारकर गिरफ्तार किया गया और लालबाजार थानेमें अंग्रेज व एंग्लो इण्डियन सार्जेण्टोंने उनपर हमला कर दिया। यह हमला बिना किसी उत्तेजनाके, पूर्वनिश्चित और पाशविक था। प्रतिनिधियोंको डण्डों और घूँसोंसे मारा गया। कुछ सार्जेण्ट डण्डे मार रहे थे, बाकी अपने घूँसे इस्तेमाल कर रहे थे। मार पेट, सीने, चेहरे व सिरपर पड़ी। बहुतसे प्रतिनिधियोंके सिर व चेहरे जख्मी हो गये। जो प्रतिनिधि मारके कारण एक ओर गिर पड़ते,उन्हें फौरन दूसरी ओर मार पड़ने लगती। पेटकी चोट रोकनेके लिए कोई प्रतिनिधि अपने हाथ वहाँ ले जाता तो उसके मुँहपर मार पड़ने लगती। कोई अपना सिर झुका लेता तो उसकी ठुड्डी पर घूँसा पड़ता। जो मारके कारण गिर पड़ते उन्हें बूटोंकी ठोकरें लगतीं। इटावेसे आये एक प्रतिनिधिने अपने हाथोंसे सिर बचानेकी कोशिश की तो कई सार्जेण्ट उसपर टूट पड़े और उसका सिर दीवारसे लड़ा दिया और उसका गला पकड़कर दीवारसे उसे सटाये रहे। उसका सिर जख्मी हो गया और बहुत खून बहा। हमला खत्म होनेके बहुत देर बादतक बहुतसे प्रतिनिधि बेहोश या अर्द्ध-मूर्छित पड़े रहे। एक दर्जनसे अधिक प्रतिनिधियोंके सिर, मुँह, आँख या दाँतसे खून बह रहा था। सार्जेण्ट जंगलियोंकी तरह मार रहे थे और साथ ही गन्दी गालियाँ देते जा रहे थे। हर प्रतिनिधिको सार्जेण्टोंकी दोहरी कतारके बीचसे निकलना पड़ा और कोई भी उनके हमलेसे नहीं बचा। कुछ प्रतिनिधि तो जन्म भरके लिए लँगड़े लूले हो गये।"

कलकत्तेके दो अन्य थानोंमें भी प्रतिनिधियोंके साथ ऐसा ही व्यवहार हुआ।

लेकिन, तब भी, पुलिसकी खीझ और परेशानीके बीच, कलकत्तेके सबसे घने बसे इलाकोंमेंसे एक, एस्प्लेनेडमें ठीक वक्तपर, शामके तीन बजेसे, श्रीमती नेलीसेन गुप्तकी अध्यक्षतामें कांग्रेसका अधिवेशन हुआ। ढाई सौ प्रतिनिधि वहाँ मौजूद थे। श्रीमती सेनगुप्तके भाषणके बाद जल्दी-जल्दी सात प्रस्ताव पास किये गये। इसके बाद मालवीयजीके शब्दोंमें "पुलिसने अन्ततः लाठीचार्ज किया, वहाँ इकट्ठी अपार भीड़को तितर-बितर किया और प्रतिनिधियोंको गिरफ्तार कर लिया। प्रतिनिधियोंने हमलेको शान्तिसे सहन किया। एकके बाद एक प्रतिनिधि प्रस्ताव पेश करनेके लिए खड़ा होता और सार्जेण्ट भरपूर ताकतसे उस-पर लाठीसे हमला करते। आराके एक वकील पुलिसकी मारके बावजूद प्रस्ताव पढ़ते रहे, उनका चश्मा टूट गया और एक आँखमें बुरी तरह चोट आयी। लाठीचार्जके साथ ठोकरें भी मारी जा रही थीं। जो अब भी जिन्दा हैं, उनके घावोंके निशान अब भी मौजूद हैं,

और तब भी भारत-सचिवने ब्रिटिश पार्लमेण्टमें कहा कि मालवीयके वक्तव्यमें लगाये गये आरोप 'द्वेषपूर्ण' हैं।"

३० अप्रैलको जेलसे एक वक्तव्य जारी कर गान्धीजीने ८ मईसे २१ दिनके अपने 'अविखण्डनीय और बिना शर्त' उपवासकी घोषणा की। यह उपवास हरिजनोंके मामलेमें अधिक सतर्क और सजग रहनेके उद्देश्यसे अपनी व साथियोंकी आत्मिक शुद्धिके लिए किया गया था। उपवास दोपहरको शुरू हुआ और वे शामको ही मुक्त कर दिये गये। भारत सरकारने उन्हें "उपवासके उद्देश्यके लिहाजसे और उसमें परिलक्षित मानसिक दृष्टिकोण"के कारण छोड़ा था।

मुक्त होते ही गान्धीजीने एक वक्तव्यमें कहा कि मैं इस छुटकारेसे खुश कैसे हो सकता हूँ। "मैं इस मुक्तिका लाभ उठाकर आन्दोलन चलाने या उसके लिए सलाह देनेका काम कैसे कर सकता हूँ?" उन्होंने छः सप्ताहके लिए आन्दोलन स्थगित कर दिया। उन्होंने सरकारसे अपील की कि "यदि वह देशमें सच्ची शान्ति चाहती है तो आन्दोलन,स्थगित होने-का फायदा उठाकर सभी सत्याग्रहियोंको बिना शर्त रिहा कर दे।" लेकिन "जबतक सरदार वल्लभ भाई, खानसाहब अब्दुलगफ्फार खाँ, पण्डित जवाहरलाल नेहरू व दूसरे लोग जिन्दा दफन हैं" उन्होंने आन्दोलन वापस लेनेसे इनकार कर दिया। इसकी सरकारी प्रतिक्रिया दूसरे ही दिन प्रकट हो गयी। एक सरकारी विज्ञप्तिमें कहा गया कि सरकार कांग्रेससे समझौते-की बात चलानेको तैयार नहीं है, क्योंकि राजनीतिक कैदियोंकी रिहाईके लिए आन्दोलन स्थगित करना भर काफी नहीं है।

१२ जुलाईको कांग्रेसजन गैररस्मी तौरपर पूनामें मिले और उन्होंने राजनीतिक परिस्थितिपर विचार किया। उन्होंने सरकारसे समझौतेकी बातचीत चलानेके लिए गान्धी-जीको सब अधिकार दे दिये। गान्धीजीने तार देकर वाइसरायसे भेंटके लिए समय माँगा। कई तार आये-गये। अन्तमें वाइसरायके प्राइवेट सेक्रेटरीने गान्धीजीका अनुरोध ठुकराते हुए लिखा—सरकारका एक ऐसी संस्थाके प्रतिनिधिसे बातचीत करनेका सवाल ही नहीं उठता जिसने सविनय अवज्ञा आन्दोलन वापस नहीं लिया है।

वाइसरायके उत्तरसे राजनीतिक नक्शा बदल गया और कांग्रेसके कार्यवाहक अध्यक्ष माधव श्रीहरि अणेसे सलाह कर गान्धीजीने एक दूसरे रूपमें आन्दोलन चलानेका निश्चय किया। अणेने निम्नलिखित कार्यक्रमकी घोषणा की—लगानबन्दी, करबन्दी व दूसरे सार्वजनिक आज्ञा भंग कार्यक्रम समाप्त किये जायँ; कांग्रेसजन अपने व्यक्तिगत दायित्व-पर निजीरूपसे सत्याग्रह करें; गुप्त तरीके बन्द हों; कांग्रेस महासमिति व कांग्रेसके दूसरे संगठन कुछ समयके लिए खत्म कर दिये जायँ और उनकी जगह डिक्टेटर नियुक्त कर दिये जायँ।

गान्धीजी पहली अगस्तको रास नामक गाँव जाकर व्यक्तिगत सत्याग्रहका श्रीगणेश करनेवाले थे, पर वे ३४ आश्रमवासियोंके साथ ३१ जुलाईकी रातको ही गिरफ्तार कर लिये गये। उन्हें ४ अगस्तको छोड़ा गया और आदेश दिया गया कि यरवदा गाँव छोड़कर वे पूना जाकर रहें। गान्धीजीने आदेशका पालन नहीं किया और आधे घण्टेके भीतर उन्हें फिर गिरफ्तार कर एक सालकी कैदका दण्ड दे दिया गया।

इसके बाद सैकड़ों कांग्रेसजनोंने व्यक्तिगत सत्याग्रह किया और वे जेल गये। अणे

अपने १३ सहयोगियोंके साथ १४ अगस्तको पकड़ लिये गये। वे अकोलाके लिए मार्च करनेवाले थे, जब वे पकड़े गये। उनके स्थानापन्न शार्दूलसिंह कवीश्वर भी शीघ्र ही पकड़ लिये गये। कवीश्वरने अपना स्थानापन्न नियुक्त नहीं किया था, ताकि आन्दोलन सचमुच व्यक्तिगत सत्याग्रह बन सके। अगस्त १९३३ से मार्च १९३४ तक सत्याग्रहियोंकी गिरफ्तारी-का तांता लगा रहा।

इस बार गान्धीजीको जेलसे अस्पृश्यता निवारण सम्बन्धी अपना कार्यक्रम चलानेकी सुविधा नहीं मिली और इसके विरोधमें उन्होंने गिरफ्तारीके कुछ ही दिन बाद फिर अनशन किया। २३ अगस्ततक वे बहुत कमजोर हो गये और उनकी जानको खतरा पैदा हो गया। उसी दिन वे बिना शर्त रिहा कर दिये गये। पर गान्धीजी अपनेको बन्दी मानते रहे और ३ अगस्त १९३४ तक वे मुख्यतः हरिजन आन्दोलनके संघटनमें ही व्यस्त रहे। उस दिन उनकी एक वर्षकी कैदकी अवधि समाप्त होती थी। नवम्बरमें उन्होंने हरिजनोंकी समस्यापर प्रचार और धनसंग्रहके लिए देशव्यापी दौरा शुरू किया। १० महीनेमें उन्होंने लगभग हर प्रांतका दौरा किया। पूनामें किसीने, सम्भवतः किसी कट्टर सनातनी हिन्दूने, गान्धीजीपर बम फेंका जो उन्हें तो नहीं लगा पर कई और लोग घायल हो गये। फरवरी १९३४ में जवाहरलाल नेहरूपर उनके कथित राजद्रोहात्मक भाषणोंके लिए कलकत्तेमें फिर मुकदमा चला और उन्हें दो महीनेकी सजा हो गयी।

७ अप्रैल १९३४ को गान्धीजीने व्यक्तिगत सत्याग्रह भी लगभग समाप्त कर दिया। एक वक्तव्यमें उन्होंने कहा—"बहुत सोचने और दिल टटोलनेके बाद मैं इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि वर्तमान परिस्थितिमें केवल एक व्यक्तिको अर्थात् मुझे कुछ समयके लिए सविनय प्रतिरोधका उत्तरदायित्व लेना चाहिये—यदि प्रतिरोध पूर्ण स्वराज्यकी प्राप्तिके साधन रूपमें सफल होता है तो......इसलिए वे सब लोग जो स्वराज्य-प्राप्तिके लिए मेरी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सलाहसे सविनय प्रतिरोधके लिए प्रेरित हुए थे, अबसे प्रतिरोध न करें। मुझे पूर्ण विश्वास है कि भारतकी आजादीकी लड़ाईके हितमें यही सबसे अच्छा रास्ता है।"

पिछले असहयोग आन्दोलनकी समाप्तिकी भाँति इस बार फिर स्वराज्य पार्टीका उदय हुआ। ३१ मार्च १९३४ को डाक्टर अंसारीकी अध्यक्षतामें दिल्लीमें कुछ कांग्रेस नेताओंका सम्मेलन 'गतिरोध' समाप्त करनेके लिए विधान-मण्डलोंमें प्रवेशके कार्यक्रमपर विचार करनेके लिए हुआ और अखिल भारतीय स्वराज्य पार्टीको पुनरुज्जीवित करनेका निश्चय हुआ। सम्मेलनने विधान-मण्डलोंमें जाकर सभी दमनकारी कानून रद करवाने और श्वेतपत्रके प्रस्तावोंको ठुकराकर उनकी जगह राष्ट्रीय माँगें रखवानेका कार्यक्रम बनाया। सम्मेलनके निर्णयोंपर डाक्टर अंसारीने गान्धीजीकी सलाह माँगी। गान्धीजीने स्वराज्य पार्टीका स्वागत करते हुए लिखा—"आजकी स्थितिमें विधान-मण्डलोंके उपयोग सम्बन्धी मेरी राय प्रकट है। विधान-मण्डल वैसे ही हैं जैसे १९२० में थे।"

फिर २ व ३ मई को राँचीमें कांग्रेसजनोंका एक बृहत् सम्मेलन हुआ, जिसमें चुनाव लड़नेके लिए स्वराज्य पार्टीके पुनर्जीवनके निर्णयका समर्थन हुआ और गोलमेज सम्मेलन-के निर्णयोंपर आधारित वैधानिक सुधारोंकी योजनाके बहिष्कार और राष्ट्रीय माँगोंकी पूर्तिके लिए संविधानपरिषद् निर्माणकी माँगके आधारपर चुनाव लड़नेका फैसला हुआ। पटनामें १८ व १९ मईको हुई अखिल भारतीय कांग्रेस महासमितिकी बैठकमें राँची सम्मेलनके निर्णयोंको

स्वीकार कर लिया गया और चुनाव लड़ने व उम्मीदवार छाँटनेके लिए एक पार्लमेण्टरी बोर्डकी स्थापना की गयी।

१९३४ के मध्यतक अधिकतर कांग्रेसजन रिहा कर दिये गये थे यद्यपि सरकारकी प्रतिशोधात्मक नीति जारी थी। बहुतसे कांग्रेसी नेता विशेषकर गुजरातके कार्यकर्त्ता अब भी जेलोंमें बन्द थे; कई प्रान्तोंमें कांग्रेस कार्यालयोंकी इमारतें वापस नहीं की गयीं, जिन लोगोंने आन्दोलनमें भाग लिया था उनके विदेश जानेपर पाबन्दी थी; जो लोग व्यापार या निजी कामसे जाना चाहते थे, उन्हें भी पासपोर्ट नहीं दिया जाता था। खुदाई खिदमतगार संघटन अब भी गैरकानूनी था।

१८ सितम्बर १९३४ को कांग्रेस छोड़नेके निर्णय सम्बन्धी गांधीजीका प्रेस वक्तव्य पढ़कर भारत अचम्भेमें आ गया। वक्तव्य इस प्रकार शुरू हुआ था—"कांग्रेससे सभी भौतिक सम्बन्ध खत्म कर लेनेके मेरे विचारके सम्बन्धमें जो अफवाहें थीं, वे सही थीं।" यह कदम उठानेके कारण बताते हुए गान्धीजीने लिखा था—"(१) शिक्षित कांग्रेसजनोंका काफी बड़ा भाग मेरी रीति, नीति और कार्यक्रमको पसन्द नहीं करता, लोग उससे थक गये हैं; कांग्रेसके स्वाभाविक विकासमें सहायता देनेकी जगह मैं बाधा बनता जा रहा हूँ; जनतान्त्रिक और प्रतिनिधित्व पूर्ण संस्था रहनेकी जगह कांग्रेस मेरे व्यक्तित्वके प्रभुत्वमें आ रही है, उसमें तर्क-की प्रतिष्ठा घट रही है। (२) मैंने चरखा और खादी सबसे आगे रखा था, लेकिन शिक्षित कांग्रेसजन चरखा चलाना लगभग छोड़ चुके हैं, यदि विधानसे खादीकी शर्त हटा दी जाय तो कांग्रेस और उस करोड़ों जनताके बीचकी कड़ी हट जायगी, जिसका प्रतिनिधित्व करनेका प्रयत्न कांग्रेस अपने जन्मसे कर रही है, अगर यह शर्त विधानमें रहती है तो इसका कड़ाईके साथ पालन होना चाहिये, पर यह हो नहीं सकता यदि कांग्रेसके बहुमतका इसमें जीवित विश्वास न हो। (३) असहयोग आन्दोलनका शुरू करनेवाला होता हुआ भी मैं समझता हूँ कि देशकी वर्त्तमान परिस्थितिमें जब कि सविनय् अवज्ञाका कोई कार्यक्रम नहीं है, कांग्रेस-के भीतर ही वैधानिक कार्यक्रमवाला एक दल कार्यक्रमके रूपमें आवश्यक है, पर इस सम्बन्धमें गहरे मतभेद हैं। पटनामें कांग्रेस महासमितिकी बैठकमें मैंने जिस जोरसे इस कार्यक्रमकी वकालत की थी, उससे मेरे कुछ सबसे अच्छे साथी परेशान थे, लेकिन वे अपने विश्वासके अनुसार करने या कहनेमें हिचकिचाये। किसी संस्थाके स्वस्थ विकासके लिए यह आवश्यक भी है और भला भी लगता है कि एक सीमातक व्यक्ति अपने मतपर उस व्यक्तिके मतके आगे जोर न दे जो अनुभव या विवेकमें बड़ा माना जाता हो; पर यदि यही बात दिन प्रतिदिन दोहरायी जाती रहे तो वह क्रूरता और अत्याचार बन जाती है। (४) सोशलिस्टोंकी पुस्तिकाओंमें छपे कार्यक्रमसे मेरे आधारभूत विरोध हैं। यदि कांग्रेसमें उनका उत्कर्ष हुआ, जो होगा ही, तो मैं कांग्रेसमें नहीं रह सकता, क्योंकि सक्रिय विरोधमें होनेकी बात सोची भी नहीं जा सकती। (५) अस्पृश्यताके प्रश्नपर भी, सम्भवतः मेरा दृष्टिकोण बहुतसे (यदि अधिकांश नहीं) कांग्रेसजनोंसे भिन्न है। (६) अन्तमें अहिंसाको लें; १४ वर्षके व्यवहारके बाद आज भी कांग्रेसके बहुसंख्यक लोगोंके लिए वह केवल एक नीति है, जब कि मेरे लिए वह बुनियादी सिद्धान्त है।"

इन बातोंपर कांग्रेसजनोंकी भावनाएँ परखनेके लिए गान्धीजीने कांग्रेस विधानमें कुछ संशोधन करनेका प्रस्ताव किया। पहला संशोधन यह होना था कि 'वैध और

शान्तिपूर्ण साधनों' की जगह 'सत्य और अहिंसाके साधनों' कर दिया जाय। दूसरा संशोधन यह था कि कांग्रेसकी चार आना सदस्यताकी जगह यह कर दिया जाय कि हर सदस्य या सदस्या हर महीने अपने आप कातकर कमसे कम ८००० फुट १५ नम्बरी सूत जमा करे। तीसरा संशोधन यह था कि जो व्यक्ति खादी धारण करनेका आदी न हो और जो लगातार छः महीनेसे कांग्रेसका सदस्य न हो, उसे कांग्रेस संस्थाके चुनावोंमें भाग न लेने दिया जाय। चौथा संशोधन यह था कि कांग्रेस प्रतिनिधियोंकी अधिकतम संख्या १००० निर्धारित कर दी जाय।

२६, २७ व २८ अक्टूबर १९३४ को बम्बईमें राजेन्द्रप्रसादकी अध्यक्षतामें हुए कांग्रेस-अधिवेशनने गान्धीजीका लगभग पूरा कर्यक्रम और संशोधन स्वीकार कर लिया; सिर्फ प्रतिनिधियोंकी संख्या १००० की जगह २००० नियत की गयी। लेकिन गान्धीजी व अन्य लोगोंके बीच जो मौलिक सैद्धान्तिक मतभेद था वह प्रस्तावोंसे दूर नहीं हो सकता था और गान्धीजी अपने निर्णयपर दृढ़ रहे। बम्बई अधिवेशनके बाद वे कांग्रेससे अलग हो गये। कांग्रेसने एक प्रस्ताव द्वारा गान्धीजीके नेतृत्वमें अपना विश्वास दोहराते हुए कांग्रेस छोड़नेके अपने निर्णयपर पुनर्विचार करनेकी अपील गान्धीजीसे की। इस प्रस्तावमें आगे कहा गया था—"किन्तु इस सम्बन्धमें उन्हें राजी कर सकनेमें असमर्थ होने पर कांग्रेस उनका निर्णय बेमनसे स्वीकार करती है और देशके प्रति उनकी विलक्षण सेवाओंके लिए कृतज्ञता ज्ञापन करती है। इस बातपर कांग्रेस सन्तोष प्रकट करती है कि जब भी आवश्यक होगा उनकी सलाह और नेतृत्व कांग्रेसको प्राप्त होता रहेगा।"

कांग्रेसने एक प्रस्ताव द्वारा कांग्रेस समितिकी सदस्यताके लिए यह अनिवार्य कर दिया कि छः महीनेकी शारीरिक मेहनत जरूर की जाय। शारीरिक मेहनतमें ५०० गज सूत कातना भी था।

अध्याय २३

फिर आतंकवाद

सात सालकी निष्क्रियताके बाद, जिस बीच क्रान्तिकारी पार्टियाँ गान्धीवादी आन्दोलनोंके परिणामोंकी प्रतीक्षा करती रहीं, १९२४ में फिर आतंकवादी कार्य शुरू हो गये। उसी वर्ष जनवरीमें बंगाल पुलिस कमिश्नर टैगर्टके धोखेमें, गोपीमोहन साहाने एक अन्य आदमी अर्नेस्ट डेको गोली मार दी। अप्रैलमें एक दूसरे अंग्रेज ब्रूसको हरिसन रोड कलकत्तेमें गोली मार दी गयी। यहाँ भी धोखेमें ही ब्रूसपर गोली चलायी गयी। कलकत्तेमें ही मार्चके महीनेमें, बम बनानेका एक कारखाना पकड़ा गया। जुलाईमें कलकत्तेकी सड़कोंपर एक क्रान्तिकारी पार्टीका सदस्य पकड़ा गया। उसके पास भरी हुई पिस्तौल थी। अब कुछ कांग्रेसजन भी बम-राजनीतिसे इतने प्रभावित हो गये कि जूनमें चित्तरंजन दासकी अध्यक्षतामें बंगाल राजनीतिक सम्मेलनमें गोपीमोहन साहाके आत्म-बलिदानकी प्रशंसा करते हुए एक प्रस्ताव पास किया।

१९२५ में अंग्रेजी पार्लमेण्टने, भारत सरकारको, बंगालमें पाँच सालसे लागू विशेष नियमोंको आगे भी लागू किये रहनेकी अनुमति दे दी जिसके परिणाम-स्वरूप बंगालमें आतंकवादी पार्टियोंके करीब डेढ़ सौ नेता गिरफ्तार कर जेलोंमें बन्द कर दिये गये।

यू० पी० में, जहाँ १९२४ में क्रान्तिकारी संघटन हिन्दोस्तान रिपब्लिकन संघकी शाखा कायम हो गयी थी, लखनऊ जिलेमें काकोरी रेलवे स्टेशनके पास एक हथियारबन्द डाका पड़ा। मुरादाबादसे लखनऊ आनेवाली एक मुसाफिर गाड़ीको रोक लिया गया और रिवाल्वर दिखाकर कुछ नौजवानोंने गार्डके डिब्बेसे रुपयेके बक्स उतार लिये। एक मुसाफिरने कुछ बाधा डालनेकी कोशिश की तो उसको गोली मार दी गयी। यू० पी० में ये शाखाएँ कायम करनेका विशेष श्रेय योगेशचन्द्र चटर्जीको है। वे १९२३ के अन्तमें कलकत्तेसे बनारस चले आये थे। इस काममें सचीन्द्रनाथ सान्यालने उनकी सहायता की। सचीन्द्रनाथ सान्यालको 'बनारस षड्यन्त्र केस' में १९१५ में सजा हुई थी और फिर १९२५ में 'क्रान्तिकारी' नामक परचा बाँटनेके अभियोगमें फिर उन्हें सजा हो गयी।

काकोरी रेल डकैतीके सम्बन्धमें अट्ठाइस आदमियोंपर मुकदमा चलाया गया। चारको फाँसीकी सजा मिली, दोको कालेपानी और बाकीको पाँचसे चौदह वर्षकी कैदकी सजा दी गयी।

१९२८ में पंजाबमें भी आतंकवादी कार्य आरम्भ हो गये। लाहौरमें भगतसिंह और उनके साथियोंने एक जंगजू संस्था—नौजवान भारत सभा स्थापित कर ली। इस संघटनका काम, समाजवादी विचारधाराका प्रचार करना, अंग्रेजोंके विरुद्ध 'सीधी' काररवाई करनेकी आवश्यकता समझाना और आतंकवादी पार्टीके लिए सदस्य भरती करनेके कैन्द्रके रूपमें काम करना था। यह भारत सभा आगे चलकर हिंदोस्तान समाजवादी रिपब्लिकन संघमें परिणत हो गयी। इसकी प्रान्तीय और जिला शाखाएँ स्थापित हो गयीं। दिसम्बर १९२८ में लाहौरमें एक यूरोपीय नायब सुपरिण्टेण्डेण्ट पुलिस साण्डर्स और एक हिंदुस्तानी पुलिस-

के सिपाहीकी हत्या कर दी गयी। लाजपतरायके नेतृत्वमें साइमन कमीशन-विरोधी प्रदर्शन पर पुलिसने जो लाठीचार्ज किया था, जिसमें लाजपतरायको सांघातिक चोट लगी थी, उससे उत्तेजित होकर ये हत्याएँ हुई थीं। कुछ हफ्तों बाद लाजपतरायकी मृत्यु हो गयी। आतंकवादियोंने इसका बदला सांडर्सकी हत्यासे लिया। लाठीचार्जका हुक्म सांडर्सने दिया था और उन्होंने अगुआई भी की थी। अप्रैल १९२९ में केन्द्रीय विधान-सभामें औद्योगिक विवाद-विधेयक (ट्रेड डिस्प्यूट्स बिल) पास होने पर भगतसिंह और बी० के० दत्तने सरकारी सदस्योंपर बम फेंके। यह विधेयक मजदूर-आन्दोलनके विरुद्ध था। मजिस्ट्रेटके सामने उन्होंने अभियोग स्वीकार कर लिया और अपने बयानमें कहा कि उनका उद्देश्य प्रदर्शन-मात्र था, किसीको चोट पहुँचाना नहीं था। दोनोंको कालेपानीकी सजा मिली। ये दोनों सांडर्स हत्याकाण्डमें भी अभियुक्त थे।

कुछ ही दिन बाद लाहौरमें बम बनानेका कारखाना पकड़ा गया और इस सिलसिलेमें न सिर्फ पंजाबमें बल्कि यू. पी. और बिहारमें भी बड़े पैमानेपर लोग गिरफ्तार किये गये। जुलाईमें लाहौर षड्यन्त्र केसमें तेरह आदमियों पर मुकदमा चलाया गया। इस केसमें सांडर्स हत्याकाण्ड भी जोड़ दिया गया।

जेलके अन्दर कई महीनोंतक अभियुक्तोंपर अत्याचार होते रहे और उन्हें अमानुषिक यातनाएँ दी जाती रहीं। मैजिस्ट्रेटके सामने खुली अदालतकमें वे पीटे जाते थे। एक पुस्तिकामें एक अभियुक्तने लिखा है कि "वहाँ (अदालतमें) वकीलों और दर्शकोंकी उपस्थितिमें डण्डों और लाठियोंसे लैस बीसियों पुलिसके सिपाही हमारे ऊपर टूट पड़े। हमने खाली हाथोंसे इस हमलेको रोका मगर परिस्थितियाँ हमारे प्रतिकूल थीं, हमारे सर छाती, और बाँहोंपर लाठियोंकी वर्षा होती रही। जमीनपर गिराकर हमारे ऊपर ठोकरों और लाठियोंकी बौछार होने लगी। हम लोगोंको चोटें इतनी गम्भीर थी कि कई साथी कई दिनोंतक हिलडुल भी न सके।"[1] एक मर्तबा जब सात लड़के लाहौर षड्यन्त्र केसके अभियुक्तोंकी रक्षाके लिए चन्दा जमा कर रहे थे तो पुलिसने उन्हें जिला मजिस्ट्रेटकी उपस्थितिमें पीटा, यहाँतक कि सब बुरी तरहसे जख्मी हो गये और कुछ बेहोश होकर गिर पड़े।

अपने साथ किये गये दुर्व्यवहारके विरोधमें और अपनी तकलीफोंको दूर करानेके लिए लाहौर षड्यन्त्र केसके अभियुक्तोंने जेलमें भूख-हड़ताल शुरू कर दी। ६३ दिनतक लगातार भूख-हड़ताल करनेके बाद जतीन्द्रनाथ दासने अपना जीवन बलिदान कर दिया। उनकी मृत्युपर सारे देशमें विरोधात्मक प्रदर्शन हुए।

सरकारने लाहौर षड्यन्त्रके अभियुक्तोंका मुकदमा करनेके लिए एक आर्डिनेन्स द्वारा एक विशेष ट्रिब्यूनल कायम कर दिया। किसी वकीलको अभियुक्तोंकी तरफसे पैरवी करनेका अधिकार नहीं दिया गया। इस ट्रिब्यूनलने भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेवको फाँसीकी सजा दी और बाकी सातको कालेपानीकी सजा दी। वाइसरायके पास गान्धीजीके प्रार्थना करनेके बावजूद और पूरे राष्ट्रकी माँग—'फाँसीके अभियुक्तोंकी सजा बदलकर कालापानी कर दी जाय'—को ठुकराकर २३ मार्च १९३१ को भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव फाँसीपर लटका दिये गये। इस फाँसीके खिलाफ लोगोंमें इस कदर गुस्सा था कि केन्द्रीय विधान-सभाके गैर-सरकारी सदस्योंकी एक बहुत बड़ी संख्या वित्त विधेयक (फाइनेंस

1. अजय घोष, भगतसिंह एण्ड हिज कॉमरेड्स पृष्ठ १४

बिल) के ऊपर हो रही बहसके दौरानमें फाँसीके विरोधस्वरूप २५ मार्चकी बैठक छोड़, सभा-भवनसे बाहर चली आयी। कराची कांग्रेस अधिवेशन (१९३१) ने राजनीतिक हिंसाको उचित न मानते हुए और अपनेको उससे अलग करते हुए भगतसिंह और उनके साथियोंकी बहादुरी और बलिदानकी प्रशंसा की।

२३ दिसम्बर १९२९ को दिल्लीके निकट वॉइसरायकी गाड़ीको नष्ट करनेका असफल प्रयत्न किया गया। इस बमके ठीक वक्तपर फटनेके लिए घड़ीकी तरहके यन्त्रका इस्तेमाल किया गया था।

अप्रैल १९३० में १५० बंगाली नौजवानोंके एक दलने पूर्वी बंगालमें चटगाँवमें पुलिस शस्त्रशाला (आर्मरी) सहायक सेनाकी शस्त्रशाला (आग्जिलरी फोर्स आर्मरी) यूरोपीयन क्लब, तार और टेलीफोनके दफ्तरपर हमला किया और कुछ हथियार, गोली और बारूद लेकर भाग गये। ये नौजवान खाकी वरदी पहने हुए थे और इनके नेता अफसरोंकी वरदीमें थे। आक्रमणकारी चार दलोंमें विभक्त थे। सहायक सेनाकी शस्त्रशालापर हमला करनेवाली टुकड़ीने सार्जेंट मेजर फैरल और एक सिपाहीको गोली मार दी और इमारतमें पेट्रोलसे आग लगा दी। जब कि पुलिस शस्त्रशालापर हमला करनेवाली टुकड़ीने उस रास्तेसे गुजरनेवाली सब मोटर गाड़ियोंपर गोलियाँ चलायीं, उनकी गोलियोंसे एक रेलवे गार्ड, एक टैक्सीका ड्राइवर और सहायक ड्राइवर तथा मजिस्ट्रेटकी कारमें एक सिपाही मरा। इस टुकड़ीने सात आदमियोंको मार डाला और दोको घायल किया। तार-घरपर हमला करनेवाली टुकड़ीने, जिसमें छः आदमी थे, वहाँके क्लर्कको पकड़ लिया, उसे क्लोरोफार्म सुँघाकर बेहोश कर दिया और टेलीफोन बोर्डको नष्ट कर दिया।

सफलता पानेके लिए आक्रमणकारियोंने हमला करनेसे पहले चटगाँवसे लेकर २७ मीलकी दूरीतकके तार काट दिये थे। आधी रातके करीब, जब कि आक्रमणकारी शहरके उत्तरकी तरफ पहाड़ियोंमें भागे तो उनमें और हथियारबन्द पुलिसमें छोटी-छोटी लड़ाइयाँ हुईं। इन लड़ाइयोंमें १९ आक्रमणकारी मारे गये। कई पुलिसवाले भी घायल हुए और मारे गये।

पाँच दिन बाद फेनी रेलवे स्टेशनपर चटगाँव-आक्रमणसे सम्बन्ध रखनेके सन्देहमें ४ नौजवान गिरफ्तार कर लिये गये। नौजवानोंने रिवाल्वरसे गोलियाँ चलानी शुरू कर दीं और एक नायब इंस्पेक्टर व दो सिपाहियोंको घायल करके भाग गये।

१९३० में बम्बई, हावड़ा, मद्रास, मुल्तान, कानपुर, लाहौर, लायलपुर, बारीसाल, अमृतसर, गुजरानवाला, रावलपिण्डी, शेखूपुरा, दिल्ली, कलकत्ते, पेशावर, झाँसी, ढाका, मैमनसिंह, बन्नू, राजशाही, बनारस, कराची, जैसोर, मुर्शिदाबाद, खुलना, खुरजा, इलाहाबाद, लुधियाना, जैसोर, हैदराबाद (सिन्ध) चाँदपुर (बंगाल) और लाहौरमें बम फेंकने, गाड़ी रोकने, और अधिकारियोंकी हत्याके प्रयत्नोंकी अनेक घटनाएँ हुईं।

८ दिसम्बर १९३० को यूरोपियन पोशाक पहने हुए तीन आतंकवादी जेलोंके इंस्पेक्टर जनरल, लेफ्टिनेण्ट कर्नल सिम्पसनके दफ्तर पहुँचे और उनको गोलीसे मार डाला व दो अन्य आदमियोंको घायल कर दिया। हमला करनेवालोंमेंसे एकने जहर खाकर अपनी जान दे दी, बाकी दोनोंने अपनेको गोली मार ली। उनमेंसे एक विनय बसु मर गया और दूसरे दिनेश गुप्तपर मुकदमा चलाया गया और उसे फाँसी दे दी गयी।

बिल) के ऊपर हो रही बहसके दौरानमें फाँसीके विरोधस्वरूप २५ मार्चकी बैठक छोड़, सभा-भवनसे बाहर चली आयी। कराची कांग्रेस अधिवेशन (१९३१) ने राजनीतिक हिंसाको उचित न मानते हुए और अपनेको उससे अलग करते हुए भगतसिंह और उनके साथियोंकी बहादुरी और बलिदानकी प्रशंसा की।

२३ दिसम्बर १९२९ को दिल्लीके निकट वॉइसरायकी गाड़ीको नष्ट करनेका असफल प्रयत्न किया गया। इस बमके ठीक वक्तपर फटनेके लिए घड़ीकी तरहके यन्त्रका इस्तेमाल किया गया था।

अप्रैल १९३० में १५० बंगाली नौजवानोंके एक दलने पूर्वी बंगालमें चटगाँवमें पुलिस शस्त्रशाला (आर्मरी) सहायक सेनाकी शस्त्रशाला (आग्जिलरी फोर्स आर्मरी) यूरोपीयन क्लब, तार और टेलीफोनके दफ्तरपर हमला किया और कुछ हथियार, गोली और बारूद लेकर भाग गये। ये नौजवान खाकी वरदी पहने हुए थे और इनके नेता अफसरोंकी वरदीमें थे। आक्रमणकारी चार दलोंमें विभक्त थे। सहायक सेनाकी शस्त्रशालापर हमला करनेवाली टुकड़ीने सार्जेंट मेजर फैरल और एक सिपाहीको गोली मार दी और इमारतमें पेट्रोलसे आग लगा दी। जब कि पुलिस शस्त्रशालापर हमला करनेवाली टुकड़ीने उस रास्तेसे गुजरनेवाली सब मोटर गाड़ियोंपर गोलियाँ चलायीं, उनकी गोलियोंसे एक रेलवे गार्ड, एक टैक्सीका ड्राइवर और सहायक ड्राइवर तथा मजिस्ट्रेटकी कारमें एक सिपाही मरा। इस टुकड़ीने सात आदमियोंको मार डाला और दोको घायल किया। तार-घरपर हमला करनेवाली टुकड़ीने, जिसमें छः आदमी थे, वहाँके क्लर्कको पकड़ लिया, उसे क्लोरोफार्म सुँघाकर बेहोश कर दिया और टेलीफोन बोर्डको नष्ट कर दिया।

सफलता पानेके लिए आक्रमणकारियोंने हमला करनेसे पहले चटगाँवसे लेकर २७ मीलकी दूरीतकके तार काट दिये थे। आधी रातके करीब, जब कि आक्रमणकारी शहरके उत्तरकी तरफ पहाड़ियोंमें भागे तो उनमें और हथियारबन्द पुलिसमें छोटी-छोटी लड़ाइयाँ हुईं। इन लड़ाइयोंमें १९ आक्रमणकारी मारे गये। कई पुलिसवाले भी घायल हुए और मारे गये।

पाँच दिन बाद फेनी रेलवे स्टेशनपर चटगाँव-आक्रमणसे सम्बन्ध रखनेके सन्देहमें ४ नौजवान गिरफ्तार कर लिये गये। नौजवानोंने रिवाल्वरसे गोलियाँ चलानी शुरू कर दीं और एक नायब इंस्पेक्टर व दो सिपाहियोंको घायल करके भाग गये।

१९३० में बम्बई, हावड़ा, मद्रास, मुल्तान, कानपुर, लाहौर, लायलपुर, बारीसाल, अमृतसर, गुजरानवाला, रावलपिण्डी, शेखूपुरा, दिल्ली, कलकत्ते, पेशावर, झाँसी, ढाका, मैमनसिंह, बन्नू, राजशाही, बनारस, कराची, जैसोर, मुर्शिदाबाद, खुलना, खुरजा, इलाहाबाद, लुधियाना, जैसोर, हैदराबाद (सिन्ध) चाँदपुर (बंगाल) और लाहौरमें बम फेंकने, गाड़ी रोकने, और अधिकारियोंकी हत्याके प्रयत्नोंकी अनेक घटनाएँ हुईं।

८ दिसम्बर १९३० को यूरोपियन पोशाक पहने हुए तीन आतंकवादी जेलोंके इंस्पेक्टर जनरल, लेफ्टिनेण्ट कर्नल सिम्पसनके दफ्तर पहुँचे और उनको गोलीसे मार डाला व दो अन्य आदमियोंको घायल कर दिया। हमला करनेवालोंमेंसे एकने जहर खाकर अपनी जान दे दी, बाकी दोनोंने अपनेको गोली मार ली। उनमेंसे एक विनय बसु मर गया और दूसरे दिनेश गुप्तपर मुकदमा चलाया गया और उसे फाँसी दे दी गयी।

उसी महीनेमें पंजाब यूनिवर्सिटीके दीक्षांत समारोहके समय गवर्नर और उनके साथियोंपर गोलियाँ चलायी गयीं। गवर्नरको तो थोड़ी ही चोट आयी परन्तु पुलिसके एक अधिकारीको घातक चोट लगी।

१९३१ में भी बंगाल, पंजाब और यू० पी० में बम फेंकनेकी बाढ़-सी आ गयी थी। १९३१ के आरम्भमें मिदनापुरके जिला मजिस्ट्रेटको गोलीसे मार डाला गया। अलीपुरका जिला जज भी इसी प्रकार मारा गया। मिदनापुरके कई जिला मजिस्ट्रेट एकके बाद एक इसी तरहसे मारे गये। २७ जनवरी १९३१ को इलाहाबादमें प्रसिद्ध फरार क्रान्तिकारी चन्द्रशेखर आजाद और पुलिसके बीच गोलियाँ चलीं। आजाद मारे गये और कई पुलिस अधिकारी घायल हुए।

१९३२ में आतंकवादियोंके हमलोंकी ९७ घटनाएँ हुईं जब कि १९३१ में ८१, १९३० में ५३ और १९२९ में ८ हुई थीं। परन्तु १९३३ में ये घटनाएँ घटकर ४३ रह गयीं। १९३४ में और कमी हुई तथा १९३५ में आतंकवादी कार्य एकदमसे खत्म हो गये। उस साल अकेले बंगालमें २७०० नजरबन्द कैदी थे।

अध्याय २४

समाजवादी व कम्यूनिस्ट पार्टियाँ

१९२४ में सरकारको सूचनाएँ मिलीं कि सीमाप्रान्तमें कम्यूनिस्ट प्रचार किया जा रहा है। सीमाप्रान्त हमेशासे ही अँग्रेजोंके लिए सरदर्द बना हुआ था।[1] कम्यूनिस्ट प्रचार का मुख्य केन्द्र समरकन्द स्थित पुरानी 'कॉलोनी' थी जहाँसे एक समय वहाबी आन्दोलन संचालित होता था।

उस वर्ष सरकारने कानपुरमें एक कम्यूनिस्ट षड़यन्त्रका पता लगा लेनेका दावा किया। एम. एन. रायसे प्रेरणा पाकर कुछ नौजवानोंने 'भारतकी कम्यूनिस्ट पार्टी' संघटित की। एम. एन. रॉय इन लोगोंसे बरलिनके एक पतेकी मार्फत पत्र-व्यवहार करते थे। ये नौजवान कम्यूनिस्ट-साहित्य वितरित कर रहे थे, जिसमें कहा गया था कि सरकारको हिंसा द्वारा उलट दो और वर्गरहित समाज स्थापित करो। इस अपराधके लिए कई लोगोंको गिरफ्तार करके, भिन्न-भिन्न सजाएँ दी गयीं। कानपुर-षड़यन्त्रकारियोंकी गिरफ्तारियोंके बावजूद कम्यूनिस्ट कार्य होते रहे। सत्यभक्त नामके एक व्यक्ति भारतमें कम्यूनिस्ट पार्टीके जन्मदाता और उसको संघटित करनेवाले थे। रायका प्रचार चालू था। "छपे हुए घोषणा-पत्रोंमेंसे एकमें (जो भारतमें बहुत बड़े पैमानेपर बाँटे गये थे) रायने कहा कि क्यों गोलियों और गुप्त समाज इत्यादिसे क्रान्ति नहीं हो सकती। व्यक्तिगत आतंक अंग्रेजी पार्लमेंटके कानूनोंकी भाँति निरर्थक हैं। केवल विद्रोही जनता ही भारतमें सामाजिक-राजनीतिक उथल-पुथल पैदा कर सकती है।[2] कम्यूनिस्ट पार्टीका उद्देश्य हर सम्भव तरीकेसे गरीबों और मजदूर वर्गकी दशामें सुधार करना था। किसान, दफ्तरके बाबू, रेल और डाकके कर्मचारी, पुलिसके सिपाही और विद्यार्थी सब 'मजदूर'की परिभाषामें रखे गये। कम्यूनिस्ट पार्टीका अन्तिम लक्ष्य 'वर्तमान सामाजिक संघटन और भारत सरकारको बदलना, उत्पत्ति और वितरण (जैसे जमीन, कारखाने, खानें, तार और व्यापारिक समुद्री बेड़ा इत्यादि) के सब साधनोंका नियन्त्रण साधारण जनताके हाथमें देना और उसे इन साधनोंका मालिक बनाना था। पार्टीका कहना था कि यह कार्य इस प्रकारसे पूरा किया जाय कि सर्वसाधारण अभीष्ट-सिद्धिके कार्यमें भाग लें और सब इससे लाभ उठाएँ।'"[3]

पार्टीने दिसम्बर १९२५ के अन्तमें, मद्रासके सिंगारावलूकी अध्यक्षतामें कानपुरमें अखिल भारतीय कम्यूनिस्ट सम्मेलनका आयोजन किया। सिंगारावलू कानपुर षड्यन्त्र काण्डमें अभियुक्त थे, परन्तु उनपर मुकदमा नहीं चलाया गया। सम्मेलन उसी पंडालमें होनेवाला था जहाँ कांग्रेस अधिवेशन हुआ था, परन्तु इस पंडालके इस्तेमालकी आज्ञा नहीं दी गयी। सम्मेलनमें पाँच सौ प्रतिनिधियोंने भाग लिया था। कानपुरमें सत्यभक्त द्वारा पार्टीके संघ-

---

१. इण्डिया इन १९२४-२५ पृष्ठ १३

२. वही पुस्तक, पृष्ठ १३

३. इण्डिया इन १९२५-२६ से उद्धृत पृष्ठ १९६

टनके तरीकों और प्रबन्धपर बड़ा असन्तोष व्यक्त किया गया। सत्यभक्तने, जो भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टीको रूसी या और किसी विदेशी प्रभावसे मुक्त रखना चाहते थे, त्याग-पत्र दे दिया। पार्टीके प्रधान कार्यालयका स्थान कानपुरसे बदलकर बम्बई कर दिया गया और बादमें कलकत्तेमें प्रधान कार्यालय स्थापित किया गया।

दूसरी तरफ कम्यूनिस्ट १९२६ में मजदूरों और किसानोंकी पार्टियाँ संघटित कर रहे थे। १९२७ में ब्रिटिश पार्लमेण्टके सदस्य शापूरजी सकलातवाला तथा एक अन्य अंग्रेजी कम्यूनिस्ट जार्ज एलीसन उर्फ डोनाल्ड कैम्पबेल भारत आये। उन्होंने पूरे देशकी यात्रा कर मुख्य नगरोंमें बड़ी-बड़ी सभाओंमें भाषण किये और मजदूर तथा किसान पार्टियाँ संघटित करनेको प्रोत्साहित किया। महायुद्धके बाद, १९२८ का वर्ष मजदूर आन्दोलन और संघर्षोंकी सबसे बड़ी प्रगतिका वर्ष था। बंगाल मजदूर आन्दोलनोंका केन्द्र बन गया। साइमन कमीशन विरोधी राजनीतिक हड़तालों और प्रदर्शनोंसे मजदूर आन्दोलनोंको बहुत प्रोत्साहन मिला। १९२८-२९ के सालमें देशमें २-३ हड़तालें हुईं जिनमें एक साउथ इण्डियन रेलवेकी हड़ताल भी थी जिसमें ५०६,८५१ मजदूर शामिल थे। रेलवे हड़तालके सम्बन्धमें बहुतसे लोग गिरफ्तार किये गये और उनपर मुकदमा चलाया गया। उनमेंसे पन्द्रहको दस-दस सालकी कड़ी कैदकी सजा मिली। सरकार समझती थी कि सकलातवाला व कुछ अन्य यूरोपीय कम्यूनिस्ट भारतमें मजदूर संघर्षोंके लिए जिम्मेदार थे। इसलिए सरकारने १९२८ में केन्द्रीय विधान सभामें जन-सुरक्षा विधेयक पेश करके 'ऐसे लोगोंके जो ब्रिटिश भारतकी प्रजा हों और ध्वंसात्मक उपायोंसे सरकारको उलटना चाहते हों' निष्कासनकी स्वीकृति चाही। विधान सभाने विधेयक अस्वीकृत कर दिया। जनवरी १९२९ में सरकारने इस विधेयकमें कुछ संशोधन कर इसे फिर विधान सभामें स्वीकृतिके लिए पेश किया। यह विधेयक भी अमान्य कर दिया गया। लेकिन गवर्नमेंटने इस विषयका एक आर्डिनेंस जारी किया। मार्च १९२९ में सरकारने बत्तीस मजदूर नेताओंको जिनमें कुछ कांग्रेसजन, और तीन अंग्रेज भी थे गिरफ्तार किया और उनपर मेरठमें मुकदमा चलाया। उनपर भारत सरकारको इस तरह शक्ति-प्रयोग द्वारा, जो अपराध माना जाता हो उलटनेके षड्यंत्र करनेका अभियोग लगाया गया। उनके ऊपर लगाये गये अन्य आरोप थे—मजदूरों और पूँजीपतियोंके बीच विरोध और वैमनस्य बढ़ाना, मजदूरों और किसानोंकी पार्टियाँ व नौजवान संघों (यूथ लीग) और यूनियनोंके जरिए हड़तालोंको प्रोत्साहन देना। षड्यंत्र सिद्ध नहीं किया जा सका, फिर भी मुकदमा साढ़े तीन सालतक चलता रहा। जनवरी १९३३ में निर्णय सुनाया गया। मुजफ्फर अहमदको कालेपानीकी सजा दी गयी। एस. ए. डांगे, एस. वी. घाटे, के. एन. जोगलेकर, आर. एस. निम्बालकर, फिलिप स्प्रैट, को १७-१७ सालकी सजाएँ दी गयीं; और शौकत उस्मान व बी. एफ. ब्रैडलेको दस-दस सालकी। सबसे कम सजा तीन सालकी कड़ी कैदकी थी। अपील करने पर ये सजाएँ घटा दी गयीं। अधिकतर सजाएँ तो १९३३ के अन्तके पहले ही समाप्त हो गयीं। छूटे हुए कम्यूनिस्ट फौरन ही अपने-अपने कामोंमें जुट गये। कांग्रेसके बाएँ बाजूका मार्क्सवादकी तरफ झुकाव था। १७ दिसम्बर १९३३ को जवाहरलाल नेहरूने कहा "आज संसारको कम्यूनिज्म और फासिज्ममेंसे एक चुनना है। मैं तो पूरे तौरपर कम्यूनिज्मके साथ हूँ। कम्यूनिज्मके मूल सिद्धान्त और इतिहासका वैज्ञानिक विश्लेषण दोनों सही हैं।" १९३३ के अन्तिम दिनोंमें कम्यूनिस्टोंने जोरदार

प्रचार आन्दोलन शुरू किया। हिन्दोस्तान समाजवादी रिपब्लिकन संघ द्वारा जारी हुए परचोंको दिल्लीमें चिपकाया गया। फरवरी १९३४ में, भारतके मुख्य औद्योगिक केन्द्रों, जैसे बम्बई, लाहौर, कलकत्ता, अहमदाबाद वगैरहमें अकस्मात लम्बे-लम्बे लेख जिनमें क्रान्तिकारी कार्योंके सब पहलुओंकी व्याख्या और भारतमें भावी कार्यक्रमकी रूपरेखा दी हुई थी, प्रकट हुए। उस गैरकानूनी पत्रिकाका नाम जिसमें ये सब लेख छपते थे 'कम्यूनिस्ट' था। अन्तरराष्ट्रीय कम्यूनिस्ट संघके अंग भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टीकी अस्थायी केन्द्रीय समिति (प्रॉविजिनल सेण्ट्रल कमेटी) का यह मुखपत्र था।

जनवरी १९३४ के अन्तिम सप्ताहमें बम्बईमें एक कम्यूनिस्ट सम्मेलनने आगामी तीन महीनोंके अन्दर कपड़ा-उद्योगके मजदूरोंकी देशव्यापी हड़ताल संघटित करनेके लिए एक संघर्ष-समिति नियुक्त की। योजनाके अनुसार 'मई-दिवस' पर देशव्यापी आम हड़ताल आरम्भ होनेके लिए एक हफ्तेका समय देकर २३ अप्रैलको बम्बईमें हड़ताल शुरू हो गयी। शोलापुरमें हड़ताल आरम्भ हो चुकी थी। दिल्ली और नागपुरमें भी मईमें हड़तालें हो गयीं।

२३ जुलाईको भारत सरकारने एक विज्ञप्ति द्वारा भारतकी कम्यूनिस्ट पार्टी, पार्टीकी समितियों और इसकी शाखाओंको गैरकानूनी घोषित कर दिया, क्योंकि सरकारके अनुसार पार्टीका उद्देश्य शान्ति और व्यवस्था कायम रखनेमें बाधा डालना था जिसके कारण जन-शान्तिको खतरा पैदा हो गया था। अगले महीने गृहमन्त्रीने इस कार्यकी सफाई पेश करते हुए विधान सभामें कहा कि मेरठ षडयन्त्र काण्डके मुकदमेसे साफ तौरपर यह सिद्ध हो गया था कि भारतकी कम्यूनिस्ट पार्टी और कम्यूनिस्ट अन्तरराष्ट्रीय संघमें गहरा सम्बन्ध है और भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टीका उद्देश्य हिंसात्मक साधनों द्वारा समाजके वर्त्तमान ढाँचेको उलटना है तथा हथियारबन्द क्रान्तिके जरिये भारतको स्वतन्त्र करना है।[1]

भारत सरकारका अनुसरण कर पंजाब, बम्बई और मद्रासकी प्रान्तीय सरकारोंने भी कई कम्यूनिस्ट संघटनोंके खिलाफ विज्ञप्तियाँ निकालकर उन्हें गैरकानूनी घोषित कर दिया। "एक दर्जनसे अधिक रजिस्ट्री शुदा मजदूर यूनियनोंको गैरकानूनी करार दे दिया गया। नौजवान मजदूर संघ (यंग वर्कर्स लीग) भी अवैधानिक घोषित कर दी गयी। मजदूर वर्गके लड़ाकू और क्रान्तिकारी संघटनोंको कुचलनेके लिए गोलियोंका भी प्रयोग किया गया। बिना मुकदमा चलाये मजदूर व कम्यूनिस्ट नेता जेलोंमें नजरबन्द कर दिये गये।"[1]

मेरठ केसके बाद मजदूरों और किसानोंकी पार्टियाँ खत्म हो गयी थीं। कुछ वर्षों तक कम्यूनिस्ट-कार्य जो मजदूर-आन्दोलनतक ही अभी सीमित थे, करीब-करीब खत्मसे रहे।

१९२५ से १९३३ तक भारतमें कम्यूनिस्ट पार्टीकी प्रगति एक रूसी कम्यूनिस्टके शब्दोंमें यह थी, "देशमें बिखरे हुए कम्यूनिस्टोंको एक संघटनमें लानेवाली १९२५ में बनी मजदूर और किसान पार्टी थी। परन्तु इस संघटनमें मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियोंके प्रतिनिधि भी घुस आये थे और बायें बाजूके समाज-सुधारक भी इसमें शामिल हो गये। समाज-सुधारक राष्ट्रीय पूँजीवादके दलालोंकी हैसियतसे मजदूर-वर्गके संघटनोंमें घुस आये थे और प्रजातान्त्रिक तथा समाजवादी नारे लगाकर वे मजदूरवर्गको राष्ट्रीय पूँजी-वादके प्रभावमें लाना चाहते थे। कम्यूनिस्टों द्वारा संघटित मजदूर यूनियनोंमें और कम्यू-निस्ट नेताओंकी नीतिमें इन दक्षिणपंथी-समाजवादी समाज-सुधारकोंका प्रभाव साफ दिख-

---

१. वही पुस्तक, (इण्डिया इन १९२५-२६ ?) पृष्ठ ३२

लड़ना पड़ता है। 'मजदूर और किसान पार्टी' (वर्कर्स एण्ड पेजेन्ट्स पार्टी) में शामिल होनेवाले विभिन्न दलोंमें आपसी गुटबाजीके झगड़े होने लगे। १९२८ में भगोड़े रायको (एम.एन. रायको) जो पार्टीमें गुटबाजी करा रहे थे, निकाल देनेसे परिस्थिति सम्हल गयी। परन्तु समाज-सुधारकोंका प्रभाव अभी बाकी था, जैसा कि आगे चलकर प्रत्यक्ष हुआ। १९२९ में भारतीय मजदूर आन्दोलनमें फूट पड़ गयी और १९३१ तक देशमें भारतीय मजदूर आन्दोलनोंके तीन केन्द्र स्थापित हो गये—दि ऑल इण्डिया फेडरेशन ऑफ ट्रेड यूनियन्स, जिसका नेतृत्व दक्षिणपन्थी सुधारक कर रहे थे, वामपक्षी नेतृत्वमें 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस' और 'रेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस' जिसमें सर्वहारा वर्गके क्रन्तिकारी संघटन एक हो गये थे। १९३३ के अन्तमें अभीतक बिखरे हुए कम्यूनिस्ट दलोंका संघटनात्मक एका हो गया और सब एक संघटनमें आ गये।"[१]

समाजवादी पार्टी

१९३०-३४ के सविनय अवज्ञा आन्दोलनोंमें कांग्रेसके अन्दर गान्धीजीके अंग्रेजोंके खिलाफ लड़नेवाले तरीकोंसे एक हिस्सेमें असन्तोष पैदा हो गया था। इन लोगोंका विश्वास था कि रचनात्मक कार्योंके बजाय अंग्रेजी साम्राज्यवाद और भारतीय शोषण करनेवालोंके विरुद्ध संघर्ष करनेके लिए मजदूरों और किसानोंके संघटन करनेपर अधिक जोर देना चाहिये। बिहारमें मई १९३१ में इस विचारको ठोस रूप दिया गया और समाजवादी पार्टीकी स्थापना की गयी। समाजवादी पार्टी कांग्रेसके अन्दर ही बनी थी, और प्रोफेसर अब्दुलबारी उसके अध्यक्ष, राहुल सांकृत्यायन, फूलन० वी० वर्मा और गंगाशरण सिंह मन्त्री चुने गये। अभी पार्टीका कार्य शुरू ही हुआ था कि १९३२ में फिर सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ हो गया। नासिक जेलमें जहाँ कांग्रेसके महामन्त्री जयप्रकाशनारायण, अशोक मेहता, अच्युत पटवर्धन, मीनू मसानी, नरायन स्वामी, एन० जी० जे० गोरे और एस० एम० जोशी बन्द थे, एक मजबूत और बड़ी समाजवादी पार्टी कायम करनेकी योजना बनायी गयी। उन्होंने कांग्रेसके अन्दर समाजवादी पार्टी कायम करनेका निश्चय किया। समाजवादी पार्टीके विधानका मसविदा तैयार कर लिया गया और गुप्त रूपसे जेलसे बाहर भेज दिया गया। नेताओंके जेलसे छूटनेके पूर्व ही १९३३ में बम्बई प्रेसीडेंसी कांग्रेस समाजवादी पार्टी स्थापित हो गयी थी। इसकी स्थापना करनेमें पुरुषोत्तमदास त्रिकमदास, कमलादेवी चट्टोपाध्याय, मीनू मसानी और यूसुफ मेहरअली मुख्य थे। पार्टीका संघटन करनेवालोंके सामने ये बुनियादी उद्देश्य थे—

(१) अगर मजदूरों और किसानोंको कांग्रेसके स्वाधीनता संग्रामकी तरफ आकर्षित करना है तो उनके सामने समाजवादका चित्र खींचना पड़ेगा ताकि उन्हें मालूम हो सके कि स्वाधीन भारत किस प्रकार उनकी आर्थिक उन्नतिके लिए काम करेगा। (२) स्वतन्त्रता-संग्रामको वैधानिक स्तरपर जानेसे रोकना—यह संकेत स्वराज्य पार्टी मनोवृत्तिवालोंकी ओर था।

मई १९३४ में पटनामें अखिल भारतीय कांग्रेस महासमितिकी बैठक होनेवाली थी। समाजवादियोंने सोचा कि यह अवसर और स्थान जोर शोरसे पार्टीकी स्थापना करनेके

१. कॉलोनियल पीपुल्स स्ट्रगल फार लिबरेशन, पृष्ठ २२ (पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस बम्बई)

लिए अत्युत्तम होगा। कांग्रेस महासमितिकी बैठकके एक दिन पहलेके लिए (१७ मई १९३४) एक बैठक समाजवादियोंने निश्चित की और इसका निमन्त्रण अखबारोंके जरिए उन सब लोगोंको दिया गया जो समाजवादी विचारधारामें विश्वास रखते थे। पटना-समाजवादी सम्मेलनमें एक सौसे अधिक प्रतिनिधियोंने भाग लिया और इसकी अध्यक्षता आचार्य नरेन्द्रदेवने की। स्वागत-समितिके अध्यक्ष अब्दुलबारीने अपने भाषणमें भारतीय राजनीतिमें एक नया दृष्टिकोण रखा। उन्होंने कहा कि "भारतकी जनता केवल राजनीतिक स्वतन्त्रतासे सन्तुष्ट नहीं हो सकती; जरूरत है राजनीतिक स्वतंन्त्रताके साथ समाजकी आर्थिक नींवका पुनर्निर्माण करनेकी—जिस पुनर्निर्माणमें आदमी द्वारा आदमीका शोषण समाप्त हो जायगा और जिसमें भौतिक, सांसारिक उन्नतिके सब साधनोंका उपयोग सब लोग बराबरीसे कर सकेंगे।"

समाजवादियोंके सामने सबसे पहला काम कांग्रेसके विधानसभा-कार्यक्रमका विरोध करना था। इस विरोधका आरम्भ आचार्य नरेन्द्रदेवने अपने अध्यक्षपदके भाषणसे किया। उन्होंने कहा कि "अबतक यह नीति रही है कि क्रान्तिकारी परिस्थितिमें सीधी राजनीतिक कारवाई की जाती है, परन्तु जब उसके बाद प्रतिक्रियाका काल आता है तो कांग्रेसजन अपने-अपने स्वभावानुसार या तो रचनात्मक काममें लग जाते हैं या विधायक कार्यक्रम अपना लेते हैं। यह अदला-बदली हमें पसन्द नहीं है।" सम्मेलनने आचार्य नरेन्द्रदेव, जयप्रकाशनारायण, सी. सो. बनर्जी और फरीदुल हक अंसारीकी एक समिति पार्टीका विधान और कार्यक्रम बनानेके लिए नियुक्त कर दी। जयप्रकाशनारायण इस समितिके मन्त्री नियुक्त कर दिये गये।

फिर कांग्रेस अधिवेशनके अवसरपर ही समाजवादी पार्टीका पहला यथाविधि सम्मेलन अक्टूबरमें बम्बईमें हुआ। इसी बीच बीस प्रान्तोंमेंसे चौदहमें (कांग्रेस द्वारा निर्देशित भाषावार प्रान्तोंमें) पार्टीकी शाखाएँ स्थापित हो गयीं। बम्बईके सम्मेलनमें डेढ़ सौसे ऊपर प्रतिनिधियोंने भाग लिया और सम्पूर्णानन्दने इस सम्मेलनकी अध्यक्षता की। प्रतिनिधियोंमें उल्लेखनीय डा० राममनोहर लोहिया, जयप्रकाशनारायण, मोहनलाल गौतम, अच्युत पटवर्धन, मीनू मसानी, देशपाण्डे, श्रीमती कमला चट्टोपाध्याय और पुरुषोत्तमदास त्रिकमदास थे।

पुरानी परम्परा तोड़कर सम्पूर्णानन्दने अध्यक्ष-पदसे कोई भाषण नहीं किया और सीधे सम्मेलनकी कारवाई आरम्भ कर दी। निम्नलिखित कार्यक्रम स्वीकृत हुआ। (१) मजदूरों और किसानोंको स्वतन्त्रता और समाजवादकी प्राप्तिके लिए शक्तिशाली जन-आन्दोलन चलानेके निमित्त संघटित करना। (२) सब साम्राज्यवादी युद्धोंका जोरदार विरोध करना। (३) वैधानिक प्रश्नोंपर अंग्रेजी सरकारसे कोई समझौता-वार्ता न करना (४) सत्ता हथियानेके बाद भारतका विधान बनानेके लिए संविधान-सभा बुलाना। सम्मेलनने विधानके लिए कुछ मूल सिद्धान्त भी निश्चित कर दिये। ये थे (१) धनके वास्तिविक पैदा करनेवालोंके हाथमें सत्ता रहे। (२) सरकार देशकी आर्थिक उन्नतिकी योजनाएँ बनाये और उनका नियन्त्रण करे। (३) देशके मुख्य और प्रधान उद्योगों (लोहा, कपड़ा, जूट, रेलवे, खानें और जहाजी उद्योगों) बैंक, बीमा कम्पनियों, और जनहित सेवाओंका समाजीकरण कर दिया जाये। (४) वैदेशिक व्यापारके ऊपर सरकारका एकाधिकार रहे। (५)

लोगोंके आर्थिक जीवनके ऐसे क्षेत्रोंपर जिनका समाजीकरण न हुआ हो, सहकारी-संघोंका नियन्त्रण रहे। (६) बिना मुआविजा दिये राजे महाराजे, जमींदारी प्रथा और दूसरे शोषण करनेवाले खत्म कर दिये जायँ, (७) किसानोंमें भूमिका फिरसे वितरण हो। (८) सहकारी व संयुक्त (कोआपरेटिव ऐण्ड कलेक्टिव) कृषि समितियोंको प्रोत्साहन दिया जाय। (९) मजदूरों और किसानोंके सब कर्जे माफ कर दिये जायँ। (१०) प्रत्येकको नौकरीकी गारण्टी रहे। (११) 'प्रत्येकसे यथाशक्ति और प्रत्येककी आवश्यकतानुसार'का सिद्धान्त लागू किया जाय। (१२) व्यावहारिक रूपमें बालिग मताधिकार कायम किया जाय। (१३) धर्म, जाति अथवा वर्गपर आधारित विशेषताको कोई मान्यता न दी जाय। (१४) लिंगके आधारपर कोई भेदभाव न किया जाये। (१५) भारतका सार्वजनिक ऋण अस्वीकार कर दिया जाये।'[1]

चूँकि कांग्रेस एक पार्टी नहीं थी बल्कि विशेष राजनीतिक सिद्धान्तोंको माननेवालोंका एक मोर्चा थी इसलिए उसने फौरन ही उस कार्यक्रमके छठवें सूत्रसे अपनेको अलग कर लिया। १३ जून १९३४ को कार्यसमितिकी वर्धाकी बैठकमें निश्चय किया गया कि "कांग्रेस न तो सम्पत्ति जब्त करना चाहती है और न वर्गयुद्धका समर्थन करती है।" ये दोनों ही कार्यक्रम कांग्रेसकी अहिंसा नीतिके विपरीत हैं। फिर भी कार्यसमितिने इतना कहा कि "कांग्रेस व्यक्तिगत सम्पत्तिका उचित और अधिक बुद्धिमत्तासे उपयोग करनेका विचार रखती है तथा कांग्रेस, पूँजी और मजदूरोंके बीच ज्यादा अच्छे रिश्ते स्थापित करनेका भी विचार रखती है।

अब सोशलिस्टोंके सामने पहला काम कांग्रेस द्वारा भारत सरकारका १९१९ के ऐक्टके अन्तर्गत कार्यभार सम्हालनेका विरोध संघटित करना था। कार्यभार सम्हालनेके पक्षमें दक्षिण पंथी अपनी शक्ति लगा रहे थे। सोशलिस्टोंने घोषणा की कि बीस सालके अनवरत आन्दोलनके फलस्वरूप और साल-सालतक सरकारी गर्भमें रहनेके बाद भी यह ऐक्ट मांटफोर्ड-सुधारोंके मुकाबलेमें अधिक उन्नतिशील नहीं है। इस ऐक्टके संघात्मक भागमें संघात्मक विधान-सभामें राज्योंकी जनताके निर्वाचित प्रतिनिधियोंके स्थानपर भारतीय रियासतोंके राजाओंको प्रतिनिधित्व दिया गया है। राज्य परिषद्में उनको (राजाओंको) कुल सीटोंका २/५ मिला है और लोक-सभामें १/३ जब कि भारतीय रियासतोंकी आबादी भारतकी जन-संख्याकी चौथाईसे भी कम है। फिर यह आवश्यक नहीं कि संघका विधान रियासतोंमें भी लागू हो। रियासतोंका आन्तरिक शासन हमेशाकी भाँति प्रतिक्रियावादी ही रहेगा। संघके मन्त्रियोंके अधीन शासनका एक सीमित क्षेत्र रहेगा, जब कि वास्तविक सत्ता वॉइसरायके हाथमें रहेगी और वह विधान-सभाके फैसलोंको रद्द कर सकेगा।

संविधानके प्रान्तों संबंधी भागोंमें, यद्यपि वे प्रतिक्रियावादी केन्द्रकी अधीनतामें रहेंगे, वहाँकी विधान-सभाओंमें राजाओंके समान तत्व नहीं होंगे। विधान-सभा पूरे तौरपर निर्वाचित संस्था होगी यद्यपि मतदाता कुल जन-संख्याके केवल ११% होंगे। परन्तु कुछ प्रान्तोंमें स्थापित राज्य परिषदें तो बहुत ही सीमित मताधिकारके आधारपर बनी थीं। प्रत्यक्ष रूपमें लोक-प्रिय प्रतीत होने और पूरी तौरपर निर्वाचित होनेके बावजूद इन विधान-सभाओंको उत्तरदायी और अपने निर्णयोंको लागू करवानेमें समर्थ नहीं माना जा सकता था। प्रान्तोंके गवर्नर

१. कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी (हिन्दी) कलेक्शन ऑफ सम स्पीचेज ऑफ जयप्रकाश-नारायण पृष्ठ १६-१७

सर्व-शक्तिमान थे और विधान सभाओंको प्रान्तीय धन-कोषका एक सीमित भाग ही खर्च करनेका अधिकार था। गवर्नर विधान-सभासे उच्च अधिकार रखता था। वह विधान-सभाओंके निर्णयोंको रद्द कर सकता था और स्वतन्त्र रूपसे कानून बना सकता था। इस ऐक्ट द्वारा उसे विशेषाधिकार मिले थे, जिनका इस्तेमाल वह मन्त्रि-मण्डलसे बिना सलाह लिए ही कर सकता था। अगर गवर्नर "प्रान्तकी शान्ति अथवा व्यवस्था खतरेमें" समझता तो वह किसी भी दिशामें पूर्ण अधिकार अपने हाथमें ले सकता था।

इसलिए जवाहरलाल नेहरू, बहुतसे कांग्रेसजन और समाजवादी १९३५ के ऐक्टके लागू किये जानेके विरुद्ध थे।

अध्याय २५

कांग्रेस द्वारा पदग्रहण

कांग्रेसका ४९ वाँ अधिवेशन लखनऊमें अध्यक्षके पिताके नामपर बसायी गयी एक नयी बस्ती—मोतीनगरमें जवाहरलाल नेहरूकी अध्यक्षतामें हुआ। प्रान्तीय सरकारने जिला अधिकारियोंको आदेश दे रखा था कि 'लखनऊ अधिवेशनके रास्तेमें कोई अनावश्यक बाधाएँ न डाली जायँ।' अधिवेशनको शानदार सफलता मिली; ग्रामीण उद्योग-प्रदर्शनीने भी उसकी श्रीवृद्धि की।

हालाँ कि जवाहरलालका लिखित भाषण अंग्रेजीमें छपकर बँट चुका था, वे दो घण्टे-तक हिन्दीमें बोले। उनका भाषण कांग्रेस और भारतीय राजनीतिसे बढ़कर दुनियामें काम करनेवाली आर्थिक और राजनीतिक शक्तियोंके विवेचनमें लग गया। उन्होंने कहा—"दुनियामें दो प्रतिस्पर्धी राजनीतिक और आर्थिक ढाँचे तैयार हैं; ये दोनों व्यवस्थाएँ इस समय एक दूसरेके प्रति सहनशील हैं, पर उनमें मौलिक विरोध है और वे दुनियापर आधिपत्य जमानेके लिए लड़ रही हैं। एक व्यवस्था पूँजीवादकी है जो अनिवार्य रूपसे उपनिवेशी-करण द्वारा साम्राज्यशाही शक्तियोंको जन्म देता है; ये साम्राज्यवादी शक्तियाँ एक दूसरेको हड़प लेनेको उतावली रहती हैं ····दूसरी व्यवस्था सोवियत यूनियनके नये समाजवादकी है जो दिनोदिन उन्नति कर रहा है—यद्यपि बहुधा इसके लिए बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है; यहाँ पूँजीवादकी समस्याएँ नहीं हैं।"

ब्रिटिश साम्राज्यवादके सम्बन्धमें उन्होंने कहा—"यह देखकर ताज्जुब होता है कि जो उनके कब्जेमें है उसपर कब्जा जमाये रखनेके लिए हमारे शासक नीचताकी किन गहरी खाइयोंमें उतर गये हैं और यह देखकर दुःख होता है कि हमारे कुछ देशवासी अंग्रेजोंसे ज्यादा अंग्रेजी साम्राज्यवादमें दिलचस्पी रखते हुए इस घृणित काममें अंग्रेजोंसे बाजी मार ले जानेकी कोशिशमें लगे हैं; शायद यह अनिवार्य होता हो। इन लोगोंने अपना मान-सिक सन्तुलन खो दिया है; कांग्रेस और राष्ट्रीय आन्दोलनका डर इनपर इस तरह छा गया है कि अपनी इच्छाको वे अपना विचार समझ बैठते हैं, विचारको निष्कर्ष मान लेते हैं, निष्कर्षको तथ्य कहने लगते हैं और ये तथ्य गम्भीरतापूर्वक सरकारी विज्ञप्तियोंमें प्रकाशित किये जाते हैं; ब्रिटिश सरकारकी भारतमें गरिमा और प्रतिष्ठा इन्हींपर अधारित है; और जनता जेलों व नजरबन्दी कैम्पोंमें बिना अभियोग या मुकदमेके ठूँस दी जाती है।"

समाजवादी नेहरूने आगे कहा—"मुझे विश्वास है कि दुनिया और भारतकी सम-स्याओंका समाधान समाजवादमें है·······मैं चाहता हूँ कि कांग्रेस एक सोशलिस्ट संघटन बनकर दुनियाकी उन शक्तियोंका हाथ बटाये, जो नयी सभ्यता कायम करनेमें लगी हुई हैं। लेकिन मैं समझता हूँ कि आज कांग्रेसमें बहुमत सम्भवतः इतने आगे जानेको तत्पर न होगा·····यद्यपि मैं ग्रामीण उद्योग कार्यक्रममें भाग लेता हूँ, मेरा बौद्धिक दृष्टिकोण कांग्रेसके उन बहुतसे लोगोंसे भिन्न है जो औद्योगिकीकरण और समाजवादके विरोधी हैं।"

कांग्रेस मंचसे पहली बार संविधान परिषदकी माँग की गयी। नेहरूने कहा—"मैं समझता हूँ, नये प्रान्तीय विधान-मण्डलोंके चुनाव हमें लड़ने ही पड़ेंगे। हमें ठोस राजनीतिक और आर्थिक कार्य-क्रमके आधारपर चुनाव लड़ना चाहिये जिसमें संविधान परिषदकी माँग सबसे प्रमुख रहे। विधान निर्मात्री परिषद ही हमारा विधान ठीक और जनतान्त्रिक ढंगपर बनानेका उपाय है और परिषदके प्रतिनिधि ही ब्रिटिश सरकारसे संधिकी बात चलावें।"

वे १९३५ के विधानके अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल बनानेके विरुद्ध थे। "यदि हम इस विधान व कानूनके विरुद्ध हैं और उन्हें अस्वीकार करते हैं, तो क्या इसीसे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि इन्हें लागू करनेमें हमारा हाथ नहीं होना चाहिये; इनके लागू होनेका हमें भरसक विरोध करना चाहिये? इस कानूनके अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल बनाना, उसे अस्वीकार करनेका विरोध करना है और स्वयं ही अपनी निन्दा करना है।"

नागरिक स्वतन्त्रताके दमनके सम्बन्धमें अधिवेशनके मुख्य प्रस्तावसे उस समयकी स्थितिका पता लगता है। प्रस्तावमें कहा गया था—"राष्ट्रीय, मजदूर व किसान आन्दोलनोंको कुचलनेके लिए ब्रिटिश सरकारने भारतमें जिस व्यापक और तीव्र रूपसे नागरिक और बहुधा व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका दमन किया है, उसकी ओर कांग्रेस ध्यान आकृष्ट करती है—विशेषकर सैकड़ों कांग्रेस, राष्ट्रीय, मजदूर व किसान और अन्य राजनीतिक संघटनोंको गैर-कानूनी कर देनेकी ओर; सरकारने बहुतसे आश्रमों और शिक्षा-संस्थओंको अपने कब्जेमें ले लिया है और उन्हें छोड़ नहीं रही; आर्डिनेंस राज जारी है···हालाँकि विधान सभाने दो बार आर्डिनेंस व ऐसे ही दूसरे कानूनोंको अस्वीकार कर दिया है; किताबें और पत्रिकाएँ जब्त हो रही हैं; इधर कुछ वर्षोंमें कड़े प्रेस कानूनों व सेंसरके कारण ३४८ अखबार बन्द कर दिये गये हैं और अखबारोंसे माँगी गयी बड़ी बड़ी जमानतें जब्त कर ली गयी हैं, अभियोग व मुकदमा चलाये बिना ही बड़ी संख्यामें लोग पकड़कर नजरबन्द कर दिये गये हैं; सीमाप्रान्तकी जनताको अन्य प्रकारकी असंख्य असुविधाओं व परेशानियोंका सामना करना पड़ रहा है, बंगालके कई हिस्सोंमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रतातक छिन गयी है; देशमें असंख्य लोगोंके आवागमन, प्रवेश, प्रस्थान आदिपर रोक लगाकर उन्हें अपना सामान्य काम करनेसे रोक दिया गया है; बहुधा साधारण मानवीय व सहायता कार्योंपर भी रोक लग जाती है; राजनीतिक कार्यकर्त्ताओंपर 'जरायमपेशा' या 'विदेशी' कानून लागू कर दिये जाते हैं; मकानोंकी व्यापक रूपसे तलाशियाँ ली जाती हैं; भारतीयोंके विदेश जानेमें बाधा डाली जाती है; बहुतसे भारतीयोंको विदेशोंसे भारत नहीं लौटने दिया जाता और इस प्रकार उन्हें अपनी मातृभूमिसे निर्वासित रखा जाता है। १८५७ के महान् विद्रोहके बाद कभी भी इस प्रकार भारतीय जनताका दमन नहीं हुआ और कभी भी नागरिक व व्यक्तिगत आजादी ऐसे नहीं छीनी गयी जैसे कि आजकल; ब्रिटिश राजका आजकल यही साधारण रूप है······

"कांग्रेसको इसका भी खेद है कि देशी रियासतोंमें भी इसी प्रकारके दमन और स्वतन्त्रता अपहरणका चक्र चल रहा है; कई रियासतोंमें तो शेष भारतसे भी गयी बीती हालत है और किसी भी तरहकी आजादीका नामोनिशान नहीं है; कुछ रियासतोंमें कांग्रेस ग़ैरकानूनी करार दी गयी है।

"कांग्रेस भारतीय जनताका यह संकल्प प्रकट करती है कि राष्ट्रीय विकास और

क्रियाकलापको कुण्ठित करनेके प्रयत्नोंके बावजूद वह साहस और धैर्यके साथ स्थितिका सामना करती रहेगी और स्वतन्त्रता प्राप्त होनेतक आजादीकी लड़ाई लड़ती रहेगी।"

लम्बे निर्वासनके बाद सुभाषचन्द्र वसु भारत वापस लौट रहे थे, पर वे रास्तेमें ही पकड़ लिये गये। खान अब्दुल गफ्फार खाँ हजारों अन्य लोगोंके साथ अब भी जेलमें बन्द थे। "राष्ट्रीय आकांक्षाओंकी किसी प्रकार भी पूर्ति न करनेवाले और भारतीय जनताके दमन और शोषणको स्थायी व सुविधाजनक बनानेवाले" १९३५ के भारत कानून (गवर्नमेण्ट आव इण्डिया ऐक्ट) को कांग्रेसने अस्वीकार कर दिया। पर इस विधानको तोड़ देनेके लिए उसने प्रान्तीय विधान मण्डलोंके लिए चुनाव लड़नेका फैसला किया।

कांग्रेसने यह भी फैसला किया कि "जनता और कांग्रेस संघटनके बीच अधिक निकट-का सम्बन्ध स्थापित किया जाय ताकि वह कांग्रेसकी नीति निर्धारित करनेमें अधिक सक्रिय भाग ले सके।"

आसन्न चुनावके कारण कांग्रेसका अगला अधिवेशन ८॥ महीने बाद ही दिसम्बर १९३६ में फैजपुरमें कर लिया गया। सभी राजनीतिक दल चुनावमें व्यस्त थे। खान अब्दुल गफ्फार खाँ छूट गये थे और फैजपुरमें मौजूद थे। जवाहरलाल नेहरू फिर अध्यक्ष चुने गये। नेहरूने साफ-साफ यह घोषणा की—"ब्रिटिश साम्राज्यशाहीके शासन-यन्त्रसे सहयोग करनेके लिए हम विधान मण्डलोंमें नहीं जा रहे, बल्कि उस अधिनियमका विरोध करने और उस तन्त्रका अन्त कर देनेके लिए जा रहे हैं। हम विधान मण्डलोंमें वैधानिकताका मार्ग पकड़ने या थोथे राजनीतिक सुधारोंका अनुसरण करने नहीं जा रहे।" उन्होंने विधान निर्मात्री परिषदकी माँग दोहरायी (जिसे कांग्रेस पहले ही जाब्तेसे स्वीकार कर चुकी थी) और कहा कि इसके बाद "हमारा सबसे महत्वपूर्ण काम (भारत) कानूनका संघीय ढाँचा तोड़ना होगा। पूरा कानून पूरी तरह तो रद्दी है ही, पर उसमें संघसे बदतर कुछ भी नहीं है।"

चुनाव आन्दोलन जोरपर था और, जैसा कि नेहरूने कहा, कांग्रेसके विरुद्ध नौकर-शाहीका हस्तक्षेप सक्रिय था "इसके अतिरिक्त कि अपढ़ मतदाताओंके मतदानको गुप्त न रखनेकी कोशिशें जान-बूझकर हो रही थीं। संयुक्त प्रान्त इस कामके लिए खास तौरपर छाँटा गया है और दूसरे प्रान्तोंमें प्रयुक्त रंगीन बक्से यहाँ इस्तेमाल नहीं हो रहे हैं।"

फैजपुर अधिवेशनमें तय हुआ था कि नया विधान लागू होनेके दिन याने १ अप्रैल १९३७ को देशव्यापी हड़ताल की जाय। अधिवेशन खत्म होने पर नेहरू व उनकी कार्य-समितिने विभिन्न प्रान्तोंका दौरा शुरू किया। नेहरूजी १२-१२ और १४-१४ घण्टे सफर करते और सभाओंमें भाषण करते। वे साधारणतः एक दिनमें आधी दर्जन बड़ी सभाओं और एक दर्जन छोटी, सड़कके किनारे हुई, सभाओंमें बोलते। हर हफ्ते वे औसतन डेढ़ हजार मील चलते। अनुमान है कि अपने दौरेमें उन्होंने कमसे कम एक करोड़ व्यक्तियों-को सम्बोधित किया। पूरा देश कांग्रेसके प्रचारसे भर गया।

कांग्रेसके खिलाफ भड़कीले जनप्रिय नाम ले-लेकर कुछ गौणभी पार्टियाँ चुनाव लड़ रही थीं, जैसे कि प्रजापार्टी, जस्टिस (न्याय) पार्टी, सेल्फरिस्पेक्ट (आत्म-सम्मान) पार्टी, राष्ट्रीय खेतिहर पार्टी, पौपुलर (जनप्रिय) पार्टी, डेमोक्रेटिक (जनतान्त्रिक) पार्टी, यूनियनिस्ट पार्टी आदि।

लगभग हर प्रान्तमें कुछ न कुछ सक्रिय कांग्रेसी उम्मीदवार चुनाव लड़नेसे वंचित रह गये क्योंकि सत्याग्रह आन्दोलनमें वे जेल गये थे और कानूनन यह एक अयोग्यता थी। बम्बई, मद्रास, संयुक्त प्रान्त, बिहार, मध्यप्रान्त व उड़ीसामें कांग्रेसका इतना बहुमत चुना गया कि अन्य सब पार्टियोंके कुल सदस्योंकी संख्या भी उससे कम थी। बंगाल, आसाम व सीमा प्रान्तमें कांग्रेस सबसे बड़े दलके रूपमें विधान-मण्डलोंमें पहुँची। मुसलिम बहुमतके सिन्ध व पंजाबके सूबोंमें कांग्रेस अल्पमतमें रही।

अब कांग्रेसके सामने सवाल यह था कि जहाँ उसका बहुमत है, वहाँ वह अपने मंत्रि-मण्डल बनाये या न बनाये। यह सवाल पहले भी पेश हो चुका था, दक्षिणपंथी मन्त्रिमण्डल बनानेके पक्षमें थे, सोशलिस्ट आदि वामपक्षी विरुद्ध और दोनोंके बीच बड़ी खाई थी। १७ व १८ मार्चको दिल्लीमें हुई कांग्रेस महासमितिकी बैठकमें गान्धीजीने समझौतेका रास्ता निकाला और कुछ शर्तोंपर मन्त्रि-मण्डल बनानेका फैसला हुआ। समझौतेके अनुसार मन्त्रि-मण्डल तबतक नहीं बनने थे जबतक कि "कांग्रेस दलके नेता खुलेआम यह न कह सकें कि मन्त्रि-मण्डलकी वैधानिक कारग्वाईके सम्बन्धमें गवर्नर हस्तक्षेपका अपना अधिकार इस्तेमाल नहीं करेंगे।" इस समझौतेपर भी लोग एकमत नहीं थे और मत लेने पर मन्त्रि-मण्डल बनानेका प्रस्ताव १२७ वोटोंसे (७० विरोधमें) स्वीकार हुआ।

महासमितिकी बैठकके बाद विधान-मण्डलोंके कांग्रेसी सदस्योंका सम्मेलन हुआ जिसमें कांग्रेस अध्यक्षने उन्हें शपथ दिलायी कि वे कांग्रेस अनुशासनमें काम करेंगे।

जिस प्रकारका आश्वासन दिल्ली-प्रस्तावमें माँगा गया था, "सहायता, सहानुभूति व सहयोग"की बातोंके बावजूद गवर्नर वह आश्वासन देनेमें आनाकानी कर रहे थे। बल्कि, वे अल्प-संख्यक दलोंके अन्तरिम मन्त्रि-मण्डल बनाने लगे। लेकिन यह स्थिति भली नहीं थी। विधान-मण्डलोंकी बैठकें इस डरसे नहीं बुलायी गयीं कि कांग्रेसी बहुमत मन्त्रि-मण्डलोंके खिलाफ अविश्वासका प्रस्ताव पास कर देंगे। अन्ततः, वाइसरायने २७ जून १९३७ को 'भारतके नाम सन्देश' दिया जिसमें उन्होंने कहा कि विधान चलानेके लिए कांग्रेस द्वारा गवर्नरोंसे माँगे गये आश्वासन आवश्यक नहीं हैं। लेकिन उन्होंने खुद यह विश्वास दिलाया कि 'गवर्नर न सिर्फ मन्त्रि-मण्डलोंसे स्वयं झगड़े मोल न लेंगे, बल्कि झगड़ा होनेपर उन्हें निपटानेमें वे कोई कसर न छोड़ेंगे—मन्त्रि-मण्डल चाहे जिस दलके हों।" कांग्रेस कार्य-समितिकी बैठक जुलाईमें वर्धामें हुई और वाइसरायके सन्देशपर विचारके बाद कहा गया कि यद्यपि यह दिल्ली माँगकी पूर्ति नहीं करता, फिर भी कांग्रेसकी माँग पूरी करनेकी इच्छा प्रकट करता ही है। कार्यसमितिने विभिन्न प्रान्तोंमें कांग्रेसको आमन्त्रण मिलनेपर मन्त्रि-मण्डल बनानेकी छूट दे दी। शीघ्र ही छः प्रान्तोंमें कांग्रेस मन्त्रि-मण्डल बन गये। थोड़े दिनों बाद ही सीमाप्रान्तमें भी कांग्रेस मन्त्रि-मण्डल बन गया। वहाँ ५० में कुल १९ कांग्रेसी सदस्य चुने गये थे, पर, आठ दूसरे सदस्योंके कांग्रेसमें शामिल हो जानेसे मन्त्रि-मण्डल बनना आसान हो गया। कांग्रेस मन्त्रि-मण्डल बननेके फौरन बाद कांग्रेसी प्रान्तोंकी विधान-सभाओंने निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया—

"इस विधान-सभाकी रायमें १९३५ का 'भारत सरकार' कानून राष्ट्रीय भावनाओंका बिलकुल प्रतिनिधित्व नहीं करता और भारतीय जनताकी दासता कायम रखनेके लिए ही बने होने के फलस्वरूप पूर्ण-रूपेण असन्तोषजनक है। यह विधान-सभा माँग करती है कि

यह कानून रद्द कर दिया जाय और इसकी जगह वयस्क मताधिकारके आधारपर बनी विधान निर्मात्री परिषद् द्वारा बना वह विधान प्रतिष्ठापित हो, जिसमें भारतीय जनताको अपनी इच्छा और आवश्यकताके अनुरूप विकास करनेका पूरा अवसर मिले।"

कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलोंने अपने कार्यकालमें सबसे पहला काम यह किया कि जहाँतक सम्भव था नागरिक स्वतन्त्रता पुनः स्थापित की गयी। बड़ी संख्यामें राजनीतिक बन्दी मुक्त किये गये, कहीं-कहीं गवर्नरोंके रुकावट डालनेवाले रवैयेपर इस्तीफेकी धमकीसे काबू पाया गया। संयुक्त प्रान्तमें काकोरीकाण्ड और मद्रासमें मोपला-विद्रोहके बन्दी रिहा कर दिये गये। बिहारमें केवल वे ही बन्दी बचे जो अण्डमानसे वापस आये थे। राजनीतिक कार्यकर्त्ताओंपर लगे प्रतिबन्ध हटा लिये गये। अखबारोंसे ली गयी जमानतें वापस कर दी गयीं। "सन्देह-जनक" अखबारों व व्यक्तियोंकी खुफिया फिहरिस्तें खत्म कर दी गयीं। राजनीतिक संघटनों और पुस्तकोंपर लगी पाबन्दियाँ हट गयीं। राजनीतिक फिल्मोंके प्रदर्शनकी अनुमति मिल गयी।

किन्तु केन्द्रीय सरकार व गैरकांग्रेसी प्रान्तीय सरकारों और देशी महाराजाओंके शासन-क्षेत्रोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं आया था। फजलुलहककी प्रजापार्टीके शासनमें बंगालमें—विशेषकर चटगाँव व मिदनापुर जैसी जगहोंके शासनमें कोई अन्तर नहीं आया था। करफ्यू, नवयुवकोंपर परिचयपत्र रखनेकी बाध्यता (अकेले चटगाँवमें २५००० नवयुवकोंको ये पत्र रखने पड़ते थे), मध्यमवर्गीय नवयुवकोंके साइकिल चढ़नेपर रोक, मिदनापुरके बहुतसे प्रमुख नागरिकोंके जिलेमें घुसनेपर रोक, मिदनापुर जिलेमें कांग्रेस व अन्य राष्ट्रीय संघटनोंके गैरकानूनी होनेकी घोषणा और बहुतसे लोगोंकी नजरबन्दी अब भी बदस्तूर जारी थी। केन्द्रीय एसेम्बलीमें सरकार द्वारा दिये गये एक उत्तरके अनुसार अकेले चटगाँव जिलेमें २१००० नवयुवकों व नवयुवतियोंपर एक न एक प्रकारकी रोक लगी हुई थी; २०८ संघटन व संस्थाएँ गैरकानूनी थीं; १२ अगस्ततक संशोधित जाब्ता फौजदारी कानूनके अन्तर्गत बंगाल सरकार २४७० प्रतिबन्धात्मक आदेश जारी कर चुकी थी। गान्धीजीके बीचमें पड़ने व बंगालके प्रधान मन्त्री व गवर्नरसे मिलनेपर १९३७ के अन्तमें १५०० नजरबन्द कुछ शर्तोंपर छोड़े गये। पर तब भी ४५० ऐसे बन्दी जेलमें बच गये थे जिनकी रिहाईके पहले उनके मामलोंपर विचार होना था।

पंजाबकी यूनियनिस्ट पार्टीके मन्त्रिमण्डलके कार्यकालमें राजद्रोहके जितने मुकदमें चले, उतने कहीं और नहीं चले थे। मुकदमें, शहर-निकाला, तलाशियाँ, प्रतिबन्धात्मक आदेश नित्यप्रतिकी घटनाएँ थीं।

रियासतोंमें राजनीतिक चेतनाका नृशंसतापूर्वक दमन होता था। मैसूरमें, जहाँ सरकार जनताकी आर्थिक भलाईके लिए आम तौरपर सचेष्ट रहती थी, कांग्रेसका झण्डा फहरानेपर रोक थी, इसे महाराजाकी सार्वभौम सत्ताके लिए अपमान-जनक माना जाता था। सभाओं, जुलूसों व सार्वजनिक भाषणोंपर रोक थी। अन्य रियासतों—विशेष कर जोधपुर व पटियालाका भी यही हाल था।

अण्डमानके कालेपानीमें सड़ रहे राजनीतिक बन्दियोंपर भी दृष्टिपात कर लिया जाय। २१ जुलाई १९३७ को भारत सरकारने बताया कि वहाँ २२५ राजनीतिक बन्दी २४ जुलाईसे भूख-हड़ताल कर रहे थे। बन्दियोंका जीवन घोर कष्टमय था और उन्होंने यह कदम एक-

दम निराश होकर ही उठाया था। वहाँ पहले भी अनशन हुए थे और तीन कैदी इनमें जानसे हाथ धो चुके थे। इस बार इतनी बड़ी संख्यामें लोग प्राणोंकी बाजी लगा चुके थे। भारतीय नेता परेशान थे, भारत सरकार उदासीन थी। कालेपानीके अनशनकारियोंकी सहानुभूतिमें भारतीय जेलों और नजरबन्दी कैम्पोंमें भी भूख-हड़तालें हुईं। ९ अगस्तको देशभरमें अण्डमान दिवस मनाया गया जिसमें राष्ट्रने कालेपानीकी हालतपर अपना क्रोध प्रकट किया। सरकारने इसे अपनी प्रतिष्ठाका प्रश्न बना लिया और अनशनकारियोंकी भूख हड़ताल खत्म हुए बिना उनकी माँगोंपर विचार करनेसे इनकार कर दिया। अन्ततः गान्धीजीका हस्तक्षेप कारगर हुआ। भारत सरकारा द्वारा गान्धीजीने अनशनकारियोंसे सम्पर्क स्थापित किया और उन्हें अनशन खत्म करनेपर राजी कर लिया। कालेपानीके कैदियोंने गान्धीजीको जो तार भेजा उसमें उन्होंने लिखा कि हममेंसे जो भी पहले आतंकवादमें विश्वास करते थे, वे भी अब उसमें निष्ठा नहीं रखते और उसकी राजनीतिक नीति या अस्त्रके रूपमें उपादेयतामें विश्वास खो चुके हैं। उन्होंने घोषणा की कि आतंकवादसे देशहित आगे नहीं बढ़ता, बल्कि पीछे हटता है। १९३८ के आरम्भतक सभी राजनीतिक कैदी अण्डमानसे अपने-अपने प्रान्तोंको वापस भेजे जा चुके थे।

लेकिन १९३७ के अन्तके निकट संयुक्त-प्रान्त व बिहारके गवर्नरोंने अपना रुख बदल दिया और हिंसाके अभियोगमें दण्डित राजनीतिक बन्दियोंकी रिहाई रोक दी। संयुक्तप्रान्तके गवर्नरको डर था कि काकोरी-काण्डके बन्दियोंके सार्वजनिक स्वागतसे शान्तिभंगका खतरा है। कांग्रेसी मंत्रियोंने गवर्नरोंको समझानेकी कोशिश की कि अभीतक चलनेवाली नीतिमें बाधा डालना ठीक न होगा। पर गवर्नर अड़े रहे। इसपर कांग्रेसने दोनों प्रान्तोंके मन्त्रिमण्डलोंको इस्तीफा देनेकी सलाह दी। पर तब गवर्नर झुक गये और इस्तीफे वापस ले लिये गये। प्रान्तोंके आय-व्ययपर मन्त्रिमण्डलका नियन्त्रण नहीं था और वे जनताकी आर्थिक दशामें सुधार नहीं कर सके। जैसा कि पट्टाभि सीतारमैयाने लिखा—"जनता आश्चर्यसे पूछने लगी कि यह जमींदार किस तरह अब भी कायम हैं, पुलिसके जुल्म क्यों बदस्तूर जारी हैं; किसानोंके कष्ट और दुख अब भी क्यों दूर नहीं हो पाते, हिंसाके अभियोगोंमें दण्डित लोग अब भी क्यों जेलोंमें सड़ रहे हैं।"[१]

दूसरी ओर कांग्रेसके आम सदस्योंमें उत्साह-पतनके लक्षण प्रकट हो रहे थे। पट्टाभिके ही शब्दोंमें—"पता चला कि ऐसे भी उदाहरण मौजूद हैं, जहाँ कांग्रेस कमेटियाँ अफसरों व सरकारी कर्मचारियोंपर असर डालकर प्रशासनमें हस्तक्षेप करती हैं।"[२] कांग्रेस महासमितिने एक प्रस्तावमें कहा—"... नागरिक स्वतन्त्रताके नामपर लोग—कुछ कांग्रेसजन भी—कत्ल, आगजनी, लूटपाट और हिंसात्मक वर्गयुद्धका प्रचार करते पाये गये हैं, बहुतसे अखबार झूठ और हिंसाका प्रचार कर रहे हैं, हिंसाके लिए उभार रहे हैं और प्रत्यक्ष झूठको चला रहे हैं। इसलिए नागरिक स्वतन्त्रताकी अपनी नीति कायम रखते हुए भी और अपनी परम्पराओंकी प्रतिष्ठा रखते हुए भी कांग्रेस अपनी सरकारोंके उन कामोंका समर्थन करेगी जो वे जान व मालकी रक्षाके लिए करें।" मध्य प्रान्तमें एक मन्त्रीने सरकारकी क्षमाशक्तिका प्रयोग कर एक धनिकको कारागारसे मुक्त करा दिया यद्यपि वह धनिक बलात्कारके अभियोग-

१. 'हिस्टरी आव कांग्रेस' लेखक पट्टाभि सीतारमैया, भाग दो पृष्ठ ९२

२. वही पुस्तक, भाग दो पृष्ठ ९२

में दण्डित हुआ था। कांग्रेसके उच्चाधिकारियोंने इसको गम्भीर गलती माना और उस मन्त्रीको मन्त्रिपदसे इस्तीफा देनेको बाध्य किया। मध्यप्रान्तमें ही एक और गम्भीर संकट आया। अपने मन्त्रिमण्डलके सदस्य बदलनेके लिए वहाँके प्रधान मन्त्री एन. बी. खरेने अन्य मन्त्रियों या कांग्रेस कार्यसमितिको बताये बिना, गवर्नरको मन्त्रिमण्डलका इस्तीफा सौंप दिया। इस अनुशासनहीनताके लिए खरेको कांग्रेस दलका नेतृत्व छोड़ना पड़ा।

१९३८ में सुभाषचन्द्र वसुकी अध्यक्षतामें हरिपुरामें कांग्रेस अधिवेशन हुआ। यह अधिवेशन अधिकांशतः शान्तिका अधिवेशन ही था और इसमें रस्मी बातोंपर ही विचार हुआ।

मार्च १९३८ में कांग्रेसका त्रिपुरी अधिवेशन अध्यक्ष सुभाषचन्द्र वसुके प्रति अविश्वासके प्रस्तावके एक नये वातावरणमें शुरू हुआ। यद्यपि अविश्वासकी बात खुलकर नहीं आयी, वहाँकी घटनाएँ इसी ओर इंगित कर रही थीं। स्थितिकी विलक्षणताको अध्यक्षके तीव्र ज्वरके कारण अध्यक्षता न कर सकनेसे योग ही मिला। वसु गान्धीजीके नामजद उम्मीदवार पट्टाभि सीतारमैयाको ९५ वोटोंसे हराकर दूसरी बार कुछ असाधारण-सी परिस्थितिमें अध्यक्ष चुने गये थे। चुनावके निष्पक्ष न होनेके सम्बन्धमें भी कुछ अफवाहें फैल रही थीं। गान्धीजीने कहा—"पट्टाभिकी हार मेरी हार है।" और उनके इस वक्तव्यके ये अर्थ लगाये जाने लगे कि यह सत्य, अहिंसा और गान्धीजीके नेतृत्वकी हार है। "अध्यक्षके चुनावके पहले और बादके विवादोंने वातावरणको कटु और जनताको भ्रान्त कर दिया था। कांग्रेसजनोंमें मतभेद हो गया था। कांग्रेसकी मजबूती और एकताको छिन्न-भिन्न कर देनेका खतरा परस्पर विरोधी दलोंमें परिलक्षित होने लगा।" त्रिपुरी अधिवेशनके ठीक पहले फरवरीमें कांग्रेस कार्यसमितिके १३ सदस्योंके इस्तीफेसे स्थिति और भी जटिल हो गयी। कार्यसमितिमें अब अध्यक्ष और उनके भाई शरत्चन्द्र वसुके अलावा और कोई नहीं बचा था। इस कारवाईका सीधा अर्थ अध्यक्षमें अविश्वास था। नये अधिवेशनके लिए पुरानी कार्यसमिति प्रस्ताव तैयार करती थी। पर अब कार्यसमितिके न रहनेसे गत्यवरोध पैदा हो गया।

बाहरसे त्रिपुरी अधिवेशनकी तड़क-भड़कमें कोई अन्तर नहीं आया था। अध्यक्षका जुलूस ५२ हाथियों द्वारा खींचे जानेवाले रथके साथ निकलनेवाला था, पर उनकी अस्वस्थताके कारण उनके चित्रका जुलूस निकाला गया।

अन्य कारणोंके अलावा, कांग्रेसके जाने-माने नेताओं और सुभाषचन्द्र वसुके बीच बड़ा मतभेद यह था कि वसु अंग्रेज सरकारको पूर्ण-स्वराज्यकी राष्ट्रीय माँग माननेके लिए छः महीनेका अल्टिमेटम देनेके पक्षमें थे और इस अवधिकी समाप्ति पर सार्वजनिक सविनय आज्ञा भंग आन्दोलन शुरू करना चाहते थे। वसु चाहते थे कि अंग्रेज सरकार द्वारा भारतपर संघ व्यवस्था लादनेके पहले आन्दोलन छेड़ दिया जाय। गान्धीजीके अनुसार अभी आन्दोलनका समय नहीं आया था। वसु और गान्धीजीके अनुयायियोंके बीच गहरी सैद्धान्तिक खाई थी। यह मतभेद १६० प्रतिनिधियोंके हस्ताक्षरोंसे गोविन्दवल्लभ पन्त द्वारा अध्यक्षको दिये गये एक प्रस्तावमें प्रकट हुआ। यह प्रस्ताव कांग्रेस महासमितिकी बैठकमें पेश होनेको था, पर अध्यक्षने इसे अस्वीकार कर दिया। लेकिन विषय-समितिकी बैठकमें उन्होंने इसे पेश करनेकी अनुमति दे दी। लम्बे विचार-विनिमयके बाद यह प्रस्ताव भारी बहुमतसे विषय समिति और बादमें खुले अधिवेशनमें स्वीकृत हो गया। बीमारीके कारण वसु खुले अधिवेशनमें

नहीं आ सके थे और अबुलकलाम आजादने कार्यसंचालन किया। अध्यक्षपदके चुनावमें सोशलिस्टोंने पट्टाभिके खिलाफ बसुका समर्थन किया था; पर पन्त प्रस्तावपर वे तटस्थ रहे। प्रस्ताव इस प्रकार था—"पिछले वर्षोंमें महात्मा गान्धीके नेतृत्वमें जिन मूल-भूत सिद्धान्तोंने कांग्रेस कार्यक्रम नियन्त्रित किया है, उनमें यह कांग्रेस अपना पक्का विश्वास प्रकट करती है और उसका ध्रुव मत है कि इन नीति-सिद्धान्तोंमें कोई परिवर्तन आवश्यक नहीं है, इन्हीं सिद्धान्तोंपर कांग्रेसका भविष्यका कार्यक्रम भी आधारित होना चाहिये।" गत वर्षकी कार्य-समितिमें विश्वास प्रकट करते हुए प्रस्तावमें कहा गया था—"इस एक वर्षमें जो संकट उत्पन्न हो सकता है, उसे ध्यानमें रखकर और यह जानते हुए कि केवल महात्मा गान्धी ही देश व कांग्रेसको इस संकटमें विजयपथपर ले जा सकते हैं, कांग्रेस यह अनिवार्य मानती है कि उसकी कार्यसमिति पूर्णरूपेण गान्धीजीकी विश्वासभाजन हो और इसलिए अध्यक्षसे अनुरोध करती है कि वे गान्धीजीके इच्छानुसार अपनी कार्यसमितिका निर्माण करें।"

लेकिन गान्धीजीने कार्यसमितिके सदस्य छाँटनेसे यह कहकर इनकार कर दिया कि यह अध्यक्षपर दवाव डालनेके बराबर होगा। उन्होंने अध्यक्षको अपनी कार्य-समिति चुननेके लिए स्वतन्त्र कर दिया। बसुका कहना था कि वर्तमान परिस्थितिमें एक ही मतके सभी सदस्योंवाली कार्यसमितिसे काम न चलेगा। गान्धीजीके सुझावपर उन्होंने पुरानी कार्यसमितिके सदस्योंकी एक बैठक बुलायी। पटेल इस बैठकमें शामिल नहीं हुए और शेष सदस्योंसे बातचीतसे मसला हल नहीं हुआ। अब अध्यक्षके सामने दो ही रास्ते थे—या तो वे एकमत वाली कार्यसमिति बनायें या इस्तीफा दे दें। उन्होंने इस्तीफा दे दिया। कांग्रेस महासमितिने राजेन्द्रप्रसादको कार्यवाहक अध्यक्ष चुन लिया।

मईके आरम्भमें सुभाषचन्द्र बसुने कांग्रेसमें एक फारवर्ड ब्लाक (अग्रगामी दल) की स्थापना की। दलका कार्यक्रम त्रिसूत्री था—वामपक्षीय सदस्योंका संघटन, कांग्रेसका बहुमत अपने साथ करना और आजादीके लिए राष्ट्रीय आन्दोलनकी शुरुआत करना। जूनमें वामपक्षी संघटन समिति बनी जिसमें फारवर्ड ब्लाकके अतिरिक्त सोशलिस्ट, कम्यूनिस्ट पार्टी (नेशनल फ्रण्ट), रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी (एम. एन. रायका दल), मजदूर संघटन व किसान-सभाके लोग शामिल थे। समिति बसुके नेतृत्वमें काम करनेको थी। पहले अखिल भारतीय फारवर्ड ब्लाक सम्मेलनमें इन सभी दलोंके नेताओंने भाग लिया और पूर्ण राजनीतिक स्वतन्त्रता व स्वतन्त्र सोशलिस्ट सरकारकी स्थापनाका लक्ष्य स्वीकार किया। ब्रिटिश भारत व देशी रियासतोंमें एक साथ साम्राज्यविरोधी देशव्यापी आन्दोलन छेड़नेकी तैयारीकानारा दिया गया।

जूनमें ही कांग्रेस महासमितिकी एक बैठक बम्बईमें हुई और उसमें एक प्रस्ताव द्वारा कांग्रेसजनोंको आदेश दिया गया कि वे प्रान्तीय कमेटियोंकी अनुमति बिना किसी भी प्रकारके सत्याग्रहका संघटन न करें और न उसमें भाग लें। बसु व सोशलिस्टोंने इस प्रस्तावका विरोध किया पर वह भारी बहुमतसे स्वीकृत हो गया। प्रस्ताव पास होनेके बाद भी बसुने इसकी खुलेआम आलोचना की और ९ जुलाईको इस प्रस्तावके विरुद्ध आन्दोलन शुरू करनेके लिए देशव्यापी दिवस मनानेकी अपील निकाली। उस दिन कुछ कांग्रेसजनों और बहुतसे गैरकांग्रेसी लोगोंके कहीं सफल और कहीं असफल प्रदर्शन हुए व सभाएँ हुईं। बंगाल कांग्रेस कार्यकारिणीने स्वयं प्रदर्शनोंका संघटन किया। बसु बंगाल कांग्रेसके अध्यक्ष

थे। कांग्रेस कार्यसमितिकी अगली बैठक अगस्तमें वर्धामें हुई। उसने वसुको अनुशासन भंग करनेके अभियोगमें बंगाल कांग्रेसके अध्यक्षपदसे मुअत्तल कर दिया और तीन वर्षतक किसी निर्वाचनमें भाग न ले सकनेकी पाबन्दी उनपर लगा दी।

रचनात्मक कार्योंके क्षेत्रमें वसुने राष्ट्रीय योजना समितिकी स्थापना जवाहरलाल नेहरूकी अध्यक्षतामें की थी। राष्ट्रीय साधनोंके अध्ययन और उनसे देशको समृद्धिशाली बनानेके उपायोंपर विचार करनेके लिए बनी इस समितिने राष्ट्रीय जीवनके विभिन्न पहलुओं-पर विचार करनेके लिए २७ उपसमितियाँ बनायीं। ये उपसमितियाँ कृषि, उद्योग, यातायात, व्यवसाय व वित्त, जनहित, शिक्षा, सामाजिक स्थितिके विवेचन आदि विषयोंपर आँकड़े-और तथ्य-संग्रहमें लगीं।

सितम्बर १९३९ में यूरोपमें द्वितीय विश्व-व्यापी युद्धका सूत्रपात होनेसे भारतीय राजनीतिमें भी आमूल परिवर्तन होने लगे। युद्धकी घोषणाके कुछ घण्टों बाद ही ३ सितम्बरको वाइसरायने जन-प्रतिनिधियोंकी राय लिये बिना ही भारतके इस युद्धमें शामिल होनेकी घोषणा कर दी। ब्रिटिश पार्लमेण्टमें ११ मिनटके भीतर भारत सरकार कानून संशोधन बिल पास कर दिया गया जिसके द्वारा वाइसरायको यह अधिकार मिल गया कि वे विधान-की प्रान्तीय स्वराज्यकी धाराओंको भी खत्म कर सकते थे। उसी दिन डिफेंस आव इण्डिया (भारत रक्षा) आर्डिनेंस जारी कर दिया गया जिससे बहुतसे नागरिक अधिकारोंका अपहरण हो गया। वाइसरायने गान्धीजीको दिल्ली बुलाया और युद्ध छिड़नेके ४८ घण्टेके भीतर ही उन दोनोंका गुप्त परामर्श शुरू हो गया। इस बातचीतकी प्रतिक्रिया बताते हुए गान्धीजीने कहा—"वाइसराय भवनसे मैं खाली हाथ लौटा हूँ और गुप्त या प्रकट किसी भी प्रकारका कोई समझौता नहीं हुआ है।" गान्धीजीने एक वक्तव्य जारी कर यह भी कहा कि मैं वाइसरायसे निजी रूपसे मिला था और यदि कोई समझौता होगा तो वह सरकार और कांग्रेसके बीच होगा। लेकिन उन्होंने वाइसरायसे कहा—"मेरी व्यक्तिगत सहानुभूति मानवीय दृष्टिकोणसे इंगलैण्ड और फ्रांसके साथ है।"

८ सितम्बरको कांग्रेस कार्यसमितिकी बैठक वर्धामें हुई और उसमें "युद्ध और भारत" के प्रश्नपर विचार हुआ। वसु भी इस बैठकमें आमन्त्रित थे। पाँच दिनतक विचार-विनिमयके बाद, कार्यसमितिने एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसमें कहा गया था—"ब्रिटेन और फ्रांसकी सरकारोंने घोषणा की है कि वे आक्रमणका अन्त करनेके लिए और जनतन्त्र व स्वतन्त्रताके लिए लड़ रही हैं। १९१४-१८ के युद्धमें भी युद्धके घोषित उद्देश्य जनतन्त्र, छोटे राष्ट्रोंकी स्वतन्त्रता और आत्म-निर्णयके अधिकार ही थे; किन्तु इन उद्देश्योंकी पवित्र घोषणा करनेवाली सरकारें ही साम्राज्य-विस्तारकी भावनासे उत्तमान (तुर्क) साम्राज्यके हिस्से-बाँटके लिए गुप्त सन्धिमें लीन हुईं। यदि यह युद्ध यथास्थिति कायम रखनेके लिए—साम्राज्यवादी अधिकार, उपनिवेश, स्थिर स्वार्थ व सुविधाएँ आदि कायम रखनेके लिए—है, तो भारतीयोंको इससे कुछ भी लेना-देना नहीं है। किन्तु यदि जनतन्त्र और जनतन्त्रके आधारपर विश्व-व्यवस्था इस युद्धका उद्देश्य है, तो भारतको इसमें गहरी दिलचस्पी है।"

इसलिए कांग्रेस कार्यसमितिने ब्रिटिश सरकारसे साफ और स्पष्ट शब्दोंमें घोषणा करने-को कहा कि उसके इस युद्धके उद्देश्य क्या हैं, वे उद्देश्य भारतमें किस प्रकार लागू होंगे और

'अभी वर्तमानमें' किस प्रकार लागू होंगे। समितिने इस बातपर जोर दिया कि इन उद्देश्यों-को भारतमें अधिकतम व्यापक रूपमें और फौरन लागू किया जाय, क्योंकि सिर्फ इसीसे भारतवासियोंको भरोसा हो सकेगा कि यह घोषणा कार्यान्वित होनेके लिए ही की जा रही है। भारतीय समस्याके पूर्ण व अन्तिम समाधानके लिए कांग्रेस कार्यसमितिने आत्म-निर्णयका अधिकार माँगा, जिसका आशय हुआ कि भारतीयों द्वारा चुनी गयी विधान निर्मात्री परिषद् ही भारतका संविधान तैयार करे। केवल नरमदलवाले ही युद्धको तैयारीमें सरकारके साथ विना शर्त पूर्ण सहयोग करनेके पक्षमें थे ताकि "हमारे घर-द्वारकी रक्षा हो सके।"

ज्यादासे ज्यादा समय प्राप्त करने और कांग्रेस द्वारा उठाये गये सवालोंको टालनेके लिए वाइसरायने विभिन्न राजनीतिक दलों और अन्य हितोंके कथित प्रतिनिधियोंसे भेंट शुरू कर दी और ५२ प्रतिनिधियोंसे मिलनेके बाद (जिनमें गान्धीजी, पटेल, नेहरू, जिना, नरमदलीय नेता, सिख और परिगणित जातियोंके नेता भी थे) १८ अक्तूबरको घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार १९३५ के भारतसरकार कानूनमें वे सुधार करदेगी जो कि "वांछित हो"; अभी मैं विभिन्न बड़े राजनीतिक दलोंके प्रतिनिधियों और देशी रियासतोंके शासकोंकी एक सलाहकार समिति बनाऊँगा जो युद्धकी तैयारियोंसे सम्बन्धित होगी। इस घोषणाकेप्रतिक्रिया-स्वरूप गान्धीजीने कहा—'कांग्रेसने रोटी माँगी थी पर उसे मिला पत्थर'। कांग्रेस कार्य-समितिने कहा—हम "ब्रिटेनको कोई सहायता नहीं दे सकते, क्योंकि इसका अर्थ ब्रिटेनकी उस साम्राज्यवादी नीतिका समर्थन होगा जिसे मिटानेके लिए कांग्रेस सदैव प्रयत्नशील रही है।" समितिने इस सहायता न देनेकी दिशामें पहला कदम कांग्रेस मन्त्रिमण्डलोंसे इस्तीफा देनेके लिए कहकर उठाया। दिसम्बर १९३९ तक सभी कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल इस्तीफा दे चुके थे।

अध्याय २६

भारतीय रियासतोंमें आन्दोलन

ब्रिटिश भारतके अर्द्ध शताब्दी-व्याप्त राजनीतिक आन्दोलन और चेतनाका भारतीय रियासतोंपर कोई प्रभाव न पड़ा। पाँच सौ बासठ देशी रियासतोंपर राजा-महाराजाओं और सामन्तवादी जागीरदारोंका शासन था। ये रियासतें पूरे देशमें बिखरी हुई थीं। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसने अपना काम पूरे तरीकेसे ब्रिटिश भारततक ही सीमित रखा था और सावधानीसे रियासती जनताके सम्पर्कसे अपने आपको बचा रखा था। परन्तु १९२१ के असहयोग आन्दोलनने कुछ रियासतोंमें पहली राजनीतिक हिलोर पैदा कर दी; और वहाँके लोग कांग्रेसके समान उद्देश्योंपर अपने-आपको संघटित करनेकी सोचते रहे। रियासतोंकी जनता चाहती थी कि उनके संघटन कांग्रेसमें शामिल हो जायँ, परन्तु कांग्रेसके सामने व्यावहारिक कठिनाई थी। ब्रिटिश भारतमें तो केवल एक सरकारसे लड़ना था, परन्तु भिन्न-भिन्न रियासतोंके सैकड़ों राजशासकोंके विरुद्ध लड़ाई लेना एक असम्भव-सा कार्य हो रहा था। सार्वभौम सत्ताके नाते अंग्रेजोंने भारतीय रियासतोंको स्वतन्त्र मान लिया था और उन्हें शान्ति और रक्षाका विश्वास दिला दिया था। आन्तरिक आन्दोलनोंसे रक्षा हो जानेकी गारण्टीके कारण बीसवीं शताब्दीमें भी रियासतोंमें मध्यकालीन युगकी व्यवस्था कायम थी। रियासतोंकी जनता भयत्रस्त थी कि कहीं उसको कुचलनेके लिए अंग्रेजी शक्ति न बुला ली जाय। अंग्रेजोंकी नीति राजा और नवाबोंकी रक्षा करना थी, वे चाहे जिस तरहका अत्याचारी शासन चलायें। कांग्रेसने इसलिए रियासतोंकी जनताको सलाह दी कि वह अपनी रियासतोंके संघटनोंके जरिये अपनेको शक्तिशाली बनाये।

कुछ रियासतोंमें कांग्रेस कमेटियाँ बन गयीं और १९२१ में कांग्रेसने इन कमेटियोंको इस शर्तपर शामिल होने दिया कि बिना कांग्रेस महासमितिकी स्वीकृतिके किसी भी रियासतमें कोई आन्दोलन शुरू नहीं किया जायगा। बड़ौदाके अन्दर वहाँकी जनताने राजनीतिक अधिकारोंके लिए लड़नेके उद्देश्यसे 'प्रजा-मण्डल' नामका एक राजनीतिक संघटन कायम कर लिया था। मैसूर और काठियावाड़में भी ऐसे संघटन बन गये थे। परन्तु दूसरी जगहोंमें शताब्दियोंका अँधेरा अभी आधिपत्य जमाये हुए था।

१९२६ की गरमियोंमें रियासतोंकी समस्याओंमें दिलचस्पी रखनेवाले कुछ लोग भारत-सेवक-समाजके कार्यालयमें इकट्ठे हुए और प्रारम्भिक बातचीत करनेके पश्चात् उन्होंने रियासतोंका एक अखिल भारतीय राजनीतिक संघटन बनानेका निश्चय किया। बम्बईके फैसलोंको कार्यान्वित करनेके लिए एक अस्थायी समिति नियुक्त कर दी गयी थी। आठ महीनोंके बाद अखिल भारतीय रियासती जनता सम्मेलन (आल इण्डिया स्टेट्स पीपुल्स कानफरेन्स) की स्थापना की गयी और इसका प्रथम अधिवेशन, एलोरके उदारदलीय नेता दीवान बहादुर (बादमें सर) एम० रामचन्द्ररावकी अध्यक्षतामें १९२७ में बम्बईमें हुआ। आरम्भ बड़ी सावधानीसे किया गया था और यही कारण था कि कांग्रेसजन नहीं बल्कि उपाधि-प्राप्त, उदारदलका आदमी अध्यक्षपदके लिए चुना गया। सम्मेलनमें, मैसूर,

ट्रावनकोर, हैदराबाद, कोचीन, बड़ौदा, दक्षिणी रियासतों और राजपूतानाके प्रतिनिधियोंने भाग लिया। इस सम्मेलनने अपना उद्देश्य स्वाधीन और संघात्मक भारतके अभिन्न अंगकी हैसियतसे रियासती जनता द्वारा शान्तिमय और वैधानिक उपायोंसे पूर्ण उत्तरदायी सरकार प्राप्त करना घोषित किया।

अस्थायी समितिके मन्त्री रंगदास कपाडियाने कुछ समय बाद एक लेखमें रियासतोंकी दशाके बारेमें लिखा था कि "बहुतसे शासक तो यथार्थमें अत्याचारी हैं। वे अपने अधिकारोंका केवल एक प्रयोग जानते हैं—जनतापर अत्याचार करना और उनका धन चूसना। न्यायालय और पुलिस भ्रष्ट हैं और स्वेच्छासे अत्याचारके साधन रूपमें काम करती है। करोंका भार असह्य है। लोग प्रारम्भिक नागरिक स्वतन्त्रतासे भी वंचित हैं। राजाओं और नवाबोंके खर्चकी सीमा नहीं है, उनका एक अपराधात्मक रूप हो गया है। लोगोंमें बेहद गरीबी फैली हुई है।"

अखिल भारतीय रियासती जनताके सम्मेलनका अधिवेशन लगभग प्रत्येक वर्ष होता था और रियासतोंमें सुधारोंका एक नम्र आन्दोलन चलता रहा। कांग्रेसने इनको अपने प्रभावकी शक्ति भी प्रदान की और १९२९ से ब्रिटिश भारतकी भाँति रियासतोंमें भी जिम्मेदार शासन कायम करानेकी माँगकी घोषणा करनी शुरू कर दी। परन्तु इस माँगसे शासकोंके कानपर जूँतक नहीं रेंगी। राजे अपनी सत्तामेंसे जरा भी शक्ति देनेके लिए तैयार नहीं थे। फिर भी लगभग तीस रियासतोंमें जनताकी राय लेनेकी परम्परा नियमित और आधुनिक बना दी गयी।

"केवल रस्मी तौरपर ही नहीं विधान द्वारा भी जनताकी आवाज कानून बनाने व शासकीय मामलोंमें अधिकाधिक सुनी जाने लगी थी। परन्तु यह केवल आवाज ही होती थी। आखिरी निर्णय राजाके ही हाथमें रहता था। आशय यह कि १९३७ तक ज्यादा प्रगतिशील रियासतोंमें भी उतनी ही प्रगति हुई जितनी साधारणतया ब्रिटिश भारतके प्रान्तोंने १९०९ और १९१९ के बीचमें हासिल कर ली थी।"

ट्रावनकोरमें १९२१ से विधान परिषद कायम थी जिसमें निर्वाचित सदस्योंका बहुमत था। पुडुकोटाईमें १९२४ से, कोचीनमें १९२५ से और हैदराबादमें १९०० से विधान परिषदें काम कर रही थीं, हालाँकि हैदराबाद विधान परिषदमें १९३७ तक उसके बीस सदस्योंमेंसे ११ सरकारी सदस्य होते थे।

रियासतोंके नेताओंने कई बार कोशिश की कि कांग्रेस उन्हें अपने अन्दर शामिल कर ले परन्तु कांग्रेसको डर था कि यदि वह रियासतोंकी उलझी हुई और पेचीदा समस्याओंमें फँसी तो अंग्रेजोंके विरुद्ध चलनेवाले मुख्य संघर्षमें रुकावट पड़ जायगी। १९३८ में हरिपुरा कांग्रेस-अधिवेशनके समय यह मामला सरपर आ गया। उस समयतक रियासती जनताका सम्मेलन (स्टेट्स पीपुल्स कॉनफरेन्स) काफी लम्बा रास्ता पार कर चुका था और कांग्रेसका अनुसरण कर रहा था। मैसूरमें १९३७ में एक जुलूसके ऊपर पुलिसके गोली चला देनेसे, जिसमें दस मरे और बीस घायल हुए, राजनीतिक आन्दोलनने जोर पकड़ा। कुछ दूसरी रियासतोंमें भी उपद्रव हुए। हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशनमें रियासती जनताके कुछ प्रतिनिधियोंने जोर दिया कि कांग्रेस उन्हें भी अपने महान नामका लाभ उठानेकी अनुमति दे। कांग्रेस थोड़ा झुकी और अधिवेशनमें प्रस्ताव पास हुआ कि "फिलहाल रियासतोंमें कांग्रेस कमेटियाँ

सीधे कांग्रेस कार्यसमितिके अन्तर्गत और निर्देशनपर काम करेंगी परन्तु कांग्रेसके नामसे अथवा तत्त्वावधानमें वैधानिक स्तर या सीधी काररवाईका कोई भी काम नहीं करेंगी। रियासतोंके आन्तरिक संघर्ष कांग्रेसके नामसे नहीं चलाये जा सकेंगे। इन शर्त्तोंपर, जहाँ कांग्रेस कमेटियाँ कायम हैं वहाँ संघटन शुरू कर देना चाहिये।" परन्तु रियासती जनताके नेताओंने इस प्रस्तावकी निन्दा की। उन्होंने कहा कि यह प्रस्ताव रियासती जनताकी आकांक्षाओंपर पानी डालता है।

कुछ मुख्य रियासतोंके अन्दर घटित राजनीतिक घटनाओंपर दृष्टि डालनेसे 'भारतीय भारत'के उद्वेलनका अच्छा चित्र मिलता है।

रियासतोंमें वास्तविक आन्दोलन तो १९३७ में प्रान्तोंमें कांग्रेसी सरकारें बन जानेके बाद शुरू हुआ। इस नये विकाससे रियासती जनताको प्रोत्साहन मिला और वहाँके शासकोंपर भी एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा। यद्यपि कई रियासतोंमें प्रजा-मण्डल या रियासती जनताकी कांग्रेस १९३० या उससे पहले भी बन चुकी थीं परन्तु वे १९३८ के बाद ही वास्तवमें क्रियाशील हो पायीं जब कि उनके आन्दोलनोंका नेतृत्व करनेके लिए कुछ कांग्रेस नेताओंको अवकाश मिला।

ट्रावनकोरमें रियासती कांग्रेसकी स्थापना १९३० में हो गयी थी परन्तु तबसे वह निष्क्रिय ही बनी रही। १९३८ में फिर जिम्मेदार सरकारके लिए वहाँ जोरदार आन्दोलन शुरू हुआ। आन्दोलन रोकनेके लिए राज्य सरकारने रियासती जनताको कांग्रेसको गैर-कानूनी घोषित कर दिया और सार्वजनिक सभाओंपर रोक लगा दी। सरकारके इस कदमने कांग्रेसजन और रियासती जनताके सामने एक कार्यक्रम पेश कर दिया यानी सरकारी आज्ञा (सभाओंपर पाबन्दी) को तोड़ना। कई स्थानोंपर आम-सभाएँ की गयीं जिनको पुलिसने लाठीचार्ज द्वारा अथवा गोली चलाकर भंग कर दिया। दमनसे सविनय प्रतिरोधको और बल मिला। दमनके बाद और अधिक तीव्र तथा घोर दमन हुआ। खुलकर लाठीचार्ज हुए और गोलियाँ चलायी गयीं। लगभग ६६० आदमियोंको जेलोंमें बन्द कर दिया गया। राज्य कांग्रेसके अध्यक्षकी गिरफ्तारी पर एक बहुत बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गयी जो विरोध प्रदर्शनके लिए एक जुलूसमें परिणत हो गयी। फौज बुला ली गयी और गोलियों द्वारा जुलूसको तितर-बितर कर दिया गया। बहुतसे लोग मारे गये अथवा घायल हुए।

कुछ महीनों बाद, राजा साहबकी सालगिरहके उपलक्षमें गिरफ्तार किये गये लोग छोड़ दिये गये और बराय नाम नागरिक स्वतन्त्रता दे दी गयी।

कुछ दिनोंकी खामोशीके बाद १९३९ में फिर सविनय प्रतिरोध आरम्भ किया गया जिसके परिणामस्वरूप कांग्रेस कार्यकर्ताओंकी आम गिरफ्तारियाँ हुईं। जब ट्रावनकोरका संघर्ष अपनी पूरी तेजीपर था, गान्धीजीने उसे स्थगित करनेकी सलाह दी। उनका आदेश मान लिया गया। दीवान द्वारा परिस्थितिपर फिर गौर करनेके लिए गान्धीजीने आन्दोलनको स्थगित करनेका आदेश दिया था।

सुधारोंकी घोषणाके लिए दीवानने शर्त रखी कि घोषणाके पहले राज्य कांग्रेस जिम्मेदार सरकारकी माँगके लिए संघटित प्रयास समाप्त कर दे। परन्तु दीवानने सुधारोंका कोई आभास नहीं दिया। समझौता-वार्ता भंग हो गयी। कांग्रेसने आन्दोलन शुरू किया और दीवानने दमन।

मैसूरमें भी लगभग इन्हीं परिस्थितियोंमें आन्दोलन आरम्भ हुआ। राज्य कांग्रेसने आन्दोलनकी योजना बनायी ही थी कि सरकारने निषेधात्मक आदेश जारी कर दिये। जनताने आदेश भंग किये और कोला जिलेके एक गाँव विदूर स्वाथम्में पुलिसने एक भीड़पर गोली चलायी। कई मारे गये और पचास घायल हुए। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा नियुक्त वल्लभभाई पटेल और जी. बी. कृपालानीके हस्तक्षेपसे मैसूर-सरकारके साथ एक समझौता हो गया। मैसूर सरकारने रियासतमें राज्य कांग्रेसको मान्यता दे दी, वैधानिक मामलोंपर गौर करनेवाली कमेटीमें तीन कांग्रेस-जन भी शामिल कर लिये गये, झण्डेके प्रश्नपर गान्धीजीका फॉरमूला मान लिया गया—अर्थात् सब उत्सवोंपर सरकारी झण्डेके साथ-साथ कांग्रेसका झण्डा भी फहराया जायेगा, कांग्रेस-कार्य-कर्ताओंको रिहा कर देनेका और निषेधात्मक आदेश वापस लेनेका आश्वासन दे दिया गया। राज्य कांग्रेस इस समझौतेके पूरा किये जानेकी प्रतीक्षा करती रही परन्तु सरकारने अपने वादे पूरे नहीं किये। सितम्बरमें राज्य कांग्रेस और राज्य अधिकारियोंमें फिर संघर्ष शुरू हो गया परन्तु गान्धीजीके आदेश पर यह आन्दोलन रोक दिया गया।

काठियावाड़की एक छोटी-सी रियासत मनसाके किसानोंमें भी आम चेतनाके कारण हलचल आरम्भ हो गयी और उन्हें इस बातका एहसास हुआ कि अत्यधिक भूमि-करोंका भारी बोझ उन्हें नष्ट कर रहा है। जब भूमि-करमें कमीके लिए, दिये गये प्रार्थना-पत्र व्यर्थ सिद्ध हुए तो किसानोंने लगान देनेसे इनकार कर दिया और 'मनसा खेदूत समिति' नामका एक संघटन कायम कर लिया। क्रुद्ध राज्य अधिकारियोंने यहाँ भी दमनकी नीति अपनायी। इस मामलेमें भी पटेलके हस्तक्षेप करने पर सरकारने लगान-समस्याको नयी जाँच और नये सिरेसे तय करनेकी आज्ञा दे दी।

काठियावाड़की एक दूसरी रियासत लिम्बडीमें न सिर्फ भारी भूमिकर बल्कि स्वयं राजा द्वारा व्यापारकी हर वस्तुपर एकाधिकार कर लेनेके कारण आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। इस एकाधिकारके कारण कई व्यापारियों और दूकानदारोंकी जीविका छिन गयी थी। व्यापारी और किसानोंने राज्यके बुरे कानूनोंका विरोध करनेके लिए संयुक्त मोर्चा बनाया। राज्य-अधिकारियोंने जनताकी जो अभीतक उनके सामने घुटने टेकती थी, इस चेतनाको चुनौती माना और उन्हें 'सबक सिखाने' के लिए दमनका आश्रय लिया। किसानोंको उनके घरोंसे बेदखल कर दिया गया। व्यापारियोंकी सम्पत्ति लूट ली गयी और उनके मकान जला दिये गये। इस नरकसे बचनेके लिए बहुतेरे तो रियासत छोड़कर भाग गये।

उड़ीसाकी कुछ रियासतोंमें, उदाहरणार्थ धनकनल, रनपुर और तालचरमें दशा और खराब थी। गिरफ्तारियाँ, मारपीट, मध्यकालीन युगकी यन्त्रणाएँ, सम्पत्तिको नष्ट करना, खड़ी फसलोंको जब्त कर लेना, लाटीचार्ज, गोली चलाना, भीड़पर हाथी दौड़वा देना रोजमर्राकी घटनाएँ हो गयी थीं। हथियारबन्द पुलिस गाँवोंको घेर लेती और वहाँ अत्याचारका नंगा नाच होता। लोगों द्वारा रनपुर रियासतके एक अधिकारीका कत्ल कर देनेके कारण शायद उड़ीसाकी रियासतोंमें बदलेकी भावनासे दमन इतना भयंकर रूपमें किया जा रहा था। अधिकारियोंने राज्य कांग्रेसको गैरकानूनी संस्था घोषित कर दिया। प्रमुख कांग्रेसजनोंको गिरफ्तार कर लिया और उनके घरोंमें ताला बन्द कर दिया। इस नये कदम (कांग्रेसको गैरकानूनी कर देनेसे) लोगोंको गुस्सा आया और उन लोगोंने एक

जगह इकट्ठा होकर अपने नेताओंकी रिहाईकी माँग की। मेजर बेजलगेटने भीड़पर पिस्तौल-से गोली चला दी, जिससे दो व्यक्ति मर गये और कई घायल हो गये। उत्तेजित भीड़ने मेजरको घेर लिया और उन्हें वहीं मार डाला। इस हत्याके प्रतिशोधमें अधिकारियोंने भयंकर दमन किया जो काफी समयतक चलता रहा। जब परिस्थिति जरा शान्त हुई तो उड़ीसा जन-सम्मेलन (उड़ीसा पीपुल्स कानफरेन्स) ने उड़ीसाकी विभिन्न रियासतोंकी दशाका अध्ययन करनेके लिए जाँच-समिति नियुक्त की। समितिकी रिपोर्टमें अधिकारियों द्वारा किये गये दमनका कच्चा चिट्ठा है। अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति द्वारा प्रकाशित एक पुस्तिकामें रिपोर्टका संक्षेप दिया गया है कि "अधिकांश रियासतोंके राजा शान-शौकत और ऐशो-आरामकी जिन्दगी बसर करते हैं। उनकी प्रजाकी जिन्दगी, आजादी और सम्पत्ति उनकी निरंकुश स्वेच्छापर निर्भर करती है। एक-दोको छोड़कर बाकी सब राजा मालगुजारीका कमसे कम पचास प्रतिशत, अपने ऊपर अपने कुटुम्ब व अपने प्रियपात्रोंपर खर्च करते हैं। शेष पचास प्रतिशतका अधिकांश टैक्स वसूली व जबरदस्ती धन छीननेवाले कर्मचारियोंपर व्यय होता है। नागरिक स्वतन्त्रता अज्ञात वस्तु है। सार्वजनिक सभाएँ करनेकी अनुज्ञा नहीं मिलती और अखबार जब जी चाहे रोक दिये जाते हैं। बिना मुकदमा चलाये नजरबन्द करना, कष्टकारी प्रजाजनोंको नाममात्र-की काररवाई कर दण्ड दे देना, मनमाने तौरपर सम्पत्ति जब्त कर लेना, जुर्माने वसूल करना, मारना और यन्त्रणाएँ देना आम घटनाएँ हो गयी हैं। विद्रोहको दबानेके लिए, राज्य अधिकारियोंने अँग्रेजी सेनाकी सहायता ली। धनकनल, गंगापुर और रनपुरमें कई आद-मियोंको गोलीसे मार डाला गया। २५ से ३० हजारके बीच लोगोंने भागकर उड़ीसा प्रान्तमें शरण ली।"

राजाओंने उड़ीसाकी सरकारसे माँग की और अंग्रेजोंने इस माँगका समर्थन किया कि निष्क्रमणके नेताओंको निष्कासित कर दिया जाय। उड़ीसा प्रान्तकी कांग्रेस सरकारने यह माँग स्वीकार नहीं की और मन्त्रिमण्डलमें संकट पैदा हो जानेके बावजूद गवर्नरके हस्तक्षेपका विरोध किया।

१९३८ में हैदराबाद सरकारने एक आदेश द्वारा रियासतमें राज्य कांग्रेस बनानेपर रोक लगा दी। सविनय अवज्ञा आन्दोलन द्वारा इस आदेशका विरोध किया गया जिसमें कई आदमी गिरफ्तार कर लिये गये। कुछको नजरबन्द अथवा निष्कासित कर दिया गया। २३ अखबारोंके रियासतमें आनेपर रोक लगा दी गयी। राजनीतिक संघर्ष चल ही रहा था कि आर्यसमाजियोंने एक मुस्लिम शासक निजाम द्वारा धार्मिक स्वतन्त्रतापर प्रतिबन्ध लगानेके कारण, धार्मिक स्वतन्त्रता-आन्दोलन शुरू कर दिया। आर्य-समाज आन्दोलनमें देश भरके लोगोंने भाग लिया। सुदूर अँग्रेज शासित भूमिमें भी आर्य-समाज-नेता हैदराबाद-आन्दोलन-के लिए स्वयंसेवक भरती कर रहे थे और उन्हें हैदराबाद रवाना कर रहे थे। आखिरकार निजाम-सरकार झुकी और धार्मिक माँगको स्वीकार कर लिया। आर्यसमाजी सत्याग्रही छोड़ दिये गये। परन्तु कांग्रेसने साम्प्रदायिकता पैदा होनेके भयसे अपना आन्दोलन स्थगित कर दिया। साम्प्रदायिकताके कुछ लक्षण प्रकट भी होने लगे थे।

जयपुर रियासतमें गैरराजनीतिक प्रश्नके ऊपर उद्वेलन बढ़कर राजनीतिक आन्दोलन-में परिणत हो गया। १९३८-३९ में जयपुरमें अकाल पड़ा और कांग्रेस महासमितिके कोषा-

ध्यक्ष जमनालाल बजाज, जो जयपुरके रहनेवाले थे और अब ब्रिटिश भारतके नागरिक हो गये थे, अकाल-पीड़ित इलाकोंका निरीक्षण करने और जितनी सम्भव हो उतनी सहायता देनेके लिए जयपुर गये। उनका इरादा था कि इस अवसरपर राज्य जन-समितिकी मीटिंग-में भी सम्मिलित हो जायँगे। अधिकारियोंने बजाजके राज्य प्रवेशपर रोक लगा दी। उन्होंने प्रार्थना की कि रोक हटा दी जाये अन्यथा वे आज्ञा-भंग करनेपर मजबूर होंगे। अधिकारी अपनी हठ-धर्मीपर जमे रहे, और बजाजने आज्ञा-भंग की। वे कई दफा गिरफ्तार करके ब्रिटिश क्षेत्रमें छोड़ दिये गये और हर मतर्वा उन्होंने वापस आकर राज्य-सीमामें प्रवेश किया। इसी बीच जयपुर प्रजा-मण्डलने जिम्मेदार सरकारके लिए सविनय-प्रतिरोधका आन्दो-लन छेड़ दिया। राज्य-सरकार किसी तरह भी यह माँग स्वीकार करनेको तैयार न थी। परन्तु बजाजने सरकार और प्रजामण्डलके बीच समझौता करवा दिया। समझौतेके अनुसार प्रजा-मण्डलको कुछ सुविधाएँ मिल गयीं जिनमेंसे एक यह थी कि अखबारोंके ऊपरसे प्रति-बन्ध हट गया।

राजकोट राज्य सत्याग्रहमें तो बादमें स्वयं गान्धीजीको भी उलझना पड़ा। दूसरी रियासतोंकी भाँति राजकोटमें भी जिम्मेदार सरकारकी माँग की गयी। राजकोटमें, संघटित तरीकेसे आन्दोलन चलाया गया और सरकारने लाठी-चार्ज, गिरफ्तारियों, सभाओं, जुलूस और अखबारोंपर रोक लगाकर आन्दोलनको कुचलनेकी कोशिश की। अंग्रेजी इलाकेसे भी कुछ औरतों और पुरुषोंने भाग लेकर अपनेको गिरफ्तार करवा दिया। वहाँके शासक ठाकुर साहबने पटेलके साथ एक समझौता कर लिया। समझौतेके अनुसार ठाकुर साहब 'जनताको ज्यादासे ज्यादा अधिकार देने'की गरजसे सुधारोंकी योजना प्रस्तुत करनेके लिए दस आदमियोंकी एक समिति बनानेवाले थे। समितिमें सात सदस्य पटेल द्वारा चुने हुए गैर-सरकारी प्रजाके प्रतिनिधि होनेवाले थे। पटेलने नामोंकी सूची ठाकुर साहबको दे दी। परन्तु ठाकुरने अंग्रेजी रेजीडेंटके परामर्शसे तीन नाम इस आधारपर अस्वीकार कर दिये कि समितिमें मुसलमानों व अन्य अल्पमत जातियोंके प्रतिनिधियोंको भी जगह मिलनी चाहिये। प्रजा-मण्डल पटेलकी सूचीपर अड़ा हुआ था और शासक रेजीडेंटकी रायपर। फिर संघर्ष शुरू हुआ। गान्धीजी राजकोट पहुँचे और ठाकुरको समझाया कि वह अपना वादा पूरा करें। जब समझौता असफल रहा तो गान्धीजीने आमरण अनशन शुरू कर दिया। "चूँकि यह अनशन अनिश्चित कालके लिए था, इसलिए वॉइसरायसे हस्तक्षेप करनेकी प्रार्थना की गयी जिसके फलस्वरूप भारतके प्रधान न्यायाधीश सर मॉरिस ग्वायरको निर्णय करनेके लिए पंच बना दिया गया। उनका निर्णय गान्धीजीके पक्षमें था। परन्तु गान्धीजीके ख्यालमें 'अनशनसे दबावका धब्बा' लग गया इसलिए उन्होंने अपने पक्षमें पंचके फैसलेका लाभ उठाना अस्वीकार कर दिया।"

अध्याय २७

मुसलिम लीगका अभियान

मुसलिम लीगके १९३० के अधिवेशनमें अध्यक्षपदसे जिनाने जो भाषण किया उसका हिन्दुओंने यद्यपि परिहास किया और वह मुसलमानोंमें भी उत्साह भरनेमें नाकामयाब रहा मगर वह जिनाकी विभाजन-योजनाका आरम्भ था—उस योजनाका जिसका खाका जिनाने लाहौरमें सन् ४० में पेश किया था। उस वर्ष इलाहाबादमें लीगके वार्षिक अधिवेशनमें भाषण करते हुए उर्दूके प्रसिद्ध कवि डा० सर मुहम्मद इकबालने कहा कि "यूरोप इस नतीजेपर पहुँचा है कि धर्म मनुष्यका व्यक्तिगत मामला है और उसका सांसारिक कार्योंसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इस्लाममें खुदा, और दुनिया, रूह और भौतिक पदार्थ, राज्य और धार्मिक संस्थाएँ एक दूसरेके अभिन्न अंग हैं।........

"भारत एशियाका छोटा रूप है। भारतीयोंके एक हिस्सेके सांस्कृतिक सम्बन्ध एशियाके पूर्वी राष्ट्रोंसे हैं तो दूसरेके एशियाके पश्चिमी और मध्यके राष्ट्रोंसे। अगर भारतमें परस्पर सहयोगका कोई प्रभावशाली सिद्धान्त तय हो जाये तो उससे इस प्राचीन भूमिमें जिसमें अभीतक तबाही रही है शान्ति और परस्पर भाईचारेकी स्थापना हो जायगी।

"यह देखकर दुःख होता है कि आन्तरिक सौहार्द्रका कोई भी सिद्धान्त ढूँढ़नेमें हमें अभीतक असफलता ही मिली है और जैसा कि मैंने मुसलमानोंको समझा है, उससे मुझे यह कहनेमें कोई हिचकिचाहट नहीं है कि अगर भारतीय मुसलमानोंके अपनी परम्पराओं और संस्कृतिके आधारपर पूरे विकासके अधिकारके सिद्धान्तको स्थायी साम्प्रदायिक समझौतेकी बुनियाद बना लिया जाय तो भारतीय मुसलमान भारतकी स्वतन्त्रताके लिए अपना सब कुछ होम देगा।

"भारत एक महाद्वीप है जिसमें विभिन्न जातियाँ बसती हैं जो अलग-अलग भाषाएँ बोलती हैं और जिनके धार्मिक मत भी पृथक्-पृथक् हैं। उनका व्यवहार समान जाति-चेतनाके वशीभूत निश्चित नहीं होता है। यहाँतक कि हिन्दू भी एकतत्व समुदाय नहीं हैं। इसलिए मुसलमानोंकी भारतके अन्दर एक मुस्लिम भारतकी माँग पूर्ण रूपसे न्यायपूर्ण है।

"मैं चाहता हूँ कि पंजाब, उत्तर-पश्चिमी-सीमाप्रान्त, सिन्ध और बलोचिस्तानके सूबे मिलाकर एक राज्य बना दिया जाय। कमसे कम उत्तरी-पश्चिमी भारतीय मुसलमानोंके लिए अंग्रेजी साम्राज्यके अन्तर्गत या उसके बाहर, स्वराज्य दे देना ही उत्तरी-पश्चिमी भारतीय मुसलिम राज्यका निश्चित भविष्य मुझे मालूम पड़ता है।"

लीग अधिवेशनने अध्यक्षकी रायको कोई महत्त्व नहीं दिया और न कोई ऐसा प्रस्ताव ही वहाँ पास हुआ।

१९३० में साम्प्रदायिक समस्याका विवादस्थल भारतसे हटकर लन्दन गोलमेज सम्मेलन हो गया। इस सम्मेलनके प्रतिनिधि वाइसरायने नियुक्त किये थे। भारतीय जनताके प्रतिनिधि होनेके बजाय वे वाइसराय द्वारा ही नामजद किये गये थे और उनसे आशा

की जाती थी कि वे विभिन्न साम्प्रदायिक हितोंका प्रतिनिधित्व करेंगे। इसलिए गोलमेज सम्मेलनमें महत्त्वपूर्ण विषयोंकी अपेक्षा साम्प्रदायिकतापर ही अधिक जोर दिया गया। वस्तुतः हर प्रतिनिधि किन्हीं विशेष हितों या अपने सम्प्रदायका अपने मुँह नेता बना हुआ था। लन्दनमें रहनेवाले कुछ मुसलमानोंने भी भारतकी तरफसे बोलनेकी जिम्मेदारी अपने सरपर ले ली और 'पाकिस्तान' की माँग उठायी। उन्होंने मुस्लिम प्रतिनिधिमण्डलसे प्रार्थना की कि वह इस आवाजको गोलमेज सम्मेलनमें उठाये। जब मुस्लिम प्रतिनिधिमण्डलने उनकी बातपर ध्यान नहीं दिया तब उन्होंने एक कमेटी बना ली और अपना एक कार्यालय लन्दनमें स्थापित किया; और सर इकबालके इलाहाबादवाले भाषणके आधारपर आन्दोलन करने लगे। सन् १९३२ में तीसरे गोलमेज सम्मेलनके अवसरपर इकबालने अपने विचारको ठोस सुझावके रूपमें पेश किया और कहा कि भारतमें कोई केन्द्रीय सरकार नहीं होनी चाहिये। प्रान्तोंको स्वशासन मिलना चाहिये और स्वतन्त्र उपनिवेशोंके रूपमें उनका सीधा रिश्ता लन्दन स्थित भारत-सचिवसे होना चाहिये।

लेकिन गोलमेज सम्मेलनमें मुसलमान प्रतिनिधियों द्वारा उठायी गयी माँगका सार था कि—(१) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान-सभाओं और परिषदोंमें मुसलमानोंके प्रतिनिधि पृथक् निर्वाचन द्वारा चुने जायँ। (२) मुस्लिम-अल्प-संख्यक प्रान्तोंमें, मुसलमानोंको प्राप्त प्रतिनिधित्व कायम रखा जाय। इनके अतिरिक्त, पंजाब, सिन्ध, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त और बंगाल जैसे मुस्लिम बहुसंख्यक सूबोंकी विधान-सभाओं और परिषदोंमें उन्हें बहुसंख्यामें स्थानोंकी कानूनन गारण्टी दी जाय।

हिन्दू प्रतिनिधियोंने हिन्दू और मुसलमान दोनोंके लिए संख्याके अनुपातपर संयुक्त निर्वाचनकी माँग की। उन्होंने कानून द्वारा सम्प्रदाय विशेषको कहीं भी 'बहुसंख्या' की मान्यता देनेपर घोर आपत्ति की।

कुछ मुसलिम नेता कतिपय शर्तोंपर संयुक्त निर्वाचनके लिए राजी थे, पर उनकी शर्तें हिन्दू नेताओंको अमान्य थीं। उदाहरणके तौरपर मुहम्मदअलीने प्रथम गोलमेज सम्मेलनके अवसरपर (सम्मेलनके दौरानमें ही उनकी मृत्यु हो गयी) सुझाव दिया था कि "भारतीय राष्ट्रीयताके हितमें हमें संयुक्त निर्वाचनक्षेत्र स्वीकार कर लेने चाहिये।"[1] इस सुझावके साथ कुछ शर्तें भी थीं; जैसे (१) विधान-सभाओं और परिषदोंमें हिन्दू और मुसलमान दोनोंके लिए स्थान सुरक्षित होना चाहिये। (२) किसी भी उम्मीदवारको निर्वाचित घोषित न किया जाय, जबतक (अ) उसे अपने सम्प्रदायके कम-से-कम ४०% (चालीस प्रतिशत) वोट न मिलें; और (ब) जहाँ वह उम्मीदवार कुल आबादीकी दस प्रतिशत-अल्प-संख्यासे सम्बन्ध रखता हो वहाँ उसे कम-से-कम दूसरी जातियोंके पाँच प्रतिशत और यदि बहुसंख्यामें है तो कम-से-कम दस प्रतिशत वोट मिलना चाहिये।[2] मुहम्मदअलीने कहा कि उनकी योजनाके तीन लाभ होंगे। प्रथम यह कि "वोटोंके लिए हर उम्मीदवारको दोनों समाजोंके लोगोंसे प्रार्थना करनी पड़ेगी। दूसरे यह कि बिना अपने समाजके वोटोंकी अच्छी खासी संख्या पाये हुए कोई भी निर्वाचित न हो पायेगा। और तीसरे यह कि अगर किसी उम्मीद-

---

१. धीरेन्द्रनाथ सेन, दि प्राबलेम ऑफ माइनारिटीज पृष्ठ ४१७

२. वही पुस्तक, पृष्ठ ४१८

वारको अपने समाजके काफी वोट मिल भी जायँ परन्तु यदि दूसरा समाज उसे अच्छा नहीं समझता तो वह चुना न जा सकेगा।

सर मुहम्मद शफीने प्रथम गोलमेज सम्मेलनकी अल्पमत-उपसमितिके सामने जो सुझाव पेश किये थे उनमें भी संयुक्त निर्वाचन स्वीकार कर लिया गया था। ६ जनवरी १९३१ को उपसमितिकी बैठकमें बोलते हुए उन्होंने निम्नलिखित सुझाव पेश किये थे—

जो शर्तें मैं रख रहा हूँ उनपर हमें संयुक्त निर्वाचन मान्य है। पहली यह कि मुस्लिम अल्पमत प्रान्तोंमें मुसलमानोंको जो सुविधाएँ प्राप्त हैं वे कायम रहें। पंजाब और बंगालमें जनसंख्याके आधारपर प्रतिनिधित्व और संयुक्त निर्वाचन होना चाहिये। मौलाना मुहम्मद अली द्वारा पेश की गयी शर्तोंके साथ-साथ सुरक्षित स्थानोंका भी सिद्धान्त माना जाना चाहिये।[1]

उसी उपसमितिके सामने १४ जनवरी १९३१ को एक और सुझाव उन्होंने पेश किया—"आज मुझे ये बातें रखनेका अधिकार मिला है कि पंजाबमें मुसलमानोंको साम्प्रदायिक (पृथक्) निर्वाचन द्वारा कुल स्थानोंके ४९ प्रतिशत स्थान मिलना चाहिये और साथ ही उस प्रान्तमें प्रस्तावित विशेष निर्वाचन-क्षेत्रमें भी उन्हें चुनाव लड़नेका अधिकार प्राप्त हो। जहाँतक बंगालका सम्बन्ध है वहाँ मुसलमानोंको साम्प्रदायिक निर्वाचन द्वारा कुल सदस्यताके ४६ प्रतिशत स्थान मिलना चाहिये और साथ ही उस सूबेमें प्रस्तावित विशेष निर्वाचन-क्षेत्रमें भी उन्हें चुनाव लड़नेका अधिकार प्राप्त हो। जहाँ तक अल्पसंख्यक प्रान्तों का सम्बन्ध है वहाँ मुसलमानोंको पृथक निर्वाचन द्वारा जो अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त है वह कायम रहे और सिंधमें इसी प्रकारका प्रतिनिधित्व-आधिक्य हमारे हिन्दू भाइयोंको, तथा हिन्दू और सिख भाइयोंको उत्तरी पश्चिमी सीमाप्रान्तोंमें मिले। अगर किसी प्रान्तीय विधान सभा अथवा केन्द्रीय विधान सभामें किसी समाज विशेषके तीन चौथाई प्रतिनिधि पृथक निर्वाचनको त्याग कर संयुक्त निर्वाचनको अपनाना चाहते हैं तो संयुक्त-निर्वाचन-प्रणाली लागू कर दी जायगी। पहले सुझावमें संयुक्त निर्वाचनके अन्तर्गत कानूनन बहुमतकी माँग की गयी थी; और दूसरेमें पृथक निर्वाचनके साथ सुरक्षित स्थान रखनेकी माँग की गयी थी। परन्तु अंग्रेजोंने अपने फैसलेमें मुसलमानोंकी दोनों ही माँगें पूरी कर दीं—पृथक निर्वाचन और कानूनन बहुमत दोनों ही बातें मान ली गयी थीं।

सिखोंने कानूनन बहुमत (स्टेटुटरी काम्यूनल मैजॉरिटी) और बहुसंख्यकोंके लिए स्थान सुरक्षित रखनेका विरोध किया। पंजाबमें बहुत ही कम संख्यामें होनेके कारण सिखोंने माँग की कि साम्प्रदायिक सन्तुलन ठीक रखनेके लिए सूबेका पुनस्संघटन होना चाहिये। अगर यह माँग अमान्य हो तो केन्द्रीय सरकार पंजाबका प्रशासन स्वयं अपने हाथमें ले ले जबतक कि सम्बन्धित सम्प्रदाय किसी समझौतेपर न पहुँच जायँ।

कांग्रेसने सुझाव रखे कि सिन्धमें हिन्दुओंके लिए, आसाममें मुसलमानोंके लिए और पंजाबमें सिखोंके लिए, संयुक्त निर्वाचनके अन्तर्गत जन-संख्याके आधारपर सुरक्षित स्थान रखे जायँ। लेकिन जिन सूबोंमें हिन्दू और मुसलमान कुल जन-संख्याके पचीस प्रतिशतसे कम हैं वहाँ उन्हें अतिरिक्त स्थानोंके लिए भी चुनाव लड़नेका अधिकार प्राप्त होगा।

---

१. रिपोर्ट ऑफ दी माइनार्टीज सब कमेटी ऑफ दी फर्स्ट आर. टी. (इण्डियन एडिशन) पृष्ठ ९६

गान्धीजीने, जिन्होंने गोलमेज सम्मेलनमें कांग्रेसका प्रतिनिधित्व किया था, सुझावोंकी व्याख्या करते हुए कहा कि जहाँ भी सम्भव हो, निर्वाचन-क्षेत्रोंको इस प्रकार बनाना चाहिये कि हर सम्प्रदायको संख्याके उचित अनुपातमें प्रतिनिधित्व मिल जाय। अगर सिन्धवासी आर्थिक उत्तरदायित्व सम्हालनेको तैयार हों तो कांग्रेसको सिन्धके पृथक प्रान्त बनाये जानेमें कोई आपत्ति नहीं।

मुसलमानोंमें आपसमें मतभेद पैदा हो गया।

"मुस्लिम राष्ट्रवादी सम्मेलन और सर्वदलीय मुस्लिम सम्मेलन (मुस्लिम आल पार्टीज कानफरेन्स) में समझौता करानेकी कोशिश की गयी। २२ जून १९३१ को शिमलेमें विभिन्न प्रस्तावोंपर विचार करनेके लिए एक संयुक्त सम्मेलन बुलानेका प्रयत्न किया गया।"[1] परन्तु सम्मेलन करनेका प्रयास असफल रहा। डा० अन्सारीने इस असफलताको समझाते हुए कहा कि "यहाँ आनेपर हमने देखा कि शिमलाका वातावरण किसी भी समझौतेके प्रतिकूल है। बदकिस्मतीसे हमारा डर सही निकला। शिमलाका बदकिस्मत वातावरण और असर, जिसको लोग इतनी अच्छी तरह जानते हैं कि बतलानेकी जरूरत नहीं, एकता करानेवाली शक्तियोंसे बहुत अधिक मजबूत साबित हुआ।"[2]

जब विभिन्न सम्प्रदायोंके प्रतिनिधि आपसमें कोई समझौता न कर सके तो अंग्रेजी सरकारने साम्प्रदायिक मसलेपर फैसला देनेकी जिम्मेदारी ले ली। अगस्त १९३२ को अंग्रेजी प्रधान मन्त्रीने यह फैसला, जो साम्प्रदायिक निर्णयके नामसे मशहूर है, सुना दिया। यह निर्णय जिसका आशय मुसलमानोंको सन्तुष्ट करना था, किसीको भी सन्तुष्ट न कर सका, यहाँ तक कि मुसलमानोंको भी नहीं। अंग्रेजी नीतिकी परम्पराके अनुसार इस निर्णयमें पृथक् निर्वाचन मान लिया गया था और संयुक्त निर्वाचनकी ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया गया था, हालाँ कि मुसलमानोंने स्वयं कुछ शर्तोंके साथ संयुक्त निर्वाचनका प्रस्ताव रखा था। इस निर्णय (कम्यूनल अवार्ड) में हर सूबेमें मुसलमानोंके लिए स्थान सुरक्षित रखे गये, जिन प्रान्तोंमें मुसल्मान अल्पसंख्यामें थे वहाँ उनको प्रतिनिधित्व-आधिक्य दिया गया, सिन्ध और उत्तरी पश्चिमी सीमाप्रान्तमें हिन्दुओंको भी प्रतिनिधित्व-आधिक्य (वेटेज) दिया गया। परन्तु बंगाल और पंजाब सम्बन्धी निर्णयसे हिन्दू और मुसलमान दोनों ही असन्तुष्ट रहे। पंजाबमें कुल जनसंख्यामें मुसलमान ५५% (पचपन प्रतिशत) थे परन्तु वहाँ उन्हें ४९% प्रतिनिधित्व मिला। इसपर भी हिन्दुओंका कोई फायदा नहीं हुआ, क्योंकि उन्हें जितना मिलना चाहिये था उससे भी बहुत कम प्रतिनिधित्व मिला। उनकी जगहें कम करके सिखोंको प्रतिनिधित्व-आधिक्य दिया गया। बंगालमें तो हालत और बुरी थी। मुसलमानोंकी संख्याका अनुपात ५४.८ फी सदी था और उन्हें कुल ४७.५ फी सदी जगहें मिलीं। हिन्दुओं-की संख्याका अनुपात ४४.८ प्रतिशत था, उन्हें केवल ३२ प्रतिशत स्थान मिले। फिर बंगालमें हिन्दुओं अथवा मुसलमानोंको मिलनेवाली जगहोंपर किसने कब्जा कर लिया? साम्प्रदायिक निर्णयमें यूरोपियनोंको बहुत अधिक प्रतिनिधित्व देनेकी व्यवस्था की गयी थी। वे जनसंख्याके सिर्फ .०१ फी सदी थे और उनको १० फी सदी जगहें दी गयीं। यानी अपनी जनसंख्याकी २५०००० गुना जगहें उनको दी गयीं! अखिल भारतीय मुसलिम सम्मेलनने

१. राजेन्द्रप्रसाद, इण्डिया डिवाइडेड पृष्ठ १२७

२. एनुअल रजिस्टर १९३१, पृष्ठ ३०५

(जो पहले सर्वदलीय मुसलिम सम्मेलन था) ब्रिटिश प्रधान मन्त्रीके साम्प्रदायिक निर्णयपर निराशा जाहिर की और मुसलमानोंको पंजाब तथा बंगालमें कानूनन बहुमत न देने और कतिपय प्रान्तोंमें प्रतिनिधित्व-आधिक्य कम कर देनेकी निन्दा की। परन्तु इस निर्णयमें खुली छूट थी कि यदि सम्बन्धित सम्प्रदाय आपसमें कोई समझौता कर लेते हैं तो वह समझौता निर्णयका स्थान ले लेगा। चुनांचे समझौतेका रास्ता ढूँढ़नेके लिए मौलाना शौकत अलीने गान्धीजीसे जेलमें भेंट करनेकी वाइसरायसे अनुमति चाही। शौकत अलीको अनुमति न मिली और उनसे कहा गया कि गान्धीजीसे मिलनेके पहले वे अपनी बातके लिए आम मुसलमानोंका समर्थन हासिल कर लें। तब तमाम मुसलिम पार्टियोंका एक सम्मेलन लखनऊमें १५ अक्टूबर १९३५को बुलवाया गया। हिन्दुओंकी तरफसे मालवीयजी भी इसी प्रकारका प्रयास कर रहे थे, जिसका परिणाम इलाहाबादमें हुआ एकता-सम्मेलन था जिसमें विभिन्न साम्प्रदायिक नेताओंने भाग लिया था—६३ हिन्दू, ३९ मुसलमान, ११ सिख और ८ भारतीय ईसाई। सम्मेलनमें, जो ३ नवम्बरसे १५ तक चलता रहा, आखिरमें परेशान करनेवाले पंजाब-बंगालके प्रश्नपर एक समझौता हो गया। हिन्दू मुसलमानोंको ५१% प्रतिनिधित्व देनेपर राजी हो गये। संयुक्त निर्वाचन भी इस शर्तपर मान लिया गया कि किसी उम्मीदवारको जीतनेके लिए अपने समाजके कम-से-कम ३० फी सदी वोट मिलें। अगर किसीको भी ३० फी सदी नहीं मिलते हैं तो जिसको सबसे अधिक फी सदी वोट मिले होगें वह निर्वाचित घोषित किया जायेगा। केन्द्रीय विधान सभामें मुसलमानोंके प्रतिनिधित्वके प्रश्नपर जिसपर अभी तक अंग्रेजी सरकारने कोई निर्णय नहीं दिया था—यह निश्चय हुआ कि विधान सभाकी सदस्यतामें मुसलमानोंको ३२ फी सदी स्थान दिये जायँ। सम्मेलन इस शर्तपर कि केन्द्रसे सहायता नहीं माँगी जायेगी, सिंधको पृथक प्रान्त माननेपर तैयार हो गया। नये प्रान्तोंमें हिन्दुओंको भी कुछ नयी सुविधाएँ देना स्वीकार कर लिया गया।

बंगालपर हुआ हिन्दू-मुसलिम समझौता इसपर निर्भर करता था कि यूरोपीय लोग अपना अत्यधिक प्रतिनिधित्व कम करना स्वीकार कर लें। समझौतेके अनुसार मुसलमानोंको ५१ प्रतिशत जगहें मिली थीं और हिन्दुओंको ४४.८ फीसदी। इसका मतलब यह हुआ कि यूरोपियनों व अन्य जातियोंके लिए सिर्फ ४.२ फी सदी प्रतिनिधित्व शेष बचा था। इसलिए एकता-सम्मेलनकी एक समिति यूरोपीयोंके साथ इस प्रश्नपर बातचीत करनेके लिए कलकत्ता रवाना हो गयी।

१९१६ में लखनऊकी ही भाँति हिन्दू और मुसलमान फिर एक हो गये और अपनी समस्याओंको सुलझानेमें उन्होंने व्यावहारिक बुद्धि दिखलायी। परन्तु अंग्रेजी सरकारने फिर चालाकीसे भरा एक दाँव मारा। २४ दिसम्बर १९३२ को, जब कि एकता-सम्मेलन चल ही रहा था, भारतसचिव सर सैमुअल होरने तीसरे गोलमेज सम्मेलनमें घोषणा की कि सरकारने केन्द्रीय विधान-सभामें मुसलमानोंको ३३⅓ फी सदी प्रतिनिधित्व देनेका और सिंधके नव-निर्मित प्रान्तको केन्द्रसे आर्थिक सहायता देनेका फैसला किया है। यह उससे कहीं ज्यादा था जो हिन्दुओंने देना और मुसलमानोंने लेना स्वीकार किया था। इस घोषणामें हिन्दुओंको वे सुविधाएँ भी नहीं दी गयीं जो मुसलमान उन्हें देनेको राजी हो गये थे।

इस प्रकार यह एकता-सम्मेलन मुसलमानोंके लिए यकायक बेकार कर दिया गया— और यह खतम ही हो गया। अंग्रेज एक बार फिर परिस्थितिके स्वामी बन गये।

जैसा कि एक बार पहले भी कहा जा चुका है, कांग्रेसके विधान-सभा-दलमें साम्प्रदायिक निर्णयपर मतभेद था। अणे और मालवीयके नेतृत्वमें चलनेवाला दल इसका घोर विरोध कर रहा था और दूसरा तटस्थ था, हालाँ कि निर्णयके सिद्धान्तों और नियमोंके विरोधी वे भी थे। मालवीयजीकी राष्ट्रवादी पार्टी और मुस्लिम लीग दोनों ही अपने-अपने पक्षमें लोकमत संघटित करनेमें संलग्न हो गये—एक निर्णयके विरोधमें और दूसरा उसके पक्षमें। इसी अवसर पर लीगके अन्दर खुद १९३३ के अधिवेशनके अध्यक्ष-पदके प्रश्न पर झगड़ा हो गया। अन्ततः लीगका अधिवेशन ३१ अक्टूबरको हावड़ामें पेशावरके वैरिस्टर अब्दुल अजीजकी अध्यक्षतामें हुआ। पुलिस बाहर चौकसी करती रही कि कहीं अब्दुल अजीजकी अध्यक्षताके विरोधी कोई गड़बड़ी और शान्तिभंग न करें। इस अधिवेशनने कुछ शर्तोंके साथ 'साम्प्रदायिक निर्णय'को स्वीकार कर लिया। मगर इस अधिवेशनकी उपेक्षा कर दी गयी और दिल्लीमें खान बहादुर हाफिज हिदायत हुसेनकी अध्यक्षतामें २५ नवम्बरको फिर लीगका अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशनने साम्प्रदायिक निर्णयपर अपनी स्वीकृतिकी मोहर लगा दी तथा मन्त्रि-मण्डल और नौकरियोंमें उचित भाग मिलनेकी माँग की। परन्तु लीगकी समस्या अभी सुलझी नहीं थी क्योंकि अब्दुल अजीज भी अध्यक्षपदपर कायम थे। इसलिए ४ मार्च १९३४ को लीगका एक और अधिवेशन बुलाया गया और जिनाको जो दो साल इंगलैण्डमें रहनेके बाद हालमें ही भारत लौटे थे, दोनों पक्षोंने लीगका स्थायी अध्यक्ष मान लिया। २ अप्रैल १९३४ को लीगकी परिषद्ने एक प्रस्ताव पास करके साम्प्रदायिक निर्णयको 'जैसा है वैसा ही' स्वीकार करनेका फैसला किया हालाँकि इस निर्णयसे उनकी माँगें पूर्णतया पूरी नहीं होती थीं। और लीग इसी आधारपर दूसरे सम्प्रदायोंके साथ देशके लिए विधान, अगर वह सबको स्वीकार हो, बनानेके लिए सहयोगको तैयार थी। शायद दिल्लीके लीग-अधिवेशनमें उठायी गयी माँगके प्रतिक्रियास्वरूप ७ जुलाई १९३४ को भारत सचिवने घोषणा की कि नौकरियोंमें मुसलमानोंको २५% जगहें मिलेंगी। नौकरियोंमें यह अनुपात जन-संख्याके आधारपर किया गया था। अखिल भारतीय मुसलिम सम्मेलनने भारतसचिवके इस फैसलेका विरोध किया और माँग की कि मुसलमानोंको नौकरियोंमें हिस्सा उनके केन्द्रीय विधान-सभामें प्रतिनिधित्वके बराबर यानी ३३⅓ फी सदी मिलना चाहिये, न कि जनसंख्याके आधारपर। उसी वर्षके आरम्भमें आगा खाँने मुसलिम लीग और मुसलिम सम्मेलन (मुसलिम कान्फ्रेंस) को एक करनेकी कोशिश की थी और जिनाके स्थायी अध्यक्ष होनेके पूर्व आगा खाँकी इसी कोशिशके कारण लीगके अन्दर तीव्र मतभेद पैदा हो गये थे। लेकिन अगस्तमें, विधान-सभाके चुनाव नजदीक आ जानेके कारण, चुनाव सम्बन्धी प्रचारके लिए किसी प्रकार एक होनेके उद्देश्यसे शिमलामें १३ अगस्तको दोनों संघटनोंकी कार्यसमितियोंकी एक संयुक्त बैठक बुलायी गयी। इस बैठकने एक संयुक्त चुनाव-घोषणा-पत्र जारी किया और मुसलमानोंसे पृथक् निर्वाचन सिद्धान्त और साम्प्रदायिक निर्णयोंके विरोधियोंके खिलाफ एक मोर्चा बनानेको कहा। चुनाव सिर्फ इसी प्रश्नपर लड़े जानेवाले थे।

थोड़ा-सा जिक्र यहाँपर १९३५ के ऐक्टके प्रति मुसलिम लीगके दृष्टिकोणका और

उसके अन्तर्गत पहले आम चुनावोंका कर देना चाहिये। अप्रैल १९३५ में बम्बईमें हुए लीगके अधिवेशनमें एक प्रस्ताव द्वारा १९३५ के ऐक्टका प्रान्तीय योजनाका भाग स्वीकार कर लिया गया और संघात्मक भाग अस्वीकार! प्रस्तावमें कहा गया था कि, "लीग यह समझती है कि देशकी दशा देखते हुए विधानकी प्रान्तीय योजना, जैसी भी है, उसका उपयोग करना चाहिये, यद्यपि इस योजनामें घोर आपत्तिजनक बातें हैं जो पूरे सरकारी ढाँचेके ऊपर वास्तविक नियन्त्रण, और मन्त्रि-मण्डलकी जिम्मेदारी तथा विधान-सभाओंको निरर्थक बना देती हैं।" विधानकी संघात्मक योजनाकी निन्दा करते हुए लीगने उसको प्रतिक्रियावादी, पिछड़ी हुई, भारतके हितोंके लिए हानिकारक और घातक कहा। प्रस्तावमें कहा गया था कि योजनाका मतलब भारतके पूर्ण उत्तरदायी शासनके ध्येयके हासिल करनेमें अनिश्चित कालके लिए विलम्ब लगाना और उसको रोकना है।

सर सैयद वजीर हसनने लीगके अध्यक्ष-पदसे भाषण करते हुए कहा कि न तो कांग्रेस ही देशको पूर्ण स्वराज्यके ध्येयकी तरफ अभी तक आगे बढ़ा सकी है और न लीग ही मुसलमानोंको उनके न्यायोचित अधिकार दिलवा सकी है। इसलिए उन्होंने देशकी आर्थिक और राजनीतिक समस्याओंको सुलझानेके लिए एक संयुक्त कार्य-क्रम बनाकर काम करनेके लिए तमाम राजनीतिक पार्टियोंको निमन्त्रित किया। कुछ गैरमुसलिम-लीगी मुसलमानोंने भी बम्बई अधिवेशनमें भाग लिया और जमैयतुल उलेमाके मौलाना अहमद सईदके प्रस्ताव पर जिनाको अधिकार दिया गया कि वे पार्लमेण्टरी बोर्ड नामजद करें।

बोर्डने जून १९३६ में चुनाव-घोषणा-पत्र तैयार कर लिया, जिसमें लीगकी नीतिका इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया था—"जिन मुख्य सिद्धान्तोंपर हमारे प्रतिनिधि विभिन्न विधान-सभाओंमें काम करेंगे वे हैं (१) वर्तमान प्रान्तीय और प्रस्तावित केन्द्रीय विधानको रद्द कर उनकी जगह फौरन ही प्रजातान्त्रिक स्वराज्य लागू कर दिया गया। (२) और इस बीचमें विभिन्न विधान-सभाओंमें मुस्लिम लीगके प्रतिनिधि, राष्ट्रीय जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें जनताके भले और उत्थानके लिए, विधानका अत्यधिक लाभ उठानेके लिए विधान-सभाओंका उपयोग करेंगे। जबतक पृथक निर्वाचन कायम है तबतक अनिवार्यतः मुस्लिम लीगको स्वतन्त्र पार्टीकी हैसियतसे रहना जरूरी है, परन्तु लीग किसी भी दल अथवा पार्टीसे खुला सहयोग करेगी जिसके सिद्धान्त लीगसे मिलते-जुलते हैं। लीग मुसलमानोंसे अपील करती है कि वे समाजकी एकता भंग करनेवाले किसी भी आर्थिक अथवा अन्य शोषणके शिकार न बनें।"

१९३७ में लीगने भारतकी पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करना अपना ध्येय बनाया। लीगके इस राजनीतिक निश्चयसे कांग्रेसको लाचार होकर लीगको समान उद्देश्यों और आदर्शोंपर कार्य करनेवाला मित्र संघटन मानना पड़ा। कांग्रेसने सिर्फ इतना ही नहीं किया कि लीगके उम्मीदवारोंके लिए मुसलिम सीटें (विधान-सभाओंमें) छोड़ दीं बल्कि अप्रत्यक्ष रूपसे कांग्रेसने लीगके उम्मीदवारोंकी सहायता भी की। सरकारकी संरक्षता और कृपा पाये हुए उम्मीदवारोंके खिलाफ कांग्रेस और लीगने संयुक्त रूपसे मोर्चा बनाया। दूसरे सूबोंकी तुलनामें कांग्रेस-लीग एका संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) में अधिक उभरा। लेकिन चुनावके बाद कांग्रेसको मालूम हुआ कि मुसलमानोंमें लीगके अनुयायी नगण्य संख्यामें हैं।

हालाँकि १९३५ के ऐक्टके अन्तर्गत हुए चुनावोंमें जनसंख्याके सिर्फ १०% भागको ही मताधिकार प्राप्त था मगर उनसे विभिन्न राजनीतिक पार्टियोंके अनुयायियोंका पता लग गया। प्रान्तीय विधान-सभाओंकी १५८५ सीटें १७ विभिन्न राजनीतिक, साम्प्रदायिक, धार्मिक, व्यापारिक और विशेष हितोंमें बाँट दी गयी थीं। आम सीटें (अछूत सीटें मिलाकर) ८०८ थीं और मुसलिम सीटें ४८२ थीं। इन स्थानोंके चुनावोंके परिणाम राजनीतिक पार्टियोंकी शक्तिके द्योतक थे। कांग्रेसने लगभग हर आम सीटपर अपना उम्मीदवार खड़ा किया था और ७१५ सीटोंपर विजयी हुई। कांग्रेसने केवल ५८ मुसलिम उम्मीदवार खड़े किये थे जिनमेंसे २६ जीत गये; अधिकांशतः सीमाप्रान्तमें। जहाँ चुनावोंके परिणामोंने कांग्रेसको देशकी राष्ट्रीय संस्था और सबसे अधिक लोकप्रिय सिद्ध कर दिया, वहीं यह भी साफ हो गया कि कांग्रेस मुसलमानोंका प्रतिनिधित्व नहीं करती। परन्तु अगर कांग्रेस मुसलमानोंकी नुमाइन्दगी नहीं करती थी तो मुसलिम लीग भी नहीं करती थी। और इस तरीकेसे तो कोई भी एक संघटन पूरे तौरपर उनका प्रतिनिधित्व नहीं करता था। ४८२ मुसलिम सीटोंमेंसे लीगको केवल १०८ मिलीं। बंगालमें मुस्लिम लीगकी सबसे भारी विजय हुई—११७ स्थानोंमेंसे ४० लीगने जीते—परन्तु दूसरे मुस्लिम बहुसंख्यक सूबोंमें लीग बुरी तरहसे हारी। पंजाबमें ८४ सीटोंमेंसे लीग केवल एक पर विजयी हुई। उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रान्त और सिन्धमें तो मुस्लिम लीगका कोई भी उम्मीदवार विजयी नहीं हुआ। किसी सूबेमें लीगका मन्त्रिमण्डल बननेकी बात तो छोड़ दीजिये लीग कहीं महत्वपूर्ण शक्ति तक न बन सकी। यह निःसन्देह साबित हो चुका था कि सामन्तवादी वर्गके लोग जो अंग्रेजोंकी सुरक्षामें मुसलमानोंके प्रवक्ता बने हुए थे, मुसलिम समाजके प्रतिनिधि बिलकुल ही न थे। पंजाबमें कांग्रेस (१८ स्थान) और लीग दोनोंको दबकर रहना पड़ा और इनकी जगह सामन्तवादियोंने ले ली जो यूनियनिस्ट पार्टीका नियन्त्रण करते थे। हिन्दू महासभाका तो चित्रमें कोई स्थान ही न था।

इस पृष्ठभूमिमें हमें लीगके भावी कार्योंपर एक दृष्टि डालनी चाहिये। नेहरूजीका चुनावविश्लेपण, जैसा कि जिनाको लिखे गये उनके जनवरी १९३७ के पत्रसे ज्ञात होता है, इस तरहसे था। "अन्तिम विश्लेपणमें भारतमें दो ही शक्तियाँ हैं—अंग्रेजी साम्राज्यवाद और भारतीय राष्ट्रीयताकी प्रतिनिधि कांग्रेस"'मुसलिम लीग मुसलमानोंके एक छोटेसे हिस्से—इसमें शक नहीं कि वे लब्धप्रतिष्ठ हैं—की प्रतिनिधि है। परन्तु मुसलिम लीग उच्च मध्यम वर्गके ऊँचे मुसलमानोंमें काम करती है। मुसलिम जनतासे इसका कोई सम्पर्क नहीं है और निम्न मध्यमवर्गसे इसका बहुत थोड़ा सम्पर्क है।"

उन सूबोंमें जहाँ कांग्रेसका बहुमत था, जब कांग्रेसने मन्त्रिमण्डल बनानेका भार उठानेका निश्चय किया तो मुसलमान मन्त्रियोंका ढूँढ़ना इसके लिए एक समस्या बन गयी। सब विधान-सभाओंमें मिलाकर कांग्रेसके कुल २६ मुसलिम उम्मीदवार जीते थे और ऐसा सोचना व्यर्थ था कि वे सभी मन्त्रिपदके योग्य हैं। कांग्रेस लीग पार्टीके सदस्योंको इस शर्तपर लेनेको तैयार थी कि वे कांग्रेसकी प्रतिज्ञापर हस्ताक्षर कर दें और कांग्रेसमें शामिल हो जायँ! लीगने, विशेषतया यू. पी. में, जहाँ कांग्रेस और लीगका चुनाव-एका ज्यादा मजबूत था, कांग्रेस मन्त्रिमण्डलमें अपने अधिकारके बलपर प्रतिनिधित्व माँगा और दावा किया कि वह मुसलिम समाजकी प्रतिनिधि है, इसलिए मुसलमान मन्त्रियोंको नामजद

कितनी ही शक्तिशाली क्यों न हो जाय, बहुसंख्यक हिन्दुओंकी विश्वासपात्र कांग्रेस कभी भी लीगके साथ सत्तामें बँटवारा करनेको तैयार न होगी।

आज सब तबाही हो जाने और एक ठोस सत्यके रूपमें पाकिस्तान बन जानेके बाद भी ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय कांग्रेस लीगके प्रति उदारता बरत सकती थी जो कि कांग्रेसकी सन् १९१६ से चली आयी नीतिके अनुरूप ही होता।

जिना और लीगके अन्य नेता, विशेषतया यू. पी. लीगके नेता, कांग्रेसके कट्टर दुश्मन बन गये। जिनाने पहला काम जो किया वह मुसलमानोंको १९३५ के ऐक्टके खिलाफ प्रदर्शनके लिए कांग्रेस द्वारा आयोजित पहली अप्रैलकी हड़तालमें भाग लेनेसे मना कर दिया और कहा कि वे कांग्रेसको सहयोग न दें। मुसलमान आमतौर पर पहली अप्रैलकी हड़तालसे उदासीन रहे। इससे पहले भी जैसे सविनय अवज्ञा आन्दोलनोंमें भी ज्यादातर मुसलमान ऐसे प्रदर्शनोंमें कभी भी हिन्दुओंके साथ शामिल नहीं हुए थे। और जिनाकी सलाहने सिर्फ उनके दृष्टिकोणपर मुहर लगा दी।

नेहरूजीके इस दावेको कि भारतमें सिर्फ दो पार्टियाँ हैं—सरकार और कांग्रेस, मुसलमान नौजवानोंने अपने लिए चुनौती तथा ललकार माना। उन्होंने दृढ़ निश्चय किया कि लीगको मुसलमानोंकी वास्तविक प्रतिनिधि संस्था बनाकर रहेंगे। कांग्रेसके खिलाफ क्रोधके वातावरणमें लीगका अधिवेशन जिनाकी अध्यक्षतामें १५-१७ अक्टूबर १९३७ को लखनऊमें हुआ। अधिवेशनमें आये प्रतिनिधियोंमें एक आहत अहंकी भावना व्याप्त थी और वे समझते थे कि नेहरूजीके आरोपका एक ही जवाब है कि लीगको जनसंघटन बनाया जाय। एक प्रस्ताव द्वारा लीगका विधान बदल दिया गया और अल्पमतकी सुरक्षा और उचित प्रतिनिधित्व सहित पूर्ण स्वराज्य लीगका ध्येय निश्चित हुआ। एक व्यापक आर्थिक कार्यक्रम बनाया गया जो किसी प्रगतिशील पार्टीका चुनाव-घोषणापत्र-सा जान पड़ता था।

लखनऊ अधिवेशनके पूर्व जिना पंजाब और बंगालके गैर-मुसलिमलीगी मुख्य-मन्त्रियोंसे पत्र-व्यवहार कर रहे थे और जिनाकी कोशिश थी कि ये दोनों आदमी लीगको मुसलमानोंकी संघटित राजनीतिक पार्टी बनानेके लिए लीगमें सम्मिलित हो जायँ। पंजाबके प्रधान मन्त्री सर सिकन्दर हयात खाँ—यूनियनिस्ट पार्टीके नेता (जो कई दलोंकी संयुक्त पार्टी थी) लखनऊके लीग अधिवेशनमें शामिल हुए और वहाँ जिनाने घोषणा की कि दोनोंके बीच एक समझौता हो गया है। जिना और सर सिकन्दरके बीच हुई वार्ताके फल-स्वरूप यूनियनिस्ट पार्टीके मुसलिम सदस्य लीगमें शामिल हो जानेवाले थे और उनके ऊपर प्रान्तीय लीग पार्लमेण्टरी बोर्डका अनुशासन लागू होता। जिना और सर सिकन्दर दोनोंने एक समझौतेपर दस्तखत कर दिये। सिकन्दर-जिना समझौतेके नामसे मशहूर इस समझौतेमें कहा गया था कि (१) लाहौर पहुँचनेपर सर सिकन्दर एक बैठक बुलायेंगे और अपनी पार्टीके मुसलमान सदस्योंको लीगमें शामिल हो जानेकी सलाह देंगे। (२) आगामी चुनावोंमें यूनियनिस्ट पार्टी दोनों दलोंके उम्मीदवारोंका लीगके साथ मिलकर समर्थन करेगी (यूनियनिस्ट पार्टीमें हिन्दू सदस्य भी थे)। (३) विधान सभाके मुसलमान सदस्य मुसलिम लीग पार्टी बनायेंगे।

जिनाने यह भी कहा कि बंगालकी सत्तारूढ़ पार्टी याने प्रजापार्टीके साथ भी पंजाबकी तरह एक समझौता किया जायगा। प्रजा पार्टीमें भी हिन्दू और मुसलमान दोनों शामिल थे।

परन्तु पंजाब और बंगालके मुख्य मन्त्री कभी भी लीगके अनुशासनमें कायदेसे नहीं चले।

विधान-सभाओंमें गये कांग्रेसके सदस्यों (यद्यपि वे अधिकांशतः हिन्दू थे) और लीगके सदस्योंमें प्रत्यक्ष अन्तर था। कांग्रेसी सदस्योंने सरकार-विरोधी उम्मीदवारोंकी हैसियतसे चुनाव जीता था, जब कि अधिकांशतः लीगी सदस्य या तो उपाधिप्राप्त लोग थे या बड़े जमींदार घरानोंके लोग जो अंग्रेज अधिकारियोंके दोस्त या कृपापात्र रहे थे। इस विश्वासके साथ कि भविष्यमें मुसलमान लीगके झण्डेके नीचे जमा होंगे और कांग्रेसी सरकारकी लीगके ऊपर खास मेहरबानी रहेगी, वे लीगमें शामिल हो गये हालांकि उन्होंने चुनावोंमें लीगका विरोध किया था और कई जगह लीगी उम्मीदवारोंको हराया भी। विधान सभाके मुसलिम सदस्य इधर उधर बिखरे हुए थे जिनको जिनाने एक सूत्रमें बाँधकर एक दल बना दिया। यह युक्ति-इतिहासकी अभूतपूर्व घटना है। इस प्रकारसे लीग मुसलमान प्रतिनिधि संस्था बन गयी। यद्यपि चुनावमें यह दावा झूठा साबित हो गया था। दूसरे मुसलिम बहुसंख्यक प्रांतोंमें भी लीगने यही चाल चली जहाँ उसे अलग-अलग मात्रामें सफलता मिली।

जिसको भी पिछले पचास या उससे ज्यादा वर्षोंकी मुसलिम राजनीतिके विकासका इतिहास मालूम है, वह अच्छी तरहसे समझ सकता है कि सामान्यतः मुसलमान कभी भी अंग्रेजोंके विरुद्ध लड़ाईमें हिन्दुओंका साथ नहीं देनेवाले थे। इसके साथ-साथ २० सालके साम्प्रदायिक दंगोंसे जिनाको यह विश्वास हो गया था कि मुसलमान सिर्फ हिन्दू-विरोधी नारोंपर ही जाग्रत किये जा सकते हैं। लखनऊ अधिवेशन (१९३७) में यह बात बहुत जोरोंसे कही गयी कि कांग्रेस हिन्दू फासिस्ट राज्य स्थापित करना चाहती है। हिन्दू फासिस्ट राज्य एक नारा बन गया और इस नारेने मुसलिम जनताको अपने अल्पसंख्यक अधिकारोंके प्रति जागरूक बना दिया। मुसलमानोंको विश्वास हो गया था कि केवल लीग ही उनके अधिकार दिलवा सकती है। लीगके साम्प्रदायिक प्रचारका असर मुसलमानोंपर पड़ा और यू. पी. की विधान-सभाके उपचुनावोंमें लीगने अधिकांशतः मुसलिम सीटें जीत लीं! लेकिन फिर भी कांग्रेसने बिजनौरमें लीगी उम्मीदवारको बहुत बुरी तरहसे हराया। हाफिज इब्राहीम-ने अपने लीगी विरोधीको ७८ फी सदी वोटोंसे हरा दिया! आम चुनावोंमें हाफिज इब्राहीम लीगी उम्मीदवारकी हैसियतसे चुनावमें जीते थे मगर बादमें मन्त्रिपदके लिए वे कांग्रेसमें शामिल हो गये! लीगने उन्हें सदस्यतासे त्यागपत्र देकर कांग्रेसके नामसे दुबारा चुनाव लड़नेकी चुनौती दी! हाफिज इब्रहीमने चुनौती स्वीकार कर ली और लीगको हरा दिया।

कांग्रेसके मन्त्रिपद सम्हालनेके फौरन बादसे ही लीगने कांग्रेस और उसके मन्त्रियोंकी निन्दा करना और उनके खिलाफ गन्दा प्रचार करना आरम्भ कर दिया। सार्वजनिक भाषणोंमें भद्दी और गन्दी भाषाका प्रयोग किया जाता और मुसलमानोंको समझाया जाता कि उन्हें हिन्दू कांग्रेससे कोई सरोकार नहीं रखना चाहिये। लीगियोंने मुसलमानोंसे कहा कि "अगर तुम मुसलमान हो तो मुसलिम लीगमें आओ।" और मुसलमान लीगमें इस तरहसे आये जैसे यह उनका धार्मिक कर्तव्य हो। इसके पहले कभी भी लीगी मुसलिम जनतामें नहीं घुसे थे। अगर उन्होंने ऐसा उचित समय पर किया होता तो आम चुनावके नतीजे दूसरे होते। और तब लीग अपने अधिकारके बलपर मन्त्रिमण्डलमें प्रतिनिधित्व माँग सकती! उसका यह नया उत्साह नेहरूजीके उस बयानके कारण था, जिसमें उन्होंने कहा था कि देशमें केवल दो पार्टियाँ हैं—सरकार और कांग्रेस।

कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलोंकी स्थिति ऐसी नहीं थी कि कोई उससे ईर्ष्या करता। लीगकी शिकायत थी, जैसा कि जिनाने १५ अक्टूबर १९३७ के अपने भाषणमें कहा था, कि मुसलमानोंको "उनके (कांग्रेसके) हाथों किसी भी भलाई अथवा न्यायकी आशा नहीं करनी चाहिये।" और दूसरी तरफ उसी दिन भाई परमानन्दने सिन्ध हिन्दू सम्मेलनके अध्यक्षपदसे भाषण करते हुए कहा कि "छः हिन्दू प्रान्तोंमें कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल हैं और बाकी चार या पाँच सूबोंमें मुसलमानोंने वजारतें बना ली हैं। जब कि मुस्लिम मन्त्रिमण्डल बिना हिन्दुओं और कांग्रेसका ख्याल किये हुए मुसलमानोंके हितोंका ध्यान रखते हैं; कांग्रेस मन्त्रिमण्डल अभीतक अपने मुसलिम-हिताय कांग्रेसी प्रचारपर जमे हुए हैं और हमेशा मुसलमानोंकी कभी भी शान्त न होनेवाली साम्प्रदायिक क्षुधाको सन्तुष्ट करनेमें सचेष्ट रहते हैं।" इसी प्रकार, बंगाल हिन्दू महासभाके सम्मेलनमें फरवरी १९३९ में सावरकरने अध्यक्ष-पदसे भाषण करते हुए कहा—"प्रान्तीय स्वराज्यके पहले हिन्दुओंकी जो हालत थी उसमें कांग्रेसी सरकारोंमें हिन्दुओंकी हालत बदतर है।" आजादीकी लड़ाईमें कांग्रेसकी साथी जमैयत-उल-उलेमाए हिन्दूतकने १९३९ के अपने वार्षिक अधिवेशनमें कांग्रेसी सरकारोंके कुछ 'हिन्दू रंग लिये हुए' निर्णयोंकी शिकायत करते हुए एक प्रस्ताव स्वीकार किया। हालांकि, जमैयतने साथ ही कांग्रेससे मित्रताका अपना निर्णय एक बार फिर दोहराया।

लीगके उग्र साम्प्रदायिक प्रचारसे कांग्रेसको शान्ति-भंग होनेकी आशंका हो उठी थी। इसलिए नेहरूजीने संयुक्त प्रान्तकी मुसलिम लीगके प्रधान मुहम्मद इस्लाम खाँ और फिर जिनासे पत्र-व्यवहार कर उनका ध्यान लीगी वक्ताओंके खतरनाक रवैयेकी ओर दिलाया और उनसे अनुरोध किया कि कांग्रेस और लीगके बीच यदि कोई मतभेद है तो उसे विचार-विनिमय द्वारा दूर कर लिया जाय। यह असफल पत्र-व्यवहार नवम्बर १९३७ से मार्च १९३८ तक चला और बीचमें बड़ा कटु हो गया। नेहरूजीने बार-बार अनुरोध किया कि मुसलमानोंकी शिकायतों और लीगकी माँगोंकी एक सूची दे दी जाय जो मतभेदोंको दूर करनेकी बातचीतका आधार बन सके, पर जिनाने इसका कोई सीधा जवाब नहीं दिया। बादमें स्वयं गान्धीजी और कांग्रेसके अध्यक्षने भी जिनासे पत्र-व्यवहार किया पर कोई नतीजा नहीं निकला।

पत्र-व्यवहारसे निम्नलिखित नयी मांगें प्रकट हुईं, जिनके सम्बन्धमें नेहरूजीने कांग्रेसका दृष्टिकोण रखा, पर कांग्रेस-लीग मनमुटाव चलता रहा—

(१) वे १४ शर्तें जो मुसलिम लीगने १९२९ में रखी थीं;

(२) कांग्रेस साम्प्रदायिक निर्णयका विरोध करना और यह कहना छोड़ दे कि यह निर्णय राष्ट्रीयताकी भावनाके विरुद्ध है;

(३) प्रान्तीय सरकारोंकी नौकरियोंमें मुसलमानोंका प्रतिनिधित्व कानून बनाकर विधानमें सुरक्षित कर दिया जाय;

(४) इस्लामी कानून और संस्कृतिकी गारण्टी कानूनके रूपमें हो;

(५) शहीदगंज मसजिदका आन्दोलन कांग्रेस अपने हाथमें ले और नैतिक दबाव डालकर वह मसजिद मुसलमानोंको दिलवाये;

(६) अजान देने और धार्मिक कृत्योंके मुसलिम अधिकारोंपर कोई पाबन्दी न रहे;

(७) मुसलमानोंको गो-वध करनेकी आजादी हो;

(८) जिन प्रान्तोंमें मुसलमानोंका बहुमत है, वहाँ क्षेत्रके पुनः विभाजन द्वारा उस बहुमतको बदलनेका प्रयत्न न किया जाय;

(९) 'वन्देमातरम्' गाना बन्द कर दिया जाय;

(१०) मुसलमान चाहते हैं कि उर्दू भारतकी राष्ट्रभाषा हो, और वे कानूनी गारण्टी चाहते हैं कि उर्दूके प्रयोगको सीमित या प्रति-बन्धित न किया जायगा;

(११) स्वायत्त शासन संस्थाओंमें मुसलमानोंका प्रतिनिधित्व 'साम्प्रदायिक निर्णय' पर आधारित हो, अर्थात् उनकी आबादीके अनुपातमें हो और पृथक निर्वाचन पद्धति काममें लायी जाय;

(१२) या तिरंगा झण्डा छोड़ दिया जाय, या फिर लीगके झण्डेको भी उतना ही आदर और महत्व दिया जाय;

(१३) मुसलिम लीगको भारतीय मुसलमानोंकी एक मात्र प्रतिनिधि संस्था मान लिया जाय और सिर्फ लीगको ही मुसलमानोंकी ओरसे बोलनेका अधिकार हो और;

(१४) प्रान्तोंमें लीगके साथ संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाये जायँ।

अगले वर्ष यह एक माँग और बढ़ गयी कि हर जगह, हर काममें मुसलमानोंका आधा हिस्सा मान लिया जाय।

कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल अब सुधार-कार्योंमें लग गये थे और विधानके सीमित क्षेत्रके भीतर ही जनहितके काम करनेकी चेष्टा कर रहे थे। नागरिक अधिकारोंकी स्थापनाका काम काफी हद तक पूरा हो चुका था। पुलिसका सिपाही नये दृष्टिकोणको अपनाना सीख रहा था और उसका आतंक धीरे-धीरे खत्म हो रहा था। शासन गैरमजहबी लोकतांत्रिक ढंगपर चल रहा था और साम्प्रदायिक उपद्रवोंकी संख्या तेजीसे कम होती जा रही थी। इस नयी स्थितिमें लीगका तीव्र और कटु साम्प्रदायिक प्रचार अशान्तिका कारण बन रहा था। बहुधा मुसलमानोंपर कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलोंके काल्पनिक अत्याचारोंकी कहानियाँ फैला-कर मुसलिम जनताको धर्मके नामपर उभारा जाता था। पिछले ३० वर्षोंके सैकड़ों साम्प्र-दायिक उपद्रवोंके घाव और निशान बाकी थे और हिन्दू-मुसलिम मतभेद स्वाभाविक थे। ये मतभेद बढ़ा-चढ़ाकर दिखाये जाते और इस बातका ढिंढोरा पीटा जाता कि मुसल-मानोंके साथ हर तरहका अत्याचार, अन्याय और दुर्व्यवहार हो रहा है। २० मार्च, १९३८ को मुसलिम लीगकी कौंसिलने एक विशेष समिति नियुक्त की जिसका काम इन अत्याचारोंकी जाँच कर समय-समय पर कौंसिलको अपनी रिपोर्ट देना था। इस समितिने १५ नवम्बर, १९३८ को अपनी रिपोर्ट कौंसिलको दी। यह रिपोर्ट पीरपुर रिपोर्टके नामसे मशहूर है। लखनऊके एक दैनिकके एक मुसलमान उपसंपादकने लखनऊमें बैठकर ही रिपोर्टका अधिकांश भाग लिखा था। साम्प्रदायिक अत्याचारों, वन्देमातरम्‌के गान, सार्वजनिक इमारतोंपर कांग्रेसका झण्डा फहराना, हिन्दीका प्रचार आदिकी शिकायत करते हुए रिपोर्टमें कहा गया था कि कांग्रेसी सरकारें हिन्दूराजकी स्थापनामें सचेष्ट हैं, जिसमें भारतीय मुसलमानोंके धर्म, भाषा व संस्कृतिके दमन और उनके राजनीतिक व आर्थिक अधिकारोंके हननका ध्येय निहित है। यह भी आरोप लगाया गया था कि मुसलमानोंके कब्रिस्तान बन्द किये जा रहे हैं और मुसलिम छात्रोंके वजीफे रोक दिये गये हैं। इन आरोप लगानेवालों और शिकायत करनेवालोंको बार-बार कांग्रेसी नेताओं द्वारा चुनौती दी गयी कि साम्प्रदायिक अत्याचारोंकी

विशिष्ट घटनाएँ बतायी जायँ, पर इसका सीधा जवाब कभी नहीं दिया गया। कांग्रेस पार्लमेण्टरी बोर्डके आदेश पर कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलोंने लीगके आरोपोंकी जाँच करायी और उनके निराधार होनेकी पुष्टि करते हुए लम्बी लम्बी विज्ञप्तियोंमें आरोपोंके जवाब दिये। तब पार्लमेण्टरी बोर्डके अध्यक्ष वल्लभभाई पटेलने कांग्रेसी प्रधान मन्त्रियोंसे कहा कि वे अपने-अपने गवर्नरोंका ध्यान लीगके आरोपोंकी ओर आकृष्ट करावें। यह हुआ और गवर्नरोंने आरोपोंको निराधार माना।

कांग्रेसका जवाब उसके जनरल सेक्रेटरी जे. बी. कृपालानीकी वार्षिक रिपोर्टसे परिलक्षित है। रिपोर्टमें कहा गया था—"राष्ट्रीय झण्डा सन् १९२० से ही राष्ट्रीय एकता और विदेशी शासनके विरोधका प्रतीक रहा है। वह इस्लामके विरोधमें नहीं अपनाया गया था। वन्देमातरम् ऐतिहासिक लगावके कारण इस शताब्दिके प्रारम्भसे ही राष्ट्रीय गान बन गया था और बंग-भंगके समय प्रचलित हुआ था। इसके विरुद्ध मुसलिम आन्दोलन एक नयी बात है और कांग्रेसने इस गानेके केवल उसी अंशके गाये जानेको मान्यता दी है, जिसपर किसीकी आपत्तिकी सम्भावना नहीं है। जिस मिली-जुली भाषाका कांग्रेस प्रचार करती है, वह उत्तर भारतमें बोली जानेवाली हिन्दुस्तानी है, जो नागरी या उर्दू लिपिमें लिखी जाती है। ये सब बातें पुरानी हैं, पर लीग द्वारा उनका विरोध नया है। तब भी, जहाँ भी विरोध हुआ है, कांग्रेसी सरकारों और कांग्रेसजनोंने संघर्ष बचाया है।"

पर लीगने इन जवाबोंपर कोई ध्यान नहीं दिया और लीग कार्य-समितिने आरोपोंको दोहराते हुए कहा कि प्रान्तीय स्वराज्यका नतीजा यह हुआ है कि अल्पसंख्यक मुसलमानोंको हिन्दुओंने दबा लिया है और प्रतिदिन मुसलमानोंके जीवन, स्वतंत्रता, सम्पत्ति और मान मर्यादापर आक्रमण होता है।

कांग्रेस सरकारोंके विरुद्ध निराधार आरोपोंकी पुनरावृत्ति जारी रहनेपर कांग्रेस अध्यक्ष राजेन्द्रप्रसादने जिनासे कहा कि लीगकी शिकायतोंकी निष्पक्ष जाँच भारतके चीफ जस्टिस सर मौरिस ग्वायर या किसी अन्य व्यक्तिसे करा ली जाय। पर जिनाने यह प्रस्ताव अस्वीकार करते हुए कहा—"अब इस मसलेपर हिज एक्सिलेंसी (वाइसराय) खुद गौरकर रहे है, और वही ऐसे उपयुक्त व्यक्ति हैं, जो हमारी माँगें पूरी करनेके लिए उचित कदम उठा सकते हैं और कांग्रेस मन्त्रिमण्डलवाले प्रान्तोंमें हममें पूर्ण सुरक्षाकी भावना फिर ला सकते हैं।" लेकिन न तो वाइसराय और न कोई गवर्नर ही जिनाकी शिकायतोंका समर्थन करते हुए कोई वक्तव्य देनेको आगे आया। बादमें जिनाने मांग की कि हमारे आरोपोंकी जाँचके लिए एक शाही कमीशन बैठाया जाय। ब्रिटिश सरकारने यह माँग अस्वीकार कर दी। कांग्रेसने अपनी ओरसे कांग्रेस मन्त्रिमण्डलवाले प्रान्तोंके अँग्रेज गवर्नरोंको दावत दी कि वे कांग्रेस सरकारोंका एक भी काम ऐसा बता दें जिससे अल्पसंख्यकों विशेषकर मुसलमानोंके किसी हितपर आँच आयी हो। इस सम्बन्धमें कांग्रेस मन्त्रिमण्डलोंके खिलाफ गवर्नरोंको कोई शिकायत नहीं थी। रिटायर होनेके बाद, संयुक्तप्रान्तके गवर्नर हेरी हेगने खुले आम कहा कि कांग्रेस सरकारका मुसलमानोंके साथ बहुत ही न्यायसंगत और उचित व्यवहार रहा। अत्याचारोंकी इन शिकायतोंकी जाँच करानेके हर सुझाव और चुनौतीको लीग चुपचाप पीती गयी और शिकायतोंका उपयोग मुसलमानोंको साम्प्रदायिक बनानेमें करती रही। कांग्रेस-

का हर काम, हर चीज—झण्डा, राष्ट्रीय गीत, बुनियादी तालीम, जनतासे सम्पर्क स्थापित करनेका कार्यक्रम—लीगको इस्लाम विरोधी लगता रहा।

सितम्बर, १९३८ में मुसलिम लीगका जो वार्षिक जलसा पटनेमें हुआ, उसमें अध्यक्ष पदसे भाषण करते हुए जिनाने मुसलिम लीगके कार्यकलाप या कार्यक्रम, आदिका जिक्र न कर मुख्य रूपसे कांग्रेस सरकारोंके विरुद्ध शिकायतोंकी फेहरिस्त प्रस्तुत की थी। वास्तवमें लीगका कार्यक्रम ही नकारात्मक था। लीगकी कौंसिलने संयुक्त-प्रान्त, बिहार व मध्यप्रान्तमें, 'मुसलमानोंके साथ होनेवाले अत्याचारोंके खिलाफ सीधी काररवाई' की तैयारी करनेको कहा। लीगके नेताओंकी इन उत्तेजक बातोंके बीच-बीच कांग्रेसके नेता जिनासे पत्र-व्यवहार करते और जिना हमेशा इस बातपर अड़ते कि दोनों संस्थाओंके बीच समझौतेकी पहली और बुनियादी शर्त है कि मुसलिम लीग मुसलमानोंकी एकमात्र प्रतिनिधि राजनीतिक संस्था है जो उनकी ओरसे बात कर सकती है और इसी तरह कांग्रेस हिन्दुओंकी संस्था है। वे कहते कि यह शर्त मान लेनेसे हिन्दू मुसलिम समस्या आसानीसे हल हो जायगी। कांग्रेस यह आधार ही माननेको तैयार नहीं थी। वह अपने इस जिन्दगी भरके दावेको कैसे भूल जाती कि वह पूरे भारतीय राष्ट्रका प्रतिनिधित्व करती है। फिर कांग्रेस लीगको मुसलमानोंकी एकमात्र प्रतिनिधि संस्था मान भी कैसे सकती थी, जब कि जमैअत, अहरार, खुदाई खिदमतगार, बंगालकी कृषक प्रजापार्टी, खाकसार आदि मुसलिम संस्थाएँ लीगसे बिलकुल भिन्न दृष्टिकोण रखती थीं और मुसलमानोंके विभिन्न वर्गोंका प्रतिनिधित्व करती थीं। इनमेंसे कुछ संस्थाओंने कांग्रेससे कन्धेसे कन्धा मिलाकर आजादीकी लड़ाई लड़ी थी। लीगका दावा मान लेनेसे कांग्रेसको इन संस्थाओंको प्रतिनिधित्वहीन मानना पड़ता। पर जिना अड़े रहे।

अक्टूबर, १९३८ में ही सिन्ध-प्रान्तीय मुसलिम लीगने अपने वार्षिक अधिवेशनमें देशके बँटवारेकी माँगका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और इस प्रकार विभाजनकी माँगमें वह भारतीय मुसलिम लीगसे १७ महीने आगे रही। इस अधिवेशनकी अध्यक्षता भी जिनाने की थी। प्रस्तावमें कहा गया था—"सिन्ध मुसलिम लीगका यह सम्मेलन इस विशाल देशकी शान्ति, निर्बाध सांस्कृतिक विकास, हिन्दू व मुसलमानों दोनों राष्ट्रोंके राजनीतिक आत्मनिर्णय और आर्थिक व सामाजिक बेहतरीके लिए आवश्यक समझता है कि भारत दो संघोंमें विभाजित कर दिया जाय, एक संघमें मुस्लिम राज्य रहे, दूसरेमें हिन्दू राज्य।" कांग्रेसके मन्त्रिमण्डल भंग होनेका फायदा उठाकर लीगने कांग्रेसको और भी बुरा-भला कहा और मन्त्रिमण्डल खत्म होनेपर देश भरमें 'मुक्ति-दिवस' मनाया। उस दिन भाषणोंमें खुदाका शुक्रिया अदा किया गया कि कांग्रेसी सरकारोंका खात्मा हुआ और मुसलमानोंको अन्याय, दमन तथा अत्याचारोंसे मुक्ति मिली। इस 'मुक्ति-दिवस' की घोषणा जिनाने तब की जब साम्प्रदायिक झगड़ेके निबटारेके लिए वे और जवाहरलाल नेहरू मिलनेवाले थे। वह बातचीत फिर हुई नहीं।

लीगके कांग्रेस-विरोधी रुखकी पराकाष्ठा तब हो गयी जब मार्च, १९४० में लीगके लाहौर अधिवेशनमें एक प्रस्ताव द्वारा भारतके विभाजनसे हिन्दुओं और मुसलमानोंको दो अलग अलग 'मातृ-भूमि' बनानेकी माँग की गयी। हमेशाकी तरह जिना यहाँ भी अध्यक्ष थे और उन्होंने अपने भाषणसे देशको अचम्भेमें डाल दिया। उन्होंने कहा—

"हमारे हिन्दू दोस्त क्यों हिन्दू-धर्म व इस्लामकी असलियत नहीं समझ पाते, यह समझना बड़ा मुश्किल है। हिन्दू व इस्लाम सही अर्थोंमें धर्म नहीं, दो भिन्न सामाजिक व्यवस्थाएँ हैं और यह सोचना कि वे मिलकर कभी एक राष्ट्र बना सकेंगी स्वप्नमात्र है। एक भारतीय राष्ट्रकी गलत कल्पना अपनी सीमा पार कर हमारे अधिकांश कष्टोंका कारण बन चुकी है, और यदि हम शीघ्र ही इस कल्पनाको खत्म कर वस्तु-स्थिति न समझ पाये तो देश बर्बाद हो जायगा। हिन्दू व मुसलमान दो भिन्न धार्मिक दर्शनों, सामाजिक रीतियों और साहित्योंके हैं। वे एक दूसरेसे शादी-विवाह नहीं करते, एक दूसरेके साथ खाते नहीं, वे दो भिन्न सभ्यताओंके हैं और ये सभ्यताएँ परस्पर-विरोधी विचारों और धारणाओंपर आधारित हैं। उनके जीवनके और जीवनके सम्बन्धमें भिन्न दृष्टिकोण हैं। इतिहासके विरोधी तत्वोंसे उन्हें अपनी अपनी प्रेरणा मिलती है। उनके वीर भिन्न हैं, वीर गाथाएँ भिन्न हैं, उनकी कथाएँ भिन्न हैं। बहुधा ऐसा होता है कि एकका वीर दूसरेका शत्रु है और इतिहासके युद्धोंमें एककी पराजय दूसरेकी विजय होती है। ऐसे दो भिन्न राष्ट्रोंको एक ऐसे राज्यमें रख देनेसे, जिसमें एकका बहुमत हो और दूसरेका अल्पमत, असन्तोष ही बढ़ेगा और अन्ततः ऐसे राज्यकी सरकारका ताना-बाना टूट जायगा।"

यह वकालत घर कर गयी और एक प्रस्ताव पासकर लीगने इसपर अपनी मुहर लगा दी। इस ऐतिहासिक लाहौर प्रस्तावमें कहा गया था—"निश्चय किया गया कि अखिल-भारतीय मुसलिम लीगके इस अधिवेशनका यह निश्चित मत है कि कोई भी ऐसा वैधानिक सुधार न तो लागू हो सकेगा और न मुसलमानोंको मान्य होगा जो निम्नलिखित मूल सिद्धान्त-पर आधारित न हो—कि, भौगोलिक क्षेत्रोंकी ऐसी इकाइयाँ बनायी जानी चाहिये और उनमें इस प्रकार आवश्यक परिवर्तन कर देने चाहिये कि सीमाप्रान्त और पूर्वी भारत आदिके मुसलिम बहुमतके क्षेत्र 'स्वतन्त्र राज्य' बनाये जा सके जिसमें शामिल होनेवाली इकाइयाँ स्वाधीन और स्वतन्त्र हों।"

लेकिन भारतमें दो राष्ट्रोंका सिद्धान्त जिनासे पहले सावरकरने चलाया था। १९३७ में, हिन्दू महासभाके अहमदाबाद अधिवेशनमें सावरकरने कहा—"बहुतसे बालकों जैसी बुद्धिवाले राजनीतिज्ञ यह माननेकी भारी भूल कर बैठते हैं कि भारत एक राष्ट्रके रूपमें संघटित हो चुका है, या इच्छा मात्रसे हो सकता है। इस प्रकार हमारे सद्भावनापूर्ण किन्तु अवि-चारशील मित्र अपने स्वप्नोंको ही वस्तुस्थिति समझ लेते हैं। और इसीलिए वे साम्प्रदायिक गुत्थियोंसे खीज उठते हैं और उनका दोष साम्प्रदायिक संघटनोंपर मढ़ देते हैं। लेकिन तथ्य यह है कि तथाकथित साम्प्रदायिक प्रश्न हमें, हिन्दुओं और मुसलमानोंको शताब्दियोंके राष्ट्रीय, सांस्कृतिक व धार्मिक विरोधोंसे उत्तराधिकारमें मिले हैं। जब समय आयगा ये सवाल हल हो जायँगे; लेकिन इस बातके अस्तित्व मात्रसे ही इनकार कर उन्हें दबा देनेसे समस्या सुलझेगी नहीं। पुरानी बीमारीका निदान और उपचार उसके प्रति लापरवाह होनेसे ज्यादा अच्छा है। हमें साहसके साथ अरुचिकर तथ्योंका सामना करना चाहिये। भारत एक और एक सूत्रमें बँधा राष्ट्र नहीं माना जा सकता, अपितु, यहाँ मुख्यतः दो—हिन्दू व मुसलमान राष्ट्र हैं।"

१९३९ में हिन्दू महासभाके कलकत्ता अधिवेशनमें सावरकरने फिर कहा—"हममें आपसमें चाहे जितने मतभेद हों, हम हिन्दू धर्म, संस्कृति, इतिहास, जाति, भाषा आदि अनेक

एकताओं और समानताओंसे इस प्रकार एक सूत्रमें बँधे हैं कि किसी अन्य अहिन्दू जाति जापानी, अंग्रेज, या भारतीय मुसलमान किसीके समक्ष खड़े होते ही हम एक राष्ट्र प्रतीत होने लगते हैं। इसी कारण हम हिन्दुओंको कश्मीरसे मद्रास और सिन्धसे आसाम तक अपनेमें अलग एक हिन्दू राष्ट्र बनाना है।..."

लेकिन सावरकर हिन्दू भारत व मुसलमान भारतके रूपमें देशके दो टुकड़े नहीं करना चाहते थे। वे केवल हिन्दू बहुमतके लिए प्रमुख स्थान चाहते थे। वे कहते थे—"हिन्दू-महासभा 'एक व्यक्ति एक वोट' के सिद्धान्तमें विश्वास करती है, सरकारी नौकरियाँ योग्यताके आधारपर मिलती हैं, जाति या धर्मके भेद भूलकर सब नागरिकोंको एकसे मौलिक अधिकार और कर्त्तव्य मिलते हैं...जब ऐसी स्थिति हो तब अल्पसंख्यकोंके पृथक अधिकारोंकी बात सिद्धान्ततः अनावश्यक ही नहीं गलत भी होगी, क्योंकि इससे साम्प्रदायिक स्तरपर अल्पमत और बहुमतकी चेतना फिर शुरू होगी।"

अत्याचारोंकी कपोलकल्पित कहानियोंकी पृष्ठभूमिमें आये लाहौर प्रस्तावने शिक्षित मुसलमानोंका ध्यान खींच लिया और वे जिहादके उत्साहसे लीगके आन्दोलनमें भाग लेने लगे। इनमें भी कुछ लोग थे जो हिन्दू मुसलिम समस्याका कोई समाधान पाकिस्तानकी स्थापनामें नहीं पाते थे। वे कहते थे कि हिन्दू बहुमतवाले प्रान्तोंमें तो मुसलमान हिन्दुओंपर ही आश्रित रहेंगे और मुसलिम बहुमतवाले प्रान्तोंमें मुसलमानोंको उचितसे अधिक सुविधाएँ मिल जायँगी। इसके जवाबमें कहा जाता कि अपने बहुमतवाले प्रान्तोंमें अगर हिन्दू मुसलमानोंके साथ अत्याचार करेंगे तो वैसा ही व्यवहार मुसलिम बहुमतवाले प्रान्तोंमें हिन्दुओंके साथ होगा और यही डर दोनों जगहोंके बहुमतोंको सद्-व्यवहारकी प्रेरणा देगा। व्यावहारिक जीवनमें झूठे आरोपोंकी गुंजाइश काफी होनेके कारण दोनों जगहोंके अल्पमत उन बन्दियोंकी स्थितिमें होनेकी आशंकामें होते जो अन्य स्थानोंके लोगोंके सद्व्यवहारकी गारण्टीके तौरपर पकड़े गये हों। बहुत सी नयी मुसलिम संस्थाएँ बन गयीं जो मुसलमानोंको तस्वीरका दूसरा रुख दिखानेकी कोशिश करने लगीं। लेकिन ये सब संस्थाएँ मिलकर भी लीगका मुकाबला नहीं कर सकती थीं। लीग अब मुसलमानोंकी सार्वजनिक संस्था हो रही थी।

वाइसरायने मुसलिम लीगको मुसलमानोंकी एकमात्र प्रतिनिधि-संस्था मान लिया और उन्होंने जब फिर गान्धीजी, जिना व कांग्रेस अध्यक्षको यह बतानेके लिए बुलाया कि मैं अपने पुराने वक्तव्यको संशोधित कर अपनी कार्यकारिणी कौंसिलमें कुछ नेताओंको लेनेको तैयार हूँ, तब उन्होंने यह शर्त लगा दी कि कांग्रेस लीगसे सिर्फ केन्द्रीय कार्यकारिणी कौंसिलके सम्बन्धमें ही नहीं, बल्कि प्रान्तीय मन्त्रिमण्डलोंके बारेमें भी समझौता कर ले। कांग्रेसके लिए मुख्य प्रश्न यह था कि वाइसराय सत्ताका हस्तांतरण करना चाहते हैं कि नहीं। लीग राजनीतिक माँगकी ओर उदासीन थी। लीग कौंसिलकी जो बैठक युद्धकी घोषणासे उत्पन्न परिस्थितिपर विचार करनेके लिए बुलायी गयी थी, वह कांग्रेस सरकारोंके खिलाफ आरोप लगाकर स्थगित हो गयी। जिना ब्रिटिश सरकार या कांग्रेससे बात करनेमें पाकिस्तानकी शर्त सबसे पहले रखते थे। उनकी दूसरी शर्त यह होती थी कि वाइसरायकी कौंसिलमें यदि कांग्रेस शामिल होती है तो हिन्दू व मुसलमान सदस्योंकी संख्या बराबर हो, नहीं तो जितने नये सदस्य होनेवाले हों उनका बहुमत मुसलमान हो और मुसलिम प्रतिनिधियोंको लीग चुने।

वाइसरायने यह भी साफ कह दिया था कि राजनीतिक नेता मेरी कौंसिलमें आनेको स्वतन्त्र हैं, पर मेरे अधिकार पहलेकी तरह ही रहेंगे।

मुसलिम राजनीतिके नये दौरने जिनाको बिलकुल बदल दिया। वे कभी भी सच्चा दोनों ईमानवाला, पाक और मुसलमान नहीं माने जाते थे। "विधान सभाके सदस्य होनेपर शपथके समय कुरान चूमनेके सिवा कभी कुरानमें क्या लिखा है और इसलाम क्या है, यह जाननेकी फिक्र करते किसीने उन्हें नहीं देखा। इसमें भी शक है कि वे जिज्ञासा या धर्मकी भावनासे प्रेरित होकर कभी मसजिद गये हों। मुसलमानोंके धार्मिक या राजनितिक सार्वजनिक समारोहोंमें वे कभी नहीं देखे गये।" पर अब जिना मुसलिम जनताके थे—उसके कायदे आजम (बड़े नेता) थे। वे कुरान और इस्लाममें विश्वास ही नहीं करने लगे, उसके लिए मरनेको भी तैयार हो गये। वे मसजिदमें जाकर खुतबा सुनते और ईदकी नमाजमें शामिल होते! मुसलमानोंकी कोई सभा अल्ला हो अकबर और 'कायदे-आजम जिन्दाबाद' के बिना शुरू या खतम न होती।

जिनाने हिन्दू-विरोधी भावना कभी कम नहीं होने दी। अगस्त सन् १९४२ में जब उत्तेजित लोग ब्रिटिश सत्ता उखाड़ फेंकनेके लिए प्राणपणसे सचेष्ट थे, लीग कार्यसमितिकी १६ से २० अगस्त तक हुई बैठकमें कांग्रेस आन्दोलनको "हिन्दू अल्पजन समुदायको सत्ता सौंप देनेके लिए ब्रिटिश सरकारको बाध्य करने ही नहीं वरन् मुसलमानोंको भी कांग्रेसकी शर्त्तें माननेके लिए मजबूर करने" की संज्ञा दी।

अब अंग्रेज गवर्नरोंकी सहायतासे लीग अपना प्रभाव गैरलीगी प्रान्तोंमें भी बढ़ानेमें सचेष्ट हुई। २८ मार्च १९४३ को बंगालके गवर्नर सर जौन हर्बर्टने वहाँके प्रधान मन्त्री फजलुल हकको इस्तीफा देनेको बाध्य किया और वहाँ लीगी मन्त्रिमण्डल कायम कर दिया। फजलुल हक शुरूमें कांग्रेसी और राष्ट्रीय मुसलमान थे लेकिन परस्थितियोंके दास होनेके कारण उन्होंने बंगालके प्रधान मन्त्रीकी हैसियतमें कई बार अपनी राजनीति बदली। विधान सभामें वे हिन्दुओं व मुसलमानोंकी संयुक्त प्रजा पार्टीके नेता थे; जिनाके आमन्त्रणपर वे लीगमें शामिल हो गये और ऐसे कट्टर लीगी बने कि १९४० में लाहौरमें पाकिस्तानकी स्थापनाकी माँगवाला प्रस्ताव पेश किया। फिर अपने भाषणमें उन्होंने हिन्दुओंको धमकाना शुरू किया कि "हममेंसे हर एक शेर और चीता है।" दिसम्बर १९४१ में उन्होंने अपने मन्त्रिमण्डलका इस्तीफा दिया और एक दूसरा मन्त्रिमण्डल बनाया जिसमेंसे कुछ लीगी सदस्य निकाल दिये गये थे। १९४२ के शुरूमें लाहौर प्रस्तावकी अपनी यह अनोखी व्याख्या कर कि वह बंगाल-पर लागू नहीं होगा, उन्होंने अपनेको लीगकी ओरसे अनुशासनकी काररवाईका शिकार बना लिया। पर शीघ्र ही फिर उन्होंने लीगकी सदस्यताके लिए अर्जी दी, जो नामंजूर हो गयी। संयुक्त प्रान्तके बाद बंगाल ही ऐसा प्रान्त था जहाँ १९३६ के चुनावमें लीगको काफी स्थान मिल गये थे। तबसे बंगाल विधान सभाके मुसलिम लीगी दलमें और सदस्य भी शामिल हुए थे। कुछ यूरोपीय सदस्य भी इसमें शामिल हुए। लेकिन २५० सदस्योंमेंसे १५० अब भी फजलुल हकके साथ थे। पर गवर्नरको मन्त्रिमण्डल बरखास्त करनेका हमेशा अधिकार था। ३० मार्च, १९४३ को गवर्नरने हकको बुलाया और इस्तीफेके एक टाइप किये हुए कागज पर दस्तखत करनेको कहा। गवर्नरने कहा कि अगर आप इस्तीफे पर दस्तखत नहीं करते तो मैं आपको बरखास्त कर दूँगा। हकने इस्तीफे पर दस्तखत कर दिये और

विधान सभामें लौटकर इसकी घोषणा कर दी। उनका अपराध यही था कि अगस्त १९४२ में ढाकामें हुए गोलीकाण्डकी जाँचके लिए एक समिति नियुक्त करनेका आश्वासन उन्होंने विधान सभामें दिया था। गवर्नरने अपदस्थ कर उन्हें सजा दी और लीगी सर नाजिमुद्दीनको मन्त्रिमण्डल बनानेका आमन्त्रण दिया। वे जानते थे कि विधान-सभाके दुलमुल सदस्योंकी सहायतासे लीगी मुख्य मन्त्री शीघ्र ही अपना बहुमत कायम कर लेंगे।

ऐसा ही नाटक सिन्धमें खेला गया। वहाँ अल्लाहबख्श प्रधान मन्त्री थे जो राष्ट्रीय मुसलमान थे। अंग्रेजोंकी दमन-नीतिके विरोधमें उन्होंने खानबहादुरीका खिताब छोड़ दिया। उन्हें बरखास्त कर गवर्नरने लीगी मन्त्रिमण्डल बना दिया। पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्तमें विधान सभाके कांग्रेस दलकी शक्ति दस सदस्योंकी गिरफ्तारीके कारण घट गयी थी; वहाँ भी लीगका मन्त्रिमण्डल बन गया। इसी तरह आसाम भी मुसलिम लीगका प्रान्त हो गया।

अंग्रेजोंकी मददसे पाँच प्रान्तोंमें लीगके मन्त्रिमण्डल बन गये और मुसलिम समाजके नेता होनेका जिनाका दावा सही साबित कर दिया गया। अप्रैल १९४४ में पंजाबके प्रधान मन्त्री खिज्रहयात खाँ (जो १९४२ में सिकन्दर हयात खाँकी मौतके बाद प्रधान मन्त्री हुए थे) और जिनामें मतभेद हो गया क्योंकि जिना चाहते थे कि मन्त्रिमण्डल यूनियनिस्ट पार्टीका न कहकर मुसलिम लीग संयुक्त पार्टीका कहा जाय और खिज्रहयात यह माननेको तैयार नहीं थे। वे कहते थे कि हम जिना-सिकन्दर हयात समझौतेको लागू कर रहे हैं जब कि जिना अपने वादेके खिलाफ जा रहे हैं। उस समझौतेके अनुसार पंजाबकी विधान सभामें मुसलिम लीग दल बननेपर यूनियनिस्ट पार्टीका मन्त्रिमण्डल रहनेकी बात थी। खिज्रहयातने एक वक्तव्यमें कहा—१९३५ के कानूनके अन्तर्गत हुए चुनावमें मुसलिम लीगका मन्त्रिमण्डल किसी भी प्रान्तमें नहीं बन सका जिससे लीग और उसके नेता मिस्टर जिनाको अखिल भारतीय स्तरपर समझौतेकी कोई बात करनेमें बड़ी दिक्कत होने लगी। मिस्टर जिनाके मुसलमानोंके मान्य नेता होनेमें जो संशय किया जाता था, उसे दूर करने और उन्हें पूरे मुसलिम समाजका प्रतिनिधि होनेका रुतबा देनेके लिए, ताकि वह अखिल भारतीय मामलोंमें दूसरे दलोंसे समझौता कर सकें या बातचीत कर सकें सिकन्दरहयात खाँने अक्तूबर १९३७ में जिना-सिकन्दर समझौता किया। अब मिस्टर जिना प्रान्तीय मामलोंमें हस्तक्षेप करना चाहते हैं और मन्त्रिमण्डल बनानेवाली पार्टीके संचालनमें बाधा डालते हैं। इस रुखमें कोई औचित्य नहीं है और इससे तानाशाही तरीकोंकी गन्ध आती है। समझौतेमें यह साफ साफ कहा गया था कि विधान सभामें मुसलिम लीग दल बननेसे यूनियनिस्ट पार्टीके 'वर्तमान' गुटपर कोई प्रभाव न पड़ेगा और 'वर्तमान' मिलाजुला संयुक्त गुट अपना यूनियनिस्ट पार्टीका नाम कायम रखेगा। अब मिस्टर जिना चाहते हैं कि यह नाम बदलकर 'मुसलिम लीग संयुक्त (कोलीशन) दल' रख दिया जाय। यह समझौतेका उल्लंघन है। मैं सच्चे मुसलमान और और इस्लामके पैगम्बरके अनुयायीकी हैसियतसे वादा तोड़नेका गुनाहगार नहीं बनूँगा। "खिज्रहयात असलमें यूनियनिस्ट पार्टीके हिन्दू व सिख सदस्योंको नाराज कर अपना मुख्य मन्त्रित्व खतरेमें नहीं डालना चाहते थे। लेकिन उन्होंने लीग और पाकिस्तान प्रस्तावमें अपना विश्वास प्रकट किया। लेकिन यह विश्वास और निष्ठा व्यावहारिक राजनीतिमें कभी काम नहीं आयी। लीगी मुख्य मन्त्रियोंने (जिनमें खिज्र भी शामिल थे) युद्धकी तैयारियोंमें पूरा सहयोग दिया और हर तरहका अपमान भी बरदाश्त किया। वे जानते थे कि गवर्नर

और अफसर राजनीतिक आन्दोलनके दमनसे और राजनीतिक कैदियोंके साथ व्यवहारसे सम्बन्धित मामलोंमें उनकी उपेक्षा करते हैं। कैदियोंको हर तरहकी यातनाएँ दी जातीं, और अगर वे इसमें हस्तक्षेप भी करना चाहते तो भी उनके आदेशोंका पालन न होता। वे कैदियोंसे मिल नहीं सकते थे। कैदी प्रधान मन्त्रीके पास जो शिकायतें भेजते, उन्हें अफसर बीचमें ही रोक लेते। लेकिन तब भी इससे जिनाको अखिल भारतीय मुसलिम नेताका महत्व तो प्राप्त हुआ ही और ब्रिटिश सरकारने भी उनका यह महत्व स्वीकार कर लिया।

अध्याय २८

युद्धविरोधी सत्याग्रह तथा क्रिप्स-प्रस्ताव

अंग्रेजोंके एक ओर भारतको गुलाम बनाये रखने और दूसरी ओर जनतन्त्र और आत्मनिर्णयके अधिकारके लिए लड़नेकी घोषणा करनेसे राष्ट्रीय भारतका क्रोध और खीझ बढ़ रही थी। जनता बेसब्रीसे कांग्रेसकी सार्वजनिक आन्दोलन छेड़नेकी घोषणाकी प्रतीक्षा कर रही थी। लेकिन सत्याग्रहके नेता-प्रणेता गान्धीजीको बेसब्री नहीं थी। संघर्ष छेड़नेके पहले समझौतेके सभी उपाय कर देखना ही उनकी अहिंसाकी नीति थी।

लेकिन कांग्रेस कैसे सोच रही थी, इसका संकेत मार्च १९४० में रामगढ़के वार्षिक अधिवेशनमें मिल गया। हजारीबाग (बिहार) के इस गाँवमें हुआ कांग्रेसका यह सबसे संक्षिप्त अधिवेशन था। एक तो देशकी परिस्थिति कामकी बात झटपट कर डालनेकी माँग कर रही थी, दूसरे वर्षा बड़े जोर शोरसे हो रही थी और अधिवेशनका मैदान झील बन गया था। एम. एन. रायको १८३ के खिलाफ १८६४ वोटोंसे हराकर अध्यक्ष निर्वाचित हुए अबुलकलाम आजादने अधिवेशनके एक मात्र प्रस्तावकी भूमिका-सी देते हुए अपने भाषणमें कहा—"भारत नात्सीवाद या फासिटीवादका भविष्य सहन नहीं कर सकता पर ब्रिटिश साम्राज्यवादसे वह और भी ऊब चुका है। यदि भारतको स्वतन्त्रताका अपना अधिकार नहीं मिलता, तो इसका अर्थ यही होगा कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद अपनी तमाम परम्पराओं और विशेषताओंके साथ पनप रहा है। और ऐसी हालतमें भारत इसकी विजयमें मदद करनेके लिए किसी तरह भी तैयार न होगा।"

अध्यक्षके भाषणके बाद जवाहरलाल नेहरूने घोर वर्षाके बीच प्रस्ताव पेश किया जो लगभग एक मतसे स्वीकार हो गया—सिर्फ सात या आठ मत उसके विरोधमें आये। प्रस्ताव-में कहा गया था कि ब्रिटिश सरकारकी ओरसे दिये गये सभी वक्तव्य यह बात स्पष्ट करते हैं कि युद्ध साम्राज्यको मजबूत बनाने और कायम रखनेके लिए ही लड़ा जा रहा है। ऐसी हालतमें कांग्रेसजन या कांग्रेस द्वारा प्रभावित लोग इस युद्धमें सहायता न देनेकी ओर पहला कदमके बाद "सविनय अवज्ञाका दूसरा कदम कांग्रेस बिना हिचक तब उठायेगी जैसे ही कांग्रेस संघटन इस कामके लिए उपयुक्त मान लिया जायगा, या परिस्थिति ऐसी हो जायगी जिसमें संकटकी घड़ी आसन्न हो।"

कांग्रेसने यह आन्दोलन चलानेके लिए गान्धीजीको सेनापति बनाया और गान्धीजीने तुरन्त ही अपने आन्दोलनका सूत्रपात भी कर दिया। अपने भाषणमें उन्होंने आदेश दिया कि "हर कांग्रेस समिति सत्याग्रह समिति बन जाय और ऐसे कांग्रेसजनोंकी फेहरिस्त बनाये जो सबके प्रति सद्भावनासे प्रेरित हों, जिन्हें किसी भी प्रकारकी अस्पृश्यतामें विश्वास न हो, जो नियमित रूपसे कताई करते हों और जो दूसरे कपड़े छोड़कर केवल खादी पहननेके आदी हों।" जो इन शर्तोंको पूरा करते थे और जेल जानेको तैयार थे उन्हें गान्धीजीने सक्रिय सत्याग्रही माना। जो कताई न करते थे और जेल जानेको तैयार नहीं थे, पर जिन्हें

सत्याग्रहके मूलभूत सिद्धान्तोंमें विश्वास था और जो सत्याग्रह आन्दोलनके शुभचिन्तक थे, उन्हें गान्धीजीने निष्क्रिय सत्याग्रही माना।

जुलाईमें, चक्रवर्ती राजगोपालाचारीके सुझावपर कांग्रेस कार्यकारिणीने अपनी माँगें कम कर दीं, ताकि वे ब्रिटिश सरकारको मान्य हो जायँ और आन्दोलन न चलाना पड़े। कांग्रेस महासमितिने भी अपनी पूनाकी बैठकमें माँगोंकी इस कमीको स्वीकार कर लिया। बादमें समझौतेकी यह इच्छा पूना प्रस्तावके नामसे जानी गयी। गतिरोधके अन्तके लिए दो शर्तें ये थीं एक तो ब्रिटिश सरकार भारतका पूर्ण स्वराज्यका अधिकार स्वीकार कर ले और दूसरे केन्द्रीय विधायिका सभाकी विश्वास-भाजन एक अस्थायी राष्ट्रीय सरकार बने। गान्धीजी इसके विरुद्ध थे और कांग्रेस कार्यसमितिके कई सदस्य इसमें उनके साथ थे, क्योंकि सरकार द्वारा इस प्रस्तावकी स्वीकृतिके अर्थ थे कांग्रेस द्वारा अहिंसाकी तिलाञ्जलि। इस प्रस्तावसे अलग रहनेके लिए अब्दुल गफ्फार खाँने कार्यसमितिसे इस्तीफा दे दिया। नेहरू भी इतने उतरनेको तैयार न थे और उन्होंने इस प्रस्तावका विरोध किया। लेकिन, कार्यसमितिने एक बार फिर सहयोगके लिए अपना हाथ बढ़ाया और सरकारने फिर एक बार उसे झटक दिया। ८ अगस्त १९४० को वाइसरायने एक वक्तव्य दिया। (यह वक्तव्य बादमें अगस्त 'आफर' या अगस्त-प्रस्तावके नामसे जाना गया)। इस वक्तव्यमें उन्होंने कुछ भारतीयोंको अपनी कार्यकारी कौंसिलमें लेकर एक युद्ध सलाहकार कौंसिल बनानेका सुझाव दिया। उन्होंने यह भी घोषणा की कि युद्धके बाद भारतीयोंको अपना विधान स्वयं बनाने दिया जायगा।

पूना-प्रस्तावके फौरन बाद कांग्रेसके अध्यक्ष अबुलकलाम आजादने मुहम्मद अली जिनाको तार दिया कि पूना-प्रस्तावमें माँगी गयी राष्ट्रीय सरकार किसी एक दलकी नहीं बल्कि सभी दलोंकी संयुक्त सरकार होगी। किन्तु जिनाने अपने जवाबमें कांग्रेस अध्यक्षका अपमान ही किया। उनका तार था—"मुझे आपका तार मिला। लेकिन मैं आपका विश्वास लौटा नहीं सकता (जैसा आपको विश्वास है, वैसा मुझे नहीं)। पत्र-व्यवहार द्वारा या मिलकर मैं आपसे बात करनेको तैयार नहीं हूँ, क्योंकि आप मुसलिम भारतका विश्वास पूरी तरह खो चुके हैं। क्या आप यह समझ नहीं पाते कि आप जैसे खिलौने (मुसलमान) को अध्यक्ष बनाकर कांग्रेस यह दिखाना चाहती है कि वह राष्ट्रीय संस्था है और इस तरह विदेशोंको धोखा देना चाहती है। आप न हिन्दुओंका प्रतिनिधित्व करते हैं, न मुसलमानोंका। कांग्रेस हिन्दू संस्था है। आपमें यदि आत्म-सम्मान है, तो फौरन उससे इस्तीफा दे दीजिये। अभीतक लीगका जितना नुकसान आप कर सकते थे, आपने किया है और आप यह भी जानते हैं कि आप असफल हुए हैं। यह खेल छोड़ दीजिये।"

लेकिन वास्तवमें पूना-प्रस्ताव तो ब्रिटिश सरकारको सम्बोधित था; और जब सरकारने कांग्रेससे समझौतेका रास्ता भी बन्द कर दिया, हर व्यक्ति आन्दोलन करनेकी सोचने लगा। १५ सितम्बरको कांग्रेस महासमितिकी एक बैठक बम्बईमें बुलायी गयी और गान्धीजीको मनचाहे ढंगसे आन्दोलन चलानेकी छूट दे दी गयी। गान्धीजीने आन्दोलनका एक विकल्प निकाला। उन्होंने अपने भाषणमें कहा—"अगर हम सरकारसे ऐसी घोषणा प्राप्त कर सकें कि कांग्रेस युद्धविरोधी तथा युद्धकी सरकारी तैयारियोंसे असहयोगका प्रचार कर सकेगी तो हम सविनय अवज्ञा आन्दोलन नहीं करेंगे।" गान्धीजीने कहा कि मैं वाइसरायसे भेंट करूँगा

और उनसे कहूँगा—"अब स्थिति यह हो गयी है; हम झुककर इस स्थितिपर आ गये हैं; हम आपको परेशान नहीं करना चाहते और न हम आपको युद्धकी तैयारीसे ही विमुख करना चाहते हैं। हम अपने रास्ते जायँगे और आप अपने रास्ते जायँ; हमारे आपके मिलने-का आधार अहिंसा है। अगर जनता हमारे साथ हुई तो फिर यहाँ युद्धकी तैयारी नहीं होगी। और सिर्फ नैतिक दबावसे आप लड़ाईकी तैयारियोंमें जनताका सहयोग पा गये तो हमें भी शिकायतका मौका न रहेगा। अगर आपको राजाओं और नवाबोंसे, जमींदारोंसे, ऊँच-नीच कहींसे सहयोग और सहायता मिले तो आप खुशीके साथ उसे लें; लेकिन हमारी आवाज भी सुनी जाने दें।" फिर आपने उस सत्याग्रहकी रूप-रेखा बतायी जो मजबूर होने पर ही शुरू किया जानेवाला था। "कोई भी सार्वजनिक सविनय अवज्ञा आन्दोलन नहीं छेड़ा जायगा क्योंकि इस परिस्थितिमें उसकी आवश्यकता नहीं होगी। स्वराज्यका असली आधार विचारों और लिखने-पढ़नेकी स्वतन्त्रता है। अगर इस नींवपर ही संकट आ जाय तो हमें सिर्फ नींवके इस पत्थरकी रक्षाके लिए अपनी पूरी ताकत लगा देनी चाहिये।"

गान्धीजी २७ सितम्बरको वाइसरायसे मिले। ३० सितम्बरको फिर मिले। पर कोई नतीजा नहीं निकला। वाइसरायने कहा कि गान्धीजी द्वारा प्रस्तावित काररवाईसे भारतमें युद्धकी तैयारियोंमें बाधा पड़ेगी।

लेकिन सुभाषचन्द्र बसु युद्धकी तैयारियोंके विरोधमें काररवाई कर पहले ही जेल पहुँच चुके थे। रामगढ़में उन्होंने कांग्रेस अधिवेशनके समय ही युद्धविरोधी सम्मेलन बुलाया था जिसमें तय हुआ था कि—"राष्ट्रीय सप्ताहके पहले दिन ६ अप्रैल को देशभरमें युद्ध-विरोधी आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया जाय।" लेकिन इस प्रस्तावमें फारवर्ड ब्लाक अकेला पड़ गया, क्योंकि सोशलिस्टों व अन्य लोगोंने यह कदम गलत बताया। लेकिन बसु इसी कार्यक्रमपर अड़े रहे और उनके साथियोंकी राष्ट्रीय सप्ताहमें गिरफ्तारियाँ हुईं। जुलाईमें बसुने कलकत्तेके हालवेल स्मारकके विरुद्ध आन्दोलन किया। बसुका कहना था कि यह स्मारक राष्ट्रीय अपमान है, क्योंकि इससे सम्बद्ध कथा बिलकुल कपोलकल्पित है। इस आन्दोलनमें बसु गिरफ्तार कर भारतरक्षा नियमोंके अन्तर्गत नजरबन्द कर दिये गये। नवम्बरमें उन्होंने गैरकानूनी और अनावश्यक गिरफ्तारीके खिलाफ आमरण अनशन शुरू कर दिया। अधिकारियोंसे उन्होंने कहा—"मुझे छोड़ दो, नहीं तो मैं जिन्दा रहनेका ही विरोध करूँगा।" उन्होंने सरकारको एक पत्र लिखा जिसके साथ देशवासियोंके नाम एक अपील भी नत्थी कर दी। उन्होंने सरकारसे अनुरोध किया कि मेरे मरनेके बाद यह अपील प्रकाशित कर दी जाय। अनशनके कारण वे बहुत कमजोर हो गये थे और उनकी जानका खतरा जान कर डाक्टरी रायपर सरकारने उन्हें दिसम्बरमें रिहा कर दिया।

कांग्रेसके मोर्चेपर भारतरक्षा कानूनके नामपर सरकारने दमन शुरू कर दिया था, हालाँ कि सत्याग्रह अभी शुरू नहीं हुआ था। जयप्रकाश नारायण, लोहिया आदि मिलाकर दो हजारसे ज्यादा लोग पकड़े जा चुके थे। नवयुवकों और मजदूर कार्यकर्त्ताओंकी गिरफ्तारी सबसे ज्यादा जोर-शोरसे हो रही थी। नागरिक अधिकार छीने जा रहे थे। घरोंमें लोगोंको नजरबन्द कर देना आम बात हो रही थी। बड़ी संख्यामें लोगोंको बराबर थानोंमें जाकर हाजिरी देनेको बाध्य किया गया। उन्हें युद्ध-विरोधी या सरकार-विरोधी प्रचार व काममें भाग लेनेसे रोका गया, स्कूलों व कालेजोंके छात्रोंके मिलने या सम्पर्क स्थापित करनेपर रोक

लगायी गयी। किसी भी प्रकारकी सभामें भाग लेनेपर पाबन्दी लगा दी गयी। कहीं जानेके २४ घण्टे पहले उन्हें पुलिसको इत्तिला देनी पड़ती थी।

आखिरकार, १७ अक्तूबर १९४० को युद्धविरोधी आन्दोलनका प्रतीक व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू हुआ। वर्धासे सात मील दूर पौनार विनोबाजीने गाँवमें युद्धविरोधी भाषण कर सत्याग्रहका श्रीगणेश किया। देहाती जनताके सामने, उन्होंने सीधी-सादी भाषामें, भारतको जबरदस्ती युद्धमें शामिल कर देना, भाषणकी स्वतन्त्रताका अपहरण, राष्ट्रीय सरकार बनानेकी कांग्रेसकी माँगका ठुकराया जाना आदि प्रश्नोंपर प्रकाश डाला और इन बातोंसे भारतीय जनताका विरोध प्रकट किया।

गान्धीजीने पहले ही घोषणा कर दी थी कि इस बार केवल वे ही व्यक्ति सत्याग्रह कर सकेंगे, जिन्हें स्वीकृत सूचीपर रख लिया गया है। उस सूचीके व्यक्तियोंको एक एक कर गान्धीजी बुलाकर सत्याग्रह करनेका आदेश देनेको थे। सभी समझते थे कि नेहरू पहले सत्याग्रही होंगे। पर रचनात्मक कार्य-जगतके बाहर लगभग अज्ञात विनोबा भावेको चुनकर गान्धीजीने सारे संसारको आश्चर्यमें डाल दिया। विनोबाकी प्रशंसामें गान्धीजीने लिखा—"मेरे बाद विनोबा अहिंसाके सबसे अच्छे व्याख्याकार हैं, वे मूर्तिमान अहिंसा हैं; उन्होंने एक खास इलाकेमें रचनात्मक कार्य करनेमें अपनेको संलग्न कर रखा है; उनमें मुझसे अधिक एकाग्रचित्तता है। उनकी युद्धसे घृणा विशुद्ध अहिंसासे उपजी है।"

विनोबाके युद्ध-विरोधी भाषणका सारांश ही समाचारपत्रोंमें प्रकाशित हो सका; शेष सेंसरने काट दिया। बादमें यह भी बन्द हो गया। १८ अक्तूबरको देशभरमें जिला मजिस्ट्रेटोंने समाचार-पत्रोंको लिखा कि दण्डसे बचनेके लिये यह आवश्यक है कि विनोबाका भाषण और उसके बादकी घटनाओंका विवरण दिल्ली स्थित मुख्य प्रेस सलाहकारको दिखाये बिना न छापा जाय। विनोबा चार दिनतक युद्ध-विरोधी भाषण करते रहे। पाँचवें दिन, २१ अक्तूबरको उन्हें गिरफ्तार कर तीन महीनेकी कैदकी सजा दे दी गयी।

जवाहरलाल नेहरू दूसरे सत्याग्रही होनेवाले थे और ६ नवम्बरको भाषण करनेवाले थे। पर ३१ अक्तूबरको ही वे गोरखपुरके जिला मजिस्ट्रेटके वारण्टपर गिरफ्तार कर लिये गये और वहाँ एक 'आपत्तिजनक' भाषण करनेके अभियोगमें उन्हें चार वर्षकी कैदकी सजा दे दी गयी।

इसपर, गान्धीजीने कांग्रेस कार्यसमितिकी रायसे निम्नलिखित आदेश सभी कांग्रेस कमेटियोंको भेज दिये—

"कुछ समयतकके लिए, कांग्रेस कार्यसमिति, विधान मण्डलोंके कांग्रेसी सदस्यों और कांग्रेस महासमितिके सदस्योंमेंसे, मैं स्वयं सत्याग्रही चुनूँगा।

"सत्याग्रही केवल वे लोग हो सकेंगे, जो मेरी बतायी शर्तोंके पाबन्द होंगे। जो स्वयं सत्याग्रह करना चाहते होंगे और जो सत्याग्रह करनेके लिये स्वतन्त्र होंगे।

"कोई भी व्यक्ति जिला मजिस्ट्रेटको सत्याग्रहके समय, स्थान और ढंगकी सूचना दिये बिना सत्याग्रह नहीं करेगा।

"यह बेहतर होगा कि शहरोंमें सत्याग्रहके सम्बन्धमें सभाएँ न की जायँ। गाँवोंमें सभाएँ की जा सकती हैं। सत्याग्रहका सबसे सुन्दर ढंग यह होगा कि सत्याग्रही एक दिशामें प्रस्थान करे और तबतक नीचे लिखी बात हर राहगीरसे कहता चला जाय, जबतक वह गिरफ्तार

न हो जाय—"युद्धकी तैयारीमें अंग्रेजोंको पैसे या व्यक्तियोंकी मदद देना गलत है, हर युद्धका अहिंसात्मक प्रतिरोध करना ही श्लाघनीय और उचित प्रयास है। "मैं इस ढंगको इसलिए पसन्द करता हूँ कि यह निरपराध, प्रभावकारी और किफायतका ढंग है, इसमें तर्क करनेकी आवश्यकता नहीं, यह युद्धकी बातपर ही ध्यान केन्द्रित करता है। आशय यह है कि यह आन्दोलन सार्वजनिक आन्दोलनमें बदलने न पाये। सत्याग्रह एक-एक व्यक्ति करे। बहुतसे व्यक्तियोंका एक साथ सत्याग्रह करना आवश्यक नहीं है। सत्याग्रहका कार्यक्रम यदि हो सके तो एक महीनेमें पूरा हो जाय। सत्याग्रहके समय प्रदर्शन न होना चाहिये।"

१७ नवम्बरको वल्लभभाई पटेलकी गिरफ्तारीसे नया दौर शुरू हुआ। उनपर मुकदमा नहीं चलाया गया बल्कि वे अनिश्चित कालके लिए नजरबन्द कर दिये गये। नवम्बरके अन्ततक मन्त्री, सभासचिव, विधानमण्डलों व कांग्रेस महासमितिके लगभग सभी सदस्य गिरफ्तार हो चुके थे। अशान्तिकी दो घटनाओंको छोड़कर शेष सभी स्थानोंमें पूर्ण शान्ति थी। बिहारमें वहाँके प्रधान मन्त्रीकी गिरफ्तारीके समय एक भीड़ने प्रदर्शन किया और उसपर लाठीचार्ज हुआ। पंजाब कांग्रेसके अध्यक्ष मियाँ इफ्तिखारुद्दीनकी गिरफ्तारीपर लाहौरमें भी ऐसा ही हुआ। ऐसी घटनाओंकी पुनरावृत्ति रोकनेके लिए गान्धीजीने आदेश जारी किया कि सत्याग्रह करनेकी सूचना सिर्फ हाकिमोंको दी जाय, जनताको सूचना देनेकी कोई आवश्यकता नहीं।

कांग्रेसके अध्यक्ष अबुलकलाम आजाद ३० दिसम्बरको पकड़ लिये गये और उन्हें डेढ़ वर्षकी कैदकी सजा मिली। पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्तके प्रधान मन्त्री डाक्टर खान साहब एक बार गिरफ्तार होकर छूट चुके थे और सत्याग्रह करते रहनेके बावजूद फिर गिरफ्तार नहीं किये गये थे। वास्तवमें सीमाप्रान्तमें कोई सत्याग्रही गिरफ्तार ही नहीं हुआ था। सत्याग्रहियोंकी पहली नवम्बरवाली सूची खत्म होने पर नयी सूचियाँ बनीं और प्रान्तीय व दूसरी कांग्रेस समितियोंके सदस्योंको भी सत्याग्रह करनेकी अनुमति मिली। सरकारका रवैया कड़ा होता जा रहा था और मजिस्ट्रेट सत्याग्रहियोंपर लम्बे जुरमाने ठोंक कर उनकी सम्पत्ति नीलाम कर उन्हें वसूल करवा रहे थे। गान्धीजीने प्रकाशनके लिए दो वक्तव्य दिये, पर सेंसरने उन्हें रोक लिया।

जब यह व्यक्तिगत सत्याग्रह चल ही रहा था, तेजबहादुर सप्रूने नरमदलीय नेताओंका एक सम्मेलन, मार्च, १९४१ में बम्बईमें बुलाया जिसमें इस लम्बे गतिरोधको खत्म करनेके प्रश्नपर विचार हुआ। सप्रूके सभापतित्वमें हुए इस सम्मेलनमें नरमदलीय नेताओंके अलावा हिन्दू महासभाके नेता विनायक दामोदर सावरकर और श्यामाप्रसाद मुखर्जीने भी भाग लिया। सप्रूने अपने भाषणमें कहा—"भारतीय जनमत और विचारधारासे कोई भी सरकार इतनी दूर नहीं थी, जितनी कि वर्तमान भारत सरकार।" गतिरोध दूर करनेके लिए सम्मेलनने दो सुझाव दिये। एक तो यह कि वाइसरायकी कार्यकारी कौंसिल (शासन परिषद) के सभी सदस्य गैरसरकारी भारतीय हों और दूसरा यह कि ब्रिटिश सरकार समय निश्चित कर दे कि युद्धकी समाप्तिपर इस विशिष्ट अवधिके भीतर भारतको पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य दे दिया जायगा। वाइसरायकी इस प्रकार बनी कौंसिल हो तो ब्रिटिश शाहके प्रति उत्तरदायी, पर व्यवहारमें हर अन्तर्राष्ट्रीय मामलेमें उसे उसी स्तरपर माना जाय जिसपर अन्य औपनिवेशिक देशोंकी कौंसिलें मानी जाती हैं। भारत सचिव एमरीने

इन सुझावोंको अस्वीकार करते हुए कहा कि सुझावोंको लागू करनेके लिए आवश्यक वैधानिक परिवर्तन युद्धकी व्यस्तता और प्रयासोंमें नहीं किये जा सकते। हिन्दू-मुसलिम मतभेदोंकी ओर इशारा करते हुए एमरीने यह भी कहा कि बम्बई सम्मेलनके सुझाव गलत और भेजे गये हैं। उनका आशय यह था कि हिन्दू और मुसलमान मिलकर पहले अपने मतभेद दूर कर लें और तब अंग्रेज सरकारसे मिलें। लेकिन तेजबहादुर सप्रू अपने काममें लगे रहे और अगले महीने वाइसरायसे मिलकर उन्होंने कहा कि अगर कांग्रेस और लीग आपकी कौंसिलमें नहीं आतीं तो आप कौंसिलोंमें दूसरी विचारधाराओंके लोगोंको ले लें; कांग्रेस और लीगके कौंसिलमें आनेको तैयार होते ही ये लोग कौंसिलसे निकलनेको तैयार रहें।

जुलाईमें वाइसरायने अपनी कौंसिलकी सदस्य-संख्या बढ़ाकर उसमें सात नरमदलीय भारतीय रख लिये। सिर्फ माधव श्रीहरि अणे ही अकेले कांग्रेसी उसमें थे और वे भी कांग्रेस अन्दोलनोंसे अलग थे। युद्ध सलाहकार कौंसिलकी स्थापना भी हुई। अगस्त प्रस्ताव-के अनुसार यह स्थापना हुई थी; वह प्रस्ताव कांग्रेस और लीगके लिए था, पर दोनों संस्थाएँ ही इस कौंसिलके बाहर थीं।

अक्तूबरमें सरकारने रुख बदला और धीरे-धीरे सत्याग्रहियोंको छोड़ना शुरू किया। कम्यूनिस्ट बन्दियों—विशेषकर देवली जेलमें बन्द लोगोंके प्रति जेल अधिका-रियोंका व्यवहार बुरा था। कई बार इन लोगोंने जेलोंमें सार्वजनिक अनशन किये। एक बार तो १८० कैदियोंने अनशन किया। लेकिन जूनमें जर्मनीके रूसपर हमले और रूस व ब्रिटेन आदिके बीच मैत्री होनेसे युद्धके प्रति कम्यूनिस्टोंका रुख बदल गया। उन्होंने कहा कि अब यह लोक-युद्ध हो गया है और हम इसमें मदद करेंगे। सरकारने कम्यूनिस्टोंको धीरे-धीरे छोड़ना शुरू किया। पर कुछ कम्यूनिस्ट बन्दी आखीरतक नहीं छोड़े गये।

शुरू दिसम्बरमें, सरकारने घोषणा की कि जिन सत्याग्रहियोंके अपराध सिर्फ प्रतीक रूपमें या जाब्तेमें थे, वे छोड़ दिये जायँगे। कांग्रेस कार्य-समितिके सदस्य छूट गये, हाला कि सत्याग्रह जारी था। मुक्त सत्याग्रहियोंको फिर सत्याग्रह करनेकी अनुमति गान्धीजीने कुछ समयके लिए न दी।

इसी बीच राजगोपालाचारीने एक वैधानिक आपत्ति उठा दी थी, जिससे पूरे व्यक्ति-गत सत्याग्रहका आधार ही खत्म हो गया। जिस बम्बई प्रस्तावमें गान्धीजीको सत्याग्रहका नेतृत्व करनेके लिए अधिकार दिया गया था, उसका अर्थ गान्धीजीने यह लगाया था कि अहिंसामें विश्वासके कारण ही कांग्रेस इस युद्ध (हर युद्ध) में भाग लेनेका विरोध कर रही है। किसी अन्य व्याख्यासे गान्धीजी संघर्षका नेतृत्व ही नहीं करते। लेकिन २३ दिस-म्बरकी बैठकमें कांग्रेस कार्यसमितिने कहा कि प्रस्तावके अर्थ वे नहीं थे जो गान्धीजीने लगाये थे। इसपर गान्धीजीने सत्याग्रहके नेतृत्वके उत्तरदायित्वसे मुक्ति चाही। कार्य-समितिने गान्धीजीकी इच्छा स्वीकार करते हुए उन्हें आश्वासन दिया कि बम्बई प्रस्ताव और अहिंसाकी नीति चालू रहेगी। कार्यसमितिके निर्णयपर विचार करनेके लिए बुलायी गयी कांग्रेस महासमितिकी बैठकमें गान्धीजीने कहा—अब जब कि आतंक और अफवाहोंको खत्म करनेके लिए लोगोंकी अधिक आवश्यकता है, मैं उन्हें जेल नहीं भेजना चाहता। उन्होंने सत्याग्रहियोंको रचनात्मक कामोंमें लग जानेको कहा। इस प्रकार युद्ध-विरोधी आन्दोलन समाप्त हो गया और शान्ति छा गयी।

इसी बीच जापानने भी "मित्र" राष्ट्रोंके विरुद्ध युद्धकी घोषणा कर दी थी। पूर्वमें युद्धका क्षेत्र भारतके बिलकुल ही निकट आ गया था। जापानके युद्ध-प्रवेशके एक ही महीने बाद मार्च १९४२ में ब्रिटिश युद्ध-मन्त्रिमण्डलके सदस्य स्टैफर्ड क्रिप्स, भारतीय राजनीतिक गत्यवरोध दूर करनेके लिए एक सुझाव लेकर भारत आये। भारत पहुँचते ही उन्होंने इस सुझावकी घोषणा की। सुझाव इस प्रकार था—

(क) युद्धकी समाप्तिके फौरन बाद, भारतके लिए नया संविधान बनानेके निमित्त, नीचे लिखे ढंगसे एक निर्वाचित परिषद् बनानेका प्रयास शुरू होगा।

(ख) इस विधान निर्मात्री परिषद्में देशी रियासतोंके प्रतिनिधित्वकी भी व्यवस्था होगी।

(ग) ब्रिटिश सरकार इस परिषद द्वारा निर्मित विधानको स्वीकार कर लागू करेगी, पर शर्त यह है कि—

(१) यदि नये विधानको भारतका कोई प्रान्त स्वीकार न करे तो उसे वर्तमान व्यवस्था ही कायम रखनेकी छूट रहेगी और यदि बादमें वह प्रान्त नये विधानके अन्तर्गत आना चाहे तो आ सकेगा।

ऐसे प्रान्त यदि चाहेंगे तो उन्हें ब्रिटिश सरकार इसी प्रकार विधान बनाकर उसे स्वीकार करने और शेष भारतीय यूनियनके समान मान्यता देनेको तैयार रहेगी।

(२) विधान निर्मात्री परिषद और ब्रिटिश सरकारके बीच एक सन्धि होगी। इस सन्धिमें वे सब बातें रहेंगी जो भारतीय शासनका पूर्ण उत्तरदायित्व ब्रिटिश सरकारसे हटाकर भारतीय हाथोंमें सौंपनेके लिये आवश्यक होंगी। ब्रिटिश सरकार द्वारा किये गये वादोंके अनुसार धार्मिक व जातीय अल्पसंख्यक गुटोंकी रक्षाकी गारण्टी भी इस सन्धिपत्रमें रहेगी। ब्रिटिश राष्ट्रमण्डलके अन्य सदस्य राष्ट्रोंसे किस प्रकारके सम्बन्ध रहें—यह निश्चित करनेका भारतीय यूनियनका अधिकार अक्षुण्ण रहेगा।

भारतीय रियासतें नये विधानको मानें, न मानें, नयी परिस्थितिमें इसके अनुसार सन्धिकी शर्तें बदलना आवश्यक होगा।

(घ) यदि भारतकी मुख्य जातियोंके नेताओंने युद्धकी समाप्तिके पहले कोई अन्य ढंग अपनाना सर्वसम्मतिसे स्वीकार न कर लिया तो विधान निर्मात्री परिषद इस प्रकार चुनी जायगी—

युद्धकी समाप्ति पर प्रान्तीय विधान मण्डलोंके नये चुनाव होंगे। चुनावोंके नतीजे घोषित होते ही प्रान्तीय विधान सभाएँ आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धतिसे विधान निर्मात्री परिषदके सदस्योंको चुनेंगी। परिषदके सदस्योंकी संख्या विधान सभाओंके सदस्योंकी संख्याकी लगभग दस फीसदी होगी।

देशी रियासतोंसे उनकी आबादीके अनुसार ही प्रतिनिधि नामजद हो कर आयेंगे। आबादी और प्रतिनिधि-संख्याका वही अनुपात होगा जो शेष ब्रिटिश भारतमें। देशी रियासतोंके प्रतिनिधियोंके वही अधिकार होंगे जो ब्रिटिश भारतके प्रतिनिधियोंके।

(ङ) भारतके लिए जो संकटका समय है उसमें और जबतक नया विधान नहीं बनता, तबतक ब्रिटिश सरकार ही अनिवार्य रूपसे अपनी लड़ाईकी तैयारीके अन्तर्गत भारतकी

रक्षाकी जिम्मेदारी ओढ़ेगी, पर भारतके भौतिक, नैतिक और सैनिक साधनोंके पूर्ण संघटनका काम भारतीय जनताके सहयोगसे भारत सरकार ही करेगी। ब्रिटिश सरकारकी यह इच्छा है और वह भारतीय जनताके प्रमुख वर्गोंके नेताओंको आमन्त्रित भी करती है कि वे अपने देश, राष्ट्रमण्डल और संयुक्त राष्ट्रसंघकी मन्त्रणाओंमें फौरन हिस्सा लेना शुरू करें। इस प्रकार वे वह महत्त्वपूर्ण काम पूरा करनेमें सक्रिय और रचनात्मक सहायता देंगे जो भारतकी भावी स्वतन्त्रताके लिए महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है।

इस सुझावकी भूमिकामें कहा गया था—"ध्येय यह है कि नये भारतीय यूनियनका ऐसा डोमिनियन (उपनिवेश) स्थापित किया जाय जो ब्रिटिश ताजके प्रति निष्ठा द्वारा ब्रिटेन व दूसरे राष्ट्रमण्डलीय राष्ट्रोंसे सम्बद्ध रहे लेकिन हर अर्थमें उन सबके समान और बराबर हो—आंतरिक या परराष्ट्र सम्बन्धी किसी मामलेमें किसीके अधीन न हो।"

प्रान्तोंको भारतीय यूनियनसे अलग रह सकनेकी छूट देनेवाला सुझाव कांग्रेस कार्यसमितिको स्वीकार न था। वह उसे भारतीय एकतापर आघात मानती थी। लेकिन कार्यसमितिने इसके अतिरिक्त भी, वर्तमानको भविष्यसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना और कहा—"आजके गम्भीर संकटमें, आजका, वर्तमानका ही महत्त्व है और भविष्यके लिए आये सुझावोंका महत्त्व भी उतना ही है जितनेमें वे सुझाव वर्तमानपर प्रभाव डालते हैं।"

क्रिप्सने जो व्याख्या और विवरण दिया, उससे कांग्रेस अध्यक्ष तथा कांग्रेसके अन्य नेता वर्तमानके लिए प्रस्तावित व्यवस्थासे संतुष्ट हुए। क्रिप्स-सुझावको स्वीकार करनेके लिए कांग्रेसकी शर्त यह थी कि सुझावके अन्तिम भाग (ङ) में प्रस्तावित सरकारको पूर्ण अधिकार प्राप्त हों—वैसे ही अधिकार जैसे ब्रिटिश मन्त्रिमण्डलको प्राप्त हैं। यदि यह शर्त स्वीकार हो जाती तो कांग्रेस भविष्य सम्बन्धी सुझावोंकी विशेष चिन्ता करती; आशय यह था कि वर्तमान व्यवस्था संतोषजनक होने पर भविष्यकी बात भी स्वीकार हो सकती थी। कांग्रेसके अध्यक्षने कहा—"भविष्य महत्त्वपूर्ण तो है, पर वह अधिकांशतः इसपर निर्भर होगा कि आनेवाले कुछ महीनों या वर्षोंमें क्या होता है। इसलिए हम इस अनिश्चित भविष्यके सम्बन्धमें आश्वासन लिये बिना ही काम चला सकते थे; हमें आशा थी कि देशरक्षाके लिए की गयी कुरबानियोंके द्वारा हम स्वतन्त्र और स्वाधीन भारतकी स्थायी नींव डालेंगे।" संक्षेपमें, कांग्रेस केन्द्रमें एक सच्ची राष्ट्रीय सरकार चाहती थी, जिसे पूर्ण अधिकार प्राप्त हों और वाइसराय जिसके केवल वैधानिक अध्यक्ष हों।

क्रिप्स कहते थे कि सुझावमें वह निहित है जो कांग्रेस माँगती है। वे कांग्रेस-अध्यक्षसे बात-चीतमें 'मन्त्रिमण्डल' और 'राष्ट्रीय सरकार' जैसे शब्दोंका प्रयोग करते थे। उन्होंने यह भी कहा (जैसा कि कांग्रेस अध्यक्षने बादमें बताया) कि मन्त्रिमण्डलसे वाइसरायका वही सम्बन्ध होगा जो ब्रिटेनके शाहका होता है। कांग्रेस और क्रिप्सके बीच मतभेद केवल एक बातपर था। क्रिप्स कहते थे कि रक्षा-विभागका उत्तरदायित्व कमाण्डर इन-चीफ (सर्वोच्च सेनापति) के हाथमें ही रहे। कांग्रेस जापानी आक्रमणका मुकाबला करनेका अधिकार चाहती थी; आशंका यह थी कि जापान कभी भी भारतपर आक्रमण कर सकता है। इसलिए रक्षा-विभाग बहुत महत्त्वपूर्ण था। क्रिप्स इस बातपर राजी नहीं थे। समझौतेके लिए आतुर कांग्रेस क्रिप्सके निम्नलिखित सुझावको माननेके लिए एक कदम और आगे बढ़ी—

"(अ) वाइसरायकी कार्यकारी कौंसिलमें कमाण्डर-इन-चीफ 'युद्ध सदस्य' की हैसियतसे रहे; भारतमें फौजी कारस्वाईका पूरा नियन्त्रण उसीके हाथोंमें रहे। उसका यह अधिकार ब्रिटिश सरकार और युद्ध-मन्त्रिमण्डलके अधीन रहे। युद्ध-मन्त्रिमण्डलमें एक भारतीय प्रतिनिधि रहे जिसे भारत-रक्षाके सम्बन्धमें अन्य सदस्योंके समान अधिकार हों। प्रशान्त महासागर क्षेत्रकी कौंसिलमें भी एक भारतीय प्रतिनिधि रहे।

"(ब) वाइसरायकी कौंसिलमें एक भारतीय प्रतिनिधि रहे जो कमाण्डर-इन-चीफके युद्ध-विभागके उन उपविभागोंका भार ले ले जो रक्षा-विभागसे फौरन अलग किये जा सकते हों। इसके अतिरिक्त इस सदस्यको युद्ध-संयोजन-विभाग भी दे दिया जाय, जो अबतक केवल वाइसरायके अधीन ही है। और यह सदस्य भारत सरकारके उन कामोंको भी सम्हाल ले जो रक्षा-विभागसे सम्बन्धित हैं और अबतक किसी विभागके अन्तर्गत नहीं आते।"

कांग्रेसने यह सुझाव स्वीकार कर लिया। पर बादमें कहा जाता है कि क्रिप्सने अपने उच्चाधिकारियोंके आदेश पर सुझावके अन्तिम अंश (ङ) की व्याख्या बदल दी और कहा कि नयी सरकारमें वाइसरायके सभी पुराने अधिकार उन्हींके पास रहेंगे। उन्होंने यह भी कहा कि कांग्रेसने जो समझा वह मेरा कभी भी मतलब नहीं था। राष्ट्रीय सरकार और मन्त्रिमंडलीय उत्तरदायित्वके विरोधमें क्रिप्सने तर्क दिया कि ऐसी सरकार "बहुसंख्यक दलकी पूरी तानाशाही" हो जायगी और "अल्पसंख्यकोंके अधिकारोंकी रक्षाके लिए दिये गये ब्रिटिश सरकारके आश्वासनोंके विरुद्ध" होगी।

मुस्लिम लीगको 'वर्त्तमान' में अधिक दिलचस्पी नहीं थी। यद्यपि क्रिप्स-प्रस्तावमें मुस्लिम बहुमतके प्रान्तोंमें मुसलमानोंके आत्मनिर्णयका अधिकार निहित था और एक प्रकारसे पाकिस्तानकी स्थापनाका आश्वासन भी उसमें था, पर मुस्लिम लीग इस सम्बन्धमें ब्रिटिश सरकारसे सीधा वादा चाहती थी। हिन्दू महासभाको क्रिप्स-प्रस्ताव स्वीकार न था, क्योंकि उसमें भारत-विभाजनकी बात निहित थी।

गान्धीजीने क्रिप्स-यात्राका उद्देश्य और फल पहले ही समझ लिया था और इसलिए उन्होंने समझौता-वार्त्तामें भाग लेनेसे इनकार कर दिया। पर क्रिप्सके अनुरोध पर गान्धीजी दिल्ली गये और उनसे मिले। क्रिप्स-प्रस्तावपर गान्धीजीकी कांग्रेसको राय थी—"यह तो ऐसी हुण्डी है जो भविष्यमें ही भुन सकती है, चाहे इसे स्वीकार करो चाहे न करो।" गान्धीजीने स्वयं यह हुण्डी स्वीकार नहीं की। क्रिप्सने समाचार-पत्रोंके प्रतिनिधियोंसे एक भेंटमें कहा—ब्रिटिश सरकारके सुझावका मसविदा वापस ले लिया गया है और अब फिर वही स्थिति आ गयी है, जो मेरे भारत आनेके पहले थी।

क्रिप्सकी यात्रा असफल होनेसे भारतीय क्षितिजपर निराशा छा गयी। भारतीय जनता ब्रिटिश शासनकी तो और बड़ी शत्रु हो ही रही थी, भारत-रक्षाकी ब्रिटिश सरकारकी क्षमतामें भी उसका अविश्वास होता जा रहा था। सुदूर पूर्वके ब्रिटिश अधिकारके क्षेत्र जल्दी-जल्दी जापानी अधिकारमें जा रहे थे। बर्मा, मलाया और सिंगापुरके 'अभेद्य दुर्ग' पर जापानियोंके आश्चर्यजनक गतिसे कब्जा हो जानेसे ब्रिटिश प्रतिष्ठाको गहरा धक्का लगा। हांगकांग, मलाया, सिंगापुर व बर्मासे आनेवाले भारतीय और अंग्रेज शरणार्थियोंकी यात्रा-व्यवस्थामें

ब्रिटिश शासकों द्वारा जातिभेद बरतनेसे भारतको सबसे बड़े धक्के और अपमानका आभास हुआ। "भारतीय शरणार्थियोंको भूख और मृत्युका सामना करना पड़ा। बच्चे, बूढ़े, स्त्रियाँ सड़कके किनारे गिरकर मर जाते; न उनको हटानेका प्रबन्ध था, न जलानेका। स्वस्थ नवयुवकों और नवयुवतियोंकी दशा भी भारतीय सीमातक पहुँचते पहुँचते अत्यन्त दयनीय हो जाती थी; वे कंकाल मात्र रह जाते थे। लेकिन, दूसरी ओर अंग्रेज शरणार्थियोंकी खुशामदें होतीं, उनका जीवन सुखमय और आनन्दमय बनानेमें भारत सरकार कोई कोर-कसर न छोड़ती। व्यवहारभेदकी पराकाष्ठा तब हो गयी जब गोरे व काले शरणार्थियोंके लिए सड़कें अलग कर दी गयीं। अंग्रेजोंवाली सड़क पक्की थी; उसपर कई कई मीलपर खाने, ठहरनेका प्रबन्ध था। इसके पूर्ण विरोधमें, हजारों, लाखों भारतीयोंके साथ जो अपमान-जनक और पाशविक व्यवहार हुआ वह समस्त भारतीयोंके हृदयमें काँटेकी तरह कसकता रहा। भारतके अपमानका प्याला लबालब भर चुका था।"[1]

भारतमें अंग्रेज-विरोधी भावनाएँ बढ़ रही थीं। इसका प्रभाव यह हुआ कि जनतामें और पढ़े लिखे लोगोंमें भी जापानसे सहानुभूति होने लगी और लोगोंकी उत्कट इच्छा हो उठी कि जापान भारतपर आक्रमण करे और 'घृण्य' अंग्रेजोंको निकाल बाहर करे।

यह पृष्ठभूमि थी, जिसमें, अप्रैल १९४२ के अन्तमें कांग्रेस कार्यसमिति और महासमितिकी बैठकें इलाहाबादमें शुरू हुईं। गान्धीजीने इन बैठकोंमें भाग नहीं लिया, लेकिन उन्होंने वर्धासे अपने विचार लिख भेजे। उन्होंने निम्नलिखित बातोंपर जोर दिया :—

(१) क्रिप्स-प्रस्तावने साम्राज्यवादका नग्नरूप सामने रख दिया है,

(२) ब्रिटेन भारतकी रक्षामें असमर्थ है,

(३) भारतीय और ब्रिटिश हितोंमें शाश्वत विरोधाभास है,

(४) जापान भारतसे नहीं, ब्रिटिश साम्राज्यसे युद्ध कर रहा है,

(५) युद्धमें भारतका शामिल होना विशुद्ध रूपमें ब्रिटिश निर्णय है,

(६) अंग्रेजोंको भारत छोड़ देना चाहिये, ताकि भारतवासी अपने देशकी रक्षा कर सकें। देशी महाराजाओं और अल्पसंख्यकोंकी रक्षाके लिए भारतमें मौजूद रहनेका ब्रिटिश तर्क न्यायसंगत और टिकाऊ नहीं है। इन दोनों वर्गोंको अंग्रेजोंने ही जन्म दिया है,

(७) भारतकी जापान या किसी अन्य देशसे कोई दुश्मनी नहीं है। पर यदि, तब भी, जापान भारतपर हमला करता है तो उसे पूर्ण रूपेण अहिंसात्मक असहयोगका सामना करना पड़ेगा। जापान भारतके लिए खतरा है क्योंकि भारत साम्राज्यवादी ब्रिटेनका गुलाम है और इससे जापानका लालच बढ़ता है।

इसलिए गान्धीजीका निष्कर्ष यह था कि ब्रिटेन मित्रभाव और शान्तिपूर्ण ढंगसे भारत छोड़ दे। कांग्रेस महासमितिने जो प्रस्ताव अन्ततः स्वीकार किया वह इन्हीं बातोंपर आधारित था।

मद्रासमें कांग्रेस राजनीतिने एक अलग मोड़ लिया। मद्रास विधान सभाके कांग्रेस दलके नेता राजगोपालाचारीने दलकी एक विशेष बैठकमें दो प्रस्ताव स्वीकार कराये। एक प्रस्तावमें प्रान्तोंमें मन्त्रिमण्डल बनानेपर जोर दिया गया था और दूसरेमें पृथक होनेकी मुसलिम लीगकी माँग स्वीकार कर उससे समझौता कर लेनेकी माँग की गयी थी। कांग्रेसकी

1. इण्डियन नेशनल कांग्रेस—रिपोर्ट ऑव दि जनरल सेक्रेटरीज। पृष्ठ २६-७

नीतिके विरुद्ध होनेके कारण कांग्रेस अध्यक्षने इसपर आपत्ति की। राजगोपालाचारीने खेद-प्रकाश किया, पर साथ ही, अपनी नीतिके प्रचारके लिए स्वतन्त्र रहनेके लिए कांग्रेस कार्य-समितिसे इस्तीफा दे दिया। कांग्रेस महासमितिके इलाहाबाद अधिवेशनमें उन्होंने मुसलिम लीगकी माँगके सम्बन्धमें एक प्रस्ताव पेश किया। प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया और इसकी जगह भारतकी एकतापर जोर देनेवाला जगतनारायण लालका प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। लेकिन राजगोपालाचारी अपने मतपर दृढ़ रहे। अन्तमें गान्धीजीने उन्हें परामर्श दिया कि वे मद्रास विधान सभा और कांग्रेसकी सदस्यतासे इस्तीफा दे दें। राजगोपालाचारीने १५ जुलाईको कांग्रेससे इस्तीफा दे दिया।

अध्याय २९

अगस्त-विद्रोह

युद्धके कारण भारतके कष्ट बढ़ रहे थे। सरकार भारतमें जापानसे लोहा लेनेके लिए जी-जानसे तैयारी कर रही थी। दुश्मनके हाथ कुछ न पड़ने देनेके लिए सब कुछ नष्टभ्रष्ट कर देनेकी नीति बरती जानेके कारण समुद्रतटों—विशेषकर बंगाल और उड़ीसाके लोगोंकी घबराहट बेहद बढ़ गयी। हजारों लोग अपने घरों और खेतोंसे निकाल दिये गये और जीविकाहीन हो गये। उन्हें पुलिस और फौज दोनों परेशान करती। युद्ध फण्डमें जबरन चन्दे लिये जाते। चोरबाजारीसे गरीब और ज्यादा गरीब हो रहे थे, अमीर और ज्यादा अमीर। उद्योग-व्यवसाय कारपोरेशन द्वारा अंग्रेज भारतीय-व्यापारसे भारी मुनाफा कमा रहे थे। उपभोक्ता सामग्रीको लड़ाईके काम लानेके लिए और जनतासे बचानेके लिए सरकार मुद्रास्फीतिकी नीति बरत रही थी। वह खाद्य व अन्य सामग्री ऊँचे दामोंपर खरीदती और उसके लिए नये नोट छाप लेती। निम्न और मध्यम वर्ग, जिनकी आय बढ़ती हुई कीमतोंके अनुपातमें नहीं बढ़ी थी, अपने आभूषणादि बेचकर गुजारा कर रहे थे। गान्धीजीने कहा कि भारत एक शवके समान है जो मित्रराष्ट्रोंके कन्धोंपर भारी बोझकी तरह लदा हुआ है। भारतकी समस्याका केवल एक ही हल था, और वह यह कि अंग्रेजी राजका अन्त हो।

इसलिए इसी आधारपर गान्धीजीने १९४२ के आन्दोलनका संघटन किया और अंग्रेजोंसे भारत छोड़नेको कहा। १४ जुलाईको सेवाग्राम (वर्धा) में कांग्रेस कार्य-समितिकी बैठक हुई, गान्धीजीसे 'भारत छोड़ो' आन्दोलनके महत्त्व और आशयके सम्बन्धमें परामर्श किया और उसीके अनुसार एक प्रस्ताव स्वीकार किया गया। यह प्रस्ताव इंगलैण्डसे भारतके साथ न्याय करनेकी अपीलके रूपमें था, जिसमें कहा गया था—"यदि यह अपील अस्वीकार हुई, तो कांग्रेस १९२० से संचित अपनी समस्त अहिंसक शक्तिके प्रयोगके लिए मजबूर हो जायगी। इतना व्यापक संघर्ष अनिवार्यतः गान्धीजीके नेतृत्वमें ही होगा।"

यह स्पष्ट था कि सार्वजनिक आन्दोलन होनेवाला था; गान्धीजीने कहा भी था कि यह मेरे जीवनका सबसे बड़ा संघर्ष होगा। उन्होंने इंगलैण्डसे कहा था—"भारतको ईश्वरके भरोसे छोड़कर चले जाओ; अगर यह तुम्हारे लिए बहुत बड़ी बात हो तो उसे अराजकतामें छोड़ दो, पर चले जाओ।" लेकिन उन्होंने भारतवासियोंको सलाह दी कि वे "अंग्रेजी सत्तासे छुटकारा पानेके लिए जापानसे कोई आशा न लगायें।"

७ व ८ अगस्त, १९४२ को बम्बईमें कांग्रेस महासमितिका ऐतिहासिक अधिवेशन हुआ। भारत छोड़ देनेकी ब्रिटिश सरकारसे अपनी माँग और अपील दोहराते हुए कांग्रेस महासमितिने अपने प्रस्तावोंमें कहा—"लेकिन महासमितिकी धारणा है कि अब मानवता तथा स्वयं अपने हितोंमें काम करनेसे रोकनेवाली साम्राज्यवादी और प्रभुत्वमत्त सरकारके विरुद्ध अपनी संकल्पशक्तिका प्रयोग करनेसे राष्ट्रको रोकना महासमितिके लिए उचित न होगा। इसलिये महासमिति निश्चय करती है कि स्वाधीनता और स्वतन्त्रता प्राप्त करनेके अपने कभी

न छिन सकनेवाले अधिकारका प्रयोग करनेके लिए अधिकसे अधिक व्यापक सार्वजनिक अहिंसात्मक आन्दोलनकी अनुमति दी जाय, ताकि, पिछले २२ वर्षोंके शान्तिमय संघर्षमें संचित अपनी सारी अहिंसात्मक शक्तिका देश प्रयोग कर सके। ऐसा संघर्ष अनिवार्यतः गान्धीजीके नेतृत्वमें होगा और महासमिति उनसे अनुरोध करती है कि वे नेतृत्व ग्रहण करें और जो कदम उठाने हों, उनका निर्देश दें।"

महासमितिने अधिकार दे दिया कि नेताओंकी गिरफ्तारीके बाद 'हर भारतवासी स्वयं अपना पथप्रदर्शन करेगा।'

प्रस्ताव जवाहरलाल नेहरूने पेश किया था और वल्लभभाई पटेलने उसका समर्थन किया था। प्रस्तावका केवल १३ सदस्योंने विरोध किया था; इनमेंसे १२ कम्यूनिस्ट थे। कम्यूनिस्टोंने जर्मनी द्वारा रूसपर आक्रमण होनेके बाद युद्धके सम्बन्धमें अपना मत बदल दिया था।

'भारत छोड़ो' प्रस्ताव स्वीकार हो जानेके बाद गान्धीजीने १४० मिनटतक महासमितिके समक्ष भाषण किया। वे पहले हिन्दुस्तानीमें बोले, फिर अंग्रेजीमें। यह, सम्भवतः, उनके जीवनका सबसे लम्बा भाषण था। उन्होंने कहा—मैं फौरन आजादी चाहता हूँ, आज रातको ही, कल सबेरेसे पहले आजादी चाहता हूँ—अगर वह प्राप्त हो सके। अब आजादी साम्प्रदायिक एकताकी प्रतीक्षा नहीं कर सकती। यदि वह एकता अभी प्राप्त हुई, तो उसके लिए अब जितनी कुरबानी करनी पड़ेगी, पहले उससे कममें काम चल जाता। पर कांग्रेसको आजादी हासिल करनी है या उसे हासिल करनेकी कोशिशमें मिट जाना है। और यह भी न भूलो कि जिस आजादीको पानेके लिए कांग्रेस जूझ रही है, वह सिर्फ कांग्रेस-जनोंके लिए ही न होगी, वरन् भारतकी ४० करोड़ जनताके लिए होगी। कांग्रेस-जनोंको सदैव जनताके तुच्छ सेवक बने रहना है।"

मुस्लिम लीगकी पाकिस्तानकी माँगके सम्बन्धमें गान्धीजीने कहा—"देशके करोड़ों मुसलमान हिन्दू परिवारोंसे आये हैं। हिन्दुस्तानके अलावा उनकी मातृभूमि और किस जगह होगी? हिन्दुस्तान ही प्रायः सभी भारतीय मुसलमानोंकी मातृभूमि है। इसलिए हर मुसलमानको देशकी आजादीकी लड़ाईमें सहयोग देना चाहिये। कांग्रेस किसी एक वर्ग या समाजकी नहीं है; वह पूरे राष्ट्रकी है। कांग्रेसपर कब्जा कर लेनेके निमित्त मुसलमानोंके लिए दरवाजा खुला हुआ है।"

लेकिन मुस्लिम लीगने घोषणा की कि कांग्रेसका सार्वजनिक आन्दोलन मुसलमानों और उनकी पाकिस्तानकी माँगके विरुद्ध है। इसलिए गान्धीजीने जनताको सावधान किया था कि "इस बार संघर्षमें बहुत ज्यादा बड़ी कुरबानी देनी होगी क्योंकि संघर्षका विरोध मुस्लिम लीग और अंग्रेज दोनों करेंगे।"

फिर उन्होंने अपने जीवनके सबसे महान् संघर्षके लिए जनताको प्रोत्साहित किया। उन्होंने कहा—"इसी क्षणसे तुममेंसे हर स्त्री-पुरुषको अपनेको स्वाधीन मानना चाहिये और इस तरह काम करना चाहिये मानों तुम आजाद हो और साम्राज्यवादके चंगुलमें जकड़े हुए नहीं हो। यह कोई कल्पनाकी बात नहीं है जो मैं तुमसे सच मान लेनेके लिए कह रहा हूँ। यही स्वतन्त्रताका सत्व है। गुलामीकी जंजीर उसी वक्त टूट जाती है जिस क्षण गुलाम अपनेको स्वतन्त्र मान लेता है।

"यह एक छोटा-सा मन्त्र है जो मैं तुम्हें देता हूँ। तुम इसे अपने हृदयपर लिख लो ताकि तुम्हारी हर साँसमें यह प्रकाशित हो। यह मन्त्र है—हम 'करेंगे या मरेंगे'। हम या तो भारतको आजाद करेंगे या उसकी कोशिशमें मर जायँगे। हम अपनी गुलामी कायम देखनेके लिए जिन्दा नहीं रहेंगे। कांग्रेसका हर सदस्य चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, संघर्षमें इस अटल संकल्पसे शामिल होगा कि उसे देशको गुलामीमें जकड़ा देखनेके लिए जिन्दा नहीं रहना है। यही तुम्हारी शपथ है। जेल भरनेकी बात अपने दिमागोंसे निकाल दो। अगर सरकार मुझे स्वतन्त्र रहने देती है तो मैं तुम्हें जेलें भरनेका कष्ट नहीं दूँगा। जब सरकार कष्टमें है, मैं उसपर बड़ी संख्यामें कैदियोंके भरण-पोषणका बोझ नहीं डालूँगा।"

गान्धीजीने यह भी कहा कि "कोई भी काम छिपाकर नहीं किया जायगा। यह खुला विद्रोह है। इस संघर्षमें छिपाव पाप है। स्वाधीन व्यक्तिको छिपकर कोई काम नहीं करना चाहिये। "आजादी कल नहीं, आज आनी है। इसलिए मैंने कांग्रेससे वादा किया है और कांग्रेसने मुझसे वादा किया है कि हम करेंगे या मरेंगे।"

गान्धीजीने कहा कि सार्वजनिक आन्दोलन फौरन शुरू नहीं होगा। मैं वाइसरायसे भेंट करूँगा और उनसे अपील और अनुरोध करूँगा। इसमें दो तीन सप्ताह लग जायँगे। लेकिन ९ अगस्तको प्रातःकाल, समितिकी बैठक खत्म होनेके कुछ ही घण्टों बाद गान्धीजी और कांग्रेस कार्य-समितिके सदस्य गिरफ्तार कर किसी अज्ञात स्थानको ले जाये गये। पूर्व-निश्चित योजनाके अनुसार प्रान्तोंमें कांग्रेस समितियाँ अवैध घोषित कर दी गयीं और ९ अगस्तकी शामतक देश भरके सभी प्रमुख कांग्रेसजन भारत रक्षा नियमोंके अधीन पकड़ लिये गये। जनता स्तम्भित रह गयी, विशेषकर अखबारोंमें यह पढ़कर कि गान्धीजी व कार्य-समितिके सदस्य किसी अज्ञात स्थानको ले जाये गये हैं। हर तरहकी अफवाहें फैलने लगीं और जो विश्वास कर पाये, उन्होंने अफवाहोंमें विश्वास भी किया। देशभरमें एक अभूतपूर्व तनाव और सनसनीका वातावरण हो गया और ऐसा लगने लगा कि जनता विद्रोह कर देगी और सरकारी व्यवस्थाको नष्ट कर देगी। ९ अगस्तकी गिरफ्तारियोंके कुछ दिन पहले ही, इस तरहकी अफवाहें फैलने लगी थीं कि ९ अगस्तको ट्रेनोंका चलना बन्द हो जायगा। कुछ लोग इन अफवाहोंपर हँसे, पर कुछने उनका विश्वास भी कर लिया। और हुआ भी यही, सैकड़ों मील लम्बी रेलवे लाइनें उखाड़ डाली गयीं और बहुतसे क्षेत्रोंमें रेलोंका चलना स्थगित हो गया। यह काम इतने चुपचाप ढंगसे संघटित हुआ और इस कुशलतासे कार्यान्वित हुआ कि सारे देशमें फैले खुफिया पुलिसके अपने संघटनके बावजूद भी सरकारको इसका पता न लगा और वह भी स्तम्भित रह गयी।

कुछ दिनोंतक जनताकी उत्तेजना सार्वजनिक प्रदर्शनोंमें परिलक्षित होती रही, जिन्हें रोकनेके लिए सरकारने मारपीट, लाठी व गोलीका सहारा लिया। फिर खुला विद्रोह शुरू हो गया। विद्रोही स्वयं अपने नेता थे और कहाँ ब्रिटिश सरकारपर चोट की जाय, इसका निर्णय वे स्वयं करते थे। बड़ी-बड़ी भीड़ तत्काल निर्णय करती कि सरकारी सत्ताके किस प्रतीकपर हमला किया जाय और हमला कर देती। थाने, स्टेशन व दूसरी सरकारी इमारतें जला डाली गयीं या नष्ट कर दी गयीं; तारके खम्भे तोड़ डाले गये, तार काट डाले गये। यह कोई क्षणिक क्रोधका उद्रेक नहीं था। सरकारी सम्पत्ति व यातायातके साधनोंका विनाश महीनों-तक जारी रहा। इसे सार्वजनिक आन्दोलनका कार्य-क्रम ही मान लिया गया।

जो किसी सत्याग्रह आन्दोलनमें एक बार भी जेल गये थे, वे सभी कांग्रेसजन गिरफ्तार किये जा चुके थे और आन्दोलन वे लोग चला रहे थे जो कभी कांग्रेसके सदस्य भी न थे। उनमें बहुत-से छात्र थे। वे अहिंसाके पुजारी नहीं थे और जो भी अस्त्र उनके हाथ आता उसीसे ब्रिटिश सत्तापर हमला कर बैठते। हर जगह बन्दूकें और पिस्तौलें आदि इकट्ठी की गयीं; वे या तो पुलिससे छीन ली गयीं या चुपचाप बना ली गयीं। गान्धीजीके 'करो या मरो' मन्त्रसे उन्हें प्रेरणा मिल रही थी; आन्दोलनके दौरानमें करोड़ों व्यक्तियोंने यह मन्त्र दोहराया और गोलियोंकी बौछार भी उन्हें चुप न कर सकी। कई जगह भीड़ने पुलिसको बेकाबू कर थानोंपर कब्जा कर लिया। बलिया (संयुक्तप्रान्त) में जन-समूहोंने पूरे जिलेके शासन-तन्त्रपर कब्जा कर लिया और १९ अगस्तको स्वराज्य सरकारकी स्थापना की, जो कई दिनोंतक चली। इस स्वराज्य सरकारको मान्यता और सहायता देनेके लिए लोगोंने उदारतापूर्वक चन्दे दिये। सभी सरकारी कर्मचारी कैद कर लिये गये। चित्तू पाण्डेय इस सरकारके अध्यक्ष थे।

२२ अगस्तको सरकारी दमन शुरू हुआ। फौजने जिलेपर कब्जा कर लिया और 'जनताको सबक सिखाना' शुरू किया। "लगभग डेढ़ सौ कांग्रेस-जनोंके घर लूटकर जला दिये गये; औरतें और बच्चे गाँवोंसे खदेड़ दिये गये। बहुत-सी स्त्रियोंके बाल काट डाले गये, उनके जेवर कपड़े छीन लिये गये और वे चीथड़े पहननेको मजबूर की गयीं। बहुत-से परिवार बिना खाना पानी २४ घण्टेतक घरोंमें बन्द कर दिये गये। कुछ लोगोंको पेड़ोंसे बाँधकर बुरी तरह पीटा गया। बहुत-से लोग थूककर चाटनेके लिए बाध्य किये गये और गन्दी-भद्दी गालियाँ दी गयीं। यह भी सूचना मिली कि कई थानोंमें पकड़े गये लोगोंके मुँहमें पेशाब डाल दिया गया। लाठी, डण्डों, बन्दूकोंके कुन्दों और घूसोंसे मारना आम बात थी। थप्पड़ मारना और कभी कभी संगीनोंसे घायल कर देना अनोखी घटनाएँ नहीं थीं। लगभग १२ लाख रुपयेके सामूहिक जुर्माने किये गये; लेकिन कहा जाता है कि २९ लाखसे ज्यादा रकम वसूल की गयी। ४६ से अधिक व्यक्ति गोलियोंके शिकार हो गये और इनसे बहुत ज्यादा व्यक्ति गोलियोंसे घायल हुए। कई सौ मकान जला डाले गये और १०० से ज्यादा मकान गिरा दिये गये।"[1]

भारत सरकारके गृहमन्त्रीने १५ सितम्बरको जो वक्तव्य दिया उसके अनुसार एक महीनेमें लगभग २५० रेलवे स्टेशन नष्ट कर दिये गये या उन्हें क्षति पहुँचायी गयी, जिसमेंसे १८० बलिया तथा पूर्वी संयुक्त प्रान्तके अन्य जिलोंमें थे, २४ रेलवे ट्रेनें पटरियोंसे उतार दी गयीं, रेलके डब्बों व कई इंजनोंको भारी नुकसान पहुँचाया गया, ५५० डाकखानोंपर हमला किया गया, इनमेंसे ५० से अधिक बिलकुल जला डाले गये और २०० को गहरी क्षति पहुँची। एक लाख रुपयेके डाकके टिकट नष्ट कर दिये गये। असंख्य लेटरबक्स चिट्ठियों सहित जला डाले गये। ३५०० स्थानोंपर टेलीफोन व टेलीग्राफके तार काट डाले गये। बहुत-सी जगहोंपर सड़कें खोद डाली गयीं, यातायातके साधन नष्ट कर डाले गये और पुल उड़ा दिये गये ताकि उन स्थानोंका नियन्त्रण जिलोंके सदर मुकामसे न हो सके। जिन लोगोंने सरकारी सत्तापर आक्रमण किया; उनकी भीड़ कभी-कभी बढ़कर एक-एक लाखतक की हो गयी।

---

१. गोविन्दसहाय, '४२ रिबेलियन', पृष्ठ २२४-२२५

कुछ क्षेत्रोंमें गाँवोंको मुक्तकर प्राचीन भारतमें प्रचलित पंचायत शासन कायम किया गया जो कुछ दिनोंतक चला।

आन्दोलनमें छात्रोंने प्रमुख भाग लिया। बड़ी संख्यामें वे स्कूल और कालेजोंसे निकल आये या निकाल दिये गये। संयुक्त प्रान्तकी सिर्फ बनारस कमिश्नरीमें ही ३२००० छात्र शिक्षा-संस्थाओंसे निकाले गये। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय विद्रोही छात्रोंकी लड़ाई-का मुख्य केन्द्र था और प्रान्तके पूर्वी जिलोंके विद्रोहमें वहाँके छात्रोंका काफी हाथ था। यहाँ और बिहारमें आन्दोलनने जितना उग्र रूप धारण किया, उतना देशमें कहीं नहीं हुआ। अन्य प्रान्तोंकी परम्पराके विरुद्ध बिहारमें हिन्दुओं और मुसलमान दोनोंने मिलकर आन्दो-लनमें भाग लिया। अन्य जगहोंपर मुसलमान आन्दोलनकारियोंकी संख्या दालमें नमकके बराबर ही थी। लेकिन अधिकांश शहरी मुसलमान लीगके प्रभावमें आन्दोलनसे अलग रहे।

मजदूरोंने भी आन्दोलनमें भाग लिया। अहमदाबाद व गुजरातके कुछ अन्य स्थानों-की १०० से अधिक मिलें तीन महीनेसे ज्यादा वक्ततक बन्द रहीं। गुजरातकी हड़ताल और जगहोंतक फैली। मद्रास, बड़ौदा, इन्दौर, नागपुर, दिल्ली आदिमें कई-कई दिनोंकी हड़तालें हुईं।

बिहारमें आन्दोलनने जेलोंपर हमलेका भी रूप लिया। भीड़ जेलोंपर हमले करती और बन्दियोंको मुक्त कर देती। मधुबनीमें खुद कैदियोंने विद्रोह कर दिया। जेलके सुपरिंटेंडेण्टको कैद कर लिया और राजनीतिक कैदियोंको छोड़ शेष सब बन्दी भाग निकले। लेकिन हाजीपुरमें, जहाँ २००० व्यक्तियोंकी भीड़ने जेलपर हमला किया था, सभी कैदी (जिनमें राजनीतिक कैदी भी शामिल थे) भाग निकले, उनकी संख्या १००० थी। बादमें उनमेंसे कुछ फिर पकड़े गये और उन्हें नृशंसतापूर्वक दण्ड दिया गया। उन्हें गधोंपर बैठा कर घुमाया गया। सीतामढ़ीमें १०००० व्यक्तियोंकी एक भीड़ने जेलपर आक्रमण किया। आरा और संथालपरगनेमें गोंडाकी जेलोंपर भी आक्रमण हुए।

संक्षेपमें, देशमें व्यापक रूपसे अस्तव्यस्तता छा गयी। कुछ जिलोंमें पूरा सरकारी शासन ठप हो गया। कई हफ्तों बाद ही सरकार स्थितिपर काबू पा सकी और अपने समस्त साधनोंका प्रयोग जनताके प्रतिरोधके दमनमें करने लगी। और तब जघन्य पाशविक अत्या-चारोंका अध्याय शुरू हुआ। तब भी, कुछ स्थानोंपर विद्रोहकी आग सुलगती ही रही और बड़े-से बड़े दमन भी उसे कुचल न सके।

१९४२ के विद्रोह और पुलिस व फौजके अत्याचारोंके वर्णनसे पूरी एक पुस्तक भर जायगी। अत्याचारोंके कुछ उदाहरणोंसे पुलिस व फौजके व्यवहारका चित्र पूरा हो जायगा।

२४ सितम्बर, १९४२ को केन्द्रीय विधानसभामें एक प्रस्ताव पेश करते हुए के. सी. नियोगीने पुलिस और फौजके, लूटके, जनताकी निजी सम्पत्तिकी निर्बाध बरबादी करने, बिना किसी उत्तेजना गोली चलाने, अहिंसक भीड़ोंपर हमला करने और गोली चलानेकी घट-नाओंके कुछ उदाहरण दिये। गाजीपुरके एक जमींदारने प्रान्तीय सरकारको जो एक नोटिस दी थी, आपने उसके कुछ उद्धरण सुनाये। नोटिस इस प्रकार थी—"२६ अगस्त, १९४२ को मेरे मैनेजर (कारिन्दे) ने मुझे सन्देश भेजा कि २४ अगस्तको दोपहरमें चार अंग्रेज फौजी लगभग डेढ़ सौ फौजी सिपाहियों और नन्दगंजके थानेदारके साथ मेरे गाँव पहुँचे और गाँवके सभी मर्दों (जिसमें मेरे मैनेजर और नौकर भी थे) और बच्चोंको गोली मार

देनेकी धमकी देकर गाँवकी कच्ची सड़कपर कतार बनाकर खड़े होनेको कहा। सब लोग सड़कपर आ गये। तब चारों अंग्रेज फौजी कुछ अन्य फौजियोंको लेकर गाँवमें घुस गये और शेषको सड़कपर पुरुषोंपर निगाह रखनेके लिए छोड़ गये। गाँवमें घुसकर फौजियोंने औरतोंसे घरोंके बाहर निकलनेको कहा और धमकी दी कि न निकलनेपर गोली मार दी जायगी। जब औरतें बाहर निकल आयीं तब सिपाहियोंने उनके जेवर उतार लिये''बादमें घरोंमें घुसकर रुपया-पैसा, जेवर, आभूषण, घड़ियाँ जो कुछ मिला, लूटने लगे।

"इसके बाद फौजियोंने घरोंसे कपड़े लत्ते निकालकर उनमें आग लगा दी, गाँवके बहुतसे छप्पर जला दिये और मेरे २० असामियोंके घर जला दिये।

"गाँव लूटने और घरोंमें आग लगा देनेके बाद फौजियोंने सड़कपर इकट्ठे १२ वर्षसे छोटे बच्चोंको हटा दिया। इसके बाद वहाँ मौजूद लोगोंको कपड़े उतारकर मेंढककी तरह सड़कपर बैठनेको कहा गया। यह हुक्म राइफिलोंके कुन्दोंसे मनवाया गया।

"इसके बाद बाँस काट-काटकर छड़ियाँ बनायी गयीं और गाँववालोंकी नंगी पीठ-पर पाँच-पाँच छड़ियाँ जोर-जोरसे मारी गयीं। मेरे एक नोकरने इसका विरोध किया तो उसे एक पेड़से बाँधकर बुरी तरह मारा गया और उसपर ३० बेंत पड़े। बादमें उस नौकरके साथ तीन अन्य गाँववालोंको गिरफ्तार कर ले जाया गया।"[1]

के. सी. नियोगीने दूसरी घटना यह सुनायी—"कुछ छात्र गाँवोंमें सत्याग्रहका प्रचार करने गये थे। प्रचारके बाद वे कैरा जिलेमें किसी स्टेशनसे रेलगाड़ी पकड़ने गये। उसी रेलगाड़ीसे कुछ पुलिसके सिपाहियोंकी एक टुकड़ी उतर आयी और छात्रोंकी ओर बढ़ी। छात्र शान्तिपूर्वक गिरफ्तार होनेको तैयार थे, पर पुलिसने उनपर गोली चला दी। तीन छात्र मारे गये और बहुतसे घायल हो गये। गोली चलानेके बाद पुलिसने उन लोगोंको रोक दिया जो घायलोंको पानी पिलाने आये। घायलोंको प्यास लग रही थी। पर रेलवे कर्मचारियों और गाँव वालोंको उन्हें पानी नहीं देने दिया गया।"[2]

बम्बई प्रान्तमें पूर्वी नन्दुबारमें एक थानेदार कुछ लड़के-लड़कियोंका पीछा कर रहा था, जिन्होंने एक जुलूसमें भाग लिया था। एक लड़केने थानेदारको रोककर कहा—मेरे हाथमें राष्ट्रीय झण्डा है, मेरे सीनेमें गोली मार दो। थानेदारने गोली मार दी, पर वह निशाना चूक गया। लड़केने फिर गोली मारनेकी चुनौती दी। इस बार थानेदारने सिपाहियोंसे लड़केको पकड़ लेनेको कहा। जब लड़का जकड़कर खड़ा कर लिया गया तब थानेदारने उसपर गोली चलायी और उसे मार गिराया। इसके बाद फिर गोली चली और वहीं पाँच लड़के मरकर ढेर हो गये।

इसी तरह पटनाके सरकारी सचिवालयपर राष्ट्रीय झण्डा लगाते हुए ११ छात्रोंने पास खड़े एक अंग्रेज पुलिस अफसरसे कहा—अगर हमें रोक सकते हो तो रोक लो। उनपर गोली चलायी गयी। छः वहीं मर गये। सातवाँ अस्पतालमें मर गया। अस्पतालमें जब उसे होश आया, उसने नर्ससे पूछा—गोली मेरे सीनेमें लगी है या पीठ में?

---

१. 'जे. एम. देव' 'ब्लड एण्ड टीअर्स' में पृष्ठ ६०-६१ पर उद्धृत

२. वही पुस्तक, पृष्ठ ६२

नर्सके यह बताने पर कि गोली सीनेमें लगी है उस लड़केने सन्तोषकी साँस लेते हुए कहा—'मैं जब मर जाऊँगा तब लोग यह नहीं कहेंगे कि मैं भाग रहा था तब गोली लगी।'

बिहारमें "१८ महीनेके एक बच्चेको पकड़कर इसलिए जेलमें डाल दिया गया कि उसका बाप फरार था। चार दिनतक वह बच्चा अपनी माँसे अलग जेलमें रखा गया।"[1] हाकिमोंका ख्याल था कि इस तरह माँ अपने पतिके छिपनेकी जगहका पता बता देगी। लेकिन बेचारी माँको खुद पता नहीं था कि पति कहाँ है। पूर्णिया (बिहार) में १३ अगस्तको आठ व्यक्ति गोलीसे मार डाले गये। उनमें ध्रुव नामक एक बालक भी था। उसके पिता डाक्टर कुण्डू जब उसके शवकी अन्त्येष्टि करके लौट रहे थे तभी पुलिसने उन्हें गिरफ्तार कर नजरबन्द कर दिया।

देशके कई भागोंमें—विशेषकर बंगाल और मध्यप्रान्तके (आष्टी और चिमूर गाँवोंमें) तथा अन्य गाँवोंमें सिपाहियोंने लगभग २०० स्त्रियोंके साथ बलात्कार किया। कई जगह स्त्रियाँ घरोंसे घसीट लायी गयीं और खुली सड़कों और चौराहोंपर उनके साथ बलात्कार किया गया। लोगोंमें आतंक छा गया। चिमूरकाण्डके विरोधमें गान्धीजीके सेवाग्राम (वर्धा) के प्रोफेसर भंसालीने ६३ दिन तक अनशन किया। वह काण्डकी जाँचकी माँग कर रहे थे, पर वाइसरायकी कौंसिलके सदस्य माधव श्रीहरि अणेतकने उनकी सहायता करनेसे इनकार कर दिया।

'समाज' में प्रकाशित एक लेखमें बलजीत सिंहने पुलिसके अत्याचारोंका वर्णन करते हुए लिखा—"तपती धूपमें खड़ा कर लोगोंपर गोली चला देना, उन्हें नंगाकर पेड़ोंसे उलटा टाँग देना और तब कोड़े मारना, औरतोंको नंगाकर मारना, उनके गुप्तांगोंमें मिर्चे पीसकर भर देना, लोगोंको ऐसे कमरोंमें बन्द कर देना जहाँ मिर्चोंकी धूनी दी जा रही हो, लोगोंको नंगा कर पेटके बल घसिटनेको बाध्य करना और ऐसे ही दूसरे तरीके पुलिसने जनतामें आतंक जमानेके लिए इस्तेमाल किये। पिताकी मौजूदगीमें पुत्रियोंके साथ बलात्कार किया गया। आम सड़कों और खुले स्थानोंमें औरतोंको नंगा करके घसीटा गया और दूसरी तरहसे अपमानित किया गया। पुलिसने यन्त्रणा देनेका एक नया ढंग निकाला। लोगोंको पैर पसार कर बैठाया जाता, दो आदमी उनके हाथ पकड़ लेते, तीसरा आदमी अपना सिर उनके पेटमें दबाता, जिससे उन लोगोंके गुप्तांगोंसे खूनका फव्वारा छूट पड़ता, वे या तो वहीं मर जाते या जीवन भरके लिए बेकार हो जाते।"

पंजाबके प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता शार्दूल सिंह कवीश्वरने एक पुस्तिका[2] में लाहौरके किलेमें राजनीतिक बन्दियोंपर पुलिसके अत्याचारोंका वर्णन किया है। इस पुस्तिकामें उन कैदियोंके बयान हैं, जिनके साथ बर्बर व्यवहार किये गये। ये बयान अन्य जेलोंमें भी हुए अत्याचारोंके प्रतीक हैं। वास्तवमें कहीं-कहीं तो अत्याचार यहाँसे भी अधिक नृशंस हुए। इन बयानोंमेंसे कुछ यहाँ उदाहरणके लिए दे देना अनुपयुक्त न होगा।

सुभाषचन्द्र बसुके भतीजे द्विजेन्द्रनाथ बसुका बयान—"खुफिया पुलिसके डिप्टी इन्स्पेक्टर-जनरल मिस्टर बेस मईके अन्तिम सप्ताह, एक दिन मुझसे तफतीशके वक्त बोले कि 'अगर तुमने सब कुछ न बता दिया तो तुम्हें गोली मार दी जायगी।' इसके बाद

१. गोविन्दसहाय, वही पुस्तक, पृष्ठ १६१

२. दि लाहौर फोर्ट टार्चर कैम्प

मुझे तनहाई सेलमें ले जाया गया। मैं फिर सरदार बहादुर सम्पूरन सिंहके सामने पेश किया गया, जिन्होंने मुझसे कहा कि डी. आई. जी. ने मेरे और पीटे जाने तथा मेरे सेलमें कच्चा कोयला जलानेका हुक्म दिया है। वे मुझे जूतों और घूँसोंसे पीटने लगे और रातमें देरतक मुझे जबरदस्ती जगाये रहे। फिर मैं सेलमें ले जाया गया जहाँ कच्चा कोयला जल रहा था, मैं आध घण्टे बाद बेहोश हो गया। डिप्टी सुपरिण्टेण्डेण्टने मुझे फिर बुलाकर धमकी दी कि "तुम्हें नंगा कर एक बाँस तुम्हारे गुह्यांगमें ठूँस दिया जायगा या सरदार निरंजन सिंह तालिबकी तरह यातना दी जायगी।"

सुभाष बसुके साथी सरदार निरंजनसिंह तालिबका बयान—"एक सब इंस्पेक्टरने मुझे जमीनपर गिरा दिया, मेरा मुँह जमीनसे लड़ गया। मेरे कपड़े उतारकर उसने मुझे जूतोंसे बुरी तरह मारा। फिर वह मेरी जाँघोंपर बैठ गया और मेरे सीनेपर इतनी चोटें कीं कि मैं बेहोश हो गया। इसके बाद प्रतिदिन मुझे इसी तरह मारा जाता। दिन रात मुझे जगाये रखा जाता। मुझे बैठने नहीं दिया जाता। अगर मैं ऊँघने लगता तो मेरी दाढ़ी नोची जाती। मैंने आत्मघात करनेका फैसला कर लिया और एक दिन दफ्तरकी सबसे ऊँची सीढ़ीसे कूद पड़ा। पर मैं मरनेसे बच गया।"

प्रोफेसर हेरल्ड लास्कीको सोशलिस्ट नेता राममनोहर लोहियाने एक पत्रमें लिखा—"चार महीनेतक मुझे एक न एक यातना दी जाती रही। मुझे दिन रात जगाये रखा जाता—एक बार तो दस दिनतक बराबर जगाये रखा गया। पुलिस मुझे बराबर खड़ा रखती और जब-जब मैंने इसका विरोध किया तब-तब पुलिसने मुझे हथकड़ीमें जकड़े हाथोंके बल फर्शपर घसीटा।"

सोशलिस्ट नेता जयप्रकाशनारायण—"मुझे परेशान करनेकी यन्त्रणा सीमातक जा पहुँची जब मुझे बराबर जगाये रखा जाता। सबेरेसे आधी राततक मुझे बराबर दफ्तरमें रखा जाता, उसके बाद घण्टे भरके लिए सेलमें भेज दिया जाता, फिर घण्टे दो घण्टेके लिए दफ्तरमें रखा जाता, फिर घण्टे भरके लिए सेलमें भेज दिया जाता, फिर बुला लिया जाता, ऐसे ही सबेरा हो जाता।"

रामानन्द मिश्र—"मुझे २० बार मार पड़ी। मुझे थप्पड़, घूँसे, ठोकर, तमाचे मारे जाते, मेरे बाल नोचे जाते। ११ मार्च १९४३ को मुझे इतना मारा गया कि मैं अचेत हो गया और कह नहीं सकता कि उसके बाद भी मार पड़ती रही कि नहीं।"

बम्बईमें—"पुलिसने लोगोंको बेरहमीसे ठोंका और सूचना मिली कि दो व्यक्ति मारके बाद खूनकी कै करने लगे और मर गये। दो दिनकी नृशंस ठुकाईके बाद एक व्यक्ति जब तीसरे दिन छूटा तो उसने आत्महत्या कर ली। नाखूनोंमें पिनें चुभोने, कई-कई दिन लगातार बेरहमीसे मारपीट करने, पैरोंसे उलटा लटकाकर झुलाने और फिर सिरके बल ही पटक देने, बर्फकी सिलोंपर लिटाने और इसी तरहकी और निर्दय घटनाओंकी भी सूचनाएँ मिलीं।" एक अध्यापकको मोटर बससे घसीट लिया गया और मार-मारकर नीला कर दिया गया क्योंकि उसने कांग्रेसके नारे लगाये थे। बेदकी हालमें एक लड़केके चार दाँत तोड़ डाले गये क्योंकि "उसने फरार लोगोंका पता नहीं बताया।"

कांग्रेसके अनुमानके अनुसार "पुलिसकी गोली, बम और मारसे '२५००० से कम व्यक्ति नहीं' मारे गये। जो घायल हुए वे असंख्य थे।" लेकिन भारत सरकारके अनुसार

९४० मारे गये; १६३० घायल हुए; ५३८ बार गोली चलायी गयी; ६०२२९ व्यक्ति गिरफ्तार हुए; ६० बार फौज बुलायी गयी; पटना, भागलपुर, नदिया, मुँगेर, तालचेरा और तमलुकमें ६ बार हवाई जहाजोंसे बम बरसाये गये; ३१८ रेलवे स्टेशन जलाये गये; १२००० जगहोंपर टेलीफोन व टेलीग्राफके तार काटे गये; ९४५ डाकखाने लूटे या जलाये गये; ५९ रेलगाड़ियाँ पटरीसे उतारी गयीं; १८ लाख रुपयेके रेलगाड़ियोंके डब्बों व इंजनोंकी क्षति हुई; ९ लाख रुपयोंकी ट्रकोंको क्षति पहुँचायी गयी, रेलवे स्टेशनोंके नष्ट होनेसे ८॥ लाख रुपयेकी क्षति हुई, २ लाख रुपयेकी नगदी या कीमती चीजोंका नुकसान हुआ और ६॥ लाख रुपयेके दूसरे सामानोंका नुकसान हुआ।

पुलिस और फौजके हमलों और अत्याचारोंसे जनताका कितना नुकसान हुआ उसका अनुमान कभी किसीने नहीं लगाया।

यह शुरूके हफ्तोंमें हुआ। उसके बाद आन्दोलनने गुप्त रूप धारण कर लिया और गुप्त उपायोंसे उसे जीवित रखा गया। राजनीतिक कार्यकर्त्ता छिप गये और पुलिसको चकमा देने लगे। वे नाम और वेशभूषा बदलकर फिर विद्रोहकी तैयारी करने लगे। कांग्रेसके मध्यम दर्जेके नेता—अधिकांशतः सोशलिस्ट और वे जिन्हें अहिंसामें विश्वास नहीं था, हथियार इकट्ठा करने और बमबारूदका उपयोग सीखने लगे। एक बार यह योजना बनायी गयी कि रेलके इंजनोंके कोयलेमें बारूद रख दी जाय जिससे इंजनोंमें विस्फोट हो जायगा। अगस्त विद्रोहमें सरकारकी मँहगी खुफिया पुलिस सोती रह गयी। उसे पता ही न चल सका कि ९ अगस्तको नेताओंकी गिरफ्तारीके बाद आन्दोलन जगह-जगह संघटित कैसे हुआ। लेकिन दूसरे विद्रोहकी तैयारीके समय खुफिया पुलिस सचेत हो चुकी थी और बहुतसे नये लोग उसमें भरती हो चुके थे। बहुतसे भेदिये गुप्त आन्दोलनकारियोंके गुप्त अड्डोंमें घुस आये और उनमेंसे एकने गुप्त बारूद गोदामकी सूचना देकर सरकारका बहुत भला किया। गोदामपर पुलिसने छापा मारा और इंजनोंके कोयलेमें बारूद मिलानेकी योजना नाकामयाब हो गयी। यह एक उदाहरणमात्र है।

अक्सर, फरार लोगोंका पता लग जाने पर भी पुलिस उन्हें गिरफ्तार न करती। इससे पुलिसको उन लोगोंको भी गिरफ्तार करनेका मौका मिल जाता जो इन फरार लोगोंको शरण देते थे। जब ये लोग गिरफ्तार होते तो दो-दो महीनेतक जाँच, तफतीश और सवाल पूछनेके लिए पुलिस थानोंकी हवालातोंमें रखे जाते जहाँ हवा और रोशनीका भी इन्तजाम न होता था। ये हवालातें यन्त्रणागृह होती थीं जहाँ राजनीतिक कार्यकर्त्ताओंको मारपीट कर और भूखे रखकर उनसे उनके साथियोंका पता और उनके खुदके कामोंका ब्योरा पूछा जाता था। इस पुस्तकका लेखक स्वयं हवालातकी यन्त्रणाका शिकार हुआ। एक महीनेतक उसे तीन आने रोज खानेके लिए मिलते रहे जो मजदूरोंके खानेकी दूकानसे एक वक्तके भोजनके लिए भी काफी न होते थे। वह इस तरह भूखा ही नहीं रखा गया; उसे एक हवालातसे दूसरी हवालातमें भेजा जाता रहा। जिस आखिरी हवालातमें उसने दो हफ्ते गुजारे उसमें पेशाबकी तीव्र दुर्गन्ध आती थी। हवालातें कभी साफ नहीं की जातीं। वहाँ वे लोग अधिकसे अधिक २४ घण्टेके लिए रखे जाते हैं जिनपर मुकदमें चलते होते हैं। ये लोग वहीं फर्शपर पेशाब कर देते और उसकी सफाई कभी नहीं होती। यहीं लेखकको खुफिया पुलिसके एक अफसरने इतने जोरसे तमाचा मारा कि कई मिनटतक उसकी आँखोंके सामने अंधेरा

छाया रहा। लेखकके एक साथी कार्यकर्त्ताको हवालातमें ही इतना मारा गया कि जब लेखक उनसे मिलने गया तो उनका अंग अंग दर्द कर रहा था। यह हवालातमें होनेवाले पुलिस व्यवहारका एक उदाहरण है।

कुछ मामलोंमें, फरार लोगोंके बूढ़े पिता और सम्बन्धी गिरफ्तार कर लिये गये या परेशान किये गये ताकि पुलिसको फरार लोगोंका पता लग जाय।

लेकिन विद्रोहकी दूसरी चिनगारी भड़कानेवालोंको जनतामें पहले जैसा उत्साह पैदा करनेमें सफलता नहीं मिली। इसका एक कारण उनके गोपनीय ढंग थे और दूसरा था पुलिसका सजग रहना। लेकिन तो भी, इधर उधर छिटफुट घटनाएँ होती रहीं, जिनके कारण अधिकारियोंको चैन नहीं मिला। विद्रोहके इस दूसरे दौरका एक रूप अहिंसात्मक भी था। कांग्रेसके पुराने ढंगके जुलूस निकाले जाते और प्रदर्शन किये जाते, जिन्हें पुलिस लाठी गोलीसे तितर-बितर करती। लेकिन अब जनतामें पुलिसका पुराना आतंक नहीं रहा और जुलूसोंमें जो दिलेर होते वे उन्हें खुले आम गालियाँ देते थे। लगता था कि कांग्रेसका पूर्ण दमन हो चुका था; कांग्रेस दफ्तरों और कागजपत्रोंपर पुलिसका कब्जा था; तिरंगा कहीं दिखाई भी नहीं पड़ता था—स्वतन्त्रता दिवसको भी नहीं। गान्धीजीके आर्थिक दर्शनके प्रतीक खद्दर भण्डार या तो खुद गान्धीजीके आदेशानुसार बन्द कर दिये गये थे या पुलिसने उनपर कब्जा जमा लिया था। इसी तरहसे, गान्धीजीके कहनेपर, सेंसरके गलाघोंटू आदेशोंका पालन करनेकी जगह ९६ राष्ट्रीय समाचारपत्रोंका प्रकाशन बन्द कर दिया गया था। लेकिन कुछ समय बाद उनमेंसे अधिकांश फिर प्रकाशित होने लगे। गान्धीजीने कहा था कि अगर अखबारोंपर सच्ची खबरें छापनेपर पाबन्दी लगायी जाय तो हर व्यक्तिको खबरें देनेवाला चलता फिरता अखबार बन जाना चाहिये।

कांग्रेसका अनुमान था कि "कमसे कम एक लाख व्यक्ति कैद किये गये। उनमेंसे कुछ नजरबन्दीकी थोड़ी-सी अवधिके बाद छोड़ दिये गये, लेकिन शेष अनिश्चित कालके लिए बन्द रहे। गिरफ्तारियाँ पुलिसके लिए रुपया कमानेका ढंग बन गयीं। निरीह व्यक्ति पकड़ लाये जाते और बड़ी रकमें वसूल करनेके बाद ही रिहा किये जाते।"

जिस तरह विद्रोहके विस्फोटने हिंसात्मक रूप ले लिया, वह गान्धीजीके अहिंसा सिद्धान्तके बिलकुल विपरीत था। अपनी गिरफ्तारीके पाँच दिन बाद १४ अगस्त १९४२ को गान्धीजीने वाइसरायको लिखा कि जो हिंसा हो रही है, उससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। उन्होंने लिखा—"हिंसाकी बात तो किसी मंजिलपर सोचीतक नहीं गयी। अहिंसात्मक कार-वाईमें क्या-क्या शामिल हो सकता है—उसकी परिभाषाकी ऐसी चालाकी और कुटिलतासे व्याख्या की गयी है कि उसका यह अर्थ ले लिया जाय कि कांग्रेस हिंसात्मक कारवाईकी तैयारी कर रही थी।" भारत सरकारके गृहसचिवको २३ सितम्बर को लिखे गये पत्रमें गान्धीधीने फिर कहा—"इसके विपरीत जो कुछ भी कहा गया है, उसके बावजूद मेरा दावा है कि कांग्रेसकी नीति अहिंसाकी है और इस बातमें कोई संशय नहीं है। कांग्रेस नेताओंकी अन्धाधुन्ध गिरफ्तारियोंसे जनता इतनी क्रोधित हो गयी लगती है कि वह अपना आत्मसन्तुलन खो बैठी। मेरी धारणा है कि जो विनाश हुआ है उसके लिए कांग्रेस नहीं, सरकार जिम्मेदार है।" जब १९४३ में ये पत्र प्रकाशित हुए, लोग सोचने लगे कि सरकारने इन्हें समयसे प्रकाशित क्यों नहीं किया।

३१ दिसम्बर १९४२ को गान्धीजीने वाइसरायको एक पत्र और लिखा जिसमें उन्होंने १० फरवरी १९४३ से २१ दिनका उपवास करनेकी अपनी इच्छा प्रकट की। गान्धीजीने लिखा कि सरकारने कांग्रेस नेताओंकी अनावश्यक गिरफ्तारियोंसे लेकर निरन्तर दमनकी जो बाढ़-सी ला दी उससे उसने जनताका बहुत बड़ा अहित किया। गान्धीजीने कहा कि परीक्षाके ऐसे समयके लिए सत्याग्रहके नियमके अनुसार एक उपचार है और वह है 'उपवास द्वारा शरीरको सूलीपर चढ़ा देना।' गान्धीजीने अन्तमें लिखा कि लेकिन यदि सरकार मुझे मेरी गलती या गलतियाँ समझा दे और मुझे विश्वास दिला दे कि गलती मेरी ही थी तो मैं उपवास नहीं करूँगा और गलती दूर करनेका उपयुक्त प्रयास करूँगा। अपने जवाबमें वाइसरायने देशमें जो कुछ हुआ उसकी सारी जिम्मेदारी कांग्रेसपर, और उसका काफी बड़ा भाग स्वयं गान्धीजीपर डाला। उन्होंने गान्धीजीसे उपवास न करनेके लिए कहा और लिखा कि अन्य कारणोंके अलावा उपवास एक तरहकी राजनीतिक धमकी और जबर-दस्ती है। लेकिन गान्धीजीने कहा कि "मुझे जो वाइसरायसे नहीं मिला उस न्यायके लिए मेरा उपवास सर्वोच्च न्यायालयमें एक अपील है।" उत्तेजित भीड़की हिंसाका जो उत्तरदायित्व वाइसरायने कांग्रेस और गान्धीजी पर डाला था, उसका विरोध करते हुए उन्होंने कहा—"आपने बिना मुकदमा चलाये और बिना उनका पक्ष सुने लोगोंको दण्ड दिया है। मेरे यह पूछनेमें क्या गलती है कि जिस अपराधमें आपने दण्ड दिया उसका सबूत मुझे दिखा-इये। आपने अपने पत्रमें जो लिखा है उससे दिलजमई नहीं होती। जो सबूत आपको देना है वह अंग्रेजी न्याय-शास्त्रके अनुकूल होना चाहिये। आप कहते हैं कि कांग्रेसके विरुद्ध अभियोग प्रकाशित करनेका समय अभी नहीं आया है। पर क्या आपने कभी यह भी सोचा है कि किसी निष्पक्ष अदालतमें पेश होने पर आपके सबूत निराधार भी साबित हो सकते हैं।"

वाइसरायसे हुए पत्र-व्यवहारसे, उपवास करनेका गान्धीजीका निश्चय नहीं बदला और नियत दिन १० फरवरी सन् १९४३ को सवेरे ९ बजेसे बम्बईमें आगा खाँके महलमें गान्धीजीने उपवास आरम्भ कर दिया। वह यहीं नजरबन्द थे। उनकी गिरफ्तारीके बाद उनके उपवासकी खबर उनके बारेमें पहली खबर थी जो जनताको मिली।

१३ फरवरीको, जब गान्धीजीका उपवास चल रहा था, कांग्रेसके अध्यक्षने कार्य-समितिके सदस्योंकी रायके आधारपर अहमदनगर किलेसे जहाँ वे सब एक साथ नजरबन्द थे, वाइसरायको एक पत्र लिखा जिसमें इस आरोपका खण्डन किया गया था कि कांग्रेसने हिंसात्मक आन्दोलनका संघटन किया था। उन्होंने लिखा कि कांग्रेस महासमितिने कभी ऐसे आन्दोलनके बारेमें सोचा भी नहीं। गान्धीजीके उपवासके शुरू होते ही सरकारने एक पुस्तिका—'उपद्रवोंके लिए कांग्रेसका उत्तरदायित्व' नामसे प्रकाशित की और उसका व्यापक वितरण किया। गान्धीजीके लेखोंसे गलत सन्दर्भमें उद्धरण छापकर यह समझानेकी कोशिश की गयी कि वे पस्तहिम्मत और जापानके समर्थक हैं; उन्होंने और कांग्रेसने हिंसक कार्योंकी योजना बनायी या उन्हें नजरअन्दाज किया; गान्धीजी '४२ के उप-द्रवोंके लिए उत्तरदायी हैं। कुछ और भी छोटे-मोटे दोषारोप थे। गान्धीजीने इन आरोपों-का उत्तर विस्तृत रूपमें दिया। उन्होंने अपने साप्ताहिक 'हरिजन' से लम्बे-लम्बे अंश उद्धृत कर साबित किया कि सरकार जो साबित करनेकी कोशिश कर रही है, तथ्य उसके विल-

कुल उलटे हैं। गान्धीजीने कहा कि मेरे और मेरे सहयोगियोंके खिलाफ जो अभियोग लगाये गये हैं, वे या तो वापस लिये जायँ या उन्हें किसी निष्पक्ष अदालतके सामने पेश कर दिया जाय।

जब विद्रोहकी शक्ति क्षीण हो गयी और भारत अंग्रेजों द्वारा पददलित हो असहाय पड़ गया, तब गान्धीजी फिर एक बार देशके ध्यानके केन्द्र बन गये। गान्धीजीके स्वास्थ्यके सम्बन्धमें जाननेके लिए सैकड़ों लोग रेडियोके आसपास इकट्ठे हो जाते। २० फरवरीको डाक्टरोंने गान्धीजीके सम्बन्धमें विज्ञप्ति प्रकाशित की कि उनकी हालत अत्यधिक चिन्ताजनक हो गयी है। दूसरे दिन तीसरे पहर उनकी हालत और बिगड़ गयी और नाड़ी लगभग बन्द-सी हो गयी। उत्तेजित भीड़ सड़कोंपर टहल रही थी। पुलिसके जरासे उकसानेसे फिर एक बार अगस्तके दृश्य दिखाई पड़ने लगते। लेकिन सरकारने देशभरमें पूरी तैयारी कर रखी थी; वह जानती थी कि गान्धीजी किसी क्षण भी मर सकते हैं। एक अजब खामोशी चारों तरफ छायी हुई थी, जिससे लगता था कि यह दुःखद घटना अनिवार्य है। वाइसरायकी कौंसिलके तीन भारतीय सदस्यों—सर होमी मोदी, नलिनीरंजन सरकार और माधव श्रीहरि अणेने वाइसरायसे गान्धीजीकी रिहाईकी असफल प्रार्थनाके बाद कौंसिलसे इस्तीफा दे दिया था। चर्चिल इङ्गलैण्डके प्रधान मन्त्री थे; वे, चाहे जो हो जाय, गान्धीजीको रिहा करनेको तैयार नहीं थे। लेकिन, उपवासके १५ वें दिन गान्धीजीका शरीर उपवासके अनुकूल प्रतिक्रिया करने लगा और उनके संकट पार कर जानेकी घोषणा कर दी गयी। ३ मार्चको नारंगीका रस पीकर गान्धीजीने उपवास तोड़ा।

बड़े-बड़े डाक्टरोंने उपवास घातक बताया था। उपवास खत्म होने पर डाक्टर विधानचन्द्र रायने डाक्टरी दृष्टिकोणके सम्बन्धमें निम्नलिखित वक्तव्य दिया—

"हमारी भविष्यवाणी (कि गान्धीजीको बचाया नहीं जा सकता) गलत साबित हुई। हमें औसतपर निर्भर रहना था और हम सिर्फ यह राय दे सकते थे कि इस हालतमें औसत व्यक्तिको क्या होगा। लेकिन गान्धीजी एक चमत्कार हैं; कभी-कभी वे औषधि और शरीर विज्ञानको चकित और स्तम्भित कर देते हैं। शरीरपर मस्तिष्कका पूर्ण नियन्त्रण और जीवित रहनेका दृढ़ संकल्प—जिसके लिए उन्होंने हर क्षण संघर्ष किया—इन दो बातोंसे ही वे संकट पार कर गये। उपवासके बीच एक बार यह संकट दुर्निवार मालूम पड़ता था।"

उपवासके कारण देशमें जो उत्तेजना दिखाई पड़ती थी, उपवासके सफल अन्तमें वह खत्म हो गयी। अगले १३ महीनोंमें देशमें लगभग कोई भी राजनीतिक कारवाई नहीं हुई। ५ मई १९४४ की शामको बम्बई पुलिसके इंस्पेक्टर-जनरल आगा खाँ पैलेसके नजरबन्दी कैम्पमें पहुँचे और गान्धीजीसे (जिनका स्वास्थ्य आजकल ठीक नहीं था) कहा कि कल सवेरे आप अपने दलके साथ मुक्त कर दिये जायँगे। "क्या आप मजाक कर रहे हैं?" गान्धीजीने पूछा। "नहीं, मैं गम्भीर बात कह रहा हूँ।" इंस्पेक्टर जनरलने जवाब दिया और कहा—"आप यदि चाहें तो स्वास्थ्य-सुधारके लिए यहाँ कुछ दिन और रह सकते हैं। कल सवेरे ८ बजे पहरा उठा लिया जायगा और तब आपके मित्र आपसे मिलने आ सकेंगे या आप अपने मित्रोंके यहाँ पूना या बम्बई कहीं भी जा सकेंगे। निजी तौरपर

मैं आपको यहाँ रहनेकी सलाह नहीं दूँगा। यह फौजी क्षेत्र है और जब आपके दर्शन आदिके लिए भीड़ इकट्ठी होने लगेगी तब कोई झगड़ा भी हो सकता है, जिसे आप पसन्द नहीं करेंगे।" रिहाईसे पहले गान्धीजीको छोड़कर उनके दलके हर सदस्यको नोटिस दी गयी कि नजरबन्दीकी अवधिमें आगा खाँ महलमें जो कुछ हुआ उसे आप किसीको नहीं बतायेंगे। दलके लोग ऐसा वादा करनेमें हिचकिचाये, पर गान्धीजीके कहने पर वे मान गये और वादा कर दिया। गान्धीजीका दल नजरबन्दीसे लौट आया। पर गान्धीजीके दो प्रिय संगी नहीं लौटे। वे थे उनके सेक्रेटरी महादेव देसाई जिनकी मृत्यु १५ अगस्त १९४२ को हृदयकी गति बन्द हो जानेसे हो गयी थी और गान्धीजीकी पत्नी कस्तूर बा जिनकी मृत्यु २४ फरवरी १९४४ को हुई थी। गान्धीजीको मलेरियाने जकड़ लिया था और बादमें पता चला कि वे कृमिरोगसे भी काफी दिनोंसे पीड़ित थे। जब सरकारके डाक्टरी सलाहकारने बताया कि गान्धीजीको नजरबन्द रखना खतरेसे खाली नहीं है, तब उन्हें छोड़ दिया गया। इसीलिए गान्धीजी रिहाईसे खुश नहीं थे। उन्होंने कहा—"मैं लज्जित हूँ। मुझे बीमार नहीं पड़ना चाहिये था। मैंने स्वस्थ रहनेकी कोशिश भी की, पर अन्तमें हार गया।" यह प्रश्न उठा कि क्या गान्धीजी फिर सार्वजनिक आन्दोलन शुरू करेंगे। पर उनकी अचानक फिर गिरफ्तारीके कारण यह सवाल ऐसे ही रह गया। गान्धीजीने कहा कि मुझे आन्दोलनका नेतृत्व करनेका जो अधिकार मिला था, वह मेरी गिरफ्तारीके कारण खत्म हो गया। अंतरराष्ट्रीय परिस्थिति बदल गयी थी और १९४२ की कांग्रेसकी माँग उसी तरह दोहरायी नहीं जा सकती थी। गान्धीजीने कहा—"आजकी परिस्थितिमें मैं गैरफौजी मामलोंपर पूर्ण नियंत्रणका अधिकार-प्राप्त राष्ट्रीय सरकारसे ही संतुष्ट हो जाऊँगा। सरकार बनानेवाले व्यक्ति केन्द्रीय विधानसभाके निर्वाचित सदस्यों द्वारा चुने जायँ। आजकी परिस्थितिमें ऐसी सरकारका निर्माण स्वतन्त्रताकी घोषणाके समान ही होगा। इंगलैण्डके शाहकी तरह वाइसराय उत्तरदायी मन्त्रिमण्डलके अध्यक्ष रहेंगे। हर प्रान्तमें जनप्रिय सरकार बनेगी। रक्षा विभाग रहेगा तो राष्ट्रीय सरकारके अधीन, पर वाइसराय और कमाण्डर-इन-चीफ सारे फौजी कामकाजकी देखभाल करेंगे। वाइसरायने यह सुझाव अस्वीकार कर दिया।

१७ जूनको गान्धीजीने कांग्रेस कार्य-समिति और आवश्यकता हुई तो स्वयं वाइसरायसे मिलनेकी अनुमति माँगी, जो नहीं मिली। एक वर्ष और गुजरा, पर जून १९४५ तक देशके राजनीतिक गत्यवरोधका कोई हल नहीं निकला।

इसी बीच, बंगालमें ऐसा भयंकर अकाल पड़ा जैसा लोगोंकी याददाश्तमें कभी नहीं पड़ा था। हजारों व्यक्ति प्रतिदिन भूखसे मरते और सड़कोंपर लाशें इकट्ठी होतीं। सरकारके अनुसार अकालमें १५ लाख व्यक्ति मरे, पर कलकत्ता विश्वविद्यालयके प्राच्य मानव-विज्ञान विभागने अकालग्रस्त गाँवोंमें जाँच करके जो अनुमान लगाया उसके अनुसार ३४ लाख व्यक्ति अकालके कारण मर गये। कुछ अन्य अनुमानोंके अनुसार मृत व्यक्तियोंकी संख्या और भी ज्यादा थी। लड़ाईके क्षेत्रोंमें बड़ी मात्रामें चावल भेजा गया था और मुनाफाखोरोंने इस जघन्य पापमें १५० करोड़ रुपयेका मुनाफा कमाया।

अध्याय ३०

आजाद हिन्द फौज

पहले महायुद्धकी तरह दूसरे महायुद्धके भी आरम्भसे ही सुदूर पूर्वके विभिन्न देशोंमें बसे भारतीयोंने ब्रिटिश-विरोधी कार्योंके लिए संघटन शुरू किया। ऐसे प्रमुख भारतीयोंका एक सम्मेलन टोकियोमें हुआ। यह तय हुआ कि भारतकी आजादीका जोरदार प्रचार थाइलैण्ड, मलाया और बर्मामें किया जाय। बर्मा और मलाया स्थित भारतीय फौजियोंमें ब्रिटिश-विरोधी-साहित्य गुप्त रूपसे भेजा गया और उनसे विद्रोह कर देनेकी अपील की गयी। ऐसे कामोंमें प्रवीण लोग वहाँ स्थित फौजोंमें चुपचाप भरती भी करा दिये गये; उनमेंसे कुछ पकड़े गये और उन्हें लम्बी-लम्बी कैदकी सजाएँ मिलीं। शंघाईमें उस्मान खाँने एक गदर पार्टी स्थापित की और थोड़े समयमें सुदूर पूर्वमें काम करनेवाली ऐसी सभी संस्थाओंमें आपसी सम्पर्क स्थापित हो गया। मलाया, बर्मा व थाइलैण्डके भारतीय राजनीतिक कार्य-कर्त्ताओंमें अधिकांशतः सिख थे और उनमें सबसे अधिक उत्साही कार्यकर्त्ता थे ज्ञानी प्रीतम सिंह।

सुदूर पूर्वके इन क्रान्तिकारियोंमें सबसे प्रमुख रासबिहारी बसु थे जो सन् १९१५ में जापान निकल भागे और शादी कर वहीं बस गये थे। युद्धने उन्हें पूर्वके देशोंमें भारतीयोंको अंग्रेजोंपर आक्रमणके लिए संघटित करनेका एक बढ़िया अवसर प्रदान किया। जिस दिन जापानने ब्रिटेन और अमेरिकाके विरुद्ध युद्धकी घोषणा की, उसी दिन टोकियोमें रहनेवाले भारतीयोंने एक सभा कर बसुकी अध्यक्षतामें एक समिति बनायी, जिसका काम भारतकी स्वाधीनताके लिए काम करना था। भारतीय जेलोंमें २२ वर्षकी कैद काटनेवाले पुराने क्रान्तिकारी अमरसिंहने दिसम्बर १९४१ में बंकाकमें स्वाधीनता लीगकी स्थापना की। स्वामी सत्यानन्द पुरीने थाइलैण्डमें जो थाइ-भारत संस्कृति लीग बनायी थी, वह भारतीय राष्ट्रीय कौंसिलमें परिवर्तित हो गयी। ये भारतीय भारतकी आजादीके लिए जापानके सहयोगसे लड़नेवाले थे, जिसने उन्हें आश्वासन दिया था कि भारतमें अपना राज्य कायम करनेका उसका कोई इरादा नहीं है। जब जापानी सेना मलायामें बढ़ रही थी प्रीतमसिंह उसके साथ गये। उनका एक उद्देश्य यह था कि भारतीय सिपाहियोंसे अंग्रेजोंकी ओरसे न लड़नेकी अपील करें, और उनका दूसरा उद्देश्य था कि घायल भारतीयोंकी चिकित्साका प्रबन्ध किया जाय।

मलायामें जापानी सेना बड़ी तेजीसे आगे बढ़ी और सिंगापुरके पतनने अंग्रेजोंका साहस भंग कर दिया। अंग्रेजी व भारतीय फौजोंके सिंगापुर स्थित सेनापति लेफ्टिनेण्ट कर्नल हण्टने जैसे ही अपनी फौजें जापानी प्रतिनिधि मेजर फूजीवाराको सौंपीं, उन्होंने भारतीय फौजको भाषणमें बताया कि जापानने ब्रिटेनके खिलाफ युद्धकी घोषणा की है, भारतके खिलाफ नहीं और यहाँ मौजूद भारतीय फौजी युद्ध-बन्दी नहीं हैं। १४ वीं पंजाब रेजिमेण्टके कप्तान मोहनसिंह भारतीय फौजियोंके सबसे पुराने अफसर थे और उस वक्त जीटरामें स्थित थे। प्रीतमसिंह उनसे मिले और वे भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलनमें शामिल होनेको तैयार हो गये।

मोहनसिंहने भारतीय फौजके समक्ष भाषण करते हुए कहा—"पूर्वमें अंग्रेजी अत्याचार अब अधिक समय नहीं चलनेवाला और उनका बदनाम राज शीघ्र ही खत्म होगा। जापानी फौजने उन्हें मलाया और सिंगापुरसे खदेड़ दिया है और वे बर्मासे भी भाग रहे हैं। हिन्दुस्तान आजादीके दरवाजेपर खड़ा है और यह हर भारतीयका कर्त्तव्य है कि वह इन राक्षसोंको मार भगानेमें मदद दे, जो इतने दर्जनों सालोंसे हमारा खून चूस रहे हैं। आजादीके हमारे सपने पूरे करनेमें जापानियोंने हमें पूरी मददका भरोसा दिलाया है और अब यह हमारे ऊपर निर्भर है कि हम ४० करोड़ देशवासी नरनारियोंकी स्वतन्त्रताके लिए संघटित हों।"

इसके शीघ्र बाद मलाया स्थित गैरफौजी भारतीयोंके प्रतिनिधियोंने सिंगापुरमें एक बैठक कर भारतीय स्वाधीनता लीग बनायी। लीगने आजाद हिन्द फौजकी स्थापना करनेका निर्णय किया और इसके लिए जून १९४२ में बंकाकमें सुदूरपूर्वके सभी भारतीयोंका एक सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलनके अध्यक्ष रासविहारी बसु हुए और इसमें ११० प्रतिनिधियोंने भाग लिया। "यह सम्मेलन केवल भारतीयोंका था और इसमें जापानियोंका कोई भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हाथ नहीं था। सभी वक्ताओंने जापानके संशयात्मक उद्देश्योंका खुलकर जिक्र किया। उनमेंसे कईने जापानी साम्राज्यवादकी कटुतम आलोचना की।" भारतीय स्वाधीनता लीगकी संघर्ष समितिके नियन्त्रणमें डेढ़ लाख सैनिकोंकी फौज बनानेका निश्चय इस सम्मेलनमें हुआ। यह फौज भारतमें विदेशियोंके खिलाफ संघर्ष करनेके लिए बनी। मोहनसिंह इस फौजके जनरल अफसर कमाण्डिंग बने और उन्होंने अपना सदर दफ्तर माउण्ट प्लेजेण्ट (सिंगापुर) में बनाया। माउण्ट प्लेजेण्टमें अंग्रेजोंने कभी किसी भारतीय या एशियाईको टहलने भी नहीं दिया था। आजाद हिन्द फौजमें लगभग २०००० लोग भरती हुए। सुदूर पूर्वके भारतीय समाजमें आज़ादीकी लड़ाईमें योग देनेके लिए उत्साह भर गया था। लेकिन जब आजाद हिन्द फौजने ब्रिटिश भारतपर हमलेकी तैयारी शुरू की, जापानियोंने उसमें हस्तक्षेप कर उसका प्रबन्ध अपने हाथमें लेनेकी कोशिश की, जिसके लिए भारतीय राजी नहीं थे। आजाद हिन्द फौजके अफसरोंने यह स्पष्ट कर दिया था कि जापानी फौजियोंकी किसी भी मददके बिना आजाद हिन्द फौज भारत भूमिमें घुसेगी। इन अफसरोंको आशंका हो उठी कि जापान भारतीयोंका, अपने साम्राज्यवादी उद्देश्यको पूरा करनेके लिए, उपयोग करना चाहता है। जब मोहनसिंहने जापानी अधिकारियोंसे कहा कि जो भारतीय एण्टी एयर क्रेफ्ट कम्पनियोंके उपयोगमें आ रही हैं, वे मेरे सिपुर्द की जायँ, तब जापानियोंने साफ इनकार कर दिया। संघर्ष समितिको सूचनाएँ मिल रही थीं कि जापानी भारतीयोंके साथ दुर्व्यवहार कर रहे हैं। आजाद हिन्द फौज तथा जापानी अफसरोंके बीच विचार-विमर्शके लिए एक बैठक बुलायी गयी जिसमें एक जापानी मेजर-जनरलने बड़े घमण्ड और क्रोधसे भारतीय प्रतिनिधियोंसे बात की। इसपर मोहनसिंहने आजाद हिन्द फौज भंग कर देनेका फैसला किया, पर रासविहारी बसुने इस फैसलेका विरोध करते हुए कहा कि मोहनसिंहको ऐसा करनेका अधिकार ही नहीं है। मतभेद इस सीमातक बढ़ा कि भारतीय स्वाधीनता लीगके अध्यक्षकी हैसियतसे रासविहारी बसुने मोहनसिंहको गिरफ्तार करनेका हुक्म दे दिया। गिरफ्तारी हो भी गयी। बसु जापानसे लड़ लेनेके पक्षमें नहीं थे। उनका तर्क था—" हमारे पास न धन है, न अस्त्र है, न सिपाही हैं, पर हम आजादीके लिए

लड़ना चाहते हैं। हमें जापानियोंसे मदद लेनी है; पर साथ ही मैं यह भी नहीं चाहता कि सिर्फ हमारे मालिक बदल जायँ और ब्रिटेनकी जगह जापानका राज हो जाय। मैं नहीं चाहता कि जापानी भारत भूमिपर पैर भी रखें। लेकिन यहाँ हजारों मील दूर बसे ३० लाख भारतीयोंको जापानी मददके बिना संघटित करना असम्भव है; जापानी सहायता बिना हम इन भारतीयोंतक पहुँच भी नहीं सकते और न उन्हें एक सूत्रमें बाँधकर एक उद्देश्यके लिए खड़ा ही कर सकते हैं। जापान अपने युद्धमें व्यस्त है। हमें जापानसे जितनी मदद मिल सके, मैत्री भावसे लेनी चाहिये, लड़कर नहीं।"

वसु और मोहनसिंहके मतभेदके बाद आजाद हिन्द फौज भंग-सी ही थी। पर लेफ्टिनेण्ट कर्नल भोंसले, लेफ्टिनेण्ट कर्नल शाहनवाज व मेजर प्रेम सहगलने उसका पुनस्संघटन किया। भारतीय स्वाधीनता लीगके १२ विभाग संघटित किये गये; इनमें सबसे प्रमुख फौजी भरती करनेवाला विभाग था।

मई १९४३ के आरम्भमें सुभाषचन्द्र वसु एक जर्मन पनडुब्बीमें पेनांग आये और वहाँसे जापान सरकारसे भारतीय राजनीतिक मसलोंपर बात करने विमान द्वारा टोकियो गये। सुदूर पूर्वके भारतीयोंके प्रतिनिधियोंका एक सम्मेलन लगभग उसी समय सिंगापुरमें हुआ जिसमें रासबिहारी वसुने घोषणा की कि अबसे मेरी जगह भारतीय आन्दोलनका नेतृत्व सुभाषचन्द्र वसु करेंगे। सुभाषचन्द्र वसुने टोकियो रेडियोसे अपना सबसे पहला भाषण २६ जून, १९४३ को किया जिसमें उन्होंने पूर्वके भारतीयोंके सन्देह मिटाकर अपनेमें निष्ठा रखनेको कहा। "उन्होंने कहा कि अगर आप मुझमें विश्वास रखें तो मैं आपको स्वाधीनताके लक्ष्यतक पहुँचाऊँगा" उनके अनुयायियोंने उन्हें 'नेताजी' कहना शुरू किया और सुभाष वसुने आजाद हिन्द फौजके सर्वोच्च सेनापतिकी हैसियतसे अपना सदर दफ्तर सिंगापुरमें कायम किया। वहीं नेताजीको सलामी देनेके लिए २०००० भारतीयोंकी परेड हुई, जिसमें जापानी प्रधान मन्त्री तोजो भी अतिथिके रूपमें आमन्त्रित थे।

आजाद हिन्द फौजको नेताजीने सन्देश दिया—साथियो! मेरे सिपाहियो! आपका नारा है—'दिल्ली चलो'। आजादीकी लड़ाईमें, आपमेंसे कितने बचेंगे, यह मैं नहीं जानता। लेकिन मैं यह जानता हूँ कि अन्तमें विजय हमारी होगी, हमारा काम तबतक खत्म नहीं होगा, जबतक हमारे जवान दिल्लीके ऐतिहासिक लाल किलेमें विजय परेड नहीं करते। अभी मैं भूख, प्यास, कष्ट, लम्बी कठिन यात्रा और मृत्युके सिवा और किसी चीज-का आश्वासन नहीं दे सकता।

"आजाद हिन्द फौज भारतकी राष्ट्रीय फौज है और यह पूरी तरह भारतीयोंके नियन्त्रणमें रहेगी। हम उसमें जापानियोंको नहीं आने देंगे। अगर हमारी इच्छाके विरुद्ध जापानी भारत जाते हैं तो हम उन्हें अपना दुश्मन मानेंगे।"

वसु कलकत्तेके अपने मकानसे मौलवीके वेशमें चुपचाप निकल आये थे और भगत-राम नामक एक व्यक्तिके साथ पेशावरसे काबुल आ गये थे। वहाँ एक सरायमें वह जिया-उद्दीनके नामसे रहे और उसके बाद उत्तमचन्द नामक एक भारतीय व्यापारीके साथ रहे। वसु मास्को जाना चाहते थे पर वहाँके रूसी राजदूतसे कोई सहायता न पाने पर इटलीके राजदूतसे उन्होंने मदद माँगी, जिसने उन्हें रोम भेज दिया। रोमसे वे बरलिन गये। साल•

भर बाद बसुके भगानेमें उत्तमचन्दकी मददका पता सरकारको लगा और अफगानिस्तानकी संरकारने उन्हें पकड़कर ब्रिटिश अधिकारियोंको दे दिया और वे रावलपिण्डी जेलमें रखे गये।

सुदूरपूर्व पहुँचनेके शीघ्र बाद बसुने व्यापक प्रचार शुरू किया। उन्होंने लगभग एक दर्जन सार्वजनिक भाषणोंमें वहाँके भारतीयोंसे आजादीकी इस लड़ाईमें भाग लेनेकी अपील की। सिंगापुरकी एक सार्वजनिक सभामें स्वतन्त्र भारतकी अस्थायी सरकारकी स्थापनाकी घोषणा की गयी और बसु व अन्य मन्त्रियोंने इस सरकारके प्रति निष्ठाकी शपथ ली। इस सभामें ७००० भारतीय मौजूद थे।

दूसरे दिन ५०००० नागरिकोंका प्रदर्शन हुआ, जिसमें इस सरकारने इंगलैण्ड और अमेरिकाके खिलाफ युद्धकी घोषणा की। १९४४ के आरम्भमें भारतपर आक्रमणके लिए आजाद हिन्द फौजने अपने प्रबन्ध पूरे कर लिये। फौजके समक्ष भाषण करते हुए बसुने कहा—"भारतके सिपाहियो! वहाँ दूरपर, नदियों और जंगलों और पहाड़ोंके पार हमारा देश है—जहाँकी मिट्टीसे हम सब बने हैं, जहाँ हम अब जा रहे हैं। सुनो! हिन्दुस्तान पुकार रहा है! हिन्दुस्तानकी राजधानी, दिल्ली तुम्हें पुकार रही है! हमारे ३८ करोड़ देशवासी पुकार रहे हैं! खून खूनको पुकार रहा है! उठो! अब खोनेके लिए समय नहीं है! हथियार उठाओ! दिल्लीका रास्ता आजादीका रास्ता है। दिल्ली चलो!"

जनवरीके अन्ततक, आजाद हिन्द फौजकी कुछ टुकड़ियाँ लेफ्टिनेण्ट कर्नल लक्ष्मण स्वरूप मिश्रकी कमानमें आराकान मोर्चेकी ओर बढ़ चुकी थीं और अंग्रेजोंकी अधिक सशक्त फौजसे जूझ रही थीं। दोनों ओरके सिपाहियोंमें कई टक्करें हुईं और घमासान युद्धके बाद आजाद हिन्द फौजको शुरूमें कई सफलताएँ भी मिलीं। अंग्रेजोंसे छीने गये स्थानोंमें म्याम्यो भी था जहाँ स्वतन्त्र भारत सरकारकी राजधानी बनायी गयी। लेकिन जब युद्धकी स्थिति आजाद हिन्द फौजके पक्षमें थी, तभी घनघोर मानसून शुरू हो गया। युद्ध स्थगित-सा हो गया और इसी बीच अंग्रेजी फौजकी कुमक पहुँच गयी। अंग्रेजोंने विभिन्न पहाड़ियोंपर १२ बड़ी-बड़ी तोपें लगा दीं। आजाद हिन्द फौजके पास सिर्फ एक ही तोप थी। इस दूसरे मोर्चेमें आजाद हिन्द फौज हारी। बाढ़वाली नदियों और जंगलोंमें बहुत-से भारतीय खेत रहे।

१८ अगस्त, १९४५ को विमान-दुर्घटनामें सुभाष बसुकी मृत्यु हो गयी। वे सिंगापुरसे टोकियो जा रहे थे। ताइ होकू (ताइवान) हवाई अड्डेसे हवाई जहाज उड़ा ही था कि मशीन बिगड़ गयी। दो मिनटमें जहाज जमीन पर आ गिरा। पेट्रोलकी टंकियोंमें आग लग गयी। बसु लड़खड़ाते हुए जहाजसे निकले। उनके कपड़े जल रहे थे। उन्हें अस्पताल ले जाया गया। बुरी तरह जल जानेके कारण सात घण्टे बाद, रातके ९ बजे उनकी मृत्यु हो गयी।

युद्धमें जापानकी पराजयके बाद आजाद हिन्द फौजके वे लगभग १०००० सिपाही जो पहले भारतीय फौजमें थे, भारत लाये गये और दिल्लीके लाल किले व अन्य जेलोंमें बन्द कर दिये गये। भारतीय समाचारपत्रोंने पहली बार अगस्त, १९४५ में आजाद हिन्द फौजका नाम छापा। २० अगस्तको जवाहरलाल नेहरूने भारत सरकारको सावधान किया कि आजाद हिन्द फौजके कैदियोंके साथ बुरे या प्रतिशोध भरे व्यवहारसे भारतके

करोड़ों नागरिकोंको गहरी चोट पहुँचेगी। देशभरमें असन्तोष था और स्थिति गम्भीर हो रही थी। २७ अगस्तको भारत सरकारने एक वक्तव्यमें कहा—"दुश्मनका साथ देना और अपने पुराने साथियोंके खिलाफ लड़ना सिपाहीके लिए सबसे बड़ा अपराध है। हर देशमें इसकी सजा मौत है......लेकिन भारत सरकारकी धारणा है कि जिस परिस्थितिमें भारतीय सैनिक पकड़े गये और वहाँ जिस स्थितिमें पड़ गये, उसका खयाल किया जाना चाहिये।... उनके साथ दयाका व्यवहार होगा...लेकिन ऐसे लोगोंकी भी एक संख्या है जिनपर अभियोग है कि उन्होंने अपने पुराने साथियोंकी हत्या की, जिन्होंने मित्र राष्ट्रोंके सिपाहियोंको पकड़ा और लगता है कि जिनके नेताओंने जान-बूझकर जापान व जर्मनीका साथ दिया... इन लोगोंका फौजी अदालतमें मुकदमा होगा।"

आजाद हिन्द फौजके तीन नेताओं—शाहनवाज खाँ, प्रेमकुमार सहगल व गुरबख्शसिंह ढिल्लनको ५ नवम्बर, १९४५ को लाल किलेमें एक विशेष फौजी अदालतके सामने पेश किया गया। कांग्रेस कार्यसमितिने उनकी सफाई और बचावका प्रबन्ध किया। इन लोगोंके खिलाफ भारतके सम्राट्के विरुद्ध युद्ध छेड़नेका अभियोग था। ढिल्लनपर हत्या और शेष दोनोंपर हत्यामें मदद देनेके अभियोग भी थे। इस मुकदमेमें देश भरकी दिलचस्पी हो गयी। इसके समाचार देशभरके अखबारोंमें मोटे-मोटे अक्षरोंमें छपने लगे। जैसे-जैसे मुकदमेकी सुनवाई आगे बढ़ी, जनताकी सहानुभूति इस बातसे और बढ़ती गयी कि इन लोगोंने हजारों अन्य लोगोंके साथ देश-प्रेममें यह युद्ध किया था। आजाद हिन्द बन्दियोंकी सहानुभूतिमें बड़े-बड़े प्रदर्शन हुए।

कांग्रेस कार्यसमितिने जवाहरलाल नेहरू, भूलाभाई देसाई, तेजबहादुर सप्रू, कैलाशनाथ काटजू, बख्शी टेकचन्द्र, बद्रीदास, दिलीपसिंह, आसफअली आदिकी एक समिति मुकदमेकी तैयारी और पैरवीके लिए बनायी। भूलाभाई देसाईने मुकदमेको अन्तरराष्ट्रीय स्तरपर पहुँचा दिया और सबूत पक्षके तर्क तोड़ दिये। लेकिन विशेष अदालतने तीनों अभियुक्तोंको सम्राटके विरुद्ध युद्ध घोषित करनेके अभियोगमें दोषी पाया। शाहनवाज खाँके खिलाफ हत्यामें सहायताका अभियोग भी सिद्ध पाया गया। अदालतने इन लोगोंके वेतन आदिका बकाया जब्त कर लेने और इन्हें आजीवन काले पानीकी सजा दी। कमाण्डर-इन-चीफने दण्डको ठीक माना पर तत्कालीन परिस्थितिको ध्यानमें रखकर काले पानीकी सजा माफ कर दी। तीनों व्यक्ति छूट गये और देशमें तनावका जो वातावरण छा गया था, वह बहुत हदतक खत्म हो गया।

अध्याय ३१

कैबिनेट मिशन

(ब्रिटिश मन्त्रिमण्डलका प्रतिनिधिदल)

८ अप्रैल, १९४४ को राजगोपालाचारीने जिनाके सामने भारतके विभाजनकी एक स्पष्ट योजना रखी। वास्तवमें वह योजना जिनाकी ही थी, पर राजगोपालाचारीके पेश करने पर जिनाने उसे अस्वीकार कर दिया। अगस्त, १९४२ में हिन्दू महासभाने एक विशेष समिति नियुक्त की थी, जिसका काम "राष्ट्रीय माँगके लिए देशकी विभिन्न प्रमुख राजनीतिक पार्टियोंसे जनमत बनानेके लिए बात करना" था। महासभाके जनरल सेक्रेटरी महेश्वरदयाल सेठने एक मित्रके द्वारा जिनासे सम्पर्क स्थापित किया और उनसे निम्नलिखित प्रस्ताव प्राप्त किया—

"भारतीय हिन्दू महासभाकी कार्यसमितिके ३० अगस्त, १९४२ के प्रस्तावमें वर्णित भारतीय स्वतन्त्रताकी राष्ट्रीय माँगका मुस्लिम लीगके नेता समर्थन करते हैं और दूसरे राजनीतिक दलोंके साथ फौरन आजादी हासिल करनेके लिए संघर्षमें हिस्सा लेनेको तैयार हैं, बशर्ते कि कुछ आम सिद्धान्तोंपर मुस्लिम लीगसे समझौता हो जाय। ऐसा समझौता हो जाने पर लीग प्रान्तोंमें संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनानेमें सहयोग देगी। जिन सिद्धान्तोंपर समझौता होना है वे हैं—(क) देशके उत्तर पूर्व व उत्तर पश्चिममें उन क्षेत्रोंकी सीमा निर्धारित करनेके लिए, जहाँ मुसलमानोंका बहुमत है, एक कमीशन नियुक्त किया जायगा। (ख) इन दोनों क्षेत्रोंमें सार्वजनिक मतगणना होगी और यदि आबादी बहुमतसे एक पृथक् स्वाधीन राज्य स्थापित करनेके पक्षमें मत दे तो उनका पृथक् राज्य बना दिया जायगा, (ग) यदि पृथक राज्य स्थापित हुआ तो हिन्दुस्तानके मुसलमान अल्पमत होनेके नाते किसी विशेष सुविधाकी माँग नहीं करेंगे। दो हिन्दुस्तानोंके धार्मिक अल्पसंख्यकोंकी सुरक्षाकी व्यवस्था दोनों सरकारें कर सकेंगी, (घ) पश्चिमोत्तर और पूर्वोत्तरके दोनों क्षेत्रोंको मिलानेके लिए कोई गलियारा नहीं होगा पर दोनों क्षेत्रोंका मिलकर एक स्वतन्त्र मुस्लिम राज बनेगा, (ङ) जो आबादी पूर्ण स्वेच्छासे दूसरे राज्यमें जाना चाहेगी, उसे सुविधाएँ प्रदान करनेकी सरकारी व्यवस्था होगी।

हिन्दू महासभाके सेक्रेटरीने दिसम्बर १९४२ में तेजबहादुर सप्रूके घरपर हुए सम्मेलन में यह प्रस्ताव पढ़कर सुनाया। इसकी एक प्रति राजगोपालाचारीको भी दी गयी जो वहाँ मौजूद थे। २१ दिनके उपवासके समय आगा खाँके महलमें राजगोपालाचारीने इस प्रस्ताव पर गान्धीजीकी स्वीकृति ले ली। ८ अप्रैल १९४७ को राजागोपाचारीने इन्हीं मूल सिद्धान्तों पर आधारित, पर थोड़े-से बदले हुए रूपमें एक प्रस्ताव जिनाको दिया। प्रस्ताव इस प्रकार था—

(१) स्वतन्त्र भारतके विधानके सम्बन्धमें ये शर्तें पूरी होने पर मुस्लिम लीग भारतकी स्वाधीनताकी माँगको मानती है और अन्तरिम कालकी अस्थायी सरकार बनानेमें कांग्रेसको

सहयोग देगी; (२) युद्धकी समाप्ति पर भारतके उत्तरपूर्व व उत्तरपश्चिमके उन जिलोंकी सीमा तय करनेके लिए एक कमीशन नियुक्त किया जायगा जहाँ मुसलमानोंका पूर्ण बहुमत है। इस तरह छाँटे गये मुसलिम बहुमतके जिलोंमें वयस्क मताधिकार या अन्य किसी व्यावहारिक पद्धतिसे मतगणना होगी जिसके द्वारा हिन्दुस्तानसे पृथक् होनेके प्रश्नपर निर्णय होगा। यह निर्णय बिना भेदभाव लागू किया जायगा और जो जिले सीमापर होंगे उन्हें किसी भी तरफ जानेकी छूट होगी; (३) जनमतगणनाके पहले सभी दलोंको अपना-अपना दृष्टिकोण समझानेकी स्वतन्त्रता होगी; (४) यदि पूर्वोत्तर व पश्चिमोत्तरके क्षेत्र भारतसे पृथक हुए, तो इन क्षेत्रों और शेष भारतके बीच रक्षा, व्यवसाय व यातायात आदिके प्रश्नोंपर आपसी समझौता होगा; (५) आबादीका जो भी तबादला होगा वह पूर्ण स्वेच्छाके आधारपर; (६) ये शर्तें तभी लागू होंगी जब ब्रिटेन भारत सरकारको पूर्ण सत्ता और उत्तरदायित्व सौंप दे।"

जिनाने अब इस योजनाको अस्वीकार करते हुए कहा कि यह तो पाकिस्तानको छिन्न-भिन्न करना है। पर भारतके विभाजनका आधार अन्ततः यही योजना हुई।

मुसलमानोंकी एकमात्र प्रतिनिधि-संस्था बननेकी दिशामें मुसलिम लीग तेजीसे बढ़ रही थी। २४ से २६ अप्रैल १९४३ में दिल्लीमें लीगके वार्षिक अधिवेशनमें एक लाख व्यक्तियोंने भाग लिया। देशी रियासतोंमें भी मुसलमान जाग रहे थे और शीघ्र अखिल भारतीय देशी रियासती मुसलिम लीगकी स्थापना हुई, जिसके अधिवेशन शेष भारतकी मुसलिम लीगके अधिवेशनके साथ ही होते थे। दिसम्बर, १९४४ में कराचीमें लीगका जो वार्षिक अधिवेशन हुआ, उपस्थितिकी दृष्टिसे वह भी बहुत सफल रहा। जिना १९३७ से लगातार हर वर्ष लीगके अध्यक्ष चुने जाते थे; उन्होंने कराचीमें कहा कि अँग्रेज भारतको दो भाइयोंके बीच बाँट दें और भारत छोड़ दें। उनका नारा था—'विभाजित करो और छोड़ो'।

१९४४ में ही सरकारने कांग्रेसजनोंको एक-एक दो-दो करके छोड़नेकी नीति अपना ली थी। केन्द्रीय विधान सभाके लगभग सभी कांग्रेसी सदस्य छूट गये थे और वे विधान-सभाकी बैठकोंमें भाग लेने लगे थे। कांग्रेस दलके नेता भूलाभाई देसाईने फिर एक बार लीगके उपनेता लियाकतअली खाँसे केन्द्रमें अन्तरिम सरकार बनानेके लिए समझौतेकी बात चलायी। गान्धीजी और जिनाकी स्वीकृतिके लिए निम्नलिखित सुझाव बना—

"कांग्रेस और लीग इस बातपर राजी हैं कि केन्द्रमें एक अन्तरिम सरकार बने जिसमें दोनों शामिल हों। यह सरकार इस प्रकार बनेगी कि (क) उसमें लीग और कांग्रेसके प्रतिनिधियोंकी संख्या बराबर होगी; अनुपात इस प्रकार होगा—कांग्रेस ४० फीसदी, लीग ४० फीसदी, अन्य २० फीसदी; जो प्रतिनिधि कांग्रेस या लीग तय करे, यह जरूरी नहीं कि वे पहलेसे ही केन्द्रीय विधान-सभाके सदस्य हों; (ख) अल्प संख्यकोंके (विशेषकर परिगणित जातियों और सिखोंके) प्रतिनिधि होंगे; (ग) कमाण्डर-इन-चीफ (सर्वोच्च सेनापति) होंगे।" यह सरकार १९३५ के भारत सरकार कानूनके अन्तर्गत बननेको थी पर आशा यह की गयी थी कि केन्द्रीय विधान-सभाओंके निर्णयोंके विरुद्ध सरकार वाइसरायके विशेष सुरक्षित अधिकारोंका प्रयोग नहीं करेगी।

देसाई-लियाकतअली बातचीत लम्बी चली। फिर १५ जून १९४५ को गान्धीजीने यह सुझाव स्वीकार करते हुए एक वक्तव्यमें कहा कि मैं कांग्रेस कार्य-समितिसे इसे

स्वीकार करनेके लिए कहूँगा। पर इस बीच हुई घटनाओंके कारण यह सुझाव पुराना पड़ गया।

१४ जूनको वाइसराय लार्ड वैवलने रेडियोसे घोषणा की कि कांग्रेस कार्य-समितिके सभी सदस्योंकी रिहाईके आदेश जारी हो गये हैं। यूरोपमें युद्धका अन्त हो चुका था और ब्रिटिश सरकार भारतीय स्थितिकी वास्तविकताकी ओर ध्यान देनेमें समर्थ हो गयी थी। वाइसरायने प्रस्ताव किया कि मेरी कौंसिलमें मुझे और कमाण्डर-इन-चीफको छोड़कर शेष सभी सदस्य भारतीय हों, इसके लिए मैं नेताओंको बातचीतके लिए आमन्त्रित करता हूँ। परराष्ट्र विभाग भी भारतीय सदस्यको सौंप देनेके लिए वाइसराय तैयार थे। वैवलने कहा कि कौंसिलके समक्ष मुख्य काम होंगे—(१) जापानके विरुद्ध युद्ध चलाना, (२) नया स्थायी विधान बननेतक भारतका शासन चलाना, और (३) सभीको मान्य समझौतेके लिए प्रयास करना। यह कौंसिल भी १९३५ के कानूनके अन्तर्गत बननेको थी पर वाइसराय भारतीय हितोंके विरुद्ध और तर्कहीन ढंगसे अपने विशेष अधिकारोंका प्रयोग नहीं करनेवाले थे।

उसी दिन ब्रिटिश सरकारके भारत सचिवने ब्रिटिश लोक-सभामें पुराना प्रस्ताव दोहराते हुए कहा—"इस प्रस्तावकी बुनियादमें दो सिद्धान्त हैं। एक तो यह कि भारतको कितनी आजादी मिले, इसपर कोई प्रतिबन्ध नहीं है; वह चाहे तो स्वतन्त्र सदस्यकी हैसियतसे ब्रिटिश राष्ट्रमण्डलमें रहे और राष्ट्रमण्डलमें न भी रहे। दूसरा यह कि यह भारतके अपने ऐसे विधान या विधानों द्वारा ही सम्भव है जिसे या जिन्हें मुख्य दल स्वीकार करते हों।"

लगभग तीन सालके बाद २१ व २२ जूनको कांग्रेस कार्यसमितिकी बैठक बम्बईमें फिर हुई और वाइसराय द्वारा बुलाये गये २५ जूनके नेता-सम्मेलनमें भाग लेनेका निश्चय हुआ। इस सम्मेलनमें कांग्रेसके प्रतिनिधि उसके अध्यक्ष अबुलकलाम आजाद थे जिन्होंने कांग्रेसका दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए कहा कि जो व्यवस्था होनेका प्रस्ताव है उसे हम अस्थायी और अन्तरिम मानते हैं; हम ऐसी कोई बात स्वीकार नहीं करेंगे जिसमें कांग्रेसके राष्ट्रीय संस्था होनेके गुणको आँच आये; कांग्रेस कार्यसमितिने जो भी फैसले किये हैं वे कांग्रेस महासमिति द्वारा स्वीकार होते हैं, और महासमिति अब भी अवैध है।

२५ जूनके नेता सम्मेलनमें कोई अन्तिम निर्णय नहीं हुआ और प्रस्तावित कार्यकारी कौंसिलके सदस्योंकी नामावलीके सम्बन्धमें अपनी-अपनी संस्थाकी कार्यसमितिकी सलाह लेनेके लिए यह १५ दिनके लिए स्थगित कर दिया गया। इस बीच वाइसरायने अपनी फेहरिस्त तैयार कर ली और कांग्रेसने पूरी कौंसिलके लिए सदस्योंकी एक फेहरिस्त दे दी जिसके सभी मुसलिम सदस्य मुसलिम लीगके सदस्य नहीं थे। पर मुसलिम लीगने कोई फेहरिस्त नहीं दी। जब जिना वैवलसे मिले, वैवलने उन्हें अपनी फेहरिस्त दिखायी जिसके एक मुसलिम सदस्य लीगके सदस्य नहीं थे। जिनाने इसपर आपत्ति की और कहा कि सभी मुसलिम सदस्य लीगी होने चाहिये क्योंकि लीग ही मुसलमानोंकी एकमात्र प्रतिनिधि संस्था है। अनोखी बात यह है कि वैवलने अपनी सूची कांग्रेसके नेताओंको नहीं दिखायी। लेकिन समझौतेकी बातचीत जिनाकी जिदकी वजहसे भंग हो गयी।

१४ जुलाईको जब फिर सम्मेलन हुआ, वाइसरायने घोषणा कर दी कि समझौता

वार्ता असफल हो गयी है। भारत सरकारने केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान मण्डलोंके नये चुनाव करानेका फैसला कर लिया।

इस बीच सरकारी घोषणा हो जानेके कारण कांग्रेस महासमित भी अवैध नहीं रह गयी और उसके सदस्य मुक्त हो गये थे। महासमितिकी बैठक सितम्बरमें बम्बईमें हुई। महासमितिने अगस्त, १९४२ के उद्देश्य और ध्येय दोहराते हुए यह निश्चय प्रकट किया कि विश्वशान्तिके लिए भारतकी स्वाधीनता आवश्यक है। "१९४२ के स्वाधीनता संग्रामपर राष्ट्रको गर्व है यद्यपि अहिंसाकी कसौटीपर उसकी आलोचना की जा सकती है।" राष्ट्रको बधाई देते हुए महासमितिने कहा—"जिस साहस और सहिष्णुतासे ब्रिटिश सरकारके भयानक हिंसापूर्ण हमलेका उसने सामना किया उसके लिए वह बधाईकी पात्र है।" महासमितिने "तीन सालके पुलिस, फौज व आर्डिनेंस राजमें जिन्हें कष्ट हुआ" उनसे गहरी सहानुभूति प्रकट की।

मुसलमानोंकी एकमात्र प्रतिनिधि संस्था होनेके मुस्लिम लीगके दावेका प्रतिवाद राष्ट्रीय मुस्लिम कानफरेन्स, मोमीन कानफरेन्स, अहरार पार्टी, शीया कानफरेन्स, जमैयत-उल-उलेमा आदि मुस्लिम संस्थाओंने भी किया। जमैयतने अपने प्रधान हुसैन अहमद मदनीको कांग्रेस और सरकारसे कौंसिलमें अपने (जमैयतके) प्रतिनिधित्वकी बात करनेके लिए तैनात भी किया। पंजाबके प्रधान मन्त्री खिज्रहयात खाँने भी वाइसरायको अपनी एक फेहरिस्त भेजी, जिससे स्पष्ट ही जिनाका विरोध होता था। अहरार पार्टीका थोड़ा-सा जिक्र यहाँ असंगत न होगा।

अहरार पार्टी १९२९ में पंजाबमें बनी थी और कांग्रेसके साथ चल रही थी। यह गरीब मुसलमानों-मजदूरों और किसानोंका प्रतिनिधित्व करती थी और इसकी बैठकोंमें वे दस-दस पन्द्रह-पन्द्रह हजारकी संख्यामें आते थे। इनके लिए अहरार पार्टीने कई लड़ाइयाँ भी लड़ीं जिनमें १९३१ में तीन महीनेमें ही कपूरथला, कश्मीर और सियालकोटमें ५० हजार व्यक्ति गिरफ्तार हुए थे। १९३७ में जब लीगने कांग्रेस विरोधी रवैया अख्तियार किया, अहरारोंने लीगसे सम्बन्ध विच्छेदका निश्चय कर लिया। इन्होंने कांग्रेससे पहले ही युद्धका विरोध किया था और उसकी भरतीका विरोधकर बड़ी संख्यामें जेल भी गये थे।

जुलाईमें जब युद्ध-समाप्तिके आसार प्रकट हो रहे थे, पर जापानसे लड़ाई चल ही रही थी, इंगलैण्डमें चुनाव हुए, जिनमें चर्चिलकी कंजरवेटिव (अनुदार) पार्टी हार गयी और लेबर (मजदूर) दलके नेता क्लीमेण्ट एटलीने १० जुलाईको प्रधान-मन्त्रित्व ले लिया। एटलीने वेवलको २५ अगस्तको लन्दन बुलाया, उनसे बातचीत की और वेवलने हिन्दुस्तान लौटकर १८ सितम्बरको (जब कांग्रेस महासमितिकी बैठक बम्बईमें चल रही थी) एक नया वक्तव्य दिया। उसमें कहा गया था—"ब्रिटिश सरकार जल्दी-से-जल्दी संविधान परिषदका निर्माण करना चाहती है और इसके लिए मुझे अधिकार मिला है कि प्रान्तोंमें विधान-सभाओंके चुनाव खत्म होते ही मैं उनके प्रतिनिधियोंसे बात कर पता लगाऊँ कि १९४२ का प्रस्ताव उन्हें मान्य है, या उसकी जगह कोई नयी योजना अधिक पसन्द होगी।

"ब्रिटिश सरकार उस सन्धिपर विचार कर रही है जो भारत और ग्रेट ब्रिटेनके बीच होगी।

"इस बीच भारत सरकारको शासन चलाना ही है और बड़ी-बड़ी आर्थिक व सामा-

जिक समस्याओंको हल करना है। नयी विश्व-व्यवस्था बनानेमें भी भारतको योग देना है। ब्रिटिश सरकारने इसलिए मुझे यह भी अधिकार दिया है कि प्रान्तीय चुनाव पूरे होते ही मैं प्रमुख भारतीय राजनीतिक दलोंकी सहायतासे केन्द्रीय कार्यकारी कौंसिल बनाऊँ।"

अगले दिन एटलीने लन्दनमें ऐसा ही एक वक्तव्य दिया। इन वक्तव्योंके अनुसार केन्द्रीय कौंसिलकी स्थापना प्रान्तीय चुनावोंके बादतकके लिए स्थगित हो गयी, जिसका अर्थ यह था कि उसमें विभिन्न दलोंके प्रतिनिधित्वकी कसौटी चुनाव ही होने थे।

कांग्रेस कार्यसमिति और महासमितिने इन वक्तव्योंको "अस्पष्ट, अनुपयुक्त और असन्तोष-जनक" बताया क्योंकि इनमें भारतकी स्वाधीनताकी स्पष्ट घोषणा नहीं थी। लेकिन कांग्रेसने चुनाव लड़नेका फैसला किया। इन वक्तव्योंका स्पष्टीकरण करते हुए नये भारत सचिव लार्ड पेथिक लारेंसने एक सभामें कहा—"ब्रिटिश राष्ट्रमण्डलमें स्वशासनके साथ कोई बाध्यता नहीं है; राष्ट्रमण्डलका कोई सदस्य राष्ट्र अपनी इच्छाके विरुद्ध वहाँ नहीं रखा जा सकता; यही बात भारतपर भी लागू होती है; लेकिन हमें आशा और विश्वास है कि भारतको स्वाधीनता मिलनेपर वह अपनी इच्छासे और अपने हितमें ब्रिटिश राष्ट्रमण्डलमें शामिल रहेगा।"

४ दिसम्बरको ब्रिटिश लार्डसभामें पेथिक लारेंस पुराने वक्तव्योंको स्पष्ट करते हुए, एक कदम और आगे बढ़े और घोषणा की कि ब्रिटिश पार्लमेण्टका एक प्रतिनिधिमण्डल भारत जायगा। उन्होंने कहा—

"भारतमें कुछ इस तरहकी तर्कहीन भावना पैदा हो गयी है कि बातचीत हींमें काफी समय निकाल देनेका इरादा है। मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि संविधान निर्मात्री परिषद और उससे सम्बन्धित अन्य बातोंको ब्रिटिश सरकार जल्दीसे जल्दी कर डालना चाहती है।

"इस भ्रमके कारण ब्रिटिश सरकारने इस प्रश्नपर भी विचार किया है कि इधर कई वर्षोंमें ब्रिटेन व भारतके जो व्यक्तिगत पारस्परिक सम्बन्ध कट-से गये थे, उन्हें फिर क्यों न शुरू किया जाय। इसलिए एम्पायर पार्लमेण्टरी (साम्राज्य संसदीय) एसोसियेशनकी ओरसे एक प्रतिनिधिमण्डल भारत भेजनेका प्रबन्ध किया जा रहा है।"

यह प्रतिनिधिमण्डल देश भरमें घूमा, लोगोंसे मिला और फरवरी १९४६ में इंगलैण्ड वापस चला गया। मण्डलने यह स्वीकार किया कि देशके मतभेद आजादीकी माँगमें मिट जाते हैं। एक अनुदार दलीय प्रतिनिधिको कहना पड़ा कि भारत राजनीतिक वयस्कताकी सीमापर पहुँच चुका है" (वह राजनीतिक दृष्टिसे बालिग हो गया है)। मण्डलकी राय थी कि भारतकी आजादी अब ज्यादा दिन रोकी नहीं जानी चाहिये। मण्डलमें निम्नलिखित लोग थे—रिचर्ड्स (नेता), निकल्सन, व्याट, सोरेनसन, बॉटमले, हॉपकिन मॉरिस, लार्ड कॉर्ले, लार्ड मंस्टर व श्रीमती निकोल।

१९ फरवरी, १९४६ को पेथिक लारेंसने भारतीय राजनीतिका एक नया अध्याय शुरू किया और १५ मार्चको एटलीने मानों आजादीका द्वार खोल दिया। पेथिक लारेंसने ब्रिटिश लोकसभामें घोषणा की कि ब्रिटिश मन्त्रिमण्डलका एक प्रतिनिधिमण्डल (कैबिनेट मिशन) भारत जायगा और स्वाधीन भारतके विधान और राष्ट्रीय अन्तरिम सरकार बनाने-

के सम्बन्धमें वहाँ क्या कदम उठाये जायँ, इसपर भारतके प्रतिनिधियोंसे बात करेगा। मण्डलमें एलेक्जेण्डर, क्रिप्स और मैं रहूँगा।

प्रधान मन्त्री एटलीने वहीं लोकसभामें भाषण करते हुए कहा—"मेरे सहयोगी भारत इस इरादेसे जा रहे हैं कि भारतको जल्दीसे जल्दी और पूरी स्वाधीनता देनेमें अपनी पूरी सहायता दे सकें। वर्तमान सरकारकी जगह वहाँ कैसी सरकार बने, यह तय करना भारतीयोंके हाथमें है, हमारा प्रयास यही है कि यह निर्णय करनेके लिए वे जल्दी व्यवस्था कर लें। यह भारतको ही तय करना है कि दुनियामें उसकी स्थिति भविष्यमें क्या होगी।

"मैं आशा करता हूँ कि भारत ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डलमें ही रहेगा। मुझे विश्वास है कि इसमें उसका बड़ा लाभ होगा। लेकिन अगर भारत राष्ट्र-मण्डलमें रहनेका निर्णय करता है, तो भी वह यह निर्णय स्वेच्छासे ही करेगा क्योंकि मण्डलके देश बाहरी दबावके सूत्रसे नहीं बँधे हैं। मण्डल तो स्वतन्त्र देशोंका स्वतन्त्र संघ है।

"किन्तु यदि भारत मण्डलसे स्वतन्त्र रहना चाहे, और हमारी रायमें ऐसा करनेका उसे अधिकार है, तब भी यह हमारा कर्त्तव्य है कि हम उसकी वह स्थिति बनानेका काम जितना सरल हो सके, करें।"

अल्पसंख्यकोंके सम्बन्धमें उन्होंने कहा—"अल्पसंख्यकोंके अधिकारोंके प्रति हम जागरूक हैं और उन्हें निर्भय रहना चाहिये। लेकिन हम किसी अल्पसंख्यक वर्गको बहुमत की प्रगतिपर रोक भी नहीं लगाने दे सकते।"

अंग्रेजोंके भारतसे जानेके परिणामोंके सम्बन्धमें उन्होंने कहा—"जो सरकार पुरानी सरकारका पावना लेगी वही देना भी देगी। पर यह प्रश्न बादमें उठेगा, इसके लिए अभी व्यवस्था करना आवश्यक नहीं है। जहाँतक सन्धिका सवाल है, हम अपने हितमें ऐसा कुछ भी करनेको अड़ेंगे नहीं, जो भारतके हितोंके विरुद्ध हो।"

एटलीने अन्तमें कहा—"एशियाके देशोंमें, युद्धसे बरबाद हुए एशियामें, भारत एक देश है जो जनतन्त्रके सिद्धान्त लागू करनेमें सचेष्ट है। मेरी यह हमेशाकी धारणा है कि राज-नीतिक भारत एशियाका पथप्रदर्शक हो सकता है। मेरे सहयोगी वहाँ इस संकल्पसे जा रहे हैं कि वे सफल होकर ही रहेंगे। मुझे विश्वास है कि सभी उनकी सफलता चाहेंगे।"

ब्रिटिश राजके इतिहासमें पहली बार ब्रिटिश सरकारके इस वक्तव्यका भारतमें स्वागत किया गया कि अंग्रेज सचमुच भारत छोड़कर जाना चाहते हैं। लेकिन जिना खुश नहीं थे, क्योंकि एटलीके वक्तव्यमें पाकिस्तान बनानेकी बात नहीं थी। वक्तव्यको अत्यन्त शोचनीय बताते हुए उन्होंने पंजाब विधान सभाके मुसलिम लीग दलसे कहा—"पाकिस्तान-की स्थापनामें आपका तलवारवाला हाथ शानदार काम करे।"

सिखोंको जब पता लगा कि पंजाब पाकिस्तानमें शामिल हो जायगा, तब उन्होंने 'सिखोंके लिए मातृभूमि, सिखोंका राष्ट्रीय घर' माँगकर जिनाके सिक्केमें ही उन्हें जवाब दे डाला। लेकिन जिनाने यह माँग फौरन स्वीकार कर सिख आन्दोलन रोक दिया। २१ मार्च १९४६ को जिनाने लाहौरमें कहा—"एक राष्ट्र होनेके नाते सिखोंका अपना एक राज्य होना आवश्यक है और सिद्धान्ततः मुझे उनकी माँगपर आपत्ति नहीं है।" पर सिख नेता वह क्षेत्र तो बतायें जहाँ उनका राज्य बन सकता है?

ब्रिटिश मन्त्रिमण्डलके तीन सदस्योंका प्रतिनिधिमण्डल २३ मार्चको कराची पहुँचा।

एक सप्ताहतक मण्डल वाइसराय, उनकी कौंसिलके सदस्यों, और प्रान्तीय गवर्नरोंसे परामर्श करता रहा, फिर विभिन्न राजनीतिक दलोंके नेताओंसे मिला और फिर देशी रियासतोंके राजाओंसे। ये भेंटें २६ अप्रैलतक चलती रहीं पर कांग्रेस-लीग गुत्थी सुलझानेमें सफलता नहीं हुई। मण्डल चाहता था कि लीग और कांग्रेसमें कोई समझौता हो जाय जो उसकी सिफारिशोंका आधार हो। कांग्रेसका कहना था कि समस्याका हल लीग-कांग्रेसके समझौतेमें नहीं, कांग्रेस, लीग या किसी अन्य दलको सत्ता सौंपकर चले जानेमें है। जिस दलको भी सत्ता मिलेगी वह अन्य दलोंका सहयोग पानेके लिए प्रयत्नशील होगा। यह सुझाव मण्डल या वाइसरायको स्वीकार नहीं था।

२७ मईको मण्डलने लीग, कांग्रेस व अपना एक त्रिदलीय सम्मेलन करनेको कहा—कांग्रेसने अबुलकलाम आजाद, जवाहरलाल नेहरू, अब्दुल गफ्फार खाँ वल्लभ भाई पटेल को प्रतिनिधि बनाया; लीगने जिना, लियाकत अली खाँ, मुहम्मद इस्माइल खाँ व अब्दुर्रब निश्तरको। इस सम्मेलनमें विचारका आधार था, भारत सचिवका कांग्रेस व लीगको निमन्त्रण कि "ब्रिटिश भारतका भविष्यका वैधानिक ढाँचा ऐसा हो—एक यूनियन सरकार बने जो निम्नलिखित विभागोंको चलाये—परराष्ट्र, रक्षा व यातायात; प्रान्तोंके दो समूह हों—एक हिन्दू बहुमतवाला और दूसरा मुस्लिम बहुमतवाला। ये दो समूह उन विभागोंको सम्हालें जो उस समूहके प्रान्त आपसमें तय कर लें। प्रान्तीय सरकारें शेष विभागोंको सम्हालें।"

आजाद और जिना दोनोंने विचार-विनिमयके इस आधारका विरोध किया, यद्यपि उनके विरोध करनेके कारण भिन्न थे। कांग्रेस धर्मके आधारपर प्रान्त-समूह बनानेके विरुद्ध थी और जिना लाहौर-प्रस्तावकी माँग दोहरा रहे थे। पर तब भी दोनों पक्षोंने निमन्त्रण स्वीकार कर त्रिदलीय सम्मेलनमें भाग लिया।

सम्मेलन ५ मईको शिमलामें शुरू हुआ और कई दिनतक विचार-विनिमय होता रहा। जैसी कि सम्भावना थी, समझौता नहीं हो सका। लीगने सम्मेलनमें एक स्मृतिपत्र पेश किया जिसमें उसकी निम्नतम माँगें थीं:—

(१) छः मुस्लिम प्रान्तों—पंजाब, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, सिन्ध, बंगाल, आसाम व बलूचिस्तानका एक समूह बने। यह समूह सभी शासकीय विषय और विभाग सम्हालेगा, सिर्फ परराष्ट्र, रक्षा और रक्षासे सम्बन्धित यातायातके विभागोंको छोड़कर; और इन तीन विभागोंको हिन्दू प्रान्तों व पाकिस्तान समूहकी संविधान निर्माण परिषदें सम्हाल लें।

(२) छः मुस्लिम प्रान्तोंके लिए एक पृथक संविधान परिषद् बने।

(३) यदि केन्द्रमें कोई विधान-सभा या कार्यसमिति बने तो उसमें दोनों प्रान्त समूहोंके प्रतिनिधियोंकी संख्या बराबर हो।

(४) यदि कोई प्रान्त अपने समूहसे अलग निकलना चाहे तो उसे इसकी स्वतन्त्रता हो पर शर्त यह रहे कि उस प्रान्तकी यह इच्छा जनमतगणना द्वारा जानी जाय।

(५) दोनों संविधान निर्मात्री परिषदें तय करें कि एक केन्द्रीय विधान-सभाकी आवश्यकता है या नहीं; वे यह भी तय करें कि केन्द्र (यूनियन) की आयके साधन क्या हों; पर ये साधन कर बैठाना कदापि न होंगे।

(६) साम्प्रदायिक समस्यासे सम्बन्धित कोई प्रश्न तबतक हल न किया जाय जबतक दोनों विधान परिषदें इस हलके पक्षमें अलग-अलग, बहुमतसे अपना फैसला न दे दें।

(७) कोई भी महत्त्वपूर्ण वैधानिक, प्रशासकीय या कार्यकारी प्रश्न केन्द्रमें तीन चौथाई बहुमतके बिना तय न हो।

(८) प्रान्त व प्रान्त-समूहके विधानोंमें विभिन्न जातियोंके धर्म, संस्कृति आदिकी सुरक्षाकी गारण्टी हो।

(९) प्रारम्भिक दस वर्षोंके बाद किसी भी प्रान्तको यूनियनसे अलग हो जानेका अधिकार हो।

कांग्रेसने निम्नलिखित सुझाव दिये—

(१) विधान निर्मात्री परिषदके सदस्य प्रान्तीय विधान-सभाओं द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली द्वारा चुने जायँ।

(२) विधान परिषद् यूनियनका संघीय विधान बनाये। इस विधानमें संघ सरकार और केन्द्रीय विधान-सभाके निर्माणकी व्यवस्था हो, जो परराष्ट्र, रक्षा, यातायात, मौलिक अधिकार, मुद्रा, नियोजन व तटकर तथा ऐसे विषयों व विभागोंका काम चलाये जो बादमें इन विषयोंसे सम्बन्धित साबित हों। इस कामके लिए जो धन चाहता हो उसे प्राप्त करनेका अधिकार केन्द्रको हो।

(३) शेष सभी विषय व विभाग प्रान्तीय सरकारोंमें निहित हों।

(४) यदि कुछ प्रान्त चाहें तो वे प्रान्त-समूह बना सकें।

(५) साम्प्रदायिक समस्याओंसे सम्बन्धित प्रश्न उस सम्प्रदायके प्रतिनिधियोंके बहुमतसे तय हों जिसपर उस प्रश्नका प्रभाव पड़ता हो।

(६) सविधानमें परिवर्तन करनेकी व्यवस्था हो।

(७) जिन विवादोंका निर्णय न हो सके, उन्हें पंच निर्णायकको सौंपनेकी व्यवस्था हो।

स्पष्ट है कि इन दोनों दृष्टिकोणोंमें ही बहुत बड़ा अन्तर था। लीग और कांग्रेसमें समझौता नहीं हो सका। १६ मईको मण्डलने अपने सुझावोंकी घोषणा की जिनमें भारतके विभाजनका विरोध किया गया था, लीगकी माँगका विरोध किया गया था, और फिर भी पाकिस्तानकी माँग प्रच्छन्न रूपसे मान ली गयी थी। मण्डलने कहा—"हमने मुस्लिम लीग द्वारा पेश पूर्ण स्वतन्त्र और स्वाधीन पाकिस्तान राज्यकी स्थापनाके प्रश्नपर विचार किया। यह राज्य दो क्षेत्रोंका—ब्रिटिश बलूचिस्तान, पंजाब, सिन्ध व सीमाप्रान्तके पश्चिमोत्तरके क्षेत्र और बंगाल व आसामके पूर्वोत्तरके क्षेत्रका होगा।" मण्डलने हिसाब लगाया कि पश्चिमोत्तर क्षेत्रमें ६२·०७ प्रतिशत मुसलमान हैं और पूर्वोत्तर क्षेत्रमें ५१·६९ प्रतिशत, शेष भारतमें उनकी संख्या लगभग दो करोड़ है जो १८·८ करोड़की आबादीमें बिखरे हुए हैं। मण्डलका तर्क था—"इन आकड़ोंसे स्पष्ट है कि मुस्लिम लीगका दावा स्वीकार कर एक पृथक स्वाधीन पाकिस्तान राज्य बना देनेसे साम्प्रदायिक अल्पसंख्यकोंकी समस्या हल नहीं होगी। पाकिस्तानमें पंजाब, बंगाल व आसामके उन जिलोंको शामिल कर देनेका औचित्य भी नहीं समझमें आता जहाँकी आबादीका भारी बहुमत गैर-मुस्लिम है। पाकिस्तानकी स्थापनाके पक्षमें जो तर्क दिये जाते हैं, वे हमारी समझमें, उतने ही औचित्यके साथ पाकिस्तानसे गैर-मुसलिम आबादीवाले इलाकोंको अलग कर देनेमें लागू होते हैं। यह बात सिखोंकी स्थितिके सम्बन्धमें खास तौरपर लागू होती है··पंजाबका विभाजन किसी भी ढंगसे क्यों न किया

जाय, सिख जातिके बड़े-बड़े भाग सीमाके दोनों ओर रहेंगे।" आर्थिक, भौगोलिक, सैनिक, रक्षात्मक आदि अन्य प्रश्नोंपर विचार कर मण्डलने कहा—"इसलिए हम ब्रिटिश सरकार-को यह राय देनेमें लाचार हैं कि आज जो सत्ता अंग्रेजोंके पास है वह दो बिलकुल स्वतन्त्र और अलग-अलग राज्योंको सौंपी जाय।"

मुसलिम लीगके दृष्टिकोणसे समस्याको देखते हुए मण्डलने कहा—"लेकिन इस निर्णयके कारण हम मुसलमानोंकी इस बिलकुल सच्ची आशंकासे आँखें नहीं चुरा रहे कि विशाल हिन्दू बहुमतवाले भारतके विरुद्ध एकात्मक केन्द्रीय शासनमें मुसलमानोंके सांस्कृतिक, सामाजिक व राजनीतिक जीवनके डूब जानेकी सम्भावना है। इसके लिए कांग्रेसने सुझाव रखा है कि प्रान्तोंको लगभग पूर्णतः स्वाधीन बना दिया जाय, सिर्फ वैदेशिक सम्बन्ध, रक्षा व यातायात जैसे निम्नतम विषयोंको केन्द्रके अधीन रखा जाय।" इस प्रकार ब्रिटिश सरकारके मन्त्रिमण्डलके प्रतिनिधियोंने सिद्धान्ततः कांग्रेसकी योजना स्वीकार कर ली थी।

मण्डलने विधानके बुनियादी ढाँचेके सम्बन्धमें सुझाव दिया—"(१) भारतका एक यूनियन हो जिसमें देशी रियासतें व ब्रिटिश भारत शामिल हों; यह यूनियन वैदेशिक सम्बन्धों, रक्षा व यातायातके विषय अपने अधीन रखे, और अपने कामके लिए आवश्यक धन इकट्ठा करनेका उसका अधिकार हो।

(२) यूनियनकी एक कार्यसमिति और एक विधान परिषद् हो, जिनमें ब्रिटिश भारत व देशी रियासतोंके प्रतिनिधि हों। किसी बड़े साम्प्रदायिक प्रश्नके केन्द्रीय विधान-सभामें पेश होने पर निर्णय दोनों मुख्य जातियोंके प्रतिनिधियोंके अलग-अलग बहुमत और सभी उपस्थित प्रतिनिधियोंके बहुमत से हो।

(३) यूनियन अधिकारक्षेत्रके विषयोंको छोड़कर शेष सभी विषय और अधिकार प्रान्तोंमें निहित हों।

(४) अन्य प्रान्तोंकी भाँति देशी रियासतोंके भी वे सभी अधिकार रहें जो यूनियनके नहीं हैं।

(५) प्रान्तोंको अपने समूह बनाने और समूहको सामान्य प्रान्तीय विषय निश्चित करनेका अधिकार रहे।

(६) यूनियन व प्रान्त-समूहोंके विधानमें यह व्यवस्था रहे कि कोई भी प्रान्त शुरूके दस सालके बाद विधानकी व्यवस्थाओंपर पुनर्विचारकी माँग अपनी विधान-सभाके बहुमत द्वारा कर सके। पुनर्विचारकी माँग दस-दस सालके अन्तरपर ही की जा सके।

ब्रिटिश सरकारके प्रतिनिधि-मण्डलने विधान निर्मात्री परिषद्के सम्बन्धमें सिफा-रिश की कि—

"(क) हर प्रान्तके लिए उसकी आबादीके अनुपातमें (मोटे तौरपर हर १० लाखकी आबादीपर एक) विधान परिषदके सदस्योंकी संख्या तय कर दी जाय। इसे वयस्क मताधिकारका सबसे निकट पर्याय माना जाय।

(ख) प्रान्तोंके लिए इस प्रकार निर्धारित संख्याओंको वहाँ बसी मुख्य जातियों (सम्प्रदायों) की आबादीके अनुपातमें विभिन्न जातियोंमें बाँट दिया जाय।

(ग) प्रत्येक सम्प्रदायके लिए निर्धारित प्रतिनिधियोंको उसी सम्प्रदायके विधान सभाओंके सदस्य चुनें।

मण्डलने भारतीय प्रान्तोंको तीन श्रेणियोंमें बाँट दिया और सिफारिश की कि विधान निर्मात्री परिषद इन्हीं तीन भागोंमें बाँट दी जाय। ये भाग अपने अपने प्रान्तोंके विधान बनायें और यह भी तय करें कि प्रान्त-समूह बनते हैं या नहीं और यदि बनते हैं तो प्रान्तीय विषयोंमें से कौनसे विषय समूहके अधिकार क्षेत्रमें जायँ। प्रान्तोंको यह भी अधिकार रहे कि नये संविधानके अनुसार चुनी गयी पहली विधान सभाएँ अगर चाहें तो बहुमतसे प्रस्ताव कर प्रान्त-समूहसे पृथक हो जायँ।

प्रान्तोंकी तीन श्रेणियाँ और उनके लिए संविधान निर्मात्री परिषदमें निर्धारित स्थानोंकी संख्या इस प्रकार थी—

भाग क

	आम	मुस्लिम	कुल
मद्रास	४५	४	४९
बम्बई	१९	२	२१
संयुक्तप्रान्त	४७	८	५५
बिहार	३१	५	३६
मध्यप्रान्त	१६	१	१७
उड़ीसा	९	०	९
जोड़	१६७	२०	१८७

भाग ख

			सिख	
पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त	०	३	०	३
पंजाब	८	१६	४	२८
सिंध	१	३	०	४
जोड़	९	२२	४	३५

भाग ग

बंगाल	२७	३३	६०
आसाम	७	३	१०
जोड़	३४	३६	७०

श्रेणी 'क' में दिल्ली, कुर्ग और अजमेर-मेरवाड़ाका एक एक प्रतिनिधि जुड़ना था। देशी रियासतोंको ९२ से अधिक स्थान नहीं मिलने थे। इनका श्रेणी और विभाजन परामर्शसे तय होना था।

प्रान्तीय और प्रान्त-समूहों सम्बन्धी विधानोंके बन जाने पर देशी रियासतों और भागोंके प्रतिनिधि इकट्ठे होकर केन्द्रीय यूनियनका विधान बनानेवाले थे।

यह भी सिफारिश की गयी थी बड़े साम्प्रदायिक प्रश्नोंके फैसलेके लिए परिषदके उपस्थित सदस्योंका बहुमत और दोनों मुख्य सम्प्रदायोंके उपस्थित प्रतिनिधियोंका अलग-अलग बहुमत आवश्यक होगा।

मण्डलने यह भी घोषणा की कि प्रमुख राजनीतिक दलोंके प्रतिनिधियोंकी अन्तरिम केन्द्रीय सरकार फौरन बना दी जायगी।

मण्डलके इन सुझावोंके प्रकाशनके फौरन बाद मण्डल, कांग्रेस, लीग, देशी-राजाओं, सिखों आदिमें लम्बा पत्र-व्यवहार शुरू हुआ जिसमें या तो कुछ सुझावोंका विरोध किया गया या अन्य कुछ सुझावोंका स्पष्टीकरण माँगा गया। सिख नेता मास्टर तारासिंहने सुझावोंको अस्वीकार करते हुए कहा कि इनमें सिखोंको मुसलमानोंकी दयापर आश्रित कर दिया गया है।

१६ जूनको मण्डल व वाइसरायने उन व्यक्तियोंके नामोंकी घोषणा की जो उन्होंने अन्तरिम सरकारके मन्त्रिमण्डलके लिए छाँटे थे। इस सूचीपर कांग्रेसको आश्चर्य हुआ क्योंकि कांग्रेसकी नामावलीमेंसे डाक्टर जाकिर हुसेन और शरत्चन्द्र बसुके नाम काटकर हरेकृष्ण महताब और सर एन. पी. इंजीनियर (गैर-कांग्रेसी) के नाम रख दिये गये थे। कांग्रेसको महताबके नामपर इतनी आपत्ति नहीं थी पर डाक्टर जाकिर हुसेनको हटानेको वह तैयार नहीं थी क्योंकि कांग्रेस अपनेको साम्प्रदायिक संस्था नहीं बल्कि राष्ट्रीय संस्था होनेकी बातपर जोर देना चाहती थी। कांग्रेसने लीगकी नामावलीमें अब्दुर्रब निश्तरके नामपर भी इसलिए आपत्ति की कि उन्हें हालमें ही हुए चुनावमें एक कांग्रेसी मुस्लिम उम्मीदवारने हरा दिया था।

वाइसरायने कांग्रेसकी आपत्ति इस आधारपर स्वीकार नहीं की कि यदि कांग्रेसको एक मुस्लिम प्रतिनिधि भेजनेका अधिकार दिया गया तो मुसलिम लीग राजी न होगी क्योंकि उसका दावा है कि वही भारतीय मुसलमानोंकी एकमात्र प्रतिनिधि संस्था है। समझौतेकी कोशिश एक बार फिर असफल हो गयी और वाइसरायने मानों प्रतिशोधकी भावनामें, अधिकांशतः अंग्रेज सदस्योंकी एक अस्थायी सरकार बना दी।

अबतक मण्डल और अन्य लोगोंके बीच पत्रव्यवहार समाप्त हो चुका था और कांग्रेस व लीग दोनोंने मण्डलके १६ मईके सुझावोंको स्वीकार कर लिया था। लेकिन जुलाईमें लीगने अपनी स्वीकृति वापस लेते हुए कहा कि हमने तो दीर्घ व अल्पकालीन दोनों योजनाएँ एक साथ स्वीकार की थीं, पर कांग्रेसने अल्पकालीन योजना अस्वीकार कर दी। २६ जूनके कांग्रेस कार्य-समितिके प्रस्तावमें कहा गया—

"जिस प्रकारकी स्वाधीनता प्राप्त करना कांग्रेसका लक्ष्य है, उसमें संयुक्त जनतान्त्रिक भारतीय संघकी स्थापना होनी चाहिये; एक केन्द्रीय सत्ता होनी चाहिये जो विश्वके राष्ट्रोंकी प्रतिष्ठा प्राप्त कर सके; अधिकतम प्रान्तीय स्वाधीनता होनी चाहिये, देशके हर नर-नारीके समान अधिकार होने चाहिये। मण्डलके सुझावोंमें विशेषकर प्रान्त-समूह बनानेकी प्रणालीमें निहित केन्द्रीय सत्तापर लगनेवाली सीमासे पूरा ढाँचा निर्बल होता है और पश्चिमोत्तर, सीमाप्रान्त व आसाम जैसे प्रान्तोंके लिए सुझाव सन्तोषजनक हैं, वे कुछ अल्पसंख्यकों, विशेषकर सिखोंके लिए असन्तोषजनक हैं। कार्यसमिति इस स्थितिको स्वीकार नहीं करती। लेकिन कार्यसमितिका मत है, सुझावोंको उनके पूर्णत्वमें एक साथ लेकर विचार करनेसे लगता है कि केन्द्रीय सत्ताको व्यापक व सशक्त बनाने तथा समूह बनानेके सम्बन्धमें प्रान्तोंके स्वेच्छासे निर्णय करनेके अधिकारकी रक्षा करने और ऐसे अल्पसंख्यक वर्गोंको सुरक्षा देनेकी उसमें काफी गुंजाइश है जो अन्यथा अहितकर स्थितिमें हैं।"

कार्यसमितिने यह भी निश्चय किया कि "स्वतन्त्र, संयुक्त, जनतान्त्रिक भारतका संविधान बनानेकी दृष्टिसे" कांग्रेसको प्रस्तावित संविधान परिषदमें भाग लेना चाहिये। कार्यसमितिने माँग की कि केन्द्रमें शीघ्रातिशीघ्र एक उत्तरदायी, प्रतिनिधित्वपूर्ण राष्ट्रीय अस्थायी सरकार स्थापित की जाय। ७ जुलाईकी अपनी बैठकमें कांग्रेस महासमितिने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

२७ जुलाईको बम्बईमें मुसलिम लीगकी बैठक हुई और इसमें लीगने दावा किया कि दो प्रमुख दलोंमेंसे सिर्फ हमने ही मण्डलके वक्तव्योंको पूरा-पूरा (अन्तरिम सरकार बनानेके सुझावको मिलाकर) स्वीकार किया है। संविधान परिषदके निर्माणसे सम्बन्धित सुझावोंकी अप्रत्याशित व्याख्या करनेका आरोप कांग्रेसपर लगाते हुए लीगने अपने प्रस्तावमें कहा—"ब्रिटिश सरकारके प्रतिनिधिमण्डल और वाइसरायने अलग-अलग और संयुक्त रूपसे कई बार कहा था कि बुनियादी सिद्धान्त सिर्फ इसलिए तय कर दिये गये हैं कि संविधान परिषदमें दोनों प्रमुख पक्ष भाग ले सकें; उन्होंने यह भी कहा था कि यह योजना तबतक नहीं चल सकती, जबतक उसे सहयोगकी भावनासे न लागू किया जाय। कांग्रेसके रवैयेसे यह स्पष्ट है कि संविधान परिषदके सफल संचालनकी इस पूर्व-परिस्थितिका अस्तित्व भी नहीं है। यह बात और इसके साथ मुसलिम राष्ट्र व भारतीय जनताके कुछ अन्य कमजोर वर्गोंके हितोंकी, कांग्रेसको खुश रखनेके लिए, कुरबानी करनेका ब्रिटिश सरकारका रवैया और उसका मुसलमानोंको बार-बार दिये गये लिखित और मौखिक वचनों व आश्वासनोंके उल्लंघनका रवैया इस बातमें कोई संशय नहीं छोड़ते कि इस स्थितिमें मुसलमानोंके लिए प्रस्तावित संविधान निर्मात्री परिषदमें शामिल हो जानेमें खतरा है, इसलिए लीगकी यह कौंसिल मण्डलके सुझावोंको दी गयी अपनी वह स्वीकृति वापस लेती है जो लीगके अध्यक्षने ६ जून १९४६ को ब्रिटिश सरकारके भारत सचिवको दी थी।"

लीग एक कदम आगे बढ़ी। उसने 'सीधी काररवाई'का फैसला किया, और बंगाल-को रक्तस्नान करा दिया। सीधी कारवाई सम्बन्धी प्रस्तावका उद्देश्य बताया गया था "पाकिस्तान प्राप्त करना, मुसलमानोंके न्यायसंगत अधिकारोंका दावा करना और वर्तमान अंग्रेजोंकी गुलामी और भविष्यमें कल्पित सवर्ण हिन्दुओंकी गुलामीसे छुटकारा लेकर अपना राष्ट्रीय आत्मसम्मान प्राप्त करना।" लीगने अपनी कार्य-समितिसे 'सीधी कारवाई'का कार्य-क्रम बनाने और मुसलमानोंसे 'विदेशी सरकार द्वारा दिये गये खितावोंको छोड़ देने'को कहा। खितावोंके बहिष्कारकी लीगकी अपीलको विशेष सफलता नहीं मिली। जिन्हें उपाधियाँ मिली हुई थीं, उन्हें विश्वास नहीं होता था कि अंग्रेज सचमुच जा रहे हैं, वे लीगमें शामिल हो कर वह भी नहीं खोना चाहते थे, जो उन्हें मिला हुआ था। लेकिन हिंसा और रक्तपातका खेल रचना ज्यादा आसान था। 'सीधी कारवाई'के लिए १६ अगस्तका दिन नियत किया गया। बंगालके लीग मन्त्रिमण्डलने उस दिन सार्वजनिक छुट्टीकी घोषणा कर दी। कल-कत्तेके लीगी नेता "हिन्दुओंको सबक सिखाने"के लिए हिंसाका प्रचार करने लगे। जिना खुद हिंसा नहीं चाहते थे और उन्होंने एक वक्तव्यमें लीगके प्रस्तावकी व्याख्या करते हुए कहा कि लीगकी माँगके समर्थनमें जनमत बनानेके लिए उस दिन सभाएँ की जायँ; 'सीधी-कारवाई'का किसी अन्य अर्थमें सीधी कारवाई करनेका आशय नहीं था। उन्होंने मुसल-मानोंसे उनके आदेशका पालन कर शान्त और अनुशासित ढंगसे व्यवहार करनेकी अपील की

और 'दुश्मनके हाथमें खेल जाने'से सावधान किया। लेकिन लीगके कुछ नेताओंने बड़े पैमाने पर हिंसात्मक कारवाई करनेका पूरा प्रबन्ध पहले ही कर लिया था, जिनाकी चेतावनी जनतातक देरमें पहुँची। नियत समयपर कलकत्ता और सिलहटमें कत्ल शुरू हो गये, शीघ्र ही सड़कोंपर खून बहने लगा। लगभग ७००० व्यक्ति मारे गये, इससे कहीं ज्यादा जख्मी हुए।[१] कलकत्तेकी सड़कोंपर शव सड़ने लगे। मुसलमानोंकी रक्तपिपासा शान्त होनेके बाद हिन्दुओंका प्रतिशोध शुरू हुआ, और इससे नोआखाली और टिप्परा जिलोंके बहुसंख्यक मुसलमान उत्तेजित हुए। इन दो जिलोंमें जो हुआ वह कलकत्तेकी घटनाओंसे भी ज्यादा लोमहर्षक और भयानक था। पहले हत्या, अग्निकाण्ड और सम्पत्तिकी लूटपाटकी बाढ़-सी आयी। फिर हिन्दुओंकी स्त्रियोंको भगाकर उनकी मुसलमानोंसे बलपूर्वक शादी करना शुरू हुआ। बलात्कार और बलात् धर्मपरिवर्तन इन उपद्रवोंकी विशेषता थी।

कुछ समयतक सम्पूर्ण देशका ध्यान तो नोआखालीमें केन्द्रित रहा। सार्वजनिक पैमानेपर हिंसासे गान्धीजी विचलित हो गये और उन्होंने शान्तिस्थापनार्थ नोआखालीमें ही रहनेका निश्चय किया। वे अपने उद्देश्यमें सफल हुए। बरबाद और उजड़े नोआखालीमें सद्भावनापूर्ण मुसलमानोंने उनका अपने बीच स्वागत किया, उन्होंने गान्धीजीको अपना मेहमान बनाया और शान्ति व व्यवस्था स्थापित करनेमें हर तरहसे मदद देनेका आश्वासन दिया। बंगालकी लीग सरकारने गान्धीजीकी सुरक्षाकी व्यवस्था कर दी हालाँ कि गान्धीजी यह नहीं चाहते थे। किन्तु रवीन्द्र बाबूके 'एकला चलो रे!' ध्वनिके साथ मुसलमानोंकी घनी बस्तियोंमें अकेले जाते और कहते कि मुझपर कोई आँच नहीं आयगी। और उनपर कोई आँच नहीं आयी। अनेक परिवारोंमें वे फिर प्रसन्नता ला सके, मुसलमानोंने उन्हें वचन दिया कि हम अपने हिन्दू भाइयोंकी रक्षा करेंगे। जादूसे, चमत्कारसे, गान्धीजीने उनका हृदय बदल दिया। बहुत-सी भगायी हुई हिन्दू स्त्रियाँ अपने-अपने परिवारोंको वापस भेज दी गयीं। जो शान्ति हिंसासे असम्भव थी वह प्रेमसे स्थापित हो गयी।

पर जो दुष्टता गान्धीजीके प्रयाससे नोआखालीमें समाप्त हो गयी, दुष्टोंने दूसरे स्थानोंपर उसे उभारा। आखिरकार हिन्दू, मुसलमान एक दूसरेके सिर पचासों वर्षोंसे फोड़ते आ रहे थे। इस बार बिहारमें हिन्दुओंने मुसलमानोंपर भीषण हमला बोल दिया और बहुतसे मुसलमानोंको मार डाला। एक बार तो स्थिति इतनी गम्भीर हो गयी कि जवाहरलाल नेहरूने (जो अन्तरिम मन्त्रिमण्डलमें आ चुके थे) अशान्त क्षेत्रमें हवाई जहाजोंसे बमबारी करनेका हुक्म दे दिया।

२५ अगस्तको वाइसरायने एक वक्तव्य जारी किया जिसमें अन्तरिम सरकारके लिए निम्नलिखित व्यवस्था थी—कांग्रेस छः सदस्य (जिनमें एक परिगणित जातिका हो) नामजद करे, पाँच लीग नामजद करे और अन्य अल्पसंख्यकोंके तीन प्रतिनिधि (एक सिखोंका हो) वाइसराय खुद नियुक्त करें। अन्तरिम सरकारका उतना ही मान और उसकी सलाहका उतना ही महत्त्व होगा जितना किसी औपनिवेशिक सरकारका। लीगने इस मन्त्रिमण्डलमें शामिल होनेसे इनकार कर दिया, वह कांग्रेसको अपने प्रतिनिधियोंमें भी एक मुसलमान नियुक्त नहीं करने देना चाहती थी, चाहे कांग्रेस हिन्दुओंके लिए नियत संख्यामें ही एक राष्ट्रीय मुसलमान भले ही नियुक्त करना चाहे। वाइसरायने लीगके बिना ही सरकार

१. पट्टाभि सीतारमैया, हिस्टरी आव नैशनल कांग्रेस, पृष्ठ ८०५

बना दी और निम्नलिखित मन्त्रियोंकी घोषणा कर दी— जवाहरलाल नेहरू, वल्लभभाई पटेल, राजेन्द्रप्रसाद, आसफअली, राजगोपालाचारी, शरत्‌चन्द्र बसु, जान मथाई, बलदेव सिंह, शफात अहमद खाँ, जगजीवन राम, अली जहीर, कूवरजी होरमुसजी भाभा। दो मुसलिम प्रतिनिधि बादमें नियुक्त होनेवाले थे।

जवाहरलाल नेहरू २ सितम्बरको मन्त्रिमण्डलमें शामिल हुए थे। उसके फौरन बाद उन्होंने लीगको अन्तरिम मन्त्रिमण्डलमें शामिल होनेके लिए राजी करनेके इरादेसे जिनासे पत्र-व्यवहार शुरू किया। ६ अक्तूबरके अपने पत्रमें नेहरूने लिखा—"चुनावके नतीजोंपर मुसलिम लीगको भारतीय मुसलमानोंके भारी बहुमतका प्रतिनिधित्व करनेवाली संस्था और इसलिए जनतान्त्रिक सिद्धान्तोंके अनुसार भारतीय मुसलमानोंका प्रतिनिधित्व करनेका अधिकार मैं स्वीकार करता हूँ "बशर्त्ते कि लीग इन्हीं तर्कोंसे कांग्रेसको सभी गैरमुसलमानों और ऐसे मुसलमानोंका प्रतिनिधि मान ले जिन्होंने अपना भाग्य कांग्रेसके साथ मिला दिया है।" अपने दावेकी इस स्वीकृतिपर सन्तोष प्रकट करते हुए जिनाने सरकारमें शामिल होनेकी अपनी शर्त्त दोहरा दी और हरिजनोंका प्रतिनिधित्व करनेके कांग्रेसके अधिकारका विरोध किया। लेकिन १५ अक्तूबरको वे झुके और अन्तरिम सरकारमें शामिल होनेके लिए लीगकी ओरसे लियाकतअली खाँ, आइ. आइ. चुन्दरीगर, अब्दुर्रब निश्तर, गजनफरअली खाँ तथा जोगेन्द्रनाथ मण्डलके नाम दिये। जोगेन्द्रनाथ मण्डल परिगणित जातिके थे। मन्त्रिमण्डलमें दो स्थान पहलेसे ही खाली थे, तीन स्थान और खाली करनेके लिए शफात अहमद खाँ, अली जहीर और शरत्‌चन्द्र बसुने इस्तीफे दे दिये। लेकिन लीग अपनी शर्त्तें लेकर मन्त्रिमण्डलमें आयी थी। पाकिस्तानी क्षेत्रोंकी अलग संविधान परिषदकी माँग करते हुए उसने संविधान परिषदमें भाग लेनेसे इनकार कर दिया।

कांग्रेस लीगका संयुक्त मन्त्रिमण्डल सन्तोषजनक ढंगसे नहीं चला, चल भी नहीं सकता था। मुसलमान जनताका पाकिस्तानके लिए जो उत्साह था, उसपर अप्रत्यक्ष रूपसे भी प्रभाव डालनेवाला कोई काम लीगी मन्त्री करनेको तैयार नहीं थे। विधान सभामें ही किस तरह लीगी व कांग्रेसी मन्त्री एक दूसरेका विरोध करते थे, उसका एक उदाहरण यह है कि राज्यपरिषदमें अब्दुर्रब निश्तरने कहा कि बिहारमें उपद्रवोंके कारण दसों लाख व्यक्ति मारे गये। यह हास्यपद अतिरंजना थी और राजेन्द्रप्रसादको उठकर कहना पड़ा कि मेरे सहयोगीका अनुमान मूर्खतापूर्ण है।

'सीधी काररवाई दिवस'को कलकत्तेमें जिस हिंसात्मक प्रवृत्तिने सिर उठाया था, वह भारतके विभिन्न स्थानोंमें अपना भद्दा रूप दिखाती रही। २३ व २४ नवम्बरको मेरठमें कांग्रेसका ५४वाँ अधिवेशन ६॥ वर्षके अन्तरसे हो रहा था। बड़ी संख्यामें लोगोंके आनेकी सम्भावना थी पर अधिवेशनके कुछ दिन पहले वहाँ साम्प्रदायिक उपद्रव हो जानेके कारण, अधिवेशन केवल कामकी संक्षिप्त बातों और अति आवश्यक उपस्थिततक ही सीमित रह गया। जे. बी. कृपालानीकी अध्यक्षतामें हुए इस अधिवेशनमें यह निश्चय दोहराया गया कि "विश्वमें शान्ति, स्वतन्त्रता और प्रगतिकी स्थापनामें अन्य राष्ट्रोंसे समानताके स्तरपर सहयोग करनेके लिए कांग्रेस भारतको पूर्ण स्वाधीन बनानेके संघर्षमें लगी रहेगी"।

लीगके नेता चुपचाप नर-संहार देखते रहे—शायद इस डरसे कि हिंसाके विरोधसे

मुसलमानोंका पाकिस्तानके लिए उत्साह ठण्डा न पड़ जाय। संविधान परिषदकी पहली बैठक ९ दिसम्बरको होनेवाली थी। लीग उसका बहिष्कार करनेका संकल्प कर चुकी थी। दिसम्बरके आरम्भमें ही नेहरू, जिना, लियाकतअली खाँ और बलदेव सिंह इस उद्देश्यसे लन्दन आमन्त्रित किये गये कि सभी दलोंका सहयोग संविधान परिषदको मिल सके, इसका एक और प्रयास किया जाय। प्रयास असफल हुआ और नेहरू ९ दिसम्बरको संविधान परिषदकी पहली बैठकमें शामिल होनेके लिए लौट आये। परिषद नियत दिन शुरू हुई और लीगको छोड़ शेष सभी दलोंने उसमें सहयोग दिया।

लेकिन लन्दन-वार्तासे लीगको अपने पक्षके समर्थनमें एक बात मिल गयी। वार्ताके अन्तमें ब्रिटिश सरकारने ब्रिटिश मन्त्रिमण्डलके प्रतिनिधिमण्डलके १६ मईके वक्तव्यकी व्याख्याके रूपमें जो वक्तव्य दिया, उसका अन्तिम अंश इस प्रकार था—"जो विधि निश्चित की गयी थी, उसके पालन न होने पर संविधान परिषदकी सफलताकी कोई आशा कभी भी नहीं थी। यदि ऐसी संविधान परिषद कोई संविधान बनाये जिसमें भारतीय जनताका काफी बड़े भागका प्रतिनिधित्व न हो तो उस संविधानको भारतके ऐसे भागोंपर लागू करनेकी बात सोची भी नहीं जा सकती (जैसा कि कांग्रेसने भी कहा है) जो रजामन्द न हों।" इस वक्तव्यसे जिनाके अनुयायियोंके हृदयमें आशाका फिर संचार हो गया और पृथक् संविधान परिषदकी सम्भावना उन्हें फिर स्पष्ट दिखाई पड़ने लगी। लीगकी कार्यसमितिने ब्रिटिश सरकारसे यह घोषणा करनेको कहा कि उसके "प्रतिनिधिमन्डलने जो वैधानिक योजना बनायी थी वह असफल हो गयी है" और "परिषदके चुनाव व उसका बुलाना शुरूसे ही अवैध, गैरकानूनी और अर्थहीन है, उसका जारी रहना व उसकी बैठकोंकी काररवाई अवैध है और वह भंग कर दी जाय।" अब इतने समयके बाद, ब्रिटिश सरकारके लिए भी यह करना आसान न था। संविधान परिषद अपना काम करती रही।

१९४६-४७ में भारतीय राष्ट्रीयताको प्रेरणा देनेवाली बहुत-सी घटनाएँ हुईं और ब्रिटिश प्रधान मन्त्रीको स्वीकार करना पड़ा कि भारतीय जनता आजादीके लिए बेचैन है। फरवरी १९४६ में भारतीय नौसेनाके सिपाहियोंने हड़ताड़ कर विद्रोह कर दिया। "बहुत-सी शिकायतें काफी समयतक दूर न होनेके कारण १८ फरवरीको 'तलवार' ट्रेनिंग स्कूलमें यह शुरू हुआ। १९ फरवरीके सवेरेतक वह बम्बई और उसके आस-पासके १२ नौसैनिक शिविरों व बन्दरगाहमें लंगर डाले २० जहाजोंके २०००० कर्मचारियोंमें फैल गया। जहाजोंके मस्तूलोंसे ब्रिटिश यूनियन जैक (झण्डा) उतार दिया गया और उसकी जगह लीग और कांग्रेस-के झण्डे फहराने लगे। कम्यूनिस्ट, लीग और कांग्रेस झण्डोंके नीचे शहरमें नाविकोंके प्रदर्शन शुरू हो गये, जिनके नारे थे—जयहिन्द, इनकिलाब जिन्दाबाद, हिन्दू मुसलिम एक हों, अंग्रेजी साम्राज्यशाहीका नाश हो, हमारी माँगें पूरी हों, आजाद हिन्द फौजके राजनीतिक कैदी छोड़े जायँ, इण्डोनेशियासे भारतीय फौजें वापस बुलायी जायँ। यह विद्रोह उसी समय हुआ जब ब्रिटिश सरकारने अपना प्रतिनिधिमण्डल भेजनेके निश्चयकी घोषणा की थी। कांग्रेस और लीग दोनोंने विद्रोहका समर्थन नहीं किया।

आजाद हिन्द फौजकी कहानी हर एककी जुबानपर थी। उसके नेताओंके (जो अंग्रेजी सेनामें उच्च पदोंपर थे) मुकदमेमें दुनियाभरमें दिलचस्पी ली गयी। इस लम्बे मुकदमेसे जनताकी बेचैनी बढ़ रही थी। कलकत्ता और बम्बईमें कई बार दस-दस लाख

जनताकी सभाएँ हुईं, जैसा कि पहले कभी नहीं हुआ था। दूसरे शहरोंमें भी प्रदर्शन हुए जो इतने बड़े नहीं थे। आन्दोलन नागरिकोंतक ही सीमित न रहा और फौजियोंमें भी घर कर गया। जिनाने बार-बार सिर्फ देशके ही नहीं, बल्कि पुलिस, फौज हर चीजके बँटवारेकी माँग की थी। पाकिस्तानकी भावना फौजियोंमें भी घर करने लगी और मुसलमान सिपाही नये मुसलिम राज्यकी स्थापनाके प्रति उत्साह दिखाने लगे। १८५७-५८ के महान् विद्रोहके बाद कई बार भारतीय फौजी टुकड़ियोंमें विद्रोह हुआ था, पर कभी भी इस पैमाने-पर उनमें जोश नहीं आया था जितना कि जिनाके नारेने पैदा कर दिया था। नियति अंग्रेजोंसे प्रतिशोध ले रही थी; "फूट डालो और राज करो" की नीति आज उलटकर उन्हीं-पर चोट कर रही थी। इस नीतिके फल पक रहे थे। सरकारका कोई ऐसा विभाग नहीं था जहाँ भारतमें रहने या पाकिस्तानमें जानेके प्रश्नपर कर्मचारी उद्वेलित न हो रहे हों। मुसलमान पाकिस्तानको अपनी कल्पनाका देश मान रहे थे। एक समय अंग्रेज मुसलमानोंको अपनी सत्ताका मजबूत स्तम्भ मानते थे; अब उन्हीं मुसलमानोंकी निष्ठा पाकिस्तानके प्रति थी और जिना उनके आदर्श थे। अपने विशिष्ट नाटकीय ढंगसे जिनाने मुसलमानोंको भावावेशके इस स्तरपर ला दिया था। उन्होंने मुसलमानोंको मुल्लाओंके फतवोंके असरसे निकालकर राजनीतिके पथपर ला खड़ा किया था।

मजदूरोंमें भी आजादीके लिए वही लगन और उमंग थी। १९४६ में १९६१००० मजदूरोंने हड़ताल की जिससे कामके १,२७,१७,००० घण्टोंका नुकसान हुआ। जब कि पिछले सालोंमें यही संख्याएँ क्रमशः केवल ७,४७,००० व ४०,५४,००० तक ही पहुँची थीं। १९४७ के पहले आठ महीनोंमें इन संख्याओंमें और वृद्धि हुई। १९४७ के शुरूमें सरकारने मजदूरोंके प्रति कड़ाईका रुख अख्तियार कर लिया और बहुत-से कम्यूनिस्ट गिरफ्तार कर लिये गये। २१ फरवरी, १९४७ को केन्द्रीय विधान-सभामें गृहमन्त्री वल्लभभाई पटेलने बताया कि कुल १९५० व्यक्ति गिरफ्तार किये गये।

देशी रियासतोंमें भी असन्तोष उबला पड़ रहा था। कश्मीर, हैदराबाद व त्रावन-कोरमें यह असन्तोष सबसे ज्यादा था। कश्मीरमें शेख अब्दुलाके नेतृत्वमें नेशनल (राष्ट्रीय) कानफरेन्सने 'कश्मीर छोड़ो' आन्दोलन चलाया था जिसका उद्देश्य कश्मीरके महाराजसे गद्दी छुड़वाकर शासन-सत्ता जनताके हाथमें देना था। महाराजाकी स्थिति केवल वैधानिक अध्यक्षकी कर देनेकी माँग थी। महाराजाके प्रधान-मन्त्री रामचन्द्र काकने जवाहरलाल नेहरू तकको कश्मीरमें नहीं घुसने दिया। वे दमनके अंग्रेजी ढंगको काममें ला रहे थे। भारतके आजाद होनेके कई महीने बाद महाराजाने अपना ढंग बदला और वह भी तब जब पाकिस्तानकी शहपर कुछ मुस्लिम कबीलोंने कश्मीरपर हमला बोल दिया। शेख अब्दुल्ला प्रधान मन्त्री बना दिये गये।

आसाममें आन्दोलनने दूसरा रूप धारण किया। सिलहटको छोड़कर आसामके शेष सभी जिलोंमें हिन्दुओंका बहुमत था, पर लीग उसको पाकिस्तानमें शामिल करना चाहती थी और ब्रिटिश सरकारी प्रतिनिधि-मण्डलने भी उसे बंगालके साथ जोड़ दिया था। पूर्वी बंगालमें मुस्लिम लीगने यह आन्दोलन चलाया कि बड़ी संख्यामें मुसलमान जाकर आसाममें बस जायँ, ताकि आसाममें हिन्दू बहुमतकी जगह अल्पमत हो जायँ। पूर्वी बंगालके गरीब मुस्लिम किसानोंको आसाममें खेतीके लिए बड़ी-बड़ी जमीनें देनेका लालच दिया गया और

बड़ी संख्यामें मुसलमान आसाम जाने लगे। उनका यह आगमन इस तरह अकस्मात और अचानक हुआ कि आसामके कांग्रेस मन्त्रि-मण्डलको चिन्ता होने लगी और उसने बंगालियोंके आसाम-प्रवेशपर रोक लगा दी।

इन सब बातोंसे ब्रिटिश सरकारको विश्वास होने लगा कि भारतीयोंको ज्यादा दिन दास नहीं बनाये रखा जा सकता और उसने शासन-सत्ता हस्तान्तरित करनेकी तिथि निश्चित कर दी। २० फरवरी १९४७ को ब्रिटिश प्रधान मन्त्रीने लोकसभामें घोषणा की कि—

"ब्रिटिश सरकार चाहती थी कि शासन-व्यवस्था उस सत्ताको सौंपी जाय जो सभी भारतीय दलों द्वारा स्वीकृत हो, विधानके अनुसार स्थापित की गयी हो। यही मन्त्रिमण्डलके प्रतिनिधिदलकी योजना थी। पर दुर्भाग्यवश अभी ऐसी कोई आशा नहीं है कि इस तरहका संविधान बनेगा और इस तरहकी व्यवस्था स्थापित होगी। वर्त्तमान अनिश्चित परिस्थितिमें संकट निहित है और यह स्थिति कायम नहीं रखी जा सकती। ब्रिटिश सरकार यह स्पष्ट कर देना चाहती है कि उसका यह निश्चित इरादा है कि जून १९४८ से पहले ही शासन-सत्ता उत्तरदायी भारतीयोंके हाथोंमें सौंप दी जाय।......

"ब्रिटिश सरकारको यही सोचना है कि ब्रिटिश भारतकी केन्द्रीय सरकारके अधिकार निश्चित तिथिपर किसे सौंपे जायँ—भारतकी किसी केन्द्रीय सरकारको सौंपे जायँ या कुछ इलाकोंमें वर्त्तमान प्रान्तीय सरकारोंको सौंपे जायँ जिसमें भारतीय जनताका सबसे अधिक हित-साधन हो और जो सबसे अधिक न्यायसंगत प्रतीत हो। सत्ताका अन्तिम हस्तान्तरण चाहे जून १९४८ के पहले न हो, लेकिन उसकी तैयारी पहलेसे करनी होगी।"

ब्रिटिश प्रधान मन्त्रीने वेवलकी जगह 'सत्ता हस्तान्तरणका कार्य पूरा करनेके लिए' एडमिरल वाइकाउण्ट माउण्टबेटनको भारतका नया वाइसराय नियुक्त किया।

१५ दिन बाद ५ मार्चको ब्रिटिश लोकसभामें वादविवादके समय ब्रिटिश सरकारके भारत छोड़नेके कारण बताते हुए स्टेफर्ड क्रिप्सने कहा—

"सरकारके सामने दो बुनियादी रास्ते थे। एक रास्ता यह था कि भारतपर ब्रिटिश नियन्त्रणको और मजबूत किया जाय, भारत-सचिवके कर्मचारियोंकी संख्या और बढ़ायी जाय, भारतमें ब्रिटिश फौजोंकी संख्यामें वृद्धि की जाय तथा प्रशासकीय उत्तरदायित्व तबतक निभाते रहा जाय जबतक भारतीय जातियोंमें कोई समझौता न हो जाय। इस नीतिके लिए यह निर्णय आवश्यक था कि अगले १५-२० वर्षोंतक भारतमें रहना ही है, क्योंकि इससे कम समयमें वहाँ शासन व्यवस्थाको मजबूत और स्थायी नींवपर खड़ा नहीं किया जा सकता।

"दूसरा रास्ता यह था कि हम यह स्वीकार कर लें कि पहले रास्तेपर चलना सम्भव नहीं है......यह निर्णय करना असम्भव था कि हम अनिश्चित कालतकके लिए उत्तरदायित्व ओढ़ लें—उस समयतकके लिए यह दायित्व ले लें जबतक निभानेकी शक्ति हममें नहीं है।"

इस समयतककी लीगकी स्थितिपर एक दृष्टि डाल लें। लीग अब भी भारतीय मुसलमानोंकी एकमात्र प्रतिनिधि संस्था नहीं थी। उसके मन्त्रिमण्डल बंगाल व सिन्धमें काम कर रहे थे। अत्यधिक मुसलिम बहुमतवाले पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्तमें कांग्रेसका मन्त्रिमण्डल था; पंजाब विधान सभामें लीग दल सबसे बड़ा था, पर यूनियनिस्ट दल शासन कर

रहा था क्योंकि हिन्दू, सिख, मुसलमानोंकी सहायतासे यूनियनिस्ट दलका विधान सभामें बहुमत था, आसाममें विशुद्ध कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल काम कर रहा था। जिना और उनके अनुयायियोंको सबसे बड़ी फिक्र यह थी कि शासन-सत्ता तो मिल रही है, पर वह पंजाब व सीमाप्रान्तमें लीगको नहीं मिलेगी।

इसलिए लीगने आसाम, सीमाप्रान्त व पंजाबमें अपना जोर बढ़ानेके लिए कोशिशें शुरू कीं। आसाममें उसने जो ढंग अपनाया वह ऊपर लिखा जा चुका है। सीमाप्रान्तमें कांग्रेस और खुदाई खिदमतगारोंके खिलाफ गाली गलौजका प्रचार शुरू हुआ। बहुत-से सरकारी नौकर लीगमें शामिल हो गये। लूट-मार, आगजनी व कत्लकी घटनाएँ होने लगीं। हिन्दू व सिख वहाँसे भागने लगे। वे अपनेको असहाय पाते थे क्योंकि मुसलमान पुलिसवाले उनकी रक्षा नहीं करते थे। वहाँ अव्यवस्था व अराजकता फैल गयी।

पंजाबमें सरकारी कर्मचारियोंकी निष्ठा सरकारके प्रति कम थी, लीगके प्रति ज्यादा। शान्ति व व्यवस्था कायम रखनेके आदेशोंका या तो पालन ही न होता और होता भी तो अनमने ढंग से। मुस्लिम लीगके प्रचारक खुलेआम हिंसाका प्रचार करते घूमते, हाकिम या तो उनकी काररवाईको नजरअन्दाज कर देते या उन्हें और शह देते। कई सौ व्यक्ति गिरफ्तार तो हुए पर अराजकता बढ़ती गयी। शासन व्यवस्था डगमगाने लगी और यूनियनिस्ट प्रधान मन्त्री खिज्रहयात खाँने अपने मन्त्रिमण्डलका इस्तीफा दे दिया। इस्तीफेके कारण एक शून्य-सा पैदा हो गया। विधान-सभामें लीग दलका बहुमत नहीं था। उसने हिन्दुओं व सिखोंसे मिलकर बहुमत बनानेकी कोशिश भी की पर हिन्दुओं और सिखोंका लीगसे विश्वास उठ चुका था। इस गतिरोधकी परिस्थितिमें ही बड़े पैमानेपर लूट-मार, हत्या व आगजनी होने लगी। मार्चके शुरूमें कांग्रेस पंजाबके काण्डसे इतनी बेचैन हो उठी कि उसकी कार्यसमितिने इस स्थितिका एक ही हल यह पाया कि पंजाबके दो हिस्से—हिन्दू पंजाब व मुस्लिम पंजाब कर दिये जायँ।

इस रक्तपात, नरसंहार, लूट व अग्निकाण्डोंके बीच हिन्दू जो कुछ भी सम्पत्ति ले जा पाते, उसे लेकर पूर्वकी ओर आ रहे थे, मुसलमान पश्चिमकी ओर भाग रहे थे। आबादीका तबादला चल रहा था। पाकिस्तानकी स्थापना और लीगका शासन निश्चित माने जा रहे थे। लेकिन निर्धन लोग अपने-अपने घरोंपर जमे हुए थे। सुरक्षित स्थानोंको ले जानेके लिए उनके पास कुछ भी नहीं था। शान्ति और व्यवस्था काल्पनिक हो गयी थी क्योंकि व्यवस्था रखनेवाले स्वयं संघर्षमें पक्षपात कर रहे थे। इस स्थितिसे बचनेका एक ही रास्ता दृष्टिगोचर होता था—भारतका विभाजन।

अध्याय ३२

भारत स्वतन्त्र

"फूट डालो और राज करो" की नीतिने ही (जिसने अंग्रेजी राजको प्रायः दो सौ वर्षोंतक कायम रखा था) उसका अन्त भी निकट ला दिया। अंग्रेजी सरकारने स्वीकार किया कि वह जून १९४८ तक भी राज चलानेमें असमर्थ है और भारतको विभाजित करनेके आधारपर उसने जल्दी ही शासन-सत्ता भारतीयोंको सौंप देनेकी इच्छा प्रकट की।

३ जून १९४७ को भारतके नये वाइसराय माउण्टबैटनने अंग्रेजी सरकारके अन्तिम वक्तव्यकी घोषणा की जिसमें भारतके विभाजन तथा भारत तथा पाकिस्तानको उपनिवेशीय स्वराज्य देनेकी योजनाका वर्णन था।

इस वक्तव्यमें मुसलिम लीग द्वारा संविधान परिषद्के बहिष्कारके कारण उत्पन्न हुए गति-रोधको सुलझानेका सुझाव दिया गया था। इसमें बताया गया कि "यह स्पष्ट है कि इस संविधान परिषद् द्वारा निर्मित कोई भी विधान देशके उन भागोंपर लागू न हो सकेगा जो इसे माननेके लिए तैयार नहीं हैं।" इसलिए इन भागोंकी जनताके सही विचार जाननेके लिए कि वह अपना संविधान (१) वर्त्तमान संविधानपरिषद् द्वारा ही तैयार कराना चाहती है, या (२) एक नयी और पृथक् संविधान परिषद् द्वारा तैयार कराना चाहती है जिसमें उन क्षेत्रोंके प्रतिनिधि होंगे जो वर्त्तमान संविधान परिषद्में भाग लेना नहीं चाहते, निम्न-लिखित तरीका बताया गया—

"बंगाल और पंजाबकी विधान सभाएँ (यूरोपीय सदस्योंको छोड़कर) दो भागोंमें अपनी बैठकें करें; एक भागमें मुसलिम बहुमत जिलोंके प्रतिनिधि बैठें और दूसरेमें प्रान्तके शेष भागके। ठीक जनसंख्या जाननेके लिए १९४१ की जनगणना अधिकृत मानी जायगी।

"प्रत्येक विधान सभाके दोनों भागोंके सदस्य, उक्त नीतिसे अलग-अलग बैठकर वोट द्वारा निश्चय करेंगे कि प्रान्तका विभाजन हो या न हो। यदि किसी भी एक भागके सदस्य साधारण बहुमतसे विभाजनके पक्षमें निर्णय लेंगे तो विभाजन किया जायगा और तदनुसार विभाजनका प्रबन्ध किया जायगा।

"विभाजन विषयक प्रश्नका निर्णय करनेसे पहले यह वांछनीय है कि प्रत्येक भागके प्रतिनिधियोंको पता रहे कि यदि अन्ततः प्रान्तने एक साथ संयुक्त रहनेका ही निश्चय किया तो वह कौन-सी संविधान परिषदमें शामिल होना चाहेगा। इसलिए यदि कोई भी सदस्य ऐसी इच्छा प्रकट करेगा तो प्रांतीय विधान सभाका संयुक्त अधिवेशन (यूरोपीय सदस्योंको छोड़कर) किया जायगा जिसमें पूरी विधान सभा यह निश्चय करेगी कि प्रान्तको किस संविधान परिषदमें शामिल होना है।

"यदि विभाजनका निर्णय हुआ तो हर भाग अलग अलग निश्चय करेगा कि उसे किस संविधान परिषदमें शामिल होना चाहिये।

"सिंधकी विधान सभा (यूरोपीय सदस्योंको छोड़कर) भी ऐसा ही निर्णय करेगी।

परन्तु सिंधमें कोई हिन्दू बहुमतका जिला नहीं है, इसलिए वह दो भागोंमें नहीं बँटेगी।"

उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रान्तके विषयमें ब्रिटिश सरकारके वक्तव्यमें कहा गया कि यह निश्चय करनेके लिए कि वहाँके लोग वर्तमान संविधान परिषदमें रहना चाहते हैं या नयी पृथक परिषदमें, जनमत-गणना करायी जाय। ऐसी जनमत-गणनाका प्रबन्ध सिलहट जिलेके सम्बन्धमें भी किया गया जो हिन्दू बहुमत प्रान्त आसाममें केवल एक मुसलिम बहुमत जिला था।

भारत और पाकिस्तानकी सीमाएँ निर्धारित करनेके लिए बंगाल, पंजाब और सिलहटके लिए अलग-अलग सीमा-कमीशनोंकी स्थापनाका प्रबन्ध किया गया।

सन् १९४१ की जनगणनाके अनुसार पंजाबमें मुसलिम बहुमतवाले जिले ये थे:— **लाहौर डिवीजन**—गुजरानवाला, गुरदास पुर, लाहौर, शेखूपुरा, स्यालकोट; **रावलपिण्डी डिवीजन**—अटक, गुजरात, झेलम, मियाँवाली, रावलपिण्डी, शाहपुर; **मुल्तान डिवीजन**—डेरा गाजी खाँ, झाँग, लायलपुर, माँटगोमरी, मुल्तान, मुजफ्फर गढ़।

बंगालके मुसलिम बहुमतके जिले ये थे—

चटगाँव डिवीजन—चटगाँव, नोआखाली, टिपरा; **ढाका डिवीजन**—बाकरगंज, ढाका, फरीदपुर, मैमनसिंह; **प्रेसिडेंसी डिवीजन**—जैसोर, मुरशिदाबाद, नदिया; **राजशाही डिवीजन**—बोगरा, दीनाजपुर, मालदा, पबना, राजशाही, रंगपुर।

ब्रिटिश सरकारका यह वक्तव्य जो माउण्टबैटन योजनाके नामसे प्रसिद्ध हुआ, वास्तवमें राजगोपालाचारी-फारमूलाका व्यावहारिक रूप था। जनसाधारणके सामने इसकी घोषणा करनेसे पहले माउण्टबैटनने इस वक्तव्यकी प्रतियाँ राजनीतिक नेताओंको अध्ययन करनेके लिए भेज दी थीं जिससे वे २ जूनकी आधी राततक उसपर अपने विचार प्रकट कर सकें। जिनाने कहा कि मैं अकेले कोई निर्णय नहीं कर सकता और न लीगकी कार्यसमिति ही कर सकती है—"इस निर्णयके लिए" उन्होंने कहा, "हमें मुसलिम जनताके सामने जाना होगा। मैं तो केवल इतना ही कर सकता हूँ कि वैधानिक ढंगसे उसको प्रभावित करनेकी भरसक कोशिश करूँ जिससे वह इसे स्वीकार कर ले। मेरी कार्यसमिति इस मामलेमें मेरा समर्थन करेगी।"

तब माउण्टबैटनने जिनासे साफ-साफ कहा कि आपकी इस चालके बारेमें कांग्रेस दलको बहुत सन्देह है क्योंकि आप हमेशा यही तरीका इस्तेमाल कर अपना निर्णय कांग्रेस द्वारा परिपक्व निर्णय हो जानेके कई दिन बाद करते हैं, और इस प्रकार आप लीगको स्वेच्छानुसार निर्णय करनेका अवसर प्राप्त कर लेते हैं। माउण्टबैटनने जिनाको यह भी चेतावनी दे दी कि इस बार नेहरू, कृपालानी और पटेल इस बातपर अड़ गये हैं कि यदि मुसलिम लीग कांग्रेसके साथ इस योजनाको अन्तिम रूपसे स्वीकार नहीं करती तो वे भी इसे अस्वीकार कर देंगे।

कांग्रेसी नेतागण बहुत सशंक थे क्योंकि कुछ ही सप्ताह पहले जिनाने बंगालसे पंजाबतक, दोनों पाकिस्तानी क्षेत्रोंको भौगोलिक रूपसे जोड़नेके लिए ८०० मील लम्बा एक "गलियारा" माँगा था, और लीगके मुखपत्र "डान"ने उसके लिए खूब प्रचार आन्दोलन करना आरम्भ कर दिया था। और जब जिनाने लीग कौंसिलका अधिवेशन शीघ्र बुलानेमें अस-

मर्थता प्रकट की तो कांग्रेस दलका सन्देह और भी पुष्ट हो गया। इसलिए माउण्टबैटनने जिनासे दृढ़तापूर्वक कह दिया—"अगर आपका यह रुख है तो कांग्रेस और सिख दोनों ही कल प्रातःकाल इस योजनाको अस्वीकार कर देंगे, खलबली मच जायगी, और आप अपना पाकिस्तान खो बैठेंगे, शायद सदैवके लिए।" जिनाने कन्धे सिकोड़ते हुए उत्तर दिया—"जो होना है, होगा।" तब माउण्टबैटनने कहा—"मिस्टर जिना, जो सारी मेहनत इस समझौतेके बनानेमें व्यय हुई आप उसे बर्बाद नहीं कर सकते। क्योंकि आप मुसलिम लीगकी ओरसे स्वीकृति नहीं देंगे, मैं स्वयं उसकी ओरसे बोलूँगा। मैं यह कहूँगा कि आपने जो आश्वासन मुझे दिया है उससे मैं सन्तुष्ट हूँ और यदि लीग कौंसिल-स्वीकृति न दे, तो आप सारा दोष मेरे ऊपर रख सकते हैं। मैं सिर्फ एक शर्त रखता हूँ, और वह यह है कि जब मैं प्रातः की बैठकमें कहूँ कि 'मिस्टर जिनाने मुझे आश्वासन दिया है, उसको मैंने स्वीकार कर लिया है और उससे मैं सन्तुष्ट हूँ' तब आप किसी भी दशामें उसका खण्डन नहीं करेंगे, और जब मैं आपकी ओर देखूँ, तो आप स्वीकृति सूचक सिर हिला दीजियेगा।"[1]

योजनाके विषयमें जिनाका जवाब केवल सम्मतिसूचक सिर हिलाना था। उन्होंने मौखिक स्वीकृतितक नहीं दी। परन्तु कांग्रेसने निश्चयात्मक रूपसे अपनी स्वीकृति प्रकट कर दी, यद्यपि गान्धीजीने इससे सम्बन्धित होनेसे इनकार कर दिया था। प्रातःकाल बैठक हुई, सब नेतागण अपनी-अपनी स्वीकृति देकर बिदा हो गये। सिखोंकी ओरसे बलदेवसिंहने स्वीकृति दी। जिस स्थानपर यह बैठक हुई थी उसके प्रवेश-द्वारके हालमें "क्लाइवका तैल चित्र ब्रिटिश राजकी इहलीला समाप्तिके इस दृश्यको घृणासे देख रहा था।"

घोषणा होनेके दो-चार दिनके अन्दर ही कांग्रेस और लीगकी कार्यसमितियोंने इस स्वीकृतिको पुष्टि प्रदान कर दी।

६ जूनको अपनी प्रार्थना-सभामें गान्धीजीने वाइसरायसे भेंट करनेके बाद घोषणा कर दी कि अंग्रेज अधिकारी १५ अगस्तके दिन भारतको सत्ता हस्तान्तरित करनेकी तैयारी कर रहे हैं।

बड़ी तत्परता और तेजीसे सरकार योजनाके उपबन्धोंको कार्यान्वित करने लगी। पंजाब और बंगालकी विधान सभाएँ बुलायी गयीं और सीमा प्रान्त तथा सिलहटमें जनमत गणनाका आदेश जारी कर दिया गया। विधान सभाएँ क्या निर्णय करेंगी इसमें तो किसीको सन्देह था ही नहीं—मुसलिम बहुमत जिलोंके प्रतिनिधियोंने एक पृथक् संविधान परिषदके लिए वोट दिया। उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्तमें, जहाँकी जनताने १९४६ में कांग्रेसको बहुमतसे वोट दिया था, लीगको सफलताका भरोसा न था। इसलिए उसने अपने अनुयायियों और समर्थकोंको हिन्दू व गैरलीगी मुसलमानोंपर हिंसात्मक आक्रमण करनेकी योजना बनायी। अनेक सरकारी अफसर पाकिस्तानके पक्षमें थे। उन्होंने या तो चुपकेसे लीगके विद्रोहकी सहायता की या नृशंसताओंकी ओरसे निगाह बचाकर अप्रत्यक्ष रूपसे उन्हें बढ़ावा दिया। पहले लीगियों द्वारा हिन्दुओं और गैरलीगी मुसलमानोंके खिलाफ घर-घर घृणित प्रचार किया गया। फिर हिंसाका नग्न नृत्य होने लगा। ऐसी स्थितिमें शान्तिप्रिय लाल कुर्तीवालोंने अपनेको असहाय अवस्थामें पाया। उनके नेताने सोचा कि ऐसे वातावरणमें निष्पक्ष जन-

---

१. ऐलेन कैम्बेल—जानसन, "मिशन विद माउण्टबैटन, पृ० १०२

मतगणना असम्भव है और उन्होंने गणनाका बहिष्कार करनेका फैसला कर लिया। २५ जूनको उन्होंने एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसमें कहा—

"पिछले कुछ महीनोंमें मुसलिम लीगियोंने संघटित रूपसे आतंकका प्रचार किया, जिसके फलस्वरूप सैकड़ों पुरुष, स्त्री और बच्चे मौतके घाट उतार दिये गये। करोड़ों रुपयेकी सम्पत्ति नष्ट कर दी गयी। पूरा वातावरण साम्प्रदायिक बौखलाहट और विषसे भरा हुआ है।

"अब भी मुसलिम लीगके प्रमुख सदस्य बड़े जोर-शोरका प्रचार करके लोगोंको भयभीत कर रहे हैं कि वे लीगके खिलाफ वोट नहीं दे सकेंगे। प्रकट है कि वे उन हजारों शरणार्थियोंको जो प्रान्तके बाहर भाग गये हैं, वोट देनेसे रोकना चाहते हैं। सीधे सादे पठानोंका भी धार्मिक जोश जागरित किया जा रहा है, उनसे कहा जा रहा है कि जनमत-गणनाका मामला 'काफिर' और 'इसलाम' के बीचका झगड़ा तय करनेके लिए उठा है।"

अब्दुलगफ्फार खाँने कहा कि यदि लीगको एक पृथक राज्य मिलता है, तो पठानों-को भी एक पृथक मातृभूमि, पख्तूनिस्तान, मिलनी चाहिये। उन्होंने दावा किया कि पख्तूनों-का भारी बहुमत एक आजाद पठान राज्यके पक्षमें है। उन्होंने खुदाई खिदमतगारों तथा अन्य लोगोंसे जो आजाद पठान राज्यमें विश्वास रखते थे, अपील की कि वे जनमतगणनामें भाग न लें। गान्धीजीने सीमान्त नेताकी इस उक्तिका समर्थन किया। जनमतगणना निश्चित दिन हुई, अब्दुलगफ्फार खाँके अनुयायियोंने उसका बाइकाट किया। हिन्दू जो अधिकांश शरणार्थीकी हालतमें सीमान्त प्रान्तके बाहर थे, इस गणनामें भाग न ले सके। लीगने कुल जनसंख्याके ५० प्रतिशतसे कुछ अधिक वोट प्राप्त कर लिये।

सिलहटकी मतगणनामें भी लीगने इन्हीं तरीकोंसे सफलता प्राप्त कर ली।

जुलाईमें ब्रिटिश पार्लमेण्टने भारतीय स्वाधीनता अधिनियम पारित कर दिया जिसमें भारत और पाकिस्तानके दो नये स्वतन्त्र राज्योंको जन्म दिया गया। इस अधिनियमसे दोनों औपनिवेशिक स्वतन्त्र राज्योंकी विधायिकाओंको पूर्ण अधिकार प्रदान कर दिया कि वे अपने-अपने देशोंके आन्तरिक तथा बाह्य मामलोंके लिए कोई भी कानून बना सकती हैं और यह भी उपबन्ध कर दिया गया कि ऐसे कानून चाहे वे ब्रिटिश कानूनके विपरीत ही क्यों न हों, अवैध नहीं ठहराये जा सकेंगे। इस अधिनियमने ब्रिटिश पार्लमेण्टको उसकी भारतपर नियन्त्रणकी शक्तिसे वंचित कर दिया और भारत और पाकिस्तानको अपने-अपने भाग्यका विधाता बना दिया।

आधी रातके समय जब १५ अगस्त भारतीय स्वाधीनताको लाने ही वाला था, भारतीय संविधान परिषदने एक प्रस्ताव पारित करके भारतको स्वतन्त्र घोषित कर दिया और माउण्टबैटनको उसका प्रथम वैधानिक गवर्नर-जनरल बननेके लिए आमन्त्रित किया। उस रातकी संविधान परिषदकी कारवाई अति गम्भीर और प्रभावशाली थी। अपने हृदय-ग्राही भाषणमें नेहरूने कहा "वर्षों पूर्व हमने भाग्यके साथ जो गुप्त समझौता किया था, आज उसके पूरा करनेका समय आया है, पूर्णतया नहीं, फिर भी बड़ी मात्रामें। ठीक आधी रातके घण्टेकी आवाजके साथ, जब सम्पूर्ण संसार सोता होगा, भारत स्वतन्त्रता और जीवनमय स्फूर्तिसे जाग उठेगा।"

रातके १२ बजे माउण्टबैटन अपनी मेजपर चुपचाप बैठे थे—'गम्भीरता और कुछ

कुछ अलगावके वातावरणमें।' उन्होंने अपना पढ़नेका चश्मा उतार लिया और कागज-पत्रोंके बक्सोंमें ताले लगा दिये, फिर अपने प्रेस सेक्रेटरीको बुलाया ताकि "वह कमरा साफ कर सके और 'वाइसरायी' कार्योंके बाहरी और दृष्टिगोचर चिन्होंको हटा दे।" लगभग १२ बजकर ४५ मिनटपर प्रधान मन्त्री नेहरू और विधान परिषदके अध्यक्ष राजेन्द्रप्रसाद रस्मी तौरपर माउण्टबैटनको निमन्त्रण देने आये। जो कहना था, उसे राजेन्द्रप्रसादने बुद-बुदाना शुरू किया, लेकिन "वे पाठ भूल गये और नेहरूको पीछेसे उन्हें पाठ बतानेकी भूमिकामें आना पड़ा।" माउण्टबैटनने मुसकराते हुए कहा—"मुझे इस सम्मानपर गर्व है, और आपकी सलाहको वैधानिक ढंगसे लागू करनेके लिए मैं सतत प्रयत्नशील रहूँगा।" इसपर नेहरूने एक लिफाफा उन्हें देते हुए आदर और सौजन्यसे कहा—"क्या मैं नये मन्त्रि-मण्डलके सदस्योंके नाम पेश कर सकता हूँ?" पूरा समारोह लगभग १० मिनटमें समाप्त हो गया। अपनी उत्सुकता शान्त करने और नये मन्त्रियोंके नाम याद करनेके लिए माउण्ट बैटनने लिफाफा खोला पर खाली निकला—विशिष्ट असावधानी वश।

सवेरे ८॥ बजे वही तुरही और तूली व सुनहरी सजधजमें स्वतन्त्र भारतके पहले गव-र्नर-जनरल निष्ठाकी शपथ लेने आये, जिसमें पहले गुलाम भारतके २० वाइसराय आये थे। भवनके बाहर ढाई लाखसे अधिक उत्साहित भीड़ इकट्ठी थी और 'जयहिन्द'के नारोंके साथ भवनमें घुस पड़नेकी चेष्टा कर रही थी। भीड़को शान्त करनेके लिए नेहरू आदि नेताओंको बाहर आना पड़ा।

सब ओर उमंग और उत्साह था। भवनके भीतर दुनिया भरसे आये बधाईके सन्देश पढ़ना शुरू किया गया "किन्तु, भ्रमवश अमेरिकाके राष्ट्रपति ट्रूमनका सन्देश न पढ़ा गया और अमरीकी राजदूतके जोरसे फुसफुसा कर प्रबोधन करने पर ही उस ओर ध्यान गया और गलती सुधार ली गयी।" इसके उपरान्त राजेन्द्रप्रसादने पहले हिन्दी और फिर अंग्रेजीमें लम्बा भाषण किया—"जो हमने प्राप्त किया है वह बहुत सीमातक हमारे त्याग और बलि-दानके कारण तो प्राप्त हुआ ही है, साथ ही अन्तरराष्ट्रीय घटनाओं और शक्तियोंने भी इसमें योग दिया, ब्रिटिश जातिकी ऐतिहासिक परम्परा और जनतान्त्रिक आदर्शोंका पूर्णत्व भी इसमें है……भारतपर ब्रिटेनका प्रभुत्व आज समाप्त हुआ और ब्रिटेनसे अब हमारे सम्बन्ध समता, सद्भावना और पारस्परिक लाभपर आधारित हैं।"

उत्सवके उपरान्त माउण्टबैटनके वाइसराय भवन वापस लौटते समय भीड़ने 'जय-हिन्द', 'माउण्टबैटनकी जय', 'पण्डित माउण्टबैटनकी जय' आदि नारोंसे उनका स्वागत किया। उत्साह और उमंगके ऐसे ही दृश्य उस दिन देशभरमें दिखाई दिये।

अध्याय ३३

उपसंहार

जब देश स्वतन्त्रता-दिवसकी खुशियाँ मना रहा था, गान्धीजी दूर नोआखालीतक शान्तिका सन्देश पहुँचाने कलकत्ते गये थे। लेकिन स्वयं कलकत्तेमें साम्प्रदायिक उत्पातोंकी तैयारीका समाचार पाकर वे वहीं रुक गये। उनकी मौजूदगीका जादू-जैसा असर हुआ और कलकत्तेमें १४ व १५ अगस्तको उपद्रवकी जगह हिन्दू-मुसलिम सद्भावनाके वे दृश्य देखे गये जो खिलाफत आन्दोलनके समय देखनेको मिलते थे। गलियों और सड़कोंपर हिन्दू और मुसलमान गले मिल रहे थे। सितम्बरमें फिर एक बार स्थिति बिगड़नेको हुई, पर गान्धीजीने फिर उसे सम्हाल लिया—इस बार उपवास करके।

लेकिन पंजाब और पाकिस्तानके कुछ अन्य क्षेत्रोंमें पूरे गृहयुद्धके दृश्य दिखाई देते थे। सभ्य समाजकी नींव ढह गयी थी। लगता था कि पूरे मुसलिम समाजने पूरे हिन्दू समाजके खिलाफ युद्धकी घोषणा कर दी है और यह युद्ध पाशविकताकी पराकाष्ठा पार कर गया है। आक्रमणकी सबसे बड़ी शिकार स्त्रियाँ थीं, उन्हें इस निर्दयतापूर्वक मारा जा रहा था कि उसके वर्णनसे नृशंस सितमगरका दिल भी दहल जाय। नवयुवतियाँ व बालिकाएँ बलात् मुसलमान बनाकर गुण्डों द्वारा रखेलियोंकी तरह रखी जा रही थीं। पंजाबके हिन्दू भागमें मुसलमानोंके साथ भी ऐसा ही व्यवहार हो रहा था।

व्यवस्था और कानूनका अस्तित्व मिट गया था, लूट-पाट, आगजनी, हत्या, बलात्कार, सार्वजनिक कत्ल, ये नित्यप्रतिकी घटनाएँ थीं। इस अग्निपरीक्षाके बीच लाखों व्यक्ति अपनी जमा-पूँजी लिये एक पंजाबसे दूसरे पंजाब जा रहे थे। बहुत-से बालक, वृद्ध, स्त्री-पुरुष इस यात्रामें ही मर गये। जब भारत व पाकिस्तानकी सरकारोंने देखा कि साम्प्रदायिक ढंगपर आबादीका तबादला ही इस नरकसे छुटकारेका एकमात्र रास्ता है तो उन्होंने अल्पसंख्यकोंके निष्क्रमणमें सहायता देनेका निर्णय किया। लेकिन जहाँ पाकिस्तानके हर कोनेसे हिन्दू खदेड़े जा रहे थे, पंजाब छोड़ शेष भारतमें मुसलमान सुरक्षित थे और उन्हें पाकिस्तान खदेड़ देनेकी हवा नहीं बह रही थी। तब भी कहीं-कहीं भारतमें भी हिन्दुओंने मुसलमानोंके साथ वैसा ही पैशाचिक व्यवहार किया जैसा हिन्दुओंके साथ सारे पाकिस्तानमें हो रहा था।

पश्चिमी पंजाब और पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्तसे हिन्दुओं और सिखोंके पूरी तरह हट जाने पर ही वहाँ सामान्य जीवन प्रारम्भ हुआ। लेकिन लाखों शरणार्थी अपना घरबार छोड़ भारतमें रोटी और शरणके लिए भटक रहे थे और उनकी दुःखगाथा सहानुभूतिपूर्ण हिन्दुओंको उकसा देती थी। शरणार्थियोंमें प्रतिशोधकी आग थी और कई जगह उन्होंने उद्विग्न हिन्दुओंके साथ मिलकर मुसलमानोंकी सार्वजनिक हत्या कर दी। मुसलमान डरे हुए थे। गान्धीजीतक की अपीलें उपद्रवकारियोंको शान्त न कर पायीं। उलटे साम्प्रदायिक हिन्दू यह समझने लगे कि गान्धीजी उन्हें उनका 'धार्मिक कर्त्तव्य' पूरा करनेसे रोक रहे हैं। कुछ

समयतक रेडियो और समाचारपत्रोंमें प्रसारित गान्धीजीके प्रार्थना-सभाओंके भाषणोंने लोगोंको संयत रखा, पर सम्प्रदायवादी बीच-बीचमें लोगोंको भड़का देते और नयी दुखान्त घटनाएँ हो जाती। स्वयं दिल्लीमें जहाँ गान्धीजी उस समय रह रहे थे, कत्ल होते थे और गान्धीजीकी उपस्थितिका उपद्रवियोंपर प्रभाव नहीं पड़ता था। मुसलमान सतत भयके वातावरणमें रह रहे थे। गान्धीजीका क्लेश और मानसिक वेदना उनके आमरण अनशनमें प्रकट हुई। १३ जनवरीको उन्होंने उपवास शुरू किया जो दिल्लीमें शान्ति-स्थापनातक चलनेवाला था—जैसा कि हमेशा होता था, उनके उपवाससे सभी वर्ग चिन्ताकुल हो उठे और विभिन्न वर्गों व राजनीतिक दलोंके सैकड़ों नेताओंने लिखकर आश्वासन दिया कि वे शान्ति-स्थापनाके लिए प्रयत्नशील रहेंगे। १८ जनवरीको उपवास भंग हुआ। दिल्लीमें पुनः शान्ति स्थापित हो गयी। कुछ दिनोंतक देशभरमें पूर्ण शान्ति रही; लेकिन फिर इक्की दुक्की छिटफुट घटनाएँ होने लगीं।

गान्धीजी भारत और पाकिस्तानकी सद्‌भावनापूर्ण हार्दिक एकताके लिए प्रयत्नशील थे, ताकि दोनों ओरके शरणार्थी फिरसे अपने-अपने घरोंमें बसाये जा सकते। इस सद्‌भावनापूर्ण वातावरणके लिए यह आवश्यक था कि भारतमें मुसलमान पूर्णरूपसे सुरक्षित रहें। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए वे कोई भी कीमत चुकानेके लिए तैयार थे। लेकिन कुछ हिन्दू ऐसे भी थे जिनकी प्यास सिर्फ मुसलमानोंके खूनसे ही बुझती; वे गान्धीजीके कामको मुसलमानोंको खुश करना भर मानते थे।

उपवास भंग होनेके दो दिन बाद २० जनवरीको गान्धीजीको डरानेके इरादेसे उनकी प्रार्थना-सभामें एक बम फेंका गया। लेकिन ऐसी असंख्य घटनाएँ भी गान्धीजीको उनके निश्चयसे नहीं डिगा सकती थीं; वे हर शाम प्रार्थना-सभामें साम्प्रदायिक सद्‌भावनाकी अपील करते।

अन्तमें असन्तुलित बुद्धिके एक सम्प्रदायवादी हिन्दूने गान्धीजीको मार डालनेका निश्चय किया। शुक्रवार, ३० जनवरीको, शामको ५ बजकर १२ मिनटपर जब गान्धीजी प्रार्थना-सभामें मंचकी सीढ़ियाँ चढ़ रहे थे, एक ३५ वर्षीय युवकने उनके सामने आकर कहा—"आज आपको देर हो गयी।" गान्धीजी मुस्कराये और बोले—"हाँ, मुझे देर हो गयी।" उसी समय उस युवकने रिवाल्वर निकाल कर गान्धीजीके कृश तनपर हृदयके नीचे तीन गोलियाँ बेध दीं। गांधीजी गिर पड़े। उनका अन्तिम कृत्य था, प्रार्थना-सभाके लिए एकत्र भीड़की दिशामें हाथ जोड़ना। उनके अन्तिम शब्द थे—'हे राम!' वे फौरन बिड़ला भवन ले जाये गये। ५ बजकर ४० मिनटपर उन्होंने अन्तिम साँस ली।

कुछ मिनटोंमें ही सारे देशने सुना कि गान्धीजी नहीं रहे। लोगोंको विश्वास नहीं हुआ, हर एक दो-दो तीन-तीन बार यही पूछता कि खबर गलत है। कुछ लोगोंको इस समाचारसे ऐसी सांघातिक चोट लगी कि खबर सुनते ही उनके हृदयकी गति बन्द हो गयी।

इस ऐतिहासिक दुःखद घटनाकी घोषणा करते हुए प्रधान मन्त्री नेहरूने काँपती वाणीमें रेडियोसे कहा—

"साथियो और भाइयो! हमारे जीवनकी रोशनी चली गयी है और हर तरफ अँधेरा है। हमारा प्यारा नेता, राष्ट्रपिता, जिसे हम बापू कहकर पुकारते थे, नहीं रहा......रोशनी चली गयी है, जैसा मैंने कहा; पर मैं गलत था। क्योंकि जो रोशनी इस देशको रौशन करने

आयी वह कोई साधारण रोशनी नहीं थी। जो रोशनी इधर वर्षोंतक देशकी जिन्दगीको प्रकाशमान करती रही, वह आनेवाले सालोंमें भी चमकती रहेगी; हजार साल बाद भी वह रोशनी इस देशमें रहेगी और दुनिया उसे देखेगी और वह असंख्य लोगोंके हृदयको आलोकित करेगी।"

देर राततक भीड़ बिड़ला भवनके आसपास रही। भीड़ गान्धीजीके दर्शनके लिए बढ़ती गयी। श्वेत खादीमें सजाकर शरीर एक साधारण अर्थीपर रखकर छतपर झुका कर रख दिया गया। वहाँ बहुत तेज रोशनी कर दी गयी। १ बजे रातसे भीड़ वहाँ दर्शन करने आती रही। 'महात्मा गान्धीकी जय'के नारोंसे आकाश काँपता रहा।

दूसरे दिन देशभरमें सब काम बन्द रहा और शामको हर शहर व कस्बेमें लोग महात्माकी मृत्युपर शोक प्रकट करनेके लिए एकत्र हुए। १२ दिनतक सरकारने शोक मनाया। सारे संसारसे समवेदनाके सन्देश आये। सारे संसारके समाचारपत्रोंने, सारे संसारके सार्वजनिक नेताओंने उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की। ऐसे व्यक्तिके लिए पहली बार—जो संघका सदस्य न हो या किसी देशकी सरकारका नेता न हो—संयुक्त राष्ट्र संघका झण्डा तीन दिनतक झुका रहा।

गान्धीके बलिदानने साम्प्रदायिक आगको जादूकी तरह बुझा दिया। उनकी मृत्युके बाद कोई साम्प्रदायिक उपद्रव नहीं हुआ।

३१ जनवरीको सवेरे ११ बजकर ४२ मिनटपर शवका जुलूस बिड़ला भवनसे चला। १० लाख व्यक्ति राजघाटतकका ५॥ मीलका सफर पाँच घण्टेमें पूरा कर यमुनाके किनारे पहुँचे। स्थल सेनाके ४ हजार, नभ सेनाके १ हजार और जल सेनाके १०० जवान व पुलिसके हजार सिपाही जुलूसके आगे थे।

शामके ४ बजे ही राजघाटके मैदानमें विशाल जनसमूह एकत्र था। जुलूस पहुँचने पर अन्तिम दर्शनके लिए पागल भीड़ने पुलिसका घेरा तोड़ दिया। दर्जनों व्यक्ति बेहोश हो गये और उन्हें अस्पतालकी गाड़ियोंपर ले जाया गया।

४ बजकर ३० मिनटपर शव चितापर रखा गया। ४ बजकर ४५ मिनटपर गान्धीजीके तीसरे पुत्र रामदासने चितामें अग्नि दी। उस समय सूर्य अस्त हो रहा था और जैसा नेहरूने कहा—"जिस सूर्यने हमें प्रकाश दिया, ऊष्मा दी, वह अस्त हो गया है और हम अन्धकार व शीतमें काँप रहे हैं।"